श्रमण भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य मे

प्रश्नव्याकरण सूत्र

(आश्रव और संवर का गंभीर विवेचन)

[मूल, संस्कृतच्छाया, पदार्थ, मूलार्थ, विस्तृत व्याख्या]

व्याख्याकार :

संस्कृत-प्राकृतविशारद प० श्री हेमचन्द्र जी महाराज

सम्पादक

नभूषण प० श्री अमर मुनि जी महाराज

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

पुस्तक ।
प्रश्नव्याकरण सू ।
*
प्रकाशन
वीर निर्वाण दिवस (२४९९)
विक्रम स० २०३० दीपावली
नवबर १९७३
*
टीकाकार
प० श्री हेमचन्द्र जी महाराज
*
सपादक
प्रवचनभूषण श्री अमर मुनिजी
*
प्रकाशक
सन्मति ज्ञान पीठ, लोहामडी, आगरा–२
*
मुद्रक
रामनारायण मेडतवाल,
श्री विष्णु प्रिंटिग प्रेस
राजा की मडी, आगरा–२
*
मूल्य
बीस रुपये मात्र
*

प्रकाशकीय

श्वेताम्बर-स्थानकवासी जैन परम्परा मे महामहिम स्व आचार्यदेव श्री आत्माराम जी महाराज, आगम साहित्य के ख्यातिप्राप्त महान् अभ्यासी थे। आपने अनेक आगमो पर विवेचनाप्रधान विस्तृत टीकाएँ लिखी है। आगमो पर राष्ट्रभाषा हिन्दी मे टीकाएँ लिखने मे ही उन्होने अपने बौद्धिक जीवन का अधिकाश समय व्यतीत किया था। उनकी आगमसेवाएँ जैन इतिहास मे चिरस्मणीय रहेगी।

आचार्य श्री के महान् शिष्य प० श्री हेमचन्द्र जी महाराज भी जैन जगत् के एक विशिष्ट प्रतिभाशाली मनीषी हैं। सस्कृत, तथा आगमशास्त्र के आप भी गभीर विद्वान् हैं। आपके द्वारा भी समाज की साहित्यिक सेवा कुछ कम नही हुई है। प्रश्नव्याकरण सूत्र का प्रस्तुत आदर्श सस्करण भी आप की ही विलक्षण बौद्धिक शक्ति का चमत्कार है। इतनी विस्तृत व्याख्या के साथ प्रश्नव्याकरण का यह श्रेष्ठ रूप, हमारी जानकारी मे, पहली बार ही जनता के समक्ष आ रहा है।

श्रद्धेय प० श्री पद्मचन्द्रजी (भण्डारी जी महाराज) के सत्प्रयत्न, उत्साह एव प्रेरणा से उनके महनीय गुरुदेव की यह कृति प्रकाश मे आ सकी है। वस्तुत उक्त प्रकाशन के द्वारा एक सुयोग्य शिष्य ने अपने श्रद्धेय महान् गुरु का अमुक अश मे गुरुऋण अदा किया है। भण्डारी महाराज ने यत्र तत्र जैन धर्म के गौरव का उल्लेखनीय प्रचार एव प्रसार किया है। यह साहित्यसेवा भी उनकी उसी स्वर्णिम कर्मशृखला की एक दिव्य प्रभास्वर कडी है। आपश्री के सुयोग्य शिष्य मधुर प्रवक्ता प्रवचनभूषण श्री अमर मुनि जी तो हमारी समाज के एक महान् गौरव-रत्न हैं। उन्होने सम्पादन आदि का महान् दायित्व बडी शान के साथ निभाया है। अपने दादा गुरुजी के प्रति उनकी यह सेवा वस्तुत महनीय एव अभिनन्दनीय है।

सन्मति ज्ञानपीठ के ऊपर श्रद्धेय मुनिद्वय की कृपा प्रारम्भ से ही रहती आई है। इस बार भी यह सेवा हमे समर्पित कर ज्ञानपीठ को उपकृत किया है। भविष्य मे भी अन्य कोई सेवा आपसे प्राप्त कर हमे प्रसन्नता होगी।

प्रकाशकीय

जैन वाङ्मय में आगमसाहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसमें भी अग-साहित्य का महत्त्व तो और भी अधिक है। अग ही वह मूल केन्द्र, जिसमें से उपाग आदि अन्य आगम साहित्य विकसित एव पल्लवित हुआ है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र अगसूत्रो मे दसवा महत्त्वपूर्ण अग शास्त्र है। इसमे हिंसा आदि पाच आश्रव तथा अहिंसा आदि पाच सवरो का इतना स्फुट एव विशद वर्णन है, जिसमे साधक जीवन के मूलभूत प्रश्नो की सरलतम एव सुन्दरतम व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रमुख विद्वानो से लेकर साधारण जिज्ञासु तक भी प्रश्नव्याकरण के अध्ययन से अपने जीवन का यथार्थ लक्ष्यबोध प्राप्त कर सकते है।

मेरे परमश्रद्धेय परमगुरु (दादागुरु) प० श्री हेमचन्द्रजी महाराज एक महान् मनीषी विद्वान् सन्त है। अपने परमाराध्य गुरुदेव, जैन धर्म दिवाकर, जैनागम रत्नाकर श्रद्धेय पूज्यपाद आचार्यदेव स्व श्री आत्मारामजी म के सानिध्य मे आपने आगम-साहित्य का गभीर अध्ययन किया है, साथ ही गुरुदेव के साहित्यनिर्माण कार्य मे भी उल्लेखनीय योगदान दिया है। आपका सस्कृत प्राकृत साहित्य का पाण्डित्य अद्भुत है। आपने बहुत समय पहले प्रश्न व्याकरण सूत्र पर स्व आचार्य देव की शैली मे ही 'सुबोधिनी' नामक एक बहुत सुन्दर एव विस्तृत व्याख्या लिखी थी। मेरे श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव (श्री पद्मचन्द्र जी भण्डारी) की इच्छा थी कि वह महत्त्वपूर्ण कृति आधुनिक पद्धति से पुन परिष्कृत होकर जिज्ञासु जनता के समक्ष आए ताकि सर्व-साधारण जिज्ञासुजन उससे यथोचित लाभ उठा सकें।

गुरुदेव की प्रेरणा से मैंने यत्किंचित् सेवा करने का उपक्रम किया है। मैं क्या हूँ, कुछ भी नही हू। फिर भी गुरुदेव के आशीर्वाद से कुछ कर पाया हूँ, इसी मे मेरे मन को सन्तोष है। प्रस्तुत उपक्रम मे मेरा अपना क्या है ? जो कुछ है, वह सब श्रद्धेय पूज्य प्रगुरु जी का ही है। श्री कृष्ण ने गिरिराज गोवर्धन उठाया साथी ग्वाल बालो ने भी अपनी-अपनी लाठियां, अगुलियां छुआ दी। बस, ऐसा ही और इतना ही मेरा भी कुछ है, जिसे मैं अपना कह सकता हूँ।

श्रद्धेय राष्ट्रसन्त, उपाध्याय, कविरत्न श्री अमरमुनि जी महाराज की सेवा मे मेरे गुरुदेव ने प्रकाशन आदि के सवन्ध मे अपनी मगल भावना प्रगट की, तो अस्वस्थ होते हुए भी उन्होने अपनी स्वीकृति दी। गुरुदेव के साथ उपाध्याय श्री जी का सहज स्नेह है, वह सर्वविदित है। प्रारम्भ से ही गुरुदेव का उपाध्याय श्री जी के प्रति सुमधुर, सहज श्रद्धाभाव रहा है। इस स्थिति मे गुरुदेव को इन्कार कैसे मिल सकता था। अस्तु सन्मति ज्ञानपीठ से प्रकाशन शुरू हुआ। इस महनीयकृति को सर्वाङ्ग-सुन्दर एव सर्वजनोपयोगी रूप देने मे उपाध्याय श्री जी का जो महत्त्वपूर्ण योगदान है, वह हम सभी को सदा स्मरणीय रहेगा। उपाध्याय श्री जी अस्वस्थ रहे हैं, अत प० मुनि श्री नेमिचन्द्र जी का जो बहुमूल्य आदर्श सहयोग मिला है, वह भी सादर समुल्लेखनीय है। श्रद्धेय मुनिद्वय का यदि समय पर सहयोग प्राप्त न होता, तो जो कुछ विशिष्टता पाठक देख रहे है, वह नही प्राप्त हो सकती थी। मैं एतदर्थ मुनिद्वय के प्रति शिरसा मनसा प्रणत हू, साथ ही कृतज्ञ भी। आशा रखता हूँ, भविष्य मे भी मेरी सभावित प्रवृत्तियो मे आप श्री का यथावसर उचित सहयोग एव सहकार मुझ मिलता रहेगा।

मैं सन्मति ज्ञानपीठ के सचालको और व्यवस्थापको को धन्यवाद दिए बिना कैसे रह सकता हूँ, जिन्होने इस विशाल शास्त्र को इतना शीघ्र, साथ ही इतने उत्तम एव मनोहर रूप मे प्रकाशित कर जिज्ञासु पाठको तक पहुँचाने का युगानुरूप प्रयत्न किया है। साथ ही अन्य सहयोगियो की सेवाएँ भी मेरे स्मृतिकक्ष मे चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत सस्करण का मूल्याकन तो प्रबुद्ध पाठक ही करेगे। उन्हे यह सब अधिकाश मे पसन्द ही आएगा। सभव है, कुछ नापसन्द जैसा भी हो, तो वह सब मेरा है, मुझे सहर्ष लौटा दे। मैं क्या हूँ, क्या जानता हू। मैं तो इस पथ का एक बालयात्री हूं। आज का ही नही, युगानुयुग का एक सत्य है 'सव सर्व न जानाति'— मैं इसे सादर स्वीकार करता हूँ।

—अमर मुनि

प्र स्ता व ना

उपाध्याय अमर मुनि

प्राचीन भारतीय तत्त्वचिन्तन दो धाराओ मे प्रवाहित हुआ है—'श्रुति' और 'श्रुत'। श्रुति, वेदो की वह पुरातन सज्ञा है, जो ब्राह्मण सस्कृति से सम्वन्धित प्राचीन वैदिक विचारधारा और उत्तरकालीन शैव, वैष्णव आदि धर्म परम्पराओ का मूलाधार है। और श्रुत, श्रमण सस्कृति की प्रमुख धारा के रूप मे मान्य जैन विचार-परम्परा का मूल स्रोत है। श्रुति और श्रुत मे शव्दत एव अर्थत इतना अधिक साम्य है कि जिस पर से सामान्यत सहृदय पाठक को भारतीय चिन्तन पद्धति का, मूल मे कही कोई एक ही उद्गम, प्रतिभासित होने लगता है।

श्रुति और श्रुत दोनो का ही 'श्रवण' से सम्वन्ध है। जो सुनने मे आता है, वह श्रुत है,[1] और वही भाववाचक मात्र श्रवण श्रुति है। अभिधा के परि प्रेक्ष मे सीधा और स्पष्ट अर्थ है इनका—'शव्द।'[2] किन्तु श्रुन और श्रुति का इतना ही अर्थ अभीष्ट नही है। लक्षणा के प्रकाश मे इनका अर्थ है, वह 'शव्द', जो यथार्थ हो, प्रमाण हो और हो जनमगलकारी। प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाणो के अनन्तर जो आगमरूप शव्द प्रमाण आता है,[3] वही यह श्रुत और श्रुति है। श्रमण और ब्राह्मण दोनो ही परम्पराओ के मान्य आचार्यो ने यथार्थ ज्ञाता, वीतराग आप्त पुरुषो के विश्वजनीन, मगलमय, यथार्थ तत्त्व वचनो को ही 'शव्दप्रमाण' की कोटि मे

१—श्रुत शव्द कर्मसाधनश्च १।९।२ श्रूयते स्मेति श्रुतम्।

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक

२ श्रूयते आत्मना तदिति श्रुत शव्द।

—विशेपावश्यक भाष्य-मलधारीया वृत्ति

३ - (क) पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, त जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवमे, आगमे।

—भगवती शतक ५ उद्देश ४

(ख) प्रत्यक्षानुमानोपमानशव्दा प्रमाणानि

—न्यायदर्शन १।१।३

माना है।[४] अत अपनी-अपनी परम्परागत मान्यता एव धारणा के अनुसार शब्द-प्रमाणस्वरूप श्रुत और श्रुति दोनो ही प्रकार के मौलिक साहित्य से आप्त पुरुषो के विशिष्ट वचनो का सकलन ही अभीष्ट हे, साधारण रथ्यापुरुषो के वचनो का नही, जो हर किसी गली कूचे के रागद्वेषाभिभूत लोगो के कहे हुए हो। अपनी अपनी परम्परा के सभी महापुरुषो को आप्त कहा जाता है। पर, यह वात दूसरी है कि सत्य की कसौटी पर परखते समय किस के वचन खरे उतरते है, और किसके नही।

जैनदर्शन शब्द प्रमाण के रूप मे श्रुत का अर्थ 'आप्तपुरुषो के वचन' तक ही सीमित नही रखता हे। वह श्रुत से श्रुतज्ञान तक पहुँचा है। शब्दरूप श्रुत को वह केवल उपचार से प्रमाण मानता हे, निश्चय मे नही। शब्द जड है, अत॰ वह कैसे प्रमाणकोटि मे आ सकता है। यदि जड पदार्थ प्रमाण हो सकते हैं तो फिर घट पटादि सभी जड पदार्थ प्रमाण कोटि मे आ जाएँगे। आचार्य वादिदेव ने अपने प्रमाण-नयतत्त्वालोक (४। १-२) मे इसी दृष्टि से कहा हे कि आप्तवचनो से आविर्भूत होने वाला अर्थसवेदन ही वस्तुत आगम अर्थात् शास्त्र है। आप्तवचनो को जो शब्द-प्रमाणरूप आगम कहा जाता है, वह मात्र उपचारकथन है। **'आप्तवचनादाविर्भूत-मर्थसवेदनमागम ।' 'उपचारादाप्तवचन च।'**

इसी सन्दर्भ मे तत्त्वार्थ भाष्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार श्रीसिद्धसेन गणीने अपनी टीका (१-२०) मे कहा हे कि इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ग्रन्थानुसारी विज्ञान श्रुत है। **श्रुत इन्द्रियमनोनिमित्त ग्रन्थानुसारि विज्ञान यत् ।'**

४—(क) **आप्तोपज्ञमनुल्लघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।**
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं, शास्त्र कापथघट्टनम् ॥

—न्यायावतारसूत्र ६

(ख) **श्रुतशब्दो जहत्स्वार्थवृत्ती रूढिवशात् कुशलशब्दवत् ।**

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १।२०।१

(ग) **आप्तोपदेश शब्द ।**

—न्यायदर्शन १।१।७

(घ) **आप्त खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा ।**

—न्यायदर्शन-वात्स्यायन भाष्य १।१।७

(ङ) **आप्तो रागादिवियुत , तस्य वचनमिति ।**

—तत्त्वार्थ भाष्य-सिद्धसेनीया वृत्ति १—२०

(च) **अभिधेय वस्तु यथाऽवस्थित यो जानीते यथाज्ञान चाभिधत्ते स आप्त ।**

—प्रमाण नयतत्त्वालोक ४-४

जैन श्रुत साहित्य

जैन परम्परा का श्रुत साहित्य प्राचीनकाल मे अगप्रविष्ट और अगवाह्य- इस प्रकार दो रूपो मे विस्तृत हुआ है।[५] अग प्रविष्ट श्रुत वह है, जो अर्थत· परर्मापि तीर्थंकर देवो द्वारा कहा गया है और तदनन्तर तीर्थंकरो के साक्षात् शिष्य श्रुत केवली गणधरो द्वारा सूत्र रूप मे रचा गया है।[६]

अगवाह्य श्रुत वह है, जो गणधरो के वाद विशुद्धागम विशिप्टवुद्धिशक्ति-सम्पन्न आचार्यों के द्वारा काल एव सहनन आदि दोपो के कारण अल्पवुद्धि शिष्यो के अनुग्रह के लिए रचा गया है।[७]

अग प्रविष्ट श्रुत, जिसे गणनायक आचार्यों का सर्वस्व होने के कारण 'गणि-पिटक'[८] भी कहा जाता है, वारह प्रकार का है[९]

(१) आयार (आचार)
(२) सूयगड (सूत्रकृत)
(३) ठाण (स्थान)

५—त समासओ दुविह पण्णत्त, त जहा-अगपविट्ठ अगबाहिर च।

—नन्दी सूत्र, श्रुतज्ञानप्रकरण

६—(क) यद् भगवद्भि. सर्वज्ञै सर्वदर्शिभि परमर्षिभिरर्हद्भिस्तत्स्वाभाव्यात्परम-शुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थंकरनामकर्मणोऽनुभावादुक्त भग-वच्छिष्यैरतिशयवद्भिरुत्तमातिशयवाग्बुद्धिसपन्नैर्गणधरैर्दृब्ध तदङ्ग प्रविष्टम्।

—तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य १।२०

७—गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमै परमप्रकृष्टवाड्मतिशक्तिभिराचार्ये कालसहननायुर्दोषादल्पशक्तीना शिष्याणामनुग्रहाय यत्प्रोक्तं तदङ्गबाह्यम्।

— तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य १-२०

८—(क) दुवालसग गणिपिडग।

—अनुयोग द्वार, प्रमाण प्रकरण

(ख) गणी आचार्यस्तस्य पिटक—सर्वस्व गणिप्टिकम्।

—मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि, अनुयोगद्वारटीका

९—अगपविट्ठ दुवालसविह पण्णत्त, त जहा—आयारो १, सूयगडो २, ठाण ३, समवाओ ४, विवाहपण्णत्ती ५, नायाधम्मकहाओ ६, उवासगदसाओ ७, अतग-डदसाओ ८, अणुत्तरोववाइयदसाओ ९, पण्हावागरणाइ १०, विवागसुय ११, दिट्ठिवाओ १२

—नन्दी सूत्र, श्रुतज्ञान प्रकरण

(४) समवाय (समवाय)
(५) विया (वा) हपन्नत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति) व्याख्या प्रज्ञप्ति के लिए अपर-नाम 'भगवती' भी प्रचलित है।
(६) नाया धम्मकहा (ज्ञाता (त) धर्मकथा)
(७) उवासगदसा (उपासक दशा)
(८) अतगडदशा (अन्तकृद् (त) दशा)
(९) अनुत्तरोववाइयदसा (अनुत्तरोपपातिकदशा)
(१०) पण्हावागरणाइ (प्रश्नव्याकरणानि)
(११) विवागसुय (विपाक सूत्र)
(१२) दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद या दृष्टिपात)

दृष्टिवाद के लिए तत्त्वार्थभाष्य मे 'दृष्टिपात' शब्द का प्रयोग किया गया है।[१०] प्राकृत 'दिट्ठिवाओ' के दृष्टिवाद तथा दृष्टिपात—दोनो ही सस्कृत रूप हो सकते है। दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका रूप पाच प्रकारो मे से पूर्वगत प्रकार मे उत्पाद आदि चौदह पूर्व सम्मिलत है। दृष्टिवाद अग (पूर्वगत) भगवान् महावीर से १००० वर्ष बाद विच्छिन्न हो गया।[११]

प्रथमत आवश्यक तथा आवश्यक व्यक्तिरिक्त के रूप मे अगबाह्य श्रुत विभक्त है[१२] और आवश्यक व्यक्तिरिक्त औपपातिक, राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना आदि तथा निशीथ व्यवहार, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि तथा अन्य अनेक प्रकीर्णक सूत्रो के रूप मे वर्णित है।[१३]

अग प्रविष्ट और अगबाह्य रूप सभी आगमो के प्राचीन रूपो मे काल वैषम्य के कारण काफी परिवर्तन हुआ है। कुछ घटा भी है, कुछ बढा भी है। स्थानाग, समवायाग और नन्दी सूत्र आदि मे आगमो के अध्ययन एव विषय आदि का जो निरू-

---

१० दृष्टिपात।

—तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य १।२०

११—(क) एग वाससहस्स पुव्वगए अणुसिज्जिस्सइ। —भगवती २०।८

(ख) वोलीणम्मि सहस्से, वरिसाण वीरमोक्खगमणाओ।
उत्तरवायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो ॥८०१॥

—तित्थोगाली

१२ अगबाहिर दुविह पण्णत्त, त जहा—आवस्सय च आवस्सयवइरित्त च।

—नन्दी सूत्र, श्रुतज्ञान प्रकरण

१३—नन्दी सूत्र, श्रुतज्ञान प्रकरण

पण है, उसके अनुरूप कितने ही आगमो की प्राचीन स्वरूपस्थिति वर्तमान मे उपलब्ध नही है।

काफी लम्बे समय तक श्रुतसाहित्य भिक्षुसघ ने कठस्थ ही रखा, लिखा नही। क्योकि भिक्षुओ को लिखने का निषेध था। अत चिरकाल तक कण्ठस्थ रहे श्रुतवचनो मे हेर फेर हो जाना स्वाभाविक है।[१४] भगवान महावीर के ९८० अथवा ९९३ वर्ष बाद वलभी (सौराष्ट्र) मे श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नत्त्वावधान मे, निरन्तर विच्छिन्न एव परिवर्तित होता हुआ श्रुत पुस्तकारूढ हुआ,[१५] और तब कही जाकर श्रुतसाहित्य मे कुछ अपवादो को छोड कर बडे हेर फेर होने का क्रम अवरुद्ध हो सका, जिसके फलस्वरूप आगमसाहित्य को वर्तमान मे उपलब्ध स्थिररूपता मिली।

प्राचीन लुप्त प्रश्न व्याकरण

प्रश्न व्याकरण सूत्र का स्थान अगप्रविष्ट श्रुत मे है। यह दशवा अग है। समवायाग सूत्र और नन्दी सूत्र तथा अनुयोगद्वार सूत्र मे प्रश्न व्याकरण के लिए

---

१४ (क) पोत्थएसु घेप्पतएसु असजमो भवइ।

—दशवैकालिक चूर्णि पृ० २१

(ख) जत्तिय मेत्ता वारा वधति, मुचति य जत्तिया वारा।
जति अक्खराणि लिहति व, तति लहुगा ज च आवज्जे।

—निशीथ भाष्य ४००४

(ग) इह च प्राय सूत्रादर्शेषु नानाविधानि सूत्राणि दृश्यन्ते, न च टीकासवादी एकोऽप्यादर्श समुपलब्ध, अत एकमादर्शमङ्गीकृत्यास्माभिर्विवरण क्रियत इति, एतदवगम्य सूत्रविसवाददर्शनाच्चित्तव्यामोहो न विधेय इति।

—शीलाकाचार्य, सूत्रकृताग वृत्ति, मुद्रितपत्र ३३६-१

(घ) वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धित।
सूत्राणामतिगाम्भीर्याद् मतभेदाच्च कुत्रचित्॥२॥

— आचार्य अभयदेव, स्थानागवृत्ति, प्रारम्भ

१५—(क) समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खपहीणस्स नववाससयाइ विइक्कताइ दसमस्स य वाससयस्स अय असीइमे सवच्छरे काले गच्छइ। वायणतरे पुण अय तेणउए सवच्छरे काले गच्छइ।

—कल्पसूत्र, महावीर चरित्राधिकार

(ख) वलहिपुरम्मि नयरे, देवड्ढिपमुहेण समणसघेण।
पुत्थइ आगमु लिहिओ, नवसय असीआओ वीराओ॥

अर्थात् ईस्वी ४५३, मतान्तर से ई० ४६६ —एक प्राचीन गाथा

'पण्हावागरणाइ' के रूप मे वहुवचन का प्रयोग है, जिसका सस्कृत रूप **'प्रश्न-व्याकरणानि'** होता है। वर्तमान मे उपलव्ध प्रश्न व्याकरण सूत्र के उपसहार मे एक वचन का ही प्रयोग है—**'पण्हावागरणे ।'** तत्त्वार्थस्वोपज्ञभाष्य में भी **'प्रश्न-व्याकरणम्'** इस प्रकार एकवचनान्त का ही प्रयोग है। दिगम्वर परम्परा के धवला तथा राजवार्तिक आदि ग्रन्थो मे भी एकवचनान्त **'पण्हवायरण'** **'प्रश्न व्याकरणम्'** प्रयोग ही प्रचलित है। 'स्थान' अग सूत्र के दशम स्थान मे प्रश्न व्याकरण का नाम **'पण्हावागरणदसा'** वतलाया है, जिसका सस्कृत रूप टीकाकार आचार्य अभय देव ने **'प्रश्नव्याकरणदशा'** किया है। परन्तु यह नाम अन्यत्र अधिक प्रचलित नही हो पाया।

दिगम्वर परम्परा के धवला आदि मे **'पण्हवायरण'** नाम है, जव कि श्वेताम्वर परम्परा के समवायाग आदि मे **'पण्हावागरणाइ'** है। **'पण्ह'** के लिए **'पण्हा** के रूप मे दीर्घ आकारान्त प्रयोग क्यो किया गया, कुछ स्पष्ट नही होता। सस्कृत टीकाओ तथा अन्य सस्कृत ग्रन्थो मे सस्कृत रूप **'प्रश्नव्याकरण'** ही मिलता है। हाँ समवायाग वृत्ति मे आचार्य अभय देव ने **'नाया धम्मकहा'** का सस्कृत रूप **'ज्ञातधर्मकथा'** न वनाकर **'ज्ञाताधर्मकथा'** वनाया है और **'ज्ञाता'** की आकारान्तता के लिए तर्क दिया है कि सज्ञा शव्द होने से दीर्घत्व है—**'ज्ञाता धर्म-कथा दीर्घत्व सज्ञात्वाद् ।'** परन्तु अपने उक्त तर्क के आधार पर **'पण्हावागरणाइ'** का **'प्रश्ना व्याकरणानि'** न लिखकर **'प्रश्नव्याकरणानि'** रूप ही लिखा है। ऐसा क्यो है, यह विचारणीय है। प्राकृत पर अपभ्र श की छाया ही परिलक्षित होती है।

प्रश्न व्याकरण का अर्थ है—प्रश्नो का व्याकरण अर्थात् निर्वचन, उत्तर एव निर्णय।[१६] यहाँ नामान्तर्गत 'प्रश्न' शव्द सामान्य प्रश्न के अर्थ मे नही है। प्राचीन लुप्त प्रश्न व्याकरण की जो दर्पण प्रश्न, अगुष्ठ प्रश्न, वाहु प्रश्न आदि (दर्पण, जल, वस्त्र, अगूठे का नख, तलवार आदि मे मन्त्र वल से दैवी शक्ति का अवतरण कर भविष्य का ज्ञान करना आदि) से सम्वन्धित विपयचर्चा नन्दी सूत्र आदि मे उपलब्ध है, उसके अनुसार 'प्रश्न' शव्द मत्रविद्या एव निमित्त शास्त्र आदि के विपयविशेष से सम्वन्ध रखता है। अस्तु, प्राचीन परम्परा के अनुसार विचित्र विद्यातिशय अर्थात् चम-

---

१६—(क) पण्हो त्ति पुच्छा, पडिवयण वागरण प्रत्युत्तरमित्यर्थं ।

—नन्दी चूर्णि

(ख) प्रश्न प्रतीतस्तन्निर्वचन व्याकरण, वहुत्वाद् वहुवचनम् ।

—आचार्य हरिभद्र, नन्दीवृत्ति

त्कारी प्रश्नो का व्याकरण जिस सूत्र मे वर्णित है, वह प्रश्नव्याकरण है।[१७] वर्तमान मे उपलब्ध प्रश्न व्याकरण मे तो ऐसी कोई चर्चा नही है। अत यहाँ प्रश्न व्याकरण का यदि सामान्यत विचार चर्चा रूप 'जिज्ञासा'[१८] अर्थ किया जाए तो ठीक है। अहिंसा-हिंसा एव सत्य-असत्य आदि धर्माधर्मरूप विपयो की चर्चा जिस सूत्र मे है, वह प्रश्न व्याकरण है। इस दृष्टि से वर्तमान मे उपलब्ध 'प्रश्न व्याकरण' का नाम भी सार्थक हो सकता हे।

प्राचीन प्रश्न व्याकरण एक महान् विराटकाय अग सूत्र था। उसके पदो की गणना लाखो की सख्या मे थी। श्वेताम्वर परम्परा के अनुसार प्रश्न व्याकरण के ९२ लाख १६ हजार पद होते है।[१९] दिगम्वर परम्परा पदो की सख्या ९३ लाख १६

---

१७ (क) पण्हावागरणेसु ण अगुट्ठपसिणाइ, बाहुपसिणाइ, अद्दागपसिणाइ, अन्ने वि विचित्ता विज्जाइसया, नागसुवण्णेहिं सद्धि दिव्वा सवाया आघविज्जति।

—नन्दीसूत्र, श्रुतज्ञान प्रकरण

(ख) अद्दागगुट्ठ-बाहु-असि-मणि-खोम-आइच्चभासियाण, विविहमहापसिण-विज्जा-मणपसिणविज्जा-देवयपयोगपहाणगुणप्पगासियाण सब्भूयदुगुणप्प-भावनरगणमइविम्हयकराण।

—समवायाग सूत्र, सूत्र १४५

(ग) या पुर्नविद्या मत्रा वा विधिना जप्यमाना. पृष्टा एव शुभाशुभ कथयन्ति।

—नन्दी सूत्र, मलयगिरिवृत्ति

(घ) णागा सुवण्णा अण्णे य भवणवासिणो ते विज्जामतागरिसि आगता साधुणा सह सवदति-जल्प करेंति।

—नन्दी चूर्णि

(ड) अन्ये विद्यातिशया. स्तम्भ-स्तोभ-वशीकरण-विद्वेषी-करणोच्चा य।

—समवायागवृत्ति

(च) प्रश्नविद्या यकाभि क्षौमकादिषु देवतावतार. क्रियते।

—स्थानाग, अभयदेवीयावृत्ति १० स्थान

१८—प्रश्न प्रतीत तद्विषय निर्वचन व्या ।

—नन्दी सूत्र, मलयगिरिवृत्ति

१९—(क) पदग्ग दोणउतिलक्खा सोलस य सहस्सा।

—नन्दी चूर्णि

(ख) द्विनवतिलंक्षाणि षोडश च सहस्राणि।

—समवायागवृत्ति

हजार मानती है।[20] वर्तमान मे प्रचलित प्रश्न व्याकरण की श्लोक सख्या १२५६ के लगभग है। एक श्लोक ३२ अक्षर का माना जाता है।

समवायाग और नन्दी सूत्र मे प्रश्न व्याकरण के ४५ अध्ययन बतलाए है।[21] अनेक सख्यक श्लोको एव निर्युक्तियो आदि का भी उल्लेख है।[22] इसके विपरीत स्थानाग सूत्र मे प्रश्न व्याकरण सूत्र के केवल दश अध्ययनो का ही उल्लेख है— उपमा, सख्या, ऋपिभापित, आचार्य भापित, महावीरभापित, क्षोमक प्रश्न, कोमल प्रश्न, अद्दाग प्रश्न, अगुष्ठ प्रश्न और वाहु प्रश्न।[23]

वर्तमान मे उपलब्ध प्रश्नव्याकरण मे उक्त दश अध्ययनो मे का एक भी अध्ययन नही है। नन्दी आदि सूत्रो मे भी जहाँ प्रश्नव्याकरण की चर्चा है, वहा अगुष्ठ प्रश्न तथा वाहु प्रश्न आदि का तो उल्लेख है, किन्तु स्थानाग मे निर्दिष्ट उपमा, सख्या, ऋपिभापित आदि का कोई उल्लेख नही है।[24] हाँ, समवायाग मे प्रत्येकबुद्धभापित, आचार्य भापित और महावीरभापित का एक सक्षिप्त सा उल्लेख अवश्य मिलता है, पर वह भी विषय के रूप मे है, किसी स्वतन्त्र अध्ययन

२०—पण्हवायरण णाम अग तेणउदिलक्ख-सोलससहस्सपदेहि।

—धवला, भाग १, पृ० १०४

२१—(क) पणयालीस अज्झयणा, पणयालीस उद्देसणकाला, पणयालीस समुद्दे-सणकाला।

—नन्दी सूत्र

(ख) पणयालीस उद्देसणकाला, पणयालीस समुद्देसणकाला।

—समवायाग सूत्र, १४५

(ग) यद्यपीहाध्ययनाना दशत्वाद् दशैवोद्देशनकाला भवन्ति तथाऽपि वाचनान्त-रापेक्षया पञ्चचत्वारिंशदिति सभाव्यते।

—समवायागवृत्ति

२२— सखेज्जा सिलोगा, सखेज्जाओ निज्जुत्तीओ।

—नन्दी सूत्र

२३—पण्हावागरणदसाण दस अज्झयणा पण्णत्ता, त जहा-उवमा, सखा, इसिभासियाइ, महावीरभासियाइ, खोमगपसिणाइ, कोमलपसिणाइ, अगुट्ठपसिणाइ, वाहुपसिणाइ।

—समवायाग, सूत्र १४५

२४—प्रश्नव्याकरणदशा इहोक्तरूपा न, दृश्यमाना तु पञ्चाश्रव पञ्चसवरात्मिका।

—स्थानाग—अभयदेवीया वृत्ति, १० स्थान

के रूप मे नही ।[२५] लगता है, प्रश्न व्याकरण सूत्र के विपय तथा अध्ययन आदि के सम्वन्ध मे वहुत प्राचीनकाल से ही कोई एक निश्चित धारणा नही रही है। कही स्थानाग आदि सूत्रो के सकलन काल मे वाचना भेद से प्रश्न व्याकरण के विभिन्न रूप तो प्रचलित नही थे ? लगता तो ऐसा ही है।

दिगम्वर परम्परा के धवला आदि ग्रन्थो मे प्रश्न व्याकरण का विपय वताते हुए कहा है कि प्रश्न व्याकरण मे आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेदनी और निर्वेदनी, इन चार कथाओ का वर्णन है। आक्षेपणी मे छह द्रव्य और नौ तत्वो का वर्णन है। विक्षेपणी मे परमत की एकान्त दृष्टियो का पहले प्रतिपादन कर अनन्तर स्वमत अर्थात् जिनधर्म को स्थापना की जाती है। सवेदनी कथा पुण्यफल की कथा है, जिसमे तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव, देव एव विद्याधरो की ऋद्धि का वर्णन है। निर्वेदनी मे पापफल की कथा है, अत उस मे नरक, तिर्यच, कुमानुप योनियो का एव जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना, दरिद्रता आदि का वर्णन हे।

और यह प्रश्नव्याकरण अग प्रश्नो के अनुसार हत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और सख्या का भी निरूपण करता है।[२६]

२५—ससमयपरसमयपण्णवयपत्तेयबुद्धविविहत्थभासाभासियाण, अइसयगुण-उवसमणाणप्पगारआयरियभासियाण, वित्थरेण वीरमहेसीहि विविहवित्थर-भासियाण।

—समवायोग सूत्र, १४५

२६—अक्खेवणी विक्खेवणी सवेयणी णिव्वेयणी चेदि चउव्विहाओ कहाओ वण्णेदि। तत्थ अक्खेवणी णाम छद्दव्व-णव पयत्थाण सरूव दिगतर-समयातर-णिराकरण सुद्धि करेंती परूवेदि।

विक्खेवणी णाम परसमएण ससमय दूसती पच्छा दिगतरसुद्धि करेंती ससमय थावती छद्दव्व-णवपयत्थे परूवेदि।

सवेयणी णाम पुण्णफलसकहा। काणि पुण्णफलाणि ? तित्थयर-गणहर-रिसि-चक्कवट्टि-वलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहररिद्धीओ।

णिव्वेयणी णाम पा कहा। काणि पावफलाणि ? णिरय-तिरिय-कुमाणुसजोणीसु जाइ-जरा-मरण-वाहि-वेयणा-दालिद्दादीणि। ससारसरीर-भोगेसु वेरग्गुप्पाइणी णिव्वेयणी णाम ।

पण्हादो हद-नट्ठ-मुट्ठि-चिता-लाहालाह-सुह-दुक्ख-जीविय-मरण-जय-पराजय-णाम-दव्वायु-सख च परूवेदि।

—धवला, भाग १ पृ० १०७-८

दिगम्बर परम्परा मे भी प्रश्न व्याकरण का जो नष्ट, मुष्टि आदि चमत्कारी विपय प्रतिपादित किया है, वह श्वेताम्बर परम्परा के समवायाग तथा नन्दी सूत्र आदि से मिलता है। दिगम्बर परम्परा अग साहित्य का विच्छेद मानती है, अत वर्तमान मे उसके यहाँ आचाराग आदि अग तथा औपपातिक आदि अग बाह्य आगमो मे से कोई भी आगम नही है। अत प्रश्न व्याकरण भी नही है, जिस पर कुछ विचार-चर्चा की जा सके। श्वेताम्बर परम्परा म एक प्रश्नव्याकरण वर्तमान मे भी उपलब्ध है, पर उस मे उल्लिखित विपयो जैसा कोई विपय नही है।

एक प्रश्न ?

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ मे प्राचीन प्रश्न व्याकरण सूत्र का जो विपय बताया है, उसके सम्बन्ध मे एक प्रश्न उभरता है। ज्योतिप, मन्त्र, तन्त्र आदि से सम्बन्धित शास्त्रो को जैन परम्परा पापश्रुत मानती है।[२७] और पाप-श्रुत के प्रयोग जैन भिक्षु के लिए निपिद्ध हैं।[२८] फिर वीतराग, अध्यात्म पुरुप तीर्थंकर ऐसे निपिद्ध विषयो का एक शास्त्र के रूप मे इतना विस्तृत प्रतिपादन क्यो करते हैं ? क्या उन की ही अपनी परिभापा मे ये सब पापश्रुत मे नही आते हैं ? इस प्रकार के सासारिक विपयो के प्रतिपादक चमत्कारी शास्त्रो से अध्यात्म साधना के साधक को क्या लाभ हो सकता है ? साधक के लिए तो वही शास्त्र शास्त्र है, जिसे श्रवण कर अन्तरात्मा मे तप, क्षमा, अहिंसा आदि विशुद्ध भावो का जागरण हो।[२९] यदि ऐसा कुछ नही होता है तो वह ज्योतिप आदि अन्य लौकिक विपयो का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र, भले ही कुछ और हो, धर्मशास्त्र तो विल्कुल नही हो

२७—(क) नवविहे पावसुयपसगे पण्णत्ते, त जहा—
उप्पाए, नेमित्तए, मत्ते, आइक्खए, तिगिच्छीए।
कलावरण-अन्नाणे, मिच्छापावयणे त्ति य॥

—स्थानाग ६ स्थान

(ख) पापोपादानहेतु श्रुत शास्त्र पापश्रुतम्।

—स्थानाग वृत्ति, ६ स्थान

(ग) समवायाग २६ वां समवाय

२८—(क) सूत्रकृताग सूत्र, द्वितीयश्रुतस्कन्ध, द्वितीय अध्ययन
(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, १६।७-८

२६—ज सोच्चा पडिवज्जति,
तव खतिर्माहिसय।

—उत्तराध्ययन ३।८

सकता। बहुत कुछ विचार चिन्तन करने पर भी यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है। हाला कि टीकाकारो ने सघ रक्षा आदि कारणविशेप के नाम पर पापश्रुत से सम्बन्धित उक्त सब विपयो का खुलकर समर्थन किया है।[30]

वर्तमान प्रश्न व्याकरण

प्राचीन प्रश्नव्याकरण कब लुप्त हुआ, निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। आगमो को पुस्तकारूढ करने वाले आचार्य देवर्द्धि गणी ने इस सम्बन्ध मे कुछ भी सूचना नही दी है। समवायाग आदि मे जिस प्रश्न व्याकरण का उल्लेख है, वह उनके समक्ष विद्यमान था, या प्राचीन श्रुति परम्परा से जैसा चलता चला आ रहा था वैसा ही ज्यो का त्यो श्रुतविपय समवायाग आदि मे लिख दिया गया, कुछ स्पष्ट नहीं होता। हा, इतना स्पष्ट है, वर्तमान प्रश्न व्याकरण के विपय की तत्कालीन आगमो मे कोई चर्चा नही है।

आचार्य जिनदास महत्तर ने शक सवत् ५०० की समाप्ति पर नन्दी सूत्र पर चूर्णि की रचना की है।[31] उसमे सर्वप्रथम वर्तमान प्रश्नव्याकरण के विपय से सम्बन्धित पाच सवर आदि का उल्लेख है।[32] इस उल्लेख के वाद फिर वही परम्परागत एक सौ आठ अगुष्ठ प्रश्न और वाहु प्रश्न आदि का वर्णन किया है। लगता है, जिनदास गणी के समक्ष प्राचीन प्रश्न व्याकरण नही था। उसके विपय की चर्चा उन्होने केवल परम्परापालन की दृष्टि से करदी है। वास्तविक प्रश्न व्याकरण उनके समक्ष प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण ही था, जिसके सवर आदि विपय का उन्होने सर्व प्रथम उल्लेख किया है। इसका अर्थ यह है कि शक सवत् ५०० से पूर्व ही कभी प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण सूत्र का निर्माण एव प्रचार-प्रसार हो चुका था और उसे अग साहित्य मे मान्यता मिल चुकी थी।

प्रश्न व्याकरण का विषय परिवर्तन क्यो ?

प्राचीन प्रश्न व्याकरण के ज्योतिप, मन्त्र, तन्त्र, विद्यातिशय आदि विपयो का परिवर्तन कर आश्रव तथा सवर रूप नवीन विपयो का क्यो सकलन किया गया,

---

३०—सर्वमपि पापश्रुत सयतेन पुष्टालबनेन आसेव्यमानमपापश्रुतमेवेति।

—स्थानाग वृत्ति ९ वाँ स्थान

३१—सकराजातो पचसु वर्षशतेषु नन्द्यध्ययनचूर्णी समाप्ता।

—नन्दी चूर्णि, उपसहार

३२—पण्हावागरणे अगे पचसवरादिका व्याख्येया, परप्पवादिणो य अगुट्ठ-वाहुपसिणादियाण पसिणाण अट्ठुत्तर सत

—नन्दी चूर्णि

इस का समाधान करते हुए वृत्तिकार आचार्य अभय देव कहते है कि वर्तमान समय का कोई अनधिकारी व्यक्ति सूत्रप्रतिपादित चमत्कारी विद्याओं का दुरुपयोग न करे, इस दृष्टि से उत्तर काल मे गीतार्थ आचार्यों ने उस प्रकार की सब विद्याए प्रश्न व्याकरण सूत्र मे से निकाल दी और उनके स्थान मे केवल आश्रव तथा सवर का समावेश कर दिया गया।[33] प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण के दूसरे टीकाकार आचार्य ज्ञान-विमल भी ऐसा ही उल्लेख करते है।[34] परन्तु यह समाधान वस्तुत' कुछ अर्थ रखता है क्या ? प्रश्न है कि वीतराग तीर्थंकर देवो ने पहले तो ऐसे विषय का निरूपण ही क्यो किया, जिसको बाद मे हेयत्वेन निकालना पड़ा। दूसरे किसी प्राचीन ग्रन्थ के मूल विषय को निकालकर उसके स्थान मे नवीन विषय डाल देने का उत्तरवर्ती आचार्यो को क्या अधिकार था ? इससे तो प्राचीन शास्त्रो की प्रामाणिकता ही सन्देहकोटि मे आजाती है। यदि पहले के कुछ आचार्यो को यह अधिकार प्राप्त था, तो क्या वर्तमान मे भी किसी को ऐसा कोई अन्य परिवर्तन करने का अधिकार हो सकता है ?

रचयिता कौन ?

अग सहित्य का निरूपण अर्थरूप मे तीर्थंकर अर्हन्त करते है। गणधर उसी अर्थ-रूप भाव को सूत्ररूप मे शब्दबद्ध करते है।[35] इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि तीर्थंकर

३३—प्रश्नाना—विद्याविशेषाणा यानि व्याकरणानि तेषा प्रतिपादनपरा दशा—दशाध्ययनप्रतिबद्धा ग्रन्थपद्धतय इति प्रश्नव्याकरणदशा। अय च व्युत्पत्त्यर्थोऽस्य पूर्वकालेऽभूत्। इदानीं त्वाश्रवपञ्चक-सवरपञ्चकव्याकृतेरेवेहोपलभ्यते, अतिशयाना पूर्वाचार्यैरैदयुगीनानामपुष्टालम्बनप्रतिषेविपुरुषापेक्षयोत्तारितत्वादिति।

—प्रश्नव्याकरणवृत्ति, प्रारम्भ

३४—प्रश्ना अङ्गुष्ठादि प्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियन्ते अभिधीयन्ते अस्मिन्निति प्रश्न-व्याकरणम् एतादृश अग पूर्वकालेऽभूत्। इदानीं तु आश्रव-सवरपञ्चक-व्याकृतिरेव लभ्यते। पूर्वाचार्यैरैदयुगीनपुरुषाणा तथाविधहीनहीनतर-पाण्डित्यबल बुद्धिवीर्यापेक्षया पुष्टालम्बनमुद्दिश्य प्रश्नादिविद्यास्थाने पञ्चा-श्रव-सवररूप समुत्तारितम्।

—प्रश्नव्याकरण टीका, प्रारभ

३५—(क) अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गुथति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तइ ॥

—आवश्यक निर्युक्ति, गा० १९२

(ख) भावसुदस्स अत्थपदाण च तित्थयरो कत्ता। दव्वसुदस्स गोदमो कत्ता।

—धवला, भाग १ पृ० ६५

केवल विश्वजनीन स्वपरहितकर भावो का प्रवचन करते है, शास्त्र या ग्रन्थ रूप मे कोई रचना नही करते। तीर्थकरो द्वारा उपदिष्ट भावो को ग्रहण कर गणधर उन्हे आचाराग आदि शास्त्रो का रूप देते है। अत गणधर ही वस्तुत अगशास्त्रो के रचयिता है। अगोत्तर साहित्य, जिसे अगबाह्य कहा जाता है, उसकी रचना यथावसर एव यथा प्रसग उत्तरकालीन श्रुतधर आचार्य करते है।

प्राचीन प्रश्न व्याकरण का सम्बन्ध भले ही गणधरो से जोडा जा सकता है। परन्तु वर्तमान प्रश्न व्याकरण सूत्र, जो स्पष्टत ही पश्चात्कालीन रचना है, उसका रचनाकार के रूप मे गणधरो से कैसे सम्बन्ध हो सकता है ? फिर भी शास्त्र के प्रारम्भ मे ही आर्य जम्बू को सम्बोधित किया गया है, अत टीकाकारो ने प्रश्न व्याकरण का उनके साक्षात् गुरु गणधर सुधर्मा से सम्बन्ध जोड दिया है।[३६] आचार्य अभय देव ने अपनी टीका मे, पुस्तकातर से प्रश्न व्याकरण का जो उपोद् घात दिया है, उसमे उपोद्-घातकार ने प्रवक्ता के रूप मे सुधर्मा गणधर का ही उल्लेख किया है। परन्तु सूत्र की शैली, जटिल प्राकृत भाषा तथा सुधर्मा स्वामी के बाद का काल—ये सब स्पष्टत निषेध करते है कि प्रस्तुत रचना सुधर्मा स्वामी की नही है, अपितु पश्चाद्भावी किसी अन्य स्थविर की है। सुधर्मा और जम्बू के सवादरूप मे पुरातन शैली का अनुकरणमात्र किया है रचनाकार आज्ञातनामा स्थविर ने। अब रहा प्रश्न विषय का। आश्रव और सवर ही हेय एव उपादेय के रूप मे जैनसाधना के केन्द्र बिन्दु है, जो भावत तीर्थंकर द्वारा प्रतिपाद्य होने के नाते परपरा से आ ही रहे है, इसमे दो मत नही है।

श्रुतस्कन्ध एक या दो ?

प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण के दश अध्ययन है। दश अध्ययनो का वर्गीकरण दो प्रकार मे किया गया है। एक प्रकार तो वर्तमान मे प्रचलित है, जहाँ प्रश्नव्याकरण सूत्र का एक ही श्रुतस्कन्ध माना गया है, और उसके दश अध्ययन बताए है। प्रस्तुत सूत्र के उपसहारवचन मे स्पष्ट कहा है—**पण्हावागरणे ण एगो सुयक्खधो दस अज्झयणा**। नन्दी और समवायाग सूत्र मे भी प्रश्न व्याकरण का एक ही श्रुतस्कन्ध मान्य है।

३६—पञ्चमगणनायक श्री सुधर्मास्वामी सूत्रतो जम्बूस्वामिन प्रति प्रणयन चिकीर्षु सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनप्रतिपादनपरा 'जम्बू' इत्यामत्रणपदपूर्वा 'इणमो' इत्यादिगाथामाह—।

—प्रश्नव्याकरण, अभयदेवीया वृत्ति

परन्तु आचार्य अभय देव ने अपनी वृत्ति मे पुस्तकान्तर से जो उपोद्घात उद्धृत किया है उसमे प्रश्नव्याकरण के दो श्रुतस्कन्ध बताए है—आश्रवद्वार और सवर द्वार। तथा प्रत्येक श्रुतस्कन्धके पांच-पाच अध्ययन सूचित किए है—"दो सुयक्खधा पण्णत्ता—आसवदारा य सवरदारा य। पढमस्सण सुयक्खधस्स पच अज्झयणा। दोच्चस्सण सुयक्खधस्स पच अज्झयणा। उपोद्घात का उक्त कथन आचार्य अभय देव के समय मे मान्य नही था, अत वे लिखते है कि दो श्रुतस्कन्ध की नहीं, एक श्रुतस्कन्ध की मान्यता ही रूढ है—"यत्चेय द्विश्रुतस्कन्धतोक्ता ऽस्य सा न रूढा, एकश्रुतस्कन्धताया एव रूढत्वात्।" मेरे विचार मे दो श्रुतस्कन्ध की मान्यता ही तर्कसगत है। जब आश्रव और सवर दो भिन्न विषय है तो तदनुसार दो श्रुतस्कन्ध ही होने चाहिएँ, एक नही। पता नही, एक श्रुतस्कन्ध की मान्यता किस आधार पर प्रचलित हो गई।

रचना शैली और प्रतिपाद्य

प्रस्तुत वर्तमान प्रश्न व्याकरण की रचना पद्धति काफी सुघटित है, कतिपय अन्य आगमो की तरह विकीर्ण नही है। आश्रव प्रकरण मे हिंसादि प्रत्येक आश्रव के तीस-तीस नाम बताए है। इनके कटु परिणामो का भी विस्तार से वर्णन है। अहिंसा आदि प्रत्येक सवर का निरूपण भी काफी विस्तार और उपयोगिता से वर्णित है। उक्त आश्रव एव सवर के वर्णन पर से अध्येता के अन्तर्मन मे निर्वेदन और सवेदन की, निवृत्तिऔर प्रवृत्ति की, तथा असयम और सयम की यथोचित अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रिया ठीक तरह से जागृत हो जाती है।

आश्रव सवर के निरूपण के साथ तत्कालीन दार्शनिक मत, दण्डनीति, अनेक आर्य अनार्य देश, गृहजीवन, कला, उद्योग, पशु, पक्षी, भोग, विलास, शिल्पी कर्मकर, भवनो के विभिन्न रूप, वाहन, समुद्रयात्रा, म्लेच्छ जातिया, स्त्री-पुरुष के लक्षण, ऐतिहासिक व्यक्ति, साधु चर्या, युद्ध आदि विविध विषयो का वर्णन भी काफी महत्त्वपूर्ण है। एक प्रकार से तत्कालीन प्राचीन लोकसस्कृति का एक स्पष्ट चित्र मनश्चक्षुओ के समक्ष उपस्थित हो जाता है। आज के शोधार्थी छात्र प्रश्न व्याकरण मे से प्राचीन भारतीय इतिहास से सम्बन्धित विपुल सामग्री प्राप्त कर सकते है।

प्रश्न व्याकरण की भाषा अर्धमागधी प्राकृत है। पर, वह समासबहुल होने से अतीव जटिल होगई है। प्राकृत का साधारण अभ्यासी तो ठीक तरह से समझ भी नही सकता। सस्कृत या हिन्दी की टीकाओ के बिना प्रश्न व्याकरण के भावो को समझ लेना सरल नही है। कुछ स्थानो पर तो ऐसा लगता है कि जिज्ञासु पाठक को सरलता मे सीधा अर्थबोध न कराकर स्पष्ट ही पाण्डित्यबोध कराया जा रहा है, जिसकी वहा कोई अपेक्षा नही है।

और तो और, समर्थ वृत्तिकार आचार्य अभयदेव ने भी अपनी वृत्ति के प्रारम्भ मे लिखा है कि "इस शास्त्र की प्राय कूट पुस्तकें (हस्त-लेख) मिलती हैं। हम अज्ञ है और यह शास्त्र बहुत गभीर है, अत विचारपूर्वक ही सूत्रार्थ की योजना करना चाहिए।[३७]" और वृत्ति की समाप्ति पर पुन आचार्य ने लिखा है कि शास्त्रीय आम्नाय (परम्परा) से रहित हमारे जैसे व्यक्तियो के लिए इस शास्त्र का बोध करना कठिन है। अत हमने यहाँ जो और जैसे अर्थ किए है, वे ही ठीक हैं—ऐसा नही समझ लेना चाहिए।"[३८] आचार्य अभय देव के उक्त उल्लेखो पर से प्रतिध्वनित होता है कि आगमो का शव्दशरीर व्यवस्थित नही था। अर्थबोध की परम्परा भी अस्तव्यस्त हो चुकी थी। उपलब्ध प्रतिया भी विश्वसनीय नही थी, तभी तो वे कहते हैं—'प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि।'

आश्रव और संवर

वर्तमान जैन आगम साहित्य मे प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण सूत्र का अपना एक विशिष्ट एव महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाम ही कितना अर्थगभीर है—'प्रश्नव्याकरण अर्थात् प्रश्नो का व्याकरण, समाधान, उत्तर। जिस प्रकार तन के रोगो का प्रश्न मानव के समक्ष अनादि काल से एक जटिल प्रश्न रहा है, उसी प्रकार साधक के समक्ष मन के रोगो का प्रश्न भी है। तन के रोगो से भी अधिक भयकर हैं मन के रोग। तन के रोग तो अधिक से अधिक एक जन्म तक ही पीडा देते हैं, अगले जन्मो तक तो ज्वरादिरूप देहरोग आत्मा के पीछे नही दौडते है, शरीर के साथ यही-के-यही रह जाते हे। परन्तु मन के रोग तो जन्म-जन्मान्तरो तक पीछे दौडते रहते है। अतीत मे अनादि अनन्त काल से आत्मा को पीडित करते रहे है, और यदि समय पर नही संभला गया, उचित प्रतिकार नही किया गया, तो भविष्य मे भी अनन्ता-

३७—अज्ञा वय शास्त्रमिद गभीर,
प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि।
सूत्रं व्यवस्थाप्यमतो विमृश्य,
व्याख्यानकल्पादित एव नैव॥

३८ परेषा दुर्लक्ष्या भवति हि विवक्षा स्फुटमिद,
विशेपाद् वृद्धानामतुलवचनज्ञानमहसाम्।
निराम्नायाधीभि पुनरतितरा मादृशजनै,
तत शास्त्रार्थ मे वचनमनघ दुर्लभमिह॥ ३॥
तत सिद्धान्ततत्त्वज्ञै, स्वयमूह्य सुयत्नत।
न पुनरस्मदाख्यात, एव ग्राह्यो नियोगत॥ ४॥

नन्त काल तक मन के रोग इसी प्रकार उत्पीडित करते रहेगा । एक क्षण के लिए भी आत्मा को शान्तिलाभ नही होने देगे ।

प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण सूत्र मे मन के रोगो की सही चिकित्सा का विधान है । प्रथम आश्रव खण्ड मे रोगो का वर्णन है । रोग है, अन्तर्मन के विकार हिंसा, असत्य, स्तेय-चौर्य, ब्रह्मचर्य-कामविकार, और परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा, आसक्ति, लोभ, तृष्णा, गृद्धि ।

प्रथम खण्ड मे रोगो का स्वरूप और उन के द्वारा होने वाले दुःखो एव पीडाओ का उल्लेख है । द्वितीय सवर खण्ड म अहिंसा, सत्य, अस्तेय-अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह के स्वरूप का एव उनके सुखद प्रतिफलो का वर्णन है । आगम की भाषा मे हिंसादि पाँच प्रकारो को आश्रव कहा जाता है । आश्रव, अर्थात् नवीन कर्मप्रवाह का आत्मा के क्षेत्र मे प्रविष्ट होने का द्वार है । और अहिंसा, सत्य आदि पाँच को सवर कहा जाता है । सवर, अर्थात् आत्म क्षेत्र मे प्रविष्ट होने वाले कर्मप्रवाह का निरोध ।[४०] आश्रव ससार का हेतु है और सवर मोक्ष का, अत आश्रव तथा सवर के वर्णन मे ही समग्र जिन प्रवचन का साराश, निष्यन्द अर्थात् निचोड आ जाता है ।[४१] जिस साधक ने आश्रव और सवर के स्वरूप को समझ लिया, उसने एक प्रकार से साधना का समग्र तत्त्व ही अधिगत कर लिया ।

३९—पुण्यपापागमद्वारलक्षण आस्रव ।१६। पुण्यपापलक्षणस्य कर्मण आगमनद्वारमास्रव इत्युच्यते । आस्रव इवास्रव । क उपमार्थ ? यथा महोदधे सलिलमापगामुखैरहरहरापूयते तथा मिथ्यादर्शनादिद्वारानुप्रविष्टै कर्मभिरनिशमात्मा समापूर्यत इति मिथ्यादर्शनादिद्वारमास्रव ।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक १।४।१६

४०—आस्रवनिरोधलक्षण सवर ।१८। पूर्वोक्तानामास्रवद्वाराणा शुभपरिणामवशान्निरोध सवर । सवर इव सवर । क उपमार्थ ? यथा सुगुप्तसुसवृतद्वारकपाट पुर सुरक्षित दुरासदमरातिभिर्भवति, तथा सुगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रात्मन सुसवृतेन्द्रियकषाययोगस्य अभिनवकर्मागमद्वारसवरणात् सवर

—तत्त्वार्थराजवार्तिक १।४।१८

४१—(क) अण्हयसवरविणिच्छय पवयणस्स निस्सद ।

—प्रश्नव्याकरण, पीठिका, १

(ख) आश्रवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम् ।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्या प्रपञ्चनम् ।।

—आचार्य हेमचन्द्र, वीतरागस्तोत्र १९।६

आश्रव और सवर की चर्चा अन्य आगमो मे भी है। किन्तु जितना क्रमवद्ध व्यवस्थित वर्णन प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण सूत्र मे हे, उतना अन्यत्र नही है। यही कारण है कि प्रश्न व्याकरण पर अनेक टीकाएँ, निवन्ध आदि लिखे गए हे। वर्तमान मे छोटे-वडे अनेक सस्करण प्रकाशित हुए ह, प्रकाशित हो रहे हे। सव की अपनी-अपनी विशेपताएँ हैं, मै किसी को छोटा या वडा, हीन या महान् नही वताना चाहता। परन्तु प्रस्तुत सस्करण के सम्वन्ध मे अवश्य कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ।

प्रस्तुत सस्करण

प्रस्तुत सस्करण प्रश्न व्याकरण का एक विराटकाय सस्करण है। सर्वप्रथम शुद्ध मूल पाठ है, तदनन्तर सस्कृतच्छाया, पदान्वयार्थ और मूलार्थ हे, जिनसे मूल का शव्दश अर्थवोध हो जाता हे। साधारण पाठक भी पदान्वयार्थ और मूलार्थ पर से मूल पाठ को अच्छी तरह लगा सकता है, मूल का अभिप्राय ग्रहण कर सकता है। अन्त मे विस्तृत व्याख्या है। राष्ट्र भापा हिन्दी मे इतनी विशिष्ट एव विशाल व्याख्या प्रश्न व्याकरण सूत्र पर अभी तक अन्य कोई नही लिखी गई। अनेक हेतु, तर्क, उद्धरण तथा दृष्टान्त आदि से प्रश्न व्याकरण की मूल भावना को स्पष्ट करने का, यह एक अभूतपूर्व महान् प्रयत्न है। व्याख्या मे यत्र तत्र लेखक की मौलिक प्रतिभा के परिदर्शन होते है। प्रस्तुत सस्करण की अपनी एक पृथक् विशिष्टता है, तो वह इस की महती व्याख्या ही है, जिसमे व्याख्याकार का गहन एव विस्तृत अध्ययन, दार्शनिक चिन्तन एव मर्मोद्घाटक प्रगाढ पाण्डित्य प्रतिविम्वित हुआ है।

प्रस्तुत सस्करण के व्याख्याकार और सम्पादक

प्रस्तुत सस्करण के मूल सपादक एव व्याख्याकार, मेरे अभिन्न स्नेही सुहृद् प० श्री हेमचन्द्र जी महाराज हे। सस्कृत, प्राकृत भापाओ का उनका अध्ययन गभीर एव व्यापक है। व्याकरण की मर्मज्ञता तो उनकी सव ओर सुप्रसिद्ध रही है। जैन धर्म-दिवाकर, महामहिम स्व० आचार्य देव श्री आत्माराम जी महाराज के श्रीचरणो मे जव से दीक्षा ली, तभी से अध्ययन मे सलग्न हुए, और निरन्तर अपने अध्ययन को सूक्ष्म, गभीर एव व्यापक वनाते गए। स्व० आचार्य देव स्वय भी एक महान् आगमाभ्यासी एव चिन्तक थे। अपने युग मे वे आगमो के एक सर्वमान्य, लव्ध-प्रतिष्ठ अध्येता एव प्रवक्ता माने जाते थे। आगमसागर का उन्होने तलस्पर्शी अवगाहन किया था। अनुयोग द्वार, आचाराग, स्थानाग, उत्तराध्ययन आदि अनेक गभीर एव गूढ कहे जाने वाले आगमो पर उन्होने हिन्दी टीकाएँ लिखी है, जो विद्वज्जगत् मे समादरणीय हुई है। आचार्य जी की विवेचनशैली स्पष्ट, अर्थवोधक एव हृदयग्राहिणी है। इसी हेतु के सुप्रकाश मे उन्हे जैन सघ ने 'जैनागमरत्नाकर' के महनीय पद से समलकृत किया था। गुरुदेव की चिज्ज्योति प्रिय शिष्य पर
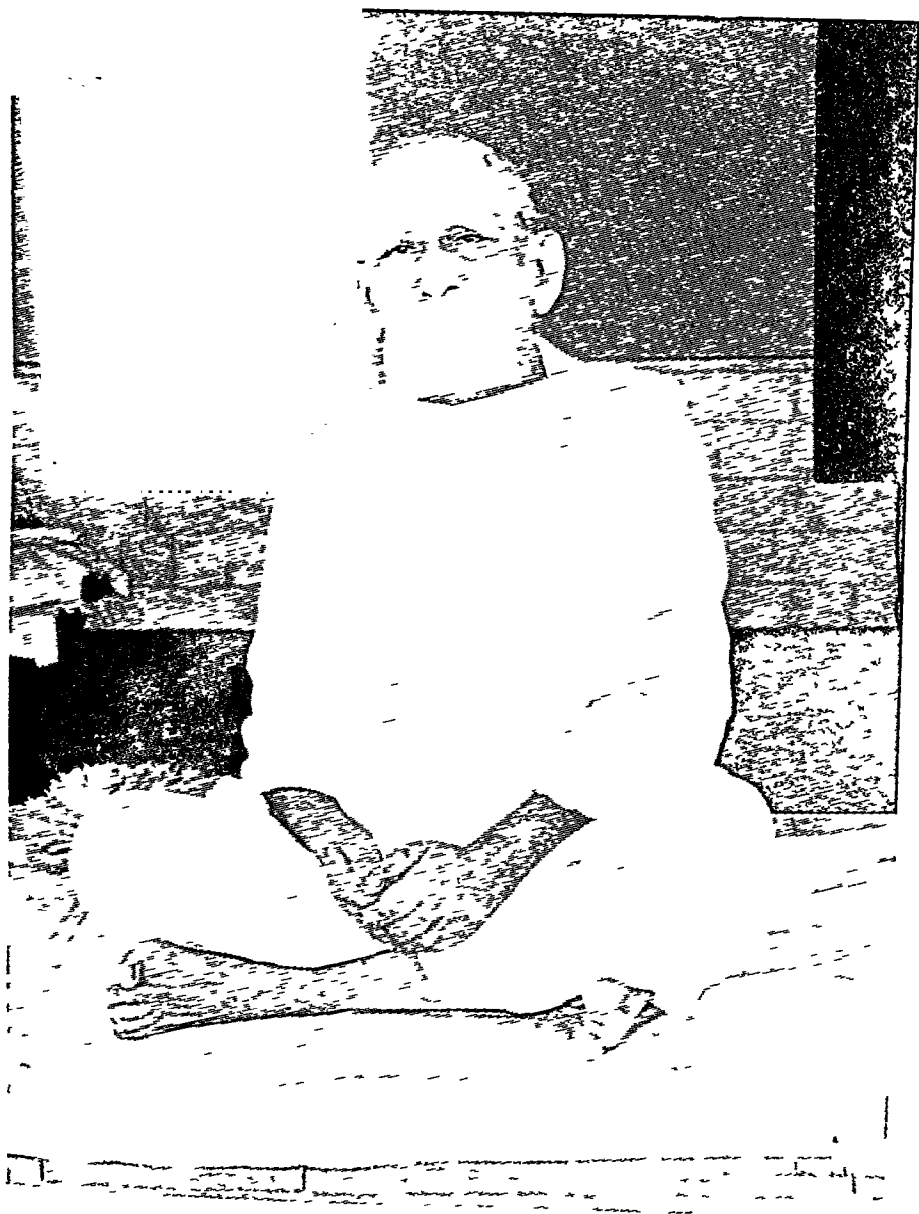
पं० श्री हेमचन्द्र जी महाराज

पवित मे हुआ करते थे। हसराज उन श्रोताओं म से थे, जिनका मन वाना के वचनों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया करता है। पूर्वजन्मोपार्जित पुण्य जागा, राग भागा, वैराग्य तरंगित हुआ और १८ दिन तक प्रवचन पीयूष का पान कर अठारहवां वर्ष आरम्भ होते ही आप लुधियाना आगए और यहाँ आकर सन्तशिरोमणि श्रद्धेय श्री जयराम दास जी महाराज के दर्शन करते ही उनका वैराग्य रंग और भी पक्का हो गया, विरक्त मन साधु-दीक्षा के लिये आकुल हो उठा। परन्तु दीक्षा के लिये माता पिता की आज्ञा अनिवार्य थी, पर झोली म पड़े रत्न को कौन छोड़ना चाहता है। माता-पिता की असहमति और दादा की सहमति का संघर्ष कुछ दिन चला, अन्त मे दादा जी की सहमति का आधार लेकर आप लुधियाना लौट आए और श्रद्धेय श्री जयराम दास जी महाराज से अध्यात्म-पथ पर चलने के लिए आश्रय देने की प्रार्थना की।

श्री जयराम दास जी महाराज दूरदर्शी एव भविष्य के प्रति सजग रहने वाले साधना-सम्पन्न सन्त थे। उन्होने लुधियानानिवासी स्वर्गीय मगूमल जी, स्वर्गीय लाहौरीराम जी और श्रावक श्रेष्ठ लाला नौरातारा‌म जी की उपस्थिति मे लुधियाना और फिलौर क बीच विहार-मार्ग पर एक वृक्ष के नीचे इनकी अध्यात्म-साधना की कामना को पूर्ण कर इन्हे कृतकृत्य किया और साधुवेष मे इन्हे साथ लेकर राहो की ओर विहार कर दिया। राहो पहुच कर इन्हे आत्मोत्थान के लिए श्री आत्माराम जी महाराज के अध्यात्म-आलोक के पावन नेश्राय मे रखकर वे चल दिये अपने अभीष्ट पथ पर। साधु जीवन मे प्रवेश करते ही 'हसराज' हेमचन्द्र' बने और साधना की अग्नि मे तप कर निखरते हुए चन्द्र से चमकने लगे।

स्वाध्याय-साधना आरम्भ हुई, सस्कृत का पाण्डित्य चमकने लगा, प्राकृत पर पूर्ण अधिकार हुआ और आचार्य श्री की महती अनुकम्पा से शास्त्र-सिन्धु के गम्भीर तल तक पहुँच कर ज्ञान रत्नो की उपलब्धि होने लगी। आचार्य श्री के चरणानुगामी वन कर चलते हुए छायेवान्वगच्छत्' की उक्ति चरितार्थ करने लगे।

दिल्ली मे उपाध्याय श्री अमर मुनि जी महाराज जैसे प्रतिभाधनी सहपाठी के साथ पडित श्री वेचरदासजी जैसे जैनागमो के प्रकाण्ड पण्डित से किए गए स्वाध्याय ने जैन समाज को दो महान् विद्वान् सन्त प्रदान किये। आप श्री जी की विद्वत्ता को परखते हुए ही सम्वत् १९९३ होशियारपुर मे चतुर्विध सघ के सम्मुख आचार्य श्री काशीराम जी महाराज ने आपको 'सस्कृत प्राकृत विशारद' पद से विभूपित किया।

आचार्यश्री के लुधियाना मे निवास के अनन्तर आप भी उनकी सेवा मे ही रहने लगे, स्वाध्याय करने के साथ-साथ स्वाध्याय-साधना करवाते हुए। श्रद्धेय

भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज जैसे सुयोग्य शिष्य को पाकर आपकी विद्यालता पुष्पित एव विकसित होने लगी। पंजाव प्रान्त मे अधिकतर श्रमण और श्रमणी वर्ग की प्राकृत-ज्ञान की समृद्धि प० श्री हेमचन्द्र जी महाराज की ही तो देन है। आपके पौत्र शिष्य प्रवचनभूषण श्री अमर मुनि जी महाराज पर भी आपकी विद्यासाधना का परम्परित प्रभाव विद्यमान है।

प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण सूत्र जैन-सिद्धान्तो का, पाच आस्रवो और पाच सवरो का विश्लेपण करने वाला मानो मूल सूत्र है। इसकी व्याख्या आपके प्रखर पाण्डित्यपादप का ही सुन्दर अमृतोपम फल है। जिसका आध्यात्मिक आस्वादन समाज को नई आध्यात्मिक शक्ति और नई आत्मचेतना देगा, यह मेरा अक्षय विश्वास है।

आजकल आपका स्थविर जीवन लुधियाना मे ही व्यतीत हो रहा है, जैन समाज की श्रद्धा-प्रतिष्ठा पर आसीन होकर। आपका तपोमय जीवन नव जीवन दे रहा है, अध्यात्म-जीवन के पथिको को।

—तिलकधर शास्त्री

सम्पादक—आत्मरश्मि, लुधियाना (पजाव)

प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रकाशन में सहयोगी

उदार दानदाता

५०००) श्री शहज़ादा राम जी एडवोकेट

M/s रामनारायण शिवजी राम आढती, गिदडवाहामण्डी एण्ड मुजफ्फरनगर

२१००) श्री अनन्तराम मलेरीराम जी आढती, सफीदोमण्डी

११००) श्री दीवानचन्द विनोदकुमार जैन, गिदडवाहामण्डी

११००) लाला कबूलचन्द्र जुगमन्दर लाल जैन, पदमपुर मण्डी

११००) श्री धनपतराम जी जैन, श्री गगानगर

११००) श्री बनारसीदास कृष्णचन्द्र जैन, मलोट मण्डी

११००) ला० दौलतराम छोगमल जैन, अबोहर मण्डी

११००) श्री चमनलाल धर्मचन्द जैन, सगरिया मण्डी

११००) श्री नरेन्द्र कुमार जैन, एडवोकेट, मुक्तसर

५००) लाला रौनकराम पारसमल जैन, रामामण्डी

५००) श्री रामजीदाश जैन, भिन्ड (मध्य प्रदेश)

अनुक्रमणिका

द्वितीयखंड · सवरद्वार

श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र

उपोद्घात

सूत्रपरिचय

विश्व के समस्त प्राणी सुख के अभिलाषी है, कोई भी प्राणी दुख नही चाहता। परन्तु समस्त प्राणियो की, विशेषत मानव की प्रवृत्तियो को देखते हुए यह कहा जा सकता है, कि मनुष्य प्राय इन्द्रियो और मन के विषयो तथा पदार्थों मे सुख मानकर प्रवृत्ति करता है। नतीजा यह होता है, कि इन्द्रियविषयो, मनोविषयो तथा पदार्थों से होने वाले क्षणिक सुख के नष्ट होते ही पुन दुख की परम्परा चल पडती है, सुख और शान्ति दूरातिदूर होती जाती है। अत यह प्रश्न होना स्वाभाविक है, कि सुख के साधनो और शान्ति के मार्ग को अपनाने पर भी दुख और अशान्ति क्यो मिलती है ? यदि अपनाए हुए ये साधन और उपाय दुख और अशान्ति के जनक हैं, तो वास्तविक और स्थायी सुख-शान्ति के साधन और उपाय कौन-कौन से है ? और दुखो के उत्पन्न करने, बढाने और दुखजनित अशुभ फल के मुख्य कारण कौन-कौन-से हैं ? जीवन के ये और इन सरीखे अन्य अनेक ज्वलन्त प्रश्नो की व्याख्या को ही प्रश्नव्याकरण सूत्र की पृष्ठभूमि समझना चाहिये।

क्योकि प्रश्नव्याकरण सूत्र मे वर्णित पाच आश्रवद्वार और पांच सवरद्वार जीवन के इन्ही मूल प्रश्नो के उत्तर हैं। पाच आश्रव जीवन मे दुखो को बढ़ाने वाले हैं। पाच आश्रवो के फलस्वरूप जीव नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्मों का बध करता है, और उनके कारण वार-वार विविध शुभाशुभ गतियो और योनियो मे परिभ्रमण करके दुख उठाता है। दूसरी ओर पाच सवर जीवन मे स्थायी सुख को बढ़ाने वाले हैं। सवर की विधिवत् साधना-आराधना करके मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है।

इसलिए जीवन के सुखदुख से सम्बन्धित इन ज्वलन्त प्रश्नो के समाधान के रूप मे जो व्याख्या की गई है, उसमे ही वर्तमान मे 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' नाम की सार्थकता समझनी चाहिये।

यद्यपि नन्दी सूत्र म प्रश्नव्याकरणसूत्र की जो सक्षिप्त विषय-सूची दी गई है, उसमे अगुष्ठादि-प्रश्नविद्याओ के प्रतिपादन का उल्लेख है, जो वर्तमान मे उपलब्ध नही है। प्रश्नव्याकरण की प्राचीन व्युत्पत्ति इसी प्रकार की गई है—

'प्रश्ना —अङ्गुष्ठादिप्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियन्ते-अभिधीयन्ते अस्मिन्निति प्रश्नव्याकरणम् ।'

'जिसमे अगुष्ठादि प्रश्नविद्याओ का प्रतिपादन किया गया है, उसे प्रश्न-व्याकरण कहते है।'

वर्तमान काल मे पाच आश्रव और पाच सवर का वर्णन ही दश अध्ययनों मे मिलता है। इस सूत्र का दूसरा नाम 'प्रश्नव्याकरण दशा' भी मिलता है। उसका तात्पर्य यह है, कि यह सूत्र दश अध्ययनो म विभक्त है, इसमे पाच आश्रव द्वार है और पाच सवर द्वार है। इस कारण इस सूत्र के नाम के साथ 'दशा' शब्द जोडा गया है। पूर्वाचार्यों ने वर्तमान युग के मानवो की शक्ति, बुद्धि और वीर्य की हीनता और न्यूनता की अपेक्षा से प्रश्नादि विद्याओ के बदले इसमे जीवन के वास्तविक प्रश्नो की मीमासा के रूप मे आश्रवो और सवरो का विवेचन अवतरित कर दिया है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र दसवा अग सूत्र है। अगसूत्रो का प्ररूपण या अर्थकथन सीधे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा किया गया है, बाद मे गणधरो ने इन्हे शब्दो मे सकलित ग्रथित किया है। इसलिए इस सूत्र का बडा महत्त्व है। जो शास्त्र जीवो को अज्ञान और मोहवश अनेक दुखो की परम्परा मे उलझते देखकर उनके प्रति परम दया और हितबुद्धि से प्रेरित होकर स्वय तीर्थंकर प्रभु के मुखारविन्द से प्राप्त है, उसकी महत्ता मे कोई सन्देह नही रह जाता। फिर भी प्रत्येक शास्त्र के प्रारम्भ मे चार प्रकार का अनुबन्ध बनाना आवश्यक होता है, ताकि पाठक और श्रोता को उस शास्त्र की उपादेयता मालूम हो जाय।

किसी भी शास्त्र के प्ररूपण की प्रवृत्ति के विषय मे सर्वतोमुखी ज्ञान होना जरूरी है और इसे ही अनुबन्ध कहा जाता है। वह अनुबन्ध चार प्रकार का होता है—विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन।

इस शास्त्र मे कौन-कौन-से विषयो का वर्णन है? यह पहले कहा जा चुका है। इस सूत्र के अधिकारी श्रमण और श्रद्धालु श्रोता हैं। जो मनुष्य रात-दिन आरम्भ-समारम्भ मे और परिग्रह बढाने मे ही रचापचा रहता है, वह इस सूत्र के पठन और श्रवण का अधिकारी नही हो सकता। सम्बन्ध—इस सूत्र के साथ उपायोपेयभाव या प्रेय प्रेरक-भाव है। यह शास्त्र प्रेरक है—अनिष्ट (हेय) से दूर रखने और इष्ट (उपादेय) मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा देने वाला है, और जिस व्यक्ति को प्रेरणा दी जाती है, वह प्रेर्य है। इसी प्रकार यह शास्त्र दुखनिवृत्ति का तथा

सुख मे प्रवृत्ति का उपाय बतलाता है, और जिसे उपाय बतलाया जाता है, वह उपेय व्यक्ति है। इस शास्त्र का मुख्य प्रयोजन जीवो को अपनी अज्ञानदशा से क्षणिक वैषयिक एव पदार्थजन्य सुखो से होने वाले दुःखो की परम्परा को अवगत करा कर स्थायी और अविनाशी मोक्ष सुख की ओर प्रवृत्त कराना है। इसी प्रयोजन को आगे मूलसूत्र मे स्पष्ट किया गया है। मतलब यह है, कि ससारी जीव हेय (आश्रवो) को हेय समझकर उपादेय (सवरो) मे प्रवृत्त हो, यही इस शास्त्र की रचना का मुख्य प्रयोजन है।

प्रस्तुत शास्त्र की रचना कब और कैसे ?

प्रस्तुत शास्त्र की प्ररूपणा और रचना कब और कैसे हुई, इस सम्बन्ध मे ज्ञातासूत्र के प्रथम अध्ययन मे वर्णित सन्दर्भ के आधार पर निम्नोक्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है—

प्राचीन काल मे अगदेश (वर्तमान मे विहार प्रान्त के एक प्रदेश) की राजधानी चम्पा नाम की नगरी थी। वहाँ महाप्रतापी सम्राट कोणिक राज्य करता था।

एक बार भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य स्थविर गणधर आर्य सुधर्मास्वामी अपने जम्बू आदि पाच सौ शिष्यो के साथ अनेक गावो और नगरो मे विचरण करते हुए तथा तप और सयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए उस नगरी के वाहर पूर्णभद्र नामक उद्यान मे पधारे, आकर विराजे।

मुनिपुगव श्री सुधर्मास्वामी का पदार्पण सुनकर सम्राट कोणिक और चम्पानगरी की प्रजा अतीव आनन्दित हुई। वह उनके दर्शन और प्रवचन-श्रवण के लिए वरसाती नदी की भाँति उमड पडी। और प्रवचन सुनकर वापिस लौट गई।

उसके पश्चात् आर्य सुधर्मास्वामी के प्रधान शिष्य आर्य जम्बू स्वामी ने विनयपूर्वक गुरुदेव से प्रश्न किया—"भते! मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा प्ररूपित नौवें अग अनुत्तरोपपातिक सूत्र का वर्णन तो आपके श्रीमुख से श्रवण कर लिया, अब कृपा करके यह फरमाइये, कि उन श्रमण भगवान् महावीर प्रभु ने दशवें अग प्रश्नव्याकरणसूत्र मे किन-किन विषयो का प्रतिपादन किया है।"

इसके उत्तर मे आर्य सुधर्मास्वामी ने कहा—'आयुष्मन् जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दशवें अग प्रश्नव्याकरण सूत्र को आश्रवद्वार और सवर द्वार—इन दो श्रुतस्कन्धो मे विभक्त करके दश अध्ययनो में प्ररूपित किया है। पहले के पाच अध्ययनो मे पाच आश्रवो का और पिछले पाच अध्ययनो मे पाच सवरो का क्रमश वर्णन किया है।

पुन आर्य जम्बूस्वामी ने पूछा - "स्वामिन्! प्रथम श्रुतस्कन्ध मे श्रमण भगवान् महावीर ने किन-किन विषयो का किस प्रकार प्ररूपण किया है?" इसके उत्तर मे आर्य सुधर्मास्वामी ने कहा—लो, सुनो!

मूलपाठ

जम्बू ![1] इणमो अण्हय-सवरविणिच्छय पवयणस्स निस्सदं।
वोच्छामि णिच्छयत्थ सुहासियत्थ महेसीहि ॥१॥

संस्कृत-छाया

जम्बू ! इदमास्नवसवरविनिश्चय प्रवचनस्य निस्यन्दम् ।
वक्ष्यामि निश्चयार्थ सुभाषितार्थं महर्षिभि ॥१॥

पदार्थान्वय–(जम्बू) हे जम्बू ! (महेसीहि) महर्षि तीर्थंकरो ने, (सुहासियत्थ) जिसका अर्थ भलीभाति बताया है, (अण्हयसवरविणिच्छय) जिसमे आश्रव और सवर का विशेष रूप से निश्चय किया गया है, ऐसे (पवयणस्स निस्सद) प्रवचन के निस्यन्द-निचोड अर्थात् साररसरूप (इणमो) इस शास्त्र को, (णिच्छयत्थ) निश्चय करने के लिए अथवा मोक्ष के प्रयोजन के लिए, (वोच्छामि) कहूँगा ।

मूलार्थ- हे जम्बू ! इस प्रश्नव्याकरण सूत्र को, जिसमे आश्रव और सवर का विशेष विवेचन है, जिसका अर्थरूप से प्ररूपण श्रमण भगवान् महावीर ने किया है, और महर्षि गणधरो ने जिसका सूत्र रूप से सकलन किया है, जो द्वादशाग आगम का सारभूत रस है, मै निश्चय के लिए या मोक्षप्राप्ति के प्रयोजन के लिए कहूगा ।

व्याख्या

किसी भी शास्त्र या ग्रन्थ की उपादेयता मे पाच निमित्त होते है—(१) पूर्वापर सम्बन्ध, (२) उसका प्रतिपाद्य विषय, (३) उसकी सुलभ प्राप्ति (४) आप्त द्वारा उसकी रचना एव (५) इष्ट प्रयोजन ।

जिस शास्त्र मे पूर्वापर सम्बन्ध नही होता, वह उन्मत्त के असम्बद्ध वचन की तरह आदरणीय नही होता । जिस शास्त्र मे वास्तविक वस्तु का वर्णन न होकर 'आकाश के फूलो का सेहरा बाध कर वध्या पुत्र विवाह करने जा रहा है' इत्यादि वाक्यो की तरह ऊटपटाग बातें लिखी गई हो या जिसमे जीवन की वास्तविक समस्या को हल करने वाली बातें न हो, वह शास्त्र भी उपादेय नही होता । इसी तरह जिस शास्त्र मे प्रतिपादित विषय सर्वसुलभ या बोधगम्य न होकर 'तक्षकसर्प के मस्तक मे रही हुई मणि का आभूषण बना कर पहनने से सब प्रकार के ज्वर नष्ट हो जाते है' के समान दुगम और दुरूह उपाय बताए गए हो, उसे भी सज्जन नही अपनाते । इसी प्रकार जो शास्त्र या ग्रन्थ नि स्वार्थ हितोपदेष्टा आप्त पुरुषो के द्वारा रचित नही होता, वह भी कोई रास्ते चलता मनचला किन्ही बालको से यह कहे, कि

---

१ किसी प्रति मे इससे पूर्व मगलाचरण के रूप मे 'नमो अरिहताण' भी मिलता है ।

'बच्चो ! दौड़ो ! दौडो ! उस ताड के नीचे लड्डुओ का ढेर पडा है' इत्यादि वाक्यो की तरह विश्वसनीय नही होता। और न ही 'पुत्रोत्पत्ति के लिए माता के साथ विवाह करो', या 'सुखवृद्धि के लिए दूसरो को लूटो-खसोटो और मारो', इत्यादि वचनो की तरह अनिष्ट प्रयोजन वाले प्रवचन सत्पुरुषो द्वारा ग्राह्य होते हैं।

परन्तु इस शास्त्र मे शास्त्र की उपादेयता के बारे मे बताए गए पूर्वोक्त पाँचों निमित्त पाये जाते हैं, जो इस मूलगाथा से स्पष्ट है। मूलगाथा मे उक्त 'अण्हयसवरविणिच्छय' पद से पूर्वापर सम्बन्ध तथा इसमे प्रतिपाद्य विषय का सकेत किया गया है। इस शास्त्र मे उपर्युक्त पद के अनुसार आश्रवो और सवरो का विस्तृत और स्पष्ट वर्णन किया गया है, जिसे पढ-सुन कर प्रत्येक व्यक्ति आसानी से हृदयगम कर सकता है। और सुलभता से आश्रवो से वियुक्ति और सवरधर्म की प्राप्ति कर सकता है। इसी प्रकार 'महेसिहिं सुहासियत्थं' पद से यह शास्त्र वीतरागी सर्वजीवहितैषी आप्त पुरुषो द्वारा प्रतिपादित सिद्ध होता है और 'णिच्छयत्थ' पद से मोक्षप्राप्ति रूप इष्ट प्रयोजन भी सूचित किया गया है। इस प्रकार इस शास्त्र की उपादेयता मे किसी प्रकार का सदेह नही रह जाता।

आश्रव—'आ—समन्तात् श्रवन्ति—प्रविशन्ति कर्माणि येन स आश्रव'— इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिन कारणो से आत्मा मे कर्म चारो ओर से प्रविष्ट होते हैं, उसे आश्रव कहते हैं। इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझना ठीक होगा—

समुद्र के अगाध जल पर कोई नाव तैर रही है, सहसा उसमे छिद्र हो जाय तो चारों ओर से उसमे जल आने लगता है। इसी प्रकार यह ससार समुद्र के समान अथाह है, इसमे कार्माण वर्गणा के रूप मे कर्मरूपी पानी लबालब भरा हुआ है, आत्मा रूपी नौका इसमे तैरना चाहती है, परन्तु उसमे हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन और परिग्रह ये पाच आश्रवरूपी पाच बडे-बडे छेद हो गये है, उन छेदो से कर्मरूपी जल चारो ओर से सतत घुसता रहता है, वह आत्मारूपी नौका को डूबा रहा है। मतलब यह है, कि आश्रवरूपी छेदो के द्वारा कर्मजल आत्मारूपी नौका मे भर जाने से उसका डूब जाना निश्चित है।

सवर—'सव्रियन्ते निरुध्यन्ते कर्मकारणानि येन भावेन स सवर'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'आत्मा के जिस परिणाम से आत्मा मे आते (प्रविष्ट होते) कर्म रुक जांय, अथवा कर्मो का आश्रव (आगमन) जिससे बद हो जाय, उसे सवर कहते हैं।

उदाहरण के तौर पर—जब आत्मा अपने समिति, गुप्ति, व्रत, अनुप्रेक्षा आदि शुभ परिणामो से उन आश्रवरूपी छेदो को बद कर देता है, रोक देता है, तो कर्मरूपी जल आत्मारूपी नौका मे नही भर सकता और वह आत्मनौका सहीसलामत

ससारसमुद्र को पार करके अपने गन्तव्यस्थल—मोक्ष मे पहुँच जाती है। फिर वह डूबती नही।

अण्हयसवरविणिच्छय—आश्रवो और सवरो के भेदो और उनके अशुभ-शुभ फलो द्वारा उनके स्वरूपो का विशेष स्पष्टरूप से इस शास्त्र मे निर्णय किया गया है। जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के लिए हेय और उपादेय का निर्णय कर सके।

प्रसगवश यहाँ आश्रव और सवर के मुख्य भेद तथा द्रव्य और भाव रूप से उनके प्रकार भी बतलाते है—

आश्रव के मुख्य भेद पाच हैं—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह। इन पाचो आश्रवो के दो प्रकार है—द्रव्याश्रव और भावाश्रव। कर्मपुद्गलो का आना द्रव्याश्रव कहलाता है और आत्मा के जिन परिणामो से कर्मपुद्गल आते हैं, उन रागद्वेषादिरूप परिणामो—भावो को भावाश्रव कहते हैं। इसी प्रकार सवर के भी मुख्य भेद पाच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पाचो सवरो के भी दो प्रकार हैं—द्रव्यसवर और भावसवर। आते हुए कर्मों का रुक जाना द्रव्यसवर कहलाता है और आत्मा के जिन शुद्ध परिणामो से आते हुए कर्म रुक जाते हैं, उन समिति-गुप्ति आदि परिणामो को भावसवर कहते हैं।

पवयणस्स निस्सद—इस पद से इस शास्त्र की महत्ता बताई गई है, कि यह शास्त्र केवल वचन ही नही, प्रवचन है। प्रवचन किसी न किसी विशेष उद्देश्य को लेकर दिया जाता है, वह निश्चित सिद्धान्तो के अनुरूप होता है। साथ ही यह शास्त्र प्रवचन ही नही, प्रवचन का निस्यन्द यानी निचोड है। श्रमण भगवान् महावीर द्वारा कथित द्वादशागरूप आगमो को प्रवचन कहते हैं। यह शास्त्र उस का सारभूत तत्त्व है। खजूर आदि फलो मे जैसे उनकी गुठली, छिलके आदि नि.सार होते हैं और उनका रस ही सारभूत होता है, वही शरीर मे बल, बुद्धि और वीर्य की वृद्धि करता है, वैसे ही यह सूत्र द्वादशागी ज्ञान का सार है। चूँकि ज्ञान का सार आचरण है। उत्तम आचरण करने से और ज्ञान द्वारा आश्रवो से निवृत्त और सवर मे प्रवृत्त होने से आत्मा मे बल, वीर्य और आनन्द की वृद्धि होती है, जिससे आगे चल कर मोक्षरूप उत्तम फल की प्राप्ति होती है। कहा भी है—

> **'सामाइयमाइय सुयनाण जाव बिंदुसाराओ।**
> **तस्स वि सारो चरण, सारो चरणस्स णिव्वाण ॥'**

सामायिक से लेकर विन्दुसारपर्यन्त द्वादशागीरूप श्रुतज्ञान है। उसका सार चारित्र है, और चारित्र का भी सार निर्वाण है।

सुहासियत्थ महेसिहि—इस पद से शास्त्र को आप्तपुरुषो द्वारा भाषित बतला कर इसकी विश्वसनीयता व्यक्त की है। जगत् के समस्त जीवो के हितैषी वीतराग

महर्षियो द्वारा इस शास्त्र का अर्थरूप मे प्रतिपादन किया गया है, उसी की सूत्र रूप मे रचना अतिशयज्ञानी गणधर करते हैं। कहा भी है—"**अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गथति गणहरा निउण,**" अर्थात्—अर्हन्तदेव उस समय की लोकप्रचलित भाषा (अर्धमागधी) मे अर्थरूप से विषय का प्रतिपादन करते हैं, उसी को कुशलतापूर्वक द्वादशागी आगम के रूप मे प्रवुद्ध गणधर शब्दवद्ध करते हैं। पूर्वोक्त पद के द्वारा गणधर आर्य सुधर्मास्वामी ने वीतराग द्वारा प्ररूपित वता कर प्रस्तुत शास्त्र की विश्वसनीयता और अपनी नम्रता प्रगट कर दी है।

वोच्छामि—इस पद के द्वारा आर्य सुधर्मास्वामी ने भगवद्भापित प्रवचन को शास्त्ररूप मे सकलित करने की प्रतिज्ञा की है।

णिच्छयत्थ—इम पद से दो अर्थ सूचिन होते है—एक तो यह कि इस शास्त्र को पढ-सुनकर हेय-उपादेय का निश्चय करने के लिए'—'आश्रवो को छोडने और सवरो को अपनाने का निश्चय करने के लिए', दूसरा यह कि '**निर्गत' कर्मणा चयो निश्चयो मोक्षस्तदर्थं तत्प्राप्तये**' यानी जिसमे से कर्मो का सचय निकल गया है, उस मोक्ष की प्राप्ति के लिये। इस पद से शास्त्ररचना का प्रयोजन भी स्पष्ट हो जाता है।

जीवन के लिए दु खदायक, दु खद फल प्राप्त कराने वाले और दु खो की परम्परा वढाने वाले तथा दु खो के कारण कर्मों के वन्ध को लेकर नाना योनियो और गतियो मे वार-वार भ्रमण कराने वाले कौन है ? इसका सक्षिप्त उत्तर है—आश्रव। अव विस्तार से इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए इस सूत्र मे सर्वप्रथम आश्रवो का निरूपण करते हैं—

मूलपाठ

पचविहो पण्णत्तो जिणेहिं इह अण्हओ अणादीओ।
हिंसा १ मोस २ मदत्त ३ अवभं ४ परिग्गह ५ चेव ॥२॥

संस्कृत-छाया

पंचविध प्रज्ञप्तो जिनैरिहास्नवोऽनादिक।
हिंसा मृषाऽदत्तमब्रह्म परिग्रहश्चैव ॥२॥

पदार्थान्वय—(इह) इस आगम मे अथवा इस ससार मे, (अण्हओ) आश्रव (हिंसा) प्राणिवध, (मोस) मृषावाद-असत्य, (अदत्त) चोरी, (अवभ) अब्रह्मचर्य, मैथुन (परिग्गह) परिग्रह, इस प्रकार (जिणेहिं) जिनेन्द्र देवो ने, (पचविहो) पाच प्रकार का (चेव) ही, (पण्णत्तो) कहा है, और वह (अणादीओ) अनादि है।

मूलार्थ—इस सूत्र मे अथवा इस ससार मे जिनेन्द्र देवो ने आश्रव

पाच प्रकार का और अनादि कहा है—हिसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य-मैथुन और परिग्रह (मूर्च्छापूर्वक ग्रहण।)

व्याख्या

इस गाथा मे पाच प्रकार के आश्रव को अनादि कहा है, उस पर से विशेष बात यह सूचित होती है कि अभव्य जीव की अपेक्षा से आश्रव अनादि-अनन्त है और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-सान्त है।

जो जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आराधन करके मोक्ष पाने की योग्यता रखता है, वह भव्य कहलाता है और इसके विपरीत जिसमे मोक्ष पाने की योग्यता न हो, वह अभव्य कहलाता है।

यद्यपि समस्त ससारी जीवो के कर्मों का आश्रव प्रवाहरूप से अनादि होता है, तथापि भव्यजीव सम्यग्दर्शन आदि की आराधना करके उस अनादि कर्मप्रवाह का उच्छेद कर डालता है। लेकिन अभव्य जीव को सम्यग्दर्शन आदि प्राप्त नहीं होते, इसलिए उसका कर्मप्रवाह अनादि और अनन्त—अपार होता है।

हिंसा- प्रमादवश (राग-द्वेष से) स्वपर के प्राणो का घात करना, उन्हे पीडा देना हिंसा है। केवल प्राणिवध कर देने मात्र से ही हिंसा नही होती, अपितु मन, वचन और काया से किसी को पीडा देने, सताने, प्रहार करने, मर्मस्पर्शी वचन बोलने, अनिष्ट चिन्तन आदि से भी हिंसा हो जाती है। कभी-कभी तो प्राणी का वध होते हुए भी भावहिंसा नहीं मानी जाती। उदाहरण के तौर पर एक डाक्टर किसी रोगी का ऑपरेशन कर रहा है। उसकी इच्छा रोगी को स्वस्थ करने की है, परन्तु कदाचित् ऑपरेशन के समय रोगी की मृत्यु हो जाय तो वह डाक्टर हिंसक नही माना जाता, क्योकि उसकी इच्छा रोगी को मारने की नही, बचाने की थी। डॉक्टर के परिणाम शुभ होने से उसे पापकर्म का वध नही होता। इसीलिए जैनागम मे हिंसा का लक्षण बताया है—'प्रमाद और कषाय के वश स्वपर के प्राणो को पीडा पहुँचाना।'

हिंसा के मुख्य दो भेद हैं—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा।

द्रव्यप्राणो (शरीर इन्द्रिय आदि) का घात करना द्रव्यहिंसा है और आत्मा मे राग, द्वेष, क्रोध आदि पैदा करके आत्मा की शान्ति व क्षमा आदिरूप शुद्ध परिणामो का घात करना भावहिंसा है। ये दोनो हिंसाएँ स्व और पर के भेद से दो प्रकार की होती हैं। अपने द्रव्यप्राणो की हिंसा करना स्व-द्रव्यहिंसा है और अपने शान्ति, क्षमा आदि गुणो का घात करना स्व-भावहिंसा है। इसी प्रकार दूसरे के द्रव्य प्राणो को हानि पहुचाना पर-द्रव्यहिंसा है और दूसरे के भावप्राणो (शान्ति, क्षमा आदि गुणो) का घात करना पर-भावहिंसा है।

विषय के भेद से हिंसा के ४ प्रकार हो सकते है—(१) सकल्पजा, (२) आरम्भजा, (३) उद्योगिनी और (४) विरोधिनी।

जानबूझकर किसी खास इरादे से कषाय-वश प्राणियो का प्राणवध करना सकल्पजा हिंसा है।

चूल्हा, चक्की, भवननिर्माण आदि के आरम्भ से जो हिंसा होती है, उसे आरम्भजा हिंसा कहते हैं।

उद्योग-धधे, खेती, व्यापार आदि करने मे सावधानी रखते हुए भी कभी न कभी त्रस जीवो की हिंसा हो जाती है। इसे ही उद्योगिनी हिंसा कहते हे।

यदि कोई दुरात्मा अनीतिमार्ग का अनुसरण कर किसी के जान, माल, एव अन्य साधनो पर, तथा शील आदि धर्म पर, या अपने आश्रित जीवो पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हो रहा है, कहने-सुनने पर भी अपनी दुर्नीति को छोडने के लिए तैयार नही होता, उस समय वह गृहस्थ अपने जान, माल, शील आदि धर्म या आश्रित जनो आदि की रक्षा के लिए सशस्त्र प्रत्याक्रमण करता है, सामना करता है, यहा तक कि युद्ध करने के लिए डट जाता है, उसमे जो हिंसा होती है, उसे विरोधिनी हिंसा कहते है।

इन चारो प्रकार की हिंसा का साधु-मुनिराज सर्वथा त्रिकरण[1]-त्रियोग[2] से त्याग करते हैं। लेकिन गृहस्थ श्रावक इन सबका सर्वथा त्याग नही कर सकता। वह केवल निरपराध त्रस जीवो की कषायवश होने वाली सकल्पजा हिंसा का त्याग कर सकता है। क्योकि अपनी गृहस्थी चलाने के लिए उससे कई बार आरम्भजा, उद्योगिनी और विरोधिनी हिंसा हो जाती है। यद्यपि स्थावर (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय इन पाच एकेन्द्रिय) जीवो की हिंसा से वह यथासम्भव बचता है, फिर भी वह इनका सर्वथा त्याग नही कर सकता। लेकिन त्रस (चल फिर सकने वाले द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय) जीवो की सकल्पजा हिंसा का त्याग करना उसके लिए अनिवार्य है।

मृषा—असत्य वचन बोलना, असत्य आचरण करना और असत्य व दम्भ-कपट युक्त व्यवहार करना मृषा है। असत्य बोलना महापाप है। असत्य बोलने वाले का ससार मे कोई विश्वास नही करता। असत्यवादी के साथ कोई लेन-देन का या जिम्मेवारी सौंपने आदि का व्यवहार नही करता। मोक्ष रूप कल्पवृक्ष को काटने के लिए असत्य कुल्हाडे के समान है। इसीलिए मुनिवर इसका सर्वथा त्याग करते है। और गृहस्थ श्रावक इसका आशिक त्याग करते हैं। वे ऐसा असत्य नही

---

१ त्रिकरण = करना, कराना और अनुमोदन।

२ त्रियोग = मन, वचन, काया।

बोलते, जिससे सरकार द्वारा कानूनन दण्डित हो, लोकव्यवहार मे निन्दित हो, देश, जाति और जनता मे परस्पर फूट और वैमनस्य पैदा हो जाए।

मनुष्य की कुलीनता या महानता की परीक्षा उसके वचनो पर से हो जाती है। जिसका वचन सत्यगुण से युक्त होता है, वह मानव ससार मे देवतुल्य माना जाता है। उसका निर्मल धवल यश ससार मे फैल जाता है तथा उसके वचन से प्राणी अपने कल्याण की कामना करते है और वे उसके वचनामृत को उसी तरह सुनने को लालायित रहते है, जिस तरह मेघगर्जना को सुनने के लिए मोर उत्सुक रहता है।

जिन वचनो के बोलने से प्राणियो को पीडा पहुँचती है, वे भी असत्य के अन्तर्गत है। तत्त्वार्थ सूत्र मे बताया है—'असदभिधानमनृतम्' अर्थात् कषायवश प्राणियो को पीडा देने वाले असद्—अप्रशस्त वचन बोलना भी असत्य है। इसलिए कल्याणकारी पुरुष को सदा सत्य, हित, मित और प्रिय बोलना चाहिये। ऐसे सत्यभाषी नरश्रेष्ठ ही ससार मे वन्दनीय, पूजनीय और स्वपर-कल्याणकर्ता होता है।

अदत्तादान—किसी की वस्तु उसकी अनुमति के बगैर या दिये बिना ग्रहण कर लेना अदत्तादान है। इसे लोक-व्यवहार मे चोरी कहते है। चोरी केवल दूसरे के अर्थ या पदार्थों की ही नही होती, अपितु नाम, अधिकार, उपयोग या भावो की भी होती है।

चोरी करने वाला हमेशा भयभीत रहता है, क्योकि उसे हर समय प्राण जाने की शका चोरी करने से पहले और बाद मे बनी रहती है। भय ही पापकर्म के बध का कारण है। ससार मे जितने भी पापकार्य है, सब मे अन्दर ही अन्दर भय छिपा हुआ होता है। प्रारम्भ मे जब मनुष्य पापकर्म करता है, तब आत्मा मे एक प्रकार के अव्यक्त भय का सचार होता है। इसलिए किसी व्यक्ति की गिरी हुई, पडी हुई, बिना दी हुई या अनुमति न दी हुई वस्तु—जिसके हम स्वामी न हो, कदापि ग्रहण नही करनी चाहिये।

आज विश्व मे जो अशान्ति मची हुई है, वह इसी (अदत्तादान) दोष का दुष्परिणाम है। निर्बल मनुष्य की वस्तु (सम्पत्ति या साधन) सबल छीनना-झपटना और जबरन अपने अधिकार मे कर लेना चाहता है, यही विश्व मे विषमता, द्वन्द्व और कलह का कारण है, यही मुकद्दमेबाजी का कारण है। पहले और अब जितने भी कलह हुए हैं या हो रहे है, वे सब इसी पाप के कुफल है। यदि ससार वीतराग-वचनामृत के अनुसार चलने लगे और इस आश्रव का त्याग करे तो विश्व मे सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य हो जाय, सभी सुख-चैन की बसी बजाते हुए स्वपर कल्याण मे रत हो जाय। मगर यह सब अनुचित लोभ, अनीति, बेईमानी और धोखे-बाजी का त्याग करने पर ही हो सकता है।

अब्रह्म—मन, वचन और काया से कामवासना का सेवन करना, शीलभग करना या मैथुन करना अब्रह्मचर्य है। यह भी अधर्म का मूल, महादोषो की जीवन मे वृद्धि करने वाला, आत्मा के पतन का जनक एव श्रेयोमार्ग (मोक्षपथ) मे वडा विघ्न है। पाँचो इन्द्रियो मे स्पर्शनेन्द्रिय महा-वलवान है। जिन महापुरुषो ने इसे अपने वश मे कर लिया, वे जगद्‌वन्द्य हुए है। जगत् का उद्धार भी उन्ही पूर्ण ब्रह्मचारियो द्वारा हुआ है।

यही कारण है, कि साधु मुनियो को इस अब्रह्मचर्य का मन, वचन और काया से कृत, कारित, अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याग करना अनिवार्य होता है। लेकिन गृहस्थ इसका सर्वथा त्याग नही कर सकता। उसे इसकी मर्यादा करनी जरूरी है। यानी वह स्वदारसतोप परदारविरमण के रूप मे इस (ब्रह्मचर्य) व्रत का पालन करता है। विधिवत् जिसके साथ पाणिग्रहण किया है, उसके सिवाय समस्त स्त्रियो के साथ वह मैथुन सेवन का त्याग करता है। अपनी धर्मपत्नी के साथ भी अमर्यादित रूप से वासना सेवन नही करता। इस प्रकार आशिकरूप से इस आश्रव को छोडकर मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहस्थ श्रावक भी परम्परा से मोक्ष का अधिकारी वन जाता है।

परिग्रह—किसी पदार्थ का मूर्च्छा-ममतापूर्वक ग्रहण करना या उस पर ममत्व रखना परिग्रह है।

परिग्रह के मुख्य दो भेद है - अन्तरग और वाह्य। आत्मा की शुद्ध परिणति के सिवाय जितने भी विकार भाव, (मिथ्यात्व, राग, द्वेष, कपाय, मोह आदि) हैं, वे सव अन्तरग परिग्रह है। इस शरीर और शरीर से सम्बद्ध जितने भी वाह्य पदार्थ हैं—फिर वे चाहे जड हो या चेतन (स्त्री, पुत्र, दास-दासी,धन, धान्य, मकान, सोना, चादी, लोहा आदि धातु, नकद रुपये आदि) वे सव वाह्य परिग्रह हैं।

आत्मा को ससार मे जन्म-मरण के चक्कर दिलाने वाला वस्तुत परिग्रह ही है। ससार मे जन्म, मृत्यु, वुढापा आदि से होने वाले दुखो से सतप्त होकर साधुमुनिवर पाप-पोपक व पाप-परम्परावर्द्धक इस परिग्रह आश्रव का सर्वथा त्याग करते है।

यद्यपि[1] साधु मुनिराज भी अपने सयम-निर्वाह, लज्जा-निवारण आदि के

---

१ जपि वत्थ व पाय वा कवल पायपुच्छण।
तपि सजमलज्जट्ठा धारति परिहरति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्त महेसिणा॥
—दशवैकालिकसूत्र अ ६, गा. २०, २१

लिए कुछ धर्मोपकरण रखते है, किन्तु व परिग्रह मे शुमार नही है। क्योकि परिग्रह तो ममता,मूर्च्छा होने पर होता है, साधुजन उन पर ममत्व नही रखते। अत. निर्द्वन्द्व, निर्भीक, निराकुल और निश्चित रहते है। वे असीम सुखशान्ति का अनुभव करते हैं। उन्हे इष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट वस्तु के सयोग मे बेचैनी नही होती। उन्हे किसी बात का भय और खतरा नही होता। वे किसी धनिक और सत्ताधारी की गुलामी या चापलूसी नही करते। वे स्व-पर कल्याण साधना मे रत रहते हैं। ऐसे नि.स्पृह और निष्परिग्रही साधु ही परिग्रह के दलदल मे फँस हुए अशान्त और व्याकुल प्राणियों को ममता से समता की ओर लाकर स्थायी सुखशाति से लाभान्वित कर सकते है। वे गृहस्थ श्रावको को परिग्रह का परिमाण (मर्यादा-सीमा) करने की प्रेरणा देते हैं।

वास्तव मे देखा जाय, तो धनादि वस्तुओ मे लुब्ध सासारिक लोग धनादि साधन जुटाने, बढाने, रक्षा करन तथा भविष्य मे उन वस्तुओं की प्राप्ति की लालसा मे एव जिनके पास अधिक परिग्रह है, उनसे ईर्ष्या करने, कलह करने आदि मे अनेक प्रकार से हिंसा करते है, असत्य बोलते हैं, बेईमानी और अनीति करते हैं, चोरी, डकैती, लूट, झूठ, फरेब आदि करते है। धन, सत्ता आदि वस्तुओ को प्राप्त करने के लिए वे नीति-अनीति,कर्तव्य-अकतव्य,धर्म-अधर्म की परवाह न करते हुए अनेक प्रकार के हथकडे रचते हैं, रात-दिन इसी धुन मे लगे रहते है। फिर चाहे उन्हे इस प्रकार धनादि साधन जुटाने मे अहर्निश चिन्ता, दु ख, रोग, कलह, वैमनस्य, भय और अप्रतिष्ठा का सामना ही क्यो न करना पडे। वे यह नही सोचते, कि धन, सत्ता या अन्य जितने भी सुखसाधन प्राप्त हुए हैं, वे सब पूर्वोपार्जित पुण्य के फल है। पुण्य क्षीण होते ही वे सब बादलो की छाया के समान अदृश्य हो जायेंगे। हम प्रत्यक्ष देखते है, कि जो कल करोडो की सम्पत्ति का मालिक था, वही आज दर-दर का भिखारी बना हुआ है, जो आज राष्ट्र के शासनसूत्रो को सभाले हुए है, कल पद के समाप्त होते ही उसे कुर्सी से उतार दिया जाता है, तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। आज जो स्वस्थ, सुन्दर और सुडौल शरीर पर इतराता है, कल वही शरीर के रोगग्रस्त, घिनौना और दयनीय बन जाने पर आसू बहाता है।

जैन सिद्धान्त की दृष्टि से सोचा जाय तो धन, सुख के साधन, स्वस्थ शरीर आदि सब पूर्वकृत पुण्य से प्राप्त होते है। परन्तु जब पुण्य समाप्त हो जाता है या होने लगता है, और दानधर्मादि करके नया पुण्य भी उपार्जित नही होता है, तो इन सब इष्ट वस्तुओ का या तो वियोग हो जाता है या ये ही वस्तुएँ अनिष्ट रूप मे बदल जाती है। धन खत्म होने लगता है या धन के कारण मुकद्दमेबाजी, चिन्ता, जान को खतरा, चोरी-डकैती आदि के भय लग जाते हैं। फिर मनुष्य उसे लोहे की बडी-

बडी तिजोरियो मे बडे-बडे खभाती ताले लगा कर रखेगा तो भी रह नही सकेगा। स्वस्थ और सुडौल शरीर भी रोगग्रस्त हो जाता है। साधनो के लिए आपस मे कलह होने लगेंगे या प्राप्त इष्ट साधन भी अनिष्ट के रूप मे बदल जायेंगे, उनका दुरुपयोग होने लगेगा।

अत इन सबको रोकने मे यदि कोई समर्थ है, तो वह है धर्म। धर्म सेवन रूपी जल से पुण्यरूपी वृक्ष को सीचते रहेगे तो ये इष्ट साधन टिके भी रहेगे और इनका दुरुपयोग न होने से वे अनिष्ट के रूप मे भी नही बदलेंगे। और अन्त मे, इन्ही धन, शरीर आदि इष्ट साधनो द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिए पुरुपार्थ करके मोक्ष-फल भी प्राप्त किया जा सकेगा।

इतना समझते हुए भी जो कामभोगो मे आसक्त हो कर बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को अनाप-सनाप तौर से बढाता रहेगा, परिग्रह की लालसा मे डूबा रहेगा, वह अपने हाथ मे आए हुए मानव जीवनरूप चिन्तामणिरत्न को खो बैठेगा और सदा पछताएगा, बार-बार चतुर्गति वाले ससार वन मे भटकता रहेगा और जन्म-मरण के दुख उठायेगा। साथ ही वह परिग्रहलालसा के कारण इष्टवियोग और अनिष्टसयोग के रूप मे अनेक दुखो को जन्म-जन्मान्तर मे भोगता रहेगा।

यदि साधु की तरह कोई व्यक्ति पूर्णतया परिग्रहवृत्ति का त्याग न कर सके, तो कम से कम परिग्रह की सीमा (मर्यादा) करके अनुचित लोभ—लालसा का त्याग करे, अन्याय-अनीति से धन या साधन उपार्जित करने का त्याग तो अवश्यमेव करे और शुभकर्मवशात् प्राप्त धन या साधनो मे ही सतुष्ट रहे, अधिक धन या साधनो के स्वामियो को देखकर मन मे उनके प्रति ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, सघर्ष, या प्रतिस्पर्धा की भावना जरा भी न लाए। सतोष रखकर कम से कम साधनो से मस्ती के साथ जीवननिर्वाह करने का अभ्यास हो जाने से मनुष्य को स्वत ही अपरिग्रह का आनन्द मिलेगा, चिन्ताओ, लालसाओ और दुविधाओ से दूर रहकर वह निश्चितता से आत्मचिन्तन कर सकेगा, धर्मध्यान मे लीन हो सकेगा और स्वस्थतापूर्वक धर्माचरण करके मोक्षसुख का साक्षात्कार कर सकेगा। इसलिए अच्छी बात तो यह होगी, कि यदि किसी के पास पूर्वकृत पुण्य के फलस्वरूप धन या साधन के रूप में परिग्रह है भी तो उसे वह साधनहीनो, असहायो, दीनदुखियो, अनाथो, विधवाओ, अपाहिजो को उदारता से दान दे, सहायता करे, धर्मपरायण त्यागी महापुरुषो की प्रेरणा से चल रही सुसस्थाओ को कर्त्तव्य भाव से प्रेरित होकर दे, निर्धन बालको की शिक्षा-दीक्षा और सस्कारवृद्धि के कार्यों मे उसे लगाए।

अन्यथा, मूर्च्छापूर्वक सचित धन या साधन के रूप मे परिग्रह अनेक प्रकार के पापो को जन्म देगा, जीवन को हिंसा, झूठ, दम्भ, व्यभिचार, दुर्व्यसन आदि अनेक दुर्गुणो का अड्डा बना देगा, और एक दिन आसक्ति करके सचित किया

हुआ यह नाशवान परिग्रह अवश्य ही धोखा देकर चला जायगा, फिर पछताने के सिवाय मनुष्य कुछ भी नही कर सकेगा। अत इस का दानादि धर्म के पालन के रूप मे सदुपयोग कर लेना चाहिए।

गाथा मे उक्त 'च' और 'एव' शब्द—इस गाथा मे जो 'च' शब्द है, वह समुच्चय के लिए है। इसी कारण 'अब्रह्म और परिग्रह' इन दोनो का समुच्चय-सयोजन करने के लिए 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है। और 'एव' शब्द अवधारणार्थक है, निश्चय अर्थ मे है। यानी 'एव' शब्द से यह सूचित किया गया है, कि हिंसा आदि भेदो से ही आश्रव ५ प्रकार का है, लेकिन प्रकारान्तर मे इसके अनेक भेद हो सकते हैं। इसलिए प्रसगवश अब हम आश्रव के उन ४२ भेदो को बताते हैं।

आश्रव के ४२ भेद—प्रकारान्तर से आश्रव के ४२ भेद भी होते हैं, एक गाथा मे उसका दिग्दर्शन कराया जाता है—

'इ दिय-कसाय-अव्वय-किरिया पण-चउर-पच-पणवीसा॥
जोगा तिन्नेव भवे बायाला आसवो होइ॥'

अर्थात्—५ इन्द्रियाँ, ४ कषाय, ५ अव्रत, २५ क्रियाएँ और ३ योग, इस प्रकार आश्रव के ४२ भेद होते है।'

पाच इन्द्रियाँ—पाच इन्द्रियाँ आश्रव तभी कहलाती है, जब वे विषयो के मैदान मे वेलगाम खुल्ली छोड दी जाय। पाच इन्द्रिया इस प्रकार हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

चार कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारो कषाय कर्मों के आगमन के कारण होने से आश्रव कहे गए है।

पाच अव्रत—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य (मैथुन) और परिग्रह। इन पाचो का विवेचन तो प्रस्तुत सूत्र मे विस्तार से किया है।

पच्चीस[1] क्रियाएँ—१ कायिकी, २ आधिकरणिकी, ३ प्राद्वेषिकी, ४ पारितापनिकी, ५ प्राणातिपातिकी, ६ आरंभिकी, ७ पारिग्रहिकी, ८ मायाप्रत्ययिकी, ९ मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी, २० अप्रत्याख्यानिकी, ११ दार्शनिकी, १२ स्पार्शनिकी, १३ प्रातीत्यिकी, १४ सामन्तोपनिपातिकी १५ नैशस्त्रिकी, १६ स्वाहस्तिकी, १७ आनयनिकी, १८ वैदारणिकी, १९ अनाभोगिकी, २० अनवकाक्षाप्रत्ययिकी २१ प्रायोगिकी, २२ सामुदायिकी, २३ प्रेय (राग) प्रत्ययिकी, २४ द्वेषप्रत्ययिकी, २५-ऐर्यापथिकी। ये पच्चीस क्रियाएँ कर्मों के आगमन की कारण होने से आश्रव कही गई हैं।

---

१ इन क्रियाओ का विशेष विवरण स्थानागसूत्र स्थान ५ उ० २ तथा स्थान २ उ १ मे देखें।

प्रथम आश्रवद्वार : अधर्म द्वार

प्रथम अध्ययन : हिंसा-आश्रव

आश्रवो का समुच्चयरूप से निरूपण पढने के बाद सहसा शका होती है कि प्रथम आश्रव किस प्रकार का है ? उसका स्वरूप क्या है ? उसके क्या-क्या कुफल है ? अत इसके उत्तर मे यहाँ से प्रथम आश्रव द्वार प्रारम्भ करते है—

प्रतिपाद्य विषय का वर्गीकरण

मूलपाठ

जारिसओ, जनामा जह य कओ जारिस फल देति[1] ।
जे वि य करेति पावा पाणवह त निसामेह ॥३॥

सस्कृत-छाया

यादृशको यन्नामा यथा च कृतो यादृश फल ददाति ।
येऽपि च कुर्वन्ति पापा, प्राणवध तं निशामयत ॥३॥

पदार्थान्वय—(जारिसओ) जिस प्रकार का उसका स्वरूप है, (जनामा) जो जो उसके नाम हैं, (जह य कओ) जैसे किया जाता है, (जारिस) जैसा, (फल) दु ख रूप फल, (देति) देता है, (जे वि य) और जो भी, (पावा) पापीजीव (करेति) उसका सेवन करते है, (त) उस, (पाणवह) प्राणवध के बारे मे (निसामेह)-मेरा कथन सुनो ।

मूलार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है—हे जम्बू ! प्राणवध (हिंसा) का क्या स्वरूप है ? उसके कौन-कौन से नाम हैं ? वह जिस तरह से किया जाता है तथा वह जो फल देता है, और जो-जो पापी जीव उसे करते है, उन सबको सुनो ।

व्याख्या

इस गाथा मे प्रथम आश्रवद्वार मे वर्णनीय प्राणवध (हिंसा) आश्रव के सम्बन्ध

---

१ किसी किसी प्रति मे 'दिंति' शब्द मिलता है ।

मे क्या क्या बाते, किस-किस रूप मे बताई जाएगी, इसका निरूपण किया गया है। इस गाथा मे वर्णनीय विपय के वर्णन का ढग बताया गया है, ताकि पाठक को प्रस्तुत विपय आसानी से झटपट हृदयगम हो सके। तत्त्वार्थसूत्र मे किसी भी विपय का स्पष्टरूप से ज्ञान प्राप्त करने के लिए सूत्र बताया गया है—'**निर्देश-स्वामित्व साधनाधिकरण-स्थिति-विधानत**' अर्थात्—किसी वस्तु के स्पष्ट ज्ञान के लिए उसका नाम व स्वरूप क्या है ? उसका स्वामी या कर्त्ता कौन है ? उसके लिए साधन कौन-कौन-से है ? उसका अधिकरण क्या है ? उसकी स्थिति कितनी है ? इसी प्रकार यहाँ भी विपय का स्पष्टरूप से परिज्ञान कराने के लिए विपयसूची के रूप मे वर्णनीय विपय का सक्षेप मे स्पष्ट बोध कराया गया है।

किसी भी विपय का स्पष्ट बोध कराने के लिए निम्नोक्त पाच बातो का वर्णन तो अत्यावश्यक है—(१) प्रतिपाद्य विपय का स्वरूप, (२) उसके नाम, (३) साधन (जिस साधन से वह वस्तु निष्पन्न होती हो, वह साधन या करण कहलाता है) (४) कर्त्ता और (५) उसका फल।

प्रस्तुत गाथा मे प्रतिपाद्य विपय है—प्राणवध (हिंसा), अत इसमे प्राणवध का स्वरूप, इसके विविध नामो, इसके साधनो, इसके कर्त्ताओ, एव इसके फलो का वर्णन इस गाथा मे सूचित किया गया है। '**जारिसओ**' शब्द से प्राणवध का स्वरूप क्या है ? '**जनामा**' शब्द से उसके क्या-क्या नाम है ? '**जह य कओ**' इस पद से उसके साधन कौन-कौन-से हैं ? '**जारिस फल देति**' इस पर से उसके फल क्या-क्या हैं ? '**जे वि य करेंति पावा**' इस पद से उसके कर्ता या स्वामी कौन-कौन हैं ? इस प्रकार कहकर शास्त्रकार ने इस तरीके से वर्णनीय विपय का बोध करा दिया।

इस तरीके से वर्णनीय विपय के बोध कराने का स्पष्ट प्रयोजन यह है कि जब आत्मा हिंसा के स्वरूप, उसके परिवार, उसके कारणो, उसके कर्त्ताओ और उसके कटुफलो को जानकर नरक तियञ्चगति के भयकर दु खो से बचने के लिए इन सबको छोडने का प्रयत्न करेगा, तब निर्द्वन्द्व, निर्भीक और निराकुल होकर सुख-शान्ति और आत्मानन्द का अनुभव करेगा तथा अन्त मे मोक्ष पद प्राप्त करेगा।

'**पाणवह त निसामेह**'—इस गाथा मे पाणवह' के बदले 'जीववह क्यो नही कहा गया, जिससे स्पष्टतया ज्ञान हो जाता ? इसका समाधान यह है कि जीव अमूर्त और नित्य है। इसे शस्त्र काट नही सकते, अग्नि जला नही सकती, पानी बहा या गला नही सकता, हवा सुखा या उडा नही सकती इसलिए जीव का वध असभव जानकर 'पाणवह' कहा है। क्योकि प्राणो के अनित्य और नाशवान होने से उनका वध होना सभव है।

प्राणवध शब्द से केवल श्वासोच्छ्वास का घात अर्थ ही नही लेना चाहिए, अपितु निम्नोक्त दस ही प्राणो मे से किसी भी प्राण के घात का अर्थ लेना चाहिए। दस प्रकार के प्राण ये हैं—

पचेन्द्रियाणि त्रिविध वल च,
उच्छ्वास - नि श्वासमथान्यदायु. ।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्,
तेषा वियोजीकरण तु हिंसा ॥

अर्थात्—'तीर्थकरो ने प्राण १० प्रकार के कहे है—श्रोत्रेन्द्रिय, वलप्राण, चक्षुरिन्द्रिय वलप्राण, घ्राणेन्द्रिय वलप्राण, रसनेन्द्रिय-वलप्राण, स्पर्शनेन्द्रियवलप्राण, मनोवलप्राण, वचनवलप्राण, कायवलप्राण, श्वासोच्छ्वास-वलप्राण और आयुष्य वलप्राण। इन दसो मे से किसी का भी वियोग करना हिंसा है ।'

एक वात और स्पष्ट कर दू—प्राणवध शब्द से सिर्फ प्राणो का वियोग या नाश करना अर्थ ही नही लेना चाहिए, अपितु दस प्राणो मे से किसी भी प्राण को चोट पहुचाना, हानि पहुंचाना, पीडा देना, डुवाना, जलाना, दवाना, विकास मे रुकावट डालना, आपस मे टकराना, फैकना, पीटना, श्वास रोक देना, जान से मार डालना, वेहोश कर देना, दु खित कर देना, हैरान-परेशान करना, भगाना, थकाना आदि सव प्राणघातक क्रियाएँ प्राणवध के अन्तर्गत आ जाती है ।

जे वि करेंति पावा—इस वाक्य से अनात्मवाद का खडन करके आत्मा की सिद्धि की गई है । क्योकि जो पापी आत्मा होगा, वही प्राणवधरूप आश्रव मे प्रवृत्त होगा । धर्म-निष्ठ आत्मा या पुण्यशाली आत्मा इस आश्रव मे प्रवृत्त होने से पहले विचार करेगा । क्योकि चार्वाक दर्शन यह मानता है, कि शरीर या प्राण आदि जो कुछ भी यहाँ दिखाई देते है, वही आत्मा है, इसके सिवाय कोई आत्मा नही है । तथा इस शरीर और प्राण के राख हो जाने पर फिर आना-जाना नही होता, वह शरीर या प्राण पचभूतो मे ही मिल जाता है। परन्तु आत्मा नामक अलग तत्त्व न होता तो कोई भी व्यक्ति किसी की हिंसा वेखटके करता और उसे उस पाप के फलस्वरूप नरकादि गतियो मे जाने का कोई खतरा नही रहता । परन्तु आत्मा शरीरादि मे अलग है और वह नित्य है, इसलिए विविध योनियो मे तथा अपने शुभा-शुभ कर्म के फलस्वरूप शुभाशुभ गतियो मे जाती है ।

फल देति—इस वाक्य से वौद्धदर्शन के क्षणिकवाद का खडन करके जैन दर्शन के कर्मवाद की पुष्टि की गई है । क्योकि आत्मा क्षण-क्षण मे वदलने वाली हो तो पहले क्षण जिसने हिंसा की, वह आत्मा दूसरे क्षण नही रहेगी । दूसरे क्षण दूसरी आत्मा वन जाएगी । इसलिए अगर कोई कार्य उस आत्मा ने किया है, तो उसके क्षण-विध्वसी होने मे कृतकर्म के फल का नाश हो जायगा, और जो नही किया है, वह उसके गले पड जाएगा । इसलिए क्षणिकवाद मानने पर कर्म और उसके फल की व्यवस्था नही होगी ।

हिंसा का स्वरूप

पूर्वोक्त गाथा मे वर्णनीय विपयो के वर्णन का वर्गीकरण करके उनका क्रम वताया

गया था। अब क्रमश प्रत्येक का वर्णन करते है। सर्वप्रथम प्राणवध के स्वरूप का वर्णन करते है—

मूलपाठ

पाणवहो नाम एस निच्च जिणेहि भणिओ—पावो चडो रुद्दो खुद्दो साहसिओ अणारिओ णिग्घिणो णिस्ससो महब्भओ पइभओ अइभओ बीहणओ तासणओ अणज्जो उव्वेयणओ य णिरवयक्खो णिद्धम्मो णिप्पिवासो णिक्कलुणो णिरयवासगमणनिधणो मोहमहब्भयपयट्टओ मरणविमणस्सो। पढम अधम्मदार ॥ सू १॥

संस्कृतछाया

प्राणवधो नाम एष नित्य जिनैर्भणित .—पापश्चण्डो रुद्र. क्षुद्र. साहसिकोऽनार्यो निर्घृणो नृशसो महाभय प्रतिभयोऽतिभयो भापनकस्त्रासनकोऽन्यय्या उद्वेजनकश्च निरपेक्षो (निरवकाक्षो) निर्धर्मो निष्पिपासो निष्करुणो निरयवासगमननिधनो मोहमहाभयप्रवर्तक. (प्रकर्षक प्रवर्द्धक) मरणवैमनस्यः। प्रथममधर्मद्वारम् ॥ सू. १॥

पदार्थान्वय—(एस) यह (पाणवहो नाम) प्राणवध नाम (णिच्च) नित्य (जिणेहिं) जिनेन्द्रो द्वारा (भणिओ) कहा गया हे। वह इस प्रकार हे—(पावो) पापरूप, (चडो) चण्ड—अतिकोपजनक, (रुद्दो) रुद्र, (खुद्दो) क्षुद्र, (साहसिओ) साहस से होने वाला अथवा सहसा यानी बिना विचारे होने वाला, (अणारिओ) अनार्य-म्लेच्छ आदि का कार्य (णिग्घिणो) घृणारहित, (णिस्ससो) नृशस-निर्दयतापूर्ण, (महब्भओ) महाभयजनक, (पइभओ) प्रत्येक प्राणी को भयप्रदायक, (अइभओ) अतिभयप्रद, (बीहणओ) भय दिखाने वाला, (तासणओ) त्रास—पीडा देने वाला, (अणज्जो) अन्यायकारी, (उव्वेयणओ य) और उद्वेग—क्षोभ पैदा करने वाला, (णिरवयक्खो) किसी दूसरे की अवेक्षा नहीं रखने वाला, (णिद्धम्मो) धर्मरहित (णिप्पिवासो) ऐसा कुकृत्य, जिसमे पिपासा शान्त ही न हो,अथवा प्रेम-पिपासा से रहित, (णिक्कलुणो) करुणारहित, (णिरयवासगमणनिधणो) जिसका अन्तिम परिणाम नरकवास करना ही है, (मोहमहब्भयपयट्टओ) मोहरूपी महाभय मे प्रवृत्त करने वाला अथवा मोह तथा महाभय को वढाने वाला और (मरणविमणस्सो) मरण के समय आत्मा को विमना-खिन्न करने वाला अथवा मरण से आत्मा मे दीनता पैदा करने वाला, या मरने वाले जीव के मरण के साथ वैमनस्य पैदा करने वाला यह (पढम) पहला (अधम्मदार) अधर्मद्वार—आश्रवद्वार है।

मूलार्थ—जिनेन्द्रदेव ने प्राणवध (हिंसा) का स्वरूप इस प्रकार से

बताया है—यह प्राणवध, १ पापरूप है, २ अत्यन्त क्रोध पैदा करने के कारण चण्ड है, ३ नीचातिनीच लोगो का कृत्य होने से क्षुद्र है, ४ रौद्रध्यान से होने के कारण रुद्र है, ५ अत्यन्त साहस का कार्य होने से अथवा सहसा किये जाने के कारण साहसिक है, ६ म्लेच्छ आदि लोगो का कार्य होने से अनार्य है, ७ इसके करने मे पाप से घृणा न होने के कारण निर्घृण है, ८ अमानुषिक कर्म होने के कारण नृशस है, ६ अत्यन्त भयजनक होने से महाभय है, १० प्रत्येक प्राणी के लिए भयदायक होने से अथवा दूसरो को भय दिखाने वाले के मन मे भी प्रतिभय पैदा करने वाला होने से प्रतिभय है, ११ अतिभय जनक होने से अतिभय है, १२ दूसरो के मन मे डर बिठाने वाला होने से भयानक-भयोत्पादक भी है, १३ दूसरो को पीडित करने, हैरान करने या सताने वाला कृत्य होने से त्रासनक भी है, १४ अन्यायकारी कृत्य होने से अन्याय्य है, १५ उद्वेग—चंचलता पैदा करने वाला होने से उद्वेजनक है, १६ इस क्रिया के करते समय परलोक या दूसरे प्राणियो की या समाज, राष्ट्र आदि की कोई अपेक्षा (परवाह) नही की जाती, यह बेखटके की जाती है, इसलिए निरपेक्ष है, १७ इसमे धर्म का नामोनिशान नही है, इसलिए निर्धर्म-धर्मरहित है, १८ इस कृत्य के करने मे दयारूप पिपासा नही होती, इस कृत्य के करने वाले के स्वार्थ की प्यास किसी भी तरह नही बुझती, इसलिए निष्पिपास भी है, १९ इस कृत्य के करने मे हृदय से करुणा निकल जाती है, इसलिए निष्करुण-करुणारहित है, २० इस कुकृत्य का अन्तिम नतीजा (फल) नरक गमन होने से इसे निरयवासगमननिधन कहा है, २१ मोह-कृत्यमूढता और महाभय मे प्रवृत्त करने वाला होने से अथवा यह कृत्य कर्त्ता मे मूढता व महाभय बढाने वाला होने से मोहमहाभयप्रवर्त्तक या मोहमहाभयप्रवर्द्धक भी है, २२ यह कृत्य वध्य प्राणी के मन मे मृत्यु के समय वैमनस्य (वैर) पैदा करने वाला होने से अथवा वधकर्ता की आत्मा को मृत्यु के समय विमना-खिन्न बना देने वाला होने से या मृत्यु के समय परस्पर वैमनस्य पैदा करने वाला होने से 'मरणवैमनस्य' है ।

व्याख्या

इस प्रथम सूत्र मे जिनेन्द्रदेव ने विभिन्न पहलुओ और दृष्टिकोणो से प्राणवध (हिंसा) का स्वरूप बताया है। अब क्रमश प्रत्येक का विशदरूप से विवेचन करते हैं—

पाप—प्राणवध को 'पाप' इसलिए कहा गया है कि इससे पापकर्म की प्रकृतियो का बन्ध होता है, तथा असत्य, चोरी आदि अनेक पापो का जनक भी है ।

चण्ड—इसे चण्ड इसलिए कहा गया है कि यह उग्र क्रोध, उत्कट अभिमान, अत्यन्त माया और वेहद लोभ के कारण होता है।

रुद्र—भयकर रौद्र ध्यान हो, तभी यह दुष्कर्म होता है अथवा यह दुष्कर्म रौद्र (भयकर) वना देने वाला है, इसलिए 'रुद्र' कहा गया है।

क्षुद्र—जो रातदिन छल, धोखा द्रोह, मारपीट, कत्ल आदि मे लगे रहते है, उनका यह कुकृत्य होने से, अथवा नीचातिनीच कृत्य होने से इसे क्षुद्रकम कहा है।

साहसिक—यह कार्य करने वाला कुछ भी सोचता-विचारता नही, और सहसा–एकदम किसी पर टूट पडता है या गर्दन पर छुरी चला देता है, अथवा यह कुकृत्य अत्यन्त दु साहस का है, इसलिए इसे साहसिक कहा है।

अनार्य—इस कुकर्म के करने मे निन्द्य-पाप कार्यो मे लगे हुए म्लेच्छ लोग ही प्रवृत्त होते हैं, इसलिए इसे अनार्य कर्म कहा है।

निर्घृण—इस कृत्य के करने मे पाप अर्थात् अधर्म से किसी वात की नफरत नही होती, इसलिए इसे निर्घृण कर्म कहा है।

नृशस—यह क्रूर कर्म अमानुषिक—मानवता को तिलाञ्जलि देकर किया जाता है, इसलिए इसे नृशस कर्म भी कहा है।

महाभय—प्राणिवध से प्राणियो मे वडा भारी भय व्याप्त हो जाता है, इसलिए इसे 'महाभय' कहा है।

प्रतिभय—यह ऐसा भयकर कृत्य है कि प्रत्येक प्राणी के दिल मे भय पैदा कर देता है। मारने वाले के मन मे भी भय वना रहता है, कि कही यह अथवा इसके सम्वन्धी जान गये तो मुझ से वदला लिये विना न रहेगे, इस दृष्टि से इस कर्म को 'प्रतिभय' कहा है।

अतिभय—मौत का भय सव भयो से वढकर होता है। प्राणवध मृत्यु के भय का कारण होने से इसे 'अतिभय' भी कहा गया है।

भयानक—जहाँ प्राणिवध होता है, वहाँ वह सभी प्राणियो को भयभीत कर देता है, अत इसे 'भयानक' कहा है।

त्रासनक—प्राणिवध जव किया जाता है तो उसमे वध्य प्राणी को सताया, मारा-पीटा या हैरान-परेशान किया जाता है, उसे भूखा-प्यासा रखकर पीडा भी दी जाती है, इसलिए त्रासजनक होने से इसे 'त्रासनक' भी कहा गया है।

अन्याय्य—दूसरे के प्राण लेना या दूसरे के प्राणो को पीडा पहुँचाना अन्याय है। किसी का शोषण करना, उसे थोडा-सा देकर या विल्कुल न देकर वदले मे अत्यधिक काम लेना, जवर्दस्ती किसी का धन या पदार्थ हडप जाना, छीन लेना, जीवो को सताना, उनकी सुखशान्ति मे खलल पहुचाना, उन्हे किसी भी तरह से दु खी करना आदि सव अन्याय है। इसे यो भी कहे तो कोई अत्युक्ति न होगी, कि अन्याय की

जितनी भी प्रवृत्तियां होती हैं, वे सब की सब हिंसामयी है। अन्याय और प्राणवध दोनो का चोली-दामन-सा अविनाभाव सम्बन्ध है। किसी को भी किसी प्राणी के प्राण लेने या सताने का अधिकार नही है, इसलिए अधिकारबाह्य कर्म होने के कारण अथवा मानवता, दया, 'जीओ और जीने दो' की भावना आदि न्यायमार्ग के विरुद्ध होने के कारण इसे अन्याय्य-अन्याययुक्त कहा है।

उद्वेजनक—जिस समय प्राणी का वध किया जाता है, उस समय उसके चित्त मे क्षोभ पैदा होता है उसका रोम-रोम कांप उठता है, सारा शरीर सामना करने के लिए चंचल हो उठता है, इसलिए इसे उद्वेजनक-उद्वेगजनक कहा है।

निरपेक्ष—प्राणिवध करने मे वधकर्ता को परलोक या दूसरे के प्राण की अपेक्षा—परवाह नहीं रहती, वह समाज और राष्ट्र की भी तथा नीति-नियमो की भी अवहेलना कर देता है, इसलिए इसे निरपेक्ष ठीक ही कहा है।

निर्धर्म—इस क्रिया मे श्रुत और चारित्ररूप धर्म अथवा समाज को धारण पोषण करने वाली धर्ममर्यादा का सर्वथा अभाव है। दुर्गति मे गिरने से बचाने की क्षमता धर्म मे होती है, वह इसमे नही है, इसलिए इसे निर्धर्म-धर्मविहीन कहा है।

निष्पिपास—प्रेमरूप पिपासा से चित्त शून्य होने पर ही प्राणिवध किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्राणिवध करने से कर्त्ता की स्वार्थ-पिपासा किसी तरह भी शान्त नही होती, इस कारण इसे 'निष्पिपास' कहा है।

निष्करुण—इस कृत्य मे करुणा का नामोनिशान भी नही होता, इसलिए इसे निष्करुण कहा है।

निरयवासगमननिधन—प्राणवध का अन्तिम परिणाम नरक का अतिथि बन कर वहाँ चिरकाल तक अवर्णनीय दुःखो का अनुभव करना है, इसलिए कार्य-कारण भाव को लेकर प्राणवध को 'निरयवासगमननिधन' कहा है।

मोहमहाभय प्रवर्तक (प्रवर्द्धक)—इस दुष्कर्म के करने से मोह-मोहनीयकर्म के महाभय मे जीव प्रवृत्त होता है या मूढता और महाभय को यह दुष्कर्म बढावा देता है। मतलब यह है, कि इस दुष्कर्म को करने वाले तामसिक जीव के जीवन मे अनेक जन्मो तक मूढता छाई रहती है। उसे मोह-मूढतावश सन्मार्ग नही मिलता, दीर्घकाल तक मोहकर्मवश जन्म-मरण करके अनेक गतियो मे चक्कर काटना पडता है। यह दुष्कर्म जन्ममरणरूप महाभय को बढाता है और बारबार मोह-मूढता मे वह प्रवृत्त भी होता रहता है, इसी कारण इसे मोहमहाभयप्रवर्त्तक (प्रवर्द्धक) कहा है।

मरणवैमनस्य—मृत्यु के समय प्राणिवध मनुष्य को दीन बना देता है। वह मारने वाले से गिडगिडाकर उसके पैरो मे पड कर प्राणो की भीख मागता है। इसलिए मृत्यु के समय विमना (दीन) बना देने वाला होने से अथवा मृत्यु के समय

वध्य प्राणी के मन मे वधकर्ता के प्रति वैमनस्य (वैरभाव) पैदा करने वाला होने से अथवा मृत्यु और परस्पर वैमनस्य का कारण होने से प्राणवध को 'मरणवैमनस्य' कहा है।

पूर्वापर सम्बन्ध—इस सूत्रपाठ से पहले की गाथा मे प्राणवध का निरूपण करने के लिए स्वरूप आदि ५ द्वारो का क्रम बताया गया है। उनमे से प्रथम द्वार के रूप मे इस सूत्र मे प्राणवध के स्वरूप का वर्णन किया गया है। प्राणवध के स्वरूप को बताने के लिए यहाँ प्राय कार्य-कारण भाव को लेकर २२ पद दिये गये है। इनका पूर्वापर सम्बन्ध इस प्रकार है—प्राणवध (हिंसा) पापरूप है, उसलिए क्रोधादि कषायो मे उग्रता पैदा होती है, उसके कारण रौद्रता और क्षुद्रता पैदा होती है, और सहसा किसी प्राणी पर वह टूट पडता है। ऐसा निन्द्य कर्म अनार्य ही करता है। अनार्य वे है, जो हिसा से ही अपनी जीविका चलाते है, जीवो को मार कर उनका मास आदि वेचते है, और ऐसे घृणित पदार्थो का स्वय सेवन भी करते है। आर्य वे है, जो हिसा आदि निन्दनीय और त्याज्य प्रवृत्तियो से दूर ही रहते है, अपने सामने हिसा होने नही देते, हिसा होते देखकर जिनकी आत्मा काप उठती है और जो दया से द्रवित हो उठते है। ऐसे व्यक्ति यहा और आगे भी सुखी होते है। इसके विपरीत जहाँ अनार्यता होती है, वहाँ पाप और परलोक का कोई खटका नही होता, और इन्सानियत को ठुकरा कर दिनरात वेखटके अमानुषिक हत्या आदि कुकृत्य किए जाते है। यही कारण है, कि प्राणिवध प्राणियो मे महाभय पैदा कर देता है, यही नही, मारने वाले मे भी मरने वाले या उसके सम्बन्धियो द्वारा वदला लेने और खुद को मार देने का प्रतिभय भी पैदा करता है। साथ ही मौत का अत्यन्त दारुण भय भी इससे पैदा होता है। मौत के भय का कारण यह है, कि जीवो को मारने से पहले वुरी तरह से सताया, मारा-पीटा या वेचैन किया जाता है, जो अत्यन्त त्रासजनक है, या उन पर अन्याय किया जाता है, जो मारने-पीटने से भी वढकर दु:ख है।

प्राणियो पर अन्याय करते समय व्यक्ति यह नही सोचता, कि मै आज सबल होकर दुवलो, जरूरत मदो, लाचारो या मद वुद्धिजनो पर उनकी विवशता का लाभ उठाकर अन्याय कर रहा हूँ, कल दूसरी शक्ति मुझ पर भी हावी होकर यदि इसी सिक्के मे भुगतान करेगी यानी मुझसे वदला लेगी, मुझ पर अन्याय व जुल्म करेगी, उस समय मेरी क्या दशा होगी ? परन्तु अन्यायी व्यक्ति उस समय इस वात से आखे मूद लेता है, उसके कान इन खरी वातो को सुनने से इन्कार कर देते है। वह यह नही सोचता कि मेरे ये हिसाकृत्य प्राणियो के चित्त मे उद्वेग पैदा कर देते हैं, मृत्यु के दृश्य से या मृत्यु का नाम सुनने मात्र से उनका हृदय सिहर उठता है। परन्तु अन्यायपरायण व्यक्ति को दूसरो के प्राणो की या भविष्य मे दुर्गति मे जाने की

कोई चिन्ता नही होती। उसे कोई परवाह नही रहती कि समाज और राष्ट्र मे इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? इसलिए वह धर्मकार्य से कोसो दूर हो जाता है। रात-दिन पाप कार्य मे पडे रहने से उसका हृदय प्राणियो के प्रति प्रेमपिपासा से शून्य हो जाता है, अपने स्वार्थ की प्यास भी वह बुझा नही पाता। इस प्रकार निर्दय और निष्करुण होकर वह हिंसापरायण जीव अन्त मे नरक का ही मेहमान वनता है। क्योकि इस दुष्कर्म के करते रहने से उसकी बुद्धि पर मूढता का पर्दा पड जाता है। वह सोच ही नही पाता, कि इस दुष्कर्म का फल कितना दारुण और असीम वेदना के रूप मे मुझे भोगना पडेगा। इसलिए मोहकर्म की वृद्धि होने से वह वार-वार मूढता-वश इस दुष्कर्म मे प्रवृत्त होता है और विविध दुर्गतियो मे अपने जन्ममरण के महाभय मे वृद्धि करता रहता है। किन्तु जव मौत की घडी आती हे, उस समय वह अपने किये हुए वुरे कर्मो को याद कर-करके रोता है, दीन-हीन वन जाता हे, गिड-गिडाकर प्रभु से प्राणो की याचना करता हे, उस समय उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती है, उसकी आँखो के आगे अधेरा छा जाता है, वह वेमन से ही मृत्यु को स्वीकार करता है। परन्तु मूढतावश यह अपने द्वारा किन्ही प्राणियो को मारते समय यह नही सोचता कि इन प्राणियो की मृत्यु से इनके सम्वन्धियो मे कितना वैमनस्य पैदा होगा और वे मुझसे वदले मे पाई-पाई वसूल करेगे, या ये प्राणी मरते समय अपने मन मे मेरे प्रति वैमनस्य (वैरभाव) सजोकर दूसरी योनि मे जाकर वदला लेगे।

इस प्रकार प्राणवध परस्पर अनेक पापक्रियाओ से जुडा हुआ है, और वे क्रियाए भी उत्तरोत्तर एक के वाद एक होती चली जाती है। इस प्रकार प्राणवध (हिंसा) का स्वरूप समझाने के साथ उसकी भयकरता, उसका दूरगामी दुष्परिणाम और उसकी परम्परा से वास्तविक सुख की हानि भी वता दी है। अत इसका स्वरूप समझकर इसे छोडने का प्रयत्न करना चाहिए।

'नाम' और 'च' शब्द—इस सूत्र मे 'नाम' शब्द जो आया हे, वह केवल वाक्य की सुन्दरता वढाने के लिए है और 'च' शब्द समुच्चय वोधक है।

हिंसा के पर्यायवाची नाम

पूर्व सूत्र मे हिंसा के स्वरूप का वर्णन किया गया था, अव दूसरे नाम द्वार के रूप मे उसके समानार्थक नामो का उल्लेख करते है—

मूलपाठ

तस्स य नामाणि इमाणि गोण्णाणि होंति तीस, त जहा—१ पाणवहं, २ उम्मूलणा सरीराओ, ३ अवीसभो, ४ हिंसविहिंसा, तहा ५ अकिच्चं च, ६ घायणा, ७ मारणा य, ८ वहणा,

९ उद्दवणा, १० तिवायणा य, ११ आरभसमारभो, १२ आउय-कम्मस्सुवद्दवो भेयणिट्ठवणगालणा य सवट्टगसखेवो, १३ मच्चू, १४ असजमो, १५ कडगमद्दण, १६ वोरमणं, १७ परभवसकामकारओ, १८ दुग्गतिप्पवाओ, १९ पावकोवो य, २० पावलोभो, २१ छविच्छेओ, २२ जीवियतकरणो, २३ भयकरो, २४ अणकरो, २५ वज्जो,[१] २६ परितावण-अण्हओ, २७ विणासो, २८ निज्जवणा,[२] २९ लुपणा, ३० गुणाण विराहण त्ति वि य तस्स एवमादीणि णामधेज्जाणि होति तीस पाणवहस्स कलुसस्स कडुयफलदेसगाइं ॥ सू० २॥

संस्कृत-छाया

तस्य च नामानि इमानि गौणानि भवन्ति त्रिशत्, तद्यथा—१ प्राणवध, २ उन्मूलना शरीराद्, ३ अविश्रम्भ, ४ हिसाविहिसा (हिस्यविहिसा, हिस्रविहिसा) तथा ५ अकृत्य च, ६ घातना, ७ मारणा च, ८ वधना, ९ उपद्रवणा (अपद्रवणा), १० त्रिपातना च, ११ आरम्भ-समारम्भ, १२ आयु कर्मण उपद्रवो भेदनिष्ठापनगालनाश्च सवर्त्तकसक्षेप, १३ मृत्यु, १४ असयम, १५ कटगमर्दन, १६ व्युपरमण, १७ परभवसक्रमकारक, १८ दुर्गतिप्रपात, १९ पापकोपश्च, २० पापलोभ, २१ छविच्छेद, २२ जीवितान्तकरण, २३ भयकर, २४ ऋणकरश्च, २५ वज्र: (वर्ज), २६ परितापनास्नव, २७ विनाश, २८ निर्यापना, २९ लोपना, ३० गुणानां विराधनेत्यपि च तस्यैवमादीनि नामधेयानि भवन्ति त्रिशत् प्राणवधस्य कलुषस्य कटुकफलदेशकानि ॥सू० २॥

पदार्थान्वय—(तस्स य) और उस प्राणवध के, (गोण्णाणि) गुणनिष्पन्न, (इमाणि) ये, (तीस) तीस, (नामाणि) नाम, (होति) होते है। (तजहा) वे इस प्रकार है—(पाणवह) प्राणो का वध, (सरीराओ उम्मूलणा) शरीर से उन्मूलन कर देना—उखाड डालना, (अवीसभो) अविश्वास, (हिसविहिसा) हिंस्य जीवो या हिंस्र प्राणियो को विशेष रूप से हिसा करना, (तहा अकिच्च च) इसी प्रकार हिंस्य (वध्य) जीवो के प्रति अकृत्य-बुरा कार्य, (घायणा) घात करना, (मारणा य) और मारना,

---

१ 'भावज्जो' पाठ भी कही-कही मिलता है।

२ कही-कही 'निज्झवणो' पाठ भी है।

(वहणा) वध करना, (उद्दवणा) उपद्रव करना, (तिवायणा य) मन, वचन और काया इन तीनो द्वारा प्राणो का अतिपात-पृथक् करना, (आरम्भ-समारभो) आरम्भ से जीवो का विघात करना, (आउयकम्मस्सुवद्दवो भेयनिट्ठवणगालणा य सवट्टगसखेवो) आयुष्य कर्म का विच्छेद करना, आयु का भेदन करना, आयुष्य की समाप्ति करना या गला देना तथा सवर्त्तक (प्राणवायु-श्वासोच्छ्वास) का सक्षेप-ह्रास कर देना—दम घोट देना, (मच्चू) मृत्यु, (असजमो) असयम, (कडगमद्दण) सेना से जीवो का मर्दन करना, कुचल डालना, (वोरमण) प्राणो से जीव का पृथक् करना, (परभवसकामकारओ) जीव को परभव (दूसरे जन्म) मे सक्रमण-गमन कराने वाला, (दुग्गतिप्पवाओ) दुर्गति मे गिराने वाला, (पावकोवो य) अत्यन्त पापकर्म का जनक कोप, (पावलोभो) पाप कर्म का जनक उत्कट लोभ, (छविच्छेओ) शरीर के अगोपागो का छेदन करने वाला, (जीवियतकरणो) जीवन का अन्त करने वाला, (भयकरो) भयकर, (अणकरो य) पापकर्म रूप ऋण का कर्ता, (वज्जो) वज्र के समान कठोर अथवा वर्जनीय (निषिद्ध), अथवा 'सावज्जो' पाठान्तर के अनुसार सावद्य पापयुक्त, (परितावण अण्हओ) परिताप (पीड़ा) देने वाला आश्रव, (विनासो) विनाश, (निज्जवणा) प्राणों के वियोग का हेतु अथवा जीवन-यापन से रहित करने वाला, अथवा 'निज्झवणो' पाठान्तर के अनुसार शुभध्यान से रहित करने वाला, (लुपणा) प्राणों का लोप (खात्मा) करने वाला, (गुणाण विराहणत्ति विय) और गुणो की विराधना-नाश भी है। (एवमादीणि) इत्यादि रूप से, (तस्स) उस, (कलुसस्स) कलुषता पैदा करने वाले, (पाणवहस्स) प्राणवध के, (तीस नामधेज्जाणि) तीस नाम, (होंति) होते हैं, (कडुयफलदेसगाइ) जो कटुफल देने वाले हैं।

मूलार्थ—प्राणवध (हिंसा) नामक आश्रव के तीस गुणनिष्पन्न (सार्थक) नाम है, वे इस प्रकार है–१ प्राणवध, २ शरीर से प्राणो का उन्मूलन, ३ अविश्वास, ४ हिंस्य जीवो की विहिंसा, ५ अकृत्य-कुकर्म, ६ घात, ७ मारण, ८ वध, ९ उपद्रव १० त्रिपातन—मन-वचन-काया द्वारा प्राणो का अतिपात—वियोग, ११ आरम्भ-समारम्भ १२ आयु कर्मविच्छेद, आयुष्यभेदन-समाप्ति-गालन तथा सवर्तकसक्षेप—प्राणवायु का ह्रास करना—दम घोटना, १३ मृत्यु, १४ असंयम, १५ सेना से जीवो का मर्दन, १६ प्राणो से जीव का पृथक्करण, १७ परभव-गमनकारक, १८ दुर्गति मे गिराने वाला, १९ उत्कट पापजनक कोप, २० उत्कट पापजनक लोभ २१ अगोपागविच्छेद, २२ जीवन का अन्त करने वाला, २३ भयकर, २४ पापरूप ऋण का कर्त्ता, २५ वज्र के समान कठोर अथवा वर्जनीय या सावद्यकर्म, २६ परितापरूप आश्रव, २७ विनाश २८ प्राणवियोग का कारण या जीवनयापन से रहित करने वाला, अथवा शुभध्यान से रहित करने वाला २९ प्राणो का लोप करने वाला या प्राणो का लुटेरा, और

३० क्षमा, दया, करुणा, सहानुभूति आदि मानवीय गुणो का विराधक—नाशक इत्यादि। इस प्रकार जीवन मे कलुपता पैदा करने वाले प्राणवध नामक आश्रव के ये तीस नाम है, जो कडवे फल देने वाले है।

व्याख्या

इस सूत्र मे प्राणवध (हिसा) के अपने नाम को सार्थक करन वाले और हिंसा के वास्तविक अवगुणो को बताने वाले ३० नाम बताये गये है। गौण शब्द से एक अर्थ यह भी द्योतित होता हे कि ये सब नाम तो गौण है, मुख्य नाम तो प्राणवध या हिंसा है।

कलुष—प्राणवध वास्तव मे जीवन को काला कर देता हे, हृदय मे सदा ही यह कलुपित भाव पदा करता रहता हे, इसके कारण चित्त मे कभी शुद्ध या शुभ भाव पैदा नही होते। यह आर्तध्यान और रौद्रध्यान के ही भवरजाल मे रात-दिन फसाता रहता है, इससे शुद्धभावना का मन मे पैदा होना दुष्कर हे। इसलिए प्राणवध को कलुप कहा गया है।

कटुकफलदेशक—प्राणवध (हिसा) के ये तीसो ही नाम पापकर्म के वन्धन के के कारण है, और पापकर्म का फल सदा कडवा ही होता हे, इसका फल कभी मीठा नही होता। वह भोगते समय सदैव वडा ही अरुचिकर,ग्लानिकारक और दु खदायक लगता है। इसलिए इन तीसो को ही शास्त्रकार ने कडवे फल देने वाले या कटुफल की ओर ले जाने वाले—दुर्गति मे ले जाने वाले कहे है। केवल परलोक मे ही नही, इस लोक मे भी प्राणवध से अनेक शारीरिक रोग, मानसिक शोक, सताप तथा इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग का दु ख मिलता है। इसके अतिरिक्त समाज या मृत प्राणी के परिवार मे भी प्राणिवध की प्रतिक्रिया तीव्ररूप मे होती है, कई बार तो मारने वाले को भी ऐसा मारा-पीटा जाता हे कि उसे छटी का दूध याद आ जाता है, कई दफा तो हत्यारे को लोग जान से भी मार डालते है। सरकार को पता लग जाने पर उसे जेल मे तरह-तरह की यातनाएँ देने के अलावा आजीवन कारावास या मौत की सजा दी जाती है। समाज ऐसे हत्यारे को कभी अच्छी निगाहो से नही देखता, उसे सदा निन्दनीय समझा जाता है, समाज मे उसे कभी सम्मान नही मिलता। इस प्रकार वह सदा अपमानित जीवन व्यतीत करता है। ये सब प्राणवध के या इसी प्रकार के कुकृत्य के कडवे फल नही, तो और क्या है ? यही कारण है, कि प्राणवध या इसके समान प्रवृत्ति के द्योतक जितने भी नाम हैं, वे सब हिंसक को कडवे फल चखाते हैं।

१–प्राणवध—अज्ञान और मोह मे अन्धे होकर किसी भी प्राणी के प्राणो का घात करना प्राणवध है। पाच इन्द्रियाँ, मनोवल, वचनवल, कायवल, आयु श्वासोच्छ्वास, इन दस प्राणो मे से किसी भी प्राण को चोट पहुँचाना, सताना, पीडा देना, काटना, पीटना या बिलकुल नष्ट कर देना प्राणवध है। फिर वह प्राणवध किसी भी प्रयोजन

२–शरीर से उन्मूलन—जैसे वृक्ष को जड से उखाडा जाता है, वैसे ही शरीर से जीव को उखाड डालना उन्मूलन है। वृक्ष को जड से उखाड डालने पर वह कभी फलताफूलता नही, उसके सब अग सूखकर खत्म हो जाते है, उसी प्रकार शरीर से जीव को उखाडने-निकालने पर उसके अगोपाग भी अपने आप खत्म हो जाते है, इन्द्रिया, मन, वचन और शरीर आदि सब निश्चेष्ट और निर्जीव होकर पड जाते है। वे फिर कदापि फलते-फूलते नही।

कई लोग कहा करते है, कि आत्मा तो अजर-अमर, अविनाशी और शाश्वत है, उसे शरीर से अलग करने मे कौन-सा नुकसान प्राणी को हुआ ? इसके उत्तर मे ज्ञानी पुरुषो का कहना है, कि प्रत्येक प्राणी को शरीर और शरीर के आश्रित इन्द्रिय, मन, वचन, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य आदि पर ममत्व है, उसके शरीर के साथ वह आत्मा बधी हुई होने से उसके छूटने का तथा उससे छूटने से होने वाली भयकर हानि (धर्मपालन, परोपकार, पुण्यादि काय आदि कुछ भी न होने की हानि) का अत्यन्त दु ख होता है। यह दु ख उस प्राणी को वैसे ही होता है, जैसे किसी व्यक्ति द्वारा कमाये हुए धन को कोई जबरन छीन-झपट या चुरा कर ल जाय तब होता है।

इसीलिए शरीर से जीव का उन्मूलन दूसरो के लिए अत्यन्त हानिकारक होने से वर्जनीय है और वह पाप है।

३–अविस्रभ-अविश्वास—हिसा करने वाला जीवो के लिए अविश्वसनीय होता है। उसका कोई भी विश्वास नही, कि वह कब किसी को मार बैठे, आ दबोचे या अनिष्ट कर डाले। जैसे चूहे बिल्ली का कदापि विश्वास नही करते, कि इसके पास जाने पर यह हमे प्यार से पुचकारेगी या मारेगी नही, वैसे ही ससार मे हिंसक प्राणी के प्रति मनुष्य ही क्या, कोई भी प्राणी विश्वास नही करता। हिंसक की आकृति से ही प्राणी पहिचान लेते है और उसके पास जाने से हिचकते है। इसलिए हिंसक व्यक्ति के द्वारा की जाने वाली हिंसा प्राणियो मे अविश्वास, शका, भय और सकोच पैदा करने वाली होने से इसे अविस्रभ या अविश्वास कहा गया है। वास्तव मे अहिंसक

सवका विश्वासपात्र होता है, उसकी शरण म आकर बैठने म किसी को आशका या भीति नही होती , जबकि हिंसक से सभी प्राणी भयभीत, शकाकुल और अविश्वासी रहते ह । इसलिए अहिंसा विश्वास का और हिंसा अविश्वास का कारण है ।

४–**हिंस्यविहिंसा-हिंसाविहिंसा**—जिनकी हिसा की जाती है, वे हिम्य जीव कहलाते हे, उनकी विशेप हिंसा करना यानी उन्हे वार-वार सताना, पीडा देना 'हिंस्यविहिंसा' है । इसी का एक रूप वनता है—'हिस्रविहिंसा' । जिसका अर्थ होता हे—जो हिंस्र जीव है, हिसक जीव ह, उनकी विशेप प्रकार से हिसा करना । इसी का तीसरा रूप होता है—'हिंसाविहिंसा' , जिसका अर्थ होता ह—हिंसा पर हिंसा करना , पुन -पुन हिंसा करना ।

पहले रूप पर विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता हे, कि ससार मे कोई भी प्राणी हिंस्य नही है, किसी दूसरे के द्वारा वध करने योग्य नही हे । किसी को क्या अधिकार हे, कि किसी का प्राण-हरण करे या किसी के शरीर का नाश करे ? सभी प्राणी अपने आप मे स्वतन्त्र हे । वे अपने ही आयुष्यवल से जीते हैं और अपने आयुष्यवल के नष्ट हो जाने पर मर जाते है । वे अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार योनि, शरीर, प्राण आदि प्राप्त करते है, और उन्हे प्राणप्रण से वचाने और सुख देने की कोशिश करते है । किसी को उनके इस कार्य मे खलल पहुँचाने का हक नही । इसलिए किसी दूसरे प्राणी को हिंस्य मानकर उसकी विशेप प्रकार से हिसा करना प्राणिवध ही हे । कई लोग यो कहा करते है, कि ये वकरे या मछलियाँ आदि जन्तु तो मनुष्य के खाने के लिए ही हैं, ये मैढक तो वरसात के वाद यो ही खत्म हो जायेगे, इन्हे मारकर खाने मे कौन-सा पाप है ? अगर वकरो आदि को नही खाया जायेगा, तो ये बढते ही जायेगे, इन्हे पालना-पोसना और रखना भी दूभर हो जाएगा । परन्तु उन महाशयो से कोई पूछे कि सिंह यदि यह कहे कि ये मनुष्य तो हमारे खाने के लिए ही है, तो क्या इसे पसद करेंगे ? तब तो कहेंगे, कि वह क्या समझता है ? समझदारी के ठेकेदार मासभक्षी मानव जव दूसरे प्राणी को जिला नही सकते, तव उन्हे क्या अधिकार है उन्हे मारने का ? किन्तु ऐसे हठाग्रही कव मानते हैं । वे तो उन पशुओ या जलचरो को अपना भक्ष्य मानकर उन्हे तेल की कडाही मे तल कर या आग मे भूनकर विशेप प्रकार से हिंसा करते हैं । कई जगह भगी लोग सूअरो को पालते है और उन्हे ज्यो के त्यो जीवित ही आग की लपटो मे झोक देते है । उनकी करुण चित्कार से उनका दिल जरा भी द्रवित नही होता । कहने पर वे उत्तर देते है, ये तो इसी प्रकार से भूनकर खाने के लिए हैं । इसी को कहते है—हिंस्य की विशेप प्रकार से—वुरी तरह से हिंसा करना । इस निर्दयता की कोई हद है ! इसके दूसरे रूप का अर्थ हिंस्र अर्थात् हिंसक प्राणियो की विशेप प्रकार से हिंसा करना होता है । कई लोग यो कहते है, कि हम वकरे, मछली, सूअर, मृग आदि निर्दोष

और महापरिग्रह नरकायु के बंध का कारण है। इसलिए महाव्रती साधु तो आरम्भ से सर्वथा मुक्त होता है, जबकि गृहस्थ-श्रावक अल्पारम्भी होता है। परन्तु लक्ष्य और मनोरथ तो श्रावक का भी एक दिन उस आरम्भ से भी सर्वथा मुक्त होने का होता है। आखिर आरम्भ हिंसा का कारण तो है ही।

१२—आयुकर्म का उपद्रव-भेदन-निष्ठापन-गालन और संवर्तक संक्षेप—आयुष्य कर्म को विष, शस्त्र आदि से उपद्रवित कर देना, (संकट में डाल देना) भिन्न कर देना (टुकड़े-टुकड़े करके अलग कर देना), समाप्त कर देना, गला देना तथा श्वासोच्छ्वास (प्राणवायु) का ह्रास कर देना—दम घोट देना भी प्राणवध है। इसलिए इन सबको प्राणवध के पारिवारिक बनाए हैं, यह उचित ही है।

कई लोग यहाँ शंका उठाते हैं, कि आयुष्य कर्म तो जितना बंधा हुआ है, उसे उतने समय तक भोगना ही पड़ेगा, यानी उतने काल तक वह उस शरीर में रहेगा ही, फिर आयुष्य के तोड़ने, समाप्त करने या क्षीण करने में कोई कैसे समर्थ हो सकता है? ज्ञानीपुरुष इसका समाधान यों करते हैं, कि आयुष्य कर्म एक बार बंध जाने पर भी सोपक्रमी आयुष्य निमित्तविशेष से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, निरुपक्रमी नहीं टूटता। निरुपक्रमी आयु नारकी, देव, चरमशरीरी या तीर्थंकर जैसे महापुरुषों की होती है। इसलिए जो आयुष्य बंधा हुआ है, उसे अकाल में ही किसी प्रकार के उपद्रव से संकट में डाल कर नष्ट कर देना, अकाल में ही आयुष्य को क्षीण कर देना, या तलवार आदि शस्त्र से न मार कर निर्वातस्थान में बंद करके दम घोट कर मार डालना, बिजली के करेंट आदि से खत्म कर देना,आयु कर्म का उपद्रव, भेदन-गालन-निष्ठापन-संवर्तक-संक्षेप आदि है, और ये सब प्राणवध के ही अंगोपांग हैं, इसलिए प्राणवध के समानार्थक बतलाए गए हैं। संवर्तक-संक्षेपक का एक अर्थ सर्वबल, सामर्थ्य, शक्ति आदि का ह्रास कर देना—क्षीण कर देना भी किया गया है। किसी की ताकत को खत्म करने के लिए भूखे-प्यासे रखना, जहर देना, रोगी बना देना, कोड़ों वगैरह से मारपीट करना आदि उपाय बहुत से निर्दयी व्यक्ति अजमाते हैं। अतः ये सब हिंसा के ही प्रकार हैं।

तीस संख्या की पूर्ति के लिए शास्त्रकार ने इन सब समानार्थक शब्दों को एकत्र करके सबका यह एक नाम रख दिया है।

१३—मृत्यु—किसी को जान से मार डालना, जीवन से रहित कर देना या परलोक पहुंचा देना मृत्यु है। मृत्यु वैसे तो एक न एक दिन प्रत्येक प्राणी की होती ही है, परन्तु उस स्वाभाविक मृत्यु के अतिरिक्त किन्हीं हिंसाजनक साधनों से किसी प्राणी की मृत्यु में निमित्त बनने अथवा उसे मरणशरण कर देने, काल के मुँह में पहुंचा देने वाली मौत हिंसा का परिणाम होने से प्राणिवध की पर्यायवाची बनती है। इसलिए मृत्यु को भी प्राणिवध के समकक्ष बताया है। मौत के नाम से भी प्राणी

कापते है, तो उस मृत्यु को साक्षात् ला देना या मार डालने का भय दिखाना कितना भयकर और दु खजनक होता है ।

१४–असयम—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन सभी प्रकार के स्थावर और त्रस जीवो के साथ यतना, सावधानी या विवेकपूर्वक व्यवहार न करने से या स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवो के शरीर (मिट्टी, पानी, हवा अग्नि और वनस्पति) का अनावश्यक, निरर्थक एव अनाप-सनाप, बेमर्यादा और बेखटके उपयोग करने से प्राणिवध रूप असयम होता हे । यानी इन पर सयम न रखना प्राणिवध का कारण होने से असयम को भी प्राणिवध का पर्यायवाची कहा गया है । अथवा दूसरी तरह से असयम का यो भी अर्थ हो सकता हे, कि शरीर, मन, वचन, प्राण, इन्द्रिय आदि को व्रत, नियम, तप, जप, त्याग, प्रत्याख्यान, सामायिक, ध्यान, स्वाध्याय, धर्माचरण या धर्मक्रिया आदि मे न लगाए रखने से ये सब खुले (अनियत्रित) होकर बेखटके हिंसाजन्य प्रवृत्ति करते है, वही असयम है । इस प्रकार असयम हिंसा का जनक होने से इसे भी प्राणिवध का भाई मान लिया गया ।

एक व्यक्ति किसी समय हिंसा नही कर रहा है, बगुले की तरह निश्चेष्ट है, अपनी इन्द्रियो और मन को निश्चेष्ट बनाकर बैठा है, अथवा शोकमग्न या रुग्ण आदि होने के कारण घर मे बैठा है, किन्तु उसने सकल्पी हिंसा करने का त्याग नही किया है, हिंसा से विरत नही हुआ है, तो उसे हिंसा का पाप लगता रहेगा । इस दृष्टि से असयम का अर्थ हिंसा से अविरति भी होता है ।

१५–कटकमर्दन—सेना लेकर आक्रमण करके जीवो का मर्दन करना, कुचल डालना या रौंद डालना अथवा मसल डालना कटकमर्दन है । अथवा युद्ध मे झौक कर या लडाकर उनका चकनाचूर करा देना भी कटकमर्दन कहलाता है । कई बार राष्ट्रो के राष्ट्रनायक अपने विजेता बनने के नशे मे अथवा अपनी राज्यवृद्धि की लिप्सा के कारण या सत्ता को टिकाए रखने के लिए अनावश्यक और अकारण ही दूसरे देश पर चढाई कर देते है और अपनी उस स्वार्थ सिद्धि के लिए निर्दोष सेना को अपरिमित सख्या मे झौक देते हैं । निर्दोप सेना मारी जाती है या वह उन राष्ट्रनायको का आदेश पाकर निर्दोप प्रजा को भी कुचलने, लूटने, आग लगाने पर उतारू हो जाती है, वहाँ की बहन-बेटियो के साथ जबरन बलात्कार करके उन्हे मौत के मुह मे धकेल देती है, यह महाहिंसा कटकमर्दन ही है । वैसे भी देखा जाय तो युद्ध मे असख्य प्राणियो का वध होता है । इसीलिए पचमहाव्रती साधु इससे सर्वथा दूर रहते है । व्रतधारी श्रावक यदि शासक हो और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए, अन्याय का प्रतिकार करने के लिए, विवश होकर उसे शत्रुशासक के साथ युद्ध करना ही पडे तो वह जहाँ तक हो सके उसे टालने का यत्न करता है, निरुपाय हो जाने पर ही

वह युद्ध करता है। फिर भी उनमे मर्यादित हिंसा तो होती ही है। इसलिए कटक-मर्दन को प्राणिवध का पर्यायवाची कहा गया है।

१६–व्युपरमण—प्राणो से उपरत करना—रहित करना व्युपरमण है। यह भी प्राणवध का ही भाई है।

१७–परभव सक्रामकारक—परभव—दूसरे जन्म मे पहुंचाने वाला परभवसक्रमणकारक कहलाता है। प्राणो का नाश करने या होने पर ही जीव इस भव को छोडकर परभव मे गमन करता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को अपना जमाजमाया घर छुडा कर दूसरे नये घर मे जाने को विवश कर देने पर उसे अत्यन्त दु ख होता है, क्योकि उसे नये घर मे जाने के लिए पहले तो नया घर बनाना या ढूढना पडेगा, उसके बाद सारा सामान उठाकर यहाँ से वहाँ ले जाना पडेगा। इसी प्रकार किसी प्राणी को इहभव रूपी घर को छुडाकर परभवरूपी नवगृह मे जाने से मोह-ममत्ववश अत्यन्त दु ख होता है, और यह परभव पहुचाना भी प्राणी के प्राणो को बुरी तरह से नष्ट करने या मारने पर ही होता है। इसलिए अत्यन्त दु खकारक होने से परभवसक्रामकारक को भी प्राणवध के समान कहा गया है।

१८–दुर्गतिप्रपात—दुर्गति—नरक तिर्यञ्चरूप दुष्टगति के गड्ढे मे गिराने वाला होने से प्राणवध को दुर्गतिप्रपात कहा गया है। कई धर्मान्ध लोग यह कहते है, कि यज्ञ मे पशुओ का होमना—वध करना हिंसा नही है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इस धर्मसूत्र को प्रस्तुत करते है और कहते है कि यह हिंसा हिंसा ही नही, तो हमे दुर्गति क्यो मिलेगी ? परन्तु हिंसा, चाहे वह वैदिकी हो या अवैदिकी , वह तो परप्राणिवध-रूप होती है, इसलिए दुर्गति का कारण अवश्य होगी। जिसमे धर्म के नाम पर भोले-भाले लोगो को अमुक स्वार्थ का प्रलोभन देकर निर्दोष-निरपराध पशुओ का वध तो साधारण हिंसा से भी बढकर है। अत हिंसा दुर्गतिपात का कारण होने से दुर्गति-प्रपात को इसका पर्यायवाची बताया गया।

१९–पापकोप—पाप को प्रकुपित करने या उत्तेजित करने वाला पापकोप है। हिंसा भी पाप को उत्तेजित करने—बढावा देने वाली होती है, इसलिए इसका नाम पापकोप ठीक ही रखा है। अथवा प्राणवध के पापरूप होने से और कोपकारी होने से दोनो को मिलाकर इसका नाम पापकोप रखा गया है।

२०–पापलोभ या पापल—जो प्राणी को पाप मे लुब्ध कर देता है, पाप मे रचापचा देता है, वह पापलोभ है। प्राणिवध आत्मा को पाप मे लुब्ध करा देने वाला अथवा लोभी बना देने वाला होने से इसका पापलोभ नाम यथार्थ दिया गया है। अथवा पाप यानी अपुण्य को प्राणी के साथ चिपकाने वाला होने से भी इसे पापलोभ ठीक ही कहा गया है। वास्तव मे प्राणिवध वधकर्त्ता को पापकर्म से सश्लिष्ट कर

देता है। अथवा पापरूप उत्कट लोभ का कारण होने से भी प्राणिवध का एक नाम 'पापलोभ' भी हो सकता है। कहा भी है—'लोभ पाप का बाप बखाना'। धन के उत्कृष्ट लोभी धन के लोभ मे पागल होकर दूसरो का गला काटते, दूसरो को मार डालते या शोषण करते देर नही लगाते। राज्यलोभी राजा लोग अकारण ही दूसरे राज्य पर आक्रमण करते है, इसी प्रकार पदप्रतिष्ठालोभी मानव भी मत्री आदि पद को प्राप्त करने या अधिकार पाने की धुन मे दूसरो को खत्म कराने, तोड़फोड या दगे कराकर हजारो के प्राण खतरे म डालने से नही चूकते। यही कारण है, कि जितने भी हिंसा के कार्य दिखाई देते है, उनके पीछे लोभ—उत्कृष्ट लोभ की ही प्रेरणा होती है। इसलिए पापरूप उत्कट लोभ को प्राणिवध का सगा भाई कहे, तो कोई अत्युक्ति नही होगी। अथवा इसका पाठान्तर 'पापल' भी मिलता है, जिसका अर्थ है—पापो को लाने वाला। यह भी ठीक नाम है, इसका।

२१–छविच्छेद—छवि यानी शरीर का छेदन करना—काटना छविच्छेद है। शरीर को काट डालना भी प्राणवधरूप होने से प्राणवध का पर्यायवाची है। अथवा इसका अर्थ छवि यानी अगोपागों का छेदन करना भी है। प्राणियो के अगोपागो को अपने मौजशोक के लिए काट डालना भी उनके लिए बहुत पीडादायी होता है। कई बार राजा लोग अपने सत्ता के मद मे आकर गुलामो के अगभग करवा डालते, उनकी आँखे निकलवा दी जातीं, उनके नाक-कान काट लिये जाते या उनके हाथ पैर कटवा डालते, उनकी चमडी उधेड ली जाती। इस प्रकार उन्हे मृत्यु से भी बढकर असह्य यातनाएँ दी जाती थीं। कई क्रूर राजा सिर्फ अपने मनोरजन के लिए मनुष्यो को नदी या तालाब मे डूबा कर उनको तड़फते देख आनन्द मनाते थे, या हाथियों आदि को पहाड़ से नीचे खाई में गिरवा देते जिससे उनके अगभग हो जाते, वे असह्य पीडा से रिब-रिब कर मर जाते, और उनकी करुण चित्कार सुनकर वे नराधम आनन्द मनाते। प्रत्येक प्राणी को अपना-अपना शरीर या अगोपाग प्रिय होता है, उनकी रक्षा के लिए वह जीजान से प्रयत्न करता है, उसके पोषण की चिन्ता मे रातदिन एक कर देता है। परन्तु जब कोई नरपिशाच जब उनकी सुखकामना के आधार शरीर या अगोपाग को उससे छीनने या नष्ट करने का प्रयत्न करता है, तो उसे अपार वेदना होती है। वह उस समय तडफता है, छटपटाता है और बचने का भरसक प्रयास करता है, किन्तु अत्याचारी नरपिशाच उसकी करुण पुकार न सुनकर अपनी कुवासना को ही सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। इसलिए छविच्छेद को प्राणवध का पर्यायवाची कहा गया है।

२२–जीवितान्तकरण—जीवन का अन्त कर देना भी प्राणवध का एक अग है। प्राणधारण करने का अन्त कर देना भी जीवितान्तकरण है। वास्तव मे जीवन सबको अत्यन्त प्यारा होता है, कोई अपने जीवन को सहसा छोडना नही चाहता,

किन्तु जब उसको अपने जीवन से कोई वियुक्त करता है, तो उसे अत्यन्त दु:ख होता है, यही हिंसा का जनक है।

२३–भयकर—भयकर का अर्थ है—भय पैदा करने वाला। वध के नाम से ही प्राणी डर के मारे काप उठता है। जिसका वध किया जाता है, उसे तो भय लगता ही है, साथ ही वध करने वाले के मन मे भी यह भय बैठ जाता है, कि कही यह सामना करके मुझे मार न बैठे। कही यह मुझ पर प्रहार न कर दे। अथवा इसके रिश्तेदार कही मुझे जान से न मार डाले। साथ ही उसके मन मे यह भी भय पैदा हो जाता है, कि मुझे इस हत्या के फलस्वरूप नरक मे जाना पडेगा, या परलोक मे यह प्राणी मुझसे किसी न किसी रूप मे बदला जरूर लेगा। उस समय मैं क्या करूंगा? इस तरह प्राणिवध चारो ओर भय ही भय पैदा करने वाला होने के कारण इसका भयकर नाम ठीक ही है।

२४–ऋणकर—प्राणिवधपापरूप ऋण को चुकाते समय—फल भोगते समय बडा ही दु:खी होना पडता है। प्राणवध के फलस्वरूप व्यक्ति पापरूपी ऋण का बोझ ढोता रहता है। पापरूपी ऋण के फलस्वरूप व्यक्ति इस लोक मे भी दरिद्र, दु:खी, शारीरिक-मानसिक व्यथाओ से पीडित, रोग, शोक आदि से सतप्त रहता है। ये सब कष्ट तो उस ऋण के ब्याज के तौर पर है। परलोक मे भी इस कठोर ऋण के कारण नरक आदि मे छेदन-भेदन आदि असह्य यातनाएँ और तिर्यंचगति मे भी भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि के नाना दु:ख भोगने पडते है, जो उस ऋण के कुफल है। इसलिए प्राणिवध को ऋणकर ठीक ही कहा है।

२५–वज्र या वर्ज्य अथवा सावद्य—प्राणिवध वज्र के समान बडा कठोर है। जिसका प्राणवध किया जाता है, उसे वह वज्र के समान अति कठोर लगता है। प्राणवध उसे सुहाता नही। प्राणी का कोमल हृदय इसे सह नही सकता, वह काप उठता है। इसलिए इसे 'वज्र' कहा है। इसका एक सस्कृत रूप वर्ज्य भी होता है, जिसका अर्थ है वर्जनीय। यानी प्राणिवध हमेशा से महापुरुषो—तीर्थंकरो द्वारा वर्जनीय होता है, निषिद्ध होता है, इसलिए इसे 'वर्ज्य' कहा। साथ ही इसका पाठातर 'सावज्ज' भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है—पाप से युक्त कर्म। हिंसा पापयुक्त कर्म होने से इसे सावद्य कहा, यह ठीक ही है।

२६–परितापाश्रव—परितापकारी मृषावाद आदि अन्य आश्रव इस आश्रव से होते है, इसलिए प्राणिवध को परितापाश्रव कहा। अथवा यह आश्रव दूसरे मृषावाद आदि आश्रवो की अपेक्षा अधिक परिताप (सताप) देने वाला होने से इसे परितापाश्रव कहा। वास्तव मे मृषावाद आदि आश्रवो के सेवन से दूसरो को इतनी पीडा नही होती, सीधी चोट नही पहुँचती, जितनी प्राणवध नामक इस आश्रव से दूसरो को

पीडा होती है, उन पर सीधी चोट लगती है, इसलिए इसे 'परितापाश्रव' यथार्थ ही कहा है ।

२७–विनाश—प्राणियो का इसमे द्रव्य और भाव दोनो ही तरह मे नाश होता है, इसलिए इसे विनाश कहा है । द्रव्य से विनाश तो प्राणो या शरीरादि का होता है, भाव से मरते समय मरने वाले जीव मे प्राय आर्त्तध्यान एव मारने वाले के प्रति रौद्रध्यान पैदा होता है, साथ ही मारने वाले के मन मे भी क्रूर भाव पैदा होते हैं, इसलिए द्रव्य और भाव से स्वपर विनाश का कारण होने से प्राणिवध को 'विनाश' भी कहा है ।

२८–निर्यापना अथवा नियातना— जीवन-यापन से रहित कर देना निर्यापना है । जब प्राणो को निकाल दिया जाता है, तो प्राणी अपनी जिंदगी से हाथ धो बैठता है, वह फिर अधिक देर तक अपना जीवन नही बिता सकता । अथवा जीवनयापन का अर्थ सुख से चल रही जीविका से रहित कर देना, किसी की जीविका को उखाड देना भी हो सकता है । किसी की जीविका का उच्छेद (वृत्तिच्छेद) कर देना भी उसके प्राण लेने के समान भयकर दु खदायी होता है । इसलिए इन दोनो दृष्टियो से निर्यापना हिंसा की कारण होने से हिंसा की ही बहिन है । अथवा इसका एकरूप नियातना होता है—जिसका अर्थ होता है, जिसमे नितरा—निरतर यातना ही यातना हो । हिंसा के कारण हिंसक प्राणी को सतत यातना का ही अनुभव होता है । इसलिए नियातना भी हिंसा की कारण होने से इसकी समानार्थक है । इसी प्रकार कही-कही इसका सस्कृत रूपान्तर 'निर्यतना' भी होता है, जिसका अर्थ है—कर्म मे किसी प्रकार की भी यतना-सावधानी-अप्रमत्तता नही रहती, सर्वथा निकल जाती है । हिंसा मे किसी प्रकार की यतना तो रहती ही नही, पर मन, शरीर, वाणी, इन्द्रिय आदि किसी भी अग पर सयम या नियत्रण भी हिंसा करते समय नही रहता । इसलिए हिंसा का एक नाम 'निर्यतना' भी है । इसका एक पाठान्तर मिलता है—'निज्झवणो' जिसका अर्थ है—निध्यापन करना—यानी धर्मध्यान, शुक्लध्यान रूप शुभ ध्यानो को छुडाने वाला । प्राणिवध करने वाले का ध्यान हमेशा आर्त्त और रौद्र रहता है , धर्मध्यान तो उसके पास भी नही फटकता । यह भी प्राणिवध के कारण होता है, इसलिए 'निध्यापन' भी इसके समकक्ष है ।

२९–लोपना—जिसमे प्राणो का लोप (खात्मा) कर दिया जाता हो, वह लोपना है । अथवा प्राणो की लुम्पना-लूट करने वाली होने से यह लोपना है । प्राणिवध मे भी प्राणो का लोप किया जाता है, इसलिए लोपना भी प्राणिवध की सगी बहिन है ।

३०–विराधना—आत्मा के ज्ञानादि गुणो की इसमे विराधना होती है—क्षति होती है, इसलिए विराधना भी आत्म-भाव की हिंसा का ही काम करती है ।

द्रव्यहिंसा से भावहिंसा कई गुना बढकर होती है। दूसरो की हिंसा करने, सताने, जलाने या मारने की दुर्भावना वाला प्राणी जब उन पर शस्त्र, आग या पत्थर आदि फैंकता है, तो उस समय उन प्राणियो का हानि-लाभ या रक्षा-विनाश अपने-अपने शुभाशुभ कर्मो के अधीन होने से उसके फैंके हुए शस्त्रादि से हानि हो भी या न भी हो, किन्तु उसकी उक्त कषायमयी परिणति या दुर्भावना के कारण उसकी अपनी भावहिंसा या आत्महिंसा तो हो ही गई। मूल मे तो भावहिंसा ही पापकर्म के वन्ध की कारण है, द्रव्यहिंसा तो प्राणघात आदि की क्रियामात्र है। जहा भावहिंसा नही होती, वहां केवल द्रव्य हिंसा से पापकर्म का वन्ध नही होता। जो मुनि महात्मा उपयोगपूर्वक चलते हैं, उनके पैर के नीचे अकस्मात् कोई जीव आकर दव जाय या कुचल जाय, तो भी उनको मारने या सताने की भावना न होने से वहा भावहिंसा नही होती, केवल द्रव्यहिंसा होती है, जो पापकर्म के वन्ध की कारण नही है। प्रमाण के लिए देखिये यह पाठ—

"उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमणट्ठाणे।
आवदेज्ज कुलिंगो वा, मरेज्ज वा तज्जोगमासज्ज॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो वधो सुहुमो वि देसिदो समए।
मुच्छा परिग्गहोत्ति अज्झप्पमाणदो भणिदो॥"

अर्थात्—'ईर्यासमितिपूर्वक चलने वाले साधु के आहारादि के निमित्त गमन करते समय पैर उठाने पर यदि कोई त्रसजन्तु अकस्मात् पैर के नीचे आकर दव जाय या उसके योग से मर जाय, तो भी उसके निमित्त से उस साधु को जरा (सूक्ष्म) भी वन्ध होना आगम मे नही वताया है। क्योकि उसके परिणाम उस जीव को मारने या सताने के नही थे, ईर्यासमितियुक्त चलने के थे। वास्तव मे मूर्च्छारूप आत्मपरिणाम ही परिग्रह है, वन्ध है।'[1]

इस प्रकार सर्वत्र हिंसा के परिणामो से ही हिंसाजन्य पापकर्म का वन्ध होता है।

तदुलमत्स्य जीवो की वधरूप क्रिया (द्रव्यहिंसा) विलकुल नही करता, लेकिन उसके परिणाम जीवो को निगलने व मारने के होने से वह मर कर अपने उन हिंसा रूप परिणामो (भावहिंसा) के कारण सातवें नरक का मेहमान वनता है। इसलिए भावहिंसा ही पापकर्म के वन्ध की कारण है। भावहिंसा आत्मा के ज्ञानादि

१—इसके लिए और भी प्रमाण देखिये—"अणगारस्स ण भते भावियप्पणो पुरो दुहओ जुगमायाए पेहाए रीय रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोए वा वट्टापोए वा कुलिगच्छाए वा परियावज्जेज्जा, तस्स ण भते! कि इरियावहिया किरिया कज्जइ सपराइया किरिया कज्जइ?' 'गोयमा! अणगारस्स ण भावियप्पणो जाव तस्स ण इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो सपराइया किरिया कज्जइ।' 'से केणट्ठे ण भते! एव वुच्चइ? जहा सत्तमसए सवुडुद्देसए जाव अट्ठो निक्खित्तो।"

—भगवतीसूत्र, शतक १८ उ० ८, सूत्र १

गुणो की विराधना करने वाली होने से इसे हिंसा की सहोदर बहन मानी गई है।

'इति' 'आदि' और 'अपि' शब्द—इस सूत्रपाठ मे 'इति' शब्द समाप्ति अर्थ का बोधक है, 'आदि' शब्द प्रकार वाचक है और अपि शब्द समुच्चयार्थक है।

तीस नाम—इस प्रकार प्राणवध के पर्यायवाची ३० नाम सूत्रकार ने बताये है। प्राणवध के नाम तो और भी हो सकते है, पर यहाँ 'गुणनिष्पन्न' नाम की अपेक्षा से तीस सख्या मे ही इन्हे सीमित कर दिया है।

हिंसा क्यो, किनकी और कैसे ?

द्वितीय द्वार मे हिंसा के पर्यायवाची नामो का उल्लेख करके अब तीसरे द्वार मे शास्त्रकार प्राणिवध किस भाव या प्रयोजन से, किनका और किन-किन साधनो से किया जाता है, इसका निरूपण करते हैं—

मूलपाठ

त च पुण करेंति केवि पावा असजया अविरया अणिहुय-परिणाम - दुप्पओगा पाणवह भयकर बहुविह बहुप्पगारं परदुक्खुप्पायणप्पसत्ता इमेहिं तसथावरेहिं जीवेहिं पडिणिविट्ठा, किं ते ?

पाठीण- तिमि-तिमिंगल - अणेगझस—विविहजातिमडुक्क—दुविहकच्छभ-णक्कचक्क-मगरदुविह-मुसढ- विविहगाह-दिलिवेढय-मडुय-सीमागार-पुलक-ससुमार बहुप्पगारा जलयर-विहाणा कए य एवमादी।

कुरग - रुरु - सरह-चमर-सबर-उरब्भ-ससय - पसय-गोण-रोहिय-हय-गय-खर-करभ-खग्गी-वानर-गवय - विग-सियाल-कोल-मज्जार-कोलसुणग-सिरियगदलगावत्त - कोकतिय - गोकन्न-मिय-महिस-वियग्घ-छगल-दीविय-साण-तरच्छ-अच्छ-भल्ल-सद्दूल-सीह-चिल्लल-चउप्पयविहाणा कए य एवमादी।

अयगर - गोणस - वराह - मउलि - काओदर-दब्भपुप्फ-आसालिय-महोरगोरगविहाणा कए य एवमादी।

छारल - सरब-सेह-सल्लग- गोधा-उदर-णउल-सरड-जाहग-मगुस-खाडहिल-चउप्पाइया-घिरोलिया-सिरीसिवगणे य एवमादी।

कादवक - बक-बलाका - सारस - आडा - मेतीय - कुलल-वजुल - पारिप्पव - कीर - सउण - दीविय - (पीपीलिय) हस-धत्तरिट्ठ-पवभास-कुलीकोस-कोच-दगतु ड-ढे णियालग-सूयीमुह-कविल-पिंगल (पिंगलक्खग) - काग-कारडग-चक्कवाग-उक्कोस-गरुल-पिंगुल-सुय-बरहिण-मयणसाल-नदीमुह - नदमाणग - कोरग-भिगारग-कोणालग-जीवजीवक-तित्तिर-वट्टग-लावग- कपिजलक-कवोनक-पारेवयग-चडग-ढिक-कुक्कुडय - मसर (वेसर) - मयूरग-चउरग–हयपोंडरिय-करक - चीरल्ल (वीरल्ल) - सेण - वायस (वायसय)-विहग-(विहग) (सेण-सिण)-भिणासि-चास-वग्गुलि-चम्मट्ठिल-विततपक्खी - समुग्गपक्खी-खहयर - विहाणा कए य एवमादी।

जल-थल - खगचारिणो उ (य) पचेदिए पसुगणे बिय-तिय-चउरिंदिए विविहे जीवे पियजीविए मरणदुक्खपडिकूले वराए हणति बहुसकिलिट्ठकम्मा।

इमेहि विविहेहि कारणेहि, कि ते ? चम्म-वसा-मस-मेय-सोणिय-जग - फिप्फिस - मत्थुलु ग - हियय तपित्त - फोफस-दतट्ठा, अट्ठिमिज-नह-नयण-कण्णण्हारुणि-नक्क-धमणि-सिग - दाढि पिच्छ-विस-विसाण-वालहेउ हिंसति य।

भमरमधुकरिगणे रसेसु गिद्धा, तहेव तेइदिए सरीरोवक-रणट्ठयाए किवणे, बेइदिए बहवे वत्थोहरपरिमडणट्ठा।

अण्णेहि य एवमाइएहि बहूहि कारणसतेहि अबुहा इह हिंसति तसे पाणे इमे य एगिंदिए बहवे वराए तस्से य अण्णे तदस्सिए चेव तणुसरीरे समारभ ति।

अत्ताणे, असरणे, अणाहे, अबधवे, कम्मनिगल-बद्धे, अकुसलपरिणाममदबुद्धिजणदुव्विजाणए, पुढविमए, पुढविसंसिए, जलमए, जलगए, अणलाणिलतणवणस्सइ-गणनिस्सिए य तम्मयतज्जिए चेव तदाहारे, तप्परिणयवण्ण-गंधरसफासबोदिरूवे अचक्खुसे चक्खुसे य तसकाइए असखे, थावरकाए य सुहुम-बायर-पत्तेय-सरीरनामसाधारणे अणते हणति अविजाणओ य परिजाणओ य जीवे इमेहि विविहेहि कारणेहि-कि ते ?

करिसण-पोक्खरिणी-वावि- वप्पिणि-कूव-सर-तलाग-चिति-वेदिया-खातिया (खाइय) - आराम - विहार-थूभ-पागार-दार-गोउर-अट्टालग-चरिया-सेउ-सकम - पासाय- विकप्प-भवण-घर-सरण - लयण- आवण - चेइय-देवकुल-चित्तसभा-पवा-आयतणा-वसह-भूमिघर-मडवाण य कए भायणभडोवगरणस्स विविहस्स अट्ठाए पुढवि हिसति मदबुद्धिया ।

जल च मज्जणय-पाण-भोयण-वत्थधोवण-सोयमादिएहि ।

पयण-पयावण-जलावण-विदसणेहिं अगणि ।

सुप्प-वियण-तालयट-परिथुनक-हुणमुह (पेहुणमुह)-करयल-सग्ग (साग) पत्त-वत्थ एवमादिएहिं अणिल ।

अगार - परिया (वाडिया) र—भक्ख-भोयण-सयणासण-फलक - मुसल - उखल -तत - विततातोज्ज-वहण-वाहण -मडव-विविह भवण-तोरण - विडग-देवकुल - जालयद्धचद - निज्जूहग-चदसालिय-वेतिय-णिस्सेणि-दोणि -चगेरी - खील-मडक (मेढग)-सभा-पवा-वसह-गध-मल्लाणुलेवणबर-जुय - नगल (मे) मइय-कुलिय-सदण - सीया-रह-सगड-जाण-जोग्ग-अट्टालग-चरिअ-दार-गोपुर - फलिह (हा)-जतसूलिय (या)-लउड - मुसढि (मुसु ढि)-सयग्घी—बहुपहरणा-वरणुवक्खराण कए, अण्णेहि य एवमाइए-

हिं बहुहिं कारणसएहिं हिंसति ते तरुगणे भणिता अभणिता (भणिए य) एवमादी।

सत्तं सत्तपरिवज्जिया उवहणंति दढमूढा दारुणमती कोहा माणा माया लोभा हासा रती अरती सोय वेदत्थ जोयधम्मत्थ-कामहेउ सवसा अवसा अट्ठाए अणट्ठाए य तसपाणे थावरे य हिंसति।

मदबुद्धी सवसा हणंति, अवसा हणंति, सवसा अवसा दुहओ हणंति। अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणति, अट्ठा अणट्ठा दुहओ हणति। हस्सा हणति, वेरा हणंति, रती (य) हणति, हस्सा वेरारती हणंति। कुद्धा हणति, लुद्धा हणति, मुद्धा हणति, कुद्धा लुद्धा मुद्धा हणति। अत्था हणति, धम्मा हणंति, कामा हणति, अत्था धम्मा कामा हणंति ॥सू० ३॥

संस्कृत-छाया

त च पुन कुर्वन्ति केचित् पापा असयता अविरता अनिभृतपरिणाम-दुष्प्रयोगा प्राणवध भयकर बहुविध बहुप्रकार परदुःखोत्पादनप्रसक्ता एतेषु त्रसस्थावरेषु जीवेषु प्रतिनिविष्टा, किंतत् ?

पाठीन - तिमि-तिमिंगलाऽनेकझष-विविधजातिमंडूक-द्विविधकच्छप-नक्रचक्र-मकरद्विविध - मूढसढ-ग्राह - दिलिवेष्टक - मडुक-सीमाकार-पुलक-सु सुमार-बहुप्रकारान् जलचरविधानकृताश्चैवमादीन्।

कुरग-रुरु-सरभ - चमर-सबरो-रभ्र - शशक-प्रशय-गोण-रोहित-हय-गज-खर-करभ-खड्गि-वानर-गवय-वृक-शृगाल- कोल-मार्जार - कोलशुनक-श्रीकन्दलक-आवर्त्त-कोकतिक-गोकर्ण-मृग-महिष-व्याघ्र-छगल-दीपिक-श्वान-तरक्ष-ऋक्ष-भल्ल-शार्दूल-सिंह-चिल्लण (चित्रल)-चतुष्पदविधानकृताश्चैव-मादीन्।

अजगर-गोणस-वराह - मुकुलि-काकोदर-दर्भपुष्प-आसालिक-महोरग-उरगविधानकृतांश्चैवमादीन्।

क्षारल-शरम्ब-सेह-सल्लक-गोध - उन्दर-नकुल - शरट-जाहक-मगुस-खाडहिल - चातुष्पदिका (वातोत्पत्तिका) गृहगोधिका (गृहकोकिलिका) सरिसृपगणांश्चैवमादीन्।

कादम्बक - बक - बलाका - सारस - आडा - सेतीक - कुलल-वञ्जुल-पारिप्लव - कीर (कीव) —शकुन - दीपिका - (पिपीलिका) -हंस-धृतराष्ट्र-पवभास (कभास) - कुटोक्रोश - क्रौंच - वक्रतुण्ड - ढलि (णि) कालग-सूचीमुख - कपिल-पिंगल - (पिंगलाक्षक) - काक-कारण्ड (करण्ड)-चक्रवाक-उत्क्रोश-गरुड-पिंगुल-शुक-बर्हि-मदनसाला (शाला) - नदीमुख-नन्दमानक-कोरक-भृंगारक-कोणालक-जीवजीवक-तित्तिर-वर्त्तक - लावक- कपिंजलक-कपोतक-पारावतक-चटक-ढिंक-कुर्कुटक-मसर (वेसर)-मयूरक-चकोरक-ह्रदपौण्डरीक (शालक)-करक-चिरल्ल (वीरल्ल)-श्येन-वायस-विहग-(विहग)-श्वेनाशित्-चास-(चाष) -वल्गुलि-चर्मस्थिल-विततपक्षि-समुद्गपक्षि-खचर-विधानकृताश्चैवमादीन् ।

जलस्थलखचारिणस्तु (श्च) पञ्चेन्द्रियान् पशुगणान् द्विकत्रि-कचतुरिन्द्रियान् विविधान् जीवान् प्रियजीवितान् मरणदुःखप्रतिकूलान् वराकान् घ्नन्ति बहुसंक्लिष्टकर्माणि ।

एभिर्विविधै कारणै, किं तत् ? चर्म-वसा-मांस-मेद.-शोणित-यकृत्फिप्फिस-मस्तुलिंग-हृदयान्त्रपित्तफोफस-दंतार्थम्, अस्थि-मज्जा-नख-नयन-कर्ण-स्नायु-नासिका- धमनी-शृंग - दंष्ट्रा - पिच्छ-विष-विषाण - बालहेतो, हिंसति च ।

भ्रमरमधुकरीगणान् रसेषु गृद्धा., तथैव त्रीन्द्रियान् शरीरोपकरणार्थं कृपणान्, द्वीन्द्रियान् बहून् वस्त्रोपगृहपरिमण्डनार्थम् ।

अन्यैश्चैवमादिभि बहुभिः कारणशतैरबुधा इह हिंसन्ति त्रसान् प्राणान्, इमाश्चैकेन्द्रियान् बहून् वराकान् त्रसाश्चान्यास्तदाश्रिताश्चैव तनुशरीरान्, समारभन्ते ।

अत्राणान्, अशरणान्, अनाथान्, अबान्धवान्, कर्मनिगडबद्धान्, अकुशलपरिणाममन्दबुद्धिजन-दुर्विज्ञेयान्, पृथिवीमयान्, पृथिवीसंश्रितान्, जलमयान् जलगतान्, अनलानिल - तृणवनस्पतिगणनिश्चिताश्च तन्मयतज्जीवांश्चैव तदाधारान् (तदाहारान्) तत्परिणतवर्णगन्धरसस्पर्शशरीररूपान् अचाक्षुषाश्चाक्षुषाश्च त्रसकायान् असंख्यान् स्थावरकायाश्च सूक्ष्मबादर-प्रत्येकशरीरनामसाधारणाश्चानन्तान् घ्नन्ति अविजानतश्च परिजानतश्च जीवान् एभिर्विविधै. कारणै, किं तत् ?

कर्षण-पुष्करिणी-वापी - वप्र-कूप-सरस्तडाग-चिति-वेदिका-खातिका-आराम-विहार-स्तूप-प्राकार-द्वार-गोपुर-अट्टालक-चरिका-सेतु-संक्रम-प्रासाद-विकल्प-भवन-गृह-शरण-लयन-आपण-चैत्य-देवकुल-चित्रसभा-प्रपा- आयतन-

आवसथ-भूमिगृह-मडपाना च कृते, भाजन-भाण्डोपकरणस्य विविधस्यार्थाय पृथिवीं हिंसन्ति मदबुद्धिकाः ।

जल च मज्जनक-पान-भोजन-वस्त्रधावन-शौचादिभि ।

पचन-पाचन ज्वालन-विदर्शनैरग्नि ।

सूर्प्प-व्यजन-तालवृन्त- (मयूराग) पृथुनक-हुणमुख- करतल-सर्गपत्र-वस्त्रादिभिरनिल ।

आगार - परिचार (प्रतिचार)-भक्ष्य - भोजन - शयनासन - फलक-मुशलोदूखल-ततविततातोद्य - वहन - वाहन-मण्डप - विविध भवन- तोरण-विटग - देवकुल - जालकार्द्धचन्द्र - निर्यूह (निर्व्यूह) - चन्द्र - शालिका-वेदिका - नि.श्रेणि - द्रोणी - चङ्गेरी - कील-मुण्डका (मेढक) - सभा-प्रपा-वसथ-गन्धमाल्यानुलेपाम्बर-युग-लागल मे (म) तिक - कुलिक - स्यन्दन-शिबिका - रथ-शकट - यान - युग्याट्टालक-चरिका-द्वार-गोपुर-परिघा-यत्र-शूलिका-लकुट-मुशुण्डि-शतघ्नी बहुप्रहरणाऽवरणोपस्कराणा कृते, अन्यैश्चैव-माविभिर्बहुभिः कारणशतैर्हिंसन्ति तास्तरुगणान् ।

भणितानभणिताश्चैवमावीन् सत्त्वान् सत्त्वपरिवर्जितानुपघ्नन्ति दृढ मूढा दारुणमतय क्रोधान्मानान्मायाया लोभात् हास्यरत्यरतिशोकात् वेदार्थो (वेदार्थं) जीव (जीत) धर्मार्थकामहेतोः स्ववशा अवशा अर्थायानर्थाय च त्रसप्राणान् स्थावराश्च हिंसन्ति ।

मन्दबुद्धय सवशा घ्नन्ति, अवशा घ्नन्ति, स्ववशा अवशा द्विधा घ्नन्ति, अर्थाय घ्नन्ति, अनर्थाय घ्नन्ति, अर्थायानर्थाय द्विधा घ्नन्ति, हास्याद् घ्नन्ति, वैराद् घ्नन्ति, रतेर्घ्नन्ति, हास्यवैररतिभ्यो घ्नन्ति, क्रुद्धा घ्नन्ति, लुब्धा घ्नन्ति, मुग्धा घ्नन्ति, क्रुद्धा मुग्धा लुब्धा घ्नन्ति, अर्थाद् घ्नन्ति, धर्माद् घ्नन्ति, कामाद् घ्नन्ति, अर्थाद् धर्मातकामाद् घ्नन्ति ॥सू०॥३॥

पदार्थान्वय—(पुण च केवि) और फिर कई (पावा) पापी (असजया) असयमी (अविरया) पापक्रिया से अविरत, (अणिहुय परिणामदुप्पयोगी) अनुपशान्त परिणामो मे मन-वचन-काया को दुष्प्रयुक्त करने वाले, (परदुक्खोपायणपसत्ता) परदु खोत्पादन मे तत्पर, (इमेहिं) इन (तसथावरेहिं) त्रस और स्थावर, (जीवेहिं) जीवो मे, (पडिणिविट्ठा) द्वेषभाव रखने वाले, (त) पूर्वसूत्र मे जिसके विभिन्न नाम बता चुके हैं, उस, (भयकर) भयकर, (बहुविह) अनेक भेदप्रभेद वाले, (बहुप्पगार) अनेक प्रकार के (पाणवहे) प्राणिवध को (करेंति) करते हैं। (किं ते ?) वे प्राणवध किन-किनका किस लिए करते हैं ? (पाठीण-तिमितिमिंगल-अणेग झस-विविहजातिमडुक्क - दुविहकच्छभ - णक्कचक्क-मगरदुविह-मुसढ-विविहगाह-दिलिवेढय-मडुय-सीमागार - पुलक - सुसुमार बहुप्पगारा जलयर-

विहाणाकए य एवमादी) पाठीन नामका मत्स्य, तिमि-बडामत्स्य, तिमिंगल नामक महामत्स्य, विविध प्रकार की छोटी मछलियाँ, अनेक जाति के मेढक, दो प्रकार के कछुए, नक्रचक्र नाम के जलजतु, दो प्रकार के मगर, मूढ़सढ नामक मत्स्य, ग्राह (घडियाल), पूँछ से लपेट लेने वाले विलिवेष्टक नामक ग्राह, मडुक, सीमाकार, और पुलक ये पाँचो ग्राह-विशेष के भेद, सु सुमार नामक जलचर जन्तु इत्यादि ये और ऐसे बहुत से प्रकार के जलचर जीवो का प्राणवध करते हैं, जिनके अनेक भेद बताए हैं । तथा (कुरग-रुरु-सरभ-चमर-सबर-उरब्भ-ससय-पसय-गोण-रोहिय-हय-गय-खर-करभ-खग्गी-वानर-गवय-विग-सियाल - कोल - मज्जार - कोलसुणग-सिरियगदलगावत्त-कोकतिय-मिय-महिस-वियग्घ-छगल-दीविय-साण - तरच्छ-अच्छ - भल्ल - सद्दूल-सीह-चिल्लल-चउप्पयविहाणा कए य एवमादी) कुरग-हिरण, रुरु जाति का मृग, अष्टापद नाम के लोकप्रसिद्ध जगली पशु, चमरी गाय, साभर, भेड, खरगोश, प्रशय नामक दो खुरो वाले जगली जानवर, बैल , रोहित नामक चौपाया जानवर, घोडा, हाथी, गधा, ऊँट, गेंडा, बदर, रोज नामक जगली गाय-गवय, भेडिया, गीदड, चूहे की सी आकृति वाला कोल नामक जन्तु, बिलाव, बडा सूअर, श्रीकवल तथा आवर्त्त नामक एक-खुरवाले पशु, रात मे को को करने वाला कोकतिक नामक जानवर, दो खुरवाला गोकर्ण नाम का पशुविशेष, मृग, भैसा, बाघ, बकरा, चीता, कुत्ता, बिज्जू-जरख, रींछ, भालू, शार्दूल, (बब्बरशेर), सिंह, चिल्लल नामक वन्य जन्तु-विशेष, ये और ऐसे सब चतुष्पद जीवो के अनेक प्रकार होते है, जिनके प्रकार पहले बता चुके हैं। ये सब चौपाये जानवरो के भेद हैं। इस प्रकार चौपाये जानवरो की पूर्वोक्त क्रूर लोग हिंसा करते हैं (य) तथा (अयगरगोणसवराह-मउलिकाओदर-दब्भ-पुप्फ-आसालिय-महोरगोरगविहाणकए य एवमादी) अजगर, बिना फन वाले सर्प, दृष्टि-विष सर्प, परड (काकोदर) नामक साप, दर्वीकर सर्प या दर्भपुष्प नामक सर्प, आसालिक नामक बडे सर्प, महोरग (बहुत बडे सर्प), ये सब पेट के बल गति करने वाले उर परिसर्प हैं, जिनके अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। इन पेट और भुजा के बल पर रेंग कर या सरक कर चलने वाले सर्प जाति के विशिष्ट जन्तुओ का प्राणवध वे क्रूर लोग करते हैं। तथा (छारल-सरब-सेह-सल्लग-गोधा-उदर-णउल-सरड-जाहग-मगुस-खाडहिल-चाउप्पाइया छिरोलिया-सिरिसिवगणे एवमादी) भुजाओ से चलने वाले क्षारल, सरम्ब, सेहला—जिसके शरीर पर चारो ओर काटे होते हैं, जो गोल और काला होता है, शल्यक (सीसोलिया), गोह, चूहा, नेवला, गिरगिट, कॅकडा, काटो से आवृत शरीर वाला जाहक, छछुदर, गिलहरी, वातोत्पत्तिक या चार पैरो से चलने वाले चातुष्पदिक भुजपरिसर्प जन्तु जो भुजा से सरक कर चलते हैं, छिपकली इत्यादि ये और इन जैसे अनेक भुजपरिसर्प जीवो का प्राणवध वे क्रूरकर्मा करते हैं। तथा (कादवक-बक-बलाका-सारस-आडा-सेतीय-कुलल-वजुल-पारिप्पव-कीर

(व)-सउण-चीविय (पीपीलिय) हंस-धत्तरट्ठग (पच) भास-कुलीकोस-कुंच-दगतुंड-ढेलि (णि) यालग-सूपीमुह-कविल-पिंगल (क्खग)-कारंडग-चक्कवाग-उक्कोस-गरुड-पिंगुल-सुय-बरहिण-मयणसाल-नंदीमुह-नंदमाणग - कोरक - भिंगारग - कोणालग-जीवजीवक-तित्तिर-वट्टग-लावक-कपिंजल - कपोतक-पारेवयग - चडग (चिडिग)-ढिंक-कुक्कुड-वेसर-मयूरग-चउरग-हयपोंडरीय-करक-ची (चीरल्ल-सेण-वायस-विह (ह) ग-भिणासि-चास-वग्गुलि-चम्मट्ठिल-विततपक्खि-समुग्गपक्खि-खहयरविहाणाकए एवमादी) हंस, बगुला, बलाका - बगुली, सारस, आडी व सेतीका नामक जलपक्षी, लाल परों वाले कुलल नामक हंस, खजन, चबल जाति के पारिप्लव, सुग्गे या तोतेपक्षी, टिट्हरी नामक शकुन, देवी नाम की मादापक्षी, सफेद पंख वाले हंस, काली चोंच वाले धृतराष्ट्र नाम के हंस, काले मुंह वाले पक्षभास या भास नामक पक्षी, कुटीक्रोश, क्रौंच, जलमुर्गी, ढेलिकालग नामक जलचरपक्षी या ढेणीकालक, पक्षी, सुगरी, कपिल, पिंगल या पिंगलाक्ष - पहाड़ी कौआ, कारंडक नामक जलचरपक्षी, चकवा, कुरर, गरुड, लाल तोता, लालमुंह वाला तोता, पिच्छ वाले मोर, मैना, नंदीमुख, भूमिवर्ती दो अंगुलभर के शरीर वाला-नंदमानक, कोरक, भृंगारक, चौकोर आकृति वाले कोणालक, जीवजीवक, चकोर, तीतर, बतक, बटेर-लावा, कमेडी, कपिंजल, कबूतर, विशेष प्रकार के कपोत, चिड़िया, पानी पर चलने वाले ढिंक, गिद्ध, मुर्गा, बेसरया, पिच्छरहित मोर, चतुर चकोर, हृवपुण्डरीक, करक-ग्रह मे पैदा होने वाला, चीरिलिक या चीरल्ल नामक पक्षिविशेष, बाज, कौआ, विहग नामक पक्षीविशेष, भेनाशित, चास, वल्गुली, चमगीदड़, विततपक्षी और समुद्ग पक्षी—जो मनुष्य क्षेत्र से बाहर रहते हैं ; इस प्रकार जिन आकाशचारी या उड़ने वाले पक्षियों के यहाँ नाम बताए गए हैं, ये और इन जैसे और भी पक्षियो का वे क्रूरकर्मा लोग प्राणवध करते हैं।

इस प्रकार (जलथलखहचारिणो) जल, स्थल और आकाश मे चलने वाले, (पचेंदिय) पंचेन्द्रिय, (पसुगणे) पशुगणों का, (बियतियचउरिंदिए) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय, (विविहे) नाना प्रकार के, (पियजीविए) अपनी जिंदगी को अत्यन्त प्यारी समझने वाले, (मरणदुक्खपडिकूले) मृत्यु के दुःख से बिलकुल खिलाफ, (वराए) बेचारे, (जीवे) जीवों का ये (बहुसंकिलिट्ठकम्मा) अत्यन्त दुष्टकर्म वाले प्राणी (इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं) इन विविध प्रयोजनों से, (हणंति) वध करते हैं। (किंते ?) वे प्रयोजन कौन-कौन से हैं ?) चम्म-वसा-मंस-मेय-सोणिय-जगफिप्फिस-मत्[illegible]ा-हिययंत-पित्तफोप्फ[illegible]त्तट्ठा) चमड़े, चर्बी, मांस, मेदा, रक्त, जिगर, फेफड़े [illegible] तेजे, हृदय, आँ[illegible] -फोफस-यानी शरीर का एक भाग-फुप्फुस

और दातो के लिये, तथा (अट्ठिमिज-नह-नयण-कण्ण-ण्हारुणि-नक्क-धमणि-सिंग-दाढि-पिच्छ-विस-विसाण-वालहेउ) हड्डी, मज्जा, नख, आख, कान, स्नायु - नसो - रगो, नाक, धमनियो-नाडियो, सींग, दाढ, पिच्छ, विष, हाथीदात और केशो के लिए मारते है। (य) और, (रसेसु गिद्धा) रसो मे आसक्त लोलुप प्राणी (भमरमधुकरीगणे) भौंरो ओर मधुमक्खियो की (हिंसति) हिंसा करते है। (तहेव) इसी प्रकार, (वत्थोहरपरिमडणट्ठा) घर मे सोने, नहाने, शौच जाने, वस्त्रादि का प्रसाधन (शृ गार) करने, भोजन बनाने, भोजन करने, पानी रखने आदि के गृहो-उपगृहो का दासतोर से रगरोगन करने या सुशोभित करने के लिए, (सरीरोवगरणट्ठाए) शरीर और अन्य साधनो को सस्कारित करने या शुद्ध करने या माँजने धोने के लिए, (किवणे) दयनीय (बहवे) बहुत से (तेइदिए) तीन इन्द्रियो वाले जीवो, (बेइदिए) दो इन्द्रियो वाले प्राणियो को मारते है। (य) और, (एवमादिएहिं) ये और इसी प्रकार के (अण्णेहिं) अन्य, (बहूहि) बहुत से, (कारणसतेहि) सैकडो कारणो से, (अबुहा) अज्ञानी जीव (इह) इस लोक मे, (तसे पाणे) त्रस प्राणियो की, (हिंसति) हिंसा करते है। (य) और (बहवे) बहुत से (वराए) वेचारे दीन, (इसे) इन सामने दिखाई देने वाले, (एगिदिए) एकेन्द्रिय (पाणे) जीवो का, (य) और (तदस्सिए) उन एकेन्द्रिय जीवो के आश्रित (चेव) ही, (अण्णे) दूसरे, (तणुसरीरे) बहुत छोटे शरीर वाले, (तसे) त्रसजीवो का, (समारभति) नाश कर डालते हैं। इसी तरह (अत्ताणे) सुरक्षारहित, (असरणे) शरणहीन, (अणाहे) अनाथ, (अबाधवे) बन्धुजनरहित, (कम्मनिगलबद्धे) कर्मो की बेडियो से जकडे हुए, (अकुसल परिणाम मदबुद्धि जण-दुव्विजाणए) मिथ्यात्व के उदय से अशुभ परिणाम वालो तथा मदबुद्धिलोगो द्वारा मुश्किल से जाने जा सकने योग्य जीवन वालो (पुढवीमए) पृथ्वीमयशरीर वालो, (पुढवीसस्सिए) पृथ्वी के आश्रित रहने वाले अलसिया आदि त्रस जीवो, एव (जलमए) जलमयशरीरवालो (जलगए) जल के आश्रित रहने वाले फुहारे आदि जीवो, (अणलाणिलतणवस्सइगणनिस्सिए) अग्नि, वायु, तृण और वनस्पतिगण के आश्रित रहने वाले त्रस जीवो (य) और (तम्मयतज्जिए चेव) उन्हीं अग्नि, वायु, वनस्पति आदि के ही विकार जन्य, जो उन्हीं मे रहते हैं, उन्हे, तथा अग्नि आदि की योनियो वाले जीवो, (तदाहारे) उन्हीं के आधार पर रहने वालो या पृथ्वी आदि का ही आहार करने वालो, (तप्परिणय-वण्णगधरसफासबोदिरूवे) उन्हीं पृथ्वी आदि के रूप मे परिणत वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शमय शरीर वालो, (अचक्खुसे) आँखो से नहीं दिखाई देने वालो (य) और (चक्खुसे) आँखो से दिखाई देने वालो, (असखे तसकाइए) असख्य त्रसकायिक जीवो (य) तथा (सुहुमबायर पत्तेयसरीर नामसाधारणे अणते थावरकाए) सूक्ष्म, बादर, प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर वाले अनत स्थावर कायिक जीवो का, (अविजाणओ) अपने दु ख को नहीं जानने वाले (य) और (विजाणओ)

जानने वाले, (जीव) जीवो का (इमेहिं) आगे बताए जाने वाले इन (विविहेंहिं) विभिन्न, (कारणेंहि) कारणो मे (हणति) घात करते ह।

(किं ते ?) वे कारण कौन-कौन-से हैं ? (करिसण-पोक्खरिणी-वावि-वप्पिणि-कूव-सर-तलाग-चिति-वेइया-खातिय-आराम-विहार-थूभ-पागार-दार-गोउर-अट्टालग-चरिया-सेतु-सकम-पासाय-विकप्प-भवण-घर-सरण-लेण-आवण-चेइय-देवकुल-चित्तसभा-पवा-आयतणा-वसह-भूमिघर-मडवाण कए) खेती या खेत, पुष्करणी - छोटा तालाव-पोखर, वावडी, क्यारियाँ, कुआ, तालाव, कमलसरोवर, चिता, वेदिका, खाई, वाग, बौद्धविहार या मठ, स्तूप, कोट, द्वार, नगर का सदर दरवाजा, अटारी, नगर और कोट के बीच मे आठ हाथ चौडा मार्ग, पुल, विकट स्थान से उतरने का मार्ग, राजभवन-महल, वगला, या प्रासाद के अन्तर्गत मकान, भवन-पक्का घर, मामूली घर, तृणकुटीर-झौंपडी, पर्वतीय आवासस्थल, वाजार, यक्षादि की प्रतिमा के स्थान, देवालय - शिखर-वद्धदेव-भवन, चित्रो से सुसज्जित सभामण्डप, प्याऊ, देवायतन - देवस्थान, तापसो का आश्रम, भूमिगृह-तलघर या भौंयरा, छाया के लिए कपड़े के तम्वू - मडप के लिए, (य) और, (विविहस्स) अनेक प्रकार के (भायण भडोवगरणस्स) सोना-चादी, ताम्वा, पीतल आदि धातुओ के वर्तनो तथा मिट्टी के अनेक किस्म के बर्तनों एव नमक मिर्च आदि वेचने की सामग्री.रूप (किराना) तथा ऊखल मूसल आदि साधनरूप उपकरणों के (अट्ठाए) निमित्त, (मद वुद्धिया) मदवुद्धिवाले लोग, (पुढविं) पृथ्वीकायिक जीवो की, (हिंसति) हिंसा करते हैं। (य) और, (मज्जणय-पाण-भोयण-वत्थ-धोवण-सोयमादिएहिं) स्नान, पान, भोजन,वस्त्र धोने और शौच (सफाई माजने, धोने, कुल्ला करने,टट्टी जाने आदि) आदि कारणो से (जल) जलकायिक जीवो का (य) तथा (पयणपयावण जलावण-विदसणेहिं)पकाने, पकवाने, जलाने,उजाला करने आदि कारणो से (अगणिं) अग्निकाय के जीवो का, तथा (सुप्प-वियण-तालयट-परियुनक-हुणमुह - करयल-सगपत्त-वत्थ एवमादिएहिं) सूप (छाज), पखो, ताड के पत्तो के पखे, मोरपख, कागज आदि के पन्ने, मुह,हाथ, सर्गवृक्ष के पत्ते,वस्त्र आदि से (हवा करके) (अणिल) वायुकायिकजीवो का घात करते हैं। तथा (अगार-परि (डि) यार-भक्ख-भोयण-सयणासण-फलक-मुसल-उखल-तत-विततातोज्ज-वहण-वाहण-मडव-विविहभवण-तोरण-विटग-देवकुल-जालयद्धचद-निज्जुहग - चदसालिय - वेतिय -निस्सेणि-दोणि-चगेरी-खील-मडव-सभावसह-गधमल्ला-णुलेवणवर-जुय-नगल-मेइय-कुलिय-सदन - सीया-रह-सगड-जाणजोग्ग-अट्टालग-चरिअ-दार-गोपुर-फलिह-जत-सूलिया-लउड-मुसढि-सयग्धी-वहुपहरणा-वरणुवक्खराण कए) घर, तलवार आदि का म्यान, मोदक आदि भक्ष्यवस्तु, चावल आदि भोजन, शय्या, आसन (खाट या पलग) लकडी का तख्त (पट्टा), मूसल, ऊखल, वीणा आदि वाद्य, ढोल, नगाडे आदि वाजे, जहाज, गाडी आदि सवारी, लता आदि का मडप, अनेक प्रकार के भवन (ईमारतें), तोरण, कवूतरो के वैठने का स्थान, देवालय, झरोखे, विशेप

किस्म की सीढियाँ,दरवाजे पर अगल-बगल मे निकले हुए लकडी के कगूरे,चौबारा,वेदी, निसैनी, नाव, बडी टोकरी, कील (खू टियाँ), रावटी या खेमा (कपडे की पटकुटी), सभा, प्याऊ, मठ, सुगन्धित चूर्ण (पाउडर), फूलो की माला और चन्दन आदि का लेप, कपडे, जूडा (जूआ), हल, खेत को जोतने के बाद भूमि को सम करने वाला औजार (सुहागा), हल की तरह का खेती का औजार, विशेष प्रकार का रथ, पालकी, रथ, बैलगाडी, यान-एक विशेष प्रकार की घोडा आदि के जुतने से चलने वाली गाडी, अटारी, नगर और प्राकार के बीच का आठ हाथ का मार्ग, द्वार, नगर का सदर दरवाजा, आगल, रेंहट या खाई को ढकने के लिए अरघट्ट आदि यत्र, शूली, लाठी, बदूक, तोप, तलवार आदि बहुत प्रहार करने के शस्त्र, ढाल, कवच आदि आवरण, एव मच, पलग, मकान आदि उपकरणो—साधनो के लिए, (एवमादिएहिं) ये और इसी प्रकार के (अण्णेहिं) अन्य, (बहूहि) बहुत से, (कारणसएहिं) सैंकडो कारणो —प्रयोजनो को लेकर (ते) उन (तरुगणे) वृक्षो के समूह (उपलक्षण से अन्य वनस्पतिकायिक जीवो) की (हिंसति) हिसा करते है। (एवमादी) इस प्रकार और भी, (भणिता) कहे हुए (अभणिए य) अथवा नहीं कहे हुए, (सत्तपरिवज्जिया) शक्ति हीन, (सत्ते) प्राणियो का, (दढमूढा) पापकर्म मे दृढ़ और मूढ अथवा वज्रमूर्ख, (दारुणमती) कठोर बुद्धि वाले जीव (उवहणति) घात करते है। किस कारण से मारते है? (कोहा) क्रोध, द्वेष और ईर्ष्या के वश, (माणा) अभिमान के वश, (माया) कपटवश, (लोहा) लोभवश, (हास-रती-अरती-सोय-वेदत्थ-जीय कामत्थधम्महेउ) हास्य के वश, रति,अरति और शोक के वश, वेद अर्थात् स्त्री वेद, पुरुषवेद व नपु सकवेद मे से किसी वेद के उदय होने पर उस की पूर्ति के लिए, अथवा 'वेदत्थ' पाठ होने से 'वेदोक्त अनुष्ठान के लिए' यह अर्थ भी निकलता है। जीने की कामना के लिए, काम भोग की वाञ्छापूर्ति के लिए, अर्थ के लिए और कुलजाति आदि के तथाकथित धर्म पालन के लिए या धर्म के नाम पर बताई हुई क्रिया के हेतु, (सवसा) स्वाधीन (अवसा) या पराधीन होकर, (अट्ठा) प्रयोजन से (य) और (अणट्ठाए) बिना ही प्रयोजन के, (तसपाणे) त्रसजीवो (य) और (थावरे) स्थावरजीवो की (हिंसति) हिंसा करते हैं।

(मदबुद्धी सवसा हणति) मदबुद्धि वाले अज्ञजन स्वाधीन होकर मारते हैं, (अवसा हणति) पराधीन होकर मारते है, (सवसा अवसा दुहओ हणति) स्वतत्र व परतत्र होकर दोनो प्रकार से मारते हैं, (अट्ठा हणति) प्रयोजनवश मारते हे, (अणट्ठा हणति) विना प्रयोजन के मारते हैं (अट्ठा अणट्ठा दुहओ हणति) प्रयोजन व निष्प्रयोजन दोनो तरह से मारते हैं, (हस्सा हणति) हसी मे मारते है, (वेरा हणति) शत्रुतावस मारते हैं, (रती हणति) भोगो मे रति (आसक्ति) के कारण से मारते हैं, (हस्सवेरारतीय हणति) कई हसी, वैर और रति इन तीनो कारणो से मारते हैं, (कुद्धा हणति) कई क्रुद्ध होकर मारते हैं,(लुद्धा हणति) कई लुब्ध यानी किसी चीज मे

आसक्त होकर मारते हैं, (मुद्धा हणंति) कई किसी पर मुग्ध (फिदा) होकर मारते हैं या मूढ बन कर मारते हैं (कुद्धा लुद्धा मुद्धा हणंति) कई क्रोधी, लुब्ध और मुग्ध होकर मारते हैं, (अत्था हणंति) कई अर्थ के निमित्त से मारते हैं, (धम्मा हणंति) कई धर्म के नाम पर मारते हैं, (कामा हणंति) कई कामभोग के लिए मारते हैं, (अत्था धम्मा कामा हणंति) कई अर्थ—धनसम्पत्ति, धर्म और काम को लेकर मारते हैं।

मूलार्थ—कई पापिष्ठ, असयमी,पाप क्रिया से अविरत, मन वचन काया को अनुपशान्त परिणामो मे दुष्प्रयुक्त करने वाले, दूसरो को दु ख देने मे उद्यत इन आगे कहे जाने वाले त्रस और स्थावर जीवो के द्वेषी लोग पूर्वसूत्रोक्त अनेक प्रकार के उस भयकर प्राणिवध को करते है।

वे जिन-जिन प्राणियो का और जिस-जिस प्रयोजन से वध करते हे, उनके नाम इस प्रकार हे—पाठीन,तिमि, तिमिगल (महामत्स्य),विविध प्रकार की छोटी मछलियाँ, अनेक जाति के मेंढक, दो प्रकार के कछुए, नक्रो का समूह, दो तरह के मगरमच्छ, मूढसढ नामक मत्स्य, ग्राह (घडियाल), दिलिवेष्टक, मडूक, सीमाकार और पुलक ये पाचो प्रकार के ग्राह, सु सुमार—शिशुमार इत्यादि ये और ऐसे अनेक प्रकार के जलचरजीवो का वे वध करते है।

तथा हिरण, रुरु नामक मृग, अष्टापद नामक लोकप्रसिद्ध जगली पशु, चमरी गाय, साभर, भेड, खरगोश, प्रशय नामक दो खुरो वाले जगली जानवर, बैल, रोहित नामक चौपाया जानवर, घोडा, हाथी, गधा, ऊ ट, गैंडा, बदर, रोजनामक जगली गाय (गवय), भेडिया, गीदड, चूहे की-सी आकृति वाला कोल, बिलाव, बडा सूअर, श्रीकदल और आवर्त्त नामक एकखुर वाले पशु, लोमडी या रात मे 'को को' करने वाला कोकतिक नामक जगली जानवर, दो खुरवाला गोकर्ण, मृग, भैंसा, वाघ, बकरा, चीता, कुत्ता, विज्जू (जरख), रीछ, भालू, शार्दूल (केसरी सिंह), सिंह और चिल्लल इत्यादि, ये और इस प्रकार के और भी अनेक प्रकार के चौपाये जीवो को वे मारते है।

इसी प्रकार अजगर, विना फन वाले सर्प, दृष्टिविषसर्प, परड, दर्वीकर, दर्भ पुष्पसर्प, असालिक सर्प, महोरग (विशाल काय साप), इत्यादि नानाविध पेट के बल चलने वाले उर परिसर्प जानवर है। इन सब सर्प जातीय प्राणियो का वे क्रूरकर्मा वध करते ह।

इसी प्रकार क्षारल, सरम्ब, सेहला (काटेदार काला जीव), शल्यक, गोह, चूहा, नेवला, गिरगिट, केंकडा, जाहक, छछु दर, गिलहरी, वातोत्पत्तिक

और छिपकली आदि नाना प्रकार के चातुष्पदिक और भुजाओ से सरक कर चलने वाले भुजपरिसर्प प्राणी होते है, जिनका वध वे अधम करते है।

तथा हस, बगुला, बगुली, सारस, आडी व सेतीका नामक जलपक्षी, लालपैरो वाले कुलल हस, खजन, पारिप्लव, सुग्गे या कीव पक्षी, टिटहरी, देवी नाम की मादापक्षी, सफेद पखवाले हस, काली चोच वाले धृतराष्ट्र हस, काले मुंह वाले पवभास या भासपक्षी, कुटीक्रोश, क्रौच (कुररी), जलमुर्गी, ढेलिकालग (ढेणिकालक), सूचीमुख (बैया पक्षी), सुगरी, कपिल, कारडक, पिंगल या पिंगलाक्ष-पहाडी कौआ, चकवा, कुरर, गरुड, लाल तोता, लाल मुँह वाला तोता, पिच्छ वाले मोर, मैना, नदीमुख, नदमाणक, कोरक, भृंगारक,कोणालक, जीवजीवक, चकोर, तीतर, बतक, लावा (बटेर), कमेडी, कपिंजल, कबूतर, विशेष जाति का कबूतर, चिडिया, ढिक (पानी पर चलने वाले), गिद्ध, मुर्गा, बेसर, बिना पिच्छ का मोर, चकोर, ह्रदपुडरीक, करक, बाज, कौआ, विहग नामक पक्षी, मैनाशित, चास, वल्गुली-वागल, चमगीदड इत्यादि नानाविध आकाशचारी या पखो के बल उडने वाले ये तथा और भी अनेक पक्षी होते है, जिनका वे निर्दय लोग वध करते है।

इसी प्रकार उपर्युक्त जलचर,स्थलचर-चौपाये, उर परिसर्प भुजपरिसर्प और खेचरपक्षी , इन पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चगति के प्राणियो को, तथा दो इन्द्रियो वाले, तीन इन्द्रियो वाले नाना प्रकार के विकलेन्द्रिय त्रस जीव, जिनको अपना जीवन अत्यन्त प्रिय है, जो मृत्यु के दु ख को कतई नही चाहते , उन बेचारे दीन जीवो की ये दुष्टकर्म करने वाले दुरात्मा आगे बताए जाने वाले निम्नोक्त विविध कारणो—प्रयोजनो से हिंसा करते है।

वे प्रयोजन कौन-कौन से है, यह बता रहे है—उनमे से कई तो चमडे, चर्बी, मास, मेदा, रक्त, जिगर, फेफडे, भेजा (दिमाग), हृदय, आतो, पित्त, फोफस (फुप्फुस) और दातो के लिए उन निरपराध जीवो का प्राणवध करते है। तथा कई हड्डी, मज्जा, नख, आँखे, कानो, स्नायुओ-नसो (रगो), नाक, धमनियो (नाडियो), सीगो, दाढ, पिच्छ, विप, हाथीदात और केशो के (प्राप्त करने के) लिए उनका प्राणनाश करते है।

और कई रसलोलुप अधम शहद प्राप्त करने के लोभ मे भौरो और मधुमक्खियो का प्राणवध कर देते है।

इसी तरह कई मूढ अपने वस्त्रो को रगने या बढिया बनाने एव घर मे सोने, नहाने, शौच जाने, वस्त्रादि का प्रसाधन (शृ गार) करने, भोजन बनाने, पानी रखने आदि के उपगृहो को खासतौरसे रगरोगनकरने या सुशोभितकरने के लिए एव कई अपने शरीर और अन्य साधनो को सस्कारित करने, माजने,

धोने या साफ करने के लिए दीन-हीन अगणित तीन इन्द्रियो और दो इन्द्रिय वाले जीवो की हिंसा करते है। इसी प्रकार के दूसरे बहुत-से सैकडो कारणो से अज्ञानी जीव इस लोक मे बेचारे त्रसजीवो का वध कर डालते है। इसी प्रकार बहुत-से अज्ञानी जीव बेचारे इन एकेन्द्रिय जीवो का और उन एकेन्द्रिय जीवो के ही आश्रित बहुत से सूक्ष्म शरीर वाले त्रसजीवो का नाश कर डालते हे।

वे एकेन्द्रिय जीव सुरक्षारहित, अशरण, अनाथ, बन्धुजनरहित, कर्मों की बेडियो से जकडे हुए होते है, मिथ्यात्वी होने से उनके परिणाम शुभ नही होते, मदबुद्धि प्राणियो को उनके अस्तित्व का ज्ञान दुष्कर होता है। उनमे पृथ्वीकायिक जीवो का शरीर पृथ्वीमय होता है, उनके आश्रित कई अलसिया आदि त्रसजीव होते है, अप्काय के जीवो का शरीर जलमय होता है, उसके आश्रित फुआरे वगैरह बहुत-से त्रस जन्तु रहत है, तथा अग्नि, वायु और वनस्पति आदि का शरीर भी क्रमश अग्निमय, वायुमय और वनस्पतिमय होता है, उनके आश्रित रहने वाले या उन्ही के ही विकार से उत्पन्न कई जन्तु होते है। ये सब एकेन्द्रिय जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के ही आधार पर या आहार पर रहते है, और पृथ्वी आदि के रूप मे ही परिणत वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शमय शरीर धारण करके रहते है। इनमे कई सूक्ष्म हे, जो आँखो से दिखाई नही देते, कई आँखो से दिखाई देते है। ऐसे त्रसकायिक जीव असख्य होते है। और स्थावर कायिक जीव सूक्ष्म, वादर, प्रत्येक और साधारण शरीर के भेद से अनन्त है। इनमे से कई जीव अपने विनाश के दु ख को स्पष्ट महसूस करते है और कई स्पष्ट महसूस नही करते। मोहान्ध जीव आगे बताये जाने वाले इन विविध कारणो—प्रयोजनो से उनका सहार करते है। वे प्रयोजन इस प्रकार है—

कूपिकर्म, पुष्करिणी, बावडी खेत, क्यारी, कुंआ, तालाब, कमलो वाला सरोवर, चिता, वेदिका, खाई, बाग, बौद्ध-विहार या मठ, स्तूप कोट द्वार, नगर का सदर दरवाजा, अटारी, नगर और कोट के बीच का आठ हाथ का मार्ग, पुल, उबडखाबड जगह से उतरने का रास्ता, राजमहल, बगला या प्रासाद के अन्तर्गत मकान, भवन (पक्काघर), तृणकुटीर या झोपडी, मामूली घर, गुफा, बाजार, यक्षादि की प्रतिमा का स्थान, शिखर वाले देवालय (मन्दिर), चित्रो से सुसज्जित सभामण्डप, प्याऊ, देवायतन, तापसो का आश्रम या मठ, भूमिगृह, और मण्डप (तम्बू) के लिए तथा अनेक प्रकार के सोने, चादी, तावा, पीतल आदि धातुओं के अनेक किस्म के बर्तनो एव नमक मिर्च आदि बेचने के साधनो (किराने)

तथा ऊखल मूसल आदि अनेक उपकरणा के लिए मन्द बुद्धि लोग पृथ्वीकायिक जीवो की हिंसा करते हे।

स्नान, पान, भोजन वस्त्रप्रक्षालन तथा शौच आदि कार्यों के लिए जलकायिक जीवो की हिंसा करते हे।

एव पकाने, पकवाने, जलाने और उजाला करने आदि कामो के लिए अग्निकायिक जीवो की हिंसा करते हे।

सूप (छाज), पखो, ताडपत्र के पखो, मोर पख के पखो, कागज आदि के पन्ने, मु ह, हथेली सग्गवृक्ष के पत्त और वस्त्र आदि साधनो से वायुकायिक जीवो की हिंसा करते हे।

तथा मकान, तलवार वगैरह का म्यान, मोदक आदि भक्ष्यवस्तु, भोजन, शय्या, आसन, लकडी के पट्टे, ऊखल, मूसल, वीणा आदि तार वाले बाजे, ढोल-नगाडे आदि चमडे से मढे हुए बाजे, अन्य बाजे, जहाज गाडी आदि सवारी, लता आदि का मडप, अनेक प्रकार के भवन (इमारते), तोरण, कबूतरो के बैठने का स्थान, देवालय, झरोखे, विशेष किस्म की सीढिया, दरवाजे पर अगल बगल मे निकले हुए लकडी के कगूरे, चौबारा, वेदी, निसैनी, नाव, बडी टोकरी, कील (खू टियाँ), रावटी (खेमा), सभा, प्याऊ, मठ, सुगन्धित चूर्ण (पाउडर), फूलो की माला और चदन आदि का लेप, कपडे, जूडा-जूआ, हल, खेत जोतने के बाद भूमि को सम करने वाला औजार (सुहागा) हल की तरह का खेती का औजार, विशेष प्रकार का रथ, पालकी, रथ, बैलगाडी, यान (घोडा आदि के जुतने से चलने वाली सवारी), एक तरह की पालकी, अटारी, नगर और प्राकार के बीच का ८ हाथ चौडा रास्ता, द्वार, नगर का सदर दरवाजा, आगल, अरघट आदि यत्र, शूली, लाठी, बंदूक, तोप, अन्य हथियार, ढाल, कवच आदि आवरण, मच आदि उपकरणो—साधनो के लिए, इन और ऐसे ही दूसरे बहुत से सैकडो कारणो—प्रयोजनो से वे उन तरुगणो (उपलक्षण से वनस्पतिकायिक जीवो) की हिंसा करते है।

इस प्रकार और भी ऊपर कहे हुए या नही कहे हुए शक्तिहीन प्राणियो का पापकर्म मे दृढ, मूढ व कठोरमति जीव घात करते है। उनमे से कई तो क्रोध के वश, कई मान के वश, कई माया के वश, कई लोभ के वश, कई हसी, रति, अरति और शोक के वश, कई स्त्री आदि वेद का उदय होने पर उसकी पूर्ति के लिए, अथवा वेदोक्त अनुष्ठान के लिए, जीने की कामना से प्रेरित होकर कामभोग की इच्छा पूरी करने के लिए, अर्थ के लिए और कुल जाति आदि के तथाकथित धर्म के पालन के लिए या धर्म के नाम पर

वताई हुई क्रिया के हेतु स्वाधीन होकर या पराधीन होकर, प्रयोजन से या निष्प्रयोजन त्रसजीवो ओर स्थावर जीवो की हिंसा करते है।

कई मंदमति अज्ञजन इन्हे स्वाधीन होकर मारते है, कई पराधीन होकर मारते है, कई स्वाधीन और पराधीन होकर दोनो तरह से मारते है, कई प्रयोजनवश मारते है, कई बिना ही प्रयोजन के मारते है, कई प्रयोजन और निष्प्रयोजन दोनो तरह से मारते है, कई हास्यवश मारते है, कई वैर (अदावत) के कारण मारते है, कई भोगो मे रति (आसक्ति) के कारण मारते है, कई हसी, वैर और रति तीनो कारणो से मारते है, कई क्रुद्ध होकर मारते है, कई लुब्ध (आसक्त) होकर मारते है, कई मुग्ध (फिदा) होकर मारते है, कई क्रुद्ध, लुब्ध और मुग्ध होकर मारते है, कई अर्थ के निमित्त से मारते है, कई धर्म के नाम पर मारते है, कई कामभोग के लिए मारते है, कई अर्थ, धर्म और काम तीनो के निमित्त से मारते है।

व्याख्या

तीन बातें—प्रस्तुत सूत्रपाठ मे मुख्यतया तीन वातो पर प्रकाश डाला गया है—

(१) हिंसक जीवो के स्वभाव पर, (२) जिन जीवो की हिंसा की जाती है, उनके नामोल्लेख पर, (३) हिंसा के-कारण, प्रयोजन या निमित्त पर।

हिंसक जीवो का स्वभाव—हिंसाकर्त्ता जीवो के स्वभाव का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते है कि इस लोक और परलोक मे सर्वत्र दु ख देने वाली, अनेक भेद-प्रभेदयुक्त भयकर हिंसा मे वे ही प्रवृत्त होते है, जिनकी आत्मा पापानुवन्धी पापकर्म के उदय से रातदिन पाप मे ही मग्न रहती है, जो केवल इन्द्रियो और मन के ही गुलाम है, जिन्हे सयम (नियत्रण) नाम की कोई चीज नही सुहाती, पापकार्यो से विरत न होने के कारण जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, त्याग, तप, सुध्यान, भावना आदि से कोसो दूर रहते हैं, जिनके मन मे कभी शान्त परिणाम नही आते और उन अशान्त परिणामो के कारण जिनके मन, वचन और काया दुष्प्रवृत्तियो मे वेरोकटोक भटकते रहते है, इस कारण जो सदा अज्ञान, मोह और प्रमाद मे ग्रस्त रहते है।

हिंसा किए जाने वाले जीव—शास्त्रकार ने पञ्चेन्द्रिय से लेकर क्रमश एकेन्द्रिय तक के जीवो का नामोल्लेख करके स्पष्ट समझा दिया हे। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चजीवो मे स्थलचर (चतुष्पद, चौपाये), उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प, जलचर-मत्स्य आदि और खेचर-पक्षियो के क्रमश नाम खोल कर तथा चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, एव पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीवो का सामान्यतया उरलेख करके यह वता दिया है कि कोई भी व्यक्ति इस भ्रम मे न रहे कि हम पञ्चेन्द्रियो और उनमे भी मनुष्यो को ही इस ससार मे जीने का अधिकार है। मनुष्य के सिवाय अन्य सव

प्राणी मनुष्य के मौजशौक या वैषयिक सुख कामना की पूर्ति के लिए है। उन जीवो को भी जीने का अधिकार है। अपनी आत्मा के समान उन्हे भी सुख और दुःख का सवेदन होता है, उन्हे भी मरने का दु ख अतीव पीडा पहुचाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, इन एकेन्द्रिय प्राणियो मे चाहे चेतना सुषुप्त या मूर्च्छित हो, परन्तु है अवश्य। वैदिक धर्ममान्य स्मृतिशास्त्र मे भी इसे माना है—

'अन्त प्रज्ञा भवन्त्येते सुखदु खसमन्विता ।
शारीरजै कर्मदोषैर्यान्ति स्थावरता नर ॥'

'ये स्थावर जीव भी सुख और दु ख के सवेदन से युक्त और अन्तश्चेतना वाले होते हे। मनुष्य शरीरजन्य कर्म-दोषो के कारण स्थावर योनियो को प्राप्त करता है।'

मनुष्य ससार के सभी प्राणियो मे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ माना जाता है। उसकी ज्येष्ठता और श्रेष्ठता तभी सार्थक हो सकती है, जब वह अपने से निम्न और अविकसित चेतना वाले या अल्पविकसित चेतनाशील प्राणियो के प्रति करुणा, सहानुभूति, वत्सलता, और आत्मीयता का व्यवहार करे। यही कारण है कि शास्त्रकारो ने उन प्राणियो की दयनीयता का सजीव चित्र खीचकर ससार के श्रेष्ठ प्राणी—मनुष्य का ध्यान आकर्षित किया है कि "वे बेचारे अत्राण है, अशरण है, अनाथ है, अबाधव है, अपने पूर्वकृत कर्मों की बेडियो से जकड हुए है, मिथ्यात्ववश अकुशल परिणामी हैं, साधारण मदबुद्धि मानव इनके अस्तित्व की उपेक्षाकर देता है। इसी प्रकार तिर्यञ्च-पचेन्द्रिय (जलस्थलनभचारी) जीवो और विकलेन्द्रिय (दो-तीन-चार इन्द्रियो वाले) जीवो की भी दयनीयदशा का वर्णन करते हुए कहा है—इन्हे अपनी जिंदगी प्यारी हैं, ये मरने के दु ख के खिलाफ है, दीनहीन है और अनेक प्रकार के सक्लिष्ट कर्मों से बंधे हुए हैं।

समस्त ससारी जीवो का मोटे तौर से स्वरूप समझने के लिए हम नीचे एक तालिका दे रहे है—
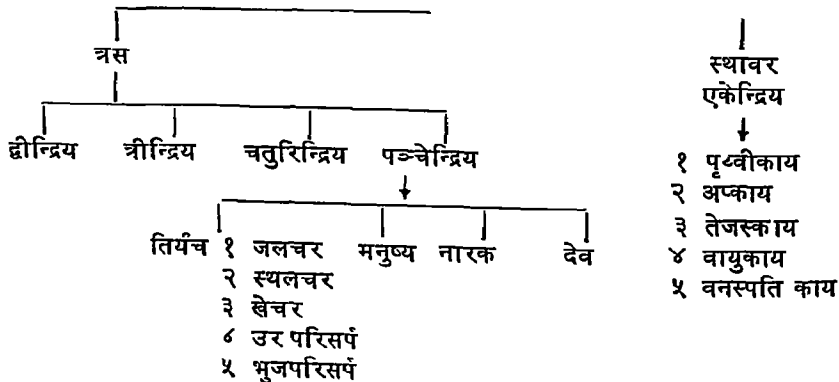
यद्यपि प्रस्तुत सूत्रपाठ मे तिर्यञ्चगति के एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवो के नाम गिनाये है, तथापि स्पष्ट समझने के लिए हम सक्षेप मे इनकी व्याख्या कर देते है—

तिर्यञ्चपचेन्द्रिय के ५ भेद ह—जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प ।

जलचर वे है, जो जल मे ही चलते है, स्थल पर जिनका जीवन टिक नही सकता, जल के सहारे से ही जो अपना जीवन टिकाते है। वे न आकाश मे उड सकते है, न स्थल पर चल सकते है । जैसे मछली, मगरमच्छ, घडियाल आदि जलचारी जन्तु ।

स्थलचर वे है, जो इस जमीन पर ही चल सकते हें, न वे उड सकते है और न वे जल मे चल सकते है, जैसे हाथी, घोडा, गधा, वैल, गाय, हिरण आदि चौपाये जानवर ।

उरपरिसर्प वे है, जो पेट के वल रेंग कर या सरककर चलते है, यद्यपि वे चलते जमीन पर ही है, किन्तु चौपाये जानवरो की तरह पैरो के वल नही चल सकते । जैसे अजगर, सर्प, महासर्प आदि । ये न आकाश मे उड सकते हैं, न जल मे चल सकते हैं । हाँ, कुछ साप तैर जरूर लेते है ।

भुजपरिसर्प वे है, जो भुजाओ के वल गति करते है । वे न तो उड सकते है, न जल मे चल सकते है । जैसे—चूहा, नेवला, गिरगिट, गिलहरी आदि । यद्यपि ये भी भूचर है, तथापि चौपाये जानवरो की तरह पैरो से नही चलते ।

खेचर वे है, जो आकाश मे या जमीन से ऊपर उड़ने वाले प्राणी है । यद्यपि ये जमीन पर उतरते है, टिकते है, परन्तु खासतौर से ये अपने पखो के वल पर आकाश मे उडते है । इसलिए इन्हे पक्षी कहा है । जैसे कवूतर, चिडिया, हस, वाज, कौआ, मोर, चकोर, तीतर आदि ।

ये पाँचो ही प्रकार के तिर्यञ्च पचेन्द्रिय कहलाते हैं ।

चतुरिन्द्रिय वे जीव है, जिनके स्पर्शनेन्द्रिय (शरीर-त्वचा),रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय ये चार इन्द्रियाँ हो । जैसे—भौरा, टिड्डी, मधुमक्खी आदि ।

त्रीन्द्रिय जीव वे है, जिनके स्पर्शन, रसन और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हो । जैसे—चीटी, मकोड़े, कीड़े आदि ।

द्वीन्द्रिय जीव वे है, जिनके स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय ये दो ही इन्द्रियाँ हो । जैसे—शख, सीप, अलसिया, लट आदि । पचेन्द्रिय से लेकर द्वीन्द्रिय तक त्रस जीव कहलाते हैं ।

एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके सिर्फ एक ही स्पर्शनेन्द्रिय हो । जैसे

पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और वनस्पति कायिक जीव। ये पांचो स्थावर[1] जीव कहलाते हे।

पृथ्वीकायिक जीव वे है, जिनका शरीर ही पृथ्वीमय है, पृथ्वी का ही वना हुआ है। जहाँ जैसा पृथ्वी का रग (रूप), रस (स्वाद), गध (खुशबू या वदबू), और स्पर्श होगा, वैसा और तद्रूप ही उन जीवो का शरीर होगा। जैसे—मिट्टी, मुरड, हिंगुल, हडताल, हिरमच, नमक, पत्थर, रत्न, मणिमाणिक्य, अभ्रक शिला आदि।

अप्कायिक जीव वे है, जिनका शरीर ही जलमय हे, जल का ही वना हुआ है। जहाँ जैसा जल का रग (रूप) गध, रस (स्वाद) और स्पर्श (ठडा या गर्म आदि) होगा वैसा और तद्रूप ही उन जीवो का शरीर होगा। जैसे कुए तालाव, वावडी, समुद्र, नदी, झरना, वरसात आदि का पानी।

तेजस्कायिक जीव वे हैं, जिनका शरीर ही अग्निमय है, अग्नि का ही वना हुआ है। अग्नि का रूप, गध और स्पर्श जहाँ जैसा होगा, वहाँ वैसा और तद्रूप ही उन जीवो का शरीर होगा। जैसे—आग, ज्वाला, अगारे, चिनगारी आदि।

वायुकायिक जीव वे है, जिनका शरीर ही वायुरूप है, हवा का ही वना हुआ है। वायु का वर्ण, गध, रस और स्पर्श जहाँ जैसा होगा, वहाँ उन जीवो का शरीर भी वैसा तद्रूप होगा। जैसे—उक्कलियावात, मडलियावात, घनवात, तनुवात, शुद्ध-वात आदि।

वनस्पतिकायिक जीव वे है, जिनका शरीर ही वनस्पतिमय है, वनस्पति का ही बना हुआ है। जहाँ जैसा भी रग (रूप), रस, (स्वाद), गध और स्पर्श होगा, वहाँ उन जीवो का शरीर भी वैसा और उसी रूप मे परिणत हो जायगा। जैसे विविध शाक, भाजी, फल, आम, नीम, जामुन आदि के पेड, पौधे, फूल, ईख, कपास, विविध प्रकार के धान्य, आदि।

ये पाचो एकेन्द्रिय और स्थावर जीव दो प्रकार के है— सूक्ष्म और वादर।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय वे है, जो काटे नही कटते, मारे नही मरते। वे अपनी आयु पूर्ण करके ही मरते है। इन्हे किसी आधार की आवश्यकता नही रहती। ये सारे लोक मे ठसाठस भरे हैं। इनका रास्ता कोई दीवार या प्रतिवन्ध रोक नही सकते।

वादर एकेन्द्रिय वे है, जो दूसरो को रोकते है, स्वय भी दूसरे से रोके जाते हैं, जो शस्त्र से कट सकते है।

वनस्पतिकायिक जीवो के इन भेदो के अलावा दो भेद और हैं—प्रत्येक वन-स्पतिकाय और साधारण वनस्पतिकाय। जो एक शरीर का एक ही स्वामी हो, वह **प्रत्येक वनस्पतिकाय** कहलाता है जैसे—फल, वीज, अन्न आदि। और जहाँ एक ही शरीर

---

१ इनका विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद मे देखें। —सपादक

मे अनन्त जीव रहते ह या एक शरीर के अनन्त जीव स्वामी ह, एक ही साथ जन्म लेते हैं, एक ही माथ मरते ह, एक ही साथ श्वासोच्छ्वास लेते ह, उन्हे साधारण वनस्पतिकाय कहते हें। जैसे—जमीकद, आलू, रतालु आदि। इसके अलावा पृथ्वीकाय आदि के जीवो के आश्रित बहुत मे जीव रहते ह, वे त्रस कहलाते ह। उनमे कई तो आँखो से दिखाई देते हैं, कई नही दिखाई देते। माईक्रॉसकोप आदि यन्त्रो या खुर्दवीनो से देखने पर वे चलते फिरते नजर आते हैं। जैसे जल के आश्रित फुआरे आदि, हवा के आश्रित कीटाणु, मिट्टी के आश्रित कीट, वनस्पति के आश्रित कीटाणु आदि।

जीवो के भेद और नाम बताने का प्रयोजन—कई लोग यह प्रश्न उठाते है कि यहाँ हिंसा के प्रकरण मे जीवो के भेद और नाम बताने की क्या आवश्यकता थी? इसके उत्तर मे ज्ञानी पुरुषो का कहना है कि जब तक कोई व्यक्ति जीवो का स्वरूप, उनके भेद और नाम, तथा उनके रहने के स्थान नही जान लेगा, तब तक वह उनकी हिंसा से कैसे विरत होगा? हिंसा और अहिंसा तो प्राणियो को लेकर ही होती है। जिसे इस ससार के चेतनाशील जीवो का पता नही, वह अपने जीवन की तरह दूसरो के अस्तित्व या जीवन को बचाने का प्रयत्न भी कैसे करेगा? जब वह जान जायगा कि इन प्राणियो मे भी मेरी ही तरह की-सी चेतना है, तभी वह इनकी हिंसा करने मे रुकेगा। दूसरी बात यह है कि जीव-अजीव के विवेक से रहित मूढ लोग किन-किन जीवो की कैसे-कैसे और किस-किस प्रयोजन से हिंसा कर बैठते है, यह बताने के लिए यहाँ जीवो के स्वरूप, भेद और नाम बताना शास्त्रकार को अभीष्ट है। तीसरी बात यह है कि कई प्राचीन मतवादी गाय आदि मे आत्मा नही मानते थे, वे कहते थे—Cow has no soul (गाय मे आत्मा नही होती।), इसी प्रकार आज भी बगाल आदि प्रान्तो मे मछली को जलतरोई मानकर उसके खाने से कोई परहेज नही करते, चीनी लोग तो कई जलजन्तुओ को कच्चे ही चबा जाते हैं तथा जैन सिद्धान्तो से अनभिज्ञ अन्य धर्म सम्प्रदाय के बहुत-से लोग मिट्टी, पानी, हवा, अग्नि, वनस्पति आदि मे चेतना या जीवन नही मानते, उन्हे स्पष्ट रूप से बताने के लिए भी त्रस की तरह स्थावर जीवो का वर्णन करना आवश्यक था।

जीव का लक्षण और उनमे चेतना का प्रमाण—'उवओगलक्खणो जीवो'—जिसमे उपयोग हो यानी ज्ञान और दर्शन का उपयोग हो, जानने और विशेष प्रकार से देखने—चिन्तनपूर्वक जानने की शक्ति हो, जिसे सुख और दु ख का सवेदन होता हो उसे जीव कहते है। प्रत्येक जीव मे चाहे वह सूक्ष्म से सूक्ष्म निगोद का ही जीव क्यो न हो, चेतना विद्यमान रहती है। उसी चेतना के कारण उसमे प्राण टिकते है, शरीर के अगोपाग, इन्द्रियाँ और मन काम करते है। यह बात दूसरी है कि किसी जीव मे चेतना अव्यक्त व सुपुप्त होती है, किसी मे कुछ कम जागृत होती हे, किसी मे विशेष जागृत होती है। यह तो चेतना के अल्प विकास और अधिक विकास का अन्तर है।

बढा है। इसके बाद तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय मे पाचो इन्द्रिया होने से जो सज्ञी (समनस्क) है, उनमे दसो ही प्राण होने से उनकी चेतना पहले के चारो कोटि के जीवो से अधिकतम विकसित होती है। जिसकी चेतना जितनी अधिक विकसित होती है, उसे सुख और दुःख का सवेदन उतना ही अधिक होता है, और निम्न कोटि के जीवो की अपेक्षा उनमे ज्ञान, समझ व अपने हिताहित को पहिचानने की बुद्धि अधिकतम होती है।

जिन जीवो की चेतना जितनी अधिक विकसित होती है, उनकी हिंसा करने मे हिसाकर्ता मे क्रूरता उतनी ही ज्यादा होती है, इसलिए उसकी हिंसा से पाप कर्म का बध भी प्रबल होता है। कहने का मतलब यह है कि एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीवो की हिंसा मे पाप कर्म का बन्ध अधिक, त्रीन्द्रिय की हिंसा मे उससे अधिक, और चतुरिन्द्रिय जीवो की हिसा मे उससे भी अधिक पाप कर्म का बन्ध होता है, तथा पञ्चेन्द्रिय जीवो की हिंसा मे अधिकतम पाप कर्म का बन्ध होता है। इसका अर्थ यह नही है *कि एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा से पाप कर्म का बन्ध नही होता। हिंसा की तीव्रता-मन्दता* जीवो की चेतना के तीव्र मन्द विकास पर और हिंसाकर्ता के परिणामो की तीव्रता-मन्दता पर निर्भर है।

प्राणिवध करने के प्रयोजनो या कारणो पर विचार—शास्त्रकार ने मूलपाठ मे पचेन्द्रिय से एकेन्द्रिय तक के जीवो की हिंसा के जिन-जिन प्रयोजनो पर प्रकाश डाला है, वे तो स्पष्ट है। खासतौर से पञ्चेन्द्रिय प्राणियो की हिंसा चमडे, मास आदि के लिए होती है, विकलेन्द्रिय जीवो की हिंसा शरीर, वस्त्र, घर आदि विविध वस्तुओ को सुशोभित करने या कई दवाइयाँ बनाने आदि के लिए की जाती है, और एकेन्द्रिय जीवो का हिंसा खान पान, शय्या, वस्त्र, जीवनोपयोगी विवध साधनो, मकानात बनाने एव खेती, व्यापार आदि धधो मे या बाग बगीचे आदि के निमित्त से की जाती है।

हिंसा के प्रयोजनो या कारणो के बताने का उद्देश्य यही है कि मानव इन कारणो से जहाँ तक हो सके दूर रहे, इनसे बचने की कोशिश करे, कम से कम आवश्यकताओ से काम चलाए, अत्यन्त सात्त्विक और सादा जीवन बिताए, जीवननिर्वाह के साधनो मे कटौती करे। क्योकि जीवन मे जितनी अधिक हिंसा बढेगी, उतना ही उसके अपने लिए दुःख की परम्परा बढेगी, आत्मा की उन्नति मे उतने ही विघ्न बढेगे, भविष्य मे हिंसा की उस अधिकता के फलस्वरूप विकास प्राप्त होने का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। सच कहे तो वह हिंसा उन जीवो की हिंसा नही, एक तरह से अपनी ही आत्महिंसा होगी। परन्तु मनुष्य की बुद्धि पर आज भौतिकवाद एव स्वार्थ का पर्दा पड जाने के कारण वह अधाधुध प्रवृत्ति करता है, हिंसा-अहिंसा का कोई विचार नही करता, दूसरे प्राणियो की जिदगियो का खयाल ही प्राय नही करता, अपने सुख साधनो को जुटाने के लिए वह दूसरो के सुखो की परवाह नही करता। इस प्रकार की आपा-

धापी मे उसे विवेक का प्रकाश देने वाले शास्त्र के पाठ कितने उपकारी होते है। अज्ञानी जीवो द्वारा अपनी छोटी-सी जिदगी के लिए या थोडे-से जीने के लिए दूसरे सुखाभिलापी प्राणियो पर किन-किन अधम प्रयोजन वश कहर वरसाया जाता है, उनके प्राणो को लूटा-खसोटा जाता है, इसका कच्चा चिट्ठा शास्त्रकार ने मूलपाठ मे खोलकर रख दिया हे।

पञ्चेन्द्रिय प्राणियो का वध करने का सर्वप्रथम प्रयोजन चमडा हे। आजकल चमडे का व्यापार व आयात-निर्यात हद से ज्यादा वढ गया है। इसके लिए वडे-वडे अद्यतन मशीनो वाले कत्लखाने खोले जाते ह, जिनमे प्रतिदिन हजारो की सख्या मे पशु निर्दयतापूर्वक काटे जाते है। उनका चमडा विदेशो मे जाता हे अथवा देश मे चमडे की चीजे वनाने के कारखानो मे जाता है। वहाँ चमडे के वूट, वटुए, सूटकेश, मोजे, ओवरकोट, पट्टे, कमरवद, घडी के पट्टे, आदि विविध लुभावनी वस्तुएँ वनकर वाजारो मे आती हे। भोले भाले ग्राहक उन चमचमाती हुई चीजो को देखकर खुश होकर खरीदते ह। वे यह नही सोचते कि चमडे की इन वस्तुओ के वनाने मे चमडा कहाँ से और कैसे आया है? वल्कि कई वार तो गर्भवती भेड वकरियो को कत्ल करके उनके वच्चो को वेरहमी से मार कर मुलायम चमडा प्राप्त किया जाता हे, जिसे कुमलेदर व काफलेदर कहते हे। उस मुलायम चमडे की वनी वस्तुएँ कई मूढ ग्राहक खुश होकर खरीदते हें। इसी प्रकार मृगछाला या वाघवर के लिए हिरण व वाघ को मारा जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने सवसे पहले चमडे के लिए भयकर हिंसा का जिक्र किया है।

चर्वी के लिए आजकल वडे शहरो मे पशुओ को कत्ल किया जाता है। वह चर्वी मशीनो के पट्टो पर लगाई जाती हे। कपडो को फाइन वनाने के लिए चर्वी की पालिश की जाती हे। सावुन वनाने मे भी चर्वी का इस्तेमाल होता है। यही नही, घी के वदले आजकल वडे-वडे शहरो मे चर्वी को तपा कर उसे टीन मे जमा कर वेचा जाता है। पता नही, लोग इसके पीछे होने वाले पचेन्द्रियवध को क्यो नही सोचते! कई दवाइयो मे भी चर्वी पडने लगी ह।

यही हाल मासाहार का हे। पहले की अपेक्षा अव लोग मास खाने के शौकीन ज्यादा होते जा रहे है। अडो को तो निर्जीव मानने ओर आम्र के समान समझकर धडल्ले से खाने लग गये हे। अडा किसी पेड का फल नही है और न जमीन मे ही पैदा होता है। है वह मुर्गी के पेट का ही वच्चा और पचेन्द्रिय जीव। अडा निर्जीव होता तो मुर्गी के पेट मे आता ही कैसे? है तो वह सजीव ही। हा, यह हो सकता हे कि उसको हिलाने वगैरह से जीव च्युत हो गया हो। परन्तु है वह मुर्गी के रज, रस, रक्त आदि मे उत्पन्न, घिनौना पदार्थ ही! मासभोजियो की सख्या वढने से कत्लखाने वढते

जा रहे है। इससे अन्न की बचत होती हो, यह बात भी नही दिखाई देती। मासभोजी मास तो जिह्वा की तृप्ति के लिए खाते है, उधर अन्न भी उतना ही खाते है। मत्स्याहार भी बढता जा रहा है। इस पचेन्द्रिय वध का अभिशाप यह हुआ है कि भारत मे दुधारु पशुओ की सख्या दिन-ब-दिन कम होती जा रही है, प्राय नि सत्त्व, निर्बल और रजोतमोगुणी सतान पैदा होती जाती है।

रक्त का भी उपयोग काफी मात्रा मे बढ गया है। कई लोग अपने शरीर को मजबूत और ताकतवर बनाने के लिए बदर का खून चढवाते है। कई जगह रक्त का पेय पदार्थ की तरह उपयोग होता है। वस्त्रादि रगने मे भी उसका उपयोग कही कही होता है। मोरिस मे आने वाली शक्कर या चीनी खून से साफ की जाती थी, ऐसा सुनने मे आया है। कई दवाइयो या इजेक्शनो मे रक्त का मिश्रण किया जाता है।

इसी प्रकार हड्डी, जिगर, फेफडे, मस्तिष्क, हृदय, आते, पित्त, मज्जा, नख, आँखे, कान, नसे, दात, दाढ, नाक, नाडियाँ, सीग, पख, विप, हाथीदात और केशो के लिए भी निर्दोप पचेन्द्रिय जीवो का वध किया जाता है। जैसे हाथ के चूडे वगैरह बनाने के हेतु हाथीदात के लिए हाथी को घेरा जाता है,उसे फसाया जाता है, और मारा जाता है। केशो के लिए सूअर, चमरी गाय आदि का, सीगो की वस्तु बटन आदि के लिए हिरनो का, विप के लिए सापो का वध कर देते है। पखो के लिए अनेक रगविरगे पक्षियो का, पिच्छो के लिए मोर का, पित्त के लिए गाय का, इत्यादि विविध प्रयोजनो के लिए हिसक लोग प्राणिवध करते हैं।

रसलोलुप लोग चतुरिन्द्रिय प्राणी—भौरो और मधुमक्खियो का नाश कर देते हैं, वे शहद पाने के लिए ही ऐसा करते है। एक छत्ते मे से शहद लेने मे अनेक मधुमक्खियो का घात हो जाता है।

शरीर को सस्कारित करने के लिए कई लोग त्रीन्द्रिय जीवो का घात करते है। रेशमी वस्त्र बनाने के लिए शहतूत के कीडे आदि का वध किया जाता है। वस्त्रादि को रगने, पालिश करने आदि के लिए भी त्रीन्द्रिय जीवो का वध होता है।

इसी प्रकार मदबुद्धि लोग बाग, बावडी घर, मडप, भवन, बाजार, अटारी, पुल, स्तूप, मठ, विहार, आश्रम, द्वार आदि बनाने के लिए पृथ्वीकायिक जीवो की हिंसा करत है, स्नानादि कार्यो के लिए अप्काय के जीवो का, पकाने-पकवाने, जलाने, उजाला करने आदि कार्यो के लिए अग्निकायिक जीवो का घात करते है, सूप, पखे, वस्त्र, हथेली, वस्त्र आदि से वायुकायिक जीवो का वध करते है, तथा विविध भोजन, मडप, तोरण, भवन, बैलगाडी, छोटी सवारी, रथ आदि बनाने के लिए वनस्पतिकायिक जीवो का सहार होता है।

यद्यपि गृहस्थ, चाहे वह व्रतधारी श्रावक भी हो, एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा से सर्वथा विरत नही हो सकता। उसको अपनी गृहस्थी चलाने के लिए मकान वगैरह

वनाना पडता हे, अनाज भी सग्रह रखना पडता हे, भोजनादि भी करना पडता हे तथापि गृहस्थ इसमे सकल्पजा हिसा का सर्वथा त्याग करता हे और आरम्भजा आदि मे विवेक रखता हे।

हिंसा के पीछे प्रेरणा—शास्त्रकार आगे यह वताते है कि वे मदवुद्धि अज्ञानी जीव जो हिंसा करते है, उसके पीछे क्या-क्या प्रेरणा गर्भित है? वे दृढमूढ और भयकर वुद्धि के लोग क्रोध से, मान से, माया से,लोभ से, हसी से, रति-अरति से, शोक से, कामवासना से, धर्म, अर्थ, काम और जीवनरक्षा से प्रेरित होकर त्रसस्थावर जीवो का घात करते है।

हिंसा किस परिस्थिति मे करते है?—वे मदवुद्धि लोग किस परिस्थितिवश हिंसा करते है, यह सूत्रपाठ के अन्त मे वताया गया हे—"कभी स्वाधीन, कभी विवश, कभी स्वाधीन भी पराधीन भी दोनो परिस्थितियो मे, कभी प्रयोजनवश, कभी निष्प्रयोजन, कभी वैरवश, कभी हास्यवश, कभी रतिवश होकर, कभी इन तीनो के वश होकर, कभी क्रुद्ध होकर, कभी लुब्ध होकर, कभी मुग्ध होकर, कभी तीनो ही हालतो मे, कभी अर्थ के कारण, कभी तथाकथित धर्मक्रिया के कारण, कभी काम के कारण, कभी धर्म, अर्थ और काम तीनो के कारण प्राणवध करते ह।

इस प्रकार इस सूत्रपाठ मे कैसा व्यक्ति, किन-किन जीवो की, किन-किन प्रयोजनो व कारणो से एव किससे प्रेरित होकर, किस परिस्थिति मे हिसा करता हे? यह सारी वाते स्पष्ट करदी हे।

'पुण' और 'च' शव्द—सूत्रपाठ मे जो 'पुण' शव्द हे, वह केवल उच्चारण के लिए है और जितने भी 'य' शव्द है, वे सव समुच्चयार्थक ह।

हिंसा के कर्ता और दुष्परिणाम

तृतीय द्वार मे हिंसा किन-किन जीवो की, किन-किन कारणो से की जानी ह? यह वता दिया। अव चौथे द्वार मे कौन-कौन व्यक्ति हिसा करते ह और हिंसा का क्या-क्या फल होता है, इसका विस्तृत वर्णन करते ह —

मूलपाठ

कयरे ते? जे ते सोयरिया मच्छवधा साउणिया वाहा कूरकम्मा, वाउरिया दीवित-वधणप्पओग-तप्पगलजाल-वोरल्लगायसीदब्भवाग्गुराकूडछेलिया (छेल्लि) - हत्था हरिएसा, साउणिया य वीदसगपासहत्था वणचरगा लुद्धगा महुघाया पोतघाया एणीयारा पोसणीयारा सर-दह-दीहिअ-तलाग-पल्लल-

परिगालण-मलण-सोत्तबंधण - सलिलासयसोसगा विसगरस्स य दायगा उत्तणवल्लर-दवग्गिणिद्दय-पलीवगा कूरकम्मकारी इमे य बहवे मिलक्खुजातीया। के ते ? सक-जवण-सवर-वब्बर-गाय - मुरुडोद-भडग- तित्तिय - पक्कणिय - कुलक्ख-गोड-सीहल-पारस-कोंचध-दविल-बिल्लल-पुलिंद-अरोस-डोब-पोक्कण-गंधहारग-बहलीय - जल्ल- रोम- मास- बउस- मलया- चुंचुया य चूलिया-कोंकणगा (ग)-कणग-सेय-मेता (मेत)-पण्हव - मालव - महुअर-आभासिय-अणक्ख (क्क)- चीण - ल्हासिय-खस - खासिया-नेहुर-(नेट्ठुर) - मरहट्ठ-मुट्ठिअ-आरब - डोबिलग - कुहण-केकय-हूण-रोमग-रुरु-मरुया (गा)-चिलाय-विसयवासी य पावमतिणो।

जलयर - थलयर - सणप्फतोरग - खहचर - सडासतोंड-जीवोवघायजीवी सण्णी य असण्णिणो य पज्जत्ते अपज्जत्ते य असुभलेसपरिणामे एते अण्णे य एवमादी करेंति पाणाइवायकरणं।

पावा पावभिगमा (पावमई) पावरुई पाणवहकयरती पाणवहरूवाणुट्ठाणा पाणवहकहासु अभिरमता तुट्ठा पाव करेत्तु (सु) होंति य बहुप्पगारं।

तस्स य पावस्स फलविवाग अयाणमाणा वड्ढंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकालबहुदुक्खसंकडं नरयतिरिक्खजोणिं। इओ आउक्खए चुया असुभकम्मबहुला उववज्जति नरएसु हुलिय (त) महालएसु वयरामय-कुड्ड-रुद-निस्सधि-दारविरहिय-निमद्दव-भूमितल-खरामरिम-विसमणिरयघरचारएसु महोसिण-सया-पतत्त-दुग्गंध-विस्म - उव्वेयजणगेसु वीभच्छदरिसणिज्जेसु य निच्चं हिमपडलसीयलेसु कालोभासेसु य भीमगंभीरलोम - हरिसणेसु, णिरभिरामेसु निप्पडियारवाहिरोगजरापीलिएसु अतीवनिच्चं-धकारतिमिस्सेसु पतिभएसु ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसेसु मेय-

वसा-मसपडल-पोच्चड-पूय -रुहिरुक्किण्ण-विलीण-चिक्कणरसिया-वावण्णकुहियचिक्खल्लकद्दमेसु कुकूलानल-पलित्तजालमुम्मुर-असिक्खुरकरवत्तधारासुनिसियविच्छुयडकविनिवातोवम्मफरिस-अतिदुस्सहेसु य अत्ताणाऽसरणकडुयदुक्खपरितावणेसु अणुबद्ध-निरतरवेयणेसु जमपुरिससकुलेसु ।

तत्थ य अतोमुहुत्तलद्धिभवपच्चएण निव्वत्तेनि उ ते सरीर हुड वीभच्छदरिसणिज्ज बीहणग अट्ठिण्हारुणहरोमवज्जिय असुभग दुक्खविसह, तत्तो य पज्जत्तिमुवगया इदिएहि पचहि वेदेति वेदण असुहाए वेयणाए उज्ज लबलविउल-कक्खड-खरफरुस-पयड-घोर-वीहणगदारुणाए, कि ते ? कदुमहाकुभिए पयण-पउलण-तवग-तलण-भट्ठ-भज्जणाणि य लोहकडाहुक्कड्ढणाणि य कोट्टवलिकरणकोट्टणाणि य सामलितिक्खग्ग-लोहकटक-अभि-सरणापसारणाणि फालणविदारणाणि य अवकोडगवधणाणि लट्ठिसयतालणाणि य गलगबलुल्लंबणाणि सूलग्गभेयणाणि य आएस-पवचणाणि खिसणविमाणणाणि विघुट्ठपणिज्जणाणि वज्झसय-मातिकाणि य एव ते ॥

संस्कृत-छाया

कतरे ते ? ये ते शौकरिका मत्स्यबन्धा शाकुनिका व्याधाः क्रूर-कर्म्माणो, वागुरिका द्वीपिक-बन्धनप्रयोग-तत्प्रगलजाल-वीरल्लका (श्येना)ऽऽयसी दर्भवागुरा कूटछेलिकाहस्ता हरिकेशा ,शाकुनिकाश्च विदंशकपाशहस्ता वनचरका लुब्धका मधुघाता पोतघाता एणीचारा पोपणीचारा (प्रैणीचारा) सरोह्रद-दीर्घिका- तडाग- पल्वल-परिगालन- मलन-स्रोतोवधन-सलिलाशय-शोपका,विषगरलस्य चदायका उत्तृणवल्लरदवाग्निनिर्दयप्रदीपका क्रूरकर्म्म-कारिण इमे च वहवो म्लेच्छजातीया , के ते ? शक-यवन-शवर-वर्व्वर-काय-मुरुडोट-भद्रक-तित्तिक-पक्वणिक-कुलाक्ष-गौड-सिंहल-पारस-क्रौंच-अन्ध-द्रविड-विल्वल-पुलिंद-अरोष-डोब-पोक्कण-गधहारक-वहलीक-जल्ल-रोम-मास (ष)-वकुश-मलयाश्चुञ्चुकाश्च चूलिका कोकणका कनका सेत-मेद-पह्लव-मालव-मधुकर-आभाषिक-अणक्क (नक्ष)-चीन-ल्हासिक-खस-खासिका-नेहर-

(निष्ठुर)-महाराष्ट्र-मौष्टिक आरब-डो (डु) बिलक-कुहण (कुहुण)-केकय-हूण-रोमक-रुरु-मरुकाश्चिलातविषयवासिनश्च पापमतय ।

जलचर- स्थलचर- सनखपदोरग-खेचर-सदश-तुण्डजीवोपघातजीविन. सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिनश्च पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चाशुभलेश्यापरिणामा एते अन्ये चैवमादय' कुर्वन्ति प्राणातिपातकरणम् ।

पापा पापाभिगमा (पापमतय) पापरुचय. प्राणवधकृतरतिकाः प्राणवधरूपानुष्ठाना प्राणवधकथासु अभिरममाणास्तुष्टा पाप कृत्वा (सुखमिति) भवन्ति च बहुप्रकारम् ।

तस्य च पापस्य फलविपाकमजानन्तो वर्धयन्ति महाभयामविश्राम-वेदना दीर्घकालबहुदु खसकटा नरकतिर्यङ्चयोनिम् । इत आयु क्षये च्युता अशुभकर्मबहुला उत्पद्यन्ते नरकेषु त्वरित महालयेषु वज्रमय-कुड्य-रुन्द-निस्सन्धि-द्वारविरहित-निर्मार्दव-भूमितल-खरामर्श-विषम - निरयगृहचारकेषु महोष्ण-सदाप्रतप्त-दुर्गन्ध-विश्रोद्वेगजनकेषु बीभत्सदर्शनीयेषु च नित्य हिम-पटलशीतलेषु कालावभासेषु च भीमगम्भीरलोमहर्षणेषु निरभिरामेषु निष्प्रतीकारव्याधिरोगजरापीडितेषु अतीवनित्यान्धकारतिमिस्रेषु प्रतिभयेषु व्यपगत-ग्रह-चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र-ज्योतिष्केषु मेदो-वसा-मासपटलातिनिविडपूय-(त) रुधिरोत्कीर्णविलीनचिक्कणरसिका - व्यापन्न - कुथित-चिक्खिलकर्दमेषु कुकूलानलप्रदीप्तज्वाला - मुर्मुराऽसिक्षुर -करपत्रधारासुनिशितवृश्चिकदश-विनिपातौपम्य स्पर्शातिदु सहेषु च अत्राणाशरणकटुकदु खपरितापनेषु अनुबद्ध-निरन्तरवेदनेषु यमपुरुषसकुलेषु ।

तत्र चान्तर्मुहूर्त्तलब्धिभवप्रत्ययेन निर्वर्त्तयन्ति तु ते शरीर हुण्ड बीभत्सदर्शनीय भापनकमस्थिस्नायुनखरोमवर्ज्जितमशुभक दु खविषह, ततश्च पर्याप्तिमुपगता इन्द्रियै पञ्चभिर्वेदयन्ति वेदना अशुभया वेदनया-उज्ज्वलबल-विपुल-कर्कश-खरस्पर्श प्रचण्ड-घोरभीषणकदारुणया, कि तत् ? कन्दु-महाकुम्भो-पचन-प्रज्वलन-तपक-तलन-भ्राष्ट्रभर्जनानि च लोहकटाहो-त्क्वथनानि च कोट्ट (क्रीडा) बलिकरणकोट्टनानि, शाल्मलितीक्ष्णाग्रलोह-कटकाभिसरणापसरणानि स्फाटनविदारणानि च अवकोट्ट (ट) कबन्धनानि यष्टिशतताडनानि च गलकबलोल्लबनानि (ल्लुठनानि) शूलाग्रभेदनानि च आदेशप्रव (प) चनानि खिसनविमाननानि विघुष्टप्रणयनानि वध्यशतमातृ-काणि चैव ते ।

पदार्थान्वय—(ते) वे हिंसक (कयरे) कौन-कौन हैं ?, (जे) जो हिंसक है, (ते) वे आगे कहे अनुसार हैं—(सोयरिया) सूअर का शिकार करने वाले, (मच्छवधा)

मछलियो को जाल मे पकडने वाले मच्छीमार-धीवर, (साउणिया) पक्षियो का शिकार करने वाले—वहेलिये, (वाहा) व्याध—हिरणो का शिकार करने वाले, (कूरकम्मा) क्रूर कर्म करने वाले, (दीवियवधणप्पओग-तप्पगल-जाल-वीरल्लगायसी-दब्भवागुरा-कूडछेलियहत्था हरिएसा) ऐसे चाण्डालविशेष जो चीतो को साथ मे रखकर हिरनो को मारने के लिए वधनो का प्रयोग करते हैं, मछलियो को पकडने के लिए छोटी नाव, वसी—जिसके मु ह पर लोहे का काटा लगा रहता है, तथा जाल रखते हैं, जो वाज आदि पक्षियो या मृग आदि को मारने के लिए लोह का या नारियल की जटा (दर्भ) का वना हुआ फदा या गुलेल आदि रखते हे, और सिंह आदि हिंस्र जानवरो को पकडने के लिए जो हाथ मे नकली वकरी आदि छलपूर्वक रखते हैं, (य) तथा (वीदसगपासहत्था) जिस वाज आदि एक पक्षी से अन्य पक्षी पकड लिये जाते हैं, ऐसा जाल हाथ मे रखने वाले, (वणचरगा) भील आदि वनचर, (लुद्धया) व्याध-शिकारी, (महुघाया) शहद के लिए छत्तो को नष्ट कर मधुमक्खियो का घात करने वाले, (पोतघाया) पक्षियो के छोटे-छोटे वच्चो का घात करने वाले, (एणीयारा) हिरनो को पकडने के लिए हिरनी को साथ मे लिए घूमने वाले (पोसणीयारा) हिरनो को पालने वाले, (सर-दह-दीहिअ-तलाग-पल्लल-परिगालण-मलण-सोत्तवधण-सलिलासयसोसगा) सरोवर, झील, वावडी, वडा तालाव और तलैया का शख, सीप, मछली आदि की प्राप्ति के लिए जल निकाल कर, जल का मर्दन कर, जल का प्रवेश रोक कर-यानी वाध या पाल वाधकर जलाशयो को सुखाने वाले, (विसगरस्स दायगा) विप या काल-कूट, अथवा दूसरे द्रव्य के साथ मिला हुआ विप देने वाले, (उत्तण वल्लरदवग्गिणिद्दयपलीवगा) ताजी उगी हुई हरी घास के खेतो को निर्दयता-पूर्वक दावाग्नि लगा कर जला डालने वाले (कूरकम्मकारी) क्रूर कर्म करने वाले (य) और (वहवे) वहुत से (मिलक्खुजातीया) म्लेच्छ जाति के लोग, (ते) वे (के) कौन-कौन हैं ? वे निम्नोक्त प्रकार के है—(सक-जवण-सबर-वव्वर-काय-मुरु डोद-भडग-तित्तिय-पक्कणिय-कुलक्ख-गोड-सीहल-पारस - कोंचध-दविल-विल्लल-पुलिंद-अरोस-डोव-पोक्कण-गधहारक-वहलीय-जल्ल-रोम-मास-वउस-मलया) शक (टर्की निवासी), यवन (जावा द्वीप के), शवर (भील जाति के), वर्वर (अफ्रीका आदि के नरभक्षी लोग अथवा वारवरी) काय, मुरुण्ड, उद, भडग, तित्तिक (तातार), पक्वणिका (शवरी से पैदा हुए) कुलाक्ष, गौड (उडीसा के गौड देशीय), सिंहल (लका वासी), पारस (फारसी), क्रौंच (जर्मन), अन्ध (आन्ध्रवासी), द्राविड (तामिलनाडवासी), विल्वल, पुलीन्द्र, अरोप (रूसी), डोव (डोम-चाडाल), पोक्कण, खधारदेशवासी (काबुलवासी), वहलीक, (वाली द्वीप के), जल्ल, रोम (रोमन), मास या माप, वकुश, मलय (मलावार के) (य) और चु चुया) चुञ्चुक, (चूलिया) चूलिक, (कोंकणगा) कोंकण देश के,(सेय-मेता)

श्वेत रग के सेत, मेद (मेवाड या मेद देश के), (पण्हव-मालव-महुअर-आभासिय-अणवक (क्ख)-चीण-ल्हासिय-खस-खासिया) पह्लव-(पश्तोभाषी पेशावरी), मालव देश के, मधुकर, आभाषिक, अनक्ष या अणवक (छोटी नाक वाले), चीनी, ल्हासिक (ल्हासा-तिब्बत के निवासी), खस (ईरानी), खासिक (खासी जाति के लोग), (नेहर-निट्ठुर-मरहट्ठ-मुट्ठिअ-आरब-डोबिलग-कुहण - केकय-हूण-रोमग-रुरु-मरुगा) नेहर (चेरापुजी वासी) (निट्ठुर=निष्ठुर), महाराष्ट्रीयन), मोष्टिक, आरब (अरब देश के), डोब्लिक, कुहण (कोहकाफ पर्वतीय अथवा फ्रासवासी), केकय (हिरात), हूण (यूनानी), रोमक (रोमवासी), रुरु, मरुक (रेगिस्तानी (य) और (चिलाय विसयवासी) किरात या म्लेच्छ देश के निवासी (पावमतिणो) वे पापबुद्धि वाले लोग तथा (जलयर-थलयर-सणफतोरग-खहचर-सडासतोडजीवोवघायजीवी) जलचर, स्थलचर (चोपाये जानवर, मनुष्य आदि), नखसहित पैर वाले-सिह आदि, पेट के बल चलने वाले सर्प आदि तथा खेचर (उडने वाले पक्षी आदि), और सडासी के समान मुख वाले पक्षी आदि, इन सब जीवो का घात करके अपनी जीविका करने वाले (सण्णी) जिनका मन दीर्घकाल से सज्ञाओ मे परिणत है, इस प्रकार के सज्ञी (य) और (असण्णिणो) सज्ञी से भिन्न, (पज्जत्ता) पर्याप्ति वाले, (य) और (अपज्जत्ता) अपर्याप्तक (असुभलेस्स परिणामा) अशुभ लेश्याओ और अशुभ परिणामो वाले, (एते) ये (य) और (एवमादी) इसी प्रकार के, (अण्णे) दूसरे, (पापा) पापी, (पावाभिगमा) पाप को उपादेय मानने वाले, (पावमई) जिनकी बुद्धि पाप मे ही रत है, (पावरुई) जिनकी रुचि पाप मे ही है, (पाणवहकयरती) जिनकी प्राणिवध मे ही प्रीति लगी हुई है, (पाणवहरूवाणुट्ठाणा) जिनके सब कार्य प्राणिवधरूप है, (पाणवहकहासु अभिरमता) प्राणिवध (शिकार, कत्ल, हत्या, सहार आदि) की कथाओ-कहानियो मे आनद मानने वाले, (पाव) प्राणवधरूप पाप को, (करेत्तु) करके (वहुप्पगार) अनेक तरह से, (तुट्ठा) सतुष्ट (होति) होते हैं। [अथवा प्राणवधरूप पाप करते-कराते देखकर सुख मानते हुए बहुत प्रकार की जीववध की क्रियाओ के करने-कराने मे खुश रहते हैं], (पाणाइवायकरण) प्राणिवधरूप क्रिया, (करेंति) करते हे।

(य) और (तस्स) उस (पावस्स) पाप के (फलविवाग) फलविपाक को, (अयाणमाणा) नहीं जानते हुए (महब्भय) अत्यन्त भयावनी, (अविस्सामवेयण) निरतर वेदना वाली, (दीहकालवहुदुक्खसकड), चिरकाल तक अनेक दु खो से व्याप्त, (नरयतिरिक्ख जोणि) नरकयोनि तथा तिर्यचयोनि को, (वड्ढेंति) वढाते है। (इओ) यहाँ से, (आउक्खए) आयु के क्षय होने पर (चुया) च्युत होकर-मरकर, (असुभकम्म-वहुला) अधिक अशुभ कर्मो वाले वे जीव (हुलित) शीघ्र (महालएसु) अतिविस्तीर्ण क्षेत्रो वाले या अत्यन्त दीर्घ आयुष्य वाले, (नरएसु) नरको मे (उववज्जति) उत्पन्न

होते हैं, (वयरामय-कुड्ड-रु द-निस्संधि-दारविरहिय-निमद्दव - भूमितल - खरामरिस-विसमणिरयघरच्चारएसु) जिन नरकगृह रूपी वदीघरो-नारकीय जीवो के उत्पत्ति स्थानो की दीवारें वज्रमय हैं, विस्तीर्ण हैं, द्वाररहित हैं, जहाँ का भूमितल वडा ही कठोर है, उसका स्पर्श भी अत्यन्त खुरदरा है, तथा जो ऊवड-खावड है (महोसिण-सयापतत्त-दुग्गध-विस्सउव्वेय-जणगेसु) जो नरकावास वडे ही उष्ण (गर्म) हैं, सदा अत्यन्त तपे रहते हैं, भयकर दुर्गन्ध से सडे रहते हैं और उद्वेगजनक है, (बीभच्छ-दरिसणिज्जेसु) जो देखने मे अत्यन्त वीभत्स (घृणाजनक) हैं, (णिच्च हिमपडलसीयलेसु) जो हमेशा वर्फ की चट्टान के समान ठडे हे, (कालोभासेसु) जो काली प्रभा वाले हैं (य) और (भीमगभीरलोमहरिसणिज्जेसु) भयकर और गभीर होने से रोमाच पैदा कर देने वाले हैं (णिरभिरामेसु) जो अत्यन्त असुन्दर-कुरूप हैं, (निप्पडियार-वाहिरोगजरापीलिएसु) जहाँ असाध्य कोढ आदि व्याधियो तथा शूल आदि रोगो एव वुढापे से लोग पीडित रहते हैं, (अतीव निच्चधकारतिमिस्सेसु) जो नित्य गाढ अन्धकार-समूह से घिरे रहते है, (पतिभएसु) जहाँ प्रत्येक प्राणी या वस्तु से भय ही भय वना रहता है, (ववगयगह चद सूर णक्खत्तजोइसेसु) जहाँ ग्रह, नक्षत्र, तारे, चन्द्रमा और सूर्य नहीं हैं, (मेय-वसा-मसपडल-पोच्चडपूय-रुहिरुक्किण्ण-विलीण-चिक्कण-रसियावावण्णकुहिय चिक्खलकद्दमेसु) जहाँ मेद, चर्वी, मास के ढेर तथा अत्यन्त घने पीप और रक्त से सने हुए और फैले हुए चिकने घिनौने शरीर के रसविशेष से विगड़ा हुआ और सडा हुआ गाढा और मैला चिपचिप करता हुआ कीचड और दलदल हे, (कुकूलानलपलित्त जाल मुम्मुर असिक्खुरकरवत्तधारासुनिसित विच्छुयडक निवातोवम्म फरिस अतिदुस्सहेसु) जिनका स्पर्श कडे की आग, धधकती हुई ज्वाला, उडती हुई चिनगारियो तथा तलवार, छुरे, करौत की तीखी धार एव तीखे विच्छू के डक लगने के समान अत्यन्त दु सह है, (अत्ताणासरणकडुय दुक्ख परितावणेसु) जहाँ रक्षा और शरण से रहित नारकीय जीवो को अत्यन्त कटु दु ख से सताप होता हे, (अणुवद्ध निरतर वेयणेसु) जहाँ एक के वाद एक वेदना लगातार लगी ही रहती हे, (जमपुरिससकुलेसु) जहाँ दक्षिण दिक्पाल के पुरुष-अम्वावरीष आदि असुरजातीय यमदेव घेरे रहते हैं।

(य) और (तत्थ) उन नरको मे उत्पन्न होने पर (अतोमुहुत्तलद्धि भवपच्चएण) अन्तर्मुहूर्त मे वैक्रियलब्धि और भवप्रत्यय से (नरक मे जन्म लेकर) (ते) वे पापी नारकीय जीव (वीभच्छ दरिसणिज्ज) देखने मे अत्यन्त घृणाजनक, (वीहणय) भयावना (अट्ठि-ण्हारु-णह-रोमवज्जिय) हड्डी, नसो, नख और रोम से रहित, (असुभगध दुक्खविसह) दुर्गन्ध वाले और दु ख को सहने वाले, अथवा पाठान्तर (असुभदुविसह) अशुभ और दु ख सहने के योग्य, (हुड) हुडक सस्थान वाले, (सरीर) शरीर को

निव्वत्तोति) निष्पन्न कर लेते है। (य) और (तत्तो) शरीर ग्रहण कर लेने के बाद (पज्जत्तिमुवगया) पर्याप्ति को प्राप्त हुए वे नारकीय जीव, (पर्चाहि इदियेहि) पाँचो इन्द्रियो द्वारा (असुभाए) अशुभरूप (उज्जल-वल-विउल-उक्कड-क्खरफरुसपयडघोर बीहणगदारुणाए वेयणाए) उज्ज्वल, बलवती, विपुल-समस्त शरीर व्यापी, उत्कट और कर्कशस्पर्श वाली, प्रचण्ड, घोर भयानक व अत्यन्त दारुण-पीडाजनक वेदना से (वेयण) दु खो का अनुभव करते हैं (कि ते ?) वे दु ख कौन-कौन-से हैं ? (कदु-महाकु भिय-पयण-पउलण-तवग-तलण-भट्ट-भज्जणाणि) लोहे की छोटी व बडी कडाही मे पकाना, उबालना, तवे पर तलना और भाड मे भू जना,(य) और (लोहकडाहुक्कड्ढ-णाणि) लोहे के कडाह मे डाल कर काढा बनाना यानी खूब उबालना, (य) तथा (कोट्टबलिकरण कोट्टणाणि) जैसे अज्ञ हिसक देवियो के सामने प्राणी को बलि देते समय जबरन कूटते है, वैसे ही बलि चढाना और कटना। (सामलितिक्खग्ग लोहकटक-अभिसरणापसरणाणि) सेमल वृक्ष के तीखे मु ह वाले लोहे के काटो पर फैलाना और हटाना, (फालणविदारणाणि) चमडी फाडना और करौत वगैरह से चीरना (य) और (अवकोडकबधणाणि) भुजाओ और सिर को पीछे से बाधना, (लट्ठिसय-तालणाणि) सैकडो लाठियो से पीटना (य) तथा (गलगवलुल्लबणाणि) गले के बल लट का देना यानी गले मे फासी डाल कर लटका देना, (य) एव (सूलग्गभेयणाणि) शूलो की नोक से छेदना, (आएसपवचणाणि) झूठी बात कह कर ठगना, (खिसन-विमाणणाणि) डाटना, धमकाना और अपमान करना, (विघुट्ठपणिज्जणाणि) 'इन जीवो ने ये महापाप किये हे, उनका फल ये भोगें' ऐसी घोषणा करके वध्यभूमि को ले जाना (य) और (बज्झसयमातिकाणि) सैकडो वध्य स्थानो – मारने के स्थानो की जननो रूप—उत्पत्ति स्थान के समान, दु खो का (एव) उक्त प्रकार से (ते) वे पापकर्म करने वाले जीव अनुभव करते है।

मूलार्थ वे हिसा करने वाले पापिष्ठ जीव कौन कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्रकार कहते हे कि वे इस प्रकार है—

सूअर का शिकार करने वाले, धीवर, पक्षियो का शिकार करने वाले-बहेलिए, हिरणो के शिकारी, क्रूर कर्म करने वाले कसाई, चीते आदि जीवो को पकडने के साधन रखने वाले, हिरनो का शिकार करने के साधन रखने वाले, मछलियो को पकडने के साधन रखने वाले मछुए, बाज आदि पक्षियो या मृग आदि को मारने के लिए लोह का या दर्भ का फदा या गुलैल आदि रखते है, सिह आदि को पकडने के लिए झूठ-मूठ नकली बकरी रखते है, चाण्डाल-विशेप, एक पक्षी से अन्य पक्षियो को पकडने हेतु जाल हाथ मे रखने वाले, भील आदि जगल मे घूमने वाले, व्याध, शहद के लिए मधुमक्खियो का नाश करने

वाले, पक्षियो के बच्चो को मारने वाले, हिरनो को पकडने के लिए हिरनी को साथ लिए घूमने वाले, हिरनो को पालने वाले, सरोवर, झील या नद, बावडी, बडा तालाब ताल या तलैया मे से शख, सीप, मछलियाँ आदि प्राप्त करने के लिए इनका पानी निकाल कर, जल का मर्दनकर, जल के स्रोत पाल या बाध आदि से बद कर जलाशयो को सुखाने वाले, जीवो को मारने के लिए सामान्य विप या कालकूट विप या विपमिश्रित दवा आदि देने वाले, ताजी घास के स्थानो मे निर्दयता पूर्वक आग लगा देने वाले, ऐसे नृशस कर्म करने वाले लोग और बहुत से म्लेच्छजाति के लोग हिंसक होते है ।

म्लेच्छजाति के लोग कौन-कौन होते है ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है—शक, यवन, शबर, बर्बर, काय मुरुड, उद, भडक, तित्तिक, पक्वणिक, कुलाक्ष, गौड, सिंहल पारस, क्रौञ्च, आन्ध्र, द्राविड, बिल्वल, पुलिन्द्र, अरोप, डोब, पोक्कण, गन्धहारक (कधारवासी), वहलीक, जल्ल, रोम, माप, बकुश, मलय, चुञ्चुक, चूलिक, कोकणक, मेद, पह्लव, मालव, आभापिक, अणक्क, चीन, ल्हासिक, खस, खासिक, नेहुर (नेट्टुर या निष्ठुर) महाराष्ट्र, मौष्टिक, आरव, डोबिलिक, कुहण, कैकय, हूण, रोमक, रुरु, मरुक और चिलात नामक म्लेच्छदेश के निवासी—ये सब पापमय बुद्धि वाले म्लेच्छजातीय मनुष्य है ।

तथा मगर, घडियाल आदि जलचर जीव, स्थलचर (चौपाये जानवर व मनुष्य), नखसहित पैर वाले सिंह आदि पशु, पेट से चलने वाले सर्पादि प्राणी, तथा आकाश मे उडने वाले गिद्ध आदि खेचर पक्षी, इन सब जीवो का घात करके अपनी रोजी चलाते है । इनमे कई सज्ञी होते है, जिनका मन दीर्घकाल से सज्ञाओ मे परिणत होता है, कई इससे भिन्न असज्ञी होते है (अथवा जो मनसहित है, वे सज्ञी होते है, जो मनरहित है, वे असज्ञी), लेकिन जब इनके शरीर और भापा बनकर पूर्ण हो जाते है, पर्याप्त हो जाते है, तभी इनमे हिंसा करने की शक्ति होती है, अपर्याप्त अवस्था मे नही, (अथवा कई पर्याप्तलब्धि सम्पन्न होकर हिंसा करते है और कई अपनी पर्याप्तियो को पूर्ण किये बिना ही मर जाते है, वे अपर्याप्त होते है) तथा वे अशुभ लेश्याओ और अशुभ परिणामो वाले होते है, ये और इस प्रकार के और भी पापी जीव होते है, जो पाप को ही अपनाने योग्य मानते है, पाप मे ही रुचि रखते है, प्राणिवध करने-कराने मे ही मस्त रहते है, जिनके सब आचरण ही हिंसामय होते है, जो प्राणिवध की रसप्रद कथाओ मे ही आनन्द मानते है । ये सब जीव प्राणवधरूप पाप अनेक प्रकार से करके सतुष्ट होते है । इस प्रकार ये प्राणवध की क्रियाए करते रहते है ।

उस हिंसा रूप पाप के फल को नही जानते हुए ये अत्यन्त भयावनी, निरन्तर वेदना वाली, दीर्घकाल तक दारुण दु खो से भरी हुई नरकयोनि और तिर्यञ्चयोनि को बढाते हे।

वहाँ से आयुष्य पूर्ण हो जाने पर च्युत हो (मर) कर वे अत्यन्त अशुभ कर्मों वाले जीव शीघ्र ही उन नरको मे उत्पन्न होते है, जहाँ का क्षेत्र बहुत बडा है और आयु सागरो की लम्बी है, जिन नरकागार रूपी कारागारो (चारको) मे वे रहते हे, उनकी दीवार वज्रमयी हे, वे वडे लम्बे-चौडे हे, द्वार रहित है, वहाँ का भूमितल अत्यन्त सख्त हे और उसका स्पर्श अत्यन्त खुरदरा है, वह वहुत ही ऊवड खावड हे, वे नरकावास वडे ही उष्ण और सदा अत्यन्त तपे हुए रहते हे, वे महादुर्गन्ध से सडे रहते हे और उद्वेगजनक (ऊबा देने वाले) हे। वे देखने मे अत्यन्त बीभत्स हे, वे बर्फ के ढेर के समान सदा ठडे और काली प्रभा वाले हे। अत्यन्त भयकर और गहरे होने से उन्हे देखते ही रोगटे खडे हो जाते हैं, वे दिखने मे अत्यन्त खराब (कुरूप) है, जहाँ लोग असाध्य कुष्ट आदि व्याधियो और शूल आदि बीमारियो व ज्वर, जरा आदि से पीडित रहते है वे सदा गाढ अन्धकार समूह से घिरे रहते है, जहाँ प्रत्येक प्राणी या वस्तु से भय बना रहता है, जहाँ सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे नही है, जहाँ गाढा चिपचिपा-सा दलदलरूप कीचड है, जो मेद, चर्बी, पीप, रुधिर और मास के पिडो से व्याप्त है, जिसके कारण वह बडे घिनौने एव चिकने शरीर के रसविशेष से बिगडा हुआ, बदबूदार और सडा हुआ है। जिन नरकागारो का स्पर्श कडे की आग, धधकती हुई ज्वाला, राख मिली हुई अग्नि, उछलती हुई चिनगारियो तथा तलवार, छुरे और करौत की तीखी धार एव बिच्छू के डक लगने के समान अत्यन्त दु सह्य है, जहा रक्षा और शरण से रहित नारकीय जीवो को अत्यन्त दारुण दु ख के कारण सताप होता है, जहाँ लगातार एक के बाद एक वेदना होती रहती है, और जहाँ दक्षिण दिक्पाल यम के सेवक अम्बावरीष आदि जाति के असुरकुमार देव सदा घेरे रहते हैं।

उक्त नरको मे उत्पन्न होने पर वे नारकीय जीव अन्तर्मु हूर्त मे वैक्रियलब्धि और भव प्रत्यय के कारण देखने मे अत्यन्त बुरे, डरावने, हड्डियो, नखो, नसो और रोमो से रहित, दुर्गन्धमय, अत्यन्त दु सह्य हुडक शरीर को धारण कर लेते है। शरीर ग्रहण कर लेने के बाद आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन छह पर्याप्तियो को पूर्णतया प्राप्त करके वे नारक जीव पाचो इन्द्रियो द्वारा अशुभ, उज्ज्वल-तीव्र, बलशाली, प्रचुर, सारे शरीर मे व्याप्त, उत्कट, तीक्ष्ण स्पर्श वाली, प्रचड, घोर डरावनी दारुण वेदना से जन्य दु खो का अनुभव करते ह।

वे दु ख कौन-कौन से है ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है - लोहे की छोटी व बडी कडाही मे पकाना, उबालना, तवे पर तलना, भाड मे भूंजना, लोहे की कडाही मे खूब उबाल कर काढा बनाना, अज्ञानी मनुष्य जैसे देवी के आगे जीवो की बलि देते है, वैसे ही अगो को काटना और पीटना, सेमलवृक्ष के तीखे नोकदार लोहे के काटो पर फैलाना और घसीटना, फाडना और चीरना, भुजाओ और सिर को पीछे से उलटे बाध देना, सैकडो लाठियो से पीटना, गले मे फासी लगाकर लटका देना, शूलो की नोक से छेदना, झूठी बात कहकर ठगना, डाटना, धमकाना और अपमान करना, इन जीवो ने अमुक महापाप किये है, यो जोर-जोर से चिल्लाते हुए वध्यभूमि (कत्लगाह) को ले जाना इत्यादि, सैकडो वध्यभूमियो मे जैसे दु ख उत्पन्न होते है उन दु.खो को वे नारक सदा भोगते रहते है ।

व्याख्या

इस सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने हिंसा करने वाले जीवो और हिंसा के दु खद फलो का पर्याप्त उल्लेख किया है । वस्तुत हिंसा करने वाले हिंसा करने मे प्रवृत्त होते समय यह नही सोच पाते कि इस क्रिया का फल क्या होगा ? फल भोगते समय मुझे कितना दु ख उठाना पडेगा ? उस समय मेरे उस दारुण दु ख मे कौन हिस्सेदार होगा ? कौन मुझे आश्वासन देगा ? कौन शरण देकर उस समय मुझे दु खो से बचाएगा ? कितने लम्बे अरसे तक मुझे नरक की भयकर काल कोठरियो मे सडना पडेगा ? उस समय मेरी कितनी विवशता होगी ? इन सब प्रश्नो का समाधान करने के लिए शास्त्रकार ने **'फलविवाग अयाणमाणा'** आदि पदो से स्पष्ट वर्णन किया है और हिंसा के कटु फलो का स्पष्ट उल्लेख भी ।

हिंसको की मुख्य तीन कोटियाँ—हिंसा करने वाले प्राणियो, खासकर मनुष्यो को तीन कोटियो मे विभक्त किया जा सकता है—पहली कोटि मे वे आते है, जो अपनी जीविका (रोजी) के लिए हिंसा करते हैं, दूसरी कोटि मे वे है, जो अपने आमोद प्रमोद के लिए हिंसा करते है, और तीसरी कोटि मे वे आते है जो रसलोलुपतावश सिर्फ खाने के लिए हिंसा करते हैं, करवाते हैं या करने मे समर्थक बनते है ।

शास्त्रकार ने प्रस्तुत सूत्रपाठ मे सर्वप्रथम हिंसा से अपनी आजीविका चलाने वाले प्रथम कोटि के व्यक्तियो का निरूपण किया है । वे है—सूअर पाल कर मारने वाले, मछलिया पकडने वाले, बहेलिए, शिकारी, जगली जानवरो का शिकार करने के लिए अनेक प्रकार के साधन लिए हुए घूमने वाले, शहद पाने के लिए मधुमक्खियो का नाश करने वाले, चिडिया के बच्चो को पकड कर मारने वाले, जलाशयो को

सुखाने वाले, जहर देकर मारने का धन्धा करने वाले, जगलो या खेतो मे आग लगाने वाले आदि ।

ये पापी जीव केवल अपना पेट पालन के लिए इस प्रकार के घातक धन्धे अपनाते हे, उस समय यह नही सोचते कि मैं इस वध के सिवाय अन्य सात्त्विक धन्धो मे से किसी को क्यो न अपना लू ! जिस परिवार के पोषण के लिए मै यह नीच धन्धा अपनाये हुए हू, उनका पोषण क्या और किसी सात्त्विक धन्धे से नही हो सकता ? और फिर जो भयकर क्रूर कर्म मै कर रहा हू, उसका फल तो मुझे ही भोगना पडेगा, उस समय मेरे दारुण दु ख को बटाने के लिए परिवार वाला कोई नही आएगा ।

कई बार जो मनुष्य प्राणिघातक धन्धो को वश परम्परा से करता हे,उसे अपनी वर्षो की पडी हुई बुरी आदत के कारण छोड नही पाता, आदत से लाचार हो जाता है, उसका मन लिप्त हो जाता हे, उसके परिवार वाले भी उसे उसी धन्धे को करने के लिए उकसाते है और विवश कर देते है । रात-दिन उसी पापकारी धन्धे मे रचा-पचा रहने के कारण उसका मन भी पापकर्म मे ढीठ बन जाता है, फिर तो उसे उसी पापकर्म मे आनन्द आता है । इसी दृष्टिकोण को लेकर शास्त्रकार ने पापकर्मरत मनुष्यो को उसके फल की ओर सोचने को प्रेरित किया हे । हिंसा से अपनी जीवन-यात्रा चलाने वाले प्राणियो को पालने वाला भी प्राय इसी कोटि मे आता है ।

ऐसे पापपूर्ण आजीविका वाले मनुष्यो को लगातार कई जन्मो तक सुगति नही मिलती, वे उन्ही नरक और तिर्यञ्च गति की विविध योनियो मे जन्म-मरण करते रहते है ।

आजीविका के लिए प्राणिवध जैसे क्रूर कर्म करने वाले म्लेच्छजातीय मनुष्य किस-किस देश मे कहाँ-कहाँ अधिकतर पाये जाते है, इस दृष्टि से तथा अलग-अलग देश, भाषा और जाति की दृष्टि से उनके बहुत से नाम शास्त्रकार ने गिनाए है । जैसे—शकदेशवासी, यवद्वीपवासी, शबर (भील), बर्बर (अफ्रीका के नर भक्षी मनुष्य), अरब, चीनी, रोमन, रूमी, कोकणी, मालव, द्राविड, मरहट्ठे, पारसी, (ईरानी), सिंहल देशीय, मलाबारी, बालीद्विपीय, कधारी (काबुली), केकयवासी, हूण, खस जातीय,खासी जातीय, डोब जातीय, श्वेत जातीय, मरु भूमीय,पश्तोभाषी-पेशावरी (पन्हव), चिलात देशवासी आदि ।

इनमे से बहुत-से नाम तो आज भी मिलते हे, बहुत से उस जमाने मे थे, आज उनके नाम बदल गये हे ।

इनमे से कई दूसरी कोटि के भी हिंसक ह, कई तीसरी कोटि के भी है । क्योकि इनमे बहुत-से देश मासभोजी है, इसलिए मास प्राप्त करने के लिए जीव हिंसा

करते, कराते या करने मे निमित्त वनते हे। वहुत से ऐसे देश हे, या प्रान्त अथवा जनपद हैं, जहाँ के क्षत्रिय, राजपूत या सरदार अथवा शासक अपने आमोद-प्रमोद के लिए जानवरो का शिकार करते है, कराते है, मनुष्यो, साडो या मुर्गा आदि को आपस मे लडाकर खत्म करा देते है।

दूसरी और तीसरी कोटि के लोगो का निर्देश करते हुए शास्त्रकार स्वय कहते हे—**"जलयर-थलयर पाणाइवायकरण"** यानी जलचरो, स्थलचरो, सिंहादि तीखे नखो वाले चौपाये जगली जानवरो, सर्पादि उरपरिसर्प जातीय जीवो, खेचरो (पक्षियो), सडासी के समान मुह वाले जीवो आदि को आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुन-सज्ञा और परिग्रहसज्ञा वाले या इन चारो सज्ञाओ से रहित—सिर्फ आमोद-प्रमोद-जीवी-पर्याप्तक-अशुभ लेश्या और अशुभ परिणाम से युक्त पापी—ये जीव और इसी प्रकार के दूसरे मानव प्राणिवध किया करते ह।

आमोद-प्रमोद के लिए जीवो की हिंसा करने वाले लोगो मे अधिकतर ऐसे लोग है, जो अपने को वडे आदमियो की श्रेणी मे मानते हे। वे निर्दोष प्राणियो का शिकार करते है। प्राय यही कहा करते हे कि ये जगली जानवर मनुष्यो को सताते, मार डालते या उन पर हमला कर वैठते हैं, इसलिए हम मनुष्यो की सुरक्षा के लिए उनका शिकार करते है। हम वहादुर हे, क्षत्रिय ह और प्रजा के रक्षक ह, शिकार करना वीरो का कर्तव्य हे। परन्तु वास्तव मे देखा जाय तो उन निहत्थे सिंह, चीता आदि प्राणियो को लुक-छिपकर मारने मे कौन-सी वीरता हे? वे वेचारे वैसे ही वस्ती मे आने से और किसी पर सहसा हमला करने से घवराते है। वे अपनी जान वचाने के लिए पर्वत की गुफाओ मे, वीहडो मे या घोर जगलो मे, जनशून्य प्रदेशो मे आश्रय लेते है, सिंह आदि भी अत्यन्त भूखे होने पर या सताये अथवा छेडे जाने पर किसी मनुष्य पर हमला करते ह। मनुष्य उनको मारने के वदले अपना प्रेम देकर गाय-भैस हाथी आदि की तरह उन्हे पालतू भी वना सकता हे। अस्तु उनके प्राणहरण करने की अपेक्षा उन्हे पालतू वना देना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है और इसी म सृष्टि के सर्वोत्तम प्राणी-मानव की वीरता है।

क्षत्रिय का अर्थ मूक, निहत्थो व प्राणो की भीख मागने वालो पर अत्याचार करना, और विनाश के मुह म उन्ह धकेल देना नहा ह, अपितु **'क्षतात् त्रायते रक्षतीति क्षत्रिय'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो दुवलो, निहत्थो और निदाप जानवरो या मानवो को नाश-आफत से वचाए वही सच्चा क्षत्रिय हे। शिकार खेलने मे ही वडप्पन या वहादुरी नहीं ह। कई राजपूत राजा, महाराजा अथवा कई अग्रेज लोग चिडियो, मछलियो आदि को वदूक या पिस्तौल का निशाना वना कर मार डालते हैं। पुराने जमाने मे रोम और ग्रीस म एक वडे मैदान मे गुलामो को आपस

मे तलवारो से लडाया जाता था, और इस खेल को देखने के लिए बडे-बडे अमीर उमराव व शासक आदि बैठते थे। जब तलवार से लहुलुहान होकर एक आदमी गिर जाता और मर जाता तो बडे जोर से चिल्ला-चिल्ला कर खुशी मनाई जाती थी। यह बहुत भयकर क्रूर प्रथा थी। इसी प्रकार भारतवर्ष मे मुर्गा, साडो, भैसो आदि को आपस मे लडाने का कई राजाओ, ठाकुरो और उमरावो को शौक था। अपनी क्षणिक तृप्ति और मनोविनोद के लिए इस प्रकार दूसरो के प्राणो को मौत के मुह मे धकेलना कितना बुरा और पापकम है। हिसा के कार्यो को रसपूर्वक देखना और उनका अनुमोदन करना भी हिसा के समान पाप है। अत वे भी सावधान होकर हिसा को प्रोत्साहन देते है तो इसी कोटि मे आ जाते है।

हिंसादि पाप कार्यो का उपदेश देने वाले भी उस पापकर्म के करने वालो से अधिक पाप वध कर लेते है। यज्ञ, पशुवलि या जानवर की कुर्बानी का उपदेश भी हजारो को पापकर्म मे प्रवृत्त कर देता है। एक बार कोई दुष्कर्म किसी पापोपदेशक के उपदेश से प्रचलित हो जाता है तो वह लम्बे अर्से तक चलता रहता है। इसलिए पापमय परम्परा का उपदेशक भी इसी दूसरी कोटि के हिंसको मे आता है। परन्तु शायद ऐसे पाप-कर्मकारी व्यक्ति अपने वडप्पन, धन, सत्ता और ऐश्वर्य के नशे मे चूर होकर ऐसे निर्बल प्राणियो की आवाज नही सुनते है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने उनकी मनोवृत्ति का विश्लेपण करते हुए मूलपाठ मे वताया है—"**पावा पावाभिगमा पावरुई पाणवहकयरती पाणवहरूवाणुट्ठाणा पाणवहकहासु अभिरमता तुट्ठा पाव करेत्तु होंति बहुप्पगार।**" अर्थात्—"वे पापिष्ठजन पापकर्म को ही उपादेय समझते है, पापकर्म मे ही रुचि रखते है, प्राणिवध मे ही उनकी प्रीति होती है, वे प्राणिवध रूप आचरण (शिकार, पशुयुद्ध, पशुवलि, प्राणिसहार आदि) मे रात-दिन मस्त रहते है, प्राणिवध (शिकार, युद्ध या प्राणिसहार) की कहानियाँ सुनने-पढने मे प्रसन्न रहते है, वहुत प्रकार से ऐसे प्राणिवध रूप पापकर्म करने मे सतुष्ट रहते है।" ऐसे बुद्धि के दिवालिये सचमुच दया के पात्र है। क्योकि वे अपनी भारतीय अहिंसा-प्रधान सस्कृति को भूलकर अनार्य सस्कृति को अपना वैठे है। यही कारण है, ऐसे शासनकर्त्ताओ का प्रभाव 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत के अनुसार उनकी प्रजा पर भी पडा। जहॉ-जहॉ शासको ने इस प्रकार के क्रूरकर्म किये वहाँ-वहाँ की जनता भी वैसी ही क्रूर, वर्वर, अत्याचारी, पाशविक और लूटमार करने वाली वन गई, खून का वदला खून से लेने की परम्परा उनमे पीढी-दर-पीढी से चल पडी, मास-भक्षण करने और किसी निर्दोप प्राणी को मारने मे उन्हे कोई हिचक न रही।

तीसरी कोटि के निकृष्ट वे लोग है, जो केवल अपनी जिह्वा के स्वाद के लिए निर्दोप प्राणियो का वध करते है, कराते है, या करने मे निमित्त वनते है। उनका

कहना है—ससार मे बकरे आदि जितने जानवर है, वे सब मनुष्यो के खाने के लिए है। परन्तु मासभोजियो की यह दलील थोथी और स्वार्थभरी है। यही दलील अगर सिंह आदि जानवर करे कि मनुष्य हमारे खाने के लिए पैदा हुए है, तो क्या वे मासभोजी इसे स्वीकार करेंगे ? फिर अपने पेट भरने के लिए मास से भी बढकर ताकत देने वाली सात्त्विक चीजे छोडकर मास जैसे घृणित, अपवित्र, पापजनक, अल्पशक्तिदायक पदार्थ को अपनाने मे कौन-सी बुद्धिमानी है ? जल से उत्पन्न (आबी) अन्न, फल आदि पवित्र, सात्त्विक शक्तिप्रद, स्वास्थ्यवर्द्धक पदार्थो को छोड कर रजोवीर्य से उत्पन्न (पेशाबी) दूषित, अपवित्र (नापाक), तामसिक, स्वास्थ्य-नाशक, काम क्रोधादि तमोगुणवर्द्धक मास को अपनाना रत्न को छोडकर काच को अपनाने के समान है।

मास वैसे भी मानवप्रकृति के अनुकूल नही है। मानवशरीर की रचना यह बता रही है कि वह शाकाहारी है, मासाहारी नही। मासाहारी प्राणियो की शरीररचना शाकाहारियो से भिन्न है। बिल्ली, कुत्ते आदि मासाहारी जानवरो की आँखे पीली, चमकीली, दात नुकीले तथा पजे तीखे होते है, वे जीभ से पानी पीते है, जबकि गाय बैल आदि शाकाहारी प्राणियो की आँखे काली व दात चपटे होते है, उनके पैर के पजे नुकीले नही होते, न वे जीभ द्वारा लपलपा कर पानी पीते है। अत मनुष्य की शरीररचना शाकाहारियो के समान है। मासाहारी मे शक्ति और कार्यक्षमता उतनी नही होती, जितनी शाकाहारी मे होती है, हा, क्रूरता और उत्तेजना मासाहारी मे ज्यादा होती है। इससे यह सिद्ध है कि मासभोजन मनुष्य के लिए अहितकर, प्रकृतिविरुद्ध और स्वास्थ्यनाशक है। इस दृष्टि से जो मास-भोजन के लिए निर्दोष प्राणियो का वध करते है या करने मे निमित्त बनते है, उनको भी उसके भयकर कटुफल भोगने पडते है।

आत्महित की दृष्टि से देखा जाय तो मासाहारियो को मास पशुपक्षियो के के घात से प्राप्त होता है। जिन पशुपक्षियो को मारा जाता है, वे भी मनुष्य के जैसे ही प्राणी है, उन्हे भी सुख-दुख का हमारे समान ही सवेदन होता है। वे भी हमारी ही तरह निरतर अपने प्राणो की रक्षा करने मे लगे रहते है। उन अनाथ, असहाय, बेकसूर, निर्बल और निर्दोष पशुपक्षियो को मनुष्य अपनी क्षणिक जिह्वा-तृप्ति के लिए मार डाले, यह कितनी नादानी है। कितनी बेहयाई और निर्दयता है। जो पशुजाति मनुष्य की प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से उपकारी है, गाय, भैस, बकरी आदि दूध-घी देकर, ऊट-घोडा आदि सवारी देकर या बोझा ढोकर, गधा आदि बोझ

ढोकर मनुष्य जाति की कीमती सेवा करते है, जीते जी भी अपने शरीर से कितनी ही चीजे देते है, मरने के बाद भी चमडा, हड्डी आदि देकर मानवजाति के लिए उपकारी बनते है। उनसे इस बहुमूल्य सेवा लेने के बदले मनुष्य को उनका कृतज्ञ होना चाहिए, उनकी रक्षा करनी चाहिए, उसके बजाय उनका वध करना कितनी कृतघ्नता और नीचता है। कितना विश्वासघात है। पक्षीगण सडी गली चीजो को खाकर वायुशुद्धि करते है, बदले मे कुछ नही चाहते। उन निःस्वार्थ सेवा करने वाले पक्षियो को मार डालना कितना अन्याय है। मनुष्य जाति की तरह वे भी सृष्टि के अलकार है। इसलिए पशुजाति के उपकारो के बदले मे अपनी अधम लालसा को पूर्ण करने के लिए उनके प्राणो का सहार करना उचित नही। यह अनधिकार चेष्टा है।

इसलिए पूर्वोक्त तीनो कोटि के हिंसको का इस मूलपाठ मे स्पष्टतया उल्लेख करके परोक्ष रूप से यह भी ध्वनित किया है कि ऐसे म्लेच्छ जातीय अनार्य जनो के दुसग से भी दूर रहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो अनार्यप्रधान देश है, जहाँ के अधिकाश लोग हिसक है, बर्बर है, मासादि हेय वस्तुओ का सेवन करने वाले है, धर्म-अधर्म के विवेक से शून्य है, उन देशो मे या उन अनार्यो के पडौस मे आत्महितैषियो व धर्मात्मा पुरुषो का रहना उचित नही। क्योकि वहा के गदे वातावरण का असर प्राय उनकी आत्मा पर भी हो सकता है। कईबार उन धर्मात्मा और अहिसक लोगो को भी उस देश मे या अनार्यो के पडौस मे रहने के कारण परोक्ष-रूप से अनुमोदन का भागी बनना पडता है, अथवा उनकी कोमलमति सतान पर भी उनके दुष्कृत्यो के कुसस्कार पड सकते है। सगति का प्रभाव बडा बलवान होता है। धुरधर विद्वानो और घोर तपस्या करने वालो पर भी अकस्मात् उन निमित्तो या दुसगो का असर होता और उनका पतन होता देखा गया है। एक बार जहाँ उन हिंसादि दुष्कृत्यो का चेप लगा कि फिर वह क्रम आगे से आगे चलता जाता है। उसका सभलना मुस्किल हो जाता है। जैसे पर्वत से नीचे फिसलने वाला मनुष्य नीचे से नीचे लुढकता-गिरता चला जाता है, वैसे ही एक दिन जो अहिंसक था, वह भी पतित होता चला जाता है और पक्का हिंसक बन जाता है।

हिंसा का भयकर दुष्परिणाम—इसीलिए शास्त्रकार ने मूलपाठ मे इस भयकर हिसा से बचने और दूसरो को बचाने के हेतु हिसा के भयकर कुफल बताये है, जो प्रत्येक हिसाकर्त्ता को भोगने ही पडेगे। उसमे कोई रूरियाअत नही होगी, चाहे फिर हिंसा करने वाला मनुष्य किसी भी उच्चकुल, उच्चजाति, उच्चधर्म, उच्चराष्ट्र या प्रान्त का ही क्यो न हो। जहर को कोई भी कुलीन व्यक्ति खाए या अकुलीन, जान कर खाए या अजाने मे, उसका दुष्परिणाम मृत्यु के रूप मे उसे

भोगना ही पडता है, इसी प्रकार हिंसा को चाहे कुलीन करे या अकुलीन, जान कर करे या बिना जाने करे, उसका भी दुष्फल उसे नरक और तिर्यञ्च योनि की प्राप्ति के रूप मे भोगना ही पडेगा। यही कारण है कि शास्त्रकार मूलपाठ मे स्पष्ट कर देते है—**'तस्स य पावस्स फलविवाग अयाणमाणा वड्ढति नरयतिरिक्खजोणिं।'** अर्थात् हिंसा करने वाले, उस पाप के फल को जानते हुओ की तो बात ही क्या, नही जानते हुए भी महाभयकर, अनवरत वेदनापूर्ण और दीर्घकाल तक अनेक दु खो से व्याप्त नरक और तिर्यंच योनियो की अपने लिए वृद्धि करते रहते है। वे अशुभ कर्मो की बहुतायत के कारण आयुष्य क्षीण होने पर मर कर विविध नरको मे उत्पन्न होते है। आगे उन नरकागारो की भयकरता, दु खबहुलता और असुन्दरता का विशद वर्णन शास्त्रकार करते है। उसके बाद उन नरकागारो मे वे कैसा बीभत्स, भयावना और कुरूप शरीर पाते है, इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। और इसके बाद नरको मे किस प्रकार से पीडा दी जाती है? अथवा अपने पूर्वकृत दुष्कर्मो के फलस्वरूप नरकगत जीव किस-किस प्रकार से दु खित और पीडित होते है? इसका भी वर्णन स्पष्ट है। यह वर्णन पदार्थान्वय और मूलार्थ मे हम कर आये है, इसलिए यहाँ नही कर रहे है।

नरकभूमियाँ कहाँ और कौन-कौन-सी है?

प्रश्न होता है कि नारकीय जीवो के वे निवासस्थान (नरकभूमिया) कहाँ पर है? वे कितने है? किस प्रकार से वे सब अवस्थित है? इन प्रश्नो के उत्तर मे हम अन्य शास्त्रो के आधार पर यहाँ वर्णन प्रस्तुत करते है—

आप जैन दृष्टि से १८ रज्जुपरिमाण लोक का नकशा अपने सामने खोल कर रखिए। लोक की परिभाषा जैन दृष्टि से यह है—जहा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गल और जीवास्तिकाय—ये ६ द्रव्य पाये जाय, वह लोक है। यह लोक किसी का बनाया हुआ नही है, अपितु अनादि अनन्त है। इस अनन्त लोक के तीन विभाग है—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। ऊर्ध्वलोक मे ज्योतिषी और वैमानिक देव है, मध्यलोक मे तिर्यञ्च, मनुष्य और व्यन्तर तथा भवनपति देवो का निवास है और अधोलोक मे नारकीय जीव है। इन तीनो लोको की ऊचाई-लम्बाई कुल मिल-मिलाकर १८ रज्जुपरिमाण है। जिसमे से सात रज्जु-परिमाण से कुछ कम लम्बाई-ऊचाई ऊर्ध्वलोक की है, पूरे सात रज्जु लम्बाई-ऊचाई अधोलोक की है और बाकी की करीब एक रज्जु से भी कम लम्बाई मध्यलोक की है।

नरक के जीवो का निवास अधोलोक मे ही है, जहा निम्नोक्त सात भूमिया सात नरको के रूप मे क्रमश एक के नीचे दूसरी अवस्थित है—१ रत्नप्रभा,

२ शकराप्रभा, ३ वालुका प्रभा ४ पकप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तम प्रभा और ७ तमस्तम प्रभा। इन सात नरक भूमियो मे कुल प्रस्तार (पटल या पाथडे) ४९ है। पहली भूमि मे १३, दूसरी मे ११, तीसरी मे ९, चौथी मे ७, पाचवी मे ५, छठी मे ३ और सातवी मे १ प्रस्तार है। इस तरह कुल ४९ प्रस्तार होते है, जहा नारक जीवो के चारक (बदीगृह की तरह)—उत्पत्ति स्थान है, नरकागार है। ये नरकागार आजन्म कारागार वाले कैदियो की अधेरी कोठरियो से या काले पानी की सजा से किसी तरह भी कम नही है, वल्कि उनसे भी कई गुने भयकर दुर्गन्धमय, अन्धकारमय और सडान वाले है। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार—(**'नित्याशुभतरलेश्यापरिणाम-देह वेदना-विक्रिया' 'सक्लिष्टासुरोदीरितदु खाश्च प्राक् चतुर्थ्या'**) वे नारक जीव नित्य अशुभतर लेश्या, बुरे से बुरे परिणाम, भयकर से भयकर शारीरिक वेदना और वैक्रियलब्धि-वशात् बार-बार काटने-पीटने, छेदने और यातना पाने से अत्यन्त सक्लिष्ट रहते है, तीसरी नरक तक परमाधार्मिक असुरो के द्वारा प्रेरित और पीडित किये जाने पर वे बार-बार दु खी होते हैं। सचमुच नरक के इतने भयकर दु खो का वर्णन सुनकर रोम-रोम काप उठता है।

वैसे तो विभिन्न धर्म के शास्त्रो या ग्रन्थो को सुनने पर यह पता लग ही जाता है कि नरक कितना भयकर और दु खो का सागर है। मगर सुन लेने पर भी आदमी तव तक उस पर ध्यान नही देता, जब तक उसे अनुभव न हो जाय या ठोकर न लग जाय, इसीलिए **'अयाणमाणा'** शब्द केवल सुनकर पता लगाने के अर्थ मे नही, अपितु अपने या दूसरों पर आ पडने वाले दु खो को देखकर प्रत्यक्ष महसूस करने के अर्थ मे ही अधिक सगत है। स्वर्ग-नरक की वाते तो कसाई, आदिवासी, भील या मासभोजी हिसक भी सुनते है, पर उनके धर्मशास्त्रो मे कही-कही पशुबलि, कुर्वानी, मासाहार, शिकार के रूप मे विधान भी मिलता है, इसलिए दूसरे धर्मों वाले उपर्युक्त व्यक्ति स्वर्ग-नरक की बाते सुन लेने पर भी धर्म के रूप मे, देव देवियो को प्रसन्न करने और तुच्छ स्वार्थ को सिद्ध करने की दृष्टि से अमुक हिंसा कार्य को बुरा नही समझते। इसीलिए वीतराग नि स्पृह महर्षि तीर्थंकर देव तो किसी भी जीव के प्रति अन्याय या पक्षपात न करते हुए स्पष्ट रूप से हिसा के कुफल का प्रतिपादन करते है।

नरक के अस्तित्व की सिद्धि

कई नास्तिक लोगो का कहना है कि "स्वर्ग-नरक कुछ भी नही है, ये सव गप्पे है। नरक मे होने वाली पीडा अत्यन्त भय वतलाने के लिए है, जवकि स्वर्ग मे होने वाले सुख प्रलोभन देने के लिए है। हम न तो स्वर्ग के लोभ से अहिंसा को पकड सकते है और न नरक (दोजख) के भय से हिंसा को छोड सकते है। जव तक

जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके घी पीओ, शरीर के राख हो जाने पर न कोई कही आता है न जाता है। यह शरीर या आत्मा जो कुछ भी इसे कहो, यहीं का यहीं धरा रह जाता है।" ऐसी मिथ्या मान्यता के कारण भोले-भाले मनुष्य ऐसे लोगो के चक्कर मे आकर हिंसा करने मे वेखटके प्रवृत्त हो जाते है।

अगर स्वर्ग, नरक आदि न होते तो फिर किसी को स्वपर कल्याण की साधना या अहिंसा, सत्य आदि का पालन करने की जरूरत ही क्या रहती ? फिर तो कोई भी मनुष्य अच्छे कर्म मे, परोपकार मे प्रवृत्त ही क्यो होगा ? और क्यो वह कुत्ते, बिल्ली आदि की तिर्यञ्च योनि को पाना चाहेगा ? परन्तु यह एक निर्विवाद वात है कि आत्मा की यह यात्रा तव तक समाप्त नही होती, जब तक जन्ममरण का चक्र समाप्त न हो, यानी मुक्ति प्राप्त न हो। इसलिए आत्मा को अपने अच्छे कर्मो के कारण स्वर्ग और बुरे कर्मों के कारण नरक या तिर्यंचगति का मिलना अवश्यम्भावी है। जीवन की यह यात्रा जन्मजन्मान्तरो तक चलती रहती है।

नरक मे इतनी भयंकर सजा वास्तविकता है, गप्प नहीं !

नरक के दु खो को गप्प मानने वालो से यह पूछा जाय कि यहाँ कोई किसी की हत्या करता है तो उसमे एक-दो मिनट ही लगते हैं, परन्तु उस एक-दो मिनट के दुष्कृत्य के वदले मे उसे आजीवन कारावास या मौत की सजा मिलती है। इतनी लम्बी अवधि की सजा थोडी देर मे हत्या करने वाले को मिलती है तो जिन्दगी भर पशुपक्षियो की गर्दनो पर जो छुरियाँ फिराता रहे, जो अनेक क्रूरकर्म करे, उसे कितनी लम्बी अवधि की और कितनी कठोर सजा मिलनी चाहिये ? यही कारण है कि नरक की लम्बी से लम्बी अवधि ३३ सागरोपम काल की है और पहली से लेकर सातवी नरक तक उत्तरोत्तर दारुण दु खो के रूप मे वहाँ भयकर सजाएँ मिलती हैं। इसी का समाजविज्ञानसिद्ध विश्लेपण व चित्रण शास्त्रकार ने मूल पाठ मे किया है।

नरक गति मे हिंसा के कुफल

पिछले सूत्रपाठ मे हिंसको के नाम तथा हिंसा के दुष्परिणामस्वरूप नरकागार-प्राप्ति का विशद निरूपण किया गया, अब इस अगले सूत्रपाठ मे उसी का—हिंसा के दुष्परिणामो का ही विस्तृत वर्णन किया जा रहा है —

मूलपाठ

'पुव्वकम्मकयसंचओवतत्ता निरयग्गिमहग्गिसपलित्ता गाढदुक्ख महब्भय कक्कस असाय सारीर माणस च तिव्व दुविह वेदेति वेयण,

पावकम्मकारी बहूणि पलिओवमसागरोवमाणि कलुण पालेंति ते अहाउय जमकातियतासिता य सद्द करेंति भीया ।

किं ते ? 'अविभाय सामि भाय वप्प ताय जितव मुय मे मरामि, दुब्बलो वाहिपीलिओ अह, किं दाणिऽसि, एव दारुणो निद्दओ य मा देहि मे पहारे, उस्सासेत (एय) मुहुत्तय देहि, पसाय करेह, मा रुस, वीसमामि, गेविज्ज मुयह मे,मरामि गाढ तण्हाइओ अह, देहि पाणीय ।' हंता (ताहंतपिय) पिय जल विमल सीयल ति घेत्तूण य नरयपाला तविय तउय से कलसेण अजलीसु । दट्ठूण य त पवेवियंगोवगा असुपगलतपप्पुय छिण्णा तण्हाइयम्ह कलुणाणि जपमाणा विप्पेक्खता दिसो अत्ताणा असरणा अणाहा अबाधवा बधुविप्पहीणा विपलायं मिगा इव वेगेण भयुव्विग्गा, घेत्तूण य बला पलायमाणाण नि कपा मुह विहाडेत्तु लोहडडेहिं कलकल ण्ह वयणसि छुभंति, जमकाइया हसता । तेण दड्ढा सतो रसति भीमाइ विस्सर रुवति य कलुणगाइ पारेवयगा (इ) व एव पलवित-विलाव-क णाकदियबहुरुन्नरुदियसद्दो परिदे (वे) वियरुद्धबद्धयनारकार सकुलो णीसिट्ठो, रसिय-भणिय - कुविय - उक्कइय - निरयपा तज्जिय गेण्ह कम पहर छिंदभिंद उप्पाडेहुक्खणाहि कत्ताहि विकत्त हि य भुज्जो (भज) हण विहण विच्छुभोच्छुभ आकड्ढ विकड्ढ किं ण जपसि ? सराहि पावकम्माइ (कियाइ) दुक्कयाइ एव वयणमहप्पगब्भो (स) पडिसुयसद्दसकुलो उत्तासओ सया निरय-गोयराण महाणगरडज्झमाणसरिसो निग्घोसो सुच्चए अणिट्ठो तहि नेरइयाण जाइज्जताण जायणाहिं । किं ते ? असिवण—दब्भ-वण - जतपत्थर - सूइतल - क्खारवावि - कलकलतवेयरणि - कलब - वालुया-जलियगुहनिरुभण उसिणोसिण - कटइल्ल - दुग्गमरहजोयणतत्तलोहमग्ग (पह) गमण-वाहणाणि इमेहिं विवि-

हेहिं आयुहेहिं । किं ते ? मोग्गर-मुसु ढि - करकय - सत्ति - हल-
गय - मुसल - चक्क - कोत - तोमर- सूल - लउल - भिडिमाल-
सब (द्द ढ) ल - पट्टिस - चम्मेट्ठ - दुहण - मुट्ठिय - असि -
खेडग - खग्ग - चाव - नाराय - कणक - कप्पिणि- वासि-परसु-
कटक (टंक)-तिक्ख-निम्मला अण्णेहि य एवमादिएहिं असुभेहिं
वेउव्विएहिं पहरणसतेहिं अणुबद्धतिव्ववेरा परोप्परवेयणं उदीरेंति
अभिहणता । तत्थ य मोग्गरपहारचुण्णिय - मुसु ढिसंभग्गमहित-
देहा जतोवपीलणफुरतकप्पिया के इत्थ सचम्मका विगत्ता णिम्मूलु-
लूण कण्णोट्ठणासिका छिण्णहत्थपादा (तत्थ य) असि - करकय-
तिक्ख - कोंत - परसुप्पहार - फालियवासी - संतच्छितगमगा
कलकलमाणखारपरिसित्तगाढ - डज्झंतगत्त - कुंतग्गभिण्ण -
जज्जरियसव्वदेहा विलोलंति महीतले विसूणियंगमंगा, तत्थ य
विग - सुणग - सियाल - काक - मज्जार - सरभ - दीविय -
वियग्घ - सद्दूल - सीह - दप्पिय-खुहाभिभूतेहिं णिच्चकालमण-
सिएहिं घोरा रसमाणभीमरूवेहिं अक्कमित्ता दढदाढा - गाढडक्क
कड्ढिय - सुतिक्ख - नहफालियउद्धदेहा विच्छिप्पते समतओ
विमुक्कसंधिबंधणा वियंगमंगा कंक-कुरर-गिद्ध-घोरकट्ठवायसगणेहि
य पुणो खरथिरदढणक्ख - लोहतुंडेहिं ओवदि (ति) त्ता पक्खा-
हय-तिक्खणक्खविकिन्न - जिब्भंछिय - नयण - निद्द (द्ध) ओ-
लुग्गविगतवयणा उक्कोसता य उप्पयता निपतता भमता ।

संस्कृत-छाया

पूर्वकर्मकृतसंचयोपतप्ता निरयाग्निमहाग्निसंप्रदीप्ता गाढदुःखा महाभया कर्कशामसाता शारीरीं मानसीं च तीव्रा द्विविधा वेदयन्ति वेदना पापकर्मकारिणो बहूनि पल्योपमसागरोपमाणि करुण पालयन्ति ते यथायुष्क यमकायिकत्रासिताश्च शब्द कुर्वन्ति भीता । किं तत् ? अविभाव्य ! स्वामिन् ! भ्रात ! पित ! तात ! जितवन् ! मुञ्च मा, म्रिये, दुर्बलो व्याधि-पीड़ितोऽहम् किमिदानीमस्मि ! एव दारुणो निर्दयो (मत्वा) मा देहि मे

प्रहारान् ! उच्छ्वासमेक मुहूर्त्तक मे देहि, प्रसाद कुरु, मा रुष्य, विश्रमामि, ग्रैवेयक मुञ्च मे, म्रिये, गाढ तृष्णार्दितोऽह वत्त पानीय । हन्त ! (ततोऽह देहि) 'पिबेद जल विमल शीतलमिति' गृहीत्वा च नरकपालास्तप्त त्रपुक तस्मै ददति कलशेनाऽञ्जलिषु । दृष्ट्वा च तत्प्रवेपितागोपागा प्रगलदश्रु-प्रप्लुताक्षाश्छिन्ना तृष्णा अस्माकमिति (तृष्णार्दिता. स्म इति) करुणानि जल्पन्तो विप्रेक्षमाणा दिशोदिशमत्राणा अशरणा अनाथा अबान्धवा बन्धु-विप्रहीणा विपलायन्ते च मृगा इव वेगेन भयोद्विग्ना, गृहीत्वा च बलात् पलायमानाना निरनुकम्पा मुख विघाट्य लोहदण्डै कल-कल किल वदने क्षिपन्ति, केचिद्यमकायिका हसन्तस्तेन दग्धा सन्तो रसन्ति भीमानि विस्वराणि रुदन्ति च करुणकानि पारापतका इव, एव प्रलपित-विलाप करुणाक्रन्दितबहुरुन्नरुवितशब्द परिदेवित (वेपित) रुद्धबद्धक नारकारवसकुलो नि सृष्टो, रसित-भणित-कूजितोत्कूजित-निरयपालतर्जित-गृहाण, क्रम, प्रहर, छिंद, भिंद, उत्पाटय, उत्खनय, कृन्त, विकृन्त च भूयो (भञ्ज) हन विहन (जहि विजहि) विक्षिप, उत्क्षिप, आकर्ष, विकर्ष, किं न जल्पसि ? स्मर पापकर्म्माणि कृतानि, दुष्कृतानि, एव वच (व) नमहाप्रगल्भ (स) प्रति-श्रुतशब्दसकुल उत्त्रासक सदा निरयगोचराणा दह्यमानमहानगरसदृशो निर्घोष श्रूयतेऽनिष्टस्तत्र नैरयिकाणा यात्यमानाना यातनाभि. । कास्ता ? असिवन-दर्भवन-यन्त्र प्रस्तर-शूचीतल-क्षारवापी-कलकलायमानवैतरणीकदम्ब-बालुकाज्वलितगुहानिरोधनमुष्णोष्णकण्टकवद्दुर्गमरथयोजनतप्तलोहमार्ग (पथ) गमनवाहनानि, एभिर्विविधैरायुधै, कानि तानि ? मुद्गर-मुसुण्ढि-क्रकच-शक्ति-हल-गदा-मुशल-चक्र-कुन्त-तोमर-शूल-लकुट-भिण्डिमाल - सब-(द्ध) ल-पट्टिश-चर्मेष्ट-द्रुघण-मौष्टिकासि-खेटक-खड्ग-चाप-नाराच - कणक-कर्त्तनी (कल्पनी)-वासी-परशु-कण्टक-(टक) तीक्ष्णनिर्मलैरन्यैश्चैवमादिभिर-शुभैर्वैक्रियै प्रहरणशतैरनुबद्धतीव्रवैरा परस्पर वेदनामुदीरयन्ति, अभि-घ्नन्त । तत्र च मुद्गरप्रहार-चूर्णित-मुसुण्ढिसभग्नमथितदेहा यन्त्रोपपीडन-स्फुरत्कल्पिता केचिदत्र सचर्म्मका विकृत्ता निर्मूलोन्मूलनकर्णौष्ठनासिका-च्छिन्नहस्तपादा असिक्रकचतीक्ष्णकुन्तपरशुप्रहारस्फाटितवासी-सतक्षितागो-पांगा कलकलायमानक्षारपरिसिक्तगाढदह्यमानगात्र-कुन्ताग्रभिन्न-जर्जरित-सर्वदेहा विलुल (ठ) ति महीतले विसूनिता-(विलूनिता) ङ्गोपाङ्गा । तत्र च वृक- श्व- श्रृगाल- काक- मार्जार- शरभ- द्वीपिक- व्याघ्र- शार्दूल-सिंह - दर्पित - क्षुधाभिभूतैर्नित्यकालमनशितैर्घोरा रसद्भीमरूपैराक्रम्य दृढदंष्ट्रागाढदष्ट-कृष्टसुतीक्ष्ण - नखस्फाटितोर्ध्व देहा विक्षिप्यन्ते समन्ततो

विमुक्तसंधिबन्धना व्यङ्गिताङ्गाः कंक-कुरर-गृद्ध-घोरकष्टवायसगणैश्च पुनः खरस्थिरदृढनखलोहतुण्डैररवपत्य पक्षाहततीक्ष्ण-नखविकीर्ण-जिह्वाच्छित्त (ञ्छित) नयन निर्दयावरुग्णविगतवदना उत्क्रोशन्तश्चोत्पतन्तो निपतन्तो भ्रमन्तः।

पदार्थान्वय—(पुव्वकम्मकयसंचओवतत्ता) पूर्वभव में किये हुए कर्मों के सचय से सतप्त (निरयग्गिमहग्गि सपलित्ता) महाग्नि के समान नरक की आग से अत्यन्त जलते हुए वे (पावकम्मकारी) पाप कर्म करने वाले नरक के जीव, (गाढ दुक्ख) उत्कट दु खरूप, (महब्भय) अत्यन्त भयानक, (कक्कस) कठोर (असाय) असातावेदनीय-कर्म के उदय से जनित, (शारीर) शरीरसम्बन्धी, (च) और (माणस) मनसम्बन्धी, (दुविह) दो प्रकार की, (तिव्व) तीव्र, (वेयण) वेदना को (वेदेंति) भोगते है। तथा (ते) वे नारकीय जीव (वहूणि) वहुत लम्बी, (पलिओवमसागरोवमाणि) पल्योपम एव सागरोपमकाल प्रमाण, (अहाउय) वाधी हुई आयु को, (कलुण) दीनता से, (पालेंति) पार करते है—विताते है; (य) और, (यमकातियतासिता) यमकायिक दक्षिण-दिक्पालदेवनिकाय के आश्रित अम्ब आदि असुरों द्वारा सताये गए वे (भीया) भयभीत होकर (सद्द) आर्त्तनाद, (करेंति) करते हैं। (ते) वह आर्त्तनाद (किं) किस तरह का होता है? (अविभाय) हे प्रतापी! (सामि) हे स्वामिन्! (भाय) हे भाई, (वप्प) हे वाप! (ताय) ओ तात! (जितव) हे विजयी! (मुय मे, मरामि) मुझे छोड दो, मैं मर गया! (दाणि) इस समय (अह) मै, (किं) कितना, (दुब्बलो) दुर्वल तथा (वाहिपीलिओ) रोग से पीडित (असि) हूं। (एव) इस प्रकार, (दारुणो) कठोरचित्त (य) और (निद्दओ) निर्दय होकर (मा दे हि मे पहारे) मुझ पर चोटें प्रहार मत दो! (मे) मुझे (मुहुत्तय) एक मुहूर्त्त तक, उस्सासेत) श्वास लेने दो, (पसाय) कृपा (करेह) करो, (मा रुस) मुज पर गुस्सा मत करो, (वीसमामि) जरा विश्राम लेता हूं, (मे) मेरी (गेवेज्ज) गर्दन को, (मुयह) छोड दो, (अह) मै, (गाढ तण्हाइयो) अत्यन्त प्यास से पीडित हूं, (मे) मुझे (पानी-य) पानी (देह) दो" नारकीय जीवो के ऐसा कहने पर यमपुरुष कहते है—(हता) लो नारक! (इम) इस (विमल) स्वच्छ, (सीतल) ठडे (जल) पानी को (पिय) पी लो, (इति) ऐसा कहकर (नरयपाला) नरकपाल, (फलसेण) कलश मे से (तविय) तपे हुए (तउय) सीसे को, (घेत्तूण) लेकर) (से) उसको (अजलीसु) हथेली पर (देंति) उडेलते हैं—देते है। (य) और (त) उसे (दट्ठूण) देखकर, (पवेवियगोवगा) नारकों के अगोपाग सिहर उठते हैं, (असुपगलतपप्पुयच्छा) वहते हुए आंसुओं से उनकी आंखें डवडवा आती है, और (अम्ह) 'वस हमारी, (तण्हा) प्यास, (छिण्णा) वुझ गई' (इय) इस प्रकार मे (कलुणाणि) करुणापूर्ण दीनवचन (जपमाणा) कहते हुए (दिसोदिसि) एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर, (विप्पेक्खता) नजर दौड़ाते हुए,

(अत्ताणा) रक्षाहीन, (असरणा) शरणहीन, (अणाहा) अनाथ, (अबाधवा) बान्धवो से रहित, (बधुविप्पहीणा) स्वजनो से रहित (भउव्विग्गा) भय से घबराये हुए, (मिगा इव) हिरणो की तरह, (वेगेण) जोर से (विपलायति) भागने लगते हैं। तब (णिरणुकपा) निर्दयी (हसता) हसते हुए (केइ) कई (जम काइया) यमपुरुष (बला) जबर्दस्ती उन्हे (घेत्तूण) पकड कर (पलायमाणाण) भागते हुए नारकियो के (मुह) मुह को, (लोहडडेहि) लोहे के डडो से, (विहाडत्तु) खोलकर (कलकल) उबलते हुए सीसे को (वयणसि) उनके मुह मे (छुभति) उडेल देते है। (तेण) उससे (दड्ढा सतो) जले हुए वे (रसति) चिल्लाते हे (य) और (पारेवयगा व) कबूतरो की तरह (भीमाइ) भयकर, (विस्सराइ) बुरे स्वर से (कलुणगाइ) दीनता-पूर्वक (रुवति) रोते हैं, (एव) इस प्रकार, (पलवितविलावकलुणाकदियबहुरुन्नरुदियसद्दो) प्रलाप, विलाप (आर्त्तनाद) दीनतापूर्वक गला फाड कर रोने, बहुत देर तक अरण्यरोदन एव सिसकिया भरकर रोने की आवाज से युक्त, (परिवेपित-देविय रुद्ध-बद्धय नारकारवसकुलो) कापते हुए या जोर-जोर से दु ख प्रकट करते हुए, रोके हुए, और बधे हुए नारको द्वारा मचाए हुए शोर से व्याप्त, और जोर-जोर से इस प्रकार चिल्लाते हुए नारकीय जीव को, (रसिय- भणिय-कुपिय-उक्कइय-निरयपालतज्जिय) चिल्लाते हुए, स्पष्ट धमकाते हुए, कोप करते हुए, जोर-जोर से शोर मचाते हुए नरकपालो की डाट पडती है (गेण्ह क्कम पहर छिंद भिंद उप्पाडेहुक्खणाहि कत्ताहि विकत्ताहि य भुज्जो (भु ज) हण-विहण विच्छुभोच्छुभ आकड्ढ विकड्ढ) इसे पकडो, इस पर पैर रख कर चले जाओ, इसे पीटो, छेदन करो, इसके टुकडे-टुकडे कर डालो, उखाड डालो, इसकी आँखें वगैरह निकाल लो, कैंची से इसके नाक कान काट लो, विशेष प्रकार से कतर डालो और फिर (अथवा इसे भून डालो) इसे मारो, जोर से मारो, इधर-उधर फेंक दो, ऊपर उछाल दो, सामने से खींचो, उलटा खींचो, (किं ण जपसि) अब क्यो नहीं बोलता है ? (पाप) 'अरे पापी ! (दुक्कयाइ कम्माइ सराहि) अपने दुष्कृत-पाप-कर्मों को याद कर', (एव) इस प्रकार (वयणमहप्पगब्भो) यमपुरुषो के बोलने से फैला हुआ शोर (पडिसुय सद्दसकुलो) और उसकी प्रतिध्वनि के गूँजने से व्याप्त (सया) सदा, (नरयगोयराण) नरक निवासियो को (तासओ) त्रास पहुँचाने वाला, (जायणाहिं) यातनाओ-पीडाओ से, (जाइज्जताण) यत्रणा (पीडा) पाते हुए (नेरइयाण) नारक-जीवो का, (महाणगरडज्झमाणसरिसो) जलते हुए महानगर के शोर के समान, (अणिट्ठो) अनिष्ट-अप्रिय, (निग्घोसो) महाघोष-हल्ला-गुल्ला (तहिय तहिं) वहां नरक मे (सुच्चए) सुनाई देता हे। (ते) वे यातनाएँ, (किं) कौन-कौन-सी हे ? (असिवण-दब्भवण-जतपत्थर-सूइतलक्खारवावि-कलकलतवेयरणिकलबवालुया-जलिय-गुहनिरु भण) तलवार की धार के समान तीखे पत्तो के वन मे, दर्भ-कुश के वन मे, घरट्ट आदि पत्थरो पर, ऊपर मुह की हुई सुइयो के समान भूतल पर, खारे रसो से भरी हुई बावडियो मे, उबलते हुए सीसे से भरी हुई वैतरणी

नदी मे कदव के फूल के आकार की बनी हुई तीखी रेत पर, जलती हुई गुफाओ मे नारकियो को फेंक कर या धकेल कर, (उसिणोसिण-कटइल्ल-दुग्गमरहजोयणतत्तलोह-मग्ग (पह) गमणवाहणाणि) गर्मागर्म काटो वाले तथा अत्यन्त वजनदार होने के कारण कठिनाई से चलने वाले रथ मे जोत कर, तपे हुए लोहे के रास्ते पर चलाकर एव बैलो की तरह बहुत बजन लाद कर चलाये जाकर, (इमेहिं) इन आगे कहे जाने वाले, (विविहेहिं) अनेक प्रकार के, (आयुहेहिं) हथियारो से नारकी परस्पर एकदूसरे को पीडा देते हैं। (तं) वे हथियार, (किं) कौन-कौन-से हैं ? (मोग्गर-मुसु ढि-करकय-सत्ति-हल-गय-मुसल-चक्क-कोंत-तोमर-सूल-लउड-भिंडिमाल-सद्ध (व) ल-पट्टिस-चम्मेट्ठ-दुहण-मुट्ठिय-असि-खेडग-खग्ग-चाव-नाराय-कणक-कप्पणि-वासी-परसु-टक (कटक)-तिक्ख निम्मला) मुद्गर, मुसु ढि, करौत, त्रिशूल, हल, गदा, मूसल, चक्र, बर्छी, तोमर (तवर), शूली (बल्लम), लाठी, भिंडीमाल (गोफन) भाला, पट्टिस (एक प्रकार का अस्त्र), चमडे से वेष्टित पत्थर, द्रुघण (तोप या विशेष प्रकार का मुद्गर), हथौडा, कटारी, ढाल, तलवार, धनुष, बाण, नली वाला बाण, कैंची, बसूला, कुल्हाडा, बल्लम तथा तीखी नोक या धार वाले चमचमाते हुए शस्त्रो, (य) तथा (एवमादिएहिं) ये और इसी प्रकार के (अण्णेहिं) दूसरे, (असुभेहिं) पाप के निदानभूत अशुभ, (विउव्विएहिं) इन्हीं मे से सुधार कर या बिगाड कर कृत्रिम या अकृत्रिम तरीको से बने हुए (पहरणसतेहिं) सैकडो शस्त्रो से, (अभिहणता) सीधा प्रहार करते हुए, (अणुबद्धतिव्ववेरा) निरन्तर तीव्र वैरभाव धारण किए हुए वे नारकीय जीव, (परोप्पर-वेयण) पूर्व वैर भाव स्मरण कर करके परस्पर पीडा को, (उदीरेंति) उकसाते हैं, (य) और (तत्थ) वहां (मोग्गरपहारचुण्णिय-मुसढिसभग्ग-महितदेहा) मुद्गरो के प्रहार से उनके शरीर चूरचूर कर दिये जाते है, मुसुण्ढियों से शरीर जर्जर करके दही की तरह मथ दिया जाता है, (जतोवपीलणफुरतकप्पिया) कोल्हू वगैरह यत्रो से पैरने के कारण फडफडाते हुए उनके शरीर के टुकडे-टुकडे कर दिये जाते है, (केइत्थ) कई नारकियो को यहां, (सचम्मका विगत्ता) चमडीरहित विकृत कर दिया जाता है अथवा चमडी खींचकर उधेड ली जाती है, (णिम्मूलुल्लण कण्णोट्ठनासिका) कान, ओठ और नाक जड मूल से काट दिये जाते हैं, (छिण्णहत्थपादा) हाथ-पैर काट लिये जाते हैं, (असिकरकयतिक्खकोंतपरसुप्पहारफालियवासीसतच्छियगमगा) उनके अग-अग तलवार, करौत, तीखे भालो, कुल्हाडी के प्रहार से फाड दिये जाते है और बसूले से छील दिये जाते है, (कलकलमाणखारपरिसित्तगाढडज्झतगत्त-कु तग्गभिण्ण-जज्जरिय-सव्वदेहा) उनके शरीर पर कलकल करता हुआ गर्मागर्म खार सींचा जाता है, जिससे शरीर जल जाता है, फिर भालो की नोक से उसके टुकडे-टुकडे किये जाते है, इस प्रकार उनके सारे शरीर का कचूमर निकाल दिया जाता है, (विसूणियगमगा) उनका

अग-अग सूज जाता है, ऐसी स्थिति मे बेचारे नारकीय जीव (महीतले) पृथ्वीतल—जमीन पर, (विलोलंति) लोटते फिरते है।

(य) और (तत्थ) वहां (णिच्चकाल) हर समय (अणसिएहि) बिना खाए हुए—भूखे ही रहने वाले, (घोरा) भयकर, (रसमाणभीमरूवे) आवाजें करते हुए, डरावने रूप वाले वे, (विग-सुणग-सियाल-काक-मज्जार-सरभ-दीविय-वियग्घ-सद्दूल-सीह-दप्पिय खुहाभिभूतेहि) अत्यन्त भूख से सताए हुए मतवाले भेडिये, शिकारी कुत्ते, सियार, कौए, बिलाव, अष्टापद, चीते, बाघ, केसरी सिंह और सिंह, (अक्कमित्ता) उन पर हमला करके (दढदाढा-गाढडक्क-कड्ढियसुतिक्खणह-फालियउद्धदेहा) अपनी मजबूत दाढो से नारको के शरीर के ऊपरी हिस्से को जोर से काटते है, फिर उन्हे खींचते है तथा अत्यन्त तीखे नखो से उसे फाड देते है, फिर उन्हे (समतओ) चारो ओर, (विच्छिपते) फेंक देते हैं, (विमुक्कसधिवधणा) जिससे उनके शरीर के जोड और बधन ढीले हो जाते है, (वियगमगा) अग-अग विकृत या पृथक् कर दिये जाते है (य) और (पुणो) फिर (खरथिरदढणक्खलोहतुडेहिं) तीखी और मजबूत डाढ, नख और लोहे के समान नुकीली चोच वाले, (कक-कुरर-गिद्ध-घोरकट्ठ-वायसगणेहिं) कक, कुरर (क्रौंच), गिद्ध, अत्यन्त कष्ट देने वाले जगली कौओं के झुड के झुड, (ओव-तित्ता) उन पर टूट पडते हैं (पक्खाहयतिक्खणक्खविकिन्नजिब्भछियनयणनिद्द (द्ध) ओलुग्गविगतवयणा) वे उन नारको को अपने पखो से ताडित करते हैं, तीखे नखो से जीभ खींच लेते हैं, उनकी आँखें निकाल लेते है तथा निर्दयतापूर्वक उन्हे अस्वस्थ करके उनका चेहरा बिगाड देते है, जिसके कारण वे (उक्कोसता) जोर-जोर से रोते-चिल्लाते है, कोसते हैं, (उप्पयता) उछलते है, (निपतता) नीचे गिरते है, (य) और (भमता) इधर से उधर घूमते है।

मूलार्थ—पूर्वजन्मो मे उपार्जित कर्मों के सचय से सतप्त महाग्नि के समान नरक की प्रचड आग मे अत्यन्त जलते हुए वे पापकर्मकरने वाले नरक के जीव उत्कट दु खरूप, महाभयकर, कठोर एव असाता वेदनीयकर्म के उदय से जनित शारीरिक एव मानसिक दो प्रकार की तीव्र वेदना भोगते है। तथा वे नारकीय जीव बहुत लम्बी पल्योपम एव सागरोपम काल तक की बाधी हुई अपनी आयु दीनतापूर्वक बिताते है। इस लम्बी अवधि तक वे दक्षिण दिक्पाल देव के आश्रित अम्ब आदि यमकायिक असुरो द्वारा सताए जाते हुए भयभीत होकर आर्तनाद करते है।

वह आर्त्तनाद किस प्रकार का होता है ? ऐसा पूछने पर शास्त्रकार कहते है—"हे प्रतापी पुरुष ! हे स्वामिन् ! हे भाई ! ओ पिता ! अय तात ! हे जयशील ! मुझे छोड दो, मैं दुर्बल और व्याधियो से पीडित हूँ, मर रहा हूं।

हाय रे ! अब क्या होगा ? हे कठोर, निर्दय होकर इस प्रकार मुझ पर प्रहार मत करो ! मुझे क्षणभर (मुहूर्त मात्र) दम लेने दो, कृपा करो, क्रोध मत करो, मैं जरा विश्राम ले लू, मेरी गर्दन में पडी हुई फासी खोल दो, मैं मरा जा रहा हू, प्यास से अत्यन्त पीडित हूँ, मुझे पानी पिला दो।' नारकीय जीवो द्वारा इस प्रकार कहने पर वे यमपुरुष असुरकुमारदेव कहते है—'ले नारक ! यह साफ और ठंडा पानी पीले।' यो कहते हुए वे नरकपाल तपे हुए सीसे को लेकर कलश में से नारकी की अजलि मे उडेलते हैं। उसे देखकर नारकीय जीवो के अगोपाग सिहर उठते है, उनकी आंखे आसुओ से भर आती हैं और वे कहते है—'बस, हमारी प्यास बुझ गई।' इस तरह करुणापूर्ण वचन बोलते हुए वे एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर झाकते हुए अरक्षित, अशरण, अनाथ, अबान्धव और स्वजनरहित होकर हिरणो की तरह भय से घबराए हुए तेजी से भागते है। उन भागते हुए नारकियो को कई निर्दय यमपुरुष हँसते हुए जबरन पकडकर, लोहे के डडो से उनका मुह खोलकर कलकल उबलते हुए सीसे को उनके मुह में उडेल देते है। उससे जले हुए वे नारकीय चिल्लाते है, कबूतरों की तरह भयकर करुणापूर्ण बेसुरा रुदन करते हैं। इस प्रकार बडबडाने, विलाप करने, दीनतापूर्वक गला फाडकर रोने, अत्यन्त अरण्यरोदन करने, और सिसकिया भर कर रोने की आवाज से युक्त एव थर्राते हुए या जोर-जोर से दुःख प्रगट करते हुए, रोके हुए और बधे हुए नारकियों के द्वारा स्पष्ट निकले हुए शब्दो को सुनकर चिल्लाते, स्पष्ट धमकाते, कोप करते और जोर-जोर से शोर मचाते हुए यमपालो की डाट पडती है - 'पकड लो इसे, इस पर पैर रखकर लाघ जाओ, इसे पीटो, छेद डालो, इसके टुकडे-टुकडे कर डालो, इसे उखाड डालो, इसकी आँखे वगैरह निकाल लो, कैंची से इसके नाक, कान काट डालो, इसे अच्छी तरह नोच डालो भून डालो या इसे फिर मारो, खूब मारो, इधर-उधर फेंक दो, ऊपर उछाल दो, सामने से खीचो, उलटा खीचो, अब क्यो नही बोलता है ? अरे पापी ! अपने किये हुए दुष्कर्मों—पाप कर्मों को याद कर।"

इस प्रकार यमपुरुषो द्वारा बोलने से फैला हुआ शोर, और उसकी प्रतिध्वनि के गूजने से व्याप्त नरकवासियो को सदा त्रास पहुँचाने वाला तथा विविध प्रकार की यातनाओ से पीडित होते हुए नारको का जलते हुए महानगर के घोष के समान अनिष्ट—अप्रिय महाघोष (हल्ला गुल्ला) वहाँ (नरक मे) सुनाई देता है। वे यातनाएँ कौन-कौन सी है ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है तलवार की धार के समान तीखे पत्तो के वन मे, कुश के वन मे, घरट्ट आदि पत्थरो पर, ऊपर मुख की हुई सूइया वाले भूतल पर, खारे रसो

से भरी हुई वावडियो मे, उबलते हुए रीसे से भरी हुई वैतरणी नदी मे, कदम्ब के फूल के समान आकार वाली तीक्ष्ण रेत पर और धधकती हुई गुफाओ मे नारकियो को फैंक कर या धकेल कर, गर्मा गर्म कटीले तथा अत्यन्त वजनदार होने के कारण कठिनाई से चलने वाले रथ मे जोत कर, तपे हुए लोहे के मार्ग पर चला कर एव वैलो की तरह दूसरो द्वारा बहुत वजन लादकर चलाये जाकर तथा इन आगे कहे जाने वाले अनेक प्रकार के हथियारो से नारकी परस्पर एक दूसरे को पीडा देते हे।

वे हथियार कौन-कौन से हे ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते हे—'मुद्गर मुसुंढि, करौत, त्रिशूल, हल, गदा, मूसल, चक्र, भाला, तोमर (तवर), शूली (बल्लम), लाठी, भिंडीमाल (गोफन), बरछी, पट्टिस नामक एक प्रहरण, चमडे से लपेटा हुआ एक प्रकार का पाषाण, द्रुघण (तोप या विशेष प्रकार का मुद्गर), हथौडा, तलवार या कटार, ढाल, दुधारी तलवार, धनुष, बाण, नली वाला बाण, कैंची, वसूला, कुल्हाडा, काटेदार शस्त्र, तथा तीखी नोक या पैनी धार वाले चमचमाते हुए हथियारों व और भी अनेक प्रकार के सैंकडो अशुभ आयुधों से, जो कि कृत्रिम या अकृत्रिम तरीको से विक्रिया के द्वारा बना लिए जाते है, सीधे प्रहार करते हुए, निरन्तर तीव्र वैरभाव धारण किये हुए वे नारकीय जीव, पूर्व वैर का स्मरण करके परस्पर एक दूसरे को पीडा के लिए उकसाते है।

इसी प्रकार वहाँ मुद्गरों के प्रहार से नारकियो के शरीर चूर-चूर कर दिये जाते है, मुसुढि नामक शस्त्र से शरीर जर्जर कर दिया जाता है, दही की तरह उनका शरीर मथ दिया जाता है, कोल्हू वगैरह यन्त्रों मे पीलने से वे थर्राते हे तो उनके शरीर के टुकडे-टुकडे कर दिये जाते हे, यहाँ कई नारकियो को चमडी उधेड कर विकृत कर दिया जाता है, उनके नाक, कान और ओठ जडमूल से काट लिये जाते है, हाथ पैर काट लिये जाते हे, उनका प्रत्येक अग तलवार, करौत, तीखे भालो और कुल्हाडो के प्रहार से फाड दिया जाता है और वसूले से छील दिया जाता है, उनके शरीर पर कलकल करता हुआ गर्मागर्म खार सीचा जाता है, जिससे शरीर जल जाता है, फिर भालो की नोक से उनके शरीर के टुकडे टुकडे कर दिये जाते हे, इस प्रकार उनके सारे शरीर का कचूमर निकाल दिया जाता है, उनका अग-अग सूज जाता है। ऐसी स्थिति मे वे वेचारे नारकीय जीव जमीन पर लुढक जाते हे, निढाल होकर भूमि पर गिर जाते है।

वहाँ पर हमेशा मानो विना खाये हुए रहने वाले, भूख से पीडित मदोन्मत्त भेडिये, शिकारी कुत्ते, गीदड, कौए, बिलाव, अष्टापद, चीते, बाघ

केसरी शेर और सिंह, घोर आवाजें करते हुए भयावना रूप धारण करके उन नारकियों पर टूट पड़ते हैं और अपनी मजबूत दाढ़ों से नारकों के शरीर के ऊपरी हिस्से को जोर से काटते हैं, फिर उसे खींचते हैं, अत्यन्त पैने नुकीले नखों से फाड़ डालते हैं और तब इधर-उधर चारों ओर फैंक देते हैं, जिससे उनके शरीर के जोड़ और बन्धन ढीले हो जाते हैं, उनके अंग-अंग विकृत या पृथक् कर दिये जाते हैं। उसके बाद तीखी मजबूत दाढ़, नख और लोहे के समान नुकीली चोंच वाले कंक, टिटहरी, गिद्ध तथा घोर कष्ट देने वाले कौओं के झुंड उन पर टूट पड़ते हैं और अपने पंखों से उन्हें घायल कर देते हैं, तीखे नखों से उनकी जीभ खींच लेते हैं और आँखें निकाल लेते हैं तथा निर्दयतापूर्वक उनके मुंह को नोचते और कुरेदते हैं। इसके कारण वे जोर-जोर से चिल्लाते हैं, कलपते हैं, उछलते हैं, नीचे गिरते हैं और इधर से उधर चक्कर लगाते हैं।

व्याख्या

यह मूलपाठ पूर्व सूत्र के ही आगे का पाठ है। इसमें पूर्ववर्णित हिंसा के महाभयंकर फल का उसी सिलसिले में निरूपण किया गया है। पूर्वपाठ में हिंसा करने वालों के नामों का उल्लेख करने के साथ-साथ हिंसा रूप दुष्कर्म के फलस्वरूप नरकागार और वहाँ दी जाने वाली भयंकर यातनाओं का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत मूलपाठ में नरकों में नारकियों को दी जाने वाली तीव्र यातनाएँ, उनके कारण नारकियों में होने वाली प्रतिक्रिया, नरकपालों द्वारा उनकी पुकार के बदले में उनके पूर्व कुकर्मों की याद दिला-दिला कर भयंकर से भयंकर पीड़ाएँ देने के विविध तरीके, पीड़ाएँ देने के लिए विविध शस्त्रों और उनके प्रहारों के विविध ढंग एवं नरक में वैक्रियजन्य विचित्र हिंस्र पशुपक्षियों द्वारा नारकियों के शरीर को क्षत-विक्षत करने आदि का स्पष्ट वर्णन शास्त्रकार ने किया है। इन नरकयातनाओं के वर्णन को पढ़ने-सुनने वाले के भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं तो फिर जिन्हें उन यातनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है, या इस दुनिया में भी मनुष्य और तिर्यञ्चयोनि पाए हुए जीवों की विविध दुःखद यातनाओं का दर्शन हुआ है या होता रहता है, वे स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि नरक के दुःख कितने भयंकर हैं और किस-किस प्रकार से प्राप्त होते हैं? हिंसा करने वाले व्यक्ति यहाँ चाहे समाज, राष्ट्र या सरकार की नजरों से बच जाय, यहाँ चाहे वे सरकार की आँखों में धूल झोंक कर अपने को निर्दोष साबित कर दें अथवा समाज या सरकार पर दबाव डालकर पशुपक्षियों की हत्या का [illegible] परवाना पा लें, किन्तु [illegible] की आँखों में धूल नहीं झोंक सकते, [illegible] सकता, [illegible] फल भोगना अवश्यम्भावी है। [illegible]

से भरी हुई वावडियो मे, उबलते हुए सीसे से भरी हुई वैतरणी नदी मे, कदम्ब के फूल के समान आकार वाली तीक्ष्ण रेत पर और धधकती हुई गुफाओ मे नारकियो को फैक कर या धकेल कर, गर्मा गर्म कटीले तथा अत्यन्त वजनदार होने के कारण कठिनाई से चलने वाले रथ मे जोत कर,तपे हुए लोहे के मार्ग पर चला कर एव बैलो की तरह दूसरो द्वारा वहुत वजन लादकर चलाये जाकर तथा इन आगे कहे जाने वाले अनेक प्रकार के हथियारो से नारकी परस्पर एक दूसरे को पीडा देते हे।

वे हथियार कौन-कौन से हे ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है— 'मुद्गर मुसु ढि,करौत, त्रिशूल, हल, गदा, मूसल, चक्र, भाला, तोमर (तवर), शूली (बल्लम), लाठी, भिंडीमाल (गोफन), बरछी, पट्टिस नामक एक प्रहरण, चमडे से लपेटा हुआ एक प्रकार का पाषाण, द्रुघण (तोप या विशेप प्रकार का मुद्गर), हथौडा, तलवार या कटार, ढाल, दुधारी तलवार, धनुप, बाण, नली वाला बाण, केंची, वसूला, कुल्हाडा, काटेदार शस्त्र, तथा तीखी नोक या पैनी धार वाले चमचमाते हुए हथियारों व और भी अनेक प्रकार के सैकडो अशुभ आयुधों से, जो कि कृत्रिम या अकृत्रिम तरीको से विक्रिया के द्वारा बना लिए जाते है, सीधे प्रहार करते हुए, निरन्तर तीव्र वैरभाव धारण किये हुए वे नारकीय जीव, पूर्व वैर का स्मरण करके परस्पर एक दूसरे को पीडा के लिए उकसाते है।

इसी प्रकार वहाँ मुद्गरों के प्रहार से नारकियो के शरीर चूर-चूर कर दिये जाते हे, मुसु ढि नामक शस्त्र से शरीर जर्जर कर दिया जाता है, दही की तरह उनका शरीर मथ दिया जाता है, कोल्हू वगैरह यत्रों मे पीलने से वे थर्राते हे तो उनके शरीर के टुकडे-टुकडे कर दिये जाते हे, यहाँ कई नारकियो को चमडी उधेड कर विकृत कर दिया जाता है, उनके नाक, कान और ओठ जडमूल से काट लिये जाते हे, हाथ पैर काट लिये जाते हे, उनका प्रत्येक अग तलवार, करौत, तीखे भालो और कुल्हाडो के प्रहार से फाड दिया जाता है और वसूले से छील दिया जाता है, उनके शरीर पर कलकल करता हुआ गर्मागर्म खार सीचा जाता है, जिससे शरीर जल जाता है, फिर भालो की नोक से उनके शरीर के टुकडे टुकडे कर दिये जाते हे, इस प्रकार उनके सारे शरीर का कचूमर निकाल दिया जाता है, उनका अग-अग सूज जाता है। ऐसी स्थिति मे वे वेचारे नारकीय जीव जमीन पर लुढक जाते हे, निढाल होकर भूमि पर गिर जाते हे।

वहाँ पर हमेशा मानो बिना खाये हुए रहने वाले, भूख से पीडित मदोन्मत्त भेडिये, शिकारी कुत्ते, गीदड, कोए, विलाव, अष्टापद, चीते, बाघ

बलात् उसे नरक या तिर्यञ्च योनि मे धकेल देते है या खीच ले जाते है। दुष्कर्म किसी के लिए भी रियायत नही करते। चाहे वह राजा हो, सेठ हो, ब्राह्मण हो, अनपढ हो, या पढा लिखा हो, मत्री हो या अध्यक्ष हो, अगर वह हिंसा जैसा दुष्कर्म करता है तो उसका दुष्परिणाम उसे अवश्य ही भोगना पडता है।

यही कारण है कि विश्वहितैषी ज्ञानी आप्तजनो ने जगत् के जीवो को दु खो की परम्परा मे लिपटे देख कर, उन पर दया लाकर उन दु खो के कारणो और दु ख के बीज बोने से बचने के हेतु नरकतिर्यञ्चगमनरूप विविध दुष्परिणामो को स्पष्ट रूप मे बता दिया है।

प्रस्तुत मूलपाठ मे नारकियो को होने वाली तीव्र वेदना और यमकायिको द्वारा दी हुई विविध यातनाओ का स्पष्ट निरूपण है। साथ ही नारकियो के मन-वचन-काया द्वारा उस पीडा के कारण होने वाली तीव्र प्रतिक्रिया का भी वर्णन किया गया है। अन्त मे, नरक के हिंस्र पशुपक्षियो द्वारा भी यातना पर यातना दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख है।

कटुफल का कारण—इतने भयकर दुष्परिणाम का आखिर कोई न कोई कारण जरूर है। कारण के बिना कोई कार्य नही होता। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—**'पुव्वकम्मकयसचयोवतत्ता'**—वे नारकी जीव पूर्व जन्मो मे उपार्जित दुष्कर्मों के सचय के कारण यहा सदा सतप्त रहते है। इस शब्द से कर्म करने और उसका फल भोगने मे जीवो की स्वतन्त्रता और उनके पुनर्जन्म का अस्तित्व द्योतित होता है। जो लोग यह कहते है कि ईश्वर ही जीवो को कर्म कराता है, और वही उनका फल भुगवाता है, यह बात असगत लगती है। क्योकि ईश्वर अगर जीवो से कर्म करवाता है या कर्म करने की स्वतन्त्रता देता है तो फिर वह पक्षपाती ठहरेगा, क्योकि एक को शुभकर्म करने और एक को अशुभ कर्म करने की प्रेरणा क्यो देता है? सबको ईश्वर शुभकर्म करने या कर्म क्षय करने की प्रेरणा क्यो नही देता? क्यो एक को चोर बनाता है, एक को साहूकार? यह ईश्वर को कर्ता-धर्ता मानने से बहुत बडा आक्षेप आता है। और फल भुगवाते समय भी वह सबको स्वर्ग या मोक्ष मे क्यो नही भेज देता? वह तो दयालु है। इसीलिए वैदिक धर्म के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ भगवद्गीता मे स्पष्ट कहा है—

'न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु.।
न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

अर्थात्—'ईश्वर लोक (जगत् के जीवो) का कर्तृत्व नही करता, न कर्मों की प्रेरणा ही करता है, और न ही कर्मों के फल का सयोग कराता है। यह ससार तो जीवो की अपनी-अपनी (कम) प्रकृति के अनुसार प्रवृत्त होता है।'

प्राणी को गति,आयु, योनि आदि प्राप्त होती हे। यहा नारकियो को जो नरकभूमि मिलती है और नरक मे इतना भयकर दु ख मिलता है, वह सब पूव जन्मकृत अशुभ कर्मों के जत्थे के कारण ही हे।

कई कर्म ऐसे होते है, जिनका फल तुरन्त या इसी जन्म मे ही मिल जाता हे। कई कर्म ऐसे होते ह जिनका फल दूसरे जन्म मे या अनेक जन्म के वाद मिलता हे। गति कर्म और आयु कर्म का फल सदा अगले जन्म मे मिला करता है। जैसी गति या योनि मिलती है, उसी के अनुसार उसे शुभ या अशुभ फल भी मिलता है।

साराश यह ह कि जीव स्वय ही अपने मन-वचन-काया की प्रवृत्ति के कारण कर्मवन्ध करता हे और अन्तिम समय मे कर्मो के जत्थे के अनुसार उसे गति व योनि मिलती हे, और तदनुसार ही उसे सुफल या दुष्फल भोगना पडता है।

कर्मबन्ध के प्रकार—प्रसगवश हम यहाँ कर्मवन्ध के प्रकारो का भी सक्षेप मे परिचय दे देते है। कर्मबन्ध के ४ प्रकार हे—प्रकृतिवन्ध, स्थितिवन्ध, अनुभाग (रस) वन्ध और प्रदेशवन्ध। प्रकृति का अर्थ स्वभाव हे। जैसे नीम की प्रकृति कडवी और ईख की प्रकृति मीठी हे,वैसे ही कर्मो की प्रकृति जीव के ज्ञान आदि शक्तियो को रोकने की है। प्रकृतिवन्ध मन-वचन-काया की प्रवृत्ति (व्यापार) से होता है। प्रकृतिवन्ध मूलत आठ प्रकार का है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। उत्तर प्रकृतियाँ १४८ है।

कर्म करते समय ससारी जीवो के समय-समय मे अनन्त कर्मपरमाणुओ का वन्ध होना प्रदेशवन्ध कहलाता है। यह भी मन-वचन-काया की प्रवृत्ति (व्यापार) से होता है। कहा भी है—

'जोगा पयडिपदेसा ठिइ-अणुभागा कषायदो होंति।'

यानी योग (मन-वचन-काया के व्यापार) से प्रकृतिवन्ध और प्रदेशवन्ध होता है तथा कपाय (क्रोधादि) से स्थितिवन्ध और अनुभागवन्ध होता है।

क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कपायो से वधे हुए कर्मो मे स्थिति (अमुक समय तक कर्मो की आत्मा के साथ टिके रहने की अवधि) का बन्ध होना, स्थितिवन्ध कहलाता है। जैसे जहाँ चिकनाई हो, वहाँ धूल ज्यादा देर तक चिपकी रहती है, जहाँ चिकनाई न हो वहाँ धूल तुरन्त खिर जाती है या उड जाती है, वैसे ही आत्मा पर कपायो की चिकनाई जितनी न्यूनाधिक होगी, उतनी अवधि तक आत्मा के साथ कर्मरज लगी रहती हे। कपाय तीव्र होता हे तो दीघकाल की स्थिति, मद होता है तो थोडे काल की और मध्यम होता है तो मध्यम स्थिति का वन्ध होता है।

कर्मो मे शुभाशुभफल देने की तीव्रता-मदता रूप शक्ति का वधना अनुभागवन्ध है। अनुभागवन्ध भी कपायो के अनुसार ही होता ह। तीव्र कपाय होगा तो तीव्र अनुभाग-वन्ध होगा, मध्यम होगा तो मध्यम और मन्दकपाय होगा तो मद अनुभागवन्ध होगा।

इन चारो प्रकार के कर्मवन्धो के जत्थे के अनुसार किसी भी जीव को शुभा-शुभ गति, योनि और तदनुकूल ही सुखदु खादि रूप फल प्राप्त होते ह ।

नारकीय जीवो को भी इन चारो प्रकार के कर्मवन्धो के जत्थे के फलस्वरूप अशुभ भयकर नरकगति, नरकयोनि और नरकायु मिलती है तथा तदनुकूल ही अपार दु ख, शारीरिक-मानसिक तीव्र वेदना, भयकर से भयकर यातनाएँ मिलती हे । जिसका विशद वर्णन शास्त्रकार ने मूलपाठ मे स्वय किया है ।

नारको की लम्वी स्थिति—इस मनुष्य लोक मे भी देखा जाता है कि जो जितना वडा अपराध करता है, उसे उतनी ही लम्वी जेल की सजा और वह भी सख्त सजा दी जाती है । इसी प्रकार जो जितना वडा अपराध या महापाप करता है, उसे उतनी ही लम्वी अवधि की सजा नरक के रूप मे मिलती है । इसीलिए पूर्वोक्त सातो नरको की स्थिनि भी क्रमश अधिकाधिक होती गई है । नीचे सात नरको की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति की तालिका दी जा रही है—

जघन्यस्थिति १० हजार वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति	
प्रथम नरकभूमि रत्नप्रभा	१	सागरोपम
दूसरी नरकभूमि शर्कराप्रभा	३	"
तीसरी नरकभूमि वालुकाप्रभा	७	"
चौथी नरकभूमि पकप्रभा	१०	"
पाचवी नरकभूमि धूमप्रभा	१७	"
छठी नरकभूमि तम प्रभा	२२	"
सातवी नरकभूमि तमस्तम प्रभा	३३	"

असख्यात वर्षो का एक पल्योपम काल होता है और दश क्रोडा-क्रोड पल्योपम का एक सागरोपम काल होता है । इतने लम्वे समय तक नारकी जीवो को नरक मे लाजमी रहना होता है, और सतत छेदन—भेदन आदि के महान् दु खो को सहना पडता है । इतनी लम्वी नरक की सजा के दौरान नारकी जीव वहाँ से कही भाग कर छूट नही सकता, और न आत्महत्या ही कर सकता है । क्योकि नरक के जीवो का आयुष्य वीच मे किसी भी कारण से टूटता नही हे । आयुष्य का वध पूर्व जन्म से जितनी अवधि तक का होता है, उससे एक क्षण भी कम नही हो सकता, उतनी अवधि तक भोगना अनिवार्य होता है ।

इसीलिए शास्त्रकार ने वताया हे—'**वहूणि पलिओवम सागरोवमाणि कलुण पालेंति ते अहाउय** ।' अर्थात् वे नारकी जीव वहुत पल्योपम और सागरोपमो तक की आयु दीनतापूर्वक रिव रिव कर विताते है ।'

नरकपालो द्वारा नारको को दी जाने वाली यातनाएँ—मनुष्य लोक मे जव कोई चोरी या हत्या जैसा भयकर अपराध करता है तो पुलिस वाले उसे पकडकर थाने

मे ले जाते है और उससे अपना अपराध स्वीकार करवाने के लिए निर्दयता से मारते, पीटते और सताते है। इसी प्रकार जेलखाने मे कैदियो को भी भयकर यातनाएँ दी जाती है। वैसे ही नरक मे कुछ असुरकुमार जाति के देव हैं, जो इन नारको को अपने पूर्वकृत अपराधो की याद दिला दिलाकर भयकर से भयकर यातना देते है। वे बडी बेरहमी से उन्हे विविध शस्त्रो से मारते, पीटते हैं, उनके अगोपागो को काट डालते हैं, शरीर के टुकडे-टुकडे कर देते हैं, उन्हे पैरो से कुचलते है, मार-मार उनकी चमडी उधेड देते है, शरीर सूजा डालते है, क्रूर पशु पक्षियो के आगे उन्हे डाल देते हैं, वे उन्हे मुर्दा समझ कर उन पर बुरी तरह टूट पडते हैं, उन्हे नोचते है, शरीर की बोटी-बोटी काट खाते है। इन सब दु खो से घबराकर जब वे आर्तनाद करते है, दीन-भाव से हाथ जोडकर उन परमाधर्मी असुरो से छोड देने की प्रार्थना करते है, उनके आगे पुकार करते है, प्यास बुझाने के लिए पानी मागते हैं तो वे पहले तो उन्हे डाटते, धमकाते है और उन पर क्रोध बरसाते है। फिर उनकी अजलि मे गर्मा-गर्म खौलता हुआ सीसा उडेल देते है। वे बेचारे इसे पीते नही, अपितु हाय हाय करके थर्राते हुए,डरते हुए, हिरणो की तरह इधर-उधर भागने लगते हैं। परन्तु ये परमाधामी फिर भी पकडकर उनके मु ह को लोहे के डडे से खोलकर खौलता हुआ सीसा उनके मु ह मे डाल देते है। उन्हे अपने किये कर्मों की याद दिला दिलाकर भयकर से भयकर अमानुषिक यातना देते है।

यह वर्णन इतना स्पष्ट है कि इसे ज्यादा समझाने की जरूरत नही।

ये यमकायिक नरकपाल देव, जिन्हे वर्तमान भाषा मे यमदूत भी कहा जा सकता हे, बडे ही अधार्मिक वृत्ति के क्रूरातिक्रूर परिणाम वाले रौद्रध्यानी होते है। इन्हे नारको को यातना पाते देखने मे और उन्हे यातना देने मे बडा आनन्द आता है। ये यम नामक दक्षिण दिशा के रक्षक देव के सेवक होते हैं, अम्ब, अम्बरीय आदि नाम के असुरकुमार जाति के ये देव होते है। इन्हे परमाधामी या परमाधार्मिक भी कहते हैं। ये अपने इन अशुभ परिणामो के कारण मर कर अशुभगति मे जाते ह।

ये तीसरी नरकभूमि तक जाते है और वहाँ के नारकियो को दु ख पहुचाने के लिए कमर कसे रहते है। ये स्वय वैक्रियलब्धि से नाना रूप बनाकर या भयावने पशु आदि के रूप धारण करके अथवा नाना प्रकार के शस्त्र-अस्त्र बनाकर नारकियो को निरन्तर बेरहमी से सताते रहते हैं। तथा नारकियो को भी पूर्व जन्मो के वैर की याद दिला-दिलाकर परस्पर लडाते-भिडाते रहते हैं। इसीलिए मूलपाठ मे बताया गया है—"सराहि पाव कम्माइ दुक्कयाइ' अर्थात्—"अरे पापी, अपने किये हुए बुरे पाप कर्मों का स्मरण कर।" क्या असुरदेवो द्वारा इस प्रकार याद दिलाने से वे अपने पूवकृत दुष्कृत्यो का स्मरण कर लेते है ? इसके उत्तर मे यही कहना ह कि देवो और नारको को जन्म लेते ही भव प्रत्यय अवधिज्ञान हो जाता है। अवधिज्ञान से इन्द्रियो की सहायता

नारक स्वयं अपने कृतकर्मों का दुष्फल स्वयं नही भोगना चाहता। हर साधारण व्यक्ति दुष्कृत्य के फल से बचने का प्रयत्न करता ह। वह चाहता है, मुझे अपने कुकर्मों का फल न मिले। इसलिए वे परमाधामी यमकायिक देव नारकियो को भयकर से भयकर सजा देते ह और उन्हे उकसा-उकसाकर लडाते है, नाना प्रकार की यातना देने मे वे कोई कोरकसर नही छोडते।

नारकों द्वारा परस्पर दी जाने वाली यातनाएं—तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है—'**परस्परोदीरितदु खा**' नारकीय जीव पुराने वैर, झगडे, दुर्व्यवहार आदि का जन्म से प्राप्त विकृत अवधिज्ञान (विभगज्ञान) के प्रभाव से स्मरण करते है और एक दूसरे को मारने-पीटने लगते है। वे पूर्वजन्म का वैर स्मरण करके उसे शान्त करने की अपेक्षा तीव्र क्रोधावेश मे आकर वैर वसूल करते है। एक नारकी शस्त्र बन जाता है, दूसरा उसे उठाकर मारता है। विक्रिया लब्धि के प्रभाव से कोई कडाही बन जाता है, कोई अग्नि और कोई तेल बन जाता है और उस गर्मा-गर्म तेल मे कोई किसी को उठाकर फेंक देता है। इस प्रकार नारकियो को प्राप्त अवधि ज्ञान और विक्रियालब्धि उन्हीं के मरने-मारने के काम आती है। यानी इन दोनो से वे एक दूसरे को निरतर कष्ट देने मे लगे ही रहते है। ये दोनो लब्धियां नारको के लिए वरदान के बजाय अभिशाप रूप बनती है। क्योंकि नरक मे शरीर आदि जितनी भी वस्तुएं मिलती हैं, वे सबकी सब असाता की ही निमित्त होती हैं, उत्तम निमित्तो को पाकर भी वे अपने लिए दु ख का बीज बोते है, एक दूसरे के लिए दु ख को उभाडते है। पुरानी तुच्छ बातो को याद करके कुरेदते रहते है और एक दूसरे को भडकाकर परस्पर गुत्थमगुत्था हो जाते है। इस प्रकार नारक लोग दु ख की परम्परा बढाकर, तीव्र क्रोध के वशीभूत होकर, असहिष्णु बनकर निरन्तर दु ख ही दु ख मे सारी जिंदगी बिताते हैं। यही बात शास्त्रकार ने सूचित की है—

'अणुबद्धतिव्ववेरा परोप्पर वेयण उदीरेंति अभिहणता।'

विक्रिया द्वारा शस्त्रादि निर्माण क्यो और कैसे ?—नरक मे जितने भी साधन मिलते है, वे अपने दु ख के बढाने वाले होते है। वैक्रिय लब्धि नारको को मिलती है, देवो को भी। परन्तु नारको को वह मिलती है, उनके लिए अभिशाप के रूप मे ही। क्योकि वे उसके प्रभाव से शस्त्रादि बनाकर परस्पर लडते है और दु ख पाते है।

विक्रिया दो प्रकार की होती है—पृथक् विक्रिया और अपृथक् विक्रिया। पृथक् विक्रिया देवो को प्राप्त होती है, जिसके प्रभाव से देव एक साथ अनेक शरीर बना सकते है। नारको को अपृथक् विक्रिया प्राप्त होती है, जिसके प्रभाव से वे अपने शरीर से एक समय मे एक ही विक्रिया कर सकते है और वह भी अशुभरूप विक्रिया ही। विक्रियारूप शरीर मूल शरीर से दुगुनी अवगाहना वाला बना सकते है। अर्थात् अपने शरीर को हिंसक प्राणी के रूप मे या शस्त्र के रूप मे बदल सकते है। यही बात 'असुभेहिं वेउव्विएहिं' (अशुभ विक्रियाओ द्वारा) पदो से सूचित होती है। यद्यपि नारकी जीव शुभ विक्रिया करना चाहते है, लेकिन होती है—अशुभ विक्रिया ही। यह उस नरकभूमि का प्रभाव है।

अम्ब, अम्बरीप आदि असुरकुमार जाति के नरकपाल देव अपने शरीर से एक समय मे अनेक आकार वाले शरीर या शस्त्रादि बना सकते है, लेकिन वे तीसरी नरकभूमि के आगे नही जा सकते। जबकि नीचे की नरकभूमियो मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक दु ख होता है। सवाल होता है कि वहाँ पर तो ये नरकपाल देव होते नही, फिर कौन दु ख या यातनाएँ उन्हे देता है ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार ने नरक मे जो शस्त्रास्त्रो के नाम गिनाए हैं या पशु पक्षियो के नामो का उल्लेख किया है, वे सब वहाँ होते नही, परन्तु ये सब नारको की विक्रिया के रूप है। वैक्रिय लब्धि द्वारा नारकी इन्हे स्वय बनाते है और परस्पर एक दूसरे को दु खी करते है, नारक ही दूसरे नारको को वहाँ (चौथी नरकभूमि से ७ वी तक) यातनाएँ देते है। कोई नारक करौतरूप बन जाता है, कोई तलवार रूप, कोई नारकी गिद्ध बन जाता है तो कोई कौआ। इस प्रकार एक दूसरे को पीडा देने मे तत्पर रहते हैं।

वैक्रियलब्धि होने के कारण उन नारकियो के शरीर के टुकडे-टुकडे कर दिये जाने पर भी, कोल्हू मे पीलकर उनके तमाम अग चूर-चूर कर दिये जाने पर भी, रेत के समान भुरभुरे कर देने पर भी, वे पुन ज्यो के त्यो पारे के समान जुड जाते है, वैसे के वैसे मिल जाते है। उनकी अकाल मृत्यु नही होती। इसलिए शरीर के कितने ही टुकडे कर दिये जॉय, अग तोडमरोड दिये जाय या चमडी उधेड दी जाय, अथवा लहुलुहान कर दिया जाय, या काटा पीटा या छेदा जाए, या छुरी आदि उनके पेट मे झोक दी जाय, फिर भी जब तक का उनका आयुष्य बधा है, तब तक वे मरते नही। इसीलिए तो वहाँ बार-बार यातनाएँ प्राप्त होती रहती है। एक बार शरीर के टुकडे करते ही, या छुरा भोकते ही जैसे यहाँ मनुष्य के प्राणपखेरू उड जाते है, वैसे नारक

जीवों का प्राणान्त नहीं होता। इसलिए एक ही बार मरणान्त कष्ट पाकर भी उनके प्राणों का अन्त नहीं होता, इसलिए बारबार वे अपनी जिन्दगी मे ऐसे मरणान्तक कष्ट पाते रहते हैं।

क्षेत्रकृत दु ख—नारकों को नरक मे नरकपालों के निमित्त से, परस्पर नारकों के निमित्त से, तो भयंकर शारीरिक एवं मानसिक दु ख होता ही है, परन्तु क्षेत्रकृत दु ख भी कम नहीं है। ऐसा तो होता नहीं कि नरकायु का बंध होने पर उसे नरक का क्षेत्र न मिले। वह तो अवश्यम्भावी है। जीवों की हिंसा करने वाले प्राणी को रौद्र-ध्यान के कारण नरकायु का बंध होता है। जिसके कारण उसे नरक का महादु खद क्षेत्र मिलता है। उस क्षेत्र से निकल कर वह बाहर कहीं नहीं जा सकता। अपनी जिन्दगी की लम्बी अवधि बिताने के बाद ही नारकी उस क्षेत्र से छुटकारा पा सकता है।

नरक के क्षेत्र की भयंकरता का इस सूत्रपाठ से पहले के सूत्रपाठ मे स्पष्ट वर्णन किया जा चुका है। फिर भी उस क्षेत्र की दु खदता को वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की दृष्टि से तथा दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, स्वाद्य, और गम्य की दृष्टि से टटोलें तो हमे स्पष्ट आभास हो जायगा। नरक की भूमि का रूप बडा ही भौंडा, भद्दा और विकृत है। वहा कोई सुन्दरता, रमणीयता या मनोहारिता नही है। कोई बाग बगीचे वहाँ नहीं, कोई व्यवस्थित मकान नहीं, न कोई वहाँ प्रकाश है या सुन्दर रंग बिरंगी चीजें ही है, जिन्हे देखकर आँखो को शान्ति या सुख मिले। नरकभूमि का दृश्य अत्यन्त भद्दा है। यहाँ ऊबडखाबड, भयकर भूमि है। कोई दरवाजे नही, सर्वत्र अंधेरा ही अंधेरा है, काला ही काला। अपने महापाप को द्योतित करने वाला यह रंग है। यहाँ के रस का तो पूछना ही क्या? हालाहल विष से भी अधिक बुरा रस यहाँ होता है। कोई भी स्वादिष्ट मीठी या चरपरी वस्तु यहाँ नही होती, जिसे चख कर जीभ को तृप्त किया जा सके। स्वाद्य वस्तु तो यहाँ कोई है ही नही। सभी वस्तुएँ नीरस और अत्यन्त खराब होती है। शब्द तो नारकभूमि मे सदा कर्णकटु ही सुनने को मिलते हैं। नारको की चीखों, पुकारो से तथा चिल्लाहट, रोने, हाहाकार मचाने, गला फाडकर रोने के शोर से और इसकी प्रतिध्वनि एवं नरकपालो के भयकर कर्कश शब्द से नरक हर समय भरा रहता है। नरक मे कोमल, मधुर, प्रिय, मनोहर, आदरजनक, संगीतमय शब्दो का काम ही क्या?

यहाँ की भूमि का स्पर्श हजारो-हजार बिच्छुओ के एक साथ डंक मारने पर जितना दु खद होता है, उससे भी अधिक दु खप्रद है। असिपत्र, वैतरणी नदी, रेत आदि का स्पर्श तीक्ष्ण, गर्म और अत्यन्त खुरदरा है। कोमल और गुदगुदा स्पर्श तो यहाँ किसी भी चीज का नही है। दीवारें है तो बिलकुल कठोर वज्रमयी, नीचे का भूमितल

है तो वह भी अत्यन्त खुरदरा और ऊवडखावड है। किसी भी वस्तु के स्पर्श से यहाँ सुखानुभव नही होता।

और यहाँ के गध का तो कहना ही क्या ? यहाँ इतनी दुर्गन्ध, सडान और वदवूदार रास्ते है कि मारे वदबू के नाक फट जाय। सातवी नरकभूमि की मिट्टी का एक कण भी यदि इस मध्य लोक मे आ जाय तो उसकी दुर्गन्ध से (वदवूदार तेज गैस से) २४½ कोस (४६ मील) तक के जीव मर जायेगे। पहले नरक के प्रथम पटल की मिट्टी की गन्ध मे आधाकोस (१ मील) दूर तक की मारक शक्ति है, दूसरे पटल (पाथडे) की मिट्टी मे १ कोस (२ मील)—इस प्रकार आगे के एक-एक पटल की गध मे उत्तरोत्तर एक-एक मील (यानी आध-आध कोस) अधिक दूरी तक मारने की शक्ति है। सातवी नरकभूमि का पटल ४६ वाँ होने से उसकी मिट्टी की गध मे ४६ मील (२४॥ कोस) दूर तक मनुष्यतिर्यंचो को मारने की शक्ति है। सुगन्ध का तो वहाँ नामोनिशान ही नही है, तव वहाँ की गन्ध से सुखानुभव कैसे हो सकता है।

इन चारो की कसौटी पर नरकभूमियो को कस लेने के वाद नरकभूमियो के वारे मे निर्विवाद कहा जा सकता है, कि वहाँ नारको को क्षेत्रकृत दु ख भी अपार है।

तीनो प्रकार के दु खो की नारको पर प्रतिक्रिया—पूर्वोक्त स्वजातिकृत, नरकपालकृत और क्षेत्रगत—इन तीनो प्रकार के दु खो की वहुत ही तीव्र प्रतिक्रिया नारको पर होती है। वे पीडा के मारे कराहते है, चीखते हैं, चिल्लाते हैं, शोर मचाते हैं, रोते है, वहुत प्रकार से आरजू मिन्नते करते है, करुणापूर्ण स्वर मे पुकार करते है, दया की भीख मागते है। इतने पर भी जव कोई नही सुनता और उन्हे आश्वासन नही देता तो वे भय के मारे घवरा कर इधर उधर भागने और नरकपालो के चगुल से छूटने का प्रयत्न करते है, मगर वे नरकपाल तो उन्हे जवरन पकड कर उनके मु ह मे गर्मागर्म सीसा उ डेल देते है, उनके द्वारा विभिन्न प्रकार से सताये जाने पर या मारे पीटे जाने या अग भग किये जाने पर वे फिर दीन-हीन होकर कातरभाव से चारो दिशाओ मे झाकते है, मानो कोई उन्हे वचा ले, उनके चगुल से छुडा दे। पर वे अशरण, अवाधव, अनाथ नारक अधिकाधिक त्रस्त और पीडित किये जाते है, विवश पराधीन होकर वे नरकपालो के कहे अनुसार विविध यातनाएँ मन मसोस कर चुपचाप सहते जाते हैं, कभी-कभी करुण आर्तनाद व विलाप करते है। इस प्रकार सारी लम्वी जिन्दगी वे निरन्तर दु ख के मारे रोते-धोते और आर्त्तध्यान करते हुए विताते है। इस सतत आर्त्तध्यान के कारण वे पुराने अशुभ कर्मो को तो क्षय नही कर पाते, नये कर्म और वाध लेते है, परस्पर वैर की परम्परा वढा कर वे रौद्रध्यानी भी सदा वने रहते हैं। रातदिन मार काट, दु ख और यातना के वीच रहते-रहते उनका जीवन भी परमाधामियो की तरह क्रूर, कठोर, निर्दय, परस्पर लडाकू, वैरग्रस्त और अज्ञानमय वन जाता है। नारक जीव इन विविध यातनाओ और दु खो के मारे

किंकर्तव्य विमूढ होकर जीवन से ऊब कर कभी आक्रन्दन करते है,कभी नीचे गिरते है, कभी चक्कर लगाते है, कभी ऊपर को उछलते है । इसीलिए शास्त्रकार कहते है—

"उक्कोसता य उप्पयता निपतता भमता ।" नारको मे से जिसके शरीर की जितनी ऊँचाई होती है, वह उतना ही ऊँचा उछल सकता है । जैसे सातवी नरक-भूमि के नारको के शरीर की उत्कृष्ट ऊँचाई ५०० धनुष है, छठी की २५० धनुष है, पाचवी की १२५ धनुष, चौथी की ६२॥, तीसरी की ३१। धनुष, दूसरी की १५॥ = धनुष अर्थात् १५ धनुष २ हाथ १२ अगुल और पहली की ७ धनुष ३ हाथ ६ अगुल ऊँचाई है, तो वह नारक उतना ही ऊँचा उछल सकता है, जितनी ऊँचाई की उसकी नरकभूमि की सीमा हो ।

नारको की इन सब प्रतिक्रियाओ का वर्णन शास्त्रकार ने स्वयमेव मूलपाठ मे किया है ।

ये सब हिंसा के बुरे नतीजे है, जिनके कारण नरकगति मे पैदा होकर नाना प्रकार की यातनाएँ बहुत दीर्घकाल तक भोगनी पडती है । यह सब बताकर शास्त्रकार ने हिंसा से बचने की प्रेरणा परोक्षरूप से दे दी है ।

तिर्यंचगति और मनुष्यगति में हिंसा के कुफल

नरकगति मे हिंसा के कुफलो का वर्णन पूर्वोक्त सूत्रपाठ मे करने के बाद अब शास्त्रकार तिर्यञ्च गति और मनुष्यगति मे कुफलस्वरूप क्या-क्या यातनाएँ सहनी पडती है, इसका निरूपण करते है—

मूलपाठ

पुव्वकम्मोदयोवगता पच्छाणुसएण डज्झमाणा णिंदता पुरेकडाइ कम्माइ पावगाइ तहिं तहि तारिसाणि ओसण्ण-चिक्कणाइ दुक्खाइ अणुभवित्ता, तत्तो य आउक्खएण उव्वट्टिया समाणा बहवे गच्छंति तिरियवसहिं दुक्खुत्तार सुदारुणं जम्मण-मरणजरावाहिपरियट्टणारहट्टं जल-थल-खहचरपरोप्परविहिंसण-पवंच, इम च जगपागड वरागा दुक्ख पावेति दीहकाल । किं ते ? सीउण्ह-तण्हा-खुह-वेयणअप्पईकार-अडविजम्मण-णिच्चभउ-व्विग्गवास-जग्गण-वह-बधण-ताडणकण-निवायण-अट्ठिभजण-नासा-भेय-प्पहारदूमण-छविच्छेयण - अभिओगपावण - कसकुसारनिवाय-दमणाणि, वाहणाणि य, मायापितिविप्पयोग-सोयपरिपीलणाणि य, सत्थग्गि-विसाभिघाय-गलगवलावणमारणाणि य, गलजालु-

च्छिप्पणाणि य, प (ओ) उलणविकप्पणाणि य, जावज्जीविग-बधणाणि, पजरनिरोहणाणि य, सयूहनिद्धाडणाणि य,धमणाणि य, दोहणाणि य, कुदडगलबधणाणि य, वाडगपरिवारणाणि य, पकजल-निमज्जणाणि य, वारिप्पवेसणाणि य, ओवायणिभगविसम-णिवडणदवग्गिजालदहणाइ (याइ) य । एव ते दुक्खसयसपलित्ता नरगाओ आगया इह सावसेसकम्मा तिरिक्खपचेदिएसु पावति पावकारी कम्माणि पमाय-राग-दोस-वहुसचियाइ अतीव अस्साय-कक्कसाइ ।

भमर-मसग-मच्छिमाइएसु य जाइकुलकोडिसयसहस्सेहिं नवहि चउरिंदियाण तहि तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवता काल संखि (खे) ज्ज (ज्जक) भमति नेरइयसमाणतिव्वदुक्खा फरिस-रसण-घाण-चक्खुसहिया । तहेव तेइ दिएसु कु थु-पिप्पी-लिया-अधिकादिकेसु य जातिकुलकोडिसयसहस्सेहि अट्ठहिं अणूणगे (ए) हिं तेइ दियाण तहि तहि चेव जम्मणमरणाणि अणुहवता काल सखिज्जग भमति नेरइयसमाणतिव्वदुक्खा फरिसरसणघाण-सपउत्ता । गडूलय-जलूय-किमिय-चदणग-मादिएसु य जातिकुल-कोडिसयसहस्सेहिं सत्तहि अणूणएहिं बेइदियाण तहि तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवता काल सखिज्जक भमति नेरइयसमा-णतिव्वदुक्खा फरिसरसणसंपउत्ता । पत्ता एगिदियत्तण पि य पुढवि-जल-जलण-मारुय-वणप्फतिसुहुमबायर च पज्जत्तमपज्जत्त पत्तेयसरीरणामसाहारण च, पत्तेयसरीरजीवेसु (जीविएसु) तत्थ वि कालमसखेज्ज (ज्जगं) भमति, अणतकाल च अणतकाए फासिंदियभावसपउत्ता दुक्खसमुदयं इम अणिट्ठ पाव (वि) ति पुणो पुणो तहि तहिं जेव परभवतरुगणगहणे ।।

कोद्दाल-कुलिय-दालण-सलिल-मलण - खु भण-रु भण-अण-लाणिल-विविहसत्थघट्टण-परोप्पराभिहणण-मारण - विराहणाणि

य अकामकाइ परप्पओगोदीरणाहि य कज्जपओयणेहि य पेस्स-पसुनिमित्त-ओसहाहार-माइएहि उक्खणण-उक्कत्थण-पयण-कोट्टण-पीसण-पिट्टण-भज्जण - गालण - आमोडण-सडण-फुडण-भजण-छेयण-तच्छण-विलु चण-पत्तज्झोडण-अग्गिदहणाइयाइ, एव ते भवपरंपरादुक्खसमणुबद्धा अडति संसारे बीहणकरे जीवा पाणाइवायनिरया अणतकाल, जे वि य इह माणुसत्तणं आगया कहिं वि नरगा उवट्टिया अधन्ना ते वि य दीसति पायसो विकय-विगलरूवा खुज्जा वडभा य वामणा य बहिरा काणा कुटा पगुला विगला य मूका य ममणा य अधयगा एगचक्खू विणिहय-सचिल्लया (सपिसल्लया) वाहिरोगपोलिय-अप्पाउय-सत्थबज्झ-बाला कुलक्खणुक्किन्नदेहा दुब्बल-कुसघयण-कुप्पमाण-कुसठिया कुरूवा किविणा य हीणा होणसत्ता णिच्च सोक्खपरिवज्जिया असुहदुक्खभागी णरगाओ उवट्टित्ता इह सावसेसकम्मा (उवट्टा समाणा)।

एवं णरग तिरिक्खजोणिं कुमाणुसत्त च हिंडमाणा पावति अणताइ दुक्खाइ पावकारी। एसो सो पाणवहस्स फलविवागो इहलोइओ पारलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भयो बहुरयप्प-गाढो दारुणो क्क्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चती, न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति एवमाहसु, नायकुलनदणो महप्पा जिणो उ वीरवरनामधेज्जो कहइ (कहेसि य) पाणवहस्स फल-विवाग, एसो सो पाणवहो चडो रुद्दो खुद्दो अणारिओ निग्घिणो निसंसो महब्भओ बोहणओ तासणओ अणज्जो (अण-ज्जाओ) उव्वेयणओ य णिरवयक्खो निद्धम्मो निप्पिवासो निक्क-लुणो निरयवासगमणनिधणो मोहमहब्भयपवड्ढओ मरणवेमणसो।

पढम अहम्मदार समत्त त्ति बेमि ॥१॥

संस्कृत-छाया

पूर्वं दुर्मोदयोपगता पश्चादनुशयेन दह्यमाना निन्दन्त पुराकृतानि कर्माणि पापकानि तत्र तत्र तादृशानि अवसन्नचिक्कणानि दुःखानि अनुभूय ततश्चायुःक्षयेणोद्वृत्ता सन्तो बहवो गच्छन्ति तिर्यग्वसति दुःखोत्तारां सुदारुणां, जन्ममरणजराव्याधिपरिवर्त्तनारघट्टां जल-स्थल-खेचरपरस्पर-विहिंसनप्रपञ्चां, इदं च जगत्प्रकटं वराका दुःखं प्राप्नुवन्ति दीर्घकालम् । किं तत् ?, शीतोष्ण-तृष्णा-क्षुद् वेदनाऽप्रतीकाराऽटवीजन्म-नित्यभयोद्विग्नवास-जागरण-वध-बंधन-ताडनाङ्कन - निपातनास्थिभञ्जन - नासाभेद-प्रहार-दवन छविच्छेदनाभियोगप्रापण-कशाङ्कुशारानिपात-दमनानि वाहनानि च मातृ-पितृविप्रयोग-श्रोतःपरिपीडनानि शस्त्राग्नि-विषाभिघात-गलगवलावलन-मारणानि च, गलजालोत्क्षेपणानि प्रज्वलनविकल्पनानि च यावज्जीविक-बंधनानि पंजरनिरोधनानि च स्वयूथनिर्घाटनानि धमनानि च दोहनानि च कुदण्डगलबन्धनानि वाटकपरिवारणानि पंकजलनिमज्जनानि च वारिप्रवेश-नानि चावपातनिभंग-विषमनिपतन-दवाग्निज्वाला-दहनानि (इत्यादि) च। एवं ते दुःखशतसंप्रदीप्ता नरकादागता इह सावशेष-कर्म्माणः तिर्यक्पञ्चेन्द्रि-येषु प्राप्नुवन्ति पापकारिणः कर्माणि प्रमाद-राग-द्वेष-बहुसंचितानि अतीवा-सातकर्कशानि ।

भ्रमर-मशक-मक्षिकादिषु च जातिकुलकोटिशतसहस्रेषु नवसु चतुरिन्द्रियाणां तत्र तत्र चैव जन्ममरणान्यनुभवन्तः कालं संख्येयकं भ्रमन्ति नैरयिकसमानतीव्रदुःखाः स्पर्श-रसन-घ्राणचक्षुःसहिताः । तथैव त्रीन्द्रियेषु कुन्थुपिपीलिकान्धिकादिकेषु च जातिकुलकोटिशतसहस्रेषु अष्टस्वन्यूनकेषु त्रीन्द्रियाणां तत्र तत्र चैव जन्ममरणान्यनुभवन्तः कालं संख्येयकं भ्रमन्ति नैरयिकसमान-तीव्रदुःखाः स्पर्श-रसन-घ्राणसंप्रयुक्ताः । गण्डूलक-जलौक-कृमिक-चन्दनकादिकेषु च जातिकुलकोटिशतसहस्रेषु सप्तस्वन्यूनकेषु द्वीन्द्रियाणां तत्र तत्र चैव जन्ममरणान्यनुभवन्तः कालं संख्येयकं भ्रमन्ति नैरयिकसमानतीव्रदुःखाः स्पर्शरसनसंप्रयुक्ताः । प्राप्ता एकेन्द्रियत्वमपि पृथिवी-जल ज्वलन-मारुत-वनस्पति सूक्ष्मबादरं च पर्याप्तमपर्याप्तं प्रत्येक-शरीरनाम साधारणं च, प्रत्येकशरीरजीवितेषु (जीवेषु) च तत्रापि कालमसंख्येयकं भ्रमन्ति, अनन्तकालं चानन्तकाये स्पर्शेन्द्रियभावसम्प्रयुक्ता दुःख-समुदयमिदमनिष्टं प्राप्नुवन्ति पुनः पुनस्तत्र तत्र चैव परभवतरुगणगहने ।

कुद्दाल-कुलिक-दारण-सलिलमलन-क्षोभण - रोधनानलानिल-विविध-शस्त्रघट्टन-परस्पराभिहनन-मारण-विराधनानि चाकामिकानि परप्रयोगो-

दीरणाभिश्च कार्यप्रयोजनैश्च प्रेष्यपशुनिमित्तापध्याहारादिकैरुत्खनन-उत्क्वथन-पचन-कुट्टन-पेषण-पिट्टन-भर्जन - गालनामोटन - शटन-स्फुटन-भञ्जन-छेदन तक्षण विलुञ्चन-पत्रझोडनाग्निदहनादिकानि । एवं ते भव-परम्परा-दुःखसमनुबद्धा अटन्ति ससारे भयकरे जीवा प्राणातिपातनिरता अनन्तकाल । येऽपि चेह मनुष्यत्वमागता कथमपि नरकादुद्‌वृत्ता अध-न्यास्तेऽपि च दृश्यन्ते प्रायशो विकृतविकलरूपा कुब्जा वटभाश्च वामनाश्च वधिरा· काणा कुण्टा पगुला विकलाश्च मूकाश्च मन्मनाश्चान्धका एकचक्षुर्विनिहता सचिल्लका (सपिशाचा) व्याधि-रोगपीडिताऽल्पायुष्क-शस्त्रवध्यबाला कुलक्षणोत्कीर्णदेहा दुर्बल-कुसहनन - कुप्रमाण-कुसस्थिता· कुरूपा कृपणाश्च हीना हीनसत्वा नित्य सौख्यपरिवर्जिता अशुभदुःखभागिन नरकादुद्‌वृत्ता इह सावशेषकर्माण । (उद्धृता· सन्त)।

एव नरकतिर्यग्योनि कुमनुष्यत्व चाधिगच्छन्त प्राप्नुवन्त्यनतानि पापकारिण । एष स प्राणवधस्य फलविपाक इहलौकिक पारलौकिकोऽल्प-सुखो बहुदुःखो महाभयो बहुरज प्रगाढो दारुण कर्कशोऽसातो वर्षसहस्रै-र्मुच्यते, न चावेदयित्वा अस्ति खलु मोक्ष इत्येवमाख्यातवान् ज्ञातकुलनन्दनो महात्मा जिनस्तु वीरवरनामधेय कथितवाश्च प्राणवधस्य फलविपाकम् । एष स प्राणवधश्चण्डो रुद्र· क्षुद्रोऽनार्यो निर्घृणो नृशसो महाभयो भयकर-स्त्रासनकोऽन्याय्य (अथवा अनर्जुक) उद्वेजनको निरवकाक्षो निर्द्धर्मो निष्पिपासो निष्करुणो निरयवासगमननिधनो मोहमहाभयप्रवर्द्धको मरण-वैमनस्य ।

प्रथममधर्मद्वार समाप्तमिति ब्रवीमि ॥१॥

पदार्थान्वय—(पुव्वकम्मोदयोवगता) पूर्वकर्म के उदय से युक्त (पच्छाणुसएण) पश्चात्ताप से, (डज्झमाणा, जलते हुए (पुरेकडाइ) पूर्वजन्म मे किये हुए, (पावगाइ) पापकर्मो को, णिंदता) निन्दा करते हुए (तहिं तहिं) उन-उन रत्नप्रभा आदि नरक भूमियो मे (तारिसाणि) अमुक-अमुक प्रकार के, (ओसन्नचिक्कणाइ) अत्यन्त चिकने, नहीं छूट सकने योग्य, निकाचित) (दुक्खाइ) दुःखो का (अणुभवित्ता) अनुभव करके (य) और (आउक्खएण) आयुष्य का क्षय होने पर (तत्तो) नरक से (उव्वट्टिया समाणा) निकले हुए (बहवे) बहुत से जीव (दुक्खुत्तार) दुःख से पार की जाने वाली (सुदारुण) अत्यन्त कठोर, जम्मणमरणजरावाहिपरियट्टणारहट्ट) जिसमे रहट के समान जन्म, मृत्यु बुढापे और व्याधि का परिवर्तनचक्र चल रहा है, (जल-थल-खहचर-परोप्पर-विहिंसणपवच) जिसमे जलचर, स्थलचर, और खेचर जीवो की परस्पर विविध हिंसाओ का प्रसार है, ऐसी (तिरियवसहिं) तिर्यञ्च योनि मे (गच्छंति) पहुँचते है । (च) और वहाँ, (वरागा) बेचारे दीन हीन वे प्राणी, (इम) इस प्रत्यक्ष दृश्यमान, (जगपागड) जगत्प्रसिद्ध (दुक्ख) दुःख को

(दीहकाल) दीर्घकाल तक (पावेंति) पाते हैं। (कि ते ?) वे दु:ख कौन-कौन हैं ? वे निम्न प्रकार के हे (सीउण्ह-तण्हा--खुह-वेयण-अप्पईकार-अडविजम्मणणिच्चभउ-विग्गवास - जग्गण - वह - बधण - ताडणकण - निवायण - अट्ठिभजण - नासाभेयण-प्पहारदूमण - छविछेयण - अभिओगपावण - कसकुसार - निवायदमणाणि) सर्दी, गर्मी, भूख और प्यास की वेदना, प्रतीकाररहितता, घोर जगल मे जन्म लेना, मृगादि पशुओ का नित्य भय से घबराते रहना, जागना, पीटना, बाधा जाना, मारा जाना, तपी हुई लोहे की सलाई आदि से चिह्न करना, खड्डे आदि मे फैंक देना, हड्डी तोड देना, नाक कान छेदना, प्रहार करना, सताप देना, शरीर के अगोपाग काट देना, जबर्दस्ती काम मे लगाना, चाबुक से पीटना, अकुश और आर (डडे के अग्रभाग मे लगी हुई नुकीली कील) से छेदना, सजा देने के लिए दमन करना) (य) और (वाहणाणि) भार लादना,(मायापितिविप्पओगसोयपरिपीलणाणि) माता-पिता से वियोग कर देना या वियोग होना तथा नाक और मुँह आदि के छिद्रो मे रस्सी (नकेल) डालकर मजबूती से बाँधकर पीडा देना, (य) और (सत्थग्गि-विसाभिघाय-गलगवल-आवलणमारणाणि) शस्त्र, अग्नि या विष से खत्म कर देना तथा गले और सीग को मोडना और मारना, अथवा गलकबल को मोडकर मारना, (गलजालु च्छिप्पणाणि) वसी (मछली पकडने का काटा) और जाल से मछली आदि को पकड कर जल से बाहर निकालना, (य) तथा (पउलणविकप्पणाणि) अग्नि पर भूनना और काटना, (य) और (यावज्जीविगबधणाणि) जिंदगीभर बाधे रखना, (य) एव (पजरनिरोहणाणि) पीजरे मे बद कर देना, (सयूहनिद्धाडणाणि) अपने टोले से निकाल देना, (य) और (धमणाणि) भैस आदि को फूका लगाना, (य) तथा (दोहणाणि) दूहना (कुदडगलबधणाणि) गले मे डडा बाँधना, (वाडकपरिवारणाणि) वाडे मे घिरे रखना (य) और (पकजल निमज्जणाणि) कीचड के गदे पानी मे डुबोना (य) और (वारि-प्पवेसणाणि) पानी मे घुसाना (य) तथा (ओवायणिभगविसमनिवडण दवग्गिजालदहणाइ-याइ) खड्डो मे गिर जाने से अग-भग हो जाना तथा पहाड आदि के ऊबडखाबड़ स्थानो से गिर पडना और दावाग्नि की लपटो से झुलस जाना इत्यादि दु ख हैं। (एव) इस प्रकार, (ते) प्राणियो का वध करने वाले वे (पापकारी) पापकर्मकर्ता, (दुक्खसयसपलित्ता) सैकडो दु खो से जले हुए (नरगाओ) नरक से (आगया) आए हुए (इह) इस तिर्यचगति मे, (सावसेसकम्मा) भोगने से शेष बचे हुए कर्म वाले (तिरिक्ख-पचेंदिएसु) तिर्यचपचेन्द्रियो मे, (पमाय राग-दोस बहुसचियाइ) प्रमाद, राग और द्वेष के कारण बहुत से सचित किये गए, (अतीवअस्सायकक्कसाइ) अत्यन्त कठोर दु ख देने वाले (कम्माइ) कर्मजन्यदु खो को (पावति) पाते हैं।

(य) तथा (चउरिंदियाण) चार इन्द्रियो वाले जीवो की (भमर-मसग-मच्छि-माइएसु) भौंरे, मच्छर और मक्खी आदि की योनियो मे, (नवहि जाइकुलकोडिसय-

सहस्सेहिं) नौ लाख जन्म लेने के कुलो (उत्पत्ति स्थानो) मे,(तहिं तहिं चेव) उन-उन मे ही, (जम्मणमरणाणि) जन्म-मरण का, (अणुहवता) अनुभव करते हुए, (नेरइय-समाणतिव्वदुक्खा) नारको के समान तीव्र दु खो से युक्त (फरिस-रसण-घाण-चक्खु-सहिया) स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु सहित चार इन्द्रियो वाले जीव, (सखेज्जक) सख्यात, (काल) काल तक, (भमति) भ्रमण करते हे। (तहेव) उसी प्रकार, (तेइ दिएसु) तीन इन्द्रियो वाले जीवो मे, (तेइदियाण) तीन इन्द्रियो वाले (कु थु-पिप्पीलया-अधिकादिकेसु) कु थुआ, चींटी, अधिक आदि जीवो की योनियों मे जन्म लेने के (अणूणएहिं) पूरे (अट्ठहिं) आठ, (जाइकुलकोडिसयसहस्सेहिं) लाख कुलकोटि के उत्पत्ति स्थान ह (तहिं तहिं चेव) उन-उन मे ही (जम्मणमरणाणि) जन्म-मरण का, (अणुहवता) अनुभव करते हुए (नेरइयसमाणतिव्वदुक्खा) नारको के समान ही तीव्र दु ख वाले,(फरिसरसणघाणसपउत्ता) स्पर्शन, रसन और घ्राण से युक्त तीन इन्द्रियो वाले जीव, (सखेज्जय काल) सख्यातकाल तक, (भमति) भ्रमण करते हे। (य) तथा (बेइ दियाण) दो इन्द्रिय वाले जीवो के, (गडूलयजलूयकिमिय चदणगमादिएसु) गिंडोले (गेंडुए), अलसिए, जोक, घोघे आदि मे जन्म लेने के, (अणूणएहिं) पूरे, (सत्तजाइ-कुलकोडिसयसहस्सेसु) सात लाख जीवो के उत्पत्ति स्थान हैं, (तहिं तहिं चेव) उन-उनमे ही, (जम्मणमरणाणि) जन्ममरण का, (अणुहवता) अनुभव करते हुए, नेरइय-समाण तिव्व दुक्खा) नारक जीवो के समान तीव्र दु खो से युक्त (फरिसरसणसपउत्ता) स्पर्शन और रसना इन्द्रिय से युक्त दो इन्द्रियो वाले जीव (सखिज्जक काल) सख्यात काल तक (भमति) भ्रमण करते हैं। (य) और (एगिंदियत्ताणपि) एकेन्द्रियत्व (पत्ता) प्राप्त किये हुए (पुढवी-जल-जलण-मारुय-वणप्फति) पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के जीव हैं। इनमे से प्रत्येक के (सुहुमबायर) सूक्ष्म और बादर भेद ह, (य) तथा (पज्जत्त अपज्जत्त) पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद भी होते हैं, तथैव वनस्पतिके (पत्तेयसरीरणाम) प्रत्येक शरीर नाम कर्म वाले प्रत्येक शरीरी जीव (च) और (साहारण) साधारण नामकर्म वाले साधारणशरीरी जीव, इस प्रकार दो भेद और भी हे। (य) और (तत्थ वि) उनमे भी जो (पत्तेयसरीरजीविएसु) प्रत्येक शरीर मे रहने वाले जीव हे, उनमे, (असखेज्जक) असख्यात, (काल) कालतक (च) ओर (अनतकाए) साधारण शरीरो मे, (अणतकाल) अनन्त काल तक (भमति) भ्रमण करते हैं। (फासिंदियभावसपउत्ता) स्पर्शनेन्द्रिय पर्याय को पाये हुए एकेन्द्रिय जीव, (पुणो पुणो) बारबार (परभवतरुगणगहणे) उत्कृष्टकाल तक दूसरे भवो मे उत्पत्ति के स्थानरूप वृक्षादि समूह से गहन, (तहिं तहिं चेव) उसी एकेन्द्रिय पर्याय मे, (इम) इस आगे कहे जाने वाले (अणिट्ठ) अनिष्ट, (दुक्खसमुदय) दु ख समूह को, (पावति) पाते रहते हैं। (कोद्दाल-कुलिय-दालण-सलिलमलण-खु भण-रु भण-अणलाणिल-विविहसत्थ-घट्टण-परोप्पराभिहणण-मारणविराहणाणि) कुल्हाडे और हलसे भूमिका

चीरना जल का मलना और रोकना, अग्नि तथा वायु का अनेक प्रकार के शस्त्रो से टकराना, परस्पर आघात से मारना तथा विराधना सताप देना (य) और (अकाम-फाइ) अवाछनीय, (परप्पओगोदीरणाहि) अपने से अतिरिक्त जनो के द्वारा व्यर्थ ही दु ख पैदा करना, (कज्जपओयणेहिं) आवश्यक प्रयोजन से, (पेस्स पसुनिमित्त ओसहा-हारमाइएहि) नौकर चाकर तथा गाय, बैल आदि पशुओ के निमित्त औषध या आहार आदि के लिए, (उक्खणणउक्कत्थण-पयण-कोट्टण-पीसण-पिट्टण-भज्जण-गालण-आमोडण-सडण-फुडण-भजण-छेयण-विलु चण-पत्तज्झोडण-अग्गिदहणाइयाइ) खोदना, वृक्षादि की छाल अलग करना, पकाना, कूटना, पीसना, दलना, पीटना, भूनना, छानना, मोडना, सड ना, स्वत टूट जाना, मसलना या कुचलना, छेदना, छीलना, रोओ का उखाडना, पत्ते आदि का तोडना या झड जाना, अग्नि मे जला देना आदि, (इम) इस, (अनिट्ठ) अनिष्ट (दुक्खसमुदय) दु ख-समूह को, (पावित्ति) पाते हैं। (एव) इस प्रकार, (भवपरपरादुक्खसमणुबद्धा) जन्म-परम्परा से निरन्तर दु ख वाले, (पाणाइवायनिरया) प्राणिवध मे तत्पर, (ते) वे (जीवा) हिंसक जीव, (बीहणकरे) भयकर, (ससारे) ससार मे, (अणतकाल) अनन्त काल तक, (अडति) घूमते रहते हैं (य) और (नरगा उवट्टिया) नरक से निकले हुए (जे वि) जिन लोगो ने, (कहि वि) किसी तरह भी, (इह) इस मर्त्यलोक मे (माणुसत्तण) मनुष्यत्व को, (आगया) प्राप्त कर लिया है, (तेवि) वे भी, (पायसो) बहुत करके, (अधन्ना) भाग्यहीन (विगयविकल-रूपा) विकृत और विकल रूप वाले, (खुज्जा) कुबडे, (वडभा) जिनके शरीर का ऊपरी हिस्सा टेढा हो (य) तथा (वामणा) बौने, (य) तथा (बहिरा) बहरे, (काणा) काने, (कुटा) टूटे, विकृत हाथ वाले, पगुला पगु-पागले (य) तथा (विगला) विकलाग (अपाहिज) (य) तथा (मूका) मूक-गू गे, (ममणा) मन मन शब्द करने वाले या तुतलाने वाले, (य) और (अधयगा) अधे, (एगचक्खूविणि-हय-सचिल्लया) जिनकी एक आँख फूट गई है, वे, और चपटे नेत्र वाले अथवा (सपिसल्लया) पिशाचग्रस्त, (वाहिरोगपीलिय-अप्पाउय-सत्थवज्झबाला) कुष्ठ आदि व्याधियो और ज्वरादि रोगो से पीडित, अथवा विशेष प्रकार की आधि-मानसिक-व्यथा और कुष्ठ,ज्वर आदि रोगो से पीडित, अल्पायु,शस्त्रो से मारे जाने वाले अज्ञानी जन (मूर्ख), (कुलक्खणुक्किन्नदेहा) कुलक्षणो से व्याप्त देह वाले, (दुब्बल-कुसघयण-कुप्पमाण-कुसठिया) दुर्बल, खराब सहनन (शरीर के कद) वाले, शरीर के न्यूनाधिक प्रमाण वाले, शरीर की भद्दी रचना—खराब डीलडौल वाले, (कुरूवा) कुरूप, (किविणा) रक या कजूस, (य) और (हीणा) जाति आदि से हीन-नीच, (हीणसत्ता) अल्प सत्त्व-पराक्रम वाले, (णिच्च) सदा, (सोक्खपरिवज्जिया) सुखो से वचित, (असुहदुक्खभागी) अत्यन्त अशुभ परिणाम वाले दु.खो के भागी, (णरगाओ) नरक से

(उवट्टिया) निकले हुए तथा (सावसेसकम्मा) बचे हुए कर्मों वाले जीव, (इह) इस लोक मे, (एव) इस प्रकार, (पापकारी) प्राणवधरूप पाप करने वाले, (नरग) नरक, (तिरिक्खजोणिं) तिर्यञ्चयोनि (च) और (कुमाणुसत्त) कुमानुष पर्याय मे (हिंडमाणा) भ्रमण करते हुए (अणताइ) अनन्त (दुक्खाइ) दु खो को (पावति) पाते हैं। (एसो) यह, (सो) वह पूर्वोक्त (पाणवहस्स) प्राणवध-हिंसा के, (फलविवागो) फल का विपाक, (इहलोइओ) इस लोकसम्बन्धी (पारलोइओ) व परलोकसम्बन्धी (अप्पसुहो) अल्प-सुख देने वाला, और (बहुदुक्खो) भोगते समय महादु खदायी है, (महब्भओ) वह महाभय रूप है, (बहुरयप्पगाढो) बहुत-सी कर्मरज से प्रगाढ है (दारुणो) रौद्र, (कक्कसो) कठोर, (असाओ) असाता वेदनीय रूप—दु खरूप, (वाससहस्सेहि) हजारो वर्षों मे जाकर, (मुच्चति) छूटता है। (य) और, 'जिसे (अवेदयित्ता) बिना भोगे, (हु) निश्चय ही, (मोक्खो) छुटकारा, (न अत्थियत्ति) नहीं होता है।' इस प्रकार (नायकुलनदणो) ज्ञातृकुल के नदन, (महप्पा) महात्मा, (वीरवरनामधेज्जो) जिनका प्रधान नाम 'वीर'—महावीर है, (जिणो) जिनेन्द्र ने (उ) निश्चय से (पाणवहस्स) हिंसा के, (फलविवाग) फल के विपाक को, (कहेसि) कहा है। (सो) वह, (एसो) यह, (पाणवहो) प्राणिवध, (चडो) तीव्रकोपरूप, (रुद्दो) रौद्र-रुद्र (खुद्दो) क्षुद्र जीवो का कार्य, (अणारिय) अनार्य लोगो द्वारा किया जाने वाला, (निग्घिणो) घृणा से रहित, (निसंसो) नृशस कार्य, (महब्भओ) महाभय का हेतु, (बीहणओ) भयकर, (तासणओ) त्रास देने वाला, (अणज्जो) अन्यायरूप अथवा (अणज्जाओ) सरलता (ऋजुता) से रहित, (उव्वेयणओ) उद्वेग पैदा करने वाला, (य) तथा (निरवयक्खो) दूसरे के प्राणो की अपेक्षा—पर्वाह नहीं करने वाला, (निद्धम्मो) धर्म से रहित, (निप्पिवासो) स्नेहपिपासा से रहित, (निक्कलुणो) करुणा से रहित, (निरयवासगमणनिधणो) नरकावास मे गमन ही जिसका आखिरी परिणाम है, (मोहमहब्भय ओ) मोहरूपी महाभय की वृद्धि करके अज्ञानता तथा महाभय को बढ़ाने वाला (मरणवेमणसो) मरण से होने वाली दीनता पैदा करने वाला है।

इस प्रकार (पढम) पहला, (अहम्मदार) प्राणवध नामक अधर्म द्वार (समत्त) समाप्त हुआ, (तिबेमि) ऐसा मै कहता हूँ।

मूलार्थ—इस प्रकार के पूर्व कर्म के उदय को प्राप्त, पश्चात्ताप से जलते हुए, पूर्वजन्म मे किए हुए पाप कर्मों की निन्दा करते हुए, उन उन रत्नप्रभा आदि नरक भूमियो मे वैसे-वैसे अत्यन्त चिकने-नही छूट सकने योग्य-निकाचित दु खो को भोग कर आयुष्य का क्षय होने पर नरको से निकले हुए बहुत-से जीव, मुश्किल से पार की जाने वाली अत्यन्त

कठोर और रेहट के समान जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि के परिवर्तन के चक्कर वाली तथा जलचर, स्थलचर, और खेचर जीवो की पारस्परिक हिंसा के प्रपच वाली तिर्यञ्च योनि मे पहुँचते है। और वहाँ वे बेचारे दीन हीन प्राणी इस प्रत्यक्ष दृश्यमान व जगत्प्रसिद्ध दु ख को बहुत लम्बे समय तक पाते है।

वे दु ख कौन-कौन से है? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है, वे दु ख इस प्रकार है—सर्दी, गर्मी, भूख और प्यास की वेदना, प्रतीकार-रहितता, घोर जगल मे जन्म ग्रहण, मृगादि पशु अवस्था मे सदा घबराते रहना, जागना, मारा जाना, बाँधा जाना, पीटा जाना, तपी हुई लोहे की सलाई आदि से दागा जाना, खड्डे आदि मे फैंका जाना, हड्डी का तोडा जाना, नाक तथा कान का छेदा जाना, प्रहार किया जाना, सताप दिया जाना, शरीर के अगोपागो का काटा जाना, जबर्दस्ती काम मे लगाना, चाबुक से पीटा जाना, अकुश और आरा—डण्डे के अग्रभाग मे लगी हुई नुकीली कील भौकना, सजा आदि के लिए दमन करना, भार लादा जाना, माता-पिता से वियोग करा देना, या वियोग हो जाना, नाक-मु ह आदि के छिद्रो मे मजबूती से रस्सी या नकेल डाल कर पीडा देना तथा शस्त्र, अग्नि या विष के द्वारा खत्म कर देना, गले और सीग को मोड देना और मारना, अथवा गलकबल को मोड कर प्रहार करना, वसी (मछली पकडने का काटा) और जाल से मछली आदि को पकड कर पानी से बाहर निकालना तथा आग पर भूनना और काटना, जीवन भर बाँधे रखना, पीजरे मे डाल कर बन्द कर देना, अपने टोले से अलग निकाल देना, भैस आदि को फूँका लगाना, दूहना, गले मे दु खदायी डण्डा बाध देना, बाडे मे रोके रखना, कीचड से सने गन्दे जल मे डुबोना, पानी मे प्रवेश कराना, खड्डो मे गिर जाने से अग-भग हो जाना तथा पर्वत आदि ऊबड-खाबड जगहो से गिर पडना, दावाग्नि की लपटो से झुलस जाना, इत्यादि दु ख तिर्यञ्चगति के है। इस प्रकार प्राणियो का वध करने वाले वे पापकर्मकारी नरकगति मे सैकडो दु खो से जले हुए नरकगति से भोगने से बचे हुए शेष कर्मों को भोगने के लिए इस तिर्यञ्चगति मे आकर तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रियो मे प्रमाद, राग और द्वेष के कारण बहुत-से सचित किए हुए अत्यन्त कठोर दु ख देने वाले कर्मजनित दु खो को पाते है।

यहा वे चार इन्द्रियो वाले जीवो की भौरे, मच्छर और मक्खी आदि योनियो मे, नौ लाख जन्म लेने के कुलो मे जन्म-मरण का अनुभव करते हुए नारकियो के समान तीव्र दु खो से युक्त स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु—इन चार इन्द्रियो सहित चतुरिन्द्रिय जाव सख्यातकाल तक

परिभ्रमण करते रहते है। इसी प्रकार तीन इन्द्रियो वाले कुंथुआ, चीटी, अंधिया आदि जीवो की योनियो मे पूरे आठ लाख जन्म लेने के कुलकोटि-स्थान है, उनमे जन्म-मरण का अनुभव करते हुए नारको के समान तीव्र दु ख वाले स्पर्शन, रसन और घ्राण से युक्त तीन इन्द्रियो वाले जीव सख्यात काल तक भ्रमण करते रहते है। तथा दो इन्द्रियो वाले जीवो के गिडौले (गेंडुए), अलसिए, जोक, घोंघे आदि योनियो मे जन्म लेने के पूरे सात लाख कुलकोटि (उत्पत्तिस्थान) है। उन मे जन्ममृत्यु का अनुभव करते हुए नारको के समान तीव्र दु खो से परिपूर्ण स्पर्शन और रसन—इन दो इन्द्रियो से युक्त जीव सख्यात काल तक परिभ्रमण करते रहते हे। इसी प्रकार एकेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त पृथ्वी, जल, अग्नि,वायु और वनस्पति—ये ५ प्रकार के जीव है। इनमे से प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर दो भेद है। फिर इन दसो के पर्याप्तक और अपर्याप्तक नाम के दो भेद और होते है। तथा वनस्पति के प्रत्येक शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न प्रत्येक शरीरी एव साधारण शरीर-नाम कर्म के उदय से उत्पन्न साधारण शरीरी, इस तरह दो भेद और भी हे। और इनमे से जो प्रत्येक अर्थात् भिन्न भिन्न शरीर मे जीने वाले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वन-स्पति के जीव है, उनमे वे असख्यात काल तक परि-भ्रमण करते रहते है तथा साधारण वनस्पति मे अनन्तकाल तक भ्रमण करते है। केवल स्पर्शनेन्द्रिय को पाए हुए वे एकेन्द्रियजीव वार-वार उन्ही-उन्ही एकेन्द्रियपर्यायो मे वृक्ष गण या वन आदि मे दूसरे भवो मे जन्म लेकर आगे कहे जाने वाले इस अनिष्ट दु खसमूह को पाते रहते है--

कुल्हाडे और हल से भूमि को विदारण करना, जल का मथना और रोकना,अग्नि और वायु का अनेक प्रकार के स्व-परकाय आदिशस्त्रो से टकराना, परस्पर चोट लगा कर मारना तथा विराधना और सताप देना, अनचाही और निरर्थक दूसरो की शरीरादि प्रवृत्ति के लिए अथवा आवश्यक प्रयोजनो से नौकर चाकरो या गाय बैल आदि पशुओ के निमित्त एव औपध व आहार आदि के लिए जड से खोदना, वृक्षादि की छाल अलग करना, आग मे पकाना, कूटना, पीसना, पीटना, भूनना, छानना, मोडना, सडना, टुकडे-टुकडे हो जाना, मसल या कुचल देना, छेदना, छीलना, रोओ का उखाडा जाना, पत्तो-फूलो आदि का झाडा जाना--तोडा जाना, आग जलाना आदि।

इस प्रकार जन्मपरम्पराओ मे लगातार दु खो से सम्वद्ध होकर प्राणिवध करने मे सलग्न वे हिंसक जीव इस भीपण ससार मे अनन्तकाल तक चक्कर खाते रहते है। नरक से निकले हुए जीव वडी कठिनाई से किसी भी तरह मनुष्य पर्याय को पा भी लेते है, तो भी वे प्राय भाग्यहीन, विकृत

(भौडे भद्दे) अग और रूप वाले, कुवडे, शरीर के ऊपरी हिस्से मे टेढे मेढे, बौने, बहरे, काने, टूटे, लगडे, अपाहिज, गूंगे, तुतलाने वाले या मम मम करने वाले, अधे, एक आँख से हीन, व चिपटी आँख वाले, पिशाच से ग्रस्त, कोढ आदि किसी व्याधि व ज्वर आदि किसी रोग से पीडित, कम उम्र वाले, शस्त्र आदि द्वारा चोट खाए हुए या मारे जाने योग्य, मूर्ख, शरीर पर अनेक कुलक्षणो से व्याप्त, दुर्बल, बुरे कद वाले (वहुत ही छोटे या वहुत ही मोटे या बहुत ही लम्बे कद के), शरीर के बुरे सहनन और बुरे सस्थान (डीलडौल, ढाचे) वाले, कुरूप, कृपण या रक, जाति आदि से हीन, और हीन पराक्रम वाले, सदैव सुखो से वचित और अशुभ परिणाम वाले दु ख के भागी होते दिखाई देते है ।

इस प्रकार नरक से निकले हुए तथा बचे हुए शेष कर्मों से युक्त इस लोक मे प्राणिवधरूप पाप कर्म करने वाले वे जीव नरक, तिर्यञ्चयोनि और कुमनुष्य पर्याय मे भ्रमण करते हुए अनन्त दु खो को पाते रहते है ।

अत उपर्युक्त प्राणवध-हिंसा का फल-विपाक (भोग) इस मनुष्य भव मे और पर भव मे अल्पसुख और बहुत दु ख वाला है, महा भय पैदा करने वाला, गाढ कर्मरूपी रज से युक्त है, अत्यन्त दारुण, अत्यन्त कठोर एव अत्यन्त असात-दु ख को देने वाला है, हजारो वर्षों मे छूटता है । इसे बिना भोगे कभी छुटकारा नही होता । प्राणिवध का ऐसा फलविपाक ज्ञातकुलनदन महात्मा वीरवर (महावीर) नाम वाले श्री जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ।

जिस का फलविपाक इतना भयकर है, ऐसा वह पूर्वोक्त प्राणवध तीव्र क्रोधरूप है, रौद्रध्यान से उत्पन्न है, अधम मनुष्यो का कार्य है, अनार्य पुरुषो द्वारा आचरणीय है, घृणारहित नृशस, महाभयो का हेतु, भयकर, त्रासदायक, अन्यायरूप या सरलता से शून्य कार्य है, तथा उद्वेग पैदा करने वाला, दूसरे के प्राणो की परवाह न करने वाला,धर्म से रहित,स्नेहपिपासा से शून्य, करुणा से हीन है, इसका अन्तिम परिणाम नरकावास मे जाना ही है, यह मोह और महाभय को वढाने वाला एव मृत्यु के समय दीनता पैदा करने वाला है । इस प्रकार पहला अधर्मद्वार समाप्त हुआ , ऐसा मैं कहता हूँ ।

व्याख्या

चतुर्थ सूत्र के इस शेष मूलपाठ मे तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति मे हिंसा के फलस्वरूप होने वाले भयकर दु खो का निरूपण किया गया है । यह तो असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि नरकगति मे हिंसक जीवो को असह्य यातनाएँ सहनी पडती है । उन अपार दु खो के वीज उस प्राणी के पूर्वकृत पापकर्म ही है, जो उस प्राणी

ने जाने-अजाने स्वय वोग है । इसीलिए मूलपाठ मे कहा गया है—'**पुव्व कम्मोदयोवगता**' अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के उदय को प्राप्त ।

फल भोगते समय पश्चात्ताप—जिस समय जीव हिंसा आदि पापकर्म करता है, उस समय वह भविष्य का विचार नहीं करता, उसकी बुद्धि पर अज्ञान और मोह का पर्दा पडा रहता है, जिसके कारण वह दूरदर्शिता से उस कर्म के भावी नतीजे पर बिलकुल नही सोचता । किन्तु जब वे ही कर्म उदय मे आते है और उसे उनका कटु फल भोगने को विवश होना पडता है, तब उसे अपने किये हुए कर्मो पर ग्लानि पैदा होती है, मन मे घोर पश्चात्ताप होता है, फलत वह अपने आप को भी निन्दा करने लगता है , इससे उसके पापकर्म कुछ हलके अवश्य हो जाते हैं । हिंसक जीवो की इसी मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए शास्त्रकार कहते है—'**पुव्वकम्मोदयोवगता पच्छाणुसएण डज्झमाणा णिदता पुरेकडाइ कम्माइ पावगाइ**' , अर्थात्-पूर्वकृत कर्मों के उदय मे आने पर—फल भुगवाने के लिए उद्यत होने पर—अपने पूर्वकृत पापकर्मो की निन्दा करते हुए वे पश्चात्ताप की आग मे जलते हैं ।

किन्तु पश्चात्ताप करते हुए भी वे वेचारे नारकीय जीव रत्नप्रभा आदि नरक भूमियो मे अत्यन्त चिकने, जिनको भोगे विना छुटकारा ही नही हो सकता , ऐसे निकाचित कर्मों के वन्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दु खो का अनुभव करते हैं । इसी वात को शास्त्रकार स्पष्ट करते है—'**तहि तहि तारिसाणि ओसण्णचिक्कणाइ दुक्खाइ अणुभवित्ता** ।'

नरकगति के वाद तिर्यञ्चगति मे आगमन—सवाल यह उठता है कि वे नारकीय जीव आयुष्यक्षय हो जाने पर नरक से पुन नरक मे क्यो नही जाते ? जैन सिद्धान्त की दृष्टि से इसका समाधान यह है कि नारक जीव नरक का आयुष्य क्षय हो जाने के पश्चात् नरक से निकल कर सीधा पुन नरक मे नही जा सकता । हाँ, मनुष्यगति या तिर्यञ्चगति मे जन्म लेकर वाद मे नरक मे जा सकता है । इसी प्रकार देवगति के देव अपनी आयु क्षीण हो जाने के वाद देवलोक से च्यव (मर) कर सीधे नरक मे पैदा नही होते और न वे पुन सीधे देवपर्याय ही धारण कर सकते है । यही कारण है कि शास्त्रकार ने मूलपाठ मे वताया है—**तत्तो आउक्खएण उव्वट्टिया समाणा वहवे गच्छंति तिरियवसहि** ।' अर्थात्—'आयुष्य का क्षय हो जाने पर नरक से निकले हुए वहुत-से जीव तिर्यञ्चयोनि मे पहुचते है ।' इस सूत्रपाठ मे 'वहवे' शब्द स्पष्ट सूचित करता है कि नरक से निकले हुए अधिकाश जीव तिर्यञ्चयोनि को ही प्राप्त करते हैं । प्रश्न होता है कि कुछ थोडे से नारक, जो तिर्यञ्च गति मे नही जाते, वे कहाँ जाते है ? सिद्धान्त की दृष्टि से इसका उत्तर यह है कि प्राय तो तिर्यञ्चयोनि मे या दुर्भागी मनुष्य कुलो मे जन्म लेते हैं , कुछ विरले जीव ही ऐसे वचते है जिनके लिए यह सिद्धान्त है कि पहली नरकपृथ्वी से लेकर तीसरी नरकपृथ्वी तक के नारक मर

कर तीर्थंकर तक हो सकते है , चौथी नरकभूमि से मर कर नारक केवलज्ञानी हो सकते है, पाचवी नरकभूमि से मर कर नारक मुनिव्रतधारी हो सकते है, छठी नरकभूमि से मर कर नारक श्रावकव्रती-अणुव्रती श्रावक हो सकते हैं और सातवी नरकपृथ्वी के नारक मर कर सम्यक्त्वी सज्ञी तिर्यञ्चपचेन्द्रिय हो सकते है।

इसका आशय यह है कि जीवहिंसा करने वाले जीव पहले तो मरकर अति रौद्रध्यानवश नरक मे जाते हं, फिर वहाँ भी रातदिन सतत नाना दु खो और यातनाओ से पीडित होने के कारण वे धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान की वात तो सोच ही नही सकते है, अपनी आत्मा का भान भी उन्हे नही होता। इस कारण दु खो से सक्लिष्ट होकर वे उनसे वचने के लिए आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान के अलावा माया भी करते हैं। इसी कारण वे मर कर प्राय तिर्यञ्चयोनि मे पैदा होते हे। वहुत विरले नारक ऐसे होते है,जिन्हे अपने पूर्व मनुष्यभव मे ही क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो गया हो, वे वहाँ शान्तभाव-समताभाव मे रहकर दु खो को भोगते है, और विशुद्ध पश्चात्ताप तथा आत्मनिन्दा करके अपने कर्मो का क्षय करते हे। वे ही थोडे-से नरकगत जीव वहाँ की आयुष्यस्थिति पूर्ण हो जाने के पश्चात् वहाँ से मरकर तीर्थंकर, केवली, मुनिव्रती, श्रावक या सम्यक्त्वी होते है। अधिकाश तो तिर्यञ्चयोनि मे ही पैदा होते है।

तिर्यञ्चयोनि का स्वरूप—तिर्यञ्चगति मे भी नरक के समान दीर्घकाल तक दु ख भोगना पडता है। इतना अन्तर अवश्य है कि नरकगति के जितने क्षेत्रकृत, कालकृत और परस्परकृत दु ख तिर्यचगति मे नही होते। परन्तु नरकगति मे नरकभूमियो मे रहने वाले समस्त नारकीय जीवो के वैक्रियलब्धि होती है, इस कारण वे भयकर से भयकर शारीरिक दु ख पाने और सह लेने के वाद वापिस उनका शरीर पुन वैसा का वैसा तैयार हो जाता है, विखरा हुआ पारा जैसे पुन मिल जाता है, वैसे ही उनका शरीर पुन मिल जाता है, अत अकाल मे ही उनका मरण नही होता। जिसका जितना आयुष्य वधा हुआ होगा, वह नारक उतना पूर्ण आयुष्य भोग कर ही मृत्यु पाता है, पहले नही। मगर तिर्यञ्चयोनि मे ऐसा नही होता। यहाँ वैक्रिय शरीर जन्म से प्राप्त नही होता। इसलिए तिर्यञ्चगति के जीवो का शरीर अगभग होने या घातक चोट आदि लगने पर अकाल मे ही कालकवलित हो जाता है। वहाँ शरीर के अगोपागो का शीघ्र जुडना होता नहीं , या कटा हुआ अवयव प्राय पुन मिलता नहीं। इसी कारण शास्त्रकार तिर्यञ्चगति के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते है— **तिरियवसहिं दुक्खुत्तार सुदारुण जम्मणमरणजरावाहिपरियट्टणारहट्ट जलथल-खहचर-परोप्परविहिंसणपवच** ', अर्थात्— तिर्यञ्चयोनि दु ख से पार की जाने वाली व अत्यन्त भयकर हे, जिसमे रेंहट के समान जन्म, मरण, बुढापे और व्याधियो के चक्र चलते रहते है और जहाँ जलचर, स्थलचर, खेचर आदि जीवो मे परस्पर हिंसा-प्रतिहिंसा का प्रपच चलता रहता है।'

नरकगति मे जैसे मृत्यु की अवधि निश्चित होती है, वैसे तिर्यञ्चगति मे मृत्यु की अवधि पूर्णत निश्चित नही होती , और न नारको की तरह तिर्यञ्चो का जन्म ही खतरे से रहित होता है। कई तिर्यञ्च पशु पक्षी या विकलेन्द्रिय जीव तो जन्म लेते ही तुरन्त मर जाते है। मा के गर्भ मे, अडे के खोल मे, या वृक्षो के खोखले मे अथवा मकानो मे विविध छिद्रवाली जगहो या गुफा, खोह आदि जगहो मे वही के वही खत्म हो जाते है या दूसरे जानवरो या मनुष्यो द्वारा खत्म कर दिये जाते है। उनकी सुरक्षा की कोई गारटी नही होती। तिर्यचगति मे वार-वार उसी-उसी योनि मे जन्म और मृत्यु का चक्र चलता रहता है, वुढापे और व्याधियो के दौर भी चलते रहते है। वैल आदि पशु वुढापा आने पर या वीमारियो से घिर जाने पर असहाय, पराधीन और विवश हो जाता है, फिर भी उसका स्वार्थी मालिक निर्दयता-पूर्वक वेचारे उस मूक प्राणी से काम लेता रहता है, वह उसे मारता-पीटता भी है। उसे वीमारी मे कोई दवा देने वाला नही रहता, न उसे अपने जन्मदाता माता-पिता ही वडी उम्र मे कोई मदद करते है। प्राय उसका अपने माता-पिता से वियोग हो जाता है। क्योकि वडा होते ही मालिक उसे दूसरे के हाथो वेच देता है। इसलिए तिर्यञ्चगति मे असहायता, अनाथता, अशरणता, अरक्षा, पराधीनता का भयकर दु ख है। इसके सिवाय जलचर आदि जीवो मे परस्पर एक दूसरे के घात-प्रतिघात की परम्परा चलती रहती है , जिसके कारण रातदिन प्राणो के वियोग का खतरा वना रहता है। इस खतरे से वचने का कोई उपाय भी तो उन तिर्यञ्चजीवो के पास नहीं , जहाँ वैठकर, रहकर या छिपकर अथवा आश्रय लेकर वे त्राण पा सकें। जल मे छोटी मछली को वडी मछली निगल जाती है, वडी मछली को भी मगरमच्छ आदि निगल जाते है, इसी प्रकार सर्प को मोर अथवा नेवला, चूहे को विल्ली, वकरी को सिंह, कबूतर को वाज देखते ही पकड लेता है , इन निर्वलो के पास सवलो से वचने का कोई उपाय या स्थान भी नही होता। इसलिए यह निरुपायता तिर्यंचो को मन मार कर सहनी पडती है। इसी कारण तिर्यञ्चगति अत्यन्त दारुण और दु ख से पार करने योग्य वताई है।

तिर्यञ्च योनि मे प्राप्त होने वाले दु ख—नरकभूमियो के दु खो के प्रत्यक्ष न होने से कदाचित् कोई वुद्धिजीवी उन्हे मानने से इन्कार कर दे, परन्तु तिर्यञ्च योनियो मे प्राप्त होने वाले भयकर से भयकर दु ख तो सारे ससार के सामने प्रत्यक्ष हैं, अनुभव सिद्ध हैं और जगत् मे प्रसिद्ध है। अत तिर्यञ्चगति मे होने वाले दु खो से कोई भी इन्कार नही कर सकता। इसी वात को स्पष्ट करते हुए मूलपाठ मे कहा है—'**इम च जगपागड वरागा दुक्ख पावेंति दीहकाल।**' अर्थात्—'वेचारे वे दीन हीन प्राणी दीर्घकाल तक इस प्रत्यक्ष दृश्यमान और जगत्प्रसिद्ध दु ख को पाते हैं।'

तिर्यञ्चयोनि मे किस-किस प्रकार से और कैसे-कैसे दु ख मिलते हैं ? इसका

स्पष्ट वर्णन शास्त्रकार ने मूलपाठ मे किया है, अत इसके बारे मे विशेप स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता प्रतीत नही होती। 'सीउण्ह' से लेकर '**दवग्गिजालदहणाइयाइ य**' तक का पाठ तिर्यञ्चयोनि के दु खो की कहानी अपने आप कह रहा है, और ये सारे और इसी से मिलते जुलते अन्य सैकडो दु ख तिर्यञ्च योनि के जीवो पर आ पडते हम सब देखते है।

विविध दु खो से पीडित तिर्यञ्चो द्वारा नये दु खदायक कठोर कर्मों का उपार्जन—यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य हे कि अत्यन्त दु ख मे प्राणी भान भूल जाता है, उसे अपनी आत्मा का बोध होना तो दूर रहा, अपने भविष्य के बारे मे भी कोई चिन्तन नही होता, और न अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए कोई उपाय ही सूझता है। नरकगति के सैकडो घोरातिघोर दारुण दु खो से प्रज्वलित होकर एव पूर्व कर्मों मे भोगने से बचे हुए कर्मों का जत्था साथ लेकर तिर्यञ्चपचेन्द्रिय योनियो मे आए हुए पापात्मा जीव भी यहाँ पूर्व अभ्यास, सस्कार, अज्ञान और मोहवश तथा प्रमाद, राग (मोह), और द्वेप के कारण अत्यन्त दु खजनक और कठोर बहुत-से कर्मों का सचय-उपार्जन कर लेते है। इसी बात को शास्त्रकार स्पष्ट करते है—'**एव ते दुक्ख-सयसपलित्ता नरगाओ आगया इह सावसेसकम्मा तिरिक्खपचेंदिएसु पावति पावकारी कम्माणि पमाय-राग-दोस-बहुसचियाइ अतीव अस्सायकक्कसाइ।**' आशय यह है कि अनेक दु खो से घिरे होने के कारण पचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि मे भी जीव पुराने कर्मो को क्षय तो कर नही पाता, क्योकि वह दु खो को हायतोबा मचाते हुए आर्त्त रौद्रध्यानग्रस्त होकर भोगता या सहता है। इस कारण अज्ञान, राग, द्वेप या प्रमादवश नये कर्मो का जत्था इकट्ठा कर लेता है। दुष्कर्मो की परम्परा जहाँ एक बार चली कि वह फिर विविध योनियो मे या कुगतियो मे जाने के बाद भी अपने परिवार को बढाती ही है, घटाती नही। निष्कर्ष यह है कि वह पूर्व कर्मो का भुगतान तो कर ही नही पाता, और नये कर्मो का जत्था सचित कर लेता है। जिन्हे भोगना बडा दुष्कर और कठिन होता है। जैसे कोई कर्जदार अपने साहूकार से लिए कर्ज का मूलधन तो चुका ही नही पाए, अपितु लाचार होकर और नया कर्ज सिर पर चढा ले तो उसे कर्ज चुकाना कितना कष्टकारक और अप्रिय लगता है, वैसे ही नरक से तिर्यञ्च पचेन्द्रिय मे आया हुआ जीव भी पुराने दुष्कर्मों का कर्ज तो अभी तक चुका नही पाया, किन्तु प्रमाद राग द्वेप आदि विकारो के वशीभूत होकर अशुभ कर्मो का नया कर्ज और सिर पर चढा लेता है।

कर्मो के अतिसचय के कारण—प्रस्तुत पाठ मे '**पमाय-राग-दोस-बहुसचियाइ**' कहा है। उसका आशय यह है कि कर्मो का बहुत-सा सचय प्रमाद, राग और द्वेप के कारण होता है। प्रमाद के ५ भेद है—मद, विपय, कपाय, निद्रा और विकथा। मद बढाने वाले जितने भी पदार्थ है, वे सब के सब सुबुद्धि को लुप्त कर देते है,

इसलिए कही-कही 'मद' के वदले मद्य (मदिरा) शब्द भी मिलता है। पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे लुब्ध होकर प्राणी आत्मभान भूल जाता है, उसे विषयो का इतना नशा चढ जाता है कि वह उसमे चूर होकर अहिंसा आदि कर्त्तव्यो को भूल जाता है। क्रोधादि चार कषायो मे भी हिंसा एव क्रूरता का भाव वढ जाता है। द्रव्य निद्रा मे भी मनुष्य आलस्यवश हो जाता है, अत अहिंसा का स्वरूप जानते हुए भी पुरुषार्थ नही कर पाता। भावनिद्रा तो और भी भयकर है, उसमे तो मनुष्य वात-वात पर असावधान होकर गलतियाँ करता है, पद-पद पर गफलत के कारण भूले कर वैठता है। कही-कही 'निद्रा' के वदले 'निन्दा' शब्द भी मिलता है, परन्तु निन्दा, चुगली, गाली, अपशब्द प्रयोग आदि सव वाणी के प्रयोग मे असावधानी के कारण होते है, इसलिए निद्रा मे ही निन्दा का समावेश हो जाता है। अव रही विकथा। वह स्त्री विकथा, भक्त (भोजन) विकथा, राजविकथा और देशविकथा के भेद से ४ प्रकार की है। ये चारो विकथाएँ जीवन मे राग-द्वेष आदि विकार पैदा करती है, इसलिए कर्मवन्ध की कारण है। यही कारण है कि ये पाँचो प्रकार के प्रमाद कर्मों का वहुत अधिकमात्रा मे और शीघ्र वध करते है।

इसी प्रकार राग और द्वेष भी कर्मो को शीघ्र और अतिमात्रा मे सचित करने के कारण है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—**रागो य दोसो विय कम्मवीयं** 'राग और द्वेष ये दोनो कर्मों के वीज है।' मोह, स्वार्थ, अविवेक, मूढता, लोभ, तृष्णा, लालसा, लोलुपता, आसक्ति, माया, मूर्च्छा, दु सग आदि सव राग के ही परिवार है। और क्रोध, घृणा, वैर, विरोध, दुश्मनी, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, डाह (मत्सर), अभिमान, प्रतिस्पर्धा, नीचा दिखाने या दूसरो को गिराने या सताने की भावना, ये सव द्वेष के के परिवार हैं। राग और द्वेष अपने परिवारसहित तीव्र गति से भयकर से भयकर दुष्कर्मों का वध करते है। हिंसा मे भी राग, द्वेष और कषाय ही निमित्त होते हैं।

तिर्यञ्च योनि के मुख्य भेद—शास्त्रकार ने तिर्यञ्चयोनि के मुख्य पाँच भेद वताए हैं—पचेन्द्रिय तिर्यञ्च, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय। पञ्चेन्द्रिय मे नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव चारो प्रकार है। उनमे से सिर्फ जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प ये पाँच प्रकार के पशुपक्षी आदि की ही गणना तिर्यञ्च पचेन्द्रिय मे होती है, वाकी के एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवो की गणना एकान्त तिर्यञ्च मे ही होती है। मतलव यह है कि तिर्यञ्च योनि का परिवार वहुत ही लवा चौडा है।

तिर्यञ्चयोनियो की कुलकोटियाँ—उच्च या नीच गोत्रो के प्रकृतिविशेष के उदय से प्राप्त होने वाले वशो को कुल कहते हैं। उन कुलो के समूह या कुलो की विभिन्न श्रेणियो (दर्जो) को कोटि कहते हैं। वास्तव मे यहाँ 'कुल कोटि' शब्द जीवो के उत्पत्ति स्थान के प्रकारो या किस्मो के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। जैसे तिर्यञ्च

पचेन्द्रिय के मुख्य ५ भेद तो वता दिये, लेकिन किस भेद मे किस किस्म की तिर्यञ्च-योनि मे कोई जीव पैदा हुआ, इसका पता कुलकोटि से लग जाता है। यही कारण है कि शास्त्रो मे विभिन्न प्रकार के तिर्यञ्च पचेन्द्रियो तथा एकेन्द्रियो से लेकर चतुरिन्द्रियो (चार इन्द्रियो वाले जीवो) तक की कुलकोटियो की निश्चित सख्या वता दी गई है। वह क्रमश इस प्रकार है—

जलचर तिर्यञ्चपचेन्द्रिय जीवो की कुलकोटियाँ	१२॥ लाख
स्थलचरो मे चतुष्पद पचेन्द्रिय ,, ,, ,,	१० लाख
,, ,, उरपरिसर्प ,, ,, ,,	१० लाख
, ,, भुजपरिसर्प ,, ,, ,,	९ लाख
खेचर (पक्षिगण) पचेन्द्रिय ,, ,, ,,	१२ लाख
चार इन्द्रियो वाले जीवो की कुलकोटियाँ	९ लाख
तीन ,, ,, ,, ,, ,,	८ लाख
दो ,, ,, ,, , ,,	७ लाख
एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक जीवो की कुलकोटियाँ	१२ लाख
,, ,, अप्कायिक ,, ,,	७ लाख
,, ,, अग्निकायिक ,, ,,	३ लाख
,, ,, वायुकायिक ,, ,,	७ लाख
,, , वनस्पतिकायिक ,, ,,	२८ लाख
कुल योग	१३४½ लाख

इनके साथ मनुष्यो की १२ लाख, देवो की २६ लाख और नारको की २५ लाख कुलकोटियाँ मिलाने से ससार के समस्त जीवो की कुलकोटियाँ[1] एक करोड साढे सत्तानवे लाख होती है।

नरक भूमियो से आयुष्य पूर्ण करके प्राय पचेन्द्रिय तिर्यचो की जलचर आदि विभिन्न किस्मो की पूर्वोक्त ५३॥ लाख योनियो मे वह नरक से आया हुआ जीव पैदा होता है और मरता है। तत्पश्चात् क्रमश स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियो वाले जीवो की ९ लाख कुलकोटियो मे परिभ्रमण करता है। फिर स्पर्शन, रसन और घ्राण इन तीन इन्द्रियो वाले जीवो की ८ लाख कुल कोटियो मे भ्रमण

---

१ देखिए सग्रहिणी गाथा—

एगिदिएसु पचसु वारस सत्त तिग सत्त अट्ठवीसा य।
विगलेसु सत्त अड नव, जल - खह - चउप्पय-उरगभुयगे ॥१॥
अद्धतेरस वारस दस दस नवग नरामरे नरए।
वारस छव्वीस पणवोस हुति कुलकोडिलक्खाइ ॥२॥ —सपादक

करता है, तदनन्तर स्पर्शन और रसन इन दो इन्द्रियो वाले जीवो की ७ लाख कुल-कोटियो मे जन्म मरण के चक्कर काटता है, उसके वाद सिर्फ स्पर्शनेन्द्रिय को पाए हुए पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीवो की पूर्वोक्त ५७ लाख कुल कोटियो मे वारवार जन्म-मरण पाता रहता है।

विकलेन्द्रिय और एकेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनियो के दुःख—पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच-योनियो मे नरकगति के सदृश दुःखानुभव करने के वाद शेष दुष्कर्मा का फल भोगने के लिए वहाँ से निकल कर चतुरिन्द्रिय जीव योनियो मे जन्म लेते ह। चार इन्द्रियो वाले भौरे, टिड्डी, मक्खी, मच्छर आदि की विविध योनियो मे जीव वारवार उन्ही-उन्ही योनियो मे जन्म-मरण का दुःख भोगते हुए सख्यात काल तक भ्रमण करते है। उनके दुःख भी नैरयिको के समान अत्यन्त तीव्र हे। उसके पश्चात् हजारो वर्षो तक चार इन्द्रियो वाले जीवो की पर्यायो को विताकर शेष पाप कर्मों को भोगने के लिए वहाँ से निकल कर तीन इन्द्रियो वाले जीवो की पर्याय धारण करते है, वहाँ भी हजारो (सख्यात) वर्ष तक जन्म-मरण के चक्कर लगाता है। तत्पश्चात् नरक के सदृश तीव्र दुःखो को सह कर वह जीव शेष कर्मो को भोगने के लिए द्वीन्द्रिय पर्याय को धारण करता है, जहाँ हजारो वर्षो तक नरकसदृश असीम पीडा का अनुभव करता है। इतने दीर्घकाल तक उस हिंसा के कटुफल को भोगने पर भी वाकी वचे हुए दुष्कर्मो को भोगने के लिए वह एकेन्द्रिय जाति मे जन्म लेता है, जहाँ उसकी चेतना सुषुप्त या मूर्च्छित होती है। उस अव्यक्त चेतनावस्था मे उसे कर्म के केवल सुख-दुःख रूप फल का यत्किञ्चित् भान होता है। उसका वह ज्ञान भी अक्षर के अनन्तवे भाग जितना ही होता है। एकेन्द्रिय जीव वेहोश हुए आदमी के समान अचेत अवस्था मे पडे रहते है। वहा भी वार-वार उन्ही-उन्ही योनियो मे जन्म लेकर और मर कर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु मे असख्यात काल तक और वनस्पतिकाय मे अनन्त काल तक नारक के समान असीम और अवाछनीय दुःख पाते है।

एकेन्द्रिय जीवो के भेद-प्रभेद का स्पष्टीकरण—एकेन्द्रिय जीवो के मुख्य भेद पाच है—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। इन पाचो के सूक्ष्म और वादर के भेद से दो प्रकार है। इनका स्वरूप हम इसी चौथे सूत्र के पूर्व मूलपाठ की व्याख्या मे वता आए है। इन पूर्वोक्त १० भेदो के पर्याप्तक और अपर्याप्तक रूप से दो भेद हे। जिनका शरीर आदि पूर्ण वन जाता है, वे पर्याप्तक और जिनका शरीर पूर्ण नही वन पाया या नही वनेगा, वे अपर्याप्तक कहलाते है। अपर्याप्तक के भी दो भेद है—निर्वृत्ति अपर्याप्तक और लब्धि अपर्याप्तक। जिनका शरीर अभी तक पूर्ण नही हुआ, किन्तु उसमे पूर्ण होने की योग्यता है, उन्हे निर्वृत्ति अपर्याप्तक कहते है और जिनका शरीर पूर्ण होने से पहले ही मरण हो जाता है, उन्हे लब्धि-अपर्याप्तक कहते है।

वनस्पतिकायिक जीवो के इनके अतिरिक्त दो भेद और हैं—प्रत्येक वनस्पतिकाय और साधारण वनस्पतिकाय। जिस वृक्ष, फूल, फल आदि वनस्पति के एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येक वनस्पतिकाय और जिस वनस्पति के एक ही शरीर मे अनन्त जीव रहते हे,अनन्त जीव मालिक है और वे एक ही साथ जन्म लेते हैं, श्वास लेते-छोडते है, आहार लेते हैं व मरते है, उन्हे साधारण वनस्पतिकाय कहते हैं। 'प्रत्येक शरीर नाम', नामकर्म की ९३ प्रकृतियो मे से एक प्रकृति है, उमके उदय से उत्पन्न शरीर वाले जीव को, प्रत्येक शरीरी कहते है। इसीलिए शास्त्र के मूलपाठ मे कहा है—**'पत्तेय सरीर नाम'**। प्रत्येक शरीरी वनस्पति के जीवो के भिन्न-भिन्न शरीर होते है। इसके भी दो भेद है—सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जहाँ एक वनस्पति वृक्ष, लता आदि के आश्रित अलग-अलग वनस्पतियाँ (पत्ते, फूल, फल आदि के रूप मे) रहती हो और उनका अपना अस्तित्व व व्यक्तित्व अलग-अलग हो, वहाँ सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीरी वनस्पति समझना चाहिये। जैसे सम्पूर्ण वृक्ष का स्वामी एक जीव होने पर भी उसके मूल (जड), कन्द (जड के ऊपर लगने वाला आलू सूरण आदि), त्वचा (छाल), कोपल, पत्ता, शाखा, फूल, फल और वीज—इन सव मे अलग-अलग जीव है, इनके स्वामी भी अलग-अलग है, शरीर भी भिन्न-भिन्न है, किन्तु जव इनको तोडा जाता है तो इनका (एक समान चिकना) एक-सा भग हो, तव वह वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाती है, यदि उसका भग खुर्दरा, टेढा मेढा टुकडे के रूप मे हो, तव उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहना चाहिये। कहा भी है—

कदे-मूले-छल्ली-पवाल-साल-दल-कुसुमे ।
समभगे सति अणता, असमे सदि होंति पत्तेया ॥

अर्थात्—'कद, मूल, त्वचा, कोपल, शाखा, पत्ता और फूल, इनका समान भग हो तो ये अनन्तकाय (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) होते है, और जव इनका समान भग न हो, तव अप्रतिष्ठित प्रत्येक होते है।'

साधारणशरीरी वनस्पति का लक्षण इस प्रकार है—

'साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहण च ।
साहारणजीवाण साहारणलक्खण भणिय ॥'

अर्थात्—एक शरीर मे एक साथ उत्पन्न हुए अनन्त साधारण जीवो का जहा एक साथ एक सरीखा आहार होता हो, उनके शरीर और इन्द्रियो की रचना, पर्याप्ति भी एक सरीखी और एक साथ होती हो, श्वासोच्छ्वास भी सदृश और एक साथ होता हो, यही साधारण जीवो का सामान्य लक्षण वताया गया है।

प्रत्येक शरीरी जीवन मे वह जीव असख्यात काल तक भ्रमण करता है। इनमे पृथ्वीकाय, जलकाय अग्निकाय, वायुकाय और प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीवो की गणना

हो जाती है। साधारण वनस्पतिकाय (अनन्तकाय) मे अनन्तकाल तक भ्रमण करता है। इसे ही स्पष्ट किया गया है—'पत्तेयसरीरजीविएसु कालमसखेज्जग भमति अणतकाए अणतकाल।'

एकेन्द्रियपर्याय मे प्राप्त होने वाले दु ख—कई लोग, जो जैन सिद्धान्तो से अनभिज्ञ है, यो कह दिया करते है कि "पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति मे हमे तो कोई चैतन्य या जीव दिखाई नही देता। जब इनमे चेतना (आत्मा) ही नही है, तब इनके लिए क्या सुख और क्या दु ख, सब एक समान है। अगर इन्हे सुख-दु ख का अनुभव होता तो ये दु ख देने वाले का प्रतीकार—सामना करते और सुख देने वाले पर आशीर्वाद बरसाते।" इसका यो तो हम पूर्वसूत्र की व्याख्या मे स्पष्ट समाधान कर आए है कि इनमे जीव कैसे है और इनमे सुख-दु ख का सवेदन तथा अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रिया कैसे होती है ? एकेन्द्रिय जीवो का अस्तित्व जब स्पष्ट है तो उनमे चैतन्य होते हुए भी सुख-दु ख का सवेदन न हो, यह कैसे सभव है ? किन्तु वहा चैतन्य अव्यक्त, मूर्च्छित या सुपुप्त होने के कारण आम आदमी को उनके सवेदन का व्यक्तरूप मे पता नही लगता। मगर आजकल के वैज्ञानिको ने विविध दूरवीक्षण यत्रो, साधनो और औजारो द्वारा इसका पता लगा लिया है और उन्होने सिद्ध कर दिया है कि इनके अदर भी सुख-दु ख का सवेदन और अनुकूल प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती है। अग्नि की प्रतिक्रिया ज्वालामुखी तथा भडकती हुई लपटो के रूप मे, पानी की प्रतिक्रिया बाढ के रूप मे, हवा की प्रतिक्रिया तूफान और आधी वगैरह के रूप मे, पृथ्वी की प्रतिक्रिया भूकप और पापाणपात के रूप मे तथा वनस्पति की प्रतिक्रिया जहरीली गैस, धु आ आदि के रूप मे या सगीत या वाद्य सुनाने से फसल की उपज मे वृद्धि आदि के रूप मे देखी जा सकती है। इन एकेन्द्रिय जीवो के पास केवल शरीर है, भापा, द्रव्यमन या अन्य इन्द्रियाँ आदि नही है, जिससे वे गहराई से चिन्तन कर सके, ससार के अन्य जीवो के व्यवहार को देख-सुन सकें अथवा अपने भावो को स्पष्ट व्यक्त कर सके। अगर कोई गहराई से सोचे और इनकी क्रियाओ, प्रतिक्रियाओ का का गम्भीर अध्ययन करे तो नि सदेह उसे एकेन्द्रिय जीवो के सवेदनो का पता लगे विना न रहेगा। इसीलिए सर्वज्ञ तीर्थङ्करो के द्वारा प्राप्त प्ररूपणा के आधार पर ज्ञानी शास्त्रकार स्पष्ट कहते है—'फासिंदियभावसपउत्ता दुक्खसमुदय इम अणिट्ठ पावति पुणो-पुणो तहि-तहि चेव कुद्दाल-कुलियदालण अग्गिदहणाइयाइ।" मूलार्थ मे हम इन सबका अर्थ स्पष्ट कर आए है। इसलिए और अधिक लिखने की आवश्यकता न समझकर इतना ही कहना उचित समझते हैं कि इन एकेन्द्रिय जीवो को प्राप्त होने वाला दु ख नारको और त्रस जीवो से किसी कदर कम नही होता। एकेन्द्रिय जीवो की कुल ५७ लाख कुलकोटियो (उत्पत्ति स्थानो) मे अनन्तकाल तक

जन्ममरण के प्रवाह मे वहते रहना, क्या कम दु खकारी है ? किसी भी व्यक्त चेतनाशील जीव को इतने लम्बे समय तक एक ही प्रकार के एकेन्द्रिय जीवयोनियो मे रहने की सजा दी जाय तो उसके लिए वह कितनी भयकर, कितनी दु सह्य और कितनी दु खकर होगी ? इसी पर से एकेन्द्रिय जीवो के वचनागोचर दु खो का अनुमान लगाया जा सकता है ! नरक भूमियो मे प्राप्त होने वाले दु ख नारको द्वारा शब्दो से व्यक्त किये जा सकते है, लेकिन एकेन्द्रिय जीव तो शब्दो से भी अपने दु खो को व्यक्त नही कर सकते। इन पूर्वोक्त दु खो के सिवाय सबसे भयकर दु ख तो ससार मे जन्म-मरण का है, जिसे वे सदा-सर्वदा भोगते रहते है। इसीलिए ससार के समस्त प्राणियो मे अधमाधम पर्याय एकेन्द्रिय की मानी गई है। जैसे किसी मनुष्य को चाबुक, लाठी आदि से लगातार मारने पर वह मार खाते-खाते जब सह नही सकता तो बेहोश होकर गिर जाता है। यद्यपि बेहोश अवस्था भी अत्यन्त दु ख से होती है, परन्तु बेहोशी की हालत मे भी दु ख तो मौजूद रहता है, लेकिन व्यक्तरूप से उसे महसूस नही होता। यही हाल एकेन्द्रिय जीवो का और खासकर अनन्तकायिक निगोद के जीवो का है, जो बार-बार जन्म-मरण करने से उत्पन्न हुए दारुण दु खो का अनुभव करते-करते अचेत से रहते है। इसलिए इनका भी दु ख नारको के समान तीव्र है।

दूसरी बात यह है कि वे बड हिंसक जीव नरक से निकल कर तिर्यञ्च योनि मे और उसमे भी त्रसपर्याय मे उन शेप कर्मो के फलभोग के लिए दो हजार सागरोपम से कुछ अधिक काल तक रह सकते है। इस अवधि से अधिक त्रसपर्याय मे कोई भी जीव नही रह सकता। फिर तो उसे अपने शेप कर्मों को भोगने के लिए एकेन्द्रिय (स्थावर) पर्याय की ही शरण लेनी पडती है। उसमे भी पृथ्वीकाय आदि चारा स्थावरो मे असख्यात काल तक रह कर फिर साधारण वनस्पतिकाय मे हो वह अपना डेरा जमा लेता है, जहाँ से अनन्त काल तक उसका निकलना दुष्कर होता है। इस पर से यह सहज ही समझा जा सकता है कि अनन्तकाल तक जन्म-मरण का दु ख कितना भयकर दर्दनाक होता है।

मनुष्यपर्याय पाकर भी सुख नहीं—हिंसा आदि भयङ्कर दुष्कर्मों का सेवन करके आत्मा अपनी अनन्तज्ञानादि शक्तियो को नष्ट कर लेता है और उन दुष्कर्मो का फल भोगने के लिए नरक मे जाता है, वहाँ पर उनका फल पूरा न भोग सकने के कारण तिर्यञ्चगति मे विविध योनियो मे भटकता है, किन्तु कदाचित् किसी पुण्यकर्म के उदय से उन वाकी रहे कर्मों का फल भोगने के लिए वडी कठिनाई से मनुष्यगति मे आ जाय और मनुष्यपर्याय को पा ले तो यहाँ भी दुर्भाग्यदशा प्राय उसका पल्ला नही छोडती। इसी बात को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

' **अधन्ना ते वि य दीसति पायसो विकयविगलरूवा सावसेसकम्मा उवट्टा समाणा।**' मूलार्थ मे हम इसे स्पष्ट कर आए है। इसका निष्कर्ष यह है कि मनुष्य जन्म पाकर भी वे प्राय रोग, शोक, दु ख, दारिद्रय, विकलागता, दुर्वलता, मूर्खता आदि-आदि अनेक दु खो से घिरे रहते हैं। मनुष्य जन्म पाकर भी ऐसे जीव प्राय सद्वोध नही प्राप्त कर सकते। वे एक के वाद एक दु ख का अन्त करने मे ही सतत लगे रहते हैं और इसी उधेड वुन मे अपनी सारी जिंदगी पूरी कर देते है। इसीलिए मनुष्यजन्म पाने से भी उन्हे कोई लाभ नही होता। पूर्वकृत अशुभ कर्मों मे से शेप वचे हुए कर्मो का फल भोगने मे ही सारी जिंदगी व्यतीत हो जाती है। वह मनुष्य-जन्म मे नये अशुभ कर्मों को रोक नही पाता, क्योकि अज्ञान और मोह का इतना घना अधेरा उसके मन और वुद्धि पर छाया रहता है कि वह नवीन अशुभ कर्मो को आने से रोकने के वजाय और अधिक कर्मदल इकट्ठे कर लेता है। उसे शरीर भी इतना सवल और मनोवलशाली नही मिलता कि वह तपश्चर्या करके तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उत्साहपूर्वक निर्मल आराधना करके अपने जीवन मे पूर्व उपार्जित कर्मों को सर्वथा क्षय कर सके और नवीन कर्मो के प्रवाह को रोक सके। यही कारण है कि फिर वह अपने लिए जन्म-मरण के चक्र मे परिभ्रमण करने की सामग्री जुटा लेता है और वरवस फिर से उसकी अनन्त जन्म-मरण की यात्रा शुरू हो जाती है। इसीलिए शास्त्रकार आगे स्पष्ट कहते है—"**एव णरग तिरिक्खजोणि कुमाणुसत्त च हिडमाणा पावति अणताइ दुक्खाइ पावकारी।**" अर्थात् वे हिंसादि पापकर्म करने वाले इस (पूर्वोक्त) प्रकार से नरको मे, तिर्यञ्चयोनियो मे और कुमनुष्यपर्याय मे चक्कर लगाते हुए अनन्त दु खो को पाते रहते हैं।

'प्रायश' शब्द का स्पष्टीकरण—मनुष्यपर्याय को पाने वाले जीवो मे से कुछ ऐसे भी होते है, जो नरक से निकल कर सीधे मनुष्यपर्याय मे तीर्थङ्कर, केवलज्ञानी, मुनिव्रतधारी, श्रावकव्रती, या सम्यक्त्वी होते हैं, वे मनुष्यपर्याय मे दुर्भाग्य के शिकार नही होते और जिस प्रकार की कुमनुष्यत्वप्राप्ति का शास्त्रकार ने चित्रण किया है, उस प्रकार की स्थिति से कही अधिक अच्छी स्थिति वे प्राप्त करते है। इसीलिए शास्त्रकार ने मूलपाठ मे स्पष्ट कर दिया है—'**ते वि य दीसति पायसो विकयविगल-रूवा**।' इस 'पायसो' शब्द से यह स्पष्ट हो गया कि नरक से आकर मनुष्य पर्याय प्राप्त करने वालो मे तीर्थंकरादि कुछ आत्मा इसके अपवाद है, जो अधे, लगडे, अपाहिज, रोगी, दुर्वल, निर्धन आदि भाग्यहीनता से ग्रस्त नही होते।

कर्मफल भोगे विना छुटकारा नहीं—कोई भी कर्म हो, वह अपना फल अवश्य देता है। हिंसा आदि दुष्कर्मो से रौद्र आदि परिणाम होते हैं और रौद्र आदि परिणामो से निकाचित रूप मे कर्मवन्ध होता है, जिसे भोगे विना कोई छुटकारा नही। वे तीर्थंकर

मुनि, चक्रवर्ती या राजा-महाराजा तक को भी नही छोडते, मामूली आदमी की तो बात ही क्या है ? जैन इतिहास मे आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के जीवन का एक ज्वलन्त उदाहरण इस विषय मे प्रस्तुत किया जा सकता है। लाभान्तराय कर्म के उदय के कारण उन्हे एक वर्ष मुनि के योग्य कल्पनीय आहार नही मिला, इस कारण उन्हे एक वर्ष तक अपना अभिग्रह तप करना पडा। इसी प्रकार राजा श्रेणिक ने रौद्र-ध्यानवश निकाचित रूप से नरकगति का बध कर लिया था। उसके पश्चात् उन्होने क्षायिक सम्यक्त्व भी प्राप्त किया, भविष्य मे तीर्थंकर नामकर्म भी उपार्जित किया, लेकिन उन्हे नरकगति मे अवश्य जाना पडा। मतलब यह है कि रौद्र परिणामवश, ऐसे गाढ रूप से बाधे हुए कर्मो का फल अवश्यमेव भोगना पडता है। इसी बात को शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है—'**न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति।**'

प्राणवध के दुष्परिणामो की भयकरता—पूर्वोक्त मूलपाठ के द्वारा हिंसा के कटुफलो का स्पष्टीकरण करने के बाद शास्त्रकार निष्कर्ष रूप मे प्राणवध (हिंसा) की भयकरता सक्षेप मे बताते है—"**एसो सो पाणवहस्स फलविवागो वाससहस्सेहिं मुच्चती।' एसो सो पाणवहो चडो रुद्दो मरणवेमणसो।**' इसका अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है, जिसे मूलार्थ मे हम दे आए है। हिंसा के भयकर फलो का निष्कर्ष बताने के साथ-साथ हिंसा की भयकरता और कठोरता का वर्णन जो प्रारम्भ मे किया था, उस का ही दुबारा पुनरुक्ति करके भी चौथे सूत्र के प्रथम अधर्म द्वार के उपसहार के रूप मे निरूपण किया है। दुबारा उसी बात को दोहराने के पीछे यही आशय प्रतीत होता है, कि हिंसा की निकृष्टता या अकर्त्तव्यता की बात जनता के मन मे जम जाय। हिंसा आदि की अनाचरणीयता या निकृष्टता की बात किसी व्यक्ति के दिल-दिमाग मे जब अच्छी तरह ठस जाती है तो वह पुन उस निकृष्ट बात की ओर नही झुकता, उसमे प्रवृत्त नही होता। यही कारण है कि शास्त्रकार ने हिंसा के स्वरूप वाले पाठ को, जो प्रारम्भ मे दिया गया था, उपसहार मे पुन दोहराया है।

एवमाहसु नायकुलनदणो—हिंसा के इस भयकर फलविपाक का निरूपण कोई कपोलकल्पित नही है, और न किसी राह चलते मनचले द्वारा ही बताया गया है, न शास्त्रकार की अपनी मनगढत बाते हैं। सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी ने ही ऐसा कहा है। जो लोग यह कहते है कि यह शास्त्र किसी पुरुष का रचा हुआ नही है, या किसी मनुष्य का कहा हुआ नही है, यह तो सीधा ईश्वर के द्वारा कथित और रचित है, इस अपौरुपेयवाद का भी '**एवमाहसु नायकुलनदणो**' कहकर खण्डन कर दिया है। साथ ही इस बात का भी समाधान कर दिया है कि ये चडूखाने की गप्पें नही है, वास्तविक तथ्यपूर्ण बाते है और एक प्रामाणिक, सर्वप्राणिहितैपी, आप्तपुरुप, सर्वज्ञ द्वारा निरूपित है। ऐसा कहकर शास्त्रकार ने विनय भक्तिवश अपनी

न्यूनता भी प्रदर्शित कर दी हे । जो आप्तपुरुप होते है, वे माता-पिता की तरह जगत् के जीवो के हितैपी होते हैं और उनमे किसी प्रकार का राग, द्वेप या पक्षपात नही होता कि किसी भी प्राणी के लिए वे गलत, झूठी,अहितकर या दु खकर वात कहे । वे जो कुछ कहते है, जगत् के जीवो के प्रति वात्सल्य और करुणा से प्रेरित होकर एकान्त हित की वात ही कहते है । इसीलिए यहाँ भगवान् महावीर के लिए वास्तविक विशेपणो का प्रयोग किया गया है—'नायकुलनदणो महप्पा जिणो उ वीरवर नामधेज्जो ।' अर्थात् ज्ञातकुल-नन्दन, महात्मा, जिन (वीतराग), वीरो मे श्रेष्ठ महावीर नाम के तीर्थंकर ने ऐसा कहा है ।'

'त्तिवेमि' शब्द—श्रीसुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कह रहे है कि वत्स ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर से इस अध्ययन का वस्तुतत्त्व सुना था, वैसा ही सूत्ररूप मे सकलन करके तुम्हारे सामने कहता हू । मैं ये वचन तीर्थंकर के उपदेश के आधार पर कहता हू, अपनी बुद्धि की कल्पना से नही । इस कथन से गुरु-भक्ति, शास्त्र की प्रामाणिकता, और सर्वज्ञोक्त वचन की जगत् के लिए उपकारकता सिद्ध की गई है । अपना अभिमान छोडकर नम्रतापूर्वक गुरु की अधीनता स्वीकार करने की वात भी इस पद से ध्वनित की गई हे ।

इस प्रकार प्रश्न व्याकरण सूत्र का यह प्रथम अधर्म द्वार समाप्त हुआ । प्रश्न व्याकरण सूत्र मे प्रथम आश्रव द्वार की 'सुवोधिनी' नामक हिन्दी व्याख्या भी सम्पूर्ण हुई ।

● ●

द्वितीय अध्ययन : मृषावाद्-आश्रव

प्रथम अध्ययन मे प्राणवध (प्राणातिपात) का विस्तार से सागोपाग निरूपण किया गया। किन्तु वह प्राणवध (हिंसा) मृपावाद के द्वारा होता है, क्योकि मृपावाद भी क्रोध, लोभ, भय और हास्य से सम्पन्न होता है। क्रोधादि ही भावहिंसा के मुख्य कारण है। द्रव्यहिंसा भी क्रोध, लोभ या भय आदि के निमित्त से होती है। अत प्रसगवश अब मृपावाद का निरूपण करते है—

मृषावाद का स्वरूप

मूलपाठ

इह खलु जम्बू! बितियं च अलियवरण लहुसग-लहुचवल-भणिय भयकर दुहकर अयसकर वेरकारग अरतिरतिरागदोस-मण-सकिलेस - वियरण अलिय नियडिसातिजोयबहुल नीयजण-निसेविय निस्सस अपच्चय कारक परमसाहुगरहणिज्ज परपीला-कारक परमकिण्हलेस्ससहिय दुग्गइविणिवायविवड्ढण भवपुण-ब्भवकर चिरपरिचियमणुगता दुरंत कित्तिय बितिय अधम्मदारं ॥सू० ५॥

संस्कृतच्छाया

इह खलु जम्बू! द्वितीय चालीकवचनं लघुस्वक लघुचपलभणितं, भयङ्करं दु खकर अयशस्करं वैरकारकमरतिरतिराग - द्वेषमन सक्लेश-वितरणमलीक निकृतिसाति(अविश्रम्भ)योगबहुल नीचजननिषेवित नृशस (निशस) अप्रत्ययकारक परमसाधुगर्हणीय, परपीड़ाकारक, परमकृष्ण-लेश्यासहित दुर्गतिविनिपातविवर्द्धन भवपुनर्भवकर चिरपरिचितमनुगत दुरत कीर्तित द्वितीयमधर्म-द्वारम् ॥सू० ५॥

पदार्थान्वय—(इह) इस शास्त्र मे, (खलु) वास्तव मे, (जबू) हे जम्बू!

(बितिय) दूसरा आश्रवद्वार (अलियवयण) मृषावाद—असत्य भाषण है। यह (लहुसग-लहुचवलभणिय) जिनकी आत्मा गुणगौरव से हीन है, तथा जो उतावले और चचल हैं, उन्हीं के द्वारा बोला जाता है, (भयकर) स्व-पर मे भय पैदा करने वाला है, (दुहकर) दु ख का कर्ता है, (अयसकर) अपकीर्ति (बदनामी) करने वाला है, (वेर-कारग) वैर पैदा करने वाला है, (अरतिरतिरागदोसमणसकिलेसवियरण) अरति, रति, राग, द्वेष और मानसिक क्लेश को देने वाला, (अलिय) झूठ, निष्फल या शुभ फल से रहित, (नियडिसातिजोयबहुल) धूर्तता और अविश्वसनीय वचनो से प्रचुर, (नीयजणसेविय) जाति आदि से नीच-हीन लोगो द्वारा सेवित, (निस्सस) नृशश, (क्रूर) अथवा प्रशसारहित, (अपच्चयकारक) अविश्वासजनक, (परमसाहुगरहणिज्ज) योग, ध्यान आदि से उत्कृष्ट साधुओ द्वारा निन्दनीय, (परपीलाकारक) दूसरो को पीडा पहुँचाने वाला, (परमकिण्हलेस्ससहिय) परम कृष्णलेश्या से युक्त, (दुग्गइविणिवाय-विवड्ढण) दुर्गति मे पतन की वृद्धि करने वाला, (भवपुणब्भवकर) ससार मे पुन पुन जन्म-पुनर्जन्म कराने वाला, (चिरपरिचिय) अनादिकाल से जीव का अभ्यस्त या परिचित, (अणुगत) निरन्तर प्राप्त और (दुरत) कठिनता से अन्त होने योग्य अथवा अत्यन्त दारुण फल वाला है, ऐसा (बितिय) दूसरा (अधम्मदार) अधर्म-आश्रव-द्वार, (कित्तिय) कहा गया है।

मूलार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है—हे जम्बू ! मृपावाद दूसरा अधर्मद्वार है। यह मृषावाद गुणगौरव से रहित हीन आत्माओ एव उतावले और अतिचचल लोगो द्वारा बोला जाता है। अपने और दूसरो मे भय पैदा करने वाला है, दु खजनक है, ससार मे अपकीर्ति (बदनामी) का जनक है, वैर पैदा कराने वाला है, रति-अरति, राग और द्वेष रूपी मानसिक सक्लेशो को पैदा करने वाला है, शुभ फल की दृष्टि से निष्फल या झूठ है, धूर्तता माया-चारी और अविश्वसनीय वचन से भरपूर है, जाति, कुल आचरण आदि से हीन लोगो द्वारा ही सेवित होता है, प्रशसारहित या क्रूर है, अविश्वास का जनक है, महापुरुप या साधुजनो द्वारा गर्हित—निन्दनीय है, पर (जिसके लिए झूठ बोला जाता है,) उसको पीडा देने वाला है, उत्कट कृष्णलेश्या से युक्त है, दुर्गति मे पतन की वृद्धि करने वाला है, ससार मे बार-बार जन्म-पुनर्जन्म आदि कराने वाला है, अनादिकाल से जीवो का परिचित-अभ्यस्त है, मिथ्यात्व अविरति आदि के प्रवाह के साथ लगातार लगा रहने वाला है, दारुण फल वाला होने से बडी मुश्किल से अन्त किया जाने वाला है। इस प्रकार दूसरे अधर्म (आश्रव) द्वार-मृपावाद का निरूपण किया गया है।

व्याख्या

प्राणवध नामक प्रथम आश्रवद्वार का वर्णन कर चुकने पर अव शास्त्रकार 'मृपावाद' नामक द्वितीय आश्रवद्वार का निरूपण करते है। जिस प्रकार प्रथम आश्रव का वर्णन स्वरूप, नाम, साधन, कर्ता और फल इन पाच द्वारो मे वर्गीकरण करके किया गया है उसी प्रकार द्वितीय आश्रव का वर्णन भी क्रमश पाच द्वारो द्वारा शास्त्रकार करना चाहते है। अत प्रसगवश सर्वप्रथम शास्त्रकार मृपावाद के स्वरूप का निरूपण करते हैं।

अलियवयण—मिथ्यावचन को अलीकवचन कहते है। व्यक्ति जव मन मे यथार्थ से विपरीत सोचता है,तभी उसके वचन मे झूठ प्रगट होता है। इसलिए अयथार्थ विचार का सम्वन्ध अयथार्थ भापण के साथ अवश्यम्भावी है।

लहुसग-लहुचवलभणिय—लघु का अर्थ हलका, हीन या तुच्छ होता है। जिनकी आत्मा लघु है यानी वात-वात मे ढिलमिल हो जाती है, जो अपनी वात के धनी नही होते—जरा-जरासी देर मे कहकर वदल जाते है, वे गुण और गौरव से हीन व्यक्ति लघुस्वक (हीन आत्माएँ) है , साथ ही जो झटपट किसी वात को सोचे-विचारे विना कह डालते है या चचलतावश कुछ भी वोल देते है, ऐसे हीनात्मा तथा उतावले और चचल व्यक्तिओ द्वारा ही मृपावाद वोला जाता है।

भयकर—असत्य वोलने वाले व्यक्ति के मन मे अपने-आप भय पैदा होता है कि "कही मेरी कलई खुल गई तो, कही मेरा झूठ सावित हो गया तो, क्या होगा !" इस प्रकार डर के मारे उसके हाथ-पैर कापने लगते हैं। साथ ही असत्य भापण परम धर्मात्मा पुरुपो, परहिततत्पर साधु महात्माओ तक को भी पलभर मे भयग्रस्त कर देता है। झूठे लोगो द्वारा किये गए मिथ्या दोपारोपण ने सुदर्शन सेठ सरीखे अतिधर्मात्मा पुरुपो और निर्मलचित्त साधुमहात्माओ को वडे भयकर दुश्चक्र मे डाला है। वडे-वडे प्रतिष्ठित लोगो ने मिथ्या अपवाद के डर से आत्महत्या तक करली है। अत यह असदिग्धरूप से कहा जा सकता है कि असत्य वडा भयकर और तमाम पापो का जनक है।

दुहकर—असत्य वचन स्वय वोलने वाले को और जिसके लिए वह वोला जाता है उसको, दोनो को दु ख देने वाला है। असत्य बोल कर या असत्याचरण करके व्यक्ति किसी आपत्ति या दु ख से बच जायेगा या वह खूब पैसा कमा लेगा, यह निरा भ्रम है। जो चीज अन्तरायकर्म के क्षयोपशम द्वारा प्राप्त होने वाली है, वह झूठ वोल कर कैसे प्राप्त की जा सकेगी ? या जो आफत वा विपत्ति असातावेदनीय कर्म के उदय से आने वाली है, वह असत्य के वल पर कैसे टाली जा सकेगी ? अतएव असत्यवचन सदैव दु.ख का जनक रहा है और रहेगा। वर्तमान मे झूठ का

वोलवाला होने से कई लोग यह कहा करते है कि सत्य वोलने वाले को तो अनेक कष्ट सहने पडते है, इसलिए असत्य दु खकर न होकर सत्य ही दु खकर लगता है। परन्तु यह क्षणिक सुख की भ्रान्ति के कारण कहा गया है। सत्यवादी को प्रारम्भ मे कदाचित् कुछ समय के लिए झूठे और धोखेवाज लोगो के वीच रहकर थोडा-सा कष्ट या आर्थिक हानि का सामना भले ही करना पडे, लेकिन सदा के लिए उस पर दु ख के वादल छाये नही रहेगे, वे जल्दी ही छँट जायेगे, और सत्य का सूर्य चमक उठेगा। सत्य भापण का सुखद फल अवश्य ही मिलेगा। इसलिए शास्त्र मे असत्य को दु खकर ठीक हो कहा है। सत्य ही अन्त मे विजयी और सुख का कारण वनता है।

अयसकर—असत्य अपयश वढाता है। असत्य वोलने वाले की समाज और राष्ट्र मे कोई प्रतिष्ठा नही होती, लोग उसे अच्छी निगाहो से नही देखते। वडे से वडे इज्जतदार और यशस्वी पुरुप एक वार जव असत्य वोलकर सुखी और समद्ध वनना चाहते है, तभी उनकी सर्वत्र अपकीर्ति होती है, वे अपने मु ह पर सदा के लिए कालिख पोत लेते हे। धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने पक्ष के लोगो के दवाव मे आकर **'अश्वत्थामा हतो नरो वा कु जरो वा'** कहा, तभी से उनकी वास्तविक कीर्ति पर पानी फिर गया। इसलिए मृपावाद अयश कारक है।

वेरकारग—कुलपरम्परा से चली आई हुई मैत्री को ध्वस्त कर परस्पर शत्रुता पैदा करने वाला यदि कोई उपाय ससार मे है तो वह केवल 'असत्यवचन' है। मर्म-स्पर्शी वचन, अपशव्द, गाली, निन्दा, चुगली, अप्रिय या बुरे वचन आदि सभी असत्य मे शुमार है। जो दूसरे को चोट पहुचने वाले, दुर्भावना से प्रयुक्त वचन हैं, वे सव आपस मे वैर वधाने वाले है। हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है कि सर्वप्रथम मामूली कटु वचन से ही लडाई शुरू होती है, वाद मे वह उग्ररूप धारण कर लेती है, और अन्त मे, वह वैरपरम्परा पीढी दर पीढी चलती रहती है।

अरति-रति-राग-दोस-मणसकिलेसवियरण—अरति (अप्रिय वस्तुओ या वातो से मन का उच्चाट), रति (प्रियवस्तुओ-इन्द्रियविपयो मे रुचि), राग (धन स्त्री पुत्र आदि सासारिक पदार्थो के प्रति मोह, ममत्व), द्वेप (अप्रिय वस्तुओ से घृणा, विरोध आदि) ये सव मन के सक्लिष्ट परिणाम है। इन्हे पैदा करने मे मुख्य कारण असत्य-वचन है। किसी सच्चे और भावुक आदमी पर मिथ्या दोपारोपण लगते ही उसके चित्त मे उद्वेग या उच्चाट पैदा हो जाता है। फिर किसी अच्छी वस्तु पर भी उसका चित्त नही लगता। विपयो मे आसक्ति वढाने वाली या कामोत्तेजक कहानिया शृ गाररस को पुप्ट करती है, ऐसे पापोत्तजक घासलेटी साहित्य से मिथ्या कल्पनाओ द्वारा लोगो का चित्त विपयो के प्रति आकृष्ट हो जाता है,उसी मे निरन्तर वे निमग्न रहते हैं, इससे फिर राग, मोह और द्वेप वढता है। असत्य के कारण पैदा हुए अविश्वास से

कई लोगो मे परस्पर द्वेपभाव पैदा हो जाता है, जो काफी वर्पो तक चलता रहता है। असत्य और अतिरजित कल्पनाओ से मन उस वस्तु के प्रति मोहित और आसक्त हो जाता है। उसके न मिलने पर मन मे सक्लेश होता है। पूर्वोक्त चारो ही विकार मानसिक सक्लेश पैदा करने वाले हैं। इसलिए असत्य वचन मन के क्लेश को वढाता है।

अलिय—असत्यवचन सदैव अशुभफल देता है। इसलिए असत्य भापण शुभ-फल की अपेक्षा से निष्फल है।

नियडिसातिजोयवहुल—असत्य स्वय ही झूठ, फरेव, धोखेवाजी, धूर्तता, दम्भ और मायाजाल से भरा हुआ होता है। उससे कदापि किसी को सरल वनने की प्रेरणा नही मिलती। इसलिए असत्य धूर्तता, दम्भ, अविश्वसनीयता और जाल-साजी से भरा होता है। दूसरो को ठगने, धोखा देने या दूसरो को अपने जाल मे फसाने के लिए मनुष्य असत्य का आश्रय लेता है। अपने द्वारा वोले हुए एक झूठ को सत्य सिद्ध करने के लिए मनुष्य व्यर्थ ही अनेक असत्यो व वनावट-दिखावट का सहारा लेता है। इसीलिए असत्य को धूर्तता, अविश्वास आदि का घर कहा है। मनुष्य झूठी कसमे खाकर, असत्य को सत्य का जामा पहना कर सत्य सावित करना चाहता है, मगर वास्तविकता कभी छिप नही सकती है। अत किसी ने ठीक ही कहा है—

"सचाई छिप नहीं सकती वनावट के उसूलो से।
कि खुशवू आ नहीं ी, कभी कागज के फूलो से।।"

नीयजणनिसेविय—मनुप्य की कुलीनता या उच्च जाति एव कुल आदि की पहिचान वचन से होती है। दुराचारी, असभ्य, कुसस्कारी और पापात्मा मनुप्य नीचजन कहलाते है और ये नीचजन वात-वात मे झूठ वोलते हैं, कटु और असभ्य शव्दो का प्रयोग करते है। हीन आचार-विचारो के जमे हुए कुसस्कार ही नीचजनो को असत्य की ओर प्रेरित करते है। सदाचारी, सुसभ्य, धर्मात्मा और सुसस्कारी मनुप्य उच्चजन कहलाते है। उच्चजनो की वाणी मधुर, सयत, सभ्य और सत्यपूर्ण होती है। उनकी वाणी मे दम्भ, झूठ, फरेव, मायाजाल या धूर्तता का पुट नही होता। यही कारण है कि नीचजन ही असत्य का सेवन करते है, वे सकट मे और आनन्द मे हर समय असत्य को ही उपादेय समझते है। वे यही समझते है कि सत्य से जीवन दु खी होता है, असत्य ही जीवन मे सुख का मूल है। जवकि उच्चजन सकट मे भी असत्य का सहारा नही लेते।

निस्सस-असत्य भापण नृशस (घातक) मनुप्य का शस्त्र है। क्रूर मनुप्य अपने नीच हृदय की प्यास झूठफरेव का जाल रच कर वुझाता है। अपनी नृशसता

छिपाने के लिए यह किसी को झूठा अश्वासन देता है, किसी से कपटपूर्वक मधुर बोलता है, किसी को झूठ बोलकर फसाता और सताता है। पापात्माओं के लिए नीतिकार कहते है—'**मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्**' दुष्ट आत्माओ के मन मे कुछ और रहता है, वचन से वे कुछ और ही बात प्रगट करते है और शरीर की चेष्टाएँ दूसरी ही तरह की दिखाते है। यानी नशस के मन-वचन-शरीर सब मे असत्यता ही भरी रहती है। इसीलिए असत्य को नृशस कहा है। अथवा इसका दूसरा रूप बनता है—'नि शस', जिसका अर्थ होता है—प्रशसा से रहित। असत्य की कोई भी प्रशसा नही करता। स्वय असत्यवादी भी उसकी सार्वजनिकरूप मे प्रशसा कभी नही करता। इसलिए असत्य सदा अप्रशसनीय है।

अपच्चयकारक—असत्य सदा अप्रतीति पैदा करने वाला होता है। असत्य-भाषी पर किसी को प्रतीति या विश्वास नही होता। ऐसा व्यक्ति कदाचित् सत्य भी बोलता हो, तो भी उस पर भरोसा नही बैठता। असत्यभाषण करने वाले को कोई जिम्मेवारी नही सौंपी जाती, कोई आर्थिक कार्य नही दिया जाता, उसके साथ लेनदेन का व्यवहार करने मे भी लोगो को सकोच होता है। इसलिए असत्य अविश्वास की खान है, अप्रतीति पैदा करने वाला है।

ससार के सब कार्य या व्यवहार विश्वास के बल पर चलते हैं, लोग अपनी धनसम्पत्ति को विश्वास करके ही किसी के पास धरोहर रखते हैं या बैंक मे जमा कराते है। सत्यवचन ही विश्वासजनक होता है। सासारिक या पारमार्थिक जितने भी कार्य हैं, वे सब विश्वासजनक सत्य पर आधारित है। क्या परिवार, क्या समाज और क्या राष्ट्र सर्वत्र पारस्परिक विश्वासजनक सत्य के आधार पर ही सारी सधियां, सम्बन्ध, लेनदेन, सहयोग के आदान-प्रदान आदि होते हैं। उनमे जहाँ जरा भी असत्य आया या एकबार भी किसी को असत्यता का आभास हुआ कि वहाँ अविश्वास की कुल्हाडी पड जाती है, जो जमे हुए विश्वास को उखाड देती है। पति-पत्नी मे परस्पर असत्य-वचन से मन फट जाता है, अविश्वास पैदा हो जाता है। इसलिए असत्य विश्वासघात करने वाला और अविश्वसनीय है। सत्य ही विश्वास पैदा करने के लिए अमोघ अस्त्र है।

परमसाहुगरहणिज्ज—असत्य उत्तम पुरुषो और विश्व हितैषी साधु-महात्माओ द्वारा सदा ही निन्दनीय और गर्हित होता है। असत्य उनके द्वारा इसलिए निन्दित है कि असत्य से जीवन के समस्त व्यवहार ठप्प हो जाते है, उन्नति रुक जाती है, आत्मिक उत्थान मे विघ्न आ जाता है, सुख शान्ति लुप्त हो जाती है, विश्वास उठ जाता है। इसलिए वे हमेशा इस निन्दनीय असत्यमार्ग से दूर रहने का उपदेश देते हैं। जो उनके उपदेश से इस निन्द्य असत्य पथ को छोड देता है, वह सुखी, शान्त, स्वस्थ, निर्भय,

विश्वस्त और आत्मविकास का पथिक बन जाता है। इसीलिए असत्य उत्तम जनो और साधुओ द्वारा निन्दनीय है।

परपीलाकारक—यह तो सर्व विदित है कि असत्य वचन से प्राणियो की हैरानी परेशानी बढ जाती है, जिसके प्रति असत्याचरण किया जाता है, उसके दिल को सख्त चोट पहुचती है। जितने भी पीडाकारी वचन—(मारो, काटो आदि आदेश कारक या काना, दुष्ट, चोर आदि सम्बोधन कारक वचन) हैं, वे सब असत्य मे ही समाविष्ट हैं, इसलिए असत्य वचन परपीडाकारी है। कठोर, कर्कश, हिंसाकारी, छेदकारक, भेद (फूट) डालने वाली, मर्मस्पर्शी या अपशब्दमयी व्यग्यमयी वाणी दूसरो को सदा दुख और पीडा ही पहुचाती है। प्रिय, हित, मित और सत्य वचन ही सबको शान्ति पहुचाते हैं।

परमकिण्हलेस्ससहिय - अत्यन्त दुष्ट परिणाम ही परमकृष्णलेश्यारूप है। असत्य वचन और आचरण करने वाले के मन मे परमकृष्णलेश्या की सभावना है। क्योकि जब मन मे अत्यन्त दुष्ट परिणाम होते हैं, तभी व्यक्ति सच्ची बात को विपरीत बनाने के लिए असत्य वचन का सहारा लेता है। परमकृष्णलेश्यारूप दुष्ट परिणामो के कारण जीव दुर्गति मे जाता है। यदि उस समय उसके आयु का बध हो जाय तो वह अवश्य ही नरकगति का पथिक बन जाता है। जहाँ उसे असख्य वर्षों (सागरोपम-काल) तक नरक के दुखो मे पडे रहना पडता है। पर यह होता है केवल जरा-से काल्पनिक स्वार्थ या सुखानुभव करने के लिए, अथवा क्षणिक कषाय के आवेश मे आकर असत्य वचन बोलने पर। इसलिए असत्य वचन परमकृष्णलेश्यायुक्त बनता है और जीव को नरकगामी बना देता है।

कषाय के उदय के अनुसार मन, वचन काया की जो प्रवृत्ति होती है, उसे लेश्या कहते हैं। वास्तव मे देखा जाय तो लेश्या का सीधा सम्बन्ध मन से है। वचन और शरीर तो उसी के पीछे चलते हैं। इसलिए कषायसहित मन की तरगो को ही लेश्या कहना चाहिए। कषाय के दो प्रकार है—अप्रशस्त और प्रशस्त। अत मन मे जिस-जिस प्रकार के शुभ या अशुभ कषायो की तरगे उठेंगी, लेश्या भी उस-उस प्रकार की शुभाशुभ बनती जायगी। कृष्णलेश्या अत्यन्त रौद्ररूप है। मन मे भयकर, क्रूर और तीव्र परिणाम होने पर ही कृष्णलेश्या होती है। परमकृष्णलेश्या तो क्रूरातिक्रूर परिणाम होने पर होती है, जो असत्य भाषी मे मृषानुबधी रौद्रध्यानवश होनी सभव है। इसलिए असत्य को 'परमकृष्णलेश्यासहित' बताया, वह ठीक ही है।

दुग्गइविणिवायविवड्ढण—चूकि असत्य परमकृष्णलेश्या रूप होता है, इसलिए दुर्गतियो—नरक तिर्यंच गतियो—मे जन्ममरण की वृद्धि करने वाला है। असत्यभाषी परमकृष्णलेश्या के वश दुर्गति का बध कर लेता है। परन्तु उस बध मे वृद्धि तब होती

हे, जव एकवार असत्य-आचरण करके किसी ने दुर्गति का वध कर लिया, फिर वार-वार असत्य का सेवन करे तो वह दुर्गति के अपने पूर्व वध मे और भी वृद्धि कर लेता हे। अथवा पहले असत्य सेवन के कारण जिसके प्रथम नरक की एक सागरोपम की स्थिति का वन्ध हुआ तो फिर पुन पुन असत्य सेवन कर वह उस स्थिति (कालावधि) को और वढा लेता है। यानी दूसरे और तीसरे आदि आगे के नरको मे जाने की सामग्री जुटा लेता हे।

यद्यपि आयुकर्म का वन्ध समस्त आयु के त्रिभागो मे से किसी एक त्रिभाग मे एकवार हो जाता है, लेकिन वाद मे समय-समय पर वधने वाले समयप्रवद्धो (एक समय मे वधने वाले) आठो कर्मों का वटवारा होता रहता है। जब शुभ परिणामो से वन्ध होता है तव शुभ प्रकृतियो की स्थिति और अनुभाग मे वृद्धि होती है। और जव अशुभ परिणामो से वध होता है तव अशुभ प्रकृतियो की स्थिति और अनुभाग मे वृद्धि होती है। इस दृष्टि से असत्य सेवन पहले की वधी हुई दुर्गति की स्थिति को भी वढाता है।

इस पद का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि असत्य दुर्गति मे गिरने को वढावा—प्रोत्साहन देता है। जव मनुष्य असत्य वोलता है तो विना सोचे-समझे और नि शक होकर वोलता है, वल्कि वह असत्य की ही वारवार तारीफ करता है और मन ही मन असत्य से अपना काम बना लेने मे पूरा विश्वास रखता है, इस कारण दुर्गति गर्त मे होने वाले पतन को उसके व्यवहार से वढावा मिलता है।

भवपुणब्भवकर—असत्य ससार मे वारवार जन्म कराने वाला है। अकसर देखा जाता है कि एकवार जिस आत्मा का पतन हो जाता है, उसे उसके फलस्वरूप नरकतिर्यंचादि कुगतियो व कुयोनियो मे से किसी मे जन्म लेना पडता है। वहाँ के खराव निमित्तो से उसकी आत्मा और अधिक पतित होती जाती है, उसे आत्म-विकास के मुख्य साधन या निमित्त वहाँ मिलते ही नही। फलत उसकी आत्मा धर्माचरण से शून्य होकर वार-वार उन्ही-उन्ही योनियो मे जन्ममरण के भवरजाल मे गोते खाती रहती है। इसलिए असत्य जन्म जन्मान्तर का लगातार ताता लगाने मे बहुत वडा कारण है।

चिरपरिचिय—असत्य चिरकाल से जीव का परिचित है। क्योकि नरक और तिर्यञ्चगतियो मे तो सत्य का नाम भी सुनने को नही मिला। वहाँ तो प्रवाहपेक्षया अनादिकाल से मिथ्यात्वरूपी अन्धकार मे ही आत्मा डूबा रहा, उसे सत्यरूपी सूर्य के दर्शन हुए ही नही। इसी प्रकार वर्तमान काल मे जो असत्य सेवन करेगा, उसे आगामी काल मे असत्य के फलस्वरूप सत्य के दर्शन होने कठिन होगे, वह असत्य मे ही लिपटा रहेगा। इसीलिए असत्य को जीव का चिरपरिचित या दीर्घकाल से अभ्यस्त कहा है।

अणुगत—असत्य जीव का परम्परागत साथी भी रहा है, क्योकि नरक, तिर्यञ्च

या कुमनुष्यपर्याय मे आत्मा अनादिकाल से मिथ्यात्व, अविरति आदि प्रवाहो मे वहता रहा, इसलिए वहाँ सत्य का अनुगामी या साथी वनना तो कठिन ही था। अत मिथ्यात्व आदि के सतत प्रवाहो मे असत्य ही जीव का अनुगामी रहा, साथी वना और अव भी है। इमसे एकवार दोस्ती कर लेने पर पिंड छुडाना वडा ही कठिन और दुर्वार होता है।

दुरन्त—असत्य का अन्त करना वडा ही दुष्कर है। अथवा असत्य का अन्त यानी परिणाम कई सागरोपमो पर्यन्त दु खद और वुरा ही होता है। इस लोक मे भी असत्य के परिणामस्वरूप शासको द्वारा जिह्वाछेद, देश निकाला या गधे पर विठा कर नगर मे घुमाना आदि कठोर दण्ड दिया जाता है, समाज मे भी उसकी निन्दा और वदनामी होती है। परलोक मे भी उसे नीच गति और नीच कुल आदि अधम स्थान मिलते है,जहाँ सख्यातीत समय तक उसे नाना प्रकार के दु खो और यातनाओ को विवश होकर भोगना पडता है। इसीलिए असत्य को दुरन्त अर्थात् दु खान्त या दुष्परिणामी कहना यथार्थ है।

इस प्रकार द्वितीय अधर्मद्वार यानी पाप के उपाय-असत्य के स्वरूप का का निरूपण किया गया है।

मृषावाद के पर्यायवाची नाम

मृपावाद के स्वरूप का वर्णन करने के वाद अव शास्त्रकार क्रमप्राप्त मृपावाद के पर्यायवाची नामो का उल्लेख करते है—

मूल

तस्स य णामाणि गोण्णाणि होंति तीस, तंजहा-१ अलिय, २ सढ, ३ अणज्जं, ४ मायामोसो, ५ असंतक, ६ कूडकवडमवत्थुग च, ७ निरत्थयमवत्थय च, ८ विद्देसगरहणिज्ज, ९ अणुज्जुक, १० कक्कणा य, ११ वचणा य, १२ मिच्छापच्छाकड च, १३ साती उ १४ उच्छन्न (उच्छुत्त), १५ उक्कूल च, १६ अट्टं १७ अब्भक्खाण च, १८ किव्विस, १९ वलयं, २० गहण च, २१ मम्मण च, २२ नूम, २३ नियथी, २३ अपच्चओ, २५ असमओ, २६ असच्चसधत्तण, २७ विवक्खो, २८ अ (उ) वहीय (आणाइय) २९ उवहिअसुद्धं, ३० अवलोवोत्ति। अवि य तस्स (ब्रिइयस्स) (इमाणि) एयाणि एवमादीणि

(एवमाइयाणि एयाणि) नामधेज्जाणि होंति तीस सावज्जस्स अलियस्स वय (इ) जोगस्स अणेगाइ ।। सू० ६ ।।

संस्कृतच्छाया

तस्य च नामानि गोणानि (गुण्यानि) भवन्ति त्रिशत् , तद्यथा—१ अलीक, २ शठ, ३ अन्याय्य (अनार्य), ४ मायामृषा, ५ असत्क, ६ कूट-कपटावस्तुक ७ निरर्थकमपार्थक च, ८ विद्वेष-गर्हणीय, ९ अनृजुक, १० कल्कना च, ११ वचना च, १२ मिथ्यापश्चात्कृत च, १३ सातिस्तु, १४ अपच्छन्न (उच्छन्न, उत्सूत्र), १५ उत्कूल च, १६ आर्त्त , १७ अभ्याख्यान, १८ किल्विष, १९ वलय, २१ गहन च, २१ मन्मन च, २२ नुम (पिधान), २३ निकृति , २४ अप्रत्ययः, २५ असमय (असम्मत) २६ असत्यसंधत्व, २७ विपक्ष, २८ उपधीक (आज्ञातिग, अपधीक) २९ उपध्यशुद्ध , ३० अवलोप इति । अपि च तस्य (द्वितीयस्य) (इमानि) एतान्येवमादीनि (एवमादिकानि एतानि) नामधेयानि भवन्ति त्रिशत् सावद्यस्यालीकस्य वचोयोगस्यानेकानि ।। सू० ६ ।।

पदार्थान्वय—(य) और, (तस्स) उस असत्य के (गोण्णाणि) गुणनिष्पन्न-सार्थक, (तीस) तीस, (णामाणि) नाम (होंति) होते हैं । (तजहा) वे इस प्रकार है—(अलिय) अलीक, (सढ) शठ-शाठ्य-धूर्तता, (अणज्ज) अनार्य लोगो का कर्म अथवा अन्याययुक्त, (मायामोसो) माया-कपट-सहित मृषा-झूठ अर्थात् दम्भ, (असतक), असत् (अविद्यमान) या अप्रशस्तपदार्थो का कथन करना, (कूडकवडमवत्थु) दूसरो को ठगने के लिए हीनाधिक कहना, वचन-विपर्यास करना, अविद्यमान वस्तु का कथन करना, (निरत्थयमवत्थय) सत्य अर्थ से हीन, सत्य-अर्थशून्य बोलना, (विद्देसगरहणिज्ज) विद्वेष या डाह के कारण दूसरे के प्रति निन्दामय वचन बोलना, (अणुज्जुक) सरलतारहित वक्रतापूर्वक कथन, (कक्कणा य) माया या पाप का वचन कहना, (य) तथा (वचणा) ठगना, धोखा देना, (मिच्छापच्छाकड) मिथ्यारूप होने से न्यायवादियो द्वारा पीछे किया गया या छोडा गया, (अथवा मिथ्यारूप वचन और बाद मे पीठ पीछे से अवर्णवाद बोलना) (साती उ) अविश्वासरूप, (उच्छन्न) अपने दोषो और दूसरे के गुणो को ढाकने वाला वचन, अथवा (उच्छुत्त) उत्सूत्रप्ररूपण करना—शास्त्र से न्यूनाधिक या विपरीत प्ररूपण करना (च) और (उक्कूल) न्याय मार्ग से भ्रष्ट करने वाला या न्यायरूप नदीप्रवाह के तट से अलग करने वाला वचन (च) और (अट्ट) आर्त्त-पीडित का वचन, (च) और (अब्भक्खाण) मिथ्या दोषारोपण करना, (किव्विस) पापजनक वचन, (वलय) चूडी के समान बात को गोलमोल या घुमाफिरा कर कहना-

(च) और (गहण) गहन-गूढ वचन, जिसकी थाह का पता न लग सके, ऐसा वचन, (च) और (मम्मण) अस्पष्ट वचन, (नूम) दूसरे के गुणो को ढाकने के लिए ढक्कन के समान आच्छादनरूप वचन, (निययी) अपनी मायाचारी को छिपाने का वचन, (अपच्चओ) अप्रतीतिजनक वचन, (असमओ) समय-सिद्धान्त से विपरीत वचन या शिष्ट पुरुषो द्वारा असम्मत वचन, (असच्चसधत्तण) असत्य से मेल खाता हुआ वचन अथवा असत्य सधा-अभिप्रायरूप, प्रतिज्ञारूप वचन, (विवक्खो) सत्य अथवा धर्म से विपक्ष वचन, (उवहीय) उपधि-माया पर आधारित वचन अथवा (अवहीय) तुच्छ बुद्धि से कहा गया वचन, (उवहि असुद्ध) कपट से युक्त सावद्य अशुद्ध वचन,(अवलोवो) वस्तु की वास्तविकता को छिपाने-लोप करने वाला वचन, (इति) इस प्रकार (अपि च) और भी (तस्स) उसके, (विइयस्स) द्वितीय आश्रवद्वार के (एयाणि-इमाणि) ये (एवमादीणि) ऐसे ही और भी (तस्स) उसके (तीस) तीस (नामधेज्जाणि) नाम हैं उस, (सावद्य-पापरूप, (अलियस्स) असत्य, (वयजोगस्स) वचनयोग के, (अणेगाइ) अनेक नाम (होति) हैं।

मूलार्थ—उस असत्य वचन के गुणनिष्पन्न (सार्थक) तीस नाम है। वे इस प्रकार हे—(१) अलीक-मिथ्यावचन, (२) शठ-शठजनो द्वारा आचरित शाठ्यवचनरूप असत्य (३) अनार्य मनुष्यो का कर्म या अन्याययुक्त असत्य, (४) कपटसहित झूठ (५) असत् (अविद्यमान) या अप्रशस्त वस्तुओ का कथन, असत्य, ·६) कूट-कपट, अवस्तु नामक असत्य, (७) निरर्थक और गलत अर्थ वाला असत्य, (७) विद्वेप से परनिन्दारूप कथन वाला विद्वेपगर्हणीय नामक असत्य (६) टेढा या व्यग्य पूर्ण वोलना-अनृजुक नामक असत्य, (१०) मायारूप या पापरूप कल्कना नामक असत्य, (११) धोखेवाजीरूप वचना नामक असत्य, (१२) न्यायवादियो द्वारा छोडे हुए मिथ्यावचनरूप मिथ्यापश्चात्कृत नामक असत्य, (१३) अविश्वस्त वचन रूप साति नामक असत्य, (१४) अपने और दूसरे के गुणो को ढकने वाले वचनो से युक्त उच्छन्न या अपच्छन्न नामक असत्य अथवा सूत्रविरुद्ध प्ररूपणारूप उत्सूत्र नामक असत्य, (१५) न्यायमार्ग की मर्यादा को लाघकर वोलने या न्याय पथ से भ्रष्ट कर देने वाला उत्कूल नामक असत्य, (१६) आर्त्त-पीडित मनुष्य के वचन रूप आर्त नाम का असत्य, (१७) सहसा किसी पर मिथ्या दोपारोपण करना, अभ्याख्यान नामक असत्य, (१८) पापजनकवचनरूप किल्विप नाम का असत्य, (१६) गोल-मोल वात करने को वलय नामक असत्य कहते है, (२०) गूढ वातें करना, जो किसी की समझ मे न आवें ऐसा वचन, गहन नामक असत्य है, (२१) अस्पष्ट वचनरूप मम्मण नाम का असत्य (२२) दूसरे के गुणो को ढक देने के रूप मे 'नूम' नामक असत्य, (२३) अपनी मायाचारी को छिपाने वाला निकृति नामक असत्य (२४) अप्रीतिकर वचन के रूप मे अप्रत्यय

नामक असत्य (२५) ऐसा वचन, जो सिद्धान्त या शिष्टजनो से सम्मत न हो, वह असमत या असमय नामक असत्य, (२६) झूठी प्रतिज्ञा करने या कसमे खाने के रूप मे असत्य सधत्व नायक असत्य है, अथवा असत्य से मेलखाता या असत्य अभिप्राय वाला वचन भी असत्य सधत्व है (२७) धर्म या शिष्ट पुरुषो के प्रति विपक्षी वचन विपक्ष नामक असत्य है, (२८) माया पर आधारित वचन उपधि नाम का, या तुच्छबुद्धि से कहा गया वचन, अपधी नाम का असत्य है, (२९) कपटयुक्त सावद्य अशुद्ध शब्दो का कथन उपध्यशुद्ध नामक असत्य है। और (३०) वस्तु के सद्भाव का लोप करने वाला वचन अपलोप नामक असत्य है।

इस प्रकार उस द्वितीय आश्रव द्वार मृषावाद (असत्य) के ये तीस नाम है। तथा उस पापरूप असत्य वचन योग के ऐसे ही और भी अनेक नाम होते है।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ मे असत्य के गुणनिष्पन्न एव असत्य के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले सार्थक तीस नाम वतलाए है। अन्त मे, यह भी कह दिया है कि इसके केवल ३० नाम ही न समझ लेने चाहिए, अपितु और भी अनेक नाम हो सकते हैं। जो वचन सावद्य (पापरूप) एव असत्य अर्थ के प्रतिपादक हो, उन सबको असत्य समझ लेना चाहिए। इसी को शास्त्रकार स्पष्ट करते हुए कहते हैं—**'एवमादीणि अणेगाइ तस्स सावज्जस्स अलियस्स वयजोगस्स नामधेज्जाणि होंति।'**

असत्य शब्द का अर्थ—'सद्भ्यो हित सत्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो प्राणिमात्र के लिए सर्वथा और सर्वदा हितकर हो, वह सत्य है, और सत्य से जो विरोधी-विपरीत हो, वह असत्य है। इसी प्रकार सत्य का एक अर्थ यह भी है कि 'जैसा देखा हो, जैसा सुना हो, जैसा सोचा-समझा हो, जैसा अनुमान किया हो, मन-वचन-काया से प्राणिहित को सामने रखकर वैसा ही प्रगट करना।' इससे विपरीत कथन असत्य है। जैसे विद्यमान पदार्थ को अविद्यमान कहना तथैव अविद्यमान को विद्यमान कहना असत्य है। इसी प्रकार सुनी, देखी, सोची-समझी कुछ और बात हो किन्तु कहना कुछ और हो, यह भी असत्य है। अपनी बात को, अपने भावो को छिपाना भी असत्य है, गोलमोल, अस्पष्ट, द्वयर्थक-गूढ या निरर्थक वचन कहना भी असत्य है। इसी प्रकार धूर्तता, धोखा, छल या वचना की दृष्टि से, किसी को ठगने और अपने जाल मे फसाने की नीयत से मीठा वोलना भी असत्य है, दूसरो को पीडा या हानि पहुंचाने वाली वाणी या ऐसी तथ्यपूर्ण बात भी, जिससे प्राणि-हिंसा की सभावना हो, जिस वचन से अशान्ति, उपद्रव, झगडे या वैमनस्य पैदा होता हो, वह वचन भी

अहितकर होने से सच कहे जाने पर भी परिभाषा के अनुसार असत्य मे गिना जाता है। निन्दा, गाली, अपनी प्रशसा, चुगली, ईर्ष्या, दूसरो पर दोपारोपण, क्रोध, या अभिमानपूर्वक डीग मारने, दूसरे को नीचा दिखाने या वदनाम करने के लिए वोले जाने वाले शब्दो मे अतिशयोक्ति—वढा-चढा कर कहने की वृत्ति—आ जाती है, इसलिए ये सव असत्य के अन्दर ही गतार्थ हो जाते है। हास्य के वश, रोप के वश, लोभ या स्वार्थ के वश मनुष्य न कहने योग्य वात कह जाता है, वह भी असत्य है। इसी प्रकार किसी को वचन देकर वाद मे वदल जाना, मुकर जाना, विश्वासघात करना, सत्य को छिपाना, प्रतिज्ञा करके इन्कार कर जाना, आदि सभी असत्य मे शुमार है। मतलव यह है कि जो वचन सभी प्राणियो के लिए हितकर न हो, जिससे अपने आपका मन भी भय, क्षोभ आदि मानसिक सक्लेश मे पडे, उसे असत्य समझ लेना चाहिये।

नीचे हम शास्त्रकार के द्वारा उल्लिखित असत्य के ३० नामो का आशय क्या है ? इसके ये पर्यायवाची शब्द क्यो है ? इसका क्रमश विश्लेपण करते है—

अलिय—मिथ्या कथन का नाम अलीक है। मनुष्य क्रोध, लोभ, हास्य, भय, स्वार्थ, द्वेप, ईर्ष्या आदि के वश झूठ वोल देता है। उसका इन विकारो के अधीन होकर वोलना स्वपर के लिए हितकर नही होता। वह दोनो को हानि पहुकाने वाला होता है। इसलिए 'अलीक' को मृपावाद का भाई कहने मे कोई अत्युक्ति नही।

सढ—कई वार मनुष्य अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरो के साथ शठता—दुष्टता से भरे वचनों का प्रयोग करता है। वह समझता है कि इस प्रकार के दुर्वचन या धमकी भरे वचन, अथवा डाट-फटकार के वचन से मैं दूसरो पर रौव गाठकर, अपनी धाक जमा कर, या दूसरो को कायल करके अपना मतलव सिद्ध कर लूगा, मगर उसके वे दुष्टवचन, जिनमे असत्य का जहर मिला होता है, दूसरे को पीडा तो पहुँचाते ही है, उसके स्वय के लिए भी हितकर नही होते। इससे भयकर कर्मवन्ध होते है। इसलिए शठ या शाठ्य को असत्य का पर्यायवाची यथार्थ ही कहा है। वास्तव मे शठतापूर्ण वचनो से किसी पर स्थायी प्रभाव नही डाला जा सकता और न सुख शान्ति ही प्राप्त की जा सकती है। इससे तो प्राय वैर विद्वेप की परम्परा ही वढती है।

कई लोगो का कहना है कि 'शठे शाठ्य समाचरेत्' इस नीति के अनुसार ससार मे चलने वाला सुखी रहता है। परन्तु यह नीति धर्मलक्षी सच्ची नीति नही है। किसी ने शठता की, उसे के वदले मे यदि दूसरा भी शठता करता है तो उससे समस्या का वास्तविक हल नही होता। वल्कि कई वार तो समस्या उलझ

जाती है और वैर, द्वेष, छल, दुष्टता और हिंसात्मक संघर्ष की परम्परा बढती जाती है। अत इस दुर्नीति के बदले 'शठे सत्य समाचरेत्' वाली सुनीति को अपनाना ही श्रेयस्कर है।

अणज्ज—असत्य वस्तुत अनार्य कर्म है, आर्यकर्म नही। अनार्य लोग प्राय अपना व्यवहार धोखा, छल, फरेब, मायाजाल, बे-ईमानी, ठगी, चकमा आदि के सहारे चलाते है, वे सत्य को पास ही नही फटकने देते। असत्य ही उन्हे जन्मघुट्टी मे मिला होता है, असत्य पर ही उनका भरोसा, श्रद्धा, बल, दारोमदार, आधार या विश्वास होता है। रातदिन असत्य का ही चिन्तन और अभ्यास उन्हे अनार्य बना देता है। आर्यत्व के सस्कार उन्हे मिल ही नही पाते। इसलिए अनार्यों द्वारा आचरित होने के कारण अथवा अनार्यों का कर्म होने के कारण असत्य को अनार्य ठीक ही कहा है। आर्य सत्यनिष्ठ और समस्त हेय कार्यो से दूर रहेगा। हिंसा, असत्य आदि भी हेय कार्य है, इसलिए अनार्य व्यक्ति ही सत्य को दबा कर असत्य का आचरण करने का दु साहस करता है।

मायामोसो—माया और मृषा (झूठ) दोनो जब घुलमिल जाते हैं, तब उनकी शक्ति दुगुनी हो जाती है। फिर 'एक तो करेला, फिर नीम का चढा' इस कहावत के अनुसार असत्य बहुत ही जोरशोर से फलता-फूलता है। खुल्लमखुल्ला असत्य बोलने की अपेक्षा उस पर सत्य का मुलम्मा चढा कर कपट और दम्भ से युक्त असत्य बोलना तो और भी ज्यादा खतरनाक है। मायाचार (दम्भ, दिखावे) के साथ असत्य भाषण भी व्यक्ति तब ही करता है, जब दूसरो को वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ रखने का इरादा होता है, अथवा अपनी निन्दनीय वासना पूरी करने की लालसा होती है। कई लोग अपने स्वार्थ या लोभ मे अधे होकर व्यापार के क्षेत्र मे ऐसा किया करते है। ग्राहक जब उनसे पूछता है कि इसके दाम आप अधिक तो नही बता रहे है ? तब वह प्राय जबाब देता है—"ज्यादा ले सो छोरा-छोरी खाय, ज्यादा ले सो गाय खाय।" इस कथन से ग्राहक तो यह समझता है कि दूकानदार कसम खाकर कह रहा है कि 'जो ज्यादा ले वह गौ को खाए या लडके-लडकी को खाए।' परन्तु बात कुछ और ही होती है। वह यह 'कि छोरा-छोरी खाय या गाय खाय', यानी गाय के खाते मे या लडके-लडकी के खाते मे जमा किए जाते है। वे गाय या लडके-लडकी के लिए खर्च किये जाते है। यह है कपटसहित मिथ्यावचन का रूप। कई विवाह सम्बन्ध कराने वाले दलाल भी ऐसा कपटमिश्रित झूठ का प्रयोग किया करते है। एक दलाल लडकी वाले के यहाँ एक ८० साल के बूढे का रिश्ता (सगाई सम्बन्ध) तय करने गया तो वहाँ उससे पूछा—लडका कितने साल का है, जिसकी सगाई तुम मेरी कन्या के साथ करना चाहते हो ? तब उसने उत्तर दिया—'उगणीसा, बीसा, बीसा, इक्कीसा-एसी एसी

के है। यानी '१९-२०—२०-२१ ऐसा-ऐसा कहते हे।' कन्या के पिता ने सोचा-'लडकी के लिए २०-२१ साल का जवान वर मिलता है तो सगाई तय कर ली जाय।' उसने दलाल से कहा—हमारी लडकी के साथ उस लडके का रिश्ता पक्का। लो ये रुपये भेंट के।' यो कहकर उन्होंने दलाल को काफी रुपये दिये। इधर बूढे वरराज से भी उसने काफी रुपये ऐंठे ही थे। विवाह मे फेरो के समय जब बूढे वरराज घोडी पर वैठ कर दुल्हे वनकर आए तो कन्यापक्ष के लोग आश्चर्य मे पड गए। आपस मे कानाफूसी करने लगे—'यह वर तो ८० साल का बूढा है। क्या इसी के साथ लडकी का रिश्ता तय हुआ है?' सयोगवश धूर्त दलाल भी वही आया हुआ था। उससे लडकी के पिता ने पूछा—'अरे! तुम तो लडका २०-२१ साल का वता रहे थे, यह तो ८० साल से कम का नही जँचता। क्या वात है?' तव उसने रहस्य खोला 'कि मैंने जो कहा था, उन्हे जोडकर देखलो, मैंने कुछ झूठ वोला है क्या! १९-२०-२० और २१ चारो मिलकर सख्या पूरी ८० होती है। इसीलिए मैंने अन्त मे कहा भी था कि एसी एसी के हैं। यानी ८०-८० कहते है।' कन्या के पिता ने दलाल को खूब डाटा फटकारा, पर अव क्या हो सकता था? आखिर वह रो-धो कर रह गए और लडकी वूढे के साथ व्याहनी पडी। यह था मायापूर्वक मृपा वचन का प्रयोग! यह कोरे असत्य से भी कई गुना अधिक खतरनाक होता हे। इसी प्रकार कुछ लोग ऊपर से वैराग्य की वाते करके, सन्यास या साधु के वेप का डोल दिखाकर लोगो को त्याग की ओट मे खूब फसा लेते है। मधुर और शास्त्रीय वचनो का वे ऐसा जाल रचते है कि आगन्तुक आकर्पित होकर उनके चगुल मे फस ही जाता है। और जो कुछ भी द्रव्य होता है, वह उन्हे दे वैठता है। यह है मायासहित वचनचातुरी, जो असत्य को भी मात कर देती है। इसलिए मायामृपा को असत्य की दादी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नही होगी।

असतक—असत् यानी अविद्यमान वस्तु का प्रतिपादन विद्यमान के रूप मे करना असत्क कहलाता हे, अथवा अप्रशस्त का वखान करना भी असत्क कहलाता है। क्योकि असत् शब्द के दो अर्थ हैं—अविद्यमान और अप्रशस्त। जो चीज विद्यमान न हो उसे विद्यमान वतलाना तो मिथ्यावचन है ही, खराव वस्तु की वढाचढा कर तारीफ करना भी असत्यमिश्रित कथन होने से असत्यवचन ही है। वास्तव मे देखा जाय तो मनुष्य कई वार स्वार्थवश या अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा वनाये रखने के लिहाज से अपनी स्थिति को वैसी न होते हुए भी वढाचढा कर वताता है अथवा किसी मे कोई गुण न होने पर भी उसमे उस गुण का अस्तित्व वतलाता है, यह सरासर झूठ है। कई दफा दूकानदार अपनी वस्तु को वेचने के लिहाज से वह वस्तु

खराब हो, तो भी उसकी खूब तारीफ करके ग्राहक के गले मढ देता है । यह भी असत्य और बे-ईमानी का ही एक प्रकार है ।

कूडकवडमवत्थु—इस पद मे तीन शब्द है, उनको मिला कर एक पद कर दिया गया है—कूट, कपट और अवस्तु । दूसरो को ठगने के लिए हीनाधिक कहना कूटवचन है, वचन का विपर्यास-विपरीतता कर देना यानी आशय को बदल देना कपट है । किसी ने किसी से कहा कि मुझे फला दिन तुमने ५०) रु देने को कहा था, तब वह कहे कि 'मैंने कब कहा था ? मैंने तो फला चीज के बदले मे ५०) रु देने को कहा था ।' इस प्रकार वचन को या कहने के आशय को रद्दोबदल कर देना कपट कहलाता है । इसी तरह जिस वस्तु का अस्तित्व ही नही है, उसका प्रतिपादन करना अवस्तु कथन है । जैसे कोई कहे कि—'उस वध्यापुत्र से मै कल मिला था ।' वन्ध्या के पुत्र होता ही नही, तब उससे मिलना तो दूर रहा । इस प्रकार'अस्तित्व-हीन वस्तु का कथन करना अवस्तु है । शास्त्रकार ने इन तीनो वचनो मे थोडा-बहुत अन्तर होने के कारण तीनो को सम्मिलित करके एक नाम से असत्य के पर्यायवाची शब्द के रूप मे गिनाया है ।

वर्तमान राजनीति और समाज एव राष्ट्र की नीति बहुत दूपित हो गई है । वह धर्मलक्षी नीति न रहकर कूटनीति बन गई है । यही कारण है कि राष्ट्र-राष्ट्र मे, राष्ट्रीय सरकार और जनता मे, समाज और उसके सदस्यो मे परस्पर अविश्वास, आशका, अशान्ति बढती जा रही है । कूटनीति के कारण न उसके आचरण करने वाले को ही शान्ति मिलती है और न जनता को ही । व्यापारिक जगत् मे भी वचन देकर बदल जाना, बे-ईमानी, मिलावट और धोखाबडी करना आम बात हो गई है । इसीलिए कूट, कपट और अवस्तु को शास्त्रकार ने असत्य की कोटि मे बताया है ।

मगर एक बात निश्चित है कि कोई व्यक्ति चाहे जितनी कूटनीति को अपना ले, एक न एक दिन उसकी कलई खुले बिना नही रहती । चाहे वह व्यापारी हो, चाहे राजनीतिज्ञ हो, और चाहे वह भ्रष्टाचारी नेता ही क्यो न हो, अधिक दिन तक कोई भी व्यक्ति जनता, समाज या राष्ट्र की आँखो मे धूल नही झौंक सकता । जब उसकी कूटनीति की पोल खुलनी है तो वह ऐसे गिर जाता है, जैसे आसमान से कोई चीज गिरी हो । वह जनता की नजरो मे गिर जाता है, समाज और परिवार मे उसकी इज्जत खत्म हो जाती है , वह कही का भी नहीं रहता । लाभ से कई गुनी हानि उसे उठानी पडती है, मानसिक परेशानी होती है, सो अलग ।

आजकल कई धर्मसम्प्रदाय के लोग भी अपना मतलब सिद्ध करने के लिए

शास्त्रवचनो का उलटफेर कर देते है। उदाहरण के तौर पर मनुस्मृति मे एक श्लोक आता है—

'न मासभक्षणे दोषो न च मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूताना निवृत्तिस्तु महाफला ।।

इसका अर्थ अनाचारी लोग ऐसा करते है—'मास भक्षण मे, मद्यपान मे और मैथुन सेवन मे कोई दोप नही है। यह तो जीवो की प्रवृत्ति है। इससे निवृत्ति करना-त्याग करना, महाफलदायी है।'

भला, यह सोचिए कि जिसके सेवन करने मे कोई पाप नही, उसके त्याग करने मे कौन-सा महाफल होगा ? जव इनको पापकार्य ही नही माना है, तो इनका त्याग करने से कौन-से पुण्यफल की प्राप्ति होगी ? यह तो हुआ वचन का विपर्यास। अव देखिए इस श्लोक का उसी सम्प्रदाय के धर्मात्मा पापभीरु लोगो द्वारा किया गया सिद्धान्तानुकूल वास्तविक अर्थ—

वे '**न मासभक्षणेऽदोष.**' ऐसा वास्तविक पाठ मान कर अर्थ करते हैं कि "मासभक्षण करने मे दोप नही है, ऐसी वात नही, अवश्य ही दोप है। इसी प्रकार मद्यपान और मैथुन मे भी जरूर दोप है। मगर क्षुद्रजीवो की ऐसी प्रवृत्ति है। इनसे निवृत्त होना ही महाफलदायक है।" निष्कर्प यह है कि वचनविपर्यास करने से वह असत्य एक ही व्यक्ति तक सीमित नही रहता, उसकी परम्परा समाज, राष्ट्र और उस सम्प्रदाय मे हजारो वर्पों तक चलती रहती है।

इसी प्रकार भगवद् गीता मे एक वाक्य आता है—'मद्याजी मा नमस्कुरु।' उसका वास्तविक अर्थ तो होता है—'मेरा पुजारी वनकर मुझे नमस्कार कर।' परन्तु शरावी, कवावी लोग अपने मतलव के लिए उसमे उलटफेर करके-'मद्य + आजी = मद्याजी'—इस प्रकार विपरीत पदच्छेद करके अर्थ करने लगे—'मद्य पीकर, वकरे की वलि देकर मुझे नमस्कार करो।'

इस प्रकार करना आत्मवचना तो है ही, सारी समाज को उसी असत्य की राह पर ले जाने वाला भयकर कुकृत्य भी है।

अवास्तविक वातो का प्रतिपादन करना भी अवस्तु नामक असत्य है। कई लोगो को यह आदत होती हे कि वे वातो के ऐसे पुछल्ले वाधेगे या हवाई किले वनाएँगे, जिनका कोई अतापता नही होता। ऐसी वेसिरपैर की वे-वुनियाद वातें असत्य की ही कोटि मे आती है।

निरत्थयमवत्थय—निरर्थक और अर्थहीन शव्दो का उच्चारण करना भी असत्य है। निष्प्रयोजन वडवडाने या वातो के गुव्वारे छोडने से कोई मतलव हल नही होता। कई वार ऐसी वेमतलव की वातो से आपस मे झगडे और सिरफुटौव्वल

भी हो जाते है, ऐसे वातूनी लोगो मे कभी-कभी परस्पर तू-तूम-मैं भी हो जाती है और वाक्युद्ध का अखाडा जम जाता हे। कई वार निरर्थक वकझक और चखचख करने से क्रोधादि कपायो और वैर व द्वेप की परम्परा वढ जाती हे। कामकथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा, क्रूर राजनैतिककथा, एव राष्ट्रीय कानून की कथा भी अर्थहीन, वासना-वर्द्धक, कलहकारक एव पापोत्तेजक वन जाती है। निरर्थक वातो मे अधिकतर अति-शयोक्तिरूप असत्य का मिश्रण होने से यह भी असत्य की ही कोटि मे है। इसी प्रकार वे वचन, जिनका अर्थ सुनने वाले के समझ मे न आए या सुनने वाला एक के वदले दूसरा अर्थ समझ ले, अपार्थक वचन है, और असत्य है।

विद्दे सगरहणिज्ज—विद्वेप का कारण होने से निन्दनीय या परनिन्दाकारी वचन भी असत्य माना गया है। क्योकि मन मे किसी के प्रति विद्वेप होने के कारण व्यक्ति को वोलने का भान नही रहता, वह आवेश मे आकर अटसट वक देता हे जिसके प्रति उसके मन मे द्वेप हे, उसके लिए यद्वातद्वा वोलने अथवा उसमे अविद्यमान दुर्गुणो को प्रगट करने लगता हे। यह असत्य का ही एक प्रकार है। लोकनिन्दनीय वातो का उप-देश देना भी असत् होने से असत्य है। जैसे शाक्तसम्प्रदाय के तन्त्रग्रन्थ मे वताया गया हे—**'मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु'** ('माता की योनि छोडकर सभी स्त्रियो के साथ रमण करे।') ऐसी लोकनिन्दनीय, धर्मविरुद्ध और शास्त्रनिन्द्य बातें घोर असत्य की पोपक है।

अणुज्जक—वक्र (सरलता रहित) वोलना या किसी वात को टेढेमेढे घुमाकर कहना, जिससे सुनने वाले उसकी असलियत को न समझ सके। प्राय धोखेवाज या ठग लोग वात को घुमा फिराकर ऐसे ढग से कहते है, जिससे सुनने वाले आदमी के मन पर उसकी सचाई की छाप पड जाती है और इस तरह वात ही वात मे वह लोगो को चकमा देकर पलायन हो जाता है। कई लोग दुगुना सोना वना देने या दुगुने नोट वना देने की वात कहकर लोगो को झासे मे डालने के लिए पहले थोडा-सा अधिक सोना उसके दिये हुए सोने के साथ रखकर उसके हृदय मे विश्वास जमा देते हैं, फिर जव वह लोभ मे आकर अधिक सोना वन जाने की धुन मे अपने सोने के सब गहने उनके पास ले आता है तो वे कोई-न-कोई वहाना वनाकर वह सोना लेकर नौ दो ग्यारह हो जाते हैं। यह वक्रतापूर्वक वोलने का नतीजा है! यह भयकर असत्य हे, इसलिए इसे असत्य का पर्यायवाची वताया गया है।

कक्कणा—मायामय या पापमय वचन कल्कना है। कल्कना इसलिए असत्य की वहन है कि इसमे वचन के साथ माया, छल या कपट मिले रहते ह। अथवा इसके साथ पापकारक कर्मों के सावद्य उपदेश का पुट रहता है। इसलिए ये दोनो ही प्रकार

के कल्कनामय वचन असत्यरूप है। जितने भी पापजनक या मायाचारपूर्वक वचन है, वे सवके सव असत्य की कोटि मे आते है।

वचणा—ठगाई के वचन वोलना या दूसरो को ठगने की दृष्टि से वचन वोलना, वचना है। वचना इसलिए असत्य का अग वन जाती हैं कि दूसरो को ठगने के लिए कहे गए वचनो मे काफी असत्य का अश मिला रहता है। और ठगे जाने वाले को वाद मे उन वचनो से अत्यन्त पीडा होती है,मन मे सख्त चोट लगती है। कई लोग ऐसी वोगस कपनी या फर्म सजाकर वैठ जाते है कि जहाँ माल विलकुल नही होता, केवल खाली डिव्वे या टीन सजाए हुए पडे रहते है। आने वाले व्यापारी के साथ वे कपनी के आफिसर ऐसे ढग से वातें करते है कि "आप इतनी रकम जमा करा दीजिए, हम आपको अमुक जगह का 'सोल एजेंट' वना देते है, आपको माल वेचने के पीछे इतना कमीशन मिलता रहेगा।" वेचारा व्यापारी उनके चक्कर मे आ कर रुपये दे देता है। परन्तु वाद मे न माल व्यापारी के पास पहुचता है और न पत्र ही। व्यापारी घवडा कर जव वापिस वहाँ आता है, तव तक तो वह कपनी ही वहाँ से गायव हो जाती है। इस प्रकार झूठे वादे, झूठे आश्वासन या झूठे प्रलोभन देकर या सब्जवाग दिखाकर किसी को अपनी ठगी का शिकार वनाना वचना है, जो सरासर असत्य है। वचनामय वचन वोलने वाला स्वय तो अपनी आत्म-वचना कर ही लेता है, दूसरे चाहे उसके वचनो से वचित हो, या न हो।

मिच्छापचछाकड—मिथ्या रूप होने से न्यायवादियो द्वारा पीछे किया हुआ—छोडा हुआ वचन 'मिथ्या पश्चात्कृत' वचन कहलाता है। यह असत्य का अग इसलिए माना गया है कि इसमें अधिकतर वाग्जाल मे फसाने की ही प्रक्रिया होती है,वाणी से ऐसे सब्जवाग दिखाये जाते हैं कि सामने वाला आदमी उसकी वात को सच्ची मानकर फस जाता है, लेकिन वाद मे जव नजदीक आता है तो उसकी वात के अनुसार कुछ नही पाता है, इससे निराश होकर वापिस लौट जाता है। जैसे रेगिस्तान मे प्यासे हिरन को दूर से पानी का सरोवर भरा हुआ दिखता है, लेकिन पास मे जाने पर उसे केवल सूखी रेत ही मिलती है। इससे वह निराश होकर वापिस लौट जाता हे, वैसे ही वाणी के द्वारा सब्जवाग दिखाने वालो या आश्वासन वचनो से आसमानी किले वाधने वालो के पास आने वाले लोगो को हताश होकर वापिस लौट जाना पडता है। यह भी एक प्रकार की धोखा धडी है, जिसमे असत्य का वाहुल्य होता है। इस प्रकार के असत्य मे मिथ्याभापण तो होता ही है, दूसरो को निराशा होने से पीछे लौट जाने की पीडाकारी प्रतिक्रिया भी होती है, जिससे इसकी भयकरता वढ जाती है।

इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि किसी के वारे मे उसके पीछे झूठमूठ

ही उसके अवगुणो का कथन करना। यानी किसी की पीठ पीछे से झूठी निन्दा करना या चुगली करना मिथ्यापश्चात्कृत है। कई लोगो की यह आदत होती है कि वे सामने तो अपना काम निकालने के लिए 'हा, जी हा' करेगे या उसकी प्रशसा करेगे, किन्तु उसके चले जाने या सामने से ओझल हो जाने पर उसकी भरपेट निन्दा करेंगे, उसके अवगुणो का झूठ-मूठ ही ढिढोरा पीटते फिरेगे। यह आदत असत्यवादिता को वढावा देने वाली है। इसलिए 'मिथ्या पश्चात्कृत' को असत्य का भाई मानना अनुचित नही होगा।

साती—अविश्वास पैदा करने वाला वचन साती कहलाता है। असत्य स्वयमेव अविश्वास पैदा करने वाला होता है। असत्य से परस्पर समाज, जाति, परिवार और राष्ट्र मे बहुत जल्दी अविश्वास पैदा हो जाता है, जो दो हृदयो को परस्पर जोडने के बजाय तोड देता है। विश्वास का उच्छेद करने का कारण होने से 'साती' असत्य का ही एक रूप है।

उच्छन्न—अपने दोपो और दूसरो के गुणो को ढकने के लिए आच्छादनरूप वचनप्रयोग उच्छन्न है। जहाँ-जहाँ गुप्तता है, छिपाना है, वहाँ-वहाँ असत्य है। मनुष्य उसी चीज को छिपाता है, जो लोकनिन्द्य, शास्त्रनिपिद्ध और अनाचरणीय बात या व्यवहार हो। अथवा द्वेषवश भी दूसरो के गुणो पर पर्दा डाल देता है,उन्हे यथार्थरूप से प्रगट नही करता है। वह सोचता है, कि अगर अमुक व्यक्ति के गुणो को व्यक्त करूगा तो लोगो मे उसकी ख्याति व प्रभाव फैलेगा, उसकी प्रशसा और प्रसिद्धि होगी। इस तेजोद्वेप के वश वह किसी भी गुणी के गुण को व्यक्त नही करता, यह अन्याय है, जो पाप रूप है। वास्तव मे '**प्रकट पुण्य प्रच्छन्न पापम्**' इस न्याय के अनुसार जो भी कपट के वश प्रछन्न-गुप्त रखा जाता है, वह पाप है। इसलिए उच्छन्न वचन भी पापरूप होने के कारण असत्यमय है और असत्य का साथी है।

इसके वदले किसी-किसी प्रति मे '**उच्छुत्त**' शव्द मिलता है, उसका अर्थ है—सूत्रविरुद्ध प्ररूपण करना। शास्त्र या सिद्धान्त के आशय के विरुद्ध अपनी ही स्वच्छन्द कल्पना से या स्वार्थभावना से प्रेरित होकर किसी बात का प्रतिपादन करना उत्सूत्र-वचन कहलाता है, जो असत्य के वहुत ही निकट है। उत्सूत्रप्ररूपण असत्य के निकट इसलिए होता है कि उसे सत्य के नाम से चलाया जाता है, सिद्धान्त या सूत्र के द्वारा उसकी पुष्टि की जाती है।

उक्कूल—नदी जव तक दो कूलो (तटो) की सीमा के अन्दर वहती है, तव तक वह स्वय भी शान्त रहती है, और जगत् के प्राणियो को भी सुखशान्ति और जीवन प्रदान करती है, परन्तु जव वह दोनो तटो की सीमा को लाघकर वाढ का रूप धारण कर लेती है, तव प्रलय मचा देती है, वृक्ष, पौधे आदि को उखाड़ फेंकती है,

मनुष्यो मे हाहाकार मचा देती है। इसी प्रकार मनुष्य की वाणी भी जव-तक सत्य और न्याय की तट-मर्यादाओ मे होकर वहती है, तव तक वह ससार के लिए जीवनदायिनी वनी रहती है, परन्तु जव वह मर्यादाओं को लाघ कर सीमा तोड देती है, तव स्वपर के लिए हानिकारक और परपीडादायिनी वन जाती है। इसीलिए उत्कूल वचन वे है जो सत्य और न्याय की मर्यादाओ से हटकर स्वच्छन्दता और असत्यता का रूप धारण कर लेते हैं। उत्कूल वचन असत्य का साथी इसलिए कहलाता है, कि यह मनुष्य को नीति, न्याय, धर्म और सत्य से भ्रप्ट करने वाला है। चचलचित्त पुरुप ही ऐसे उत्कूलवचनो का सहारा लेते है। धीर पुरुप तो कितनी ही विपत्ति क्यो न आए, न्यायमार्ग से भ्रप्ट करने वाले उद्‌गार नही निकालते।

अट्ट—जव मनुप्य किसी गहरी चिन्ता मे डूवा हुआ होता है, किसी आफत से घिरा हुआ होता है, किसी इप्ट के वियोग और अनिप्ट के सयोग से पीडित होता है अथवा किसी वैपयिक सुख की तीव्र लालसा से प्रेरित होकर उसे पाने के लिए रातदिन तडफता रहता है, तव उसके मुख से निकलने वाले वचन प्राय असत्यरूप होते है। क्योकि इप्टवियोग, अनिप्ट सयोग, पीडाचिन्तन और निदान प्राप्ति-लालसा इन चारो प्रकार के आर्त्तध्यानो मे निमग्न व्यक्ति को वास्तविकता का उस समय भान ही नही रहता। वह शोक और दु ख मे अपने स्वभाव से हट जाता है। यही कारण है कि आर्त्त वचन सत्य से विकल होने के कारण असत्य के ही साथी है।

अब्भक्खाण—दूसरो पर मिथ्या दोपारोपण करना अभ्याख्यान नामक असत्य है। अभ्याख्यान असत्य यो है कि अभ्याख्यान के समय व्यक्ति द्वेपवश होता है और जो दोप दूसरो मे नही है, उन्हे अपनी कल्पना से लगा कर झूठमूठ उसे लाछित करता है। किसी पर झूठा कलक लगाते समय व्यक्ति पहले उसके वारे मे कोई छानवीन नही करता, विना ही विचार किये उस पर आरोप लगा देता है। इससे दूसरे व्यक्ति की प्रतिप्ठा खत्म हो जाती है,- लोगो मे वह वदनाम हो जाता है। आम जनता की नजरो मे वह गिर जाता है। स्वाभिमानी मनुष्य तो इस मिथ्यापवाद से लाछित और अप्रतिष्ठित होकर तिलमिलाने लगता है। कई वार तो वह इसके सदमे के कारण आत्महत्या तक कर वैठता है। इसलिए अभ्याख्यान मे असत्य का जहर होने के कारण नरहत्या का भयकर पाप भी सभव है। इस कारण अभ्याख्यान भी असत्य का दाहिना हाथ है।

किव्विस—किल्विप यानी पाप का हेतु होने से इसे किल्विप भी कहा गया है। पहले कहा जा चुका है कि असत्य अनेक पापो का जनक है। असत्य के साथ क्रोध, अभिमान, राग, द्वेप, काम, लोभ, मोह, हिंसा आदि भयकर पाप भी जुडे हुए हैं। एक असत्य को छिपाने के लिए असत्यवादी अनेक असत्यो का, हिंसादि

भयकर पापो का आश्रय लेता हे। इसलिए नि सदेह कहा जा सकता है कि असत्य किल्विप—पापो की वृद्धि मे निमित्त है। इसलिए इसे भी असत्य का पर्यायवाची वताया गया हे। किल्विप अपराध को भी कहते है। असत्य अपने साथ हिंसा, क्रोध, राग-द्वेप, कलह, लोभ आदि अनेक अपराधो को ले आता है। वैसे असत्य भी स्वय आप मे एक अपराध हे किन्तु वह दूसरे अपराधो का कारण होने से उसे किल्विप कहा गया हे। किल्विप रोग को भी कहते है। आत्मा के साथ अनादिकाल से राग-द्वेप, कर्म आदि रोग लगे हुए है, उनका कारण होने से भी असत्य को किल्विप कहा गया है।

वलय—कगन या कडे को वलय कहते है। वह जैसे गोल होता है, वैसे ही गोलमोल वचन वोलना, असली वात को छिपाने के लिए कपटपूर्वक गोलमोल वात कहना, वलय नामक असत्य है। वलय असत्य का साथी इसलिए माना गया है कि इसमे जैसी वात होती है या जैसी वात देखी-सुनी या की है, वैसी ही उसी रूप मे नही कही जाती, वह घुमा फिरा कर मायापूर्वक छिपा कर दूसरे रूप मे वताई जाती है। सत्य सरल और स्पष्ट होता है, उसमे छिपाव, दुराव या वनावट, दिखावट नही होती, जवकि वलयवचन मे ये सव होती है। इसलिए वलयवचन असत्य का ही साथी है।

गहण—जिसके अन्तिम परिणाम की थाह न लग सके, उसे गहन नामक असत्य कहते है। वचन का प्रयोग अपनी वात दूसरो को स्पष्ट और सरल रूप से समझाने के लिए होता है। यदि वचन प्रयोग से अपनी बात का दूसरो को स्पष्ट बोध न हो तो वह सत्य नही कहलाता। गूढ वचन बोलने से या द्वचर्थक वचन वोलने से सुनने वाला उसे स्पष्ट न समझ सकने के कारण अपनी बुद्धि के अनुसार कई बार गलत अर्थ लगा लेता है, जिससे विसवाद वढ जाता है। गलतफहमी के कारण कई वार तो भयकर झगडे भी होते देखे जाते हैं। गहन, गूढ, सदिग्ध या द्वचर्थक शब्दो का प्रयोग असत्य का कारण इसलिए भी है कि उससे दूसरो का अहित ही अधिक होता है, मानसिक सक्लेश और अशान्ति भी वढ जाती है। उदाहरण के तौर पर धर्मराज युधिष्ठिर ने, महाभारत के समय द्रोणाचार्य के साहस को तोडने के लिए **'अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुजरो वा'** ऐसे द्वचर्थक शब्द का प्रयोग किया था। इसका अर्थ द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा के मरने का समझ गए, और उनका साहस टूट गया, वे पुत्रशोक मे विह्वल होकर लडना छोड वैठे, फलत मारे गए। प्राय कपटी लोग ही दूसरो को भ्रम मे डालने या गलतफहमी के शिकार वनाने के लिए ऐसे गहन शब्दो का प्रयोग किया करते है।

मम्मण—अस्पष्ट रूप से किसी वात को कहना मन्मन नाम का असत्य है। किसी वात को स्पष्ट न कहने के कारण कई वार सुनने वाले उसका आशय नही

समझ पाते या विपरीत समझ लेते है। जानबूझ कर अस्पष्ट कहना हृदय की कालिमा को प्रगट करना है। स्वच्छ हृदय वाले अपने मन की बात साफ-साफ कह दिया करते है। सत्य स्वच्छ और स्पष्ट होता है, जबकि असत्य अस्वच्छ और अस्पष्ट। इसलिए मन्मनरूप अस्पष्ट वचन भी असत्य के ही अन्तर्गत है।

हा, जिनको स्वाभाविक रूप से तोतलाने, तुतलाने की आदत है, जिनका उच्चारण स्वाभाविक ही अस्पष्ट है, उनके द्वारा बोला गया अस्पष्ट वचन असत्य नही समझना चाहिए। माया, वक्रता आदि से जिनका अन्त करण कलुषित है, उन्ही का 'हूं हूं', 'ऊँ ऊँ' या 'ना ना' इत्यादि रूप मे कहा हुआ अस्पष्ट वचन ही असत्य समझना चाहिए।

नूम—यथार्थ बात को आच्छादन करने वाला वचन 'नूम' नामक असत्य है। असली बात पर पर्दा डाल कर लोगो को अधेरे मे रखना, धोखा देना, किसी चीज पर ढकना लगा कर बद कर देने की तरह किसी बात को माया का ढकना लगाकर हृदय मे बद कर देना भी एक प्रकार का छल है। इसलिए इसे भी असत्य का साथी बताया गया है।

जैसे किसी चीज को डाट या ढक्कन लगाकर किसी पात्र मे बद करके रख देने से वह चीज अदर ही अदर सड जाती है, उसमे कीडे कुलबुलाने लगते है, इसी प्रकार किसी सच्ची बात को भी कपट वृत्ति से मन मे बद करके रख देने से वह अदर ही अदर गदी होने लगती है, उसकी दुर्गन्ध बाहर फैलने लगती है, उसमे क्रोध, द्वेष, अभिमान आदि के कीडे कुलबुलाने लगते है।

पाप छिपाये ना छिपें, छिपें तो मोटा भाग।
दाबी दबी ना रहे, रुई लपेटी आग॥

इस कहावत के अनुसार बात आखिर फूटे बिना नही रहती। और जब वह फूटती है तो उसे छिपाने वाले व्यक्ति की प्रतिष्ठा, गौरव, यश, और आजतक की हुई सेवा या उपार्जित कीर्ति सब धूल मे मिल जाती है। इसलिए सच्ची बात को कपट से छिपाकर रखना नूम नामक भयकर असत्य है। कषायो की तीव्रता होती है, तभी मनुष्य ऐसा दुष्कृत्य करता है।

नियडी—दूसरो को वचित करने (धोखा देने) की दृष्टि से जो वचन बोला जाता है, उसे निकृति नामक असत्य कहते है। दूसरे के हित का उच्छेद करने वाला या दूसरे की जीविका या अन्य किसी आर्थिक हित, ज्ञानवृद्धि, सदाचार आदि आत्मिकहित का विध्वस करने वाला वचन भी निकृति कहलाता है। अथवा अपने आर्थिक या अन्य किसी निहित स्वार्थ की अभिलाषा से परवचना करना—दूसरो को धोखा देना आदि को भी निकृति कह सकते हैं। जिस वचन मे परवचना, परहित का

उच्छेद, दूसरो के कल्याण का नाश निहित है, वह वचन असत्य है। इसलिए निकृति को भी असत्य की सहचारिणी बताया गया है।

अपच्चओ—अप्रतीतिजनक वचन अप्रत्यय नामक असत्य कहलाता है। किसी के वचन के प्रति अप्रतीति तब होती है, जब पहले कई बार कहे हुए वचनो का पालन उसने न किया हो। एक बार जब किसी के वचनो पर लोगो को अप्रतीति या अविश्वास हो जाता है तो सहसा उसके वचनो पर पुन प्रतीति नही होती, विश्वास नही जमता, चाहे वह हजार कसमे क्यो न खाए। वह प्रतीति तो उसके अपने कहे हुए वचन के या वादे के अनुसार कर दिखाने से ही होती है। असत्य अपने-आप मे भी अप्रतीति का जनक है। ऐसे अप्रतीतिजनक वचन से हानि यह होती है कि एक व्यक्ति के वचन के प्रति हुई अप्रतीति, अन्य सत्यवादी सज्जनो के वचनो के प्रति भी जनता की अप्रतीति का कारण बनती है। इसलिए अप्रत्यय वचन को असत्य का सहोदर कहना अनुचित नही है। अप्रतीतिजनक वचन का प्रयोग करने वाले के वचन चाहे कितने ही मधुर, प्रिय और आश्वासनदायक हो, आकाशकुसुम की तरह निरर्थक है।

असमओ—जो वचन सदाचार से रहित हो, अथवा सिद्धान्त से विरुद्ध हो, उसे 'असमय' नामक असत्य कहते है। समय सदाचार और सिद्धान्त को भी कहते हैं। जिन वचनो मे सदाचार का पुट न हो और जो सिद्धान्त के अनुकूल न हो, वे चाहे जितनी लच्छेदार, प्राञ्जल एव वजनदार भाषा मे ही क्यो न कहे गए हो, चाहे जितने विद्वत्ता-पूर्ण भी क्यो न हो, वे प्राणियो के अहित के पोषक होने से असत्य से युक्त है, इसलिए असमय वचन को असत्य वचन का साथी कहना समीचीन है। सदाचारयुक्त या सिद्धान्तानुकूल वचन यदि थोडे से, या टूटे फूटे शब्दो मे भी कहा जाता है तो उसका असर श्रोताओ पर जादू-सा होता है, वह विरोधियो के हृदय को भी छू लेता है, दुराचारियो और पापियो के हृदय को भी झकझोर कर बदल देता है, किन्तु अनाचारपोषक, पापोत्तेजक या सिद्धान्तविरुद्ध अन्याययुक्त वचन लच्छेदार और व्यवस्थित रूप से कहा जाने पर भी श्रोताओ के हृदय पर उचित प्रभाव नही डाल पाता, विरोधियो को बदल नही सकता।

अथवा 'असमओ' पाठान्तर का सस्कृत मे असम्मत रूप होता है। जिसका अर्थ होता है, जो धर्माचार से या शिष्टपुरुषो द्वारा असम्मत वचन हो। शिष्टजन धर्ममर्यादाओ या धर्माचार से पुट वाले वचन कहते हैं। जो उपदेश या वचन धर्ममर्यादाओ या सम्यक् आचार से विपरीत हो, वह असत्य का पोषक है। अत असत्य का पोषक होने से 'असम्मत' वचन को भी असत्य भाषण के समान बताया गया है।

असच्चसधत्तण—सधा अभिप्राय या प्रतिज्ञा को कहते हैं, कही-कही सधा का

अर्थ मेल भी किया जाता है। अत 'असत्यसधत्व' शब्द का अर्थ हुआ—जिस वचन मे असत्य अभिप्राय निहित हो, अथवा जो असत्य प्रतिज्ञा से युक्त वचन हो, या असत्य से मेल खाता हुआ वचन हो। जिस वचनप्रयोग के पीछे अभिप्राय गलत हो, वह वचन जनहितकर न होने के कारण असत्य है। कई व्यक्ति खराब दृष्टिकोण से किसी के प्रति व्यग्य या ताने के रूप मे वचनप्रयोग करना भी परपीडाजनक होने से असत्य मे ही शुमार है। जैसे किसी व्यभिचारी से कहना कि 'आइए, महात्मन्!' किसी अपकारी से या किसी सेठ से अपना मतलब गाठने के लिए चापलूसी या खशामद भरे मीठे वचन बोलना भी असत्यसधत्व है। क्योकि किसी की चापलूसी करते समय उस व्यक्ति मे जो गुण नही है, उनको भी बढा-चढा कर कहा जाता है। जैसे कई भाट या कवि लोग राजाओ की विरुदावलियाँ या यशोगाथाएँ गाते समय पुरस्कार पाने के लालच से कहते थे— आप इन्द्र हैं, आप वरुण है, आप कुबेर है, आप सूर्य के दूसरे अवतार है, आदि। ऐसी चाटुकारी करते समय व्यक्ति स्वार्थ या लोभ मे आकर उसके वास्तविक गुणो-अवगुणो का विचार नही करता, इसलिए ऐसे वचन या विपरीत दृष्टिकोण से कहे गए वचन असत्यगर्भित होने से असत्य ही है। इसी प्रकार असत्य से सम्बन्धित या मेल खाने वाले वचन कहना भी असत्यसधत्व है। क्योकि ऐसे वचनो मे सत्य नही होता, केवल सत्य का आभास होता है। इसलिए ऐसे सत्याभासी वचन भी असत्यसधत्व मे आ जाते है। इसी तरह असत्य प्रतिज्ञा लेना भी असत्य सधत्व है। कई दफा व्यक्ति आवेश मे आकर प्रतिज्ञा तो ले बैठता है, किन्तु उसका पालन नही करता। अथवा प्रतिज्ञा भी लेता है तो केवल दिखावे के लिए या झूठे आश्वासन देने के लिए। उसका पालन नही करता या उस पर दृढ नही रहता। बात-बात मे तोड बैठता है। कई लोग सकल्प करते है, लेकिन जरा-सा कोई दबाव पडा या लोभ आया, अथवा स्वार्थ ने मुँह खोला, भय अथवा आफत ने घेरा डाला कि सकल्प से हट गए, तोड डाला सकल्प को! इसी प्रकार किसी को कोई वचन देकर उसका पालन न करना भी असत्यसधत्व है। ये सब प्रकार असत्य मे गतार्थ हो जाते है, इसीलिए असत्य के ही साथी है।

विवक्खो—जो वचन सत्य और सिद्धान्त का या धर्म और पुण्य का विपक्ष है—विरोधी है, वह विपक्ष नामक असत्य है। सिद्धान्त और सत्य के विरुद्ध वचन भी वास्तव मे असत्य रूप है। इसलिए विपक्ष मे असत्य का आश्रय होने से वह भी असत्य का अनुचर ही है। जैसे कई नास्तिक लोग कह देते हैं कि 'स्वर्ग नरक नही है, ये सब कोरी कपोलकल्पनाएँ हैं।' यह वचन सत्य और सिद्धान्त से विपरीत होने से विपक्ष असत्य है। इसी प्रकार अनेकान्त सिद्धान्त को छोडकर सिर्फ

एकान्त दृष्टि से कथन करना भी विपक्ष असत्य है। जैसे किसी ने कह दिया—'दान मत करो। क्योंकि दान पुण्यवर्द्धक है और पुण्य सर्वथा हेय है, उसे छोडे विना मोक्ष नही होगा।' इस वचन मे पुण्य एव दान का सर्वथा निषेध एकान्तिक है, अनेकान्त सिद्धान्त का विरोधी है, सत्य का विपक्षी है। इसलिए यह विपक्ष वचन असत्यरूप है। आत्मा मे तीन परिणतियाँ (भाव या परिणाम) होती हैं—शुद्ध, शुभ और अशुभ। शुद्ध परिणति तव होती है, जब आत्मा आत्मस्वरूप के ही मनन-चिन्तन-ध्यान मे तल्लीन रहता है। जव आत्मा परोपकार, दान, हितोपदेश आदि शुभ कार्यो मे लगा रहता है तव शुभ परिणति होती है, और जव आत्मा आर्त-रौद्रध्यान मे तथा इन्द्रिय-विपयो मे मग्न रहता है तव अशुभपरिणति होती है। जव तक आत्मा मे शुद्ध वीतराग परिणति न हो, तव तक शुभ परिणति मे उसे स्थिर रखना ही श्रेयस्कर है। अन्यथा वह शुद्ध मे जायगा नही, शुभ से रोक रहे हो, तव अशुभ परिणति के सिवाय कहा जाएगा? इसलिए दान-पुण्य आदि का सर्वथा ऐकातिक निषेध कर देना, विपक्ष नामक असत्य वचन है। इसलिए निश्चय और व्यवहार दोनो नयो को लक्ष्य मे रखकर वचन बोलना सत्य है। जहा दोनो मे से एक के प्रति भी लक्ष्य न रखा जाय या सिर्फ एक को लेकर ही कथन किया जाय, वहाँ एकान्त पक्ष का आश्रय होने से विपक्ष नामक असत्य है।

अवहीय या उवहीय—दुर्बुद्धि रखकर वचन बोलना अपधीक नामक असत्य है। दुर्बुद्धि रखकर किसी वचन को कहने से वक्ता की दुर्बुद्धि का पता चल जाता है। दुर्बुद्धिपूर्वक वचन बोलना दूसरे के लिए हितकर नही होता, इसलिए वह असत्य-रूप होता है। इसी कारण अपधीक नामक वचन को असत्य मे बताया है। अथवा उपधीक रूप भी है, जिसका अर्थ होता है—उपधि यानी माया का आधारभूत जो वचन हो। मायापूर्वक वचन बोलने से सुनने वाले को उस पर अविश्वास, शका और असद् भाव पैदा होते है। किसी-किसी प्रति मे 'आणाइय' पाठ भी मिलता है। जिसका अर्थ होता है—वीतराग जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लघन करने वाला वचन कहना 'आज्ञातिग' नामक असत्य है। वीतराग की आज्ञा जिन कार्यो को करने की है, उनका उल्लघन करना, शास्त्रीय बातो का मनमाना सिद्धान्त-विरुद्ध अर्थ करना, एक तरह से असत्य रूप होने से 'आज्ञातिग' को भी असत्य का साथी माना गया है।

उवहि असुद्ध—उपधि यानी माया से अशुद्ध कथन उपध्यशुद्ध कहलाता है। छल कपट करके शब्द और अर्थ दोनो ही अशुद्ध बोलना असत्यरूप होने से उपध्यशुद्ध वचन को भी असत्य का सहचारी मान लिया है। अशुद्ध शब्द प्रयुक्त होने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है, और अशुद्ध अर्थ कहना तो स्पष्ट रूप से हानिकारक है ही।

अवलोवो—विद्यमान वस्तु को लोपरूप-अभाव रूप मे कथन करना अवलोप

नामक असत्य है। अथवा शास्त्र मे निरूपित किसी वस्तु का सर्वथा अपलाप करना भी अवलोप है। यह भी भयकर असत्य है। सामान्य रूप से असत्य बोलने की अपेक्षा सैद्धान्तिक असत्य ज्यादा भयकर होता है। क्योकि उससे अनन्तकाल तक ससार के जन्ममरण के चक्र मे घूमना होता है। शास्त्र की यदि कोई बात समझ मे न आती हो तो 'तत्त्व केवलिगम्य' कहकर उसे छोड देना चाहिए। मगर शास्त्रविहित वस्तु का सर्वथा लोप या निपेध कर देना, यह असत्य की कोटि मे माना जाएगा।

अणेगाइ —इस प्रकार पूर्वोक्त रूप से असत्य के ३० नामो का उल्लेख शास्त्र कार ने किया है। साथ ही 'अणेगाइ' शब्द से यह भी स्पष्ट अभिव्यक्त कर दिया है कि असत्य के इस प्रकार के और भी अनेक नाम हो सकते है, और वे है भी।

असत्यवादी कौन और किस प्रयोजन से ?

इस तरह नाम द्वार मे असत्य के ३० नामो का स्पष्ट उल्लेख कर देने के बाद अब शास्त्रकार यह बतलाते है कि असत्य कौन-कौन बोलते है और किस प्रयोजन से व किस प्रकार से बोलते है ?

मूलपाठ

त च पुण वदंति केइ अलिय पावा, असजया, अविरया, कवड-कुटिल-कडुय-चडुलभावा, कुद्धा, लुद्धा, भया य,हस्सट्ठिया य, सक्खी, चोरा, चारभडा, खंडरक्खा,जियजूयकारा य, गहियगहणा, कक्क-गुरुगकारगा, कुलिगी, उवहिया, वाणियगा य, कूडतुलकूड-माणी, कूडकाहावणोपजीविया, पडगारका, कलाया, कारुइज्जा, वचणपरा, चारिय-चाटुयार-नगरगोत्तिय-परियारगा, दुट्ठवायि-सूयक - अणबल - भणिया य, पुव्वकालियवयणदच्छा, साहसिका, लहुस्सगा, असच्चा, गारविया, असच्चट्ठावणाहिचित्ता, उच्चच्छदा, अणिग्गहा, अणियता, छदेण मुक्कवाया भवति, अलियाहिं जे अविरया।

अवरे नत्थिकवाइणो वामलोकवादी भणति-सुण्ण ति, नत्थि जीवो, न जाइ इह परे वा लोए, न य किंचिवि फुसति पुन्नपाव, नत्थि फल सुकयदुक्कयाण, पचमहाभूतिय सरीर भासति ह! वातजोगजुत्त। पच य खधे भणति केई, मण च मणजीविका वदति, वाउजीवोत्ति एवमाहसु, सरीर सादिय सनिधण इहभवे

एगे भवे तस्स विप्पणासमि सव्वनासोत्ति एव जपति मुसावादी । तम्हा दाणवयपोसहाण तवसजमबभचेरकल्लाणमाइयाण नत्थि फल, नवि य पाणवहे अलियवयण, न चेव चोरिक्ककरण, परदारसेवण वा, सपरिग्गहपावकम्मकरण पि नत्थि किंचि, न नेरइयतिरियमणुयाण जोणी, न देवलोको वा अत्थि, न य अत्थि सिद्धिगमण, अम्मापियरो नत्थि, नवि अत्थि पुरिसकारो, पच्चक्खाणमवि नत्थि, नवि अत्थि कालमच्चू य, अरिहता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा नत्थि, नेवत्थि केइ रिसओ, धम्माधम्मफल च नवि अत्थि किंचि बहुय च थोवग वा,तम्हा एव विजाणिऊण जहा सुबहु इंदियाणुकूले सव्वविसएसु वट्टह, नत्थि काइ किरिया वा अकिरिया वा, एव भणाति नत्थिकवादिणो वामलोगवादी ।

इम पि बितिय कुदंसण असब्भाववाइणो पण्णवेति मूढा—सभूतो अडकाओ लोगो सयभुणा सय च निम्मिओ, एव एयं अलिय (पयपति) पयावइणा इस्सरेण य कय ति केइ, एव विण्हु[1]-मय कसिणमेव य जग (ति) केई, एवमेके वदंति मोस-एगो आया अकारको (अ) वेदको य सुकयस्स दुक्कयस्स य करणाणि कारणाणि सव्वहा सव्वहिं च निच्चो य निक्किओ निग्गुणो य अणुवलेवओ (अन्नो लेवउ) त्ति वि य एवमाहमु असब्भाव, ज पि इह किंचि जीवलोके दीसइ सुकय वा दुकय वा एय जदिच्छाए वा सहावेण वावि दइवतप्पभावओ वावि भवति, न (त) त्थेथ (थ) किंचि कयक तत्त लक्खणविहाण नियतो (ए) कारि (य) या, एवं केइ जपंति इड्ढिरससायगारवपरा, बहवे (धम्म) करणालसा परूवेति धम्मविमसएण मोस, अवरे अहम्मओ रायदुट्ठ अभक्खाण भणेति अलिय-चोरोत्ति अचोरय करेत,डामरिउ त्ति वि य एमेव उदासीणं, दुस्सीलोत्ति य परदार गच्छति त्ति मइलिति सीलकलिय अयं पि

---

१ किसी प्रति मे 'विण्हुकय' ऐसा पाठ भी है । —सम्पादक

गुरुतप्पओ, अण्णे एमेव भणंति उवाहणंता मित्तकलत्ताइं सेवति, अयं पि लुत्तधम्मो, इमो वि विस्सभघायओ पावकम्मकारी अकम्मकारी अगम्मगामी, अयं दुरप्पा बहुएसु य पावगेसु जुत्तो त्ति एवं जपंति मच्छरी, भद्दके वा गुणकित्तिनेहपरलोगनिप्पिवासा, एवं ते अलियवयणदच्छा परदोसुप्पायणपसत्ता वेढेंति। अक्खतियबीएण अप्पाणं कम्मबंधणेण, मुहरी असमिक्खियप्पलावी निक्खेवे अवहरंति, परस्स अत्थंमि गढियगिद्धा अभिजुंजंति य परं असंतएहिं, लुद्धा य करेंति कूडसक्खित्तणं, असच्चा अत्थालियं च कन्नालियं च भोमालियं च तह गवालियं च गरुयं भणंति अहरगतिगमणं। अन्नंपि य जातिरूवकुलसीलपच्चयं मायाणिपु(गु)णं, चवलपिसुणं परमट्ठभेदकमसतकं विद्देसमणत्थकारकं, पावकम्ममूलं दुद्दिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं णिल्लज्जं लोकगरहणिज्जं वहवधपरिकिलेसबहुलं, जरामरणदुक्खसोयनिम्मं (नेमं), असुद्धपरिणामसंकिलिट्ठं भणंति, अलियाहिसंधिसंनिविट्ठा असंतगुणुदीरका य संतगुणनासका य हिंसाभूतोवघातितं अलियसंपउत्ता वयणं सावज्जमकुसलं साहुगरहणिज्जं अधम्मजणणं भणंति अणभिगयपुन्नपावा। पुणो य अहिकरणकिरियापवत्तका बहुविहं अणत्थं अवमद्दं अप्पणो परस्स य करेंति। एमेव जपमाणा महिससूकरे य साहिंति घायगाणं, ससयपसय-रोहिए य साहिंति वागुराणं, तित्तिरवट्टकलावके य कविंजल-कवोयके य साहिंति साउणीणं, झसमगरकच्छभे य साहिंति मच्छियाणं, संखके खुल्लए य साहिंति मगराणं, अयगरगोणसमंडलिदव्वीकरे मउली य साहिंति वालवीणं (वायलियाणं), गोहासेहगसल्लगसरडगे य साहिंति लुद्धगाणं, गयकुलवानरकुले या साहिंति पासियाणं, सुकबरहिणमयणसालकोइलहंसकुले सारसे य साहिंति पोसगाणं, वधबंधजायणं च साहिंति गोम्मियाणं, धणधन्नगवेलए य साहिंति तक्कराणं, गामागरनगर-

पट्टणे य साहिंति चारियाण, पारघाइयपथघातियाओ साहति य गठिभेयाण, कय च चोरिय नगरगोत्तियाण, लछण-निल्लछण-धमण-दुहण-पोसण-वणण-दुमणवाहणादियाइ साहिंति वहूणि गोमियाणं, धातुमणिसिलप्पवालरयणागरे य साहिंति आगरीण, पुप्फविहि फलविहि च साहिंति मालियाण, अग्घमहुकोसए य साहिंति वणचराण, जताइ विसाइ मूलकम्म आहेवण (आहिव्वण)-आविंधण-आभिओग-मतोसहिप्पओगे चोरियपरदारगमणबहुपाव-कम्मकरण उक्खधे गामघातियाओ वणदहण-तलागभेयणाणि बुद्धिविसविणासणाणि वसीकरणमादियाइ भयमरणकिलेसदोसजण-णाणि भावबहुसकिलिट्ठमलिणाणि भूतघातोवघातियाइ (असच्चाइ) ताइ हिसकाइं वयणाइ उदाहरति। पुट्ठा वा अपुट्ठा वा परतत्तिय-वावडा य असमिक्खिय भासिणो उवदिसति सहसा उट्टा गोणा गवया दमतु, परिणयवया अस्सा हत्थी गवेलगकुक्कडा य किज्जतु, किणावेध य विक्केह पयह य सयणस्स देह पिय (ध) य, दासि-दासभयकभाइल्लका य सिस्सा य पेसकजणो कम्मकरा य (किकरा) य एए सयणपरिजणो य कीस अच्छति। भारिया भे करित्तु (करेत्तु) कम्म, गहणाइ वणाइ खेत्तखिलभूमिवल्लराइ उत्तणघणसकडाइं डज्झतु, सूडिज्जतु य रुक्खा, भिज्जतु जतभडाइयस्स उवहिस्स कार-णाए, बहुविहस्स य अट्ठाए उच्छू दुज्जतु, पीलिज्जतु य तिला, पयावेह य इट्टकाउ मम घरट्ठयाए, खेताइ कसह कसावेह य, लहु गाम-आगर नगर खेडग कव्वडे निवेसेह, अडवीदेसेसु विपुलसीमे पुप्फा-णि य फलाणि य कदमूलाइ कालउत्ताइ गेण्हेह, करेह संचय परि-जणट्ठयाए, साली वीही जवा य लुच्चंतु मलिज्जतु उप्पणिज्जतु य लहु च पविसातु य कोट्ठागार, अप्पमहउक्कोसगा य हंमतु पोय-सत्था सेणा णिज्जाउ, जाउ डमर, घोरा वट्ट तु य सगामा, पवहतु य सगडवाहणाइ, उवणयण चोलग विवाहो जन्नो अमुगम्मि उ होउ

दिवसेसु करणेसु मुहुत्तेसु नक्खत्तेसु तिहिसु य, अज्ज होउ ण्हवण मुदित बहुखज्जपिज्जकलिय कोतुक विण्हावणक, सतिकम्माणि कुणह ससिरविगहोवरागविसमेसु सज्जणपरियणस्स य नियकस्स य जीवियस्स परिरक्खणट्ठयाए पडिसीसकाइं च देह, देह य सोसोवहारे विविहोसहिमज्जमसभक्खन्नपाणमल्लाणुलेवणपईवजलिउज्जलसुगधिधूवावकारपुप्फफलसमिद्धे पायच्छित्ते करेह, पाणाइवायकरणेण बहुविहेण विवरीउप्पाय-दुस्सुमिण-पावसउण-असोमग्गहचरिय-अमगलनिमित्तपडिघायहेउ वित्तिच्छेय करेह, मा देह किंचि दाण,सुट्ठु हओ सुट्ठु हओ,सुट्ठु छिन्नो भिन्नत्ति उवदिसता एवविह करेति-अलिय मणेण वायाए कम्मुणा य अकुसला अणज्जा अलियाणा अलियधम्मणिरया, अलियासु कहासु अभिरमता, तुट्ठा अलिय करेत्तु होति य बहुप्पयार ॥ सू० ७ ॥

संस्कृत-छाया

त च पुनर्वदन्ति केचिदलिक पापा असयता अविरता कपट-कुटिल-कटुक-चटुलभावा क्रुद्धा लुब्धा भयाच्च हास्यार्थिकाश्च साक्षिणश्चौराश्चारभटा खण्ड (शुल्क) रक्षा जितद्यूतकाराश्च गृहीत-ग्रहणा कल्कगुरुककारका: कुलिंगिन औपधिका वाणिजका कूटतुलकूटमानिन कूटकार्षापणोपजीविन पटकारका कलादा कारुकीया. वञ्चनपराश्चारिक-चाटुकार-नगरगुप्तिक-परिचारका दुष्टवादिसूचकर्णवलभणिताश्च, पूर्वकालिकवचनदक्षा, साहसिका, लघुस्वका असत्या गौरविका असत्यस्थापनाधिचित्ता उच्चच्छन्दा अनिग्रहा अनियताश्छन्देन मुक्तवाचो भवन्ति, अलीकाद् ये अविरता ।

अपरे नास्तिकवादिनो वामलोकवादिनो भणन्ति - शून्यमिति, नास्ति जीवो, न यातीह परे वा लोके, न किञ्चिदपि स्पृशति पुण्यपाप, नास्ति फल सुकृतदुष्कृताना, पचमहाभूतिक शरीर भाषन्ते ह वातयोगयुक्तम् । पञ्च च स्कन्धान् भणन्ति केचित्, मनश्च मनोजीविका वदन्ति, वायुर्जीव इत्येवमाहु । शरीर सादिक सनिधन इह भव एको भव तस्य विप्रणाशे सर्वनाश इति, एव जल्पन्ति मृषावादिन. । तस्माद्दानव्रतपौषधानां तप.-सयमब्रह्मचर्यकल्याणादिकाना नास्ति फल, नाऽपि प्राणवधोऽलीकवचन, न

चैव चौर्यकरण परदारसेवन वा, सपरिग्रहपापकर्म्मकरणमपि नास्ति, न नैरयिकतिर्यड् मनुजाना योनि , न देवलोको वाऽस्ति,न चाऽस्ति सिद्धिगमनम् अम्बापितरौ न स्त , नाऽप्यस्ति पुरुषकार , प्रत्याख्यानमपि नास्ति, नाऽप्यस्ति कालमृत्युश्चार्हन्तश्चक्रवर्तिनो वलदेवा वासुदेवा न सति, नैव सन्ति केऽपि ऋषयो, धर्माधर्मफल च नाऽप्यस्ति किञ्चिद् वहुक च स्तोक वा। तस्मादेव विज्ञाय यथा सुबहु इन्द्रियानुकूलेषु सर्वविषयेषु वर्तध्वम्, नास्ति काचिद् क्रिया वाऽक्रिया वा, एव भणन्ति नास्तिकवादिनो वामलोकवादिन ।

इदमपि द्वितीय कुदर्शनमसद्भाववादिन प्रज्ञापयन्ति मूढा सभूतोऽण्डकाल्लोक स्वयम्भुवा स्वय च निर्मित, एवमेतदलीक प्रजल्पन्ति प्रजापतिनेश्वरेण च कृतमिति केचित्, एव विष्णुमय (विष्णुकृत) कृत्स्नमेव च जगदिति केचित्,एवमेके वदन्ति मृषा—एक आत्मा अकारकोऽवेदकश्च सुकृतस्य दुष्कृतस्य च करणानि कारणानि सर्वथा सर्वैः (सर्वत्र) च नित्यश्च निष्क्रियो निर्गुणश्चानुलेपक इत्यपि चैवमाहुरसद्भावम्, यदपीह किञ्चिज्जीवलोके दृश्यते सुकृत वा दुष्कृत वा एतद् यदृच्छया वा स्वभावेन वाऽपि दैवतप्रभावतो वाऽपि भवति, तत्रेत्थ (नास्त्यत्र) किञ्चित्कृतक तत्त्व लक्षणविधान नियति कारिका,नियत्या कारितम्,एव केचिज्जल्पन्ति ऋद्धिरससातगौरवपरा बहव धर्मकरणालसा प्ररूपयन्ति धर्मविमर्शकेन मृषा । अपरेऽधर्मतो राजदुष्टमभ्याख्यान भणन्ति—अलिक,चौर इति अचौर्य कुर्वन्त,डामरिक इत्यपि चैवमेवोदासीन, दु शील इति च परदार गच्छतीति मलिनयन्ति शीलकलितमयमपि गुरुतल्पग , अन्य एवमेव भणन्त्युपघ्नन्तो मित्रकलत्राणि सेवन्ते, अयमपि लुप्तधर्म ,अयमपि विश्रम्भघातक पापकर्मकारी अकर्मकारी अगम्यगामी, अय दुरात्मा बहुभि पापकैर्युक्त इत्येव जल्पन्ति मत्सरिण , भद्रके वा गुणकीर्तिस्नेहपरलोकनिष्पिपासा । एव ते अलिकवचनदक्षा परदोषोत्पादनप्रसक्ता वेष्टयन्ति, अक्षतिकबोजेन आत्मान कर्मबन्धनेन मुखारय असमीक्षितप्रलापिनो निक्षेपानपहरन्ति, परस्यार्थे ग्रथितगृद्धा अभियुञ्जते च परमसत्कै, लुब्धाश्च कुर्वन्ति कूटसाक्षित्व, असत्या अर्थालीक च कन्यालीक च भूम्यलीक च गवालीक च गुरुक भणन्त्यधरगतिगमन, अन्यदपि च जातिरूपकुलशीलप्रत्यय मायानिपुण (निर्गुण) चपलपिशुन परमार्थभदकमसत्क विद्वेष्यमनर्थकारक पापकर्ममूल दुर्दृष्ट दु श्रुतमज्ञान निर्लज्ज लोकगर्हणीय वधबन्धपरिक्लेशवहुल जरामरणदु खशोकनिम्म (नेम) मशुद्धपरिणामसक्लिष्ट भणन्ति,

अलोकाग्निसधिसनिविष्टा असद्गुणोदीरकाश्च सद्गुणनाशकाश्च हिंसाभूतो-पघातिक सप्रयुक्तालीका वचन सावद्यमकुशल साधुगर्हणीयमधर्मजनन भणन्ति अनभिगतपुण्यपापा ,पुनश्चाधिकरणक्रियाप्रवर्त्तका वहुविधमनर्थमपमर्दमात्मन परस्य च कुर्वन्ति,एवमेव जल्पन्तो महिषान् शूकराश्च साधयन्ति घातकानाम्, शशकप्रशकरोहिताश्च साधयन्ति वागुराणा,तित्तिरवर्त्तकलावकाश्च कपिञ्जल-कपोतकाश्च साधयन्ति शाकुनिकाना, झषमकरकच्छपाश्च साधयन्ति मात्स्य-काना, शखकान् (शखाकान्) क्षुल्लकाश्च साधयन्ति मकराणा (मार्गिणा), अजगर-गोनस-मण्डलि-दर्वीकरान् मुकुलिनश्च साधयन्ति (व्यालपिना) व्याल-पाना, गोधा-सेहक-शल्यक-शरटकाश्च साधयन्ति लुब्धकाना, गजकुलवानर-कुलानि च साधयन्ति पाशिकाना, शुक-वर्हिण-मदनशाल-कोकिल-हसकुलानि सारसाश्च साधयन्ति पोषकाना, वधवन्धयातन च साधयन्ति गौल्मिकानां, धनधान्यगवेडकाश्च साधयन्ति तस्कराणा, ग्रामाकरनगरपत्तनानि साधयन्ति चारिकाणा, पारघातिक पथिघातिकाश्च साधयन्ति ग्रन्थिभेदाना, कृता च चौरिका नगरगुप्तिकाना, लाञ्छन-निर्लाञ्छन-ध्मान-दोहन-पोषण-वञ्चन-दुवन-वाहनादिकानि साधयन्ति वहूनि गोमता (गोमिकाना), धातुमणिशिला (मणशिला) प्रवाल-रत्नाकराश्च साधयन्ति आकरिणा,पुष्पविधि फलविधि च साधयन्ति मालिकाना, अर्घमधुकोशकाश्च साधयन्ति वनचराणा, यन्त्राणि विषाणि मूलकर्माऽक्षेपण (आहित्य) (आवेधन) आभियोग्यमन्त्रौषधिप्रयो-गान् चौरिकापरदारगमनवहुपापकर्मकरणमवस्कन्धा ग्रामघातिका वनदहन-तडागभेदनानि वुद्धिविषय-विनाशनानि वशीकरणादिकानि भयमरणक्लेश-द्वेषजननानि भाववहुसक्लिष्टमलिनानि भूतघातोपघातकानि, सत्यान्यपि तानि हिंसकानि वचनान्युदाहरन्ति पृष्टा वा अपृष्टा वा परतृप्तिव्यापृताश्च असमीक्षितभाषिण उपदिशन्ति—उष्ट्रा गोणा गवया दम्यन्ताम्,परिणतवयसो अश्वा हस्तिनो गवेलक-कुक्कटाश्च क्रीयन्ता, क्रापयेत च विक्रीणीध्व, पचत च स्वजनाय, दत्त पिवत, दासी-दास-भृतक-भागिनश्च शिष्याश्च प्रेष्यकजनः कर्मकराश्च किकराश्चैते स्वजनपरिजनश्च कस्मादासते, भार्याश्च भवतः कुर्वन्तु कर्म, गहनानि वनानि क्षेत्रखिलभूमिवल्लराणि उत्तृणघनसकटानि दह्यन्ता, सूद्यन्ताञ्च वृक्षा, भिद्यन्ता यन्त्रभाण्डादिकस्योपधे· कारणाय वहुविध-स्यार्थाय, ईक्षवो दूयन्ता,पीड्यन्ताञ्च तिला , पाचयत च ईष्टका मम गृहार्थं , क्षेत्राणि कृषत कर्षयत च,लघु ग्रामाकरनगरखेटककर्वटादीनि निवेशयत,अटवी-

देशेषु विपुलसीमानि पुष्पाणि च फलानि कदमूलानि कालप्राप्तानि गृह्णीत, कुरुत सञ्चयं परिजनार्थं, शालयो व्रीहयो यवाश्च लूयन्तां, मल्यन्तामुत्पूयन्तां च, लघु च प्रविशन्तु च कोष्ठागारं, अल्पमहोत्कृष्टकाश्च हन्यतां पोतसार्थाः, सेना निर्यातु यातु डमरं, घोरा वर्तन्तु च संग्रामाः, प्रवहन्तु च शकटवाहनानि, उपनयन चोलक विवाहो यज्ञोऽमुकेषु च भवतु दिवसेषु करणेषु मुहूर्तेषु नक्षत्रेषु तिथिषु च, अद्य भवतु स्नपनं मुदित बहुखाद्यपेयकलित कौतुक विस्नापक शान्तिकर्माणि कुरुत शशिरविग्रहोपरागविषमेषु। स्वजनपरिजनस्य च निजकस्य च जीवितस्य परिरक्षणार्थाय प्रतिशीर्षकाणि च दत्त, दत्त च शीर्षोपहारान् विविधौषधिमद्यमांसभक्ष्यान्नपानमाल्यानुलेपनप्रदीपज्वलितोज्ज्वल-सुगन्धिधूपापकारपुष्पफलसमृद्धान्, प्रायश्चित्तानि कुरुत प्राणातिपातकरणेन बहुविधेन विपरीतोत्पातदुःस्वप्न-पापशकुनासौम्यग्रहचरितामंगलनिमित्त-प्रतिघातहेतुं, वृत्तिच्छेदं कुरुत, मा दत्त किंचिद्दानं, 'सुष्ठु हतः सुष्ठु हतः' सुष्ठु छिन्नो भिन्न इति, उपदिशन्त एवंविधं कुर्वन्ति-अलीकं मनसा वाचा कर्मणा च अकुशला अनार्या अलीकाज्ञा अलीकधर्मनिरता अलीकासु कथासु अभिरममाणास्तुष्टा अलीकं कृत्वा भवन्ति च बहुप्रकारम् ॥ (सू० ७)

पदार्थान्वय—(पुण च) और (जे) जो (केइ) कई (पावा) पापी (असजया) असयत, (अविरया) अविरत, पापकर्मों का त्याग न करने वाले, व्रतरहित, (कवड-कुडिलकडुयचडुलभावा) कपट, कुटिल, कटुक और चचल भाव वाले, (कुद्धा) क्रोधी, (लुद्धा) लोभी (भया य) भय के कारण (हस्सट्ठिया) हास्य के लिए (य) और (सक्खी) साक्षी-गवाही देने वाले, (चोरा) चोर, (चार-भडा) गुप्तचर और भट-योद्धा, (खण्ड-रक्खा) चूगी के कर्मचारी या जकात अथवा कर वसूल करने वाले, (य) और (जियजूयकारा) हारे हुए जुआरी, (गहियगहणा) गिरवी रखने वाले (कक्कगुरुगकारगा) मायापूर्वक अत्यन्त बढाचढा कर बोलने वाले, (कुलिगी) मिथ्यामत वाले वेषधारी (य) और (उवहिया) मायाचारी (वाणियगा) वाणिज्य-व्यवसाय करने वाले, (कूडतुलकूडमाणी) झूठा तौलने और झूठा नापने वाले, (कडकाहावणोवजीवी) खोटे सिक्को से आजीविका चलाने वाले, (पडगारा) जुलाहे, (कलाया) सुनार, (कारुइज्जा) कपडे पर छापने वाले छीपे, बढई, दर्जी आदि कारीगर, (वचणपरा) ठगाई करने वाले, (चारिय चाडुयार नगर गोत्तिय परिचारगा) हेराफेरी करने वाले, खुशामदखोर (चापलूस), कोटवाल और व्यभिचारी (य) तथा (दुट्ठवायि सूयक-अणवल भणिया) झूठे का पक्ष लेने वाले या अपशब्द व गाली बकने वाले, चुगलखोर और बलपूर्वक

कर्ज लेने वाले तथा 'हमे द्रव्य दो', इस प्रकार बोलने वाले, (पुव्वकालियवयणदच्छा) किसी के कहने मे पहले ही उसके अभिप्राय को जानने मे कुशल, (साहसिका) बिना विचारे एकदम कह देने वाले, (लहुस्सगा) तुच्छ आत्माएँ, (असच्चा) सज्जनो के लिए अहितकारक, (असद्भावणाहिचित्ता) असत्य अर्थो की स्थापना मे दत्तचित्त, (उच्चछदा) अपने को वडा मानने वाले, (अणिग्गहा) स्वच्छन्दाचारी, किसी के अनुशासन मे न चलने वाले, (अणियता) नियमनिष्ठा से रहित—अव्यवस्थित, (छदेण मुक्कवाया) हम ही सिद्धवादी हैं, इस तरह की मनमानी बातें कहने वाले, अथवा मनमाना वचन-प्रयोग करने वाले, ये सब (अलियाहिं अविरया) असत्यवचन से अविरतजन (त) उस पूर्वोक्त (अलिय) असत्य को (वदति) बोलते हैं। (अवरे) दूसरे (नत्थि-कवाइणो) नास्तिकवादी (वामलोकवादी) लोक के स्वरूप का विपरीत कथन करने वाले (भणति) कहते हैं कि जगत् शून्य है, (नत्थि जीवो) जीव-आत्मा नहीं है, (न जाइ इह परेवा लोए) इस (मनुष्य) लोक मे अथवा पर (देवादि) लोक मे (जीव) नहीं जाता, (य) और वह (न) न (किंचि वि) जरा भी, (पुन्नपाव) पुण्य और पाप को (फुसइ) छूता-बाधता है, (नत्थि फल सुकयदुक्कयाण) सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) का सुख-दुःख-रूप फल भी नहीं है, (सरीर पचमहाभूतिय भासति ह वातजोगजुत्त) प्राणवायु के योग से सब क्रिया मे प्रवृत्ति करने वाले इस शरीर को पचमहाभूतो से बना हुआ कहते हैं। (य) तथा) (केइ) कई (बौद्धमताव-लम्बी) आत्मा को (पच) पाच (खधे) स्कन्ध-रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार रूप) (भणति) कहते है, (य) और (मणजीविका) मन को ही जीव-आत्मा-मानने वाले, (मण) पाच स्कन्धो के अलावा एक मन को (वदति) बताते हैं, (वाउजीवोत्ति) कोई श्वासोच्छ्वास ही जीव (आत्मा) है, (एवमाहसु) ऐसा कहते है। (य) तथा (सरीर) शरीर (साविय) आदिमान् और (सनिधण) विनाशयुक्त है, (इह) यहाँ प्रत्यक्ष (भवे) जन्म ही (एगो भवो) एक ही भव है (तस्स) इस का (विप्पणासमि) विविध प्रकार से नाश होने पर, (सव्वनासोत्ति) आत्मा का सर्वनाश हो जाता है, (एव) ऐसा (मुसावादी) असत्यवादी (जपति) कहते हैं। क्योकि शरीर सादि सान्त है, (तम्हा) इसलिए (दाणवयपोसहाण) दान, व्रतपालन, और पौषध का तथा (तवसजमबभचेरकल्लाणमाइयाण) तप, सयम, ब्रह्मचर्य आदि कल्याणकारी कर्मो का (फल) फल (नत्थि) नहीं है (य) और (पाणवहे) प्राणवध, (अलियवयण) असत्य वचन (अवि) भी (न) कोई माने नहीं रखते, अथवा अशुभदायक नहीं है, (चोरिक्करण) चोरी करना (य) अथवा (परदारसेवण) परस्त्री-गमन करना (न एव) कोई चीज ही नहीं हैं या अशुभफलदायक ही नहीं है, (सपरिग्गहपावकम्मकरणपि) परिग्रह के सहित और भी जो पापकर्म हैं, वे भी, (नत्थि किंचि) कुछ भी नहीं हैं,

अथवा सुख-दु ख के जरा भी साधन नहीं है। (नेरइय-तिरिय-मणुयाणजोणी) नारको, तिय चो और मनुष्यो की योनिया—उत्पत्तिस्थान, (न) नहीं हैं (व) अथवा (न देवलोको अत्थि) न देवलोक ही कोई हे (य) और (न) न ही (सिद्धिगमण) मुक्तिगति (अत्थि) हे। (अम्मापियरो) माता-पिता (नत्थि) नहीं होते, (पुरिसकारो वि) पुरुषार्थ भी, (न अत्थि) कोई चीज नही हे, (पच्चक्खाणमवि) प्रत्याख्यान-त्याग भी, (नत्थि) नही हे, (य) और (कालमच्चू) काल (भूतभविष्यादि) तथा मृत्यु भी (न अत्थि) नही हे। (अरिहता) अर्हन्त दवाधिदेव तीर्थंकर (चक्कवट्टी) चक्रवर्ती, (बलदेवा) बलदेव तथा (वासुदेवा) वासुदेव नारायण (नत्थि) नही ह, (केई) कोई (रिसओ) ऋषि-मुनि, (नेवत्थि) नहीं है। (च) तथा (बहुय) बहुत (वा) अथवा (थोवग) थोडा (किंचि) कुछ भी (धम्माधम्मफलमपि) धर्म और अधर्म का फल भी, (नत्थि) नहीं हे। (तम्हा) इसलिए (एव) उक्त प्रकार से वस्तुस्वरूप को, (विजाणिऊण) जान कर (जहा) जिस तरह (इ दियानुकूलेसु) अपनी इन्द्रियो के अनुकूल, (सव्वविसएसु) सभी विषयो मे (सुबहु) अच्छी तरह यथेष्ट (वट्टह) प्रवृत्ति करो। (काइ किरिया) कोई (शुभ) क्रियाएँ (वा) अथवा (अकिरिया) निन्द्य क्रियाएँ (नत्थि) नहीं हैं। (एव) इस प्रकार (वामलोकवादी) लोक के स्वरूप को विपरीत बताने वाले (नत्थिकवादिणो) नास्तिकवादी (भणति) कहते है। (असब्भाववाइणो) असत् वस्तु का निरूपण करने वाले, (मूढा) मूढ लोग (इम) इस आगे कहे जाने वाले (बितिय) दूसरे (कुदसण) कुदर्शन, मिथ्यामत का (पण्णवेंति) प्ररूपण करते हैं कि (लोगो) यह ससार (अडगाओ) अडे से, (सभूतो) पैदा हुआ हे, (च) और (सयभुणा) ब्रह्मा ने इसे (सय) स्वय (निम्मिओ) बनाया हे। (एव) इसी प्रकार (एय) यह आगे कहा जाने वाला (अलिय) असत्य वचन हे— (पज्जावइणा इस्सरेण) प्रजापति ईश्वर ने (कय ति) ससार रचा हे, ऐसा (केइ) कई लोग कहते हैं। (एव) इसी प्रकार (कसिणमेव जग) सारा जगत् (विण्हुकय विण्हुमय) विष्णु द्वारा रचित हे अथवा विष्णुमय हे, ऐसा (केई) कई लोग कहते हैं। (एव) इसी प्रकार (एगे) कई लोग (मोस वदति) झूठ बोलते हैं कि (एगो आया) आत्मा एक ही हे, वही सारे ससार मे व्याप्त हे। (साख्यमत वालो का कहना है—) आत्मा (सुकयस्स) पुण्य का (य) और (दुक्कयस्स) पाप का, (अकारको) कर्त्ता नहीं है, किन्तु (उनके फल का) (वेदको) भोक्ता ह, (अथवा पुण्यपाप के फल का भी अवेदक—भोगने वाला नहीं हे।) (य) और (करणाणि, इन्द्रिया (कारणाणि) उनके कारण (सव्वहा) सर्वथा (सव्वहि) सब देश और सब काल मे अलग नहीं हैं (य) तथा (णिच्चो) आत्मा नित्य है, (निक्किओ) निष्क्रिय (क्रियारहित) (निग्गुणो) निर्गुण—त्रिगुणातीत (य) और (अणुवलेवोत्ति वि य) कर्मो से निर्लेप भी हे, (एव) इस प्रकार (असब्भाव) असत्य बात को (आहसु) कहते हैं, (जपि) जो भी किंचि) कुछ (इह) इस (जीवलोए) मर्त्यलोक मे (सुकय, पुण्य

(वा) अथवा (दुक्कय) पाप (दीसइ) दिखाई देता है, (एव) इस प्रकार की सब चीजें (जदिच्छाए) अपने आप ही यदृच्छा से, (वा) अथवा (सहावेण वि) स्वभाव से भी (वा) अथवा (दइवतप्पभावओ वि) दैव के प्रभाव से भी (भवति) होती हे। (एत्थ) इस लोक मे (किंचि) कोई (तत्त) तत्त्व—पदार्थ (कयक) किसी का किया—वनाया हुआ (नत्थि) नहीं है, (लक्खणविहाण) वस्तु के लक्षणो और प्रकारो को (कारिया) करने-वनाने-वाली (नियती) नियति-भवितव्यता (होनहार) हे। अथवा (नियतीए कारिय) नियति ने ही वनाए हे—कराए ह।] (एव) इस प्रकार (केई) कई (इड्ढिरससातगारवपरा) ऋद्धिगौरव रसगौरव और साता गौरव मे तत्पर (वहवे) वहुत से (धम्मकरणालसा) धर्माचरण करने मे आलसी (धम्मविमसएण) धर्मविचार की अपेक्षा से (मोस) मिथ्या (परूवेंति) प्ररूपण करते हैं। (अवरे) दूसरे (अहम्मओ) अधर्म को स्वीकार करके, (रायदुट्ठ) शासकविरुद्ध (अलिय अब्भक्खाण) झूठा दोषा-रोपण (भणेंति) करते ह, (अचोरय करेंत) चोरी नहीं करने वाले को, (चोरोत्ति) यह चोर हे, ऐसा (य) और (एमेव) इसी प्रकार (उदासीण) प्रपञ्चो से उदासीन, लडाई-झगडो से दूर तटस्थ व्यक्ति को, (डामरिउ त्ति) यह लडाई करने वाला हे, ऐसा (य) तथा (सीलकलिय) शीलसम्पन्न परस्त्रीत्यागी को (दुस्सीलोत्ति) दु शील है, इसलिए (परदार गच्छतित्ति) परस्त्रीगमन करता है, इस तरह, (मइलति) दूषित करते है, वदनाम करते हैं, (अय) यह (गुरुतप्पओ वि) गुरुपत्नी के साथ अनुचित सम्वन्ध रखने वाला भी हे, इस तरह दोष लगाते हैं। (अण्णे) दूसरे लोग (एमेव) यो ही व्यर्थ ही (उवाहणता) उसकी आजीविका, कीर्ति आदि नष्ट करते हुए (भणति) कहते हैं कि ये (मित्तकलत्ताइ) मित्र की पत्नियो का (सेवति) सेवन करते हैं। इतना ही नहीं, (अय) यह (लुत्तधम्मो) धर्मशून्य भी हे, (इमो) यह (विस्सभघायओ) विश्वासघाती है, (पावकम्मकारी) पापकर्म करने वाला, (अकम्मकारी) न करने योग्य कामो को करने वाला हे, (अगम्मगामी) भगिनी, पुत्री, पुत्रवधू आदि अगम्य के साथ गमन—सहवास करने वाला हे (य) और (अय) यह (दुरप्पा) दुरात्मा (वहुएसु पावगेसु) वहुत से पापो से, (जुत्तोत्ति) युक्त है, (एव) इस प्रकार (मच्छरी) ईर्ष्यालु व्यक्ति (जपति) वकते हैं। (भद्दके) भद्र (भोले) स्वभाव वाले मनुष्य के (गुणकित्तिनेहपरलोगनिप्पिवासा) गुण, कीर्ति, स्नेह व परभव की कोई परवाह न करने वाले (ते) वे असत्यवादी (अलियवयणदच्छा) असत्य बोलने मे चतुर, (परदोसुप्पायणपसत्ता) दूसरो मे दोषो को बताने मे जुटे (मुहरी) अपने हुए मुख को अपना दुश्मन वनाये हुए, (असमिक्खियप्पलावा) विना विचारे सहसा बोल देने वाले (एव) इस प्रकार से, (अक्खतियवीएण) अक्षयदु ख के बीजरूप कम्मबधणेण) कर्मबन्धन से (अप्पाण) अपनी आत्मा को, (वेढेंति) लपेट लेते ह—जकड लेते हे। (परस्स अत्थमि)

दूसरे के धन पर (गढियगिद्धा) गिद्ध की तरह दृष्टि गाए हुए अथवा गाढ गृद्ध—आसक्त हुए वे (निक्खेवे) धरोहर को, (अवहरंति) हडप लेते हैं, (य) और (पर) दूसरे को, (असतएहि) अविद्यमान दोषो से, (अभिजुजंति) झूठा अभियोग—आरोप लगा कर दूषित करते हे। (य) और (लुद्धा) लोभी मनुष्य (कूडसक्खित्तण) झूठी गवाही देने का काम (करेंति) करते है (च) और (असच्चा) असत्यवादी (अत्थालिय) धन के लिए झूठ (च) तथा (कन्नालिय) कन्या के लिए असत्य, (च) तथा (भोमालिय) भूमि के लिए असत्य (तह य) और वैसे ही (गवालिय) गौ आदि पशुओं के निमित्त असत्य, इस तरह का (अहरगतिगयण) नीचगति मे पहुँचाने वाला (गरुअ) बडा झूठ (भणंति) बोलते हैं। (य) तथा (अलियाहिसंधिनिविट्ठा) मिथ्या षड्यन्त्र रचने मे दत्तचित्त (असतगुणुदीरका) असद्गुणो को उत्तेजन देने वाले (य) और (सतगुण-नासका) सद्गुणो के नाशक, (अणभिगयपुन्नपावा) पुण्य और पाप के स्वरूप से अज्ञात, (अलियसपउत्ता) असत्य मे जुटे हुए लोग (अन्न पि) और भी (जातिकुलरूवसील-पच्चय) जाति, कुल, रूप, और शील से सम्बन्धित, (मायानिगुण) माया के कारण गुणहीन अथवा (मायानिपुण माया से निपुण, (चवल पिसुण) चचलता से युक्त और पैशुन्यरूप, (परमट्ठभेदक) परमार्थनाशक, (असतक) असत्य अर्थ वाले अथवा सत्वहीन, (विद्देस) द्वेषरूप—अप्रिय, (अनत्थकारक) अनर्थकारी, (पावकम्ममूल) पापकर्म के मूल, (दुद्दिट्ठ) मिथ्यादर्शनयुक्त (दुस्सुय) कानो को सुनने मे अप्रिय, (अमुणिय) सम्यग्ज्ञान से रहित, (निल्लज्ज) लज्जाहीन, (लोकगरहणिज्ज) लोक मे निन्द्य, (वधबधपरिकिलेसबहुल) वध, बधन और सक्लेश—सताप से परिपूर्ण, (जरामरणदुक्खसोयनिम्म) बुढापा, मृत्यु, दुःख और शोक के मूल कारण (असुद्ध-परिणाम सकिलिट्ठ) अशुद्ध परिणामो के कारण सक्लेशदायी, (हिसाभूतोवघातिय) हिंसा द्वारा प्राणियो के घात से युक्त, (अकुसल) अशुभ और अनिष्ट, (साहुगरहणिज्ज) साधुओ द्वारा निन्दनीय, (अधम्मजणण) अधम के जनक, (सावज्ज) पापयुक्त (वयण) असत्यवचन को (भणंति) बोलते हैं। (पुणो य) और पुन (अधिकरणकिरियापवत्तका) शस्त्रो को बनाने और उनके जोडने या जुटाने के रूप मे अधिकरणक्रिया मे प्रवृत्त रहने वाले लोग, (बहुविह) अनेक प्रकार के (अणत्थ) अनर्थ का कारण, जो (अप्पणो) अपने (य) और (परस्स) दूसरे का (अवमद्द) उपमर्दन-विनाश (करेंति) करते हैं। (एमेव) ऐसे ही अज्ञानपूर्वक (जपमाणा) बोलते हुए मूर्ख लोग, (घायगाण) घात करने वाले मनुष्यो—कसाइयो को (महिसे, भैसो (य) और (सूकरे) सूअरो के सम्बन्ध मे (साहिति) प्रतिपादन करते हैं—बतलाते हैं, (य) तथा (वागुराण) हिरण आदि जानवरो को फदे मे फसाने वाले पारधियो को (ससयपसयरोहिए) खरगोश, प्रशय और रोहित नामक जगली पशुओ को (साहिति) बतलाते हैं। (य) तथा (साउणीण) बाज आदि द्वारा पक्षियो का शिकार करने वाले बहेलियो को (तित्तिरवट्टकलावके)

तीतर, बतक और बटेर पक्षियो व (कविजलकवोयके) कपिजलो और कबूतरो को (साहिति) वतलाते ह, (य) और (मच्छियाण) मछुओ—मच्छीमारो को, (झसमगर-कच्छभे) मछली, मगरमच्छ और कछुए (साहिति) वतलाते है (य) और (मगराण मग्गिण वा) धीवरो या जलचर जन्तुओ को खोजने वालो को (सखके) शख और अक नामक मणिया, और (खुल्लए) कौडियाँ (साहिति) बताते हैं (य) तथा (वाल-वीण या वालवाण) सपेरो को (अयगरगोणसमडलिदव्वीकरे) अजगरो, दुमु ही (सर्प), टेढे चलने वाले मडली सर्पो, फण वाले सापो, (य) और (मडली) जिनके फण कमल की कली की तरह मिल जाते हैं, ऐसे सर्पो को (साहिति) वताते हैं, (य) और (लुद्धगाण) शिकारियो को (गोहा) चन्दन गोह (य) और (सेहगसल्लगसरडगे) सेहो, काटेदार जानवरो सैलो, और गिरगिटो को (साहिति) बतलाते हैं। (य) तथा (पासियाण) फदे द्वारा पशु पकडने वाले पासियो को (गजकुलवानरकुले) हाथियो के झु ड और बदरो के टोले (साहिति) वताते हैं, (य) और (पोसगाण) पक्षियो को पालने वालो को (सुकवरहिणमयणसालकोइलहसकुले) तोतो, मोरो, मैनाओ, कोयलो और हसो के झु डो (य) तथा (सारसे) सारसो को (साहिति) वतलाते हैं। (च) और (गोम्मियाण) गुप्तिपालको—वदीवानो या पशुरक्षको को, (वधबधजायण) पीटने, वाधने और पीडा देने का (साहिति) उपदेश देते हैं—अभ्यास कराते हैं। (य) और (तक्कराण) चोरो को (धणधन्नगवेलए) धन, धान्य, गायो, बैलो और भेड-वकरियो का (साहिति) पता वताते हैं (य) और (चारियाण) गुप्तचरो, भेदियो या जासूसो को, (गामागरनगरपट्टणे) गाँवो, खानो, नगरो तथा पत्तनो (बडी मडियो) का (साहिति) भेद वताते हैं। (य और (गठिभेयाण) गाठ खोलने वालो या गिरहकटो को, (पारघाइयपथघाइयाओ) रास्ते के परले सिरे पर व रास्ते के बीच मे पथिको को लूटने की (साहिति) सूचना देते हैं। (य तथा (नगरगोत्तियाण) नगररक्षको—कोतवालो आदि को, (कय) की गई (चोरिय) चोरी की (साहिति) सूचना देते हैं, (य) तथा (गोमियाण) ग्वालो को (लछणनिल्लछणधमणदुहणपोसणवणणदुमण-वाहणादियाइ) पशुओ के कान आदि काटना या गर्म लोहे आदि से दाग देना, उन्हें खस्सी करना (वधिया वनाना), फू का लगाना, दुहना, पुष्ट करना, बछडे को दूसरी गाय के साथ लगाना, (वचन करना), हैरान करना, गाडी आदि को खींचना, बोझ लादना इत्यादि (बहूणि) बहुत से (साहिति) उपाय वतलाते हैं। (य) और (आगरीण) खान के मालिको को (धातुमणिसिलप्पवालरयणागरे) गेरु, लोहा, सोना, चादी, तावा आदि धातुओ, चन्द्रकान्त आदि मणि, शिला अथवा मैनसिल, मू गे और हीरे, पन्ने, माणिक्य आदि रत्नो की खानो का (साहिति) पता वतला देते हैं। (य) और (मालियाण) मालियो को (पुप्फविहि) फूलो के तोडने या गू थने की विधि, (फलविहि) फलो को उपजाने व पकाने की विधि, (साहिति) बतलाते हैं, (य) तथा

(वणचराण) भील आदि जगल मे घूमने वाले वनचरो को (अग्घमहुकोसए) बहुमूल्य शहद के छत्ते (साहिति) बतलाते है, (जताइ) (मारण-मोहन-उच्चाटन आदि के लिए यत्रलेखन (विगाई) विधो (मूलकम्म) गर्भपात आदि के लिए जडी बूटियो या जडो के प्रयोग से सम्बन्धित, (आहेवणआभियोगमतोसहिप्पओगे) मत्रादि द्वारा नगर मे क्षोभ, या फूट पैदा कर देना, अथवा धनादि को मत्र के जोर से खींच लेना, द्रव्य और भाव से वशीकरण मत्रो व औषधियो के प्रयोगरूप (चोरिय-परदारगमण - बहुपावकम्मकरण चोरी, परस्त्रीगमन आदि बहुत से पापकर्मो के करने की प्रेरणा से सम्बन्धित, (उक्खधे) छल से शत्रुसेना की ताकत तोड देने या कुचल डालने, (वणदहण-तलाग-भेयणाणि) जगल मे आग लगाने तथा तालाव सूखाने के सम्बन्ध मे (बुद्धिविसयविणासणाणि) बुद्धि तथा स्पर्श आदि विषयो के विनाशक, (वसीकरणमादियाइ) वशीकरणादि रूप (भयमरणकिलेसदोसजणाणि) भय, मृत्यु, क्लेश और दोष के जनक, (भावबहुसकिलिट्ठमलिणाणि) बहुत सक्लिष्ट भावो से मलिन, (भूतघातोवघातियाइ) प्राणियो के घात और उपघात करने वाले सच्चाइपि) सच्चे (तथ्ययुक्त) होने पर भी (ताइ) उन (हिंसकाइ) हिंसाजनक (वयणाइ) वचनो को (उदाहरति) बोलते है। (य) और (पुट्ठा) पूछे जाने पर (वा) अथवा (अपुट्ठा) बिना पूछे ही (परतत्तियवावडा) दूसरो के काम की व्यर्थ चिंता मे डूबे रहने वाले (असमिक्खियभाषिणो) बिना सोचे विचारे बोलने वाले (सहसा) अकस्मात्—एकदम बिना मतलब के (उवदिसति) उपदेश देने लगते है कि—(उट्टा) ऊटो, (गोणा) गाय-बैलो, (गवया) रोझो या नीलगायो का (दमतु) दमन करो—वश मे करो, (परिणत-वया) वयस्क तरुण (अस्सा) घोडो, (हत्थी) हाथियो (य) और (गवेलककुक्कुडा) गायो, मेंढो और मुर्गो को (किज्जतु) खरीदो, (य) और (किणावेध) खरीदवालो, (विक्केह) बेच दो (च) (सयणस्स) अपने पारिवारिक लोगो के लिए (पयह) पकाओ, (देह) उनको देदो, (पियय) शराब आदि पीओ, पिलाओ, (दासीदास - भयक-भाइल्लका) दासी, दास, नौकर तथा हिस्सेदार, (य) और (सिस्सा) शिष्य-चेले, (पेसकजणो) बाहर भेजे जाने वाले नौकर, (कम्मकरा) कर्मचारी, (य) तथा (किकरा) सेवक (य) एव (सयणपरिजणो) स्वजन—कुटुम्बीजन तथा परिजन-सगेसम्बन्धी (कीस) क्यो, (किसलिए) (अच्छति) वेकार बैठे है ? (भे) आपकी, (भारिया) पत्नियाँ (कम्म) काम (करेन्तु) करें। (गहणाइ वणाई) घने जगल, (खेत्तखिलभूमिवल्लराइ) अनाज बोने के खेत, विना जोती हुई भूमि और वल्लर—घोर जगल या मैदान, (उत्तणघणसकडाइ) बहुत लम्बे लम्बे और घने घास से भर गये हैं, (डज्झतु) इन्हे जला डालो, (य) तथा (सूडिज्जतु) कटवा डालो। (जतभडाइयस्स) कोल्हू आदि यत्रो, कु डी आदि वर्तनो अथवा गाडी आदि बनाने, (य) तथा (बहुविहस्स उवहिस्स) हल आदि बहुत प्रकार के उपकरणो साधनो के (अट्ठाए) प्रयोजन के लिए (रुक्खा)

पेडो को (भिज्जतु) काट डालो, (य) और (उच्छू) गन्नो को (दुज्जतु) उखाड लो, (य) एव (तिला) तिलो को (पीलिज्जतु) घानी मे पीर डालो। (य) तथा (मम) मेरे (घरट्ठयाए) घर के लिए (इट्टकाओ) ईटें, (पयावेह) पकवा लो, (खेत्ताइ) खेतो को (कसह) जोतो, (य) और, (कसावेह) जुतवाओ, (अडवीदेसेसु) जगलप्रदेशो मे (विउलसीमे) विशाल सीमा वाले, (गाम-नगर-खेड-कव्वडे) गाँव, नगर, खेडे (छोटे गाँव) कव्वड-कस्वे (लहु) झटपट, (निवेसेह) वसाओ, अर्थात् इन्हे मनुष्यो के रहने लायक वस्ती मे वदल डालो। (य) और (कालपत्ताइ) पके हुए या खिले हुए (पुप्फाणि) फूल फलाणि) फल (य) और (कदमूलाइ) कदमूलो को (गेण्हह) ग्रहण कर लो, (परिजणट्ठयाए) सगे-सम्वन्धियो के लिए, (सचय) इन्हे इकट्ठे (करेह) कर लो। (य) और (सालो) धान, (व्रीही) गेहू आदि अनाज (य) और (जवा) जौ (लुच्चतु) काट लिये जायँ, (मलिज्जतु) क्यारो मे इन्हे मर्दन किये जायँ, (य) और (उप्पणिज्जतु) साफ किये जायँ, (य) और (लहु) जल्दी (कोट्ठागार) कोठार-कोठे मे, (पविसतु) भर दिये जायँ, (य) तथा (अप्पमहउक्कोसगा) छोटे, मझले और वडे (पोयसत्था) जहाजो के सार्थवाह या शिशुसमूह (हमतु) मार दिये जाय। (य) तथा (सेणा सेना (णिज्जाउ) कूच करे, चढाई करने निकले, (डमर) कलह (जाउ) पैदा हो, (घोरा) भयकर, (सगामा) युद्ध (वट्टतु) होने दो (य) और (सगडवाहणाइ) गाडी, रथ आदि सवारियाँ (पवहतु) वढाओ या खूब चलाओ, (उवणयण) उपनयन—यज्ञोपवीत सस्कार, (चोलग) चूडाकर्म (चोटी रखने का) सस्कार—मु डनसस्कार (विवाहो) विवाह, (जन्नो) यज्ञ (अमुगम्मि) अमुक (दिवसेसु) दिनो मे, (करणेसु) करणो मे, (मुहुत्तेसु) मुहूर्त्तो मे, (नक्खत्तेसु) नक्षत्रो मे (य और (तिहिसु) तिथियो मे (होउ) हो। (य) और (अज्ज) आज (मुदित) आमोद-प्रमोद-पूर्वक (वहुखज्जपिज्जकलिय) वहुत-सी मिठाइयाँ आदि खाने एव पीने के पदार्थो से युक्त अथवा प्रचुर मद्य, मास आदि सहित, (ण्हवण) सौभाग्य तथा पुत्र आदि के लिए वधू आदि का स्नान तथा (कौतुक) डोरा वाधना, राख की पोटली आदि न्योछावर करना आदि विधिवाला कौतुक (होउ) हो। (य) तथा (ससिरविगहोवरागविसमेसु) चन्द्र और सूर्य के ग्रहण तथा दु स्वप्न आदि के होने पर (विण्हावणक) विविध मन्त्रादि से सस्कारित जल से स्नान तथा (सतिकम्माणि) शान्तिकर्म (कुणह) करो (य) तथा (सजणपरियणस्स) कुटुम्वीजन और सगे-सम्वन्धियो की (य) तथा (नियकस्स जीवियस्य) अपने जीवन की (परिरक्खणट्ठयाए) सुरक्षा के लिए (पडिसीसकाइ) अपने सिर के प्रतीक आटे आदि के वने हुए सिर (देह) चण्डी आदि देवियो को भेंट चढाओ (च) और (विविहोसहिमज्जमसभक्खन्नपाणामल्लाणुलेवण-पईवजलिउज्जल सुगधिधूवावकारपुप्फफल-समिद्धे) अनेक प्रकार की वनस्पतियो, मद्य, मास, मिठाइयो (भक्ष्य), अन्न, पान, पुष्पमाला, चदनादि लेपन, उवटन आदि, तथा दीपक जलाने,

सुगन्धित धूप आदि देने एव फूलो व फलो से परिपूर्ण विधि से (सीसोवहारे) बकरे आदि पशुओ के सिरो की बलि (देह) दो, (य) और (बहुविहेण) नाना प्रकार की, (पाणा-इवायकरणेण) हिंसा करके (विवरीउप्पायदुस्सुमिण-पावसउण-असोमग्गहचरिय-अमगल-निमित्तपडिघायहेउ) अशुभसूचक उत्पात, प्रकृतिविकार, खोटे स्वप्न, बुरे शकुन, क्रूरग्रह की चाल, अमगलनिमित्तसूचक अगस्फुरण आदि के फल को नष्ट करने के लिए (पायच्छित्ते पापोपशमनार्थ प्रायश्चित्त (करेह) करो। (वित्तिच्छेय करेह) आजीविका को नष्ट कर डालो, (मा देह किंचि दाण) किसी को कुछ भी दान मत दो, (सुट्ठु हओ सुट्ठु हओ) अच्छा हुआ, मारा गया, अच्छा हुआ, मारा गया! (सुट्ठु छिन्नो) अच्छा हुआ काट डाला गया, (भिन्नो) टुकडे हो गए, (इति) इस प्रकार (उवदिसता) किसी के बिना ही पूछे उपदेश करते हुए या कहते हुए मनुष्य (मणेण) मन से, (वायाए) वाणी से, (य) और (कम्मुणा) कर्म से (एवविह) इस प्रकार के (अलिय) द्रव्य से सत्य होते हुए भी प्राणिहिंसा का कारण होने से असत्य भाषण, (करेंति) करते हैं। (वे कौन ?) (अकुसला) हिंसक और अहिंसक या कहने और न कहने योग्य, वचन के रहस्य को समझने मे अचतुर (अणज्जा) अनार्य (अलियाणा) मिथ्याशास्त्रो को मानने वाले। (अलियधम्मणिरया) असत्यधर्म मे आसक्त, (अलियासु कहासु अभिरमता) आत्मगुणो को घटाने वाली पापोत्तेजक झूठी कहानियो—(उपन्यासो नाटको आदि) मे आनन्द मानने वाले, (बहुप्पगार वा) नाना प्रकार से (अलिय) मिथ्याभाषण (करेत्तु) करके (तुट्ठा, सतुष्ट (होति) होते हैं।

मूलार्थ—कई पापिष्ठ, सयमहीन, व्रतरहित अथवा पापकर्मों से अविरत, कपटी, कुटिल कटु और चचल स्वभाव के, क्रोधी, लोभी, भयातुर, हसी-मखौल करने वाले, गवाही देने वाले, चोर, गुप्तचर (जासूस या भेदिये), भट (योद्धा), चु गी के कर्मचारी अथवा कर, जकात वगैरह वसूल करने वाले, हारे हुए जुआरी, गिरवी (बधक) रखने वाले, मायाचारी, कपटपूर्वक नाना कुवेषो के धारक, कपटी, वाणिज्य-व्यवसाय करने वाले, खोटा तौल और खोटा नाप करने या रखने वाले, खोटे सिक्को से रोजी चलाने वाले, जुलाहे, सुनार तथा छीपे आदि कारीगर, ठगाई करने वाले चोरी करने वाले, खुशामदखोर,तथा कोतवाल एव व्यभिचारी दुष्टवादी, चुगलखोर और कर्जदार, किसी के बोलने से पहले ही उसके अभिप्राय को ताडने मे कुशल, भूत और भविष्य काल की बातो को बताने मे प्रवीण, बिना विचारे बोलने वाले, कमीने (नीच आत्माएँ), सत्पुरुषो के लिए अहितकारक ऋद्धि, रस और साता के गर्व मे चूर, असत्य अर्थ की स्थापना करने मे

दत्तचित्त, अपने आपको सर्वोत्कृष्ट मानने वाले स्वच्छन्दाचारी, किसी के अनुशासन मे न चलने वाले, नियमनिष्ठा से रहित, अस्थिर, अव्यवस्थित, मनमाना वकने वाले या अपने को ही सिद्धवादी कहने वाले मनचले, ये सव असत्य वोलने से अविरतजन पूर्वोक्त असत्य वोलते है।

लोक के स्वरूप को विपरीत कहने वाले दूसरे नास्तिकवादी कहते है —यह जगत् शून्य है, जीव (आत्मा) नही है। वह इस भव—मनुष्यभव मे, अथवा देवादि परभव मे नही जाता, और न किञ्चित् पुण्य-पाप का ही स्पर्श करता है। पुण्य और पाप का सुख और दु ख-रूप फल भी नही है। पाच महाभूतो से वना हुआ यह शरीर है, जो प्राणवायु के योग से सव क्रियाएँ करता है। कुछ लोगो की यह मान्यता है कि श्वासोच्छ्‌वास की हवा ही जीव है। बौद्धो का यह कहना है कि आत्मा रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार इन पचस्कन्धरूप है। कई मन को ही जीव (आत्मा) मानने वाले पाच स्कन्धो के अलावा एक मन को जीव ठहराते है। तथा ऐसा कहते है कि यह शरीर सादि और सान्त (नश्वर) है। इसी एक ही पर्याय-रूप एक भव (जन्म) मे अनेक कारणो से उसका नाश हो जाता है। शरीर का नाश होने पर आत्मा का भी सर्वनाश हो जाता है, इस प्रकार मृषावादी कहते है। शरीर सादि, सान्त है, इसलिए दान, व्रताचरण, पौषध तथा तप, सयम, ब्रह्मचर्य आदि कल्याणकारी कार्यों का फल भी नही है। प्राण-वध (हिंसा) और असत्यवचन भी अशुभफलदायक नही है। चोरी अथवा परस्त्रीगमन भी अशुभफल के हेतु नही है। परिग्रह और इसके अतिरिक्त जो भी पापकर्म है, वे भी कुछ भी नही है, अर्थात् जरा भी सुख-दु ख के हेतु नही है। नारको, तिर्यंचो और मनुष्यो की योनिया नही है और न देवलोक ही है। तथा सिद्धगति (मुक्ति) भी नही है। माता-पिता नही है। पुरुषार्थ भी कोई चीज नही है, प्रत्याख्यान-त्याग भी नही है, भूत, भविष्य और वर्तमानकाल नही है और न मृत्यु ही है। अरिहन्त, चक्रवर्ती, वलदेव और वासुदेव (नारायण) इस ससार मे कोई नही है। कोई ऋषि-मुनि भी नही है। धर्म-अधर्म का फल भी थोडा या बहुत कुछ भी नही है इसलिए पूर्वोक्त प्रकार से वस्तुस्वरूप को जान कर अपनी इन्द्रियो के अनुकूल सभी विषयो मे खूब डट कर मनचाही प्रवृत्ति करो। कोई भी शुभ क्रियाएँ या निन्द्य अक्रियाएँ

नही है। लोक के स्वरूप का विपरीत वर्णन करते हुए नास्तिकवादी इस प्रकार से कहते हैं।

असत् पदार्थों का निरूपण करने वाले बहुत से मूढ लोग इस आगे कहे जाने वाले दूसरे कुदर्शन (मिथ्यामत) का प्ररूपण करते है कि यह ससार अडे से पैदा हुआ है। ब्रह्माजी ने उसे स्वय बनाया है। इसी प्रकार यह भी असत्य वचन है—जैसे कई लोग कहते है कि लोक के प्रभु ईश्वर ने यह सृष्टि रची है। कई लोगो का कहना है कि जगत विष्णुमय है। कितने ही इस प्रकार असत्यभाषण करते है कि एक आत्मा (ब्रह्म) ही है, सारे ससार मे व्याप्त है। दूसरी कोई वस्तु नही है। (साख्यमत वालो का कहना है—) आत्मा (पुरुष) पुण्य और पापकर्मों का कर्ता नही है, किन्तु उनके सुख-दु ख रूप फल का भोक्ता है (पाठान्तर के अनुसार वह पुण्य-पाप के फल का भोक्ता भी नही है), इन्द्रियाँ और कारणभूत पदार्थ सर्वथा सब जगह और सब समय प्रकृति से भिन्न नही होते। अर्थात् सर्वत्र ओर सर्वदा प्रकृति मे विद्यमान रहते है। आत्मा निष्क्रिय और निर्गुण (सत्व, रज और तमोगुण से रहित) है तथा कर्मों के लेप से भी रहित है। इस प्रकार असत्य बात कहते हैं।

इस मर्त्यलोक मे जो कुछ सुकृत या दुष्कृत दिखाई देते है या इस प्रकार की अन्य सब वस्तुएँ है, वे अपने आप ही (यदृच्छा से) उत्पन्न हुई है। अथवा स्वभाव से या दैव के प्रभाव भी से पैदा होती है। इस लोक मे कोई भी पदार्थ किसी का बनाया हुआ नही है। किन्तु जितने भी वस्तु के लक्षण-स्वरूप है और प्रकार (भेद) है, उन्हे नियति (भवितव्यता-होनहार) ही पैदा करती है—बनाती है। बहुत से लोग ऋद्धि, रस और साता के गर्व मे चूर हो कर धर्माचरण करने मे आलसी है, वे भी धर्मविचार की अपेक्षा से मिथ्या प्ररूपणा करते है।

दूसरे लोग अधर्मयुक्त होने से राजविरुद्ध झूठा दोपारोपण करते है। वे चोरी न करने वाले को चोर कहते है, तथा लडाई झगडो-और प्रपचो से तटस्थ रहने वाले को लडाकू कहते है। शील-सम्पन्न परस्त्रीत्यागी को यह दु शील-व्यभिचारी है, परस्त्रीगमन करता है, इत्यादि अपवाद लगा कर उसे बदनाम करते है। यह भी दोप लगाते है कि 'यह गुरुपत्नी के साथ अनुचित सम्बन्ध रखता है। दूसरे कई लोग यो व्यर्थ ही उसकी कीर्ति, आजी-

विका आदि को चौपट करने की दृष्टि से कहते है कि "यह अपने मित्र की पत्नियो का सेवन करता है। इतना ही नही, यह धर्मशून्य भी है, विश्वासघाती है, पापकर्म करने वाला है, नही करने योग्य कार्यों को करने वाला है तथा भगिनी, पुत्रवधू पूत्री आदि अगम्य स्त्रियो के साथ सहवास करता है, यह दुरात्मा वहुत-से पापो से युक्त है।" इस प्रकार ईर्ष्यालु लोग झूठमूठ बकते है। अच्छे स्वभाव वाले मनुष्य के परोपकार, क्षमा आदि गुणो, तथा कीर्ति, स्नेह एव परभव की जरा भी परवाह न करने वाले वे असत्य-वादी असत्य बोलने मे प्रवीण, दूसरो के दोपो को बताने मे जुटे हुए, और सुख को अपना शत्रु बनाए हुए वे अधम पुरुप अक्षय दु ख के वीजरूप कर्म-बन्धन से अपनी आत्मा को जकड लेते है। दूसरो के धन पर गिद्ध की तरह दृष्टि गडाए वे धरोहर को हडप जाते हे, तथा सत्पुरुपो को उनमे अविद्यमान दोपो से दूपित करते है। लोभी मनुष्य झूठी साक्षी देने का काम करते है तथा वे पवित्र और भद्र पुरुपो का अहित करने वाले असत्यवादी धन के लिए, कन्या के लिए, भूमि के निमित्त, गाय-वैल आदि पशुओ के निमित्त अधोगति मे ले जाने वाला वडा झूठ वोलते हे। मिथ्या पड्यन्त्र रचने मे दत्तचित्त, दूसरो के असद्गुणो के प्रकाशक एव सद्गुणो के नाशक, पुण्य और पाप के स्वरूप से अनभिज्ञ, असत्याचरण मे जुटे हुए लोग इसके अतिरिक्त और भी जाति, कुल, रूप और शील से सम्बन्धित, माया के कारण गुणहीन या माया-निपुण, चचलता से युक्त, पैशून्यपूर्ण (चुगली से भरपूर), परमार्थ के नाशक, असत्य अर्थ वाले या सत्त्वहीन, द्वेपरूप, अप्रिय, अनर्थकारी, पापकर्म के मूल मिथ्यादर्शन से युक्त, कर्णकटु, सम्यग्ज्ञानशून्य, लज्जाहीन, लोकनिंद्य, वध, बधन और सक्लेश से पूर्ण, बुढापा, मृत्यु, दु ख और शाक के मूल कारण, अशुद्धपरिणामो से सक्लेशयुक्त, हिंसा द्वारा प्राणियो के घात से युक्त, अशुभ या अनिष्ट, साधुओ द्वारा निंदनीय, अधर्म के जनक, पापयुक्त असत्य वचन वोलते हे।

पुनश्च—शस्त्रो को वनाने, जोडने और जुटाने के रूप मे अधिकरण-क्रिया मे प्रवृत्त रहने वाले मनुष्य अनेक प्रकार के अनर्थ का कारण, जो अपने और दूसरे का विनाश का हेतु हे, उसे करते रहते है। ऐसे ही अज्ञानपूर्वक वोलते हुए मूर्ख लोग घातक लोगो को—कसाइयो को भैसो और सूअरो के सम्बध

मे हिंसा का उपदेश देते है। मृग आदि पशुओ को फदे मे फसाने वाले पारधियो को खरगोश, प्रशय और रोहित नामक जगली जानवरो को बतलाते है। बाज आदि द्वारा पक्षियो का शिकार करने वाले बहेलियो को तीतर, बतक, बटेर, कपिंजल और कबूतर आदि पक्षियो को बताते है। मछुआ को मछली, मगर, कछुए आदि बतलाते है। और धीवरो को शख, अकरत्न और कौडिया बताते है, सपेरो को अजगरो, दुमु ही, साँपो, मण्डलाकार सर्पों, फणधर सर्पों और बिना फण के सर्पों की सूचना देते है। शिकारियो को चन्दनगोह, काटेदार गोल शैले और गिरगिट बतलाते है, फदे द्वारा पशुओ को पकडने वालो को हाथियो के झुड और बदरो के टोले बताते है, पक्षियो को पालने वालो को तोते, मोर, मैना, कोयल और हसो के झुड और सारस बतलाते है, पशुपालको को मारने-पीटने, बाधने और पीडा देने का उपदेश देते हैं—अभ्यास कराते है तथा चोरो को धन, धान्य, गायो-बैलो और भेडबकरियो का पता बताते है, गुप्तचरो-भेदियो या जासूसो को गावो, खानो, नगरो तथा बडी मण्डियो (पत्तनो) का भेद बताते है। गाठकटो-गिरहकटो को रास्ते के परले सिरे पर या रास्ते के बीच मे राहगीरो को लूटने का निर्देश करते है, नगररक्षक कोतवाल आदि को की गई चोरी की खबर देते है तथा ग्वाला को पशुओ के कान आदि काटना या गर्म लोहे आदि से दाग देना, उन्हे खस्सी या बधिया करना फूका लगाना, दुहना, जौ आदि खिलाकर पुष्ट बनाना, बछडे को अपनी मा से अलग करके दूसरी गाय के साथ कर देना, हैरान करना, गाडी आदि को खीचना, बोझ लादना आदि बहुत-से उपाय बतलाते है। खान के मालिको को गेरु आदि, या सोना, चादी, लोहा आदि धातुओ, चन्द्रकात आदि मणियो शिला अथवा मेनसिल, मूगा और रत्न की खानो का पता बतलाते हे। मालियो को फलो के तोडने या गूँथने की विधि और फलो को उपजाने, पकाने आदि की विधि बतलाते है। तथा जगलो मे भटकने वाले भीलो आदि को मधुमक्खियो के बहुमूल्य छत्ते दिखला देते है। मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के लिए लिखित यत्रो या पशुओ आदि को पकडने के यत्रो, सखिया आदि हलाहल विषो, गर्भपात आदि के लिए वनस्पति की जड या अन्य जडीबूटियो के प्रयोग, मन्त्रादि द्वारा नगर मे क्षोभ या फूट पैदा कर देने अथवा मत्रबल से धन आदि के खीचने, द्रव्य और भाव से वशीकरणमत्रो

और औषधियो के प्रयोग करने व परस्त्रीगमन आदि बहुत से पापकर्मों के उपदेश तथा छल से शत्रु सेना की ताकत तोड देने या उसे कुचल डालने के, जंगल मे आग लगाने तथा तालाब सूखाने के, बुद्धि के विषय विज्ञान आदि अथवा बुद्धि एव स्पर्श आदि विषयो के विनाश के, वशीकरण, उच्चाटन आदि के तथा भय, मृत्यु, क्लेश और दोष के जनक, बहुत क्लिष्ट भावो से मलिन, प्राणियो के घात और उपघात करने वाले वचन द्रव्य से तथा तथ्यरूप से सच्चे होने पर भी भाव से उन-उन प्राणियो का घात करने वाले होने से असत्य ही है, जिन्हे मिथ्यावादी बोलते है।

तथा पूछे जाने पर या विना पूछे ही दूसरो के काम की व्यर्थ चिन्ता मे डूबे रहने वाले, बिना विचारे बोलने वाले, बिना ही मतलब के एकदम उपदेश देने लगते है कि ऊटो, गाय-बैलो एव नील गायो (रोझो) का दमन करो, वश मे करो, परिपक्व उम्र के तरुण घोडे, हाथी, बैल, मेंढे ओर मुर्गे खरीदो, खरीदवा लो तथा बेच दो। कुटुम्बीजनो के लिए भोजन बनाओ।' उनको यह शराब आदि पेय वस्तु दे दो, पिला दो, तथा ये दासी-दास, नौकर और हिस्सेदार, बाहर भेजे जाने वाले गुमाश्ते या नौकर,कर्मचारी और सेवक, कुटुम्बी तथा रिश्तेदार क्यो बेकार बैठे है ? आपकी पत्नियाँ काम करे, घने जगल, धान आदि बोने के खेत, बिना जोती हुई भूमि और घोर जगल बहुत लबे लबे घने घास से भर गए है, इन्हे जला डालो और कटवा डालो। कोल्हू आदि यन्त्रो, कुडो आदि बर्तनो तथा गाडी, हल आदि बहुत से उपकरणो-साधनो के लिए तथा और भी अनेक कामो के लिए वृक्षो को काट लो। गन्नो को काट लो या उखाड लो, तिलो को पील डालो, मेरे घर के लिए ईटें पकवा लो, खेतो को जोतो और जुतवाओ, जगल के प्रदेशो मे झटपट लम्बी-चौडी सीमा वाले नगर, गॉव, खेडे और कस्बे बसाओ। खिले हुए, पके हुए फूलो,फलो और कन्दमूलो (आलू, सूरण आदि कदो और गाजर-मूली आदि मूलो) को उखाड लो या चुन लो और अपने सगे-सम्बन्धियो के लिए इन्हे इकट्ठे कर लो। शालि धान, गेहू आदि अन्न तथा जौ काट लो, इन्हे बैलो से पैरवा लो और साफ करवा लो। इनका भूसा अलग करवा लो और जल्दी कोठार-कोठे मे भर दो। तथा छोटे, मझले और बडे जहाजो के सार्थवाहो

को तथा शिशुसमूहो को खत्म कर दो। सेना चढाई करने के लिए बाहर निकले, सग्राम-स्थल की ओर कूच करे और घोर युद्ध हो। गाडी, रथ वगैरह सवारिया हाको। यज्ञोपवीतसस्कार, चूडाकर्मसस्कार या मु डनसस्कार, विवाह और यज्ञ अमुक दिवस,करण, मुहूर्त, नक्षत्र और तिथि मे हो। आज आमोद-प्रमोदपूर्वक बहुत-सी मिठाइया आदि खाने और मदिरा आदि पीने की वस्तुओ के भोज के साथ सौभाग्यवृद्धि तथा पुत्रादि की प्राप्ति के लिए वधू आदि का स्नान हो तथा डोरे बाधने आदि विधिया वाला कौतुक हो। सूर्य ओर चन्द्र के ग्रहण तथा दु स्वप्न आदि के होने पर विविध मन्त्रादि से सस्कारित जल से स्नान और शातिकर्म करो। अपने कुटुम्बियो की तथा अपने जीवन की रक्षा के लिए आटे आदि के बने हुए प्रतिशीर्पक (सिर) चण्डी आदि देवियो के भेंट चढाओ। और अनेक प्रकार की औपधियो, मद्य, मास, मिठाई, अन्न, पान, पुप्पमाला, चदनादि का लेपन, उवटन, दीपक, सुगन्धित धूप तथा फूलो और फलो से परिपूर्ण विधि से बकरे आदि पशुओ के सिरो की बलि दो। नाना प्रकार की हिंसा करके अशुभसूचक उत्पात, प्रकृतिविकार, बुरे स्वप्न, बुरे शकुन, क्रूर ग्रहो की चाल, अमगलसूचक अ गस्फुरण इत्यादि के फल को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त करो। अमुक की आजीविका नष्ट कर दो! किसी को कुछ भी दान मत करो। अच्छा हुआ, मारा गया! अच्छा हुआ, काट डाला गया! अच्छा हुआ, टुकडे-टुकडे किया गया! इस प्रकार बिना ही पूछे उपदेश करते या कहते हुए मनुष्य मन से, वाणी से और कर्म से द्रव्य से सत्य होते हुए भी प्राणातिपात का कारण होने के भाव से इस प्रकार असत्य भापण करते है। (वे कौन है ?) हिंसक और अहिंसक या कहने योग्य और न कहने योग्य वचनो के रहस्य को समझने मे अकुशल, पाप मे तत्पर, अनार्य, मिथ्याशास्त्रो की आज्ञा के अनुसार चलने वाले, असत्य धर्म-कर्म मे लीन, आत्मगुणो का ह्रास करने वाली पापोत्तेजक झूठी-कहानियो मे ही आनन्द मानने वाले लोग नाना प्रकार से मिथ्याभापण करके सतुष्ट होते है।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ मे दो द्वारो का एक साथ ही निरूपण किया गया है—'असत्य भापण कौन-कौन करते है और किस प्रयोजन से व किस प्रकार से करते है ?' मतलब यह है कि शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ मे असत्य वोलने वालो तथा असत्य वोलने के

प्रयोजनो व प्रकारो का वारीकी से विशद निरूपण कर दिया है। साथ ही इस सूत्रपाठ मे यह भी ध्वनित कर दिया है कि कोई व्यक्ति चाहे वाह्यरूप से सत्य ही वोल रहा हो, किन्तु उस सत्यवचन के पीछे किसी के मन, वचन, काया या प्राणो को ठेस पहुचाने, हानि पहुचाने, पीडा देने, वध करने या नाश करने की वृत्ति हो अथवा उसके उक्त वचन से जगत् गुमराह होता हो, अधर्म और हिंसा आदि कुकर्मों के रास्ते चल पडता हो , जगत् के प्राणिवर्ग का अहित होता हो तो वह वचन असत्य ही है। इस प्रकार विभिन्न कोटि के लोगो द्वारा असत्य का सेवन किस-किस रूप मे किया जाता है ?, इस वात को प्रस्तुत सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने स्पष्ट कर दिया है।

'केइ'—शास्त्रकार ससार के सभी व्यक्तियो को असत्यवादी की कोटि मे नही मानते , क्योकि वे स्वय पूर्ण सत्यमहाव्रती है, इसलिए दूसरो के प्रति वे ऐसा अन्याय कैसे कर सकते हैं ? या सरासर असत्य कैसे कह सकते है ? यही कारण है कि प्रस्तुत मूलपाठ मे उन्होने 'केइ' पद से इसका पृथक्करण किया है कि ससार के सभी प्राणी या सभी मानव असत्य नही वोलते। जो पचमहाव्रतधारी साधु, ऋपि, मुनि या श्रमण हैं, वे मृपाभापण के सर्वथा त्यागी होते है , वे वचन से तो क्या, मन से भी असत्यभापण का या असत्य वस्तु का चिन्तन नही करते। इस कोटि के जो भी मानव हैं, वे असत्यभापी नही होते। इसके पश्चात् गृहस्थ श्रमणोपासक या श्रावक भी स्थूल असत्य के त्यागी होते है। वे भी ऐसा वचन नही वोलते, ऐसे उद्गार नही निकालते , जिससे सरकार द्वारा दण्डित हो, समाज मे निन्दित हो, अनर्थ की की सम्भावना हो, व्यवहार विगड जाय, प्राणियो के घात की सम्भावना हो, उनके मन मे सताप पैदा हो या आपस मे सिरफुटौव्वल हो। गृहस्थधर्मी श्रावक भी वचन को तौल कर, दीर्घदृष्टि से विचार कर किसी का अहित न हो, इस प्रकार से वोलते हैं , ऐसे धर्मिष्ठ श्रावक के सभी कार्य सत्यता से युक्त होते हैं। इसलिए शास्त्रकार ने 'केइ' पद द्वारा उन्ही लोगो की ओर इशारा किया है , जो अमुक-अमुक प्रकार से असत्य वोलते है।

व्यवहार मे असत्य बोलने वाले—इस सूत्रपाठ मे सर्वप्रथम व्यवहार मे असत्य वोलने वालो के नाम गिनाए है। चूकि व्यवहार प्रत्यक्ष और स्पष्ट होता है , इसलिए व्यवहार में असत्य वोलने वाले व्यक्ति को प्रत्येक धर्म और दर्शन वाले असत्यभापी ही मानते है। इसमे किसी को भी शका उठाने की आवश्यकता नही होती। वैसे तो मूलार्थ मे इन सवका अर्थ किया जा चुका है, फिर भी सक्षेप मे इन पर थोडा-थोडा प्रकाश डाला जाना उचित समझते है—

पावा—जो रातदिन हिंसा आदि पापकर्मों मे रत रहते है, उनका सत्य वोलना वहुत ही कठिन है। यदि वे वस्तुस्थिति को ज्यो की त्यो कह दे, तो भी वे

हिंसा, चोरी आदि पापकर्मों के लिए वाचिक प्रेरणा देते हैं, अत उनका वचन असत्य हो ही जाता है। इसलिए पापिष्ठ व्यक्ति असत्यवादी है।

असंजया—जो अपनी इन्द्रियों और मन पर जरा भी संयम, नियंत्रण या अंकुश नहीं रख सकते, विषयों के दास बने हुए हैं, वे असंयम के वशीभूत होकर बात-बात में प्राणियों के लिए अहितकर तथा मिथ्या वचन बोलेंगे ही जो असत्य की कोटि में है।

अविरया—जो हिंसा आदि आश्रवों से जरा भी विरत नहीं है, जिन्होंने व्रतों का यत्किंचित् भी स्वीकार नहीं किया है, वे व्यक्ति सत्य-असत्य की कोई मर्यादा नहीं मानते और न उसे पालते हैं।

कवड-कुटिल-कडुय-चडुलभावा—जिनके रोम-रोम में कपट भरा है, कुटिलता भरी है, वचन में पद-पद पर कटुता है और जिनके भावों में बार-बार उतारचढाव आते हैं, जो अपने शुद्ध विचार पर कुछ देर के लिए भी स्थिर नहीं रह सकते, उनकी असत्यवादिता में तो कोई संदेह ही नहीं रह जाता।

कुद्धा—क्रोधी व्यक्ति क्रोध के आवेश में चाहे जो कुछ बोल देता है, वह अटसट भी बक देता है, इसलिए ऐसे क्रोधातुर व्यक्ति को सत्य का भान ही कैसे रह सकता है ?

लुद्धा—लोभी व्यक्तियों का भी यही हाल है। जब उन पर लोभ सवार हो जाता है तो वे सच-झूठ का कोई विचार ही नहीं करते। येन-केन-प्रकारेण अपने स्वार्थ या अति लोभ की पूर्ति करना ही उनका एकमात्र उद्देश्य होता है। अत लोभी भी प्राय सत्यभाषी नहीं होता।

भया य—मनुष्य प्राण जाने, प्रतिष्ठा जाने या मार पडने का भय उपस्थित होने पर या संकट या खतरे के समय प्राय असत्य का ही सहारा लेता है। भयाविष्ट व्यक्ति को उस समय सत्य की चिन्ता नहीं होती।

हस्सट्ठिया—जो व्यक्ति हंसोड, विदूषक या मजाकिया होता है, वह बात-बात में असत्य का सहारा लेता है। वैसे भी हास्य के वश मनुष्य असत्य बोलता है, जिसका नतीजा कई दफा बडा ही भयंकर आता है। हंसी-मजाक में झूठ बोल जाने पर सामने वाला व्यक्ति कई बार उसे सच मान लेता है और आत्महत्या तक कर बैठता है, या गलतफहमी का शिकार बन कर अनर्थ कर बैठता है। अत हास्यानन्दी व्यक्ति प्राय असत्यभाषी होते हैं।

सक्खी—अदालतों में कई पेशेवर गवाह होते हैं, उन्हें कुछ पैसे दे देने से वे झूठी गवाही देने के लिए तैयार हो जाते हैं। उनकी उस झूठी साक्षी में सत्य का अंश नहीं होता। इसलिए उन्हें असत्यभाषी कहा गया है।

चोरा—चोरो का काम ही झूठ से चलता है। झूठ और चोरी का तो परस्पर चोली-दामन का-सा नाता है। इसलिए चोरो को असत्यभापी कहा गया है।

चारभडा—गुप्तचर और जासूस तो अपना रूप, रग, वेपभूपा, भापा ही वदल लेते है, असत्य का सहारा ले कर ही वे किसी गुप्त वात का पता लगाते ह। इसलिए असत्य उनका साथी होता है। भाट लोग भी युद्ध मे शौर्यगाथा गाते है, तव वहुत ही अतिशयोक्ति करके वढा-चढा कर प्रशसा करते है, सेना को उत्तेजित करते हैं, उनके शव्दो मे भी सत्यता नही होती।

खडरक्खा—चूगी, कर, या जकात के वसूल करने वाले प्राय लोगो को धमका कर एव असत्य वोल कर रिश्वत के रूप मे उनसे पैमा ऐंठते हैं। वचन की प्रामाणिकता उनमे प्राय नही होती, इसलिए उन्हे भी असत्यभापी की कोटि मे वताया है।

जियजूयकारा—हारे हुए जुआरियो की मनोवृत्ति किसी भी तरह से झूठा दाव लगा कर पुन जीतने की होती है। अथवा अपनी प्रतिष्ठा समाज मे रखने के लिए वह जुए मे सारा धन खो देने पर भी पूछने पर कहेगा—"मेरे पास धन की क्या कमी है ?" मतलव यह है कि अपनी इज्जत वचाने के लिए जुआरी भी प्राय असत्य का आश्रय लेते है, इसलिए उन्हे असत्यभापी कहा गया है।

गहियगहणा—गिरवी रखने वाले व्यक्तियो की नीयत प्राय यही रहती है कि सौ रुपये के माल को ग्राहक पचास रुपये मे गिरवी रख जाय, इसलिए वह गिरवी रख जाने वाले के माथ झूठ वोलता है, फिर व्याज जोडते समय भी प्राय झूठ का महारा लिया करता है, इसलिए इसे भी असत्यभापी कहा गया है।

कक्कगुरुगकारगा—मायापूर्वक वढाचढा कर वोलने वाले, चापलूस, वचक, ठग आदि तो असत्य को ही अपना मित्र वनाते है। इसलिए उनकी असत्यभापिता मे कोई सन्देह ही नही है।

कुलिंगी—धर्म के नाम पर दूसरो के साथ धोखेवाजी करने वाले लोग साधु-सत का वाना पहन कर या साधुवेप धारण करके दुनियाभर की गप्पे लगा कर लोगो से पैसा वटोरते है, सम्मान प्राप्त करते है, ऐश-आराम के साधन प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए वे तो असत्य की खान है ही।

उवहिया—सोना वना देने या नोट वढा देने का कह कर चकमे मे डालने वाले या वहुरूपिया वन कर लोगो को वाग्जाल मे फसाने वाले मायाचारी लोग तो सरासर असत्यभापी है ही।

वाणियगा—व्यापार करने वाले या विविध प्रकार का व्यवसाय करने वाले, कारखानेदार आदि लोग भी धन के लोभ मे प्राय असत्य का महारा लेते ह। वे दिखाएँगे एक चीज, देंगे दूमरी और वह भी खराव चीज, माल के दाम वहुत वढाकर कहेंगे,

सो फसाते या लेंगे, झूठे वादे कर लेंगे। इस प्रकार वचन द्वारा बेईमानी करके व्यवसायी भी असत्यभाषी बन जाता है।

कुडतुलकुडमाणो झूठा तोलने और झूठा नापने वाला वैसे ग्राहक से तो असत्य बोलता दिखाई नहीं देता, लेकिन माया, कपट और बेईमानी का उसका व्यवहार तथा ग्राहक को तोल-नाप में धोखा देने का व्यवहार अहितकर होने से असत्याचरण ही माना जाता है। इसलिए झूठा तोल-नाप करने वाला असत्यवादी की ही कोटि मे है।

कूडकाहावणोपजीविया— जो लोग झूठे सिक्को पर ही अपनी रोजी चलाते है, वे तो सरासर झूठ का ही व्यवसाय करते है। उनके मन मे झूठ होता है, उनका व्यवहार भी झूठा होता है। चाहे वे वचन मे झूठ न बोले, या सफाई से अपनी बात को सच्ची सिद्ध करने का प्रयत्न करे, है वे असत्यवादी ही।

पडगारका कलाया कारुइज्जा—कपडा बनाने वाले, स्वर्णकार तथा दर्जी, लुहार, कुभार, छिपा आदि कारीगर प्राय बातबात मे झूठ बोल जाते है। सुनार, दर्जी, जुलाहे आदि अपने ग्राहक से अमुक दिन चीज तैयार करके देने का वादा कर लेते है, लेकिन वे उस दिन अपने वचन के अनुसार देते नही, आगे से आगे टरकाते रहते है। बेचारा ग्राहक हैरान होता है, उसका कपडा, सोना आदि भी उसमे से चुरा लिया जाता है, मेहनताना न ठहराने पर अधिक लेने की कोशिश करते है। इसके अलावा वे अपनी घटिया चीज की भी अत्यन्त तारीफ करके अधिक दाम पाने का प्रयत्न करते है। मतलब यह है कि प्राय इन लोगो के काम मे झूठ और कपट का या वचनभग का व्यवहार होने से वह असत्यवादिता की कोटि मे ही माना जाता है।

वचणपरा—ठगाई करने वाले भी सरासर असत्यभाषी है।

चारिय-चाडुयार-नगरगोत्तिय-परिचारगा—वेष बदल कर घूमने वाले, चापलूस, नगररक्षक, कोतवाल आदि और व्यभिचारियो के दलाल—ये चारो प्रकार के मनुष्य माया और धूर्तता करने मे प्राय सिद्धहस्त होते है। वाणी के मायाजाल मे फसा कर वे सम्बन्धित व्यक्ति से मनमाना पैसा ठगते है, उसकी जेब खाली करा लेते है, उसकी इज्जत भी मिट्टी मे मिला देते है। अत असत्य तो इनकी रग-रग मे भरा होता है।

दुट्ठवायि-सूयक-अणबल-भणिया—दुष्टो का पक्ष लेने वाले या बात-बात मे अपशब्द बोलने वाले, चुगलखोर, बलपूर्वक कर्ज लेने वाले तथा हमे द्रव्य दो, इस प्रकार की धमकीभरे शब्द कहने वाले, ये चारो ही असत्य के पिटारे हैं। इन्हे सत्य-भाषण का कोई विवेक ही नही रहता। इसलिए इनकी असत्यवादिता स्पष्ट है।

पुव्वकालियवयणदच्छा—किसी के कहने से पहले ही उसके अभिप्राय को जान कर कहने मे कुशल अथवा किसी की भूतकालीन बात को कहने मे चतुर लोग

प्राय अनुमान के आधार पर चलते है । अनुमान कई दफा गलत हो जाता है ओर ऐसे लोग जो अटकलवाजी से किसी के वारे मे कहते हे, प्राय उनके वचन असत्य ही सावित होते है । इसलिए उनके वचनो मे असत्य का अश होने से उन्हे असत्यवादी की कोटि मे गिनाया हे ।

लहुस्सगा—जिनकी आत्माएँ तुच्छ होती है, जिनके निम्नतम सस्कार होते ह, वे तो वात-वात मे झूठ वोलने मे हिचकते नही अथवा असत्य व्यवहार करने मे भी उन्हे कोई सकोच नही होता । इसलिए लघुस्वक भी असत्यवादी की कोटि मे वताए गये ह ।

असच्चट्ठावणाहिचित्ता—जिनका चित्त सदा असत्य वातो की स्थापना मे, असत्य वातो को लोगो के दिलदिमाग मे ठमाने की उधेडवुन मे ही दत्तचित्त रहता हे, उनके असत्यप्रचारी होने मे तो कोई सदेह नही हे ।

उच्चछदा—अपने को वडा मानने वाले लोग भी महानता और उच्चता के गुण स्वय मे न होते हुए भी उनका दिखावा करने के लिए वागाडम्वर करने है, व्यवस्थित भापा मे वडे-वडे लच्छेदार भापण झाडते है, परन्तु जीवन मे चरित्रशीलता या सदाचार नही होता, ऐसे स्वच्छन्दी लोग आडम्वर की ओट मे वाणी के माध्यम से लोगो पर अपना सिक्का जमाने का प्रयत्न करते ह । परन्तु अन्त मे तो सत्य प्रगट हो कर ही रहता है । इसलिए ऐसे उच्चछद लोग भी असत्याचारी की कोटि मे हे ।

अणिग्गहा—जो किसी के अनुशासन या निग्रह (अकुश) मे नही चलना चाहते, वे स्वच्छन्दाचारी अपने जीवन को मनमाने ढग से विताते हैं, वे सच वोलेगे या असत्य वोलेगे, इसकी किसी को कोई प्रतीति नही होती । इसलिए अनिग्रह (निरकुश) लोग भी असत्यवादियो मे ही शुमार है ।

अणियता—जिनके जीवन मे कोई नियमनिष्ठा नही होती, जो अव्यवस्थित जीवन जीते हैं, उनके जीवन मे सत्य तो होता ही नही, असत्य से ही उनका रात-दिन वास्ता पडता है । इसलिए ये भी असत्यवादी है ।

छदेण मुक्कवाया—जिनकी जवान पर कोई लगाम नही है, जो मनमानी वाते करते है, हम ही सिद्धवादी हैं, इस तरह की वेसिरपैर की वाते करने वाले लोगो के असत्यभापी होने में कोई शक नही ।

अलियाहिं अविरया—जो असत्यभापण से, सूक्ष्म या स्थूल रूप से, सर्वाशत या अल्पाशत विरत नही है, वे तो असत्यवादी की ही कोटि मे गिने जायेगे, चाहे वे कभी सत्य ही वोले ।

नास्तिकवादी असत्यभापी दार्शनिक—नास्तिकवादी असत्यभापी वे है, जो असत्यदर्शन की प्ररूपणा करते हैं, ससार को गुमराह करने के लिए सभी लोक-हितकारी वातो का निपेध करते है । प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् का भी स्वरूप विपरीत

रूप मे प्रस्तुत करके जगत् को स्वच्छन्दाचार की ओर प्रेरित करते है। नीचे हम क्रमश नास्तिकवादियो के मत की समीक्षा करते है—

सुण्णत्ति- नास्तिकवादियो का कहना है—'जगत् शून्य है।' यानी जगत् का अपना कोई आकार या अस्तित्व नही दिखाई देता, इसलिए जगत् शून्य है। परन्तु जगत् शून्य होना तो उसका जो रूप दिखाई दे रहा है, वह नही दिखाई देता। इसलिए जगत् प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध है। नास्तिकवादियो का जगत्-शून्यता का कथन मिथ्या है।

नत्थि जीवो—नास्तिकवादियो का कहना है, कि 'जीव नही है यानी आत्मा नही है। क्योकि उसको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है। इन्द्रियो के साथ पदार्थ के सन्निकर्ष मे होने वाले ज्ञान को ही हम प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। इन्द्रियो से तो आत्मा न कभी जानने मे आता है, न उसकी कोई आकृति दिखाई देती है, इसलिए आत्मा प्रत्यक्ष से सिद्ध नही होती। जो वस्तु प्रत्यक्ष से कही भी सिद्ध नही होती, उसके विषय मे अनुमान भी नही हो सकता। धुए और अग्नि का सयोग रसोईघर मे प्रत्यक्ष देखने पर ही पर्वत पर धुए को देख कर अग्नि का अनुमान किया जाता हे। अत अनुमानप्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नही होती। आगमप्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नही होती, क्योकि विभिन्न धर्मों के आगमो में परस्पर विरोधी बातें आत्मा के सम्बन्ध मे मिलती है। इसलिए आगम के स्वय अप्रमाण होने से, आगम प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि नही हो सकती, क्योकि जो चीज हे ही नही, उसके साथ उपमा किसकी दी जाय? इसलिए किसी भी प्रमाण से आत्मा के सिद्ध न होने से आत्मा का अभाव ही सिद्ध होता है।

न जाइ इह परे वा लोए—जव आत्मा ही नही है, तव मरने के बाद कौन इस मनुष्यलोक मे अथवा देवलोक आदि अन्य लोको मे जाएगा? अत निष्कर्ष यह यह है कि जीव कही भी इस लोक या परलोक मे नही जाता।

न य किंचि वि फुसति पुन्नपाव— शुभ-अशुभ कर्मों के पुण्य-पाप के रूप में वध का भी जीव स्पर्श नही करता।

नत्थि फल सुकयदुक्कयाण—जव जीव पुण्य-पाप का बध ही नही करता, तव पुण्य-पाप का सुख-दु ख-रूप फल उसे क्यो मिलेगा? इसलिए पुण्य-पाप का सुख-दु खरूप फल भी नही है। क्योकि जव जीव ही नही है तो कर्मों का वन्ध और उसका फल किसे मिलेगा? अतएव सर्वशून्य है।

पचमहाभूतिय शरीर—उनके सामने जव यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि जव जीव नही है तो यह शरीर किसके आधार पर टिका हुआ है? इसके उत्तर में वे कहते हैं—'यह शरीर पचमहाभूतो के सयोग से वना हुआ है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत है। शरीर ही आत्मा है। शरीर से भिन्न कोई आत्मा

नही है। वास्तव मे सारा जगत् पञ्चमहाभूतमय है। क्योकि इसमे पृथ्वी कठोरता-कठिनता-गुणवाली है, पानी बहने के स्वभाव वाला तरल है, अग्नि (तेज) उष्ण-स्वभाव वाली है। वायु निरन्तर चलने के स्वभाव वाली है और पोल-स्वरूप आकाश है, जो सवको अवकाश देता है। शरीर भी पञ्चमहाभूतमय है, इससे भिन्न और कोई वस्तु इसमे नही है। 'वातजोगजुत्त भासति' इस पद के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि शरीर से भिन्न कोई चैतन्य नही है। यह पचमहाभूतात्मक शरीर ही प्राणवायु के सयोग से चलता फिरता है और अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है। प्रत्यक्षप्रमाण से यह पचमहाभूतरूप शरीर ही सिद्ध होता है। इसके सिवाय दूसरे किसी पदार्थ की प्रत्यक्ष प्रतीति न होने से उसका अभाव हे। पचमहाभूतो मे जो चैतन्य दिखाई देता है, वह शरीर का आकार धारण किये हुए महाभूतो से उत्पन्न हुआ है। जैसे महुआ आदि मद्य पैदा करने वाले पदार्थों (अगो) के मिलने पर मद्य मे मदशक्ति पैदा हो जाती है, वैसे ही शरीर मे पचमहाभूतो के मिलने पर चैतन्यशक्ति पैदा हो जाती है। जिस प्रकार जल से वुलवुला पैदा होकर उसी के साथ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार शरीर से चैतन्य पैंदा होकर उसी के साथ नष्ट हो जाता है। अत महाभूतो से भिन्न चैतन्य नही है। क्योकि वह उसका कार्य है। कार्य कारण से भिन्न नही रह सकता। जैसे घडा मिट्टी का कार्य है,अत वह मिट्टीरूप कारण से अलग नही रह सकता, वैसे ही चैतन्य भी पचमहाभूतात्मक शरीर का कार्य है, वह इससे भिन्न नही रह सकता। इस अनुमान से चैतन्य पचमहाभूतात्मक शरीर से अभिन्न सिद्ध होता हे।'

नास्तिकवादियो के मत की असत्यता—नास्तिकवादियो का उपर्युक्त कथन असत्य है, क्योकि जिस शरीर को वे पचमहाभूतो से वना हुआ और उसी को ही आत्मा कहते है, तथा चैतन्यशक्ति का भी उमी से पैदा होना मानते हैं, तो जव शरीर निश्चेष्ट (मृत) हो जाता है, तव भी उनके मतानुसार पचमहाभूत और तज्जन्य चैतन्य रहते है, फिर भी वह चलता-फिरता क्यो नही ? देखना, सुना, सूघना, स्पर्श करना, चखना आदि क्रियाएँ वद क्यो हो जाती है ? पचमहाभूतो की मौजूदगी में तो वह वद नही होनी चाहिए ? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मा नामक चेतनाशक्ति का जनक सजीव पदार्थ वहाँ नही रहा , इसलिए शरीर में कोई क्रिया नही होती। इस अनुमान से आत्मा का शरीर से पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है।

दूसरे प्रमाण—मैं सुखी हू, मैं ज्ञानवान हू, मैं मूर्ख हू, इत्यादि अनुभव द्वारा आत्मा स्वय सिद्ध हे। यह अनुभव शरीर को नही होता। अगर शरीर को यह अनुभव होता हो तो मृत शरीर मे पाच महाभूतो के रहते हुए भी क्यो नही होता ? अत मृत शरीर मे सुख, दु ख, ज्ञान आदि आत्मीय गुणो का अभाव ही दिखाई देता है।

जो जिसके गुण होते है, वे उस गुणी के साथ ही रहते है। जैसे मिट्टी के रूप, रस, गन्ध आदि गुण हमेशा मिट्टी के साथ ही रहते है, वैसे ही अगर सुख, दुख, ज्ञान आदि गुण शरीर के होते तो सदा उसके साथ ही रहते। परन्तु मृत शरीर के साथ ये गुण नही रहते। इससे सिद्ध होता है कि ये गुण शरीर के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ के है और वह दूसरा पदार्थ आत्मा ही है।

आत्मा की सिद्धि अनुमान प्रमाण से भी होती है—(१) एक ही माता-पिता से जन्मे हुए पुत्रो मे तीव्र-मन्द बुद्धि, सुख-दुख, धनसम्पन्नता-निर्धनता आदि गुणो का अन्तर दिखाई देता है। ये सब बाते पूर्वजन्मगत शुभाशुभकर्मविशिष्ट आत्मा के माने बिना सिद्ध नही हो सकती। (२) चैतन्य पृथ्वी आदि पचमहाभूतो से उत्पन्न नही हो सकता, क्योंकि वह पचमहाभूतो से भिन्न जाति का है। जो भिन्न जाति का है, वह भिन्न जाति वाले से उत्पन्न नही हो सकता। जैसे—पृथ्वी से भिन्न जाति वाले जलादि उत्पन्न नही हो सकते। वैसे पच महाभूतो से चैतन्य भिन्न जाति का है। अत वह उन पच महाभूतो से उत्पन्न नही हो सकता। यदि भिन्न जाति वाले पदार्थ से भिन्न जाति वाले पदार्थ की उत्पत्ति मानी जायगी तो पृथ्वी से जलादि की, और जलादि से पृथ्वी की उत्पत्ति हो जानी चाहिए, पर ऐसा होता नही। इसलिए चैतन्यशक्तिविशिष्ट आत्मा शरीर से भिन्न पदार्थ है। अन्य अनेक प्रमाणो से आत्मा की सिद्धि की जा सकती है। परन्तु हम ग्रन्थविस्तार के भय से इस विषय को यही समेट लेते है।

इन प्रमाणो से आत्मा की सिद्धि हो जाने पर नास्तिकवादियो के मत की असत्यता स्पष्ट प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त पुनर्जन्म या परलोकगमन तथा इहलोक-आगमन के प्रत्यक्ष प्रमाण भारतवर्ष मे पहले भी और अब भी मिले है। ऐसे कई बालको का पता लगा है, जिन्हे अपने पूर्वजन्म के माता-पिता, पत्नी, घर, पडौसो, लेनदेन आदि सब बातो का स्मृतिज्ञान था, और उनके बताए हुए स्थान पर जा कर पता लगाने पर वे सब बाते सत्य मालूम हुई है। इसके अतिरिक्त अनुमान प्रमाण भी देखिये—जन्म लेते ही बालक को माता के स्तनपान आदि का ज्ञान होता है, वह उस समय तो सिखाया ही नही गया था, न गर्भ मे ही सिखाया गया था। अत वह ज्ञान पूर्वजन्म के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

इस प्रकार नास्तिकवादियो द्वारा जीव के इह-परलोक-गमन के निषेध की असत्यता सिद्ध हो गई।

इसी प्रकार पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मबन्ध तथा उसके सुख-दुखरूप फल के अस्तित्व के विषय मे प्रमाण देखिये—ससारी जीवो मे हम अनेक प्रकार की भिन्नता देखते है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। बिना कारण के कोई भी

कार्य नही होता। एक सुखी हे, एक दु खी हे, एक मदवुद्धि हे, एक तीव्रवुद्धि है। कोई स्वस्थ है,कोई रोगी है,कोई विना परिश्रम किये अपार धनराशि का उपभोक्ता वना हुआ है, दूसरा दिन-रात अथक मेहनत करने पर भी अपना पेट भी नही भर पाता,कोई मन्त्री के पद पर है, और कोई उसी के दफ्तर मे चपरासी हे। ये सव विपमताएँ या विचित्रताएँ नि सदेह पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्मवन्ध को सूचित करती हैं। इसी प्रकार दो सहोदर भाइयो के एक ही धनसम्पन्न घर मे पैदा होने पर भी दोनो के जीवन मे अन्तर दिखाई देता है। एक स्वस्थ व्यक्ति लाभान्तराय कर्म के टूटने से प्राप्त धन और साधनो का भलीभाति उपभोग कर रहा है, दूसरा घर मे धन होते हुए भी चिरकाल से रोगी रहने के कारण धन और साधनो का उपभोग नही कर पाता। एक भाई मदवुद्धि होने के कारण पढाये जाने वाले विपय को तुरन्त समझ नही पाता, जवकि दूसरा भाई तीव्रवुद्धि होने से पढाये जाने वाले विपय को आसानी से ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार के दिखाई देने वाले प्रत्यक्ष फल व उनमे अन्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सव पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म (पुण्य-पाप) के फल है, जिनका वन्ध पूर्वजन्मो मे हुआ है।

इस प्रकार नास्तिकवादियो के द्वारा पुण्यपापकर्मरूप वन्ध एव उनके फल के निपेधरूप कथन की असत्यता स्पप्ट सिद्ध हो चुकी।

पच य खधे भणति केइ—इसके वाद वौद्धमतावलम्वियो की चर्चा करते है। वौद्धमतावलम्वी ५ स्कन्ध मानते हैं—रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार। पृथ्वीजल आदि तथा रूपरस आदि को रूपस्कध कहते है। सुखरूप, दु खरूप तथा दु ख-सुख-उभयरूप जो अनुभव होता है, उसे वेदनास्कन्ध कहते हैं। रूप, रस आदि का जो ज्ञान होता है, उसे विज्ञानस्कन्ध कहते है। सज्ञा के निमित्त से वस्तु का जो भान होता है, उसे सज्ञास्कन्ध कहते ह और पुण्यपाप आदि धर्म-समुदाय को सस्कार-स्कन्ध कहते है। इन पाच स्कन्धो के अलावा आत्मा नाम का कोई पदार्थ प्रत्यक्ष नही दिखाई देता।

मण च मणजीविका वदति—वौद्धो मे सौत्रान्तिक, वैभापिक, माध्यमिक और योगाचार—ये ४ दार्शनिक मत है। इन चारो मे से एक मत वाले इन पूर्वोक्त ५ स्कन्धो के अतिरिक्त मन को और मानते है, और कहते ह—यह मन ही रूपादि के ज्ञान का उपादान कारण है। इसी मन के आधार पर वे परलोक मानते हैं। उनके मत से मन ही जीव है। मन के अतिरिक्त जीव का कोई अलग अस्तित्व नही है। इसीलिए वे मनोजीव या मनोजीविका कहलाते है।

वौद्धमत की असत्यता—वोद्धो के इन दोनो मतो की असत्यता तो आत्मा की

सिद्धि के लिए पहले दिये गए प्रमाणों से स्पष्ट हो जाती है। इस विषय में विशेष स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

जो बौद्ध मन को ही जीव मानते हैं, उनके मत से परलोकगमन सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि मन का तो शरीर के साथ ही नाश हो जाता है, फिर परलोक मे कौन जाएगा ? यदि यह कहा जाय कि सूक्ष्म मन संतान परलोक मे जाती है तो प्रश्न उठेगा कि वह मन संतान नित्य है या क्षणिक ? यदि क्षणिक है तो वही पूर्वोक्त दोष (परलोकगमन की असिद्धि) अब भी बना रहा। यदि कहें कि मन संतान नित्य है तो उनके मतानुसार 'सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं' यह प्रतिज्ञा भग होती है। और फिर आत्मा और नित्य मन मे कोई अन्तर नहीं रहा। आपने केवल नाम दूसरा रख लिया, इतना ही अन्तर हुआ। इस प्रकार 'मन ही जीव है' इस मत की असत्यता समझ लेनी चाहिए।

वाउ जीवोत्ति एवमाहसु—कई दार्शनिको का कहना है कि श्वासोच्छ्वास की वायु (प्राणवायु) ही जीव है। जब तक श्वास चलता रहता है, तब तक जीवन है और जब श्वास बद हो जाता है, तब मृत्यु हो जाती है। इसके सिवाय परलोक मे जाने वाला कोई आत्मा नहीं है।

यह मत भी असत्यपूर्ण है, क्योकि श्वासादि वायु जड है और आत्मा चैतन्यस्वरूप है। जड वायु को चैतन्यगुण वाला आत्मा कैसे माना जा सकता है ? इसके सिवाय श्वास व उच्छ्वास दोनो शरीर के साथ रहने वाले है। शरीर के नाश होने के साथ ही इनका नाश हो जाता है। बल्कि कई बार तो शरीर के नष्ट होने से पहले ही ये बद हो जाते है। शरीर के नष्ट होने से पहले जब श्वासोच्छ्वास चलना बद हो जाता है तो उस समय ऑक्सिजन (प्राणवायु) नाक मे चढाया जाता है, फिर भी उस प्राणवायु—(श्वासवायु) से मनुष्य जीवित नहीं होता। अत श्वासोच्छ्वासवायु को जोव मानने का कथन असत्य सिद्ध हो जाता है।

सरीर सादिय सनिधण सव्वनासोत्ति कई दार्शनिको का यह कथन है कि शरीर आदिमान है, क्योकि यह उत्पन्न होता है। जो-जो उत्पन्न होते है वे सब पदार्थ सादि होते है, जैसे घटपटादि। शरीर भी उत्पन्न होता है, इसलिए सादि है। जिसकी आदि है, उसका अन्त भी होता है। शरीर सादि है, इसलिए इसका नाश भी होता हम देखते हैं। शरीर नाशवान होने से वह परलोक मे साथ नहीं जाता। इसलिए विविध प्रकार से शरीर के यही इसी जन्म मे नष्ट होते ही सभी चीजो का यही नाश हो जाता है। मतलब यह यह है कि शरीर जब यही नष्ट हो जाता है तो वह परलोक मे नहीं जाता और न ही शुभाशुभ कर्मबन्ध कुछ शेप रहे और न उनका फल

भोगना वाकी रहा। शरीर के खत्म होते ही पुण्य-पापकर्म का वन्ध और उनका शुभाशुभ फल भी यही समाप्त हो गए ! कितनी विचित्र मान्यता है !

इस मत की असत्यता—अगर शरीर यही नष्ट हो जाता हो और उसके साथ ही पुण्यपाप कर्म और उनके फल नष्ट हो जाते हो, तव तो किसी को भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना करने की जरूरत ही नही और न अहिंसा-सत्यादि का पालन करने की ही जरूरत है ! फिर तो वेखटके मनमानी प्रवृत्ति ही मनुष्य करे ? परन्तु यह मत अनेक प्रमाणो से खण्डित हो जाता है। हम पहले शरीर से भिन्न अनुगामी नित्य आत्मा की एव पुर्वजन्म, तथा पुण्यपाप के फल की वाते अनेक प्रमाणो से सिद्ध कर आए हैं, अत उन्ही पर से इस मत की असत्यता समझ लेनी चाहिए।

तम्हा दाणवय नत्थि फल वामलोगवादी—इन्ही पूर्वोक्त दार्शनिको का यह घोर नास्तिकवादी मत हे कि "दान, व्रत, तप, पौपध, सयम, ब्रह्मचर्य आदि अर्थात् कल्याण के हेतु त्रिकरण-त्रियोग से ज्ञान-दर्शनचारित्रादि का आचरण करने पर भी उनका कोई सुफल कर्मक्षयरूप या सुगतिगमनादिरूप नही है। तथा प्राणातिपात, मृपावाद, चोरी, परस्त्रीगमन, परिग्रहसेवन तथा अन्य कोई भी पापकर्म अशुभ फल के हेतु नही ह, ये सव कपोलकल्पित ह। नारको, तिर्यञ्चो व मनुष्यो की योनियाँ या देवलोक नही है, सिद्धि (मोक्ष) गमन भी नही है। माता-पिता भी नही होते। न पुरुपार्थ है, न प्रत्याख्यान है, न काल हे, न मौत है, न अरिहतो, चक्रवर्तियो, वलदेवो या वासुदेवो का कोई नामोनिशान ह, न ही किन्ही ऋपि-मुनियो का अस्तित्व हे, धर्माधर्म का फल भी थोडा या वहुत कुछ भी नही है। इसलिए ऐसा जान कर इन्द्रियो के अनुकूल तमाम विपयो मे खूव डट कर प्रवृत्ति करो। कोई भी शुभ क्रिया या निन्दनीय अक्रिया नही हे। लोक का विपरीतस्वरूप वताने वाले नास्तिकवादी इस प्रकार कहते हैं।

नास्तिकवादी अपने मत का समर्थन इस आधार पर करते है—कि दान, ब्रह्मचर्य आदि सव कल्याणकारी धर्म के अग तो आस्तिको ने माने ह, हम तो उन्हे नही मानते। इनके मानने मे कोई प्रमाण भी नही है। जो आस्तिको द्वारा प्रमाण दिये जाते ह, उन सव मे परस्पर विरोध हे। इसलिए प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव मे सव अप्रमाण हैं।

अपने मत की पुष्टि करते हुए वे आगे कहते हैं—**जपि इह किंचि दीसइ सुकय वा दुकय वा एय जदिच्छाए वा सहावेण वावि दइवतप्पभावओ वावि भवति। नत्थेथ किंचि कयक तत्त लक्खणविहाण नियतीए कारिय।**" अर्थात् इस जीव लोक मे जो भी सुकृत या दुष्कृत दिखाई देता है, वह अपने-आप ही (यदृच्छा से) होता ह, या स्वभाव से होता है, अथवा कभी-कभी दैव के प्रभाव से होता। इस ससार मे कोई भी

चीज किसी के द्वारा रचित नही है, पदार्थों के जो भी स्वरूप या प्रकार है, वे सब नियति के द्वारा किए गए है।

जैसाकि उन्होंने पहले कहा था कि तप, जप, सयम आदि या पुरुषार्थ, प्रत्याख्यान आदि कुछ भी नही है। जब कोई उनसे पूछता है कि यह जो पुरुषार्थ, त्याग, प्रत्याख्यान आदि किए जाते है, वे क्या है? तो वे कहते है—इस ससार में जो कुछ होता है, वह अपने आप है, अपनी इच्छा से होता चला जाता है। अथवा यह सब पदार्थों के अपने-अपने स्वभाव के अनुसार होता चला जाता है। कोई इनको करता-कराता नही है। अथवा अपने-अपने समय के अनुसार सब होता चला जाता है।

कहा भी है—

कण्टकस्य प्रतीक्ष्णत्व मयूरस्य विचित्रता।
वर्णाश्च ताम्रचूडाना स्वभावेन भवन्ति हि॥

अर्थात्—काटे मे तीखापन, मोर का रगबिरगा चित्रित शरीर, मुर्गों के शरीर पर अनेक रग, ये सब स्वभाव से होते है।

इसी प्रकार जो पुरुषार्थ, त्याग या पुण्य-पाप के फल है, वे भी स्वभाव से ही होते चले जाते है। अथवा दैव के प्रभाव से भी कभी-कभी ये सब दिखाई देते हैं। यदि कोई उनसे पूछे कि सुखी-दु खी, धनी-निर्धन आदि जो विचित्रताएँ या विविधताएँ ससार के जीवो मे दिखाई देती है, ये किस कारण से है? दैव या स्वभाव से अगर ये होते हो तो सभी मनुष्यो के एक सरीखे होने चाहिए, जैसे मोर आदि सब मे एक सरीखे डिजाइन, आकृति व रग होते है, फिर मनुष्यो के जीवन मे यह अन्तर क्यो? इसके उत्तर के लिए वे नियति का पल्ला पकड लेते है कि जो सुख-दु ख या धनी-निर्धन आदि विविधताएँ दिखाई देती है, वे सब नियतिकृत है, होनहार से या भवितव्यता से ही होती है। कहा भी है—

"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थ,
सोऽवश्य भवति नृणा शुभोऽशुभो वा।
भूताना महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्य भवति, न भाविनोऽस्ति नाश॥"

मनुष्यो को नियति (भवितव्यता—होनहार) के बल पर जो शुभ या अशुभ पदार्थ मिलना होता है, वह अवश्य ही मिल कर रहता है। प्राणियो के जीतोड प्रयत्न करने पर भी जो बात नही होनी होती है, वह कदापि नही होती और जो होने वाली होती है, उसका कभी नाश नही होता। यानी उसे कोई रोक नही सकता, वह हो कर ही रहती है।

इस दृष्टि से पुरुषार्थ, त्याग, प्रत्याख्यान आदि या चोरी, जारी आदि जो होने

होते है, वे हो कर ही रहते हे। नियति अपने आप चलती हे, उस पर किसी का प्रतिबन्ध नही। जब नियति के प्रभाव से ससार मे तथाकथित शुभ या अशुभ कार्य होते है, तब फलाफल की बात ही क्यो? किसी अच्छी-बुरी क्रिया का स्वयमेव कोई अस्तित्व ही नही हे, तो उसके फलाफल देने की तो बात ही नही उठती। और न उनके फल को भोगने के लिए कोई परलोक मे जाता हे और न यहाँ आता हे। न तथाकथित पाप-पुण्य कर्मो का फल किसी को मिलता हे। न कोई तथाकथित पुण्य के फलस्वरूप तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव या वासुदेव बनते हे और न कोई ऋषि—मुनि ही होते है। यह सब आस्तिको की अपनी कल्पनामात्र है। जैसा होनहार होता है, वैसा ही मनुष्य हो जाता है। माता-पिता का विशेष सम्बन्ध भी झूठा और कल्पित हे। यह सृष्टि स्वभावत बढती जाती है। एक प्राणी से अपने समान दूसरा प्राणी उत्पन्न होता है। उन दोनो का सम्बन्ध माता-पिता एव सन्तान का न हो कर सिर्फ जन्यजनकसम्बन्ध हैं। और यह सम्बन्ध चेतन और अचेतन दोनो मे हम समानरूप से देखते हे। जैसे सचेतन मनुष्यादि के सम्बन्ध से सचेतन जुंए, खटमल आदि पैदा हो जाते हे, वैसे ही उनसे अचेतन मलमूत्र आदि भी उत्पन्न होते है और अचेतन काठ से घुन, कीडे आदि सचेतन पदार्थ जन्म लेते है। उसी प्रकार अचेतन बुरादा (चूर्ण) आदि भी उससे पैदा होता है। इसलिए पदार्थो का केवल जन्यजनकभाव सम्बन्ध है, मातृत्व-पितृत्व और पुत्र-पुत्रीत्व आदि कोई विशिष्ट सम्बन्ध नही हे। इसलिए माता-पिता कहे जाने वाले व्यक्तियो का अपमान, भोग या विनाश आदि करने मे कोई दोष नही है। नास्तिकवादी आगे कहते है कि 'लोग धर्मप्राप्ति के लिए त्याग, प्रत्याख्यान या अहिंसादि का पालन करते ह, परन्तु जब धर्म ही सिद्ध नही होता तो त्याग आदि का व्यर्थ कष्ट सहना आकाश मे फूल लगाकर उसकी सुगन्ध लेने की आशा के समान निष्फल है। जब दान, परोपकार आदि पुण्य या त्याग, प्रत्याख्यान, अहिंसा-सत्यादि धर्म अथवा इनसे विपरीत चोरी, जुआ, परस्त्रीगमन आदि पाप और मिथ्याभाषण आदि अधर्म ही सिद्ध नही है तो उनके फल के चक्कर मे भी पडना व्यर्थ है। जब पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म आदि भी है नही, तो इनका फल कहाँ से मिल जाएगा?'

इसी तरह वे कहते हैं कि काल नाम की कोई चीज नही है। अगर काल नामक कोई द्रव्य हो तो वह उपलब्ध होता। परन्तु जब उनके सामने यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि अगर काल न होता तो वसन्तऋतु आने पर पतझड हो कर जो नये पत्ते और फूल आदि निकल आते है, वर्षाऋतु आते ही जो वर्षा शुरू हो जाती है, ग्रीष्मऋतु मे जो भूमि, हवा आदि गर्म होकर सारा वातावरण उष्णता से व्याप्त होता है, शीतऋतु आते ही सर्वत्र शीतलहरी जो चल पडती है, प्राणी ठड के मारे ठिठुरने लगते हैं, यह सब क्या है? क्या काल के बिना यह सब हो सकता है? इसके उत्तर

मे वे कहते है—यह सब उन वस्तुओ का स्वभाव ही है। वस्तुस्वभाव के अतिरिक्त काल नाम की कोई चीज नही दिखाई देता ।

इसी प्रकार मृत्यु भी कोई चीज नही है । चूकि आस्तिक लोग परलोकगमन को मृत्यु कहते है । जब जीव ही नही है, तब परलोक मे गमन किसका होगा ? किसकी मृत्यु होगी ? और परलोक का भी तो कोई अतापता नही है । इसलिए मृत्यु भी सिद्ध नही होती ।

अथवा 'कालमच्चू' का एक शब्द माना जाय तो अर्थ है—कालक्रम से आयुष्य का क्षय हो जाने पर जो मृत्यु होती है, वह कालमृत्यु है । ऐसी कालमृत्यु भी तब सिद्ध हो, जब पहले आयुकर्म सिद्ध हो जाय । जब आयुष्यकर्म का ही पहले पता नही है तब क्षय किसका माना जाय ? अत कालमृत्यु भी कोई चीज नही है ।

उन नास्तिकवादियो से जब यह पूछा जाता है कि जब ये सब चीजे नही हैं, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म, जीव, काल, मृत्यु, पुनर्जन्म, स्वर्ग,नरक, मोक्ष, त्याग, प्रत्याख्यान आदि सब बातो का कोई अस्तित्व नही है तो फिर क्या किया जाय, जिससे जीवन सुखी रहे ? इसके उत्तर मे वे इन्द्रियो एव विषयो के गुलाम नास्तिकवादी कहते हैं—'**तम्हा एव विजाणिऊण जहा सुबहु इ दियाणुकुलेसु सव्वविसएसु वट्टह**' यानी पूर्वोक्त सब बाते अस्तित्वहीन है, यह जान कर इन्द्रियानुकूल सभी विषयो मे खूब अच्छी तरह प्रवृत्ति करो । चार्वाकदर्शनकार की भाषा मे इसी बात को स्पष्ट कर देते है—

> **'यावज्जीवेत् सुख जीवेत्, ऋण कृत्वा घृत पिवेत् ।**
> **भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुत ॥'**

'जब तक जीओ सुख से जीओ,पास मे पैसा न हो तो कर्ज ले कर भी घी पीओ। यानी खाओ, पीओ, मौज उडाओ । शरीर के निर्जीव होते ही यह जला दिया जायगा । शरीर के साथ ही आत्मा भी यही जल जायगी । फिर न कही जाना है और न कही से वापिस आना ही है । राख बने हुए शरीर का फिर लौट कर इस शरीर मे जन्म लेना कैसे सभव है ? आस्तिक लोगो ने पुण्य-पाप, स्वर्गनरक की व्यर्थ की कल्पना करके ससार को दु ख मे डाल रखा है । सुख का राजमार्ग तो यही है ! अतएव किसी धर्मभीरु नारी को सम्बोधित करते हुए वे अपनी मनमानी कल्पना के अनुसार कहते हैं—

> **'पिब खाद च चारुलोचने !, यदतीत वरगात्रि ! तन्न ते ।**
> **नहि भीरु ! गत निवर्तते, समुदयमात्रमिद कलेवरम् ॥"**

अर्थात्—हे सुनयने ! खूब अच्छी तरह से खाओ, पीओ और आनन्द करो, हे सुन्दरि ! जो कुछ वीत गया, वह तेरे हाथ से निकल गया । जो चला गया वह

लौट कर नही आता ! अरी ! धर्मभीरु ! डर मत। यह शरीर तो सिर्फ पचभूतो का पुतला ह। इसके सिवाय आत्मा नाम की कोई चीज नही हे। न नरक हे, न स्वर्ग है, न कही जाना हैं, न आना ह। फिर चिन्ता और भीति किस वात की ?

नास्तिकवादियो के मत की असत्यता—सर्वप्रथम तो नास्तिकवादियो की दानादि पुण्यकर्म और अहिंसादि या त्याग प्रत्याख्यान वगैरह धर्म के अभाव की कल्पना ही निर्मूल ह। क्योकि ससार की या समाज की सुव्यवस्था, मानवसमाज के विकास, सुसस्कारो की वृद्धि आदि के लिए तथा अपने जीवन को भौतिकता से ऊपर उठा कर आध्यात्मिकता की भूमिका पर लाने के लिए इन सव वस्तुओ को माने विना कोई चारा नहीं। धर्म, ईश्वर को न मानने वाले वर्तमानकालिक साम्यवादी भी राप्ट्र की सुव्यवस्था के लिए धर्म-पुण्य के उपर्युक्त सव अगो का जनता मे होना अनिवार्य मानते ह। जैसे शासनव्यवस्था मे दण्ड की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, उसके विना अराजकता और आपाधापी ही फैलती है, जो सारी सृप्टि या राप्ट्र की सुव्यवस्था के लिए खतरनाक हे। वैसे ही धार्मिक जगत् मे भी अगर सवको चोरी, व्यभिचार आदि पापो के करने की छूट दे दी जाय और उसका कोई भी दण्ड न मिले तो मनुप्य दानव, राक्षस और पशु वन जायगा। समाज मे किसी प्रकार की सुव्यवस्था नहीं रहेगी। इसलिए यहाँ भी दण्डव्यवस्था जरूरी है। वह भयकर पापकर्म करने वालो के लिए नरक-तिर्यञ्च-योनि मे गमन के रूप मे है। और अच्छे कार्य करने वालो को पारितोपिक के रूप मे स्वर्ग या मनुप्यलोक की प्राप्ति है। जो नि स्वार्थभाव से आत्मशुद्धि के लिए त्याग, तप, सयम आदि का पालन करता है, वह सम्पूर्ण कर्मक्षय हो जाने पर सिद्धगति भी पाता है, यह केवल कपोल-कल्पना नही, किन्तु एक अनिवार्य और ज्वलन्त तथ्य हे। इसलिए त्याग-तप आदि तथा पुण्य-पाप, धर्माधर्म के फल, चार गतियो मे गमन, मोक्ष आदि तथ्यो को झुठलाया नही जा सकता।

त्याग, तपस्या का फल इस लोक मे मानव की प्रतिप्ठा, प्रशसा, पूजनीयता तथा शारीरिक व मानसिक शान्ति के रूप मे प्रत्यक्ष सिद्ध है। त्यागी महात्माओ के चरणो मे राजा, महाराजा और चक्रवर्ती आदि भी नतमस्तक होते ह और अपने को धन्य मानते है। परलोक मे जाते समय भी त्यागी आत्मा के चेहरे पर प्रसन्नता होती हे, और वहाँ भी अपने त्याग-तप का वह फल प्राप्त करता है। किन्तु जो व्यक्ति हिंसा, असत्य आदि पापाचरण मे रत रहता हे, उसकी आत्मा यहाँ भी सदा सक्लिष्ट रहती है, समाज मे भी वह निन्दित और घृणित होता है, उसे हिकारतभरी दृप्टि से देखा जाता है। पापकर्मी और विपयो मे आसक्त मनुप्य की इस लोक मे कोई प्रशसा या प्रतिष्ठा

नही करता । मरते समय भी उसके चहरे पर अप्रसन्नता होगी, वह हायतोबा मचाते हुए इस दुनिया से कूच करेगा और आगे भी अपने दुष्कर्मों के अनुसार कुगति और कुयोनि मे जन्म पा कर नाना प्रकार के दुःख भोगेगा। इसलिए प्रत्याख्यान, त्याग तप आदि तथा उनके फलस्वरूप देवलोक, मनुष्यलोक या सिद्धगति आदि के विषय मे नास्तिकों की असत्यवादिता स्पष्टत सिद्ध हो जाती है। सुक्रिया और दुष्क्रिया प्रत्यक्ष दिखाई देती है, "आत्मन प्रतिकूलानि परेषान समाचरेत्' (जो अपने प्रतिकूल हो उसे दूसरो के प्रति भी न करो) इस न्याय के अनुसार व्यक्ति स्वयमेव इन दोनो का निणय कर सकता है ।

नास्तिकवादियो का माता-पिता, ऋषिमुनि तथा अरिहन्त आदि का निषेध करना भी मिथ्या है। माता-पिता के साथ सतान का जन्यजनकभाव सम्बन्ध तो आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होने पर स्वत सिद्ध हो जाता है। इस सम्बन्ध के अलावा वे व्यवहार दृष्टि से पूजनीय भी सिद्ध होते है। जैसे कीचड से कमल और मेढक की उत्पत्ति समान होने पर भी कमल आदरणीय समझा जाता है, वैसे ही माता-पिता सतान के अत्यन्त उपकारी होने से लोकपक्ष मे पूजनीय माने जाते है। अगर नास्तिकवादी माता-पिता को न मानते तो उनकी दशा जगली पशुओं से भी गईबीती होती। इतने सुसस्कार, विद्या और कलाएँ या विकास के साधन,जो नास्तिको को मिले हैं, वे कहाँ से मिलते ? इसी प्रकार जगत् के लिए उपकारी होने से ऋषि-मुनि और अरिहत भी पूजनीय माने जाते हैं। जगत् पारस्परिक विनिमय के आधार पर चलता है, किन्तु साधुता—त्यागशीलता के आधार पर वह विकसित होता है। इसलिए जगत् मे साधु-सतो या तीर्थंकरो के मार्गदर्शन की और उनसे धर्म-अधर्म के फल की प्रेरणा की आवश्यकता रहने से उनका अस्तित्व तो स्वत ही सिद्ध है। चक्रवर्ती आदि राज्यशासन के नेताओ की भी ससार मे आवश्यकता रहेगी ही। अगर राजा, चक्रवर्ती आदि का अस्तित्व नही माना जाएगा तो राष्ट्रव्यवस्था मे गडबड पैदा होगी, अराजकता फैल जायगी। जो मनुष्य नीति-धर्म के नियमो का उल्लघन करके राष्ट्रीय कानूनो को तोडते हैं, दुर्बलो पर अत्याचार करते है, लूटपाट, चोरी, हत्या आदि कुकर्म करते है, उनको दण्ड देने वाला कोई नही रहेगा, तो सर्वत्र आपाधापी मच जायगी। इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए राज्यशासनकर्ता की अत्यन्त आवश्यकता है। यह एक तथ्य है। यह बात दूसरी है कि लोकतत्रीय व्यवस्था मे चक्रवर्ती राजा आदि की जरूरत न रहती हो, परन्तु शासक की तो जरूरत हर देश और हर काल मे रहेगी ही, भले ही वे मत्री, प्रधानमत्री या राष्ट्रपति के रूप मे हो। इसलिए तमोगुणी तत्त्वो के दमन के लिए व व्यवस्था के लिए राज्यशासन के नेता के अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता। आगमप्रमाण से तो अरिहत, चक्रवर्ती, बलदेव,

नियतिवादियों की असत्यता—नियतिवादियों का यह कथन भी मिथ्या है कि सभी कार्य नियति-होनहार के वश से होते हैं, पुरुषार्थ करना निष्फल है। यदि मनुष्य होनहार के भरोसे हाथ पर हाथ धर कर बैठा रहे तो वह भूखों मर जायगा। पुरुषार्थ से ही सब काम सिद्ध होते हैं। किसान समय पर भूमि को जोते नहीं एव बीज नही बोए तो क्या उसे नियति अनाज दे देगी? कदापि नही देगी। उद्योगी विद्यार्थी अध्ययन करके प्रखर विद्वान् बन जाते है, जबकि होनहार के भरोसे आलसी बन कर बैठे रहने वाले मूर्ख ही रहते है। इसलिए पुरुषार्थ का परिणाम तो सर्वत्र प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, दिखाई दे रहा है, अत इसे निष्फल बताना मिथ्या है।

काल और मृत्यु का निषेध भी असत्यकथन है—काल और मृत्यु दोनो कुछ नही है, इस प्रकार का नास्तिकवादियो का कथन भी असत्यप्रलाप है। क्योंकि काल और मृत्यु दोनो प्रमाण से सिद्ध होते हैं। ससार मे जितने भी कार्य होते है, उनके उपादानकारण के सिवाय प्रधान और अप्रधान दो निमित्तकारण भी होते है। जैसे घडे का प्रधान निमित्तकारण कुम्हार और अप्रधान निमित्तिकारण मिट्टी ढोने वाला गधा आदि है, वैसे ही सतानोत्पत्ति मे प्रधान निमित्तकारण स्त्री-पुरुष-सयोग होने पर भी अप्रधान निमित्तकारण काल की अपेक्षा रहती है। कई वनस्पतियो को जल आदि का निमित्त मिलने पर भी ऊगने और फलने-फूलने के लिए काल की अपेक्षा रहती है। अत सिद्ध हुआ कि काल एक स्वतत्र द्रव्य है। बालक, युवक, वृद्ध आदि अवस्थाएँ भी कालकृत ही है। नूतन और पुरातन पर्यायो की सिद्धि भी काल को माने बिना नही हो सकती। ऋतुओ का अपने-अपने समय पर ही कार्य करना काल-

कृत ही है। काल की सिद्धि के लिए ज्वलन्त प्रमाण यह है कि किसी भी द्रव्य की पर्यायें उस द्रव्य को छोड़कर नहीं रह सकती। मिनट, घड़ी, पहर, घण्टा, दिन, रात आदि काल की पर्यायें हैं, इसलिए उन पर्यायों का धारण करने वाला काल भी उनके साथ ही रहेगा। इस प्रकार कालद्रव्य के बारे में नास्तिकों का निषेधात्मक कथन असत्य सिद्ध होता है। मृत्यु भी आयुष्यकर्म से सम्बन्धित है। आयुकर्म का प्रतिसमय क्षय होता रहता है। जब पूर्ण क्षय हो जाता है, तभी मृत्यु हो जाती है। इसलिए, मृत्यु तो प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु है, उसका अपलाप करना मिथ्या है।

जगत् की रचना के सम्बन्ध मे विविध दार्शनिकों के मत—जगत् की उत्पत्ति या रचना के सम्बन्ध म भी अनेक मत हैं। सर्वप्रथम शास्त्रकार पौराणिक मत का उल्लेख करते है—'सभूतो अडकाओ लोगो'—यानी 'यह सम्पूर्ण लोक अडे से उत्पन्न हुआ है।' 'ब्रह्माण्डपुराण' मे कहा है कि पहले जगत् पचमहाभूतो (पृथ्वी आदि) से रहित था। वह एक गभीर महासमुद्ररूप था, इसमे केवल जल ही जल था। उसमे एक विशाल अडा प्रादुर्भूत हुआ। चिरकाल तक वह अडा लहरो मे इधर-उधर बहता रहा। फिर वह फूटा। फूटने पर उसके दो टुकडे हुए। एक टुकडे से भूमि और दूसरे से आकाश बना। बाद मे उसमे से सुर (देव), असुर (दानव), मनुष्य, चौपाये पशु-पक्षी आदि सम्पूर्ण जगत् पैदा हुआ। इस प्रकार उस अडे से बना हुआ ही यह जगत् (लोक) है।

सयभुणा सय च निम्मिओ—दूसरे पौराणिको का मत है कि यह जगत् स्वय ब्रह्माजी ने बनाया है। उनका मत इस प्रकार है—

आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेय प्रसुप्तमिव सर्वत ॥१॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते नष्टस्थावरजगमे।
नष्टामरनरे चैव, प्रनष्टे राक्षसोरगे ॥२॥
केवल गह्वरीभूते महाभूतविवर्जिते।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र शयानस्तप्यते तप ॥३॥
तत्र तस्य शयानस्य, नाभे पद्म विनिर्गतम्।
तरुणार्कबिम्बनिभ, हृद्य काचन-कर्णिकम् ॥४॥
तस्मिन् पद्मे भगवान् दण्डयज्ञोपवीतसयुक्त।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्नस्तेन जगन्मातर सृष्टा ॥५॥
अदिति सुरसधाना, दितिरसुराणा, मनुर्मनुष्याणाम्।
विनता विहगमाना, माता विश्वप्रकाराणाम् ॥६॥
कद्रु सरीसृपाना, सुलसा माता च नागजातीनाम्।
सुरभिश्चतुष्पदानामिला पुन सर्वबीजानाम् ॥७॥

अर्थात्—"पहले यह जगत् घोर अन्धकारमय था। विल्कुल अज्ञात, अलक्षण, अतर्क्य तथा अविज्ञेय था। मानो वह सर्वथा सोया हुआ था। वह केवल एक समुद्र के रूप मे था। उसमे स्थावर, जगम, देव, मानव, दानव, उरग, भुजग आदि कोई भी नही था, सव के सव प्राणी नष्ट हो गए थे। पृथ्वी आदि महाभूत तथा पर्वत, वृक्ष आदि से वह ससार रहित था। वह केवल गह्वररूप था। वहाँ मन से भी अचिन्त्य विष्णु सोये हुए तपस्या कर रहे थे। वहाँ सोये हुए विष्णु की नाभि से एक कमल निकला। जो तरुण सूर्यविम्व के समान तेजस्वी, मनोहर और सोने की कर्णिका वाला था। उस कमल मे से दण्ड और यज्ञोपवीत से युक्त भगवान् व्रह्म उत्पन्न हुए, जिन्होने ८ जगदम्वाएँ (जगत् की माताएँ) वनाई—दिति, अदिति, मनु, विनता, कद्रु, सुलसा, सुरभि और इला। दिति ने दैत्यो को, अदिति ने देवगणो को, मनु ने मनुष्यो को, विनता ने समस्त प्रकार के पक्षियो को, कद्रु ने मरीसृपो (सव सर्पो) को,सुलसा ने नागजातियो को, सुरभि ने चौपायो को और इला ने समस्त वीजो को उत्पन्न किया।"

दोनो पौराणिक मतो की असत्यता—(१) अडे से जगत् की उत्पत्ति वताने वालो से पूछा जाय कि कि जव जगत् पचमहाभूतो से रहित था,जव उसमे कोई भी चीज नही थी, तव अडा कहाँ से आया ? और पानी भी कहाँ से आया ? यदि यह कहे कि अडा और पानी पहले से थे और उनके सिवाय वहाँ और कोई चीज नही थी, तो भूमि और आकाश ये दो महाभूत कहाँ से टपक पडे ? और वाद मे आपके ही मतानुसार पचमहाभूतो के अभाव मे देव, दानव, मानव और पशु-पक्षी कहाँ से पैदा हो गए ? अत ये सव उटपटाग कल्पनाएँ प्रमाणवाधित होने से असत्य है। (२) विष्णु द्वारा सृष्टिरचना मानने वालो से पुछा जाय कि सृष्टि रचने से पहले जव कुछ भी नही था, तो विष्णु कहाँ रहे ? यदि कहे कि जल था, तो प्रश्न होता है—जल को किसने वनाया ? यदि कहे कि उसे किसी ने नही वनाया, स्वयमेव अनादिकाल से निर्मित है, तव पृथ्वी आदि पदार्थों को भी अनादिकाल से स्वयनिर्मित क्यो न मान लिया जाय ? विष्णु ने तपस्या की इससे सिद्ध होता है कि विष्णु भी कर्मविशिष्ट थे, शक्तिहीन थे। इसलिए कर्मक्षय करने के लिए एव शक्तिसम्पादन करने के लिए उन्होने तप किया। इस प्रकार विष्णु भी हमारे ही समान कर्मविशिष्ट, अल्पज्ञ और असमर्थ सिद्ध होते है।

कोई भी वस्तु केवल इच्छा करने से या ज्ञानमात्र से नही उत्पन्न हो जाती, उसके लिए पुरुपार्थ की आवश्यकता प्रतीत होती है। थोडी देर के लिए हम यो मान लें कि विष्णु मे इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न तीनो सृष्टिरचना के लिए थे, तो भी उपादानकारण के विना कार्य कदापि नही हो सकता। प्रत्येक वस्तु का उपादान कारण पहले सिद्ध होना चाहिए। जव विष्णु ने व्रह्मा को पैदा किया और व्रह्मा ने

आठ माताएँ बनाई तथा उन माताओ ने देव,दानव आदि को जन्म दिया, तव विष्णु, ब्रह्मा आदि ने क्या उनके शरीर और आत्मा दोनो को पैदा किया या केवल शरीर को ही ? यदि आत्मा को पैदा किया तो उसका उपादानकारण कौन था ? यदि कहे कि उनकी आत्माएँ तो पहले से ही थी तो प्रश्न होता है, उन आत्माओ को किसने वनाया ? इत्यादिरूप से उत्तरोत्तर इसी प्रकार प्रश्नो की झडी एक के वाद एक लगी रहेगी, अत इसमे अनवस्थादोष उपस्थित होगा। यदि कहे कि विष्णु, ब्रह्मा आदि ने तो सिर्फ उनके शरीर को ही वनाया, उनकी आत्माएँ तो अनादिकाल से थी, तव हम पूछते है कि उन आत्माओ के साथ कर्म लगे हुए थे या नही ? यदि कहे कि कर्म लगे हुए नही थे, वे तो विलकुल शुद्ध, कर्मरहित थी, तव तो उनके साथ कर्म लगा कर उन्हे अशुद्ध करके ससार मे विविध योनियो मे जन्म देने वाले विष्णु, ब्रह्मा आदि दयालु कैसे हो सकते है ? दूसरो को घोर सकट मे डालने वाले दयालु, पूज्य और महान् भी कैसे हो सकते है ?

दूसरा प्रश्न इस सम्वन्ध मे यह होता है कि विष्णु ने सृष्टिरचना क्यो की ? स्वभाववश की ? क्रीडावश की ? इच्छावश की ? या दयालुता से प्रेरित हो कर की ?

यदि स्वभाववश सृष्टिरचना माने तो यह यथार्थ नही है। क्योकि स्वभाव से जो कार्य होता है, वह सदा होता है, एकसरीखा होता है। जैसे अग्नि स्वभाव से ही दाह उत्पन्न करती है, जव तक अग्नि रहेगी, तव तक दाह उत्पन्न करती रहेगी। इसी प्रकार विष्णु को भी सदा सतत ब्रह्मा आदि की एक-सी उत्पत्ति करते रहना चाहिए। परन्तु ऐसा आप नही मानते। विष्णु तो ब्रह्मा को पैदा करके शान्त हो गए। अत स्वभाव से सृष्टिरचना मानना ठीक नही। यदि क्रीडावशात् विष्णु ब्रह्मा आदि को वनाते हैं तो क्रीडा तो क्षुद्र प्राणी किया करते है। विष्णु तो परमात्मा और आनन्दमय माने जाते है, उन्हे क्रीडा करने की आवश्यकता ही क्यो पडी ? यदि वे अपनी इच्छावश जगत् की रचना करते है तो इच्छा तो कर्मविशिष्ट अज्ञ जीव मे होती है, क्योकि इच्छा कर्म का कार्य है। विना कर्मोदय के इच्छा नही होती। इच्छा मान भी ले तो उसकी वह इच्छा नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो उसका कार्य भी नित्य निरन्तर होता रहेगा, कभी उस कार्य मे विराम नही होगा। यदि अनित्य है तो उसका कौन-सा कारण है ? कर्म कारण है या अन्य कोई कारण ? कर्म के सिवाय और कोई कारण हो नही सकता। क्योकि अन्य कोई वस्तु विष्णु के सिवा सृष्टि के आदि मे नही थी। कर्म को कारण मानने पर विष्णु कर्मविशिष्ट सिद्ध होगा। इस प्रकार के पूर्वोक्त दूषण उपस्थित होगे। यदि दयालुता से प्रेरित हो कर विष्णु सृष्टि वनाते है, तव तो यह कथन भी उपहास का विषय होगा। सृष्टि से पहले जव कोई प्राणी था ही नही, तव दया किस पर की गई ?

'पयपति पयावइणा इस्सरेण य कयति केइ'—इसी पश्चात् शास्त्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववाद का उल्लेख करते हैं कि कई प्रवादियों का कहना है—यह जगत् प्रजापति (ब्रह्मा) तथा महेश्वर ने बनाया है, अथवा प्रभु ईश्वर ने बनाया है। यहाँ वैशेषिक दर्शन का मत देते हैं—जगत् में ७ पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। इनमें से अभाव को छोड़कर बाकी के ६ पदार्थ सद्भावरूप हैं। सामान्य, विशेष और समवाय ये तीनों पदार्थ नित्य हैं, कर्म अनित्य ही है। तथा गुण दो प्रकार के हैं—नित्य और अनित्य। नित्य द्रव्यों में रहने वाले गुण नित्य हैं, और अनित्य द्रव्यों में रहने वाले अनित्य। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं। इनमें से आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये ५ द्रव्य नित्य हैं, शेष द्रव्य पृथ्वी, जल, वायु, और अग्नि ये ४ द्रव्य नित्य और अनित्य दो प्रकार के हैं। परमाणुरूप पृथ्वी आदि नित्य हैं और कार्यरूप अनित्य हैं।

ईश्वरकर्तृत्ववादियों का कहना है कि "अनित्य पर्वतादि पृथ्वी, समुद्र आदि जल, दिखाई देने वाली अग्नि और स्पर्श की जाने वाली वायु ये सब बुद्धिमान (ईश्वर) के बनाये हुए हैं। क्योंकि ये कार्य हैं। जो-जो कार्य होते हैं, वे-वे सब किसी न किसी के द्वारा अवश्य किये (बनाए) हुए होते हैं। जैसे घड़ा, वस्त्र, महल आदि कुम्हार, जुलाहे व मिस्त्री आदि के द्वारा बनाए हुए हैं। पृथ्वी, पर्वत आदि भी कार्य हैं, अतएव वे भी किसी बुद्धिमान के बनाये हुए हैं। वह बुद्धिमान सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। क्योंकि सारे विश्व के पदार्थों का निर्माण वही कर सकता है, जो उन सबके जनक कारणों का ज्ञाता हो। सर्वज्ञता के बिना विश्व के जनक कारणों का ज्ञान होना असम्भव है। और बिना जाने कोई उनका यथायोग्य संयोग या प्रयोग भी नहीं कर सकता। जैसे कुम्हार को घड़ा बनाने में मिट्टी, पानी, चक्र आदि जनक कारणों का ज्ञान है, उन सबका ज्ञान होने के कारण ही वह उनका यथायोग्य उपयोग कर लेता है, वैसे ही विश्व के कार्यों के लिए उन सबके जनक कारणों का

---

१ इसका विस्तृत वर्णन जानना हो तो स्याद्वादमंजरी, आप्तपरीक्षा, स्याद्वाद-रत्नाकर और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थ देखें। —सम्पादक

ज्ञान होना आवश्यक है,ताकि उन सबका यथायोग्य उपयोग किया जा सके। इस प्रकार सृष्टि का कर्ता ईश्वर ही सिद्ध होता है, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। वही सबका गुरु और नित्य है।

अज्ञ प्राणियो को अपने कर्मों के फल का ज्ञान नहीं होता। वे अच्छे बुरे कर्म करने मे स्वतन्त्र हैं, परन्तु उन कर्मों का फल क्या है? उन्हे भोगने का कौन-सा स्थान है? इत्यादि बातो का उन्हे ज्ञान नही है, इसलिए परमेश्वर उन्हे कर्म का फल भोगने के लिए स्वर्ग या नरक मे भेजता है। कहा भी है—

'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन. सुखदु खयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥'

अर्थात्—'यह अल्पज्ञ प्राणी अपने किये हुए कर्मों के जो सुख-दु खरूप फल है, उन्हे जानने मे असमर्थ है। अत उन फलो को भोगने के लिए ईश्वर द्वारा प्रेरित (भेजा गया) ही वह स्वर्ग या नरक मे जाता है।' उनका कहना है कि जीव कर्म करने मे स्वतत्र है, लेकिन फल भोगने मे परतन्त्र है। जैसे चोर चोरी तो कर लेता है, लेकिन उसका फल—कारावास आदि दण्ड नही भोगना चाहता। न्यायाधीश, राजा आदि उसे सजा सुनाते है और भोगने के लिए विवश करते है। वैसे ही यह ससारी जीव अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे कर्म कर लेता है। न्यायाधीश ईश्वर उसे उनका फल देता है। यदि उनसे कोई पूछे कि ईश्वर ने जानते हुए भी उसे बुरे कर्म क्यो करने दिये? तो इसका उत्तर वे यो देते है कि ईश्वर ने तो उन्हे ससार मे प्रवृत्ति करने के लिए उत्तम मार्ग का उपदेश दिया और यह भी कहा कि इस मार्ग पर चलने से तुम्हारा हित होगा और इससे विपरीत मार्ग पर चलने पर तुम्हे दण्डित किया जाएगा। इस प्रकार समझा कर ईश्वर ने उसे कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी। यदि वह प्राणी भला काम करता है तो ईश्वर उसे अच्छा फल स्वर्ग आदि देता है और यदि वह दुराचार आदि बुरे काम करता है तो उसे नरकादि की यातना देता है।

ईश्वरकर्तृत्ववाद की असत्यता—ईश्वरकर्तृत्ववादियो का यह सब उपर्युक्त कथन विचारशून्य और युक्तिशून्य है तथा असत्यता से पूर्ण है।

प्रथम तो यह कहना प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु आदि के भिन्न-भिन्न जाति के परमाणु अपने-अपने सजातीय कार्य को ही उत्पन्न करते है। यानी पृथ्वी के परमाणु पर्वत आदि पार्थिव पदार्थो को ही उत्पन्न करते हैं, जल के परमाणु नदी आदि जलीय पदार्थ को तथा अग्नि के परमाणु दिखाई देने वाली उष्णतागुणविशिष्ट अग्नि को ही पैदा करते है, इतर को नही। क्योकि इस कथन के विपरीत कार्य-साकर्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जैसे चन्द्रकान्त मणि

पार्थिव है। चन्द्रमा के उदय होने पर उसकी किरणो का सम्बन्ध होने से उससे जल उत्पन्न होता है, पार्थिव सूर्यकान्तमणि से सूर्य की किरणो का ससर्ग होने पर अग्नि पैदा होती है। अरणि नाम की लकडी पार्थिव है उसको परस्पर रगडने मे उसमे से अग्नि पैदा होती है, स्वातिनक्षत्र का जलविन्दु सीप मे पडने से पार्थिव मोती बन जाता है। इत्यादि रूप मे कार्यकारण प्रत्यक्ष दिखाई देने के बावजूद भी पृथ्वी आदि के भिन्न-भिन्न परमाणुओ को अपने-अपने सजातीय का उत्पादक मानना प्रमाण-विरुद्ध है।

उनका दूसरा तर्क यह था कि 'अनित्य पृथ्वी, पर्वत आदि घटपटादि की तरह कार्य होने से किसी न किसी बुद्धिमान (ईश्वर) के बनाए हुए है, यह कथन भ्रमपूर्ण है। ऐसा कोई नियम नही होता कि हर एक चीज का बनाने वाला कोई न कोई बुद्धिमान कर्ता हो ही। बादल बुद्धिमान कर्त्ता के विना भी बनते और विखरते हुए दिखाई देते हैं। विजली चमकती और नष्ट होती है, जमीन पर पानी बरसने पर घास आदि बुद्धिमान के उगाए विना ही उगती है, वर्षाऋतु मे पानी बरसता है, शरद्ऋतु मे ठड और ग्रीष्मऋतु मे गर्मी आदि विना ही किसी बुद्धिमान के पडती है। उसके पीछे कोई भी उन-उन पदार्थों के कार्यों को करता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई नही देता। पदार्थों की उत्पत्ति और उनका नाश हम प्रत्यक्ष देखते है, लेकिन उनका कर्ता-हर्ता तो नही दिखाई देता।

यदि यो कहे कि ईश्वर कहा से दिखाई दे ? वह तो अमूर्त और अदृश्य है। वह हमारी आखो से दृष्टिगोचर नही होता। तब हम उनसे पूछते है कि वह ईश्वर शरीररहित है या शरीरधारी ? यदि शरीररहित है तब तो वह सृष्टि के पदार्थो को कैसे बनाएगा ? विना शरीर या हाथ-पैर आदि अवयव के तो कोई भी कार्य नही कर सकता। यदि कहे कि वह शरीरधारी है, तो उसका शरीर नित्य है या अनित्य ? उसे नित्य तो कह नही सकते, क्योकि वह अवयवसहित है। जो पदार्थ अवयवयुक्त (खण्ड के रूप मे) होते है, वे सब घटपटादि की तरह अनित्य होते हैं। ईश्वर का शरीर भी सावयव मानने पर वह अनित्य ही सिद्ध होगा। यदि ईश्वर का शरीर अनित्य है तो प्रश्न होता है—वह किसका बनाया हुआ है ? यदि कहे कि ईश्वर ने अपने शरीर को स्वय ही बनाया है, तब तो उसके पहले भी ईश्वर के शरीर को मानना पडेगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर आगे-आगे के शरीर के पैदा करने को लिए उसके पूर्व-पूर्व के शरीर मानने पडेंगे। इस तरह लगातार शरीर मानते जाने पर अनवस्थादोष उपस्थित होगा। अनवस्थादोष जहा आता है, वहाँ कार्य की सिद्धि नही होती।

ईश्वर ने ससारी जीव को सुमार्ग पर चलने और कुमार्ग से बचने आदि का उपदेश दिया, इत्यादि कथन भी असत्य सिद्ध होता है। क्योकि हम ऐसा कहने वालो से पूछते

है—सृष्टि के प्रारम्भ मे जीव कर्मसहित थे या कर्मरहित ? यदि कहे कि वे कर्म-सहित थे तो उन कर्मों को किसने बनाया ? यदि यह कहे कि वे कर्म तो उन-उन आत्माओ ने ही बनाए है तो आपका कार्यरूप हेतु दूषित हो जाता है। आपका मानना है कि जितने भी कार्य होते है, वे सब ईश्वर के किये हुए होते हैं। यदि कहें कि उन कर्मों को भी ईश्वर ने बनाया, तब तो उसकी परम दयालुता पर बहुत बडा आक्षेप यह आता है कि ईश्वर ने उन शुद्ध और सुखी आत्माओ को व्यर्थ ही कर्मों से लिप्त बना कर अशुद्ध और दु खी क्यो बना दिया ? क्या यही उसकी दयालुता है ?

यह मान भी ले कि ईश्वर ने सृष्टि के आदि मे सुमार्ग पर गमन और कुमार्ग से रक्षण का उपदेश दे कर कर्म करने की स्वतन्त्रता दी, परन्तु वह ईश्वर सर्वज्ञ और परम दयालु पिता होते हुए भी अपने पुत्र जीव को बुरे मार्ग पर चलने से रोकता क्यो नही , क्या यही उसकी दयालुता है ? एक पिता अपने प्रिय पुत्र को बुरे मार्ग पर चलते देख कर चुपचाप नही बैठता, वह उसे जरूर रोकता है , तब परमपिता परमदयालु ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हो कर भी अपने प्रियपुत्रो को अन्यायमार्ग पर चलते हुए देख कर-जानकर भी उपेक्षा कैसे कर सकता है ? उस समय चुप्पी कैसे साध सकता है ? अत उनका यह कथन भी सत्य से रहित है।

न्यायाधीश या राजा की तरह जीवो को अपने कर्मो का फल देने के लिए ईश्वर की आवश्यकता बतलाई, वह विचार भी युक्तिहीन है। क्योकि ईश्वर अरूपी और अशरीरी होने से कर्मयुक्त जीव को किस प्रकार फल देगा ? तथा न्यायाधीश भी जब तक अपराधी का अपराध सुन न ले और गवाहो आदि से पूछताछ व बहस-मुबाहिसे, जिरह आदि द्वारा पक्का निर्णय न कर ले तब तक उसे दण्ड देने को प्रस्तुत नही हो सकता। यही नही, कई बार साक्षियो की साक्षी कानून से विपरीत मिलने पर स्वय अपराधी का अपराध जान लेने पर भी उस अपराधी को निर्दोष बरी कर देना पडता है। जैसे बहुत से अपराध प्रगट न होने पर अपराधी को किसी प्रकार का दण्ड नही मिलता, वैसे ही ईश्वर के सामने भी बहुत से अपराध सिद्ध न होने पर क्या अपराधी को कर्मों का फल नही भोगना पडेगा ? क्या ईश्वर के न्याय की भी यही दशा है ?

ईश्वर को कर्मो के फल भुगवाने के पचडे मे डालने से उस पर पक्षपात, दयाहीनता, अविवेक आदि अनेक आक्षेप आते है। इसलिए उस निर्लेप, निरजन, निर्विकार परमात्मा को कर्मफलदाता मानना युक्तिसगत नही है। कर्मों का फल तो वे कर्म स्वयमेव आत्मा को भुगवाने मे समर्थ है। जब आत्मा कर्म करता है, तभी कर्मो के उदय होने के निमित्तो को भी बाँध लेता है। उन्ही निमित्तो के कारण प्रत्येक प्राणी अपने किये हुए कर्मो का फल अनायास ही पा लेता है। जिस प्रकार बीज मे

वृक्ष उगने की योग्यता होने पर भी पृथ्वी, जल आदि निमित्तो की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार कर्मों के फल भोगने के लिए निमित्तो की आवश्यकता है। चोरी करने पर चोर को चोरी के निमित्त से राजा आदि द्वारा दण्डित किया जा सकता है। वैसे ही आत्मा भी कर्मोदय के समय काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ की अपेक्षा रखता है। ये निमित्त कारण अदृश्य नही है, अपितु युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य है। बीज को ठीक निमित्त मिलने पर वह फल आदि से युक्त हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा भी पाँच निमित्तो (काल, स्वभाव आदि) के मिलने पर अपने कर्मो के शुभाशुभफल के अनुभव से युक्त हो जाता है। जैसे मदिरा मादक द्रव्य होने पर भी चेतन के सयोग होने या चेतन का निमित्त मिलने पर ही नशा चढा कर अपना स्वरूप प्रगट करती है, जब तक शीशी आदि मे पडी है, तब तक वह अपने स्वरूप को प्रगट नही करती, वैसे ही जड कर्म और चेतन (आत्मा) दोनो का निमित्त ही कर्मफल देने मे समर्थ है। कर्म अचेतन होते हुए भी जिस समय आत्मा अशुभ परिणामो से कोई प्रवृत्ति करता है उसी समय कर्मपुद्गल उसके चिपक जाते है, जो समय पर उदय मे आ कर अवश्य ही स्वाभाविक रूप मे अपना शुभाशुभ फल देते है, जिन्हे भोगे विना कोई छुटकारा नही मिलता।

उक्त युक्तियो से ईश्वरकर्तृत्वाद की असत्यता सिद्ध हो जाती है।

'विण्हुमय कसिणमेव य जग ति केई'—कई दार्शनिक इस समस्त जगत् को विष्णुमय मानते हैं। ससार मे सर्वत्र विष्णु व्यापक है। इस विषय मे वे ये प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

> **जले विष्णु, स्थले विष्णुर्विष्णु पर्वतमस्तके।**
> **ज्वालामालाकुले विष्णु, सर्वं विष्णुमय जगत् ॥१॥**
> **पृथिव्यामप्यह पार्थ ! वायावग्नौ जलेऽस्म्यहम्।**
> **सर्वभूतगतश्चाह,[1] तस्मात्सर्वगतोऽस्म्यहम् ॥२॥**

अर्थात्—'जल मे विष्णु है, स्थल मे विष्णु है, पर्वत के मस्तक पर विष्णु है, ज्वालाओ (अग्नि की लपटो) के समूह से व्याप्त ज्वालामुखी पर्वत आदि मे भी विष्णु है। इसलिए सारा जगत् विष्णुमय है।' 'हे अर्जुन ! मैं पृथ्वी मे भी हू, वायु, अग्नि और जल मे भी मैं हू, समस्त प्राणियो मे भी मैं हू। अत मैं सारे ससार मे व्याप्त हू।' इसी बात की पुष्टि के हेतु मार्कण्ड ऋषि की एक कथा है—

---

१ 'वनस्पतिगतश्चाह सर्वभूतगतोऽप्यहम्' यह पाठ भी कही-कही है। इसका अर्थ है—"मैं वनस्पति मे भी रहता हू और सभी प्राणियो मे भी मैं रहता हू।"

सो किल जलयसमुत्थेणुदएणेगन्नवम्मि लोगम्मि ।
वीतीपरपरेण घोलतो उदयमज्झम्मि ॥१॥
सो किल पेच्छइ सो तसथावरपणट्ठसुरनरतिरिक्खजोणीय ।
एगन्नव जगमिण महभूयविवज्जिय गुहिर ॥२॥
एवविहे जगमी पेच्छइ नग्गोहपायव सहसा ।
मदरगिरिव्व तु ग, महासमुद्द च विच्छिन्न ॥३॥
खधमि तस्स सयण, अच्छइ तहि वालओ मणभिरामो ।
सविद्धो सुद्धहियओ मिउकोमलकु चियकेसो ॥४॥
हत्थो पसारिओ से महरिसिणो एह तत्थ भणिओ य ॥
खध इम विलग्गसु मा मरिहिसि उदयवुड्ढीए ॥५॥
तेण य घेत्तु हत्थे उ मौलिओ सो रिसी तओ तस्स ।
पेच्छइ उदरमि जय ससेलवणकाणण सव्व ॥६॥

अर्थात्—सारा ससार जल के वढ जाने के कारण एक जलमय महासमुद्र हो गया। उस अथाह जलप्रवाह मे लहरो की परम्परा के साथ वहते हुए माकण्डे ऋपि ने इस जगत् को त्रस, स्थावर, देव, मानव और तिर्यञ्चयोनि के जीवो के नष्ट हो जाने से महाभूतो से रहित गह्वररूप एक महासमुद्र रूप मे देखा । साथ ही ऐसे प्रलयमय जगत् मे सहसा उन्हे एक विशाल वटवृक्ष नजर आया, जो मदराचल के समान ऊँचा और महासागर के समान विस्तीर्ण था । फिर उन्होने उसके स्कन्ध पर एक मनोहर नयनाभिराम वालक को सोये हुए देखा, जिसका हृदय शुद्ध था, जो सवेदनशील (भावुक) था । उसके वाल वडे कोमल,चिकने और घु घराले थे । उसने महर्पि की ओर हाथ फैलाए और कहा—'यहाँ आ जाओ । इस स्कध को पकड लो, इससे तुम पानी के वढ जाने पर भी मरोगे नही । इसके वाद उसने महर्पि का हाथ पकड कर उसी स्कन्ध पर अपने साथ मिला लिया। उस समय मार्कण्ड ऋपि ने उस वालक विष्णु के उदर मे पर्वतो, वनो और काननो सहित सारे जगत् को देखा । फिर सृष्टि के समय विष्णु ने सवकी रचना की ।

विष्णुमयवाद की असत्यता—उक्त सारी वाते कपोलकल्पित है । न तो ये वातें युक्तिसगत हे और न किसी प्रमाण से सिद्ध है । प्रत्यक्ष द्वारा पापाण आदि अचेतन पदार्थों मे तथा मनुष्य आदि सचेतन पदार्थों मे विष्णु का कोई अस्तित्व दिखाई नही देता । क्योकि विष्णु का जैसा स्वरूप विष्णुमयवादियो ने माना है, वैसा उनमे दिखाई नही देता, और न अनुमान आदि अन्य प्रमाणो से या युक्तियो से विष्णु सिद्ध होता है । यदि पृथ्वी मे विष्णु है तो उसे खोदना, पैरो से रोदना, उस पर मलमूत्र करना सर्वथा अनुचित है, क्योकि जहाँ विष्णु का निवास है, वह स्थान तो उनके लिए विष्णुमन्दिर के समान पूजनीय होना चाहिए । इसी प्रकार स्त्री मे, पुत्र मे, माता मे,

पिता मे, गुरु मे और शिष्य मे भी विष्णु के विद्यमान रहने से कुछ भी अन्तर नहीं रहेगा। फिर यह प्रश्न होता है कि वह विष्णु अचेतनरूप है या सचेतनरूप ? यदि वह चेतनरूप है, तव तो पापाणादि अचेतन पदार्थो मे उसकी सत्ता न रह सकेगी और वह यदि अचेतनरूप है तो चेतन मनुष्य, पशुपक्षी आदि मे नही रह सकेगा। इस प्रकार विष्णु को सर्वव्यापी मानने मे अनेक वाधाएँ उपस्थित होती हैं। इसलिए विष्णु को सर्वत्र व्यापक मान कर सारे जगत् को विष्णुमय मानना प्रमाणविरुद्ध और युक्तिविरुद्ध होने से असत्य है।

'एवमेके वदति मोस एगो आया'—अव शास्त्रकार आत्माद्वैतवादी वेदान्त-दर्शन की मीमासा करते हुए कहते हे कि यह मिथ्या कथन है कि 'एक ही आत्मा हे। जव वेदान्तियो के सामने यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि ये जो विविध प्राणियो मे अलग-अलग आत्माएँ दिखाई देती है, इन्हे कैसे झुठलाएगे ? तव वे युक्ति से इस वात को सिद्ध करते है—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित.।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

अर्थात्—'ससार मे आत्मा तो एक ही हे, वही प्रत्येक प्राणी मे स्थित है। वह एक होने पर भी अनेक-सा प्रतीत होता है, जैसे चन्द्रमा एक होने पर भी अनेक जल-पात्रो या जलाशयो मे प्रतिविम्वित होकर अनेकरूप मे प्रतिभासित होता है।'

आत्माद्वैतवाद की असत्यता—यह आत्माद्वैतवाद प्रमाण से वाधित हे। क्योकि प्रत्यक्षप्रमाण से प्रत्येक आत्मा की सत्ता अलग-अलग प्रतीत होती है। अगर विश्व के सभी प्राणियो की आत्मा एक ही मानी जाएगी तो एक व्यक्ति के किये हुए अशुभकर्म का फल दूसरे शुभकर्म वाले को मिल जाएगा और उसके द्वारा कृत शुभकर्मो का फल अशुभकर्म वाले को मिल जाएगा। परन्तु ससार मे ऐसा देखा नही जाता कि एक मेहनत करे और दूसरा उसका फल भोगे। जो आत्मा अन्याय या अपराध करता है, वही दण्ड भोगता है, जो विद्याध्ययन मे श्रम करता है, वही विद्वान् वनता हे, जो जहर खाता है, वही मरता हे, ये सव वाते आत्मा के भिन्न-भिन्न अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। अगर सव मे एक ही आत्मा मानी जाय तो एक के जहर खाने से मरने पर सवको मर जाना चाहिए, परन्तु ऐसा होना असम्भव हे।

सर्वत्र एक आत्मा को सिद्ध करने के लिए जल मे चन्द्रमा के प्रतिविम्व का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह भी यथार्थरूप से घटित नही होता। चूकि आकाश मे स्थित चन्द्रमा और जलाशय या जलपात्र मे स्थित प्रतिविम्व भिन्न-भिन्न है। आकाश-वर्ती चन्द्र प्रकाश, शान्ति और आल्हाद का जो कार्य करता हे, उसे जलाशय या जल-पात्र मे स्थित चन्द्र-प्रतिविम्व नही कर सकता। कार्यभेद से वस्तु मे भेद माना जाता

है। इसलिए वे दोनो एक नही है, बल्कि भिन्न-भिन्न पदार्थ है। जल मे स्वच्छता के कारण किसी भी वस्तु के प्रतिबिम्ब के रूप मे परिणत होने की योग्यता है। वह अपने सामने जिस वस्तु को पाता है तद्रूप प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेता है। इसलिए यह मानना नितान्त असत्य और प्रमाणबाधित है कि वही आकाशवर्ती चन्द्र जलपात्रो मे अनेकरूप दिखाई देता है।

एकब्रह्मवाद की असत्यता—वेदान्तदर्शन का कहना है कि जगत् मे केवल एक ही ब्रह्म है, इसके सिवाय और कोई पदार्थ नही है। हमे ये जो भेद दिखाई दे रहे हैं, वे सब उस (ब्रह्म) के विवर्त्त (पर्याय) है।

कहा भी है—

> **सर्वं खल्विद ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन।**
> **आराम तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन ॥**

अर्थात्—'जो कुछ भी वस्तुसमूह हमे दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब ब्रह्मरूप ही है। इस जगत् मे ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई चीज नही है। लोग प्राय उस (ब्रह्म) के आरामो (पर्यायो) को देखते है, उस शुद्ध ब्रह्म को कोई नही देखता।'

'विश्व मे जो घट, वस्त्र, मकान, हम, तुम आदि नाना भेदो का प्रतिभास हो रहा है, उसका कारण अनादिकाल से आत्मा के साथ लगी हुई माया है। उस माया (अविद्या) ही ने आत्मा को ब्रह्मज्ञान से वचित करके इन झूठे पदार्थों की कल्पना के चक्कर मे डाल दिया है। माया का पर्दा आत्मा को शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान नही होने देता। जब यह आत्मा माया का पर्दा हटा कर उस ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब माया का भ्रमजाल हट जाने से 'अह ब्रह्माऽस्मि' (मै ही ब्रह्म हू) इस भावना मे मग्न हो कर ध्यान की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है,यानी ब्रह्म मे लीन हो जाता है। ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, ब्रह्म की सत्ता मे मिल जाता है। उसकी सत्ता फिर अलग नही रहती। जैसे छोटे दीपक का प्रकाश बडे दीपक के प्रकाश मे मिल जाता है, इसी तरह ब्रह्मज्योति मे आत्मज्योति मिल जाती है।'

उपर्युक्त सारा कथन प्रमाण और युक्तियो से बाधित है। वेदान्त का यह कथन भी असत्य है कि ये नाना भेद माया (अविद्या) के कारण प्रतीत होते है। प्रश्न होता है कि माया कोई वस्तु है या अवस्तु ? यदि माया कोई वस्तु है, तब तो माया और ब्रह्म ये दो तत्त्व हो गए, वेदान्त का अद्वैत खण्डित हो गया, द्वैत की सिद्धि हो गई। यदि कहे कि माया अवस्तु है, तब तो वह भेदज्ञानरूप कार्य कैसे कर सकेगी ? गधे के सीग के समान अवस्तु होने के कारण माया कुछ भी करने मे समर्थ न हो सकेगी।

यदि घट, पट आदि पदार्थों का ज्ञान मिथ्या होता तो वह किसी अन्य प्रमाण

द्वारा बाधित होना। जैसे मरीचिका (सूर्य किरणों से चमकती रेतीली भूमि) में उत्पन्न हुआ जल का ज्ञान पास जाते ही बाधित हो जाता है कि 'अरे! यह तो केवल मरीचिका है। मैंने अज्ञानता (भ्रान्ति) से इसे जल समझ लिया था।' इस प्रकार उत्तर-काल में पूर्वकालिक ज्ञान बाधित होने पर उसे (पूर्वज्ञान को) मिथ्याज्ञान माना जाता है। लेकिन घट, पट, मकान आदि पदार्थों का पूर्वकालिक ज्ञान उत्तरकालिक (समीप जाने पर होने वाले) ज्ञान से बाधित नहीं होता, बल्कि उसमें प्रवृत्ति होने पर उस ज्ञान की सत्यता ही सिद्ध होती है कि मुझे पहले जो घट का ज्ञान हुआ था, वह बिलकुल सत्य है, क्योंकि कुए, नदी आदि पर ले जाकर इसमें जल भर कर ले आया हूँ।

अतः प्रमाण और युक्ति से खण्डित होने से ब्रह्मैकत्ववाद भी असत्य सिद्ध हो जाता है।

आत्मा का अकर्तृत्ववाद—शास्त्रकार अब सांख्यदर्शन की मान्यता का उल्लेख करते हैं—**'अकारओ वेदओ य सुकयस्स दुक्कयस्स'** यानी आत्मा[1] पुण्य और पाप कर्मों का कर्ता नहीं है, केवल उनका फल भोगने वाला है। प्रश्न होता है कि फिर पुण्यकर्मों और पापकर्मों का कर्ता कौन है? इसके उत्तर में हम पहले सांख्यदर्शन की मान्यता का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं—सांख्यदर्शन में मुख्य दो तत्व माने गए हैं—पुरुष (आत्मा) और प्रकृति। प्रकृति-पुरुष का स्वरूप इस प्रकार है—

> **'त्रिगुणमविवेकी विषय सामान्यमचेतन प्रसवधर्मि।**
> **व्यक्त तथा प्रधान तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥'**

अर्थात्—प्रकृति यानी प्रधान सत्व, रज और तम तीन गुणों से युक्त है, विवेकरहित, विषय, सामान्य, अचेतन और व्यक्त है। तथा इसके विपरीत स्वरूप वाला पुरुष—आत्मा है, जो त्रिगुण आदि से रहित है।

पुरुष[2] (आत्मा) नित्य, अमूर्त, कर्मों का अकर्ता, कर्मों के फल का भोक्ता, असंग और निर्लेप चैतन्यस्वरूप है। पुरुष अपने स्वरूप का अनुभव करता है और उदासीन और द्रष्टा बना रहता है। प्रकृति ही संसार के सब कार्य करती है। वह जड़ और नित्य है तथा अनेक कार्य करने वाली है। संसार के रंगस्थल पर नाचने वाली नर्तकी प्रकृति है। वह कभी मनुष्य का, कभी पशु का, कभी पक्षी का और कभी देव का स्वांग (वेष) धारण करके नर्तनरूप अनेक क्रियाएँ करती रहती है। पुरुष (आत्मा) दर्शकों के समान उन सबका द्रष्टा है। ज्ञान, सुख, दुःख, हर्ष, शोक

१—कहा भी है—'अकर्ता, निर्गुणो, भोक्ता आत्मा कापिलदर्शने।'

२—'तस्मान्न बध्यते, न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥' —सपादक

आदि प्रकृति के धर्म है। आत्मा को हर्ष, शोक, ज्ञान
कूटस्थ (सदा एक-सा रहने वाला) नित्य है। वह सभी वि
सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से हो रहा है, उ
(ज्ञान द्वारा गृहीत) पदार्थ का प्रतिबिम्ब आत्मा में पड़
है। इसी प्रकार हर्ष शोक आदि प्रकृति के धर्म भी प्रकृ
सम्बन्ध होने से आत्मा में झलकते है। जैसे शुद्ध स्वच्छ
रख देने से उस जपापुष्प की लालिमा स्फटिकमणि में
स्फटिकमणि लाल दिखाई देने लगती है। वस्तुत वह ल
ही सुख-दुःख हर्ष-विषाद आदि सब प्रकृति के धर्म हैं। प्रकृ
के पास होने से ये सब हर्षादि उसमे झलकने लगते है।
अनादिकालीन सम्बन्ध होने से पुरुष (आत्मा) को ही नर
धारण करनी पडती है। लेकिन इससे पुरुष मे कुछ विका
(आत्मा) को इस प्रकार की विवेकख्याति (भेदज्ञान) हो
ये सब काम इसके है, मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप हू, तब वह
के जाल से निकल कर सम्प्रज्ञातसमाधि और उसके बा
प्रकृति से सर्वथा भिन्न अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर
सर्वथा पृथक् हो जाता है।

अत ससार की सारी प्रक्रिया—रचना भी प्रकृति
और तम इन तीनो गुणो की साम्यावस्था का नाम प्रकृति
होती है, तब जगत् का प्रादुर्भाव होता है। जैसा कि साख्य

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृत
षोडशकश्च विकारो, न प्रकृतिर्न विकृ

अर्थात—मूल प्रकृति (त्रिगुण की साम्यावस्थारूप
यानी किसी का कार्य नही है। महत् तत्त्व (बुद्धि), अहक
सात कार्यकारणरूप होने से प्रकृतिविकृतिरूप है। अर्थात् क
(जनक) भी। पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाच कर्मेन्द्रिय, पच महाभू
(विकार) रूप ही हैं। किन्तु प्रकृति और पुरुष ये दोनो न
न किसी के कारण। अर्थात् ये दोनो न प्रकृतिरूप है, न वि

आशय यह है कि साख्यदर्शन सत्कार्यवादी है। वह
अपने कारणो मे सदा विद्यमान रहता है। वह कभी आव
हो (छिप) जाता है, कभी आवरण के दूर हो जाने से व
है। सृष्टि के प्रादुर्भाव का क्रम भी इस प्रकार बताया गय

'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहकारस्तस्माद् गुणश्च षोड़शक. ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्य पञ्चभूतानि ॥'

अर्थात्—प्रकृति मे महत्तत्त्व (बुद्धि) प्रगट होता ह, महत्तत्व से अहकार, और अहकार से १६ गुण (५ ज्ञानेन्द्रिया, ५ कर्मेन्द्रिया ५ तन्मात्रा और १ मन) प्रगट होते है। ५ तन्मात्राओ (स्पर्श रस, गन्ध, वर्ण और शब्द) से पृथ्वी-जल, वायु, अग्नि और आकाश ये ५ महाभूत प्रादुर्भूत होते ह।

इस प्रकार सृष्टि की रचना मे २४ तत्त्व और २५ वा पुरुष (आत्मा) ये सब निमित्त होते है।

सांख्यदर्शन के मत की असत्यता—प्रकृति और पुरुष का यह पूर्वोक्त सांख्यदर्शन का मत प्रतीति और प्रमाण से विरुद्ध होने से असगत और असत्य सिद्ध हो जाता है। सांख्यमत मे बताया गया है कि जब तक सत्त्वादि त्रिगुणो की साम्यावस्था रहती है, तब तक प्रकृति अपनी शुद्ध अवस्था मे रहती ह, जब इनमे विपमता-हीनाधिकता आती है,तब सृष्टि की रचना तथाकथित क्रम से होती है। यहाँ प्रश्न उठता ह कि जब प्रकृति अचेतन ह और पुरुष चेतन होने के बावजूद भी कुछ कार्य नहीं करता, सिर्फ अपने स्वरूप का ही अनुभव करता ह, तो अचेतन प्रकृति सब काम कैसे कर सकती है ? क्योंकि यह देखा जाता है कि चेतन का निमित्त पा कर ही अचेतन पदार्थ कुछ कार्य कर सकते ह, किन्तु अकेली जड प्रकृति पृथ्वी आदि मूर्त पदार्थों और आकाश आदि अमूर्त पदार्थों की जनक कैसे हो सकती है ? न्यायशास्त्र का यह नियम है कि जैसा उपादान कारण होता है, वैसा ही कार्य होता ह। मूर्त कारण हो तो उससे मूर्त कार्य और अमूर्त कारण हो तो अमूर्त कार्य होता है। मूर्त और अमूर्त धर्म परस्पर विरोधी ह। एक ही वस्तु मे ये दोनो धर्म नहीं पाये जा सकते। ज्ञान चेतन का धर्म है, वह अचेतन प्रकृति मे कैसे उत्पन्न हो सकता ह ?

सांख्यदर्शन के अनुसार कारण मे हमेशा कार्य विद्यमान रहता ह, यह बात भी असगत है। यदि कारण मे कार्य सदा विद्यमान रहता हो तो उसकी उपलब्धि सदा होनी चाहिए, लेकिन ऐसा होता नहीं। दूध की अवस्था मे दही नही दिखाई देता और न मिट्टी के ढेले मे घडा ही उपलब्ध होता है। यदि कारण मे कार्य सदा विद्यमान होता तो दूध मे दही की, मिट्टी के ढेले मे घडे की उपलब्धि भी होती।

यदि कहे कि कि कारण पर आवरण आया हुआ है, उसे दूर करने के लिए किसी योग्य अनुकूल कारण की आवश्यकता होती है। जब वह मिट जाता ह, तब वह (कार्य) व्यक्त-प्रगट हो जाता ह। जैसे मिट्टी मे से घडे को व्यक्त करने के लिए कुम्हार, चक्र वगैरह अनुकूल कारण अपेक्षित ह। परन्तु यह मन्तव्य तो सत्कार्यवाद

का घातक है, क्योकि कुम्हार आदि निमित्त कारणो ने मिल कर मिट्टी (उपादान कारण) से घडा पैदा किया है।

इस पर सांख्यमत कहता है 'मिट्टी मे घडा मौजूद न होता तो कुम्हार की क्या ताकत थी कि घडा बना देता? जैसे भरसक जोर लगाने पर भी कुम्हार पानी से कभी घडा नही बना सकता। अत मानना पडेगा कि कारण मे कार्य विद्यमान रहता है, लेकिन उसे व्यक्त करने के लिए किसी व्यञ्जक की आवश्यकता होती है।' यह कथन भी प्रत्यक्ष-प्रमाणविरुद्ध है। यदि मिट्टी के ढेले मे घडा होता तो चक्षु आदि इन्द्रिया से घडे का आकार आदि प्रत्यक्ष प्रतीत होता। लेकिन वहाँ तो घडे के विपरीत आकार वाला ढेला ही दृष्टिगोचर होता है। इसलिए मिट्टी के ढेले मे घडे का अस्तित्व स्वीकार करना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। यदि यह कहे कि 'जैसे अँधेरे मे पडा हुआ घडा मौजूद होने पर भी आवरण आ जाने के कारण जब तक उसका व्यञ्जक-दीपक नही आ जाता, तब तक वह दिखाई नही देता, वैसे ही ढेले मे विद्यमान घडा भी आवरण आ जाने के कारण, उसका व्यञ्जक न आ जाय तब तक दिखाई नही देता।' साख्यदर्शन का यह कथन भी युक्तिसगत नही है, क्योकि इस मन्तव्य से तो व्यञ्जक और कारक मे कोई अन्तर नही मालूम देता। वस्तुत कारक और व्यञ्जक मे बडा अन्तर है। जहाँ व्यग्य (प्रकट होने योग्य) पदार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाण से पूर्व सिद्ध हो, पर किसी दूसरे पदार्थ से आवृत हो गया हो तो उसके विरोधी व्यञ्जक पदार्थ के उपस्थित होने से वह व्यक्त होता है। जैसे अँधेरे मे घडा स्पर्शन आदि इन्द्रियो द्वारा सिद्ध होता है, तो वहाँ दीपक आदि व्यञ्जक के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। परन्तु मिट्टी के ढेले मे घडे की उपलब्धि किसी भी प्रमाण से पहले नही होती। कुम्हार आदि कारण से तो उसकी उत्पत्ति ही होती है, अभिव्यक्ति नही। अधेरे मे स्थित घडे के बारे मे तो दीपक व्यजक है, कारक नही, जबकि मिट्टी के ढेले मे घडे के होने के बारे मे तो कुम्हार कारक है, व्यजक नही। पूर्वोक्त कथन से सत्कार्यवाद की सिद्धि न होने से यह मानना ठीक नही है कि प्रकृति मे महत्तत्व (बुद्धि) आदि तत्त्व विद्यमान रहते है। तथा यह कथन भी गलत है कि सत्त्व, रज, तम की विषमता होने से महत्तत्त्व आदि प्रादुर्भूत होते हैं। क्योकि पहले तो सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्थारूप प्रकृति ही प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध नही होती, अपितु उसके कार्यरूप से माने गये महदादि ही सिद्ध होते है। इसलिए 'त्रिगुणमविवेकी' इत्यादि प्रकृति के लक्षण के सम्बन्ध मे कथन वन्ध्यापुत्र के सौभाग्य आदि वर्णन के समान हास्यास्पद सिद्ध होता है।

इसी प्रकार पुरुष (आत्मा) को अकर्ता, कर्मफलभोक्ता व कूटस्थनित्य आदि मानना भी प्रमाणविरुद्ध है। यदि आत्मा पुण्य-पाप का कर्ता नही, प्रकृति ही पुण्यपापादि की

कर्त्री है, तव तो आत्मा (पुरुप) का अस्तित्व मानना भी व्यर्थ है । क्योकि जो पुण्य-पाप का कर्ता है, वही उसके फल का भोक्ता होता है । यदि यह कहे कि आत्मा (पुरुप) तटस्थरूप से द्रप्टा मात्र हे । प्रकृति का कार्य, जो वुद्धि है, उसमे प्रतिविम्वित हुए सुख-दु खादि का भोगने वाला है । यह कथन भी न्यायविरुद्ध हे । जव आत्मा सर्वथा अकर्ता है, तो भोगक्रिया का कर्ता (भोक्ता) भी नही हो सकता । शुभाशुभकर्म करने वाली तो प्रकृति हो और उसका फल भोगने वाला पुरुप (आत्मा) हो, यह वात तो न्याय-विरुद्ध है । काम कोई करे और फल कोई भोगे, यह कहाँ का न्याय है ? इससे तो कृत का नाश और अकृत की प्राप्तिरूप दोप आएगा । इसलिए आत्मा को अकर्ता व भोक्ता मानना मसत्य है ।

आत्मा को सर्वथा कूटस्थनित्य मानने से उसकी नर, नारक आदि पर्यायें भी सिद्ध नही हो सकती , जवकि प्रत्यक्षादि प्रमाणो से आत्मा की नर-नारक, तिर्यञ्च आदि पर्यायें प्रतीत होती है । और प्रकृति तो स्वय जड हे, उसकी ये चेतनात्मक पर्यायें हो ही कैसे सकती है ? इसलिए आत्मा को कूटस्थनित्य मानना भी असत्य है । आत्मा द्रव्यरूप से नित्य हे, वह कभी अनात्मा (जड) हो नही सकता, सदा चैतन्यादिगुणविशिप्ट वना रहता हे । इसलिए वह नित्य है । लेकिन कभी सुखी कभी दु खी होता है, कभी मनुष्यपर्याय व कभो देवपर्याय को प्राप्त करता है, इसलिए अनित्य भी है । अत आत्मा को कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य मानना ही सत्य है ।

आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानना भी युक्तिविरुद्ध है । यदि आत्मा सर्वथा अमूर्त है तो उसका मूर्त प्रकृति के साथ सम्वन्ध वन ही नही सकता । जैसे अमूर्त आकाश के साथ किसी मूर्त अग्नि, तलवार आदि का सम्वन्ध नही है । अग्नि, तलवार आदि मूर्त का असर भी अमूत आकाश पर नहीं दिखाई देता । क्योकि आकाश का अग्नि से दाह और तलवार से छेदन नही होता । इसी प्रकार आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानने पर उस पर मूर्त प्रकृति का असर कुछ भी न हो सकेगा । परन्तु साख्यदर्शन के मन्तव्यानुसार प्रकृति के सम्वन्ध से आत्मा नर-नारक आदि पर्यायो तथा सुख-दु ख आदि परिणामो का अनुभव करता है । इसलिए साख्यदर्शन का आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानना भी असत्य है ।

जपाकुसुम का दृप्टान्त दे कर आत्मा को जो सर्वथा निर्विकार, निर्लेप और शुद्ध सिद्ध करने की चेप्टा की गई है, वह भी यथार्थ नही है । जपाकुसुम का सम्वन्ध स्फटिकमणि के सा थ वना रहता हे, तभी तक वह स्फटिक लाल प्रतीत होता है । यद्यपि वह लालिमा उस स्फटिक की स्वाभाविक नही ह , अपितु जपाकुसुम के सम्पर्क से आई हुई विकारजन्य हे । तथापि उस स्फटिक मे जपाकुसुमरूप से परिणमन करने की

शक्ति होने से जपाकुसुम के सयोग से वैसा हो जाता है। जैसे लोहे का गोला अग्निरूप नही है, लेकिन अग्नि का सयोग होने से अग्निस्वरूप हो जाता है और स्पर्श करने वाले को अग्नि के समान जलाता भी है। इसी प्रकार आत्मा भी द्रव्य की अपेक्षा से शुद्ध अनिर्विकार और निर्लेप हे, लेकिन प्रकृति के सयोग से उसमे नाना पर्यायो या सुखदु खानुभवरूप मे परिणमन करने की शक्ति होने से वह तद्रूप विकारी, अशुद्ध और लिप्त होता है कथचित् मूर्त भी है। अत आत्मा को एकान्तरूप से सर्वथा शुद्ध, निर्लेप, निर्विकार और अमूर्त कहना मिथ्या हे। साख्यदर्शन की पूर्वोक्त सभी वाते सत्य से विपरीत सिद्ध हुई है। सत्य यह ह कि आत्मा ही पुण्य-पापकर्म का कर्ता है और वही उसका फलभोक्ता भी हे। वह कथचित नित्य और कथचित् अनित्य हे, नरकादि पर्यायो मे गमन करने के कारण सक्रिय हे तथा ज्ञानादिगुण से विशिष्ट है और कर्मलेप से युक्त भी है।

पाच कारण-समवाय मे सत्यासत्यता—कई दार्शनिक जगत् के रचनारूप कार्य मे काल को ही एकमात्र कारण मानते है। उनका कहना हे कि बीज मे ऊगने की शक्ति होते हुए भी, पानी, जमीन आदि का निमित्त और किसान का पुरुपार्थ मिलने पर भी वह समय पर ही अनाज के रूप मे अकुरित होता है। इसी प्रकार सतानोत्पत्ति के सव निमित्त मिलने पर भी गर्भ काल के ९ मास पूर्ण होने पर ही प्राय सतान होती है। यह सव काल का प्रभाव है। अपने-अपने समय पर ही सव ऋतुएँ, मास, पक्ष आदि अपना-अपना प्रभाव दिखाते हैं। कहा भी है—

काल सृजति भ्तानि, काल सहरते प्रजा.।
काल सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रम ॥

अर्थात्—प्राणियो की सृष्टि (उत्पत्ति) अपने-अपने समय पर काल ही करता है, काल ही समय पर उनका सहार करता है। सब के सो जाने पर काल निरन्तर जागता रहता है। अत काल के नियम का उल्लघन नही हो सकता।

दूसरे कुछ दार्शनिक स्वभाव को ही एकमात्र विश्व के पदार्थो के निर्माण और ध्वसरूप कार्यो का कारण मानते है। उनका कहना है—ससार के जितने भी कार्य हैं, वे सव स्वभाव से ही होते है। इसमे किसी की इच्छा, काल या पुरुपार्थ काम नही देते। अपने-अपने स्वभावानुसार सभी चीजे वनती-विगडती है। गन्ने मे मिठास, सौठ मे तीखापन, मिर्च मे चरचरापन, नमक मे खारापन, हर्रे मे कसैलापन आदि जो गुण है, वह स्वभाव से ही होता है। कोई उसको वनाता, विगाडता नही है। कहा भी है—

रविरुष्ण शशी शीत, स्थिरोऽद्रि पवनश्चल।
न श्मश्रु स्त्रीमुखे, हस्ततलेषु न कुचोद्भव ॥
भव्याऽभव्यादयो भावा स्वभावेनैव जृम्भते।

क कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्य, विचित्रभाव मृगपक्षिणा च ।
स्वभावतः सर्वमिद प्रवृत्त, न कामचारोऽस्ति कुत· प्रयत्न ॥

अर्थात्—सूर्य गर्म है, चन्द्रमा शीतल है, पहाड स्थिर है, हवा चचल है, स्त्री के मुह पर मूछें नहीं आती हथेली पर स्तन का उद्भव नहीं होता । किसी मे भव्य-भाव और किसी मे अभव्य भाव, सद्गुण-दुर्गुण आदि सब भाव स्वभाव से ही होते हैं। कांटो मे तीखापन कौन करता है ? मृग और पक्षियो के अन्दर विभिन्न भाव और रगरूप आदि की विचित्रता सब स्वभाव से ही होती है। सभी कार्यों मे स्वभाव की प्रधानता है। किसी की इच्छा इनमे नहीं चल सकती, पुरुषार्थ का तो वहां चलता ही क्या है ?

तीसरे दार्शनिक नियति मे ही जगत् के सभी कार्यों का होना, या विगडना मानते है। उनका कहना है कि जो कुछ होना होता है, वह हो कर ही रहता है, जो नहीं होना होना है, वह लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं होता। उसका वैसा होने का स्वभाव होने पर भी, काल पक जाने पर भी, मनुष्य की इच्छा होने पर भी, वह नहीं होता, जो नहीं होना है। अत नियति यानी भवितव्यता या होनहार ही बलवान है। कहा भी है—

"प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य, किं कारणं ? दैवमलघनीयम् ।
तस्मान्न शोचामि, न विस्मयामि, यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥१॥
द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतम् ॥२॥
सा सा सम्पद्यते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृश ।
सहायास्तादृशा ज्ञेया, यादृशी भवितव्यता ॥३॥
नहि भवति यन्न भाव्य, भवति च भाव्य विनाऽपि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति, यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥४॥

अर्थात्—'क्या कारण है कि जो पदार्थ मिलने वाला है, उसे मनुष्य अवश्य ही प्राप्त करता है , क्योंकि दैव—भाग्य दुर्निवार है। इसलिए मैं किसी बात को पाने की चिन्ता नहीं करता और न किसी चीज के चले जाने पर आश्चर्य ही करता हू। जो पदार्थ हमारा है, वह दूसरे का हो नहीं सकता। यानी वह मुझे अवश्य ही मिलेगा।'

जब विधि—दैव या भाग्य अभीष्ट व अनुकूल होता है तो दूसरे द्वीप से भी, अनन्त समुद्र के बीच मे भी और दिशाओ के अन्तिम छोर मे भी विधि हमारी इष्ट वस्तु को झटपट ला कर जुटा देती है। यानी हमें वह वस्तु अवश्य ही कहीं न कहीं से प्राप्त हो जाती है, क्योंकि जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है, वैसी ही बुद्धि होने लग जाती है, वैसा ही पुरुषार्थ होने लगता है और वैसे ही सहायक मिलते जाते हैं। जो नहीं होने वाला है, वह कभी नहीं होता है और जो होनहार है, वह विना

प्रयत्न के ही हो जाता है। जिसकी भवितव्यता नही है, वह वस्तु हाथ मे आई हुई भी चली जाती है।

इसी प्रकार कई दार्शनिक कर्म को ही जगत् के सब अच्छे बुरे कार्यो या भली-बुरी स्थिति का कारण मानते है। उनका कहना है कि कर्म अच्छे होते है तो सब चीजे अनायास ही मिल जाती है, न स्वभाव बाधक बनता है, न काल और न नियति ही, तथा न पुरुपार्थ की ही अपेक्षा रहती है। कर्म ही सब कुछ करने-धरने वाला है। कहा भी है—

'ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे।
विष्णुर्येन दशावतारग्रहणे क्षिप्तो महासकटे॥
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटन कारितो।
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने, तस्मै नम कर्मणे।'

अर्थात्—'जिसने ब्रह्माजी को ब्रह्माण्डरूपी बरतन बनाने मे ही कुम्भार व तरह नियुक्त कर दिया, जिसने विष्णु को दश अवतारो के धारण करने के महासक मे डाल दिया, जिसने महादेव को हाथ मे खप्पर ले कर भिक्षाटन करवा दिया, औ जिसके प्रभाव से सूर्य प्रतिदिन आकाश-मडल मे घूमता है, उस कर्म को नमस्कार है

कई दार्शनिक कर्म के साथ ही दैव को भी ससार के सभी कार्यो का कारण मानते है। वे कहते है—पूर्वकृत कर्म ही दैव या भाग्य है। उसी के आधार पर मनुष्य का वर्तमान और भविष्य बनता है। पूर्वकृत कर्म के वश ही मनुष्य का अच्छा या बुरा प्रारब्ध अथवा भाग्य बनता है। इसलिए इसमे भी कर्म के सम्बन्ध मे दिये गए सभी तर्क समझ लेने चाहिए।

इसके पश्चात् कई लोग यदृच्छा को भी सृष्टि के कार्यों मे प्रबल कारण मानते है। उनका कहना है—'**ईश्वरेच्छा बलीयसी**' ईश्वर की इच्छा ही सबसे बलवती होती है। हमारा सोचा हुआ कुछ काम नही आता। अथवा यदृच्छा का मतलब अपने आप ही होता है। कहा भी है—

'अतर्कितोपस्थितमेव सर्व, चित्र जनाना सुखदु खजातम्।
काकस्य तालेन यथाभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाभिमान.॥'

अर्थात्—प्राणियो को विचित्र सुख या दु ख अप्रत्याशितरूप से बिना सोचे विचारे ही सहसा उपस्थित हो जाते है। उडते हुए कौए का ताड पर बैठना और ताड के पेड का गिरना, दोनो बाते अकस्मात् ही हो गई। अत सभी बाते अपने आप ही (यदृच्छा से) होती है, इस मे बुद्धि लगा कर पहले से सोचने का अभिमान करना व्यर्थ है।

"सत्य पिशाचा स्म वने वसामो, भेरीं कराग्रैरपि न स्पृशाम।
यदृच्छया सिद्ध्यति लोकयात्रा, भेरीं पिशाचा परिताड़यन्ति॥"

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ इन पाचो कारणो मे से एक-एक को ही एकान्त रूप से मानना मिथ्यात्व (असत्य) है और इन पाँचो को सयुक्तरूप से कारण मानना सम्यक्त्व (सत्य) है।

काल की प्रतीक्षा भी कार्य मे आवश्यक है। उस कार्य मे वैसा होने का स्वभाव भी होना चाहिए, अत स्वभाव भी देखना पडता है। कई दफा दूसरे निमित्तो के मिलने पर भी कार्य नही होता या विलम्ब से होता है, वहा भवितव्यता (नियति) को मानना पडता है। कही-कही कालादि के अनुकूल होने पर भी पर्याप्त पुरुपार्थ, ईश्वरेच्छा, यदृच्छा या भाग्य प्रबल न होने से कार्य अनुकूल नही होता। इसलिए पाच-कारण मिल कर ही कार्य को सिद्ध कर सकते है, अकेले एक कारण से काम नही होता। जहाँ बुद्धिपूर्वक काम होता है, वहा पुरुपार्थ की प्रधानता है और जहाँ अबुद्धिपूर्वक कार्य होता है, वहाँ दैव आदि की प्रधानता है। इसलिए इन पाँचो मे से एक पर ही जोर दे कर एकान्तरूप से उसी का प्ररूपण करना असत्यवाद है।

पारमार्थिक धर्म की ओट मे असत्यवादिता—बहुत से लोग अपना जीवन वैभव-विलास, आमोद-प्रमोद और खाने-पीने की तृप्ति मे ही बिताते है। ऐसे लोग अपने असयम पर धर्म की मुहरछाप लगाने के लिए इन बातो को ही धर्म का रूप दे बैठते है और सयम मे प्रवृत्त करने वाली जो धर्म की बाते है, उनके पालन से कतरा कर अपने सुकुमार जीवन की पुष्टि के लिए उन्हे ढोग, मिथ्या, या पाखण्डकल्पित आदि कह कर ठुकरा देते हे। ऐसे लोग महान् असत्यवादी है, स्वपरवचक भी है। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—

'एव केइ जपति इड्ढिरससायगारवपरा धम्मवीमसएण मोस।'

परदोषारोपण करने वाले असत्यवादी—कई लोग स्वय अपना जीवन सुधारने का प्रयत्न नही करते। वे प्रसिद्धि पाना, सत्ता हथियाना, पद प्राप्त करना, अथवा अपना कोई स्वार्थ साधना चाहते है। इसके लिए वे दूसरो पर मिथ्या दोपारोपण कर, नीचा दिखा कर उसके प्रति जनता की श्रद्धा खत्म करके अपना उल्लू सीधा करते है। ऐसे लोग असत्यवादी तो है ही, दूसरो को मानसिक आघात पहुचाने का प्राणवध सरीखा महापाप भी करते ह। अथवा अपने दोपो को छिपाने के लिए वे दूसरो के के गले वे ही दोप मढ देते हे, जिससे कि वे व्यक्ति कायल होकर दब जाय, उन्हे पाप से हटने के लिए कुछ कहने को मुँह न खोल सके। वर्तमान राजनीतिज्ञो के जीवन मे अकसर यह देखा जाता है कि वे शासकपक्ष की या एक दूसरे की भरपेट निन्दा करते है, खरी-खोटी आलोचना करके उसे गिराने की कोशिश करते है, झूठे दोपारोपण है। ऐसा करके वे शास्त्रकार की भाषा मे "अहम्मओ रायदुट्ठ अब्भक्खाण

भणेंति ।" कुछ लोग शासनकर्ता के विरुद्ध उसे बदनाम करने के लिए झूठा दोष लगाते है।"

कई लोगो की रग-रग मे ईर्ष्या, तेजोद्वेष या डाह भरी होती है। दूसरे की कीर्ति, बढती हुई प्रतिष्ठा, गुणवृद्धि, तरक्की, धार्मिकता या तेजस्विता उन्हे फूटी आँखो नही सुहाती और वे उसे सह न सकने के कारण उनके गुणो को ढाकने, उन्हे बदनाम करने या लोगो की दृष्टि से गिराने का निन्द्य प्रयत्न करते है, उनके लिए विपरीत वचन बोलते हैं, यद्वा-तद्वा बकते है। इस प्रकार असत्यभाषण करके वे दीर्घकाल तक अपनी आत्मा को उन सद्गुणो से पृथक् रखने वाले दुष्कर्मों का गाढ बन्ध कर लेते है।

'अलिय चोरोत्ति' से लेकर **'परदोसुप्पायणपसत्ता वेढेति'** तक का पाठ बहुत ही स्पष्ट है। मूलार्थ मे हम इसका स्पष्ट अर्थ कर चुके है।

विविध कारणों से झूठ बोलने वाले—शास्त्रकार ने विविध कारणो से झूठ बोलने वालो का स्पष्ट उल्लेख किया है—**"मुहरी असमिक्खियप्पलावा गरुय भणति।"** मनुष्य धन के लिए, कन्या के लिए, भूमि के लिए, गाय-बैल आदि के लिए बहुत भारी झूठ बोलता है। 'अत्यालिय' का 'स्वार्थ के लिए असत्य' अर्थ भी हो सकता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य धन, सत्ता, स्वार्थ आदि की प्राप्ति के नशे मे सत्य-असत्य का कोई विचार ही नही करता। ये बडे-बडे कारण ही प्राय असत्य भाषण के है, जिनका शास्त्रकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है।

हिंसाजनक पेशे वाले असत्यवादी—शास्त्रकार ने असत्य के भयकर स्वरूप का वर्णन करते हुए विवध प्रकार से हिंसाकारी वचनो या उपदेशो का प्रयोग करके प्राणियो के लिए अहितरूप असत्य का सेवन करने वाले विविध व्यक्तियो का उल्लेख भी किया है। जो एक प्रकार से हिंसात्मक पेशा करने वालो को वचन द्वारा प्रोत्साहन देते है या उपदेश व प्रेरणा देते हैं, वे शिकारियो, पारधियो, बहेलियो, मच्छीमारो, सपेरो, लुब्धको, पासियो, पक्षिपालको, ग्वालो, चोरो, जासूसो, लुटेरो, उचक्को, कोतवालो, खनिको, मालियो एव वनचरो, आदि को विविध प्रकार के हिंसाजनक उपदेश, निर्देश, तालीम या प्रेरणा देकर प्राणियो के अहितरूप असत्य का सेवन करते है। कई लोग बिना ही पूछे रातदिन दूसरो के कार्यों की चिन्ता मे डूब कर ऐसे अहितकर सावद्य कार्यों की प्रेरणा करते रहते है। शास्त्रकार ने ऐसे लोगो की प्रवृत्तियो का स्पष्ट उल्लेख किया है।

असत्यवादियों की मनोवृत्ति—आगे चल कर ऐसे असत्यवादियो की मनोवृत्ति का विश्लेषण करते है कि हिताहित व कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक मे अकुशल, अनार्य, मिथ्याशास्त्रो के वचन पर चलने वाले, असत्यकार्यों मे ही रत रहने वाले, असत्य को

प्रोत्साहन देने वाली कथाओ या बातो मे ही खुश रहने वाले ये असत्यवादी जन मन, वचन, काया के द्वारा अनेक प्रकार से असत्याचरण करने मे सतुष्ट रहते है।

असत्य के कटुफल

असत्य वोलने वालो और असत्य वोलने के विविध कारणो का स्पष्ट उल्लेख करने के वाद शास्त्रकार अव असत्य के कटुफलो का निरूपण करते है—

मूलपाठ

तस्स य अलियस्स फलविवाग अयाणमाणा वड्ढेति महब्भय अविस्सामवेयण दीहकाल बहुदुक्खसकड नरयतिरियजोणि, तेण य अलिएण समणुवद्धा आइद्धा पुणब्भवधकारे भमति भीमे दुग्गतिवसहिमुवगया, ते य दिसति ह दुग्गया, दुरता, परवस्सा, अत्थभोगपरिवज्जिया, असुहिता, फुडियच्छविबीभच्छविवन्ना, खरफरुसविरत्तज्झामज्झुसिरा, निच्छाया, लल्लविफलवाया, असक्कतमसक्कया, अगधा, अचेयणा, दुभगा, अकता, काकस्सरा, हीणभिन्नघोसा, विहिंसा, जडबहिरधया (मूया) य, मम्मणा, अकतविकयकरणा, णीया, णीयजणनिसेविणो, लोगगरहणिज्जा, भिच्चा, असरिसजणस्स पेस्सा, दुम्मेहा, लोकवेदअज्झप्प समयसुतिवज्जिया, नरा धम्मबुद्धिवियला।

अलिएण य तेण पडज्झमाणा असतएण य अवमाणणपिट्ठिमसाहिक्खेव- पिसुण - भेयण - गुरुबधवसयणमित्तवक्खारणादियाइ अब्भक्खाणाइ बहुविहाइ पावेति अमणोरमाइ हिययमणदूमकाइ, जावज्जीव दुरुद्धराइ, अणिट्ठ-खर-फरुसवयण-तज्जणनिब्भच्छण-दीणवदणविमणा, कुभोयणा, कुवाससा, कुवसहीसु किलिस्सता, नेव सुह, नेव निव्वुइ उवलभति अच्चतविपुलदुक्खसयसपउत्ता (सपलित्ता)।

एसो सो अलियवयणस्स फलविवाओ इहलोइओ, परलोइओ, अप्पसुहो, वहुदुक्खो, महब्भओ, वहुरयप्पगाढो, दारुणो,

कक्कसो,असाओ, वाससहस्सेहिं मुच्चइ। न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति,एवमाहंसु नायकुलनदणो महप्पा जिणो उ वीरवरनामधेज्जो कहेसी य अलिय-वयणस्स फलविवाग, एय त वितीयपि अलियवयण, लहुसग-लहु-चवलभणिय, भयंकर, दुहकर, अयसकर, वेरकरग, अरतिरतिरागदोस-मणसकिलेसवियरण, अलियणियडिसादिजोगवहुल, नीयजणनिसेविय, निस्सस (निसेस), अपच्चयकारक, परमसाहुगरहणिज्ज, परपीलाकारक परमकण्हलेससहियं, दुग्गतिविनिवायवड्ढण पुणब्भवकर चिरपरिचियमणु (णा) गय, दुरुत्त (दुरत) वितीय अधम्मदार समत्त ॥ सू० ८ ॥

संस्कृतच्छाया

तस्य च अलीकस्य फलविपाकमजानन्तो वर्द्धयन्ति महाभयामविश्रामवेदनां दीर्घकाला वहुदु.खसकटा नरकतिर्यग्योनिं, तेन चालीकेन समनुबद्धा आदिग्धाः पुनर्भवान्धकारे भ्रमन्ति भीमे दुर्गतिवसतिमुपगता, ते च दृश्यन्त इह दुर्गता, दुरन्ता , परवश्या, अर्थभोगपरिवर्जिता, असुखिताः (असुहृदः), स्फुटितच्छविवीभत्सविवर्णा , खर-परुष-विरक्तध्यामशुषिरा, निच्छाया, लल्लविफलवाचोऽसंस्कृताऽसत्कृता (असंस्कृताऽसंस्कृता), अगन्धा, अचेतना, दुर्भगा, अकान्ता , काकस्वरा, हीनभिन्नघोषा, विहिंसा, जड़बधिरान्धकाश्च (मूकाश्च) मन्मना, अकान्तविकृतकरणा, नीचा, नीचजननिषेविणो, लोकगर्हणीया, भृत्या, असदृशजनस्य प्रेष्या, दुर्मेधसो लोकवेदाध्यात्मसमयश्रुतिवर्जिता नरा धर्मवुद्धिविकला. ।

अलीकेन च तेन प्रदह्यमाना अशान्तेन (असत्केन) अपमाननपृष्ठिमासाधिक्षेपपिशुनभेदन - गुरु-वान्धव-स्वजन-मित्रापक्षारणादिकानि अभ्याख्यानानि वहुविधानि प्राप्नुवन्ति अमनोरमाणि हृदयमनोदुमगानि (दावकानि) यावज्जीव दुरुद्धराणि, अनिष्टखरपरुषवचन-तर्जन-निर्भत्सनदीनवचनविमनस , कुभोजना', कुवासस , कुवसतिषु क्लिश्यन्तो नैव सुख, नैव निवृत्तिमुपलभन्तेऽत्यन्तविपुलदु खशतसम्प्रयुक्ता' (सम्प्रदीप्ता) ।

एप सोऽलीकवचनस्य फलविपाक इहलौकिक-पारलौकिकोऽल्पसुखो वहुदु खो महाभयो वहुरज प्रगाढ़ो दारुण कर्कशोऽसातो वर्षसहस्रैर्मुच्यते,

न चावेदयित्वाऽस्ति खलु मोक्ष इति। एवमाख्यातवान् ज्ञातकुलनन्दनो महात्मा जिनस्तु वीरवरनामधेय, कथितवाश्चालीकवचनस्य फलविपाकम्। एव तद्द्वितीयमप्यलीकवचन लघुस्वकलघुचपलभणित भयङ्कर दु खकरमयशस्कर वैरकरमरतिरतिरागद्वेषमन सक्लेशवितरणमलीकनिकृतिसातियोगबहुल नीचजननिषेवित नि शस (नृशस, नि शेष वा) अप्रत्ययकारकं परमसाधुगर्हणीय परपीडाकारक परमकृष्णलेश्यासहित दुर्गतिविनिपातवर्द्धन पुनर्भवकर चिरपरिचितमनु (ना) गत दुरन्त (दुरुक्त) द्वितीयमधर्मद्वार समाप्तम्॥ (सू० ८)

पदार्थान्वय—(य) और (तस्स) उस (अलियस्स) असत्य के (फलविवाग) कर्मफल को, (अयाणमाणा) नही जानते हुए (महब्भय) महाभयकर, (अविस्सामवेयण) निरन्तर वेदनायुक्त (दीहकाल) दीर्घकाल तक, (बहुदुक्खसकड) बहुत दु खो से व्याप्त, (नरयतिरिक्खजोणिं) नरक और तिर्यञ्च योनि मे (वड्ढेंति) वृद्धि करते हैं। (य) और (तेण अलिएण) उस असत्य से (समणुबद्धा) अच्छी तरह जकडे हुए, (आइद्धा) चिपटे हुए, (दुग्गतिवसहिमुवगया) दुर्गति मे निवास पाये हुए जीव (भीमे) भयानक, (पुणब्भवधकारे) पुनर्जन्मरूप-ससाररूप अधकार मे (भमति) भ्रमण करते हैं। (य) तथा (ते) वे जीव (इह) इस लोक मे (दुग्गया) दु खमय स्थिति मे पडे हुए, (दुरता) अन्त मे दु ख पाने वाले, (परवस्सा) परतत्र, (अत्थ-भोगपरिवज्जिया) धन और भोगो से विहीन (असुहिता) सुखो से रहित अथवा सुहृदो से रहित, (फुडियछविबीभच्छविवन्ना) बीवाई, खुजली आदि से चर्मविकार वाले, विकरालरूप और खराब रग वाले, (खरफरुसविरत्तज्झामज्झुसिरा) कठोर और खुर्दरे स्पर्श वाले व कहीं पर भी आराम न पाने वाले, फीकी कान्तिवाले और नि सार-क्षीण शरीर वाले, (निच्छाया) निस्तेज, (लल्लविफलवाया) अस्पष्ट और निष्फल वाणी वाले, (असक्कतमसक्कया) सस्कारहीन और सत्काररहित अथवा असस्कृत (गवार) और सुसस्कृत भाषा से रहित, (अगधा) दुर्गन्ध से भरे, (अचेयणा) विशिष्ट चेतना जागृति से रहित, (दुब्भगा) अभागे, (अकाता) सौन्दर्य से रहित, (काकस्सरा) कौए के समान अप्रिय स्वर वाले, (हीणभिन्नघोसा) धीमी तथा फटी हुई आवाज वाले, (विहिंसा) लोगो द्वारा खासतौर से सताये जाने वाले, (जडवहिरधया) मूर्ख, बहरे और अधे, (मूया) गू गे, (य) और (मम्मणा) अस्पष्ट उच्चारण करने वाले, (अकतविकयकरणा) अमनोज्ञ एव विकृत इन्द्रियो वाले, (णीया) जाति, कुल, गोत्र तथा कामो से नीच,

पामरो और नीचो की सगति करने वाले अथवा नीचो की सेवा मे रहने वाले, (लोक-गरहणिज्जा) लोक मे निन्दनीय, (भिच्चा) चाकर, (असरिसजणस्स पेस्सा) असमान-विषम आचार-विचार वाले, अशिष्ट लोगो के आज्ञापालक, अथवा द्वेष के पात्र (दुम्मेहा) दुर्बुद्धि, (लोकवेद - अज्झप्प - समयसुतिवज्जिया) लौकिक शास्त्र महाभारत रामायण आदि, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि वेद, आध्यात्मिक शास्त्र-योगशास्त्र, कर्म-ग्रन्थ आदि तथा जैन-बौद्ध आदि आगमो या सिद्धान्तो के श्रवण या ज्ञान से रहित, (धम्मबुद्धिवियला) धार्मिक बुद्धि से शून्य (दीसति) दिखाई देते हैं। (य) और (तेण अलतएण डलिएण) उस अनुपशान्त या अशुभ असत्यवादजनित कर्माग्नि से कालान्तर मे (पडज्झमाणा) जलते हुए (अवमाणण-पिट्ठिमसाहिक्खेव - पिसुण - भेयण - गुरुबधव - सयणमित्तवक्खारणादियाइ) अपमान, पीठ पीछे निन्दा धिक्कार, चुगली, आपस मे फूट या प्रेमसम्बन्धो का भग, गुरुजनो, स्नेहीजनो, सम्बन्धीजनो तथा मित्रजनो के तीखे वचनो से अनादर आदि से युक्त, (अमणोरमाइ) अमनोहर, (हिययमणदूमकाइ) हृदय और मन को सताप देने वाले, (जावज्जीव) जीवनपर्यन्त (दुरुद्धराणि) मुश्किल से मिटने वाले, (वहुविहाइ) अनेक प्रकार के, (अब्भक्खाणाइ) मिथ्या दोषारोपणो को (पावेंति) पाते हैं। और (अनिट्ठखरफरुसवयण - तज्जण - निब्भच्छण-दीणवदणविमणा) अरुचिकर-अप्रिय, तीखे, कठोर और मर्मभेदी वचनो से डाटडपट, झिडकियो और धिक्कार-तिरस्कार द्वारा दीनमुख और खिन्न चित्त वाले, अतएव (कुभोयणा) खराब भोजन पाने वाले, (कुवाससा) मैलेकुचैले व फटे वस्त्र वाले, (कुवसहीसु किलिस्सता) खराब वस्ती मे क्लेश पाते हुए (अच्चतविपुलदुक्खसयसपलि (उ) त्ता) अत्यन्त विपुल सैंकडो दु खों से युक्त या प्रज्वलित (नेव) न तो (सुख) शारीरिक सुख (उवलभति) पाते हैं (य) और (नेव) न ही (निव्वुइ) मानसिक शान्ति पाते है।

(एसो) यह (सो) पूर्वोक्त (अलियवयणस्स) असत्य बोलने का (फलविवागो) फल-भोग, (इहलोइओ) इस लोकसम्बन्धी (परलोइओ) परलोक सम्बन्धी, (अप्पसुहो) अल्पसुख वाला अर्थात् सुख रहित, (वहुदुक्खो) बहुत दु खो से युक्त (महब्भओ) महाभयानक, (वहुरयप्पगाढो) बहुत कर्मरज के कारण आत्मा के साथ गाढरूप से सम्बद्ध, (दारुणो) तीक्ष्ण, (कक्कसो) कर्कश-कठोर, (असाओ) असाता पैदा करने वाला, (वाससहस्सेहिं) हजारों वर्षो मे, (मुच्चइ) छूटता है। (य) तथा (अवेदयित्ता) बिना भोगे (हु) निश्चय ही, (मोक्खो नत्थि) छुटकारा नहीं होता। (एवं) इस प्रकार (नायकुलनदणो) ज्ञातकुल मे उत्पन्न (महप्पा) महात्मा, (वीरवरनामधेज्जो) महावीर नाम के (जिणो उ) जिने-

श्वर भगवान् ने (अलियवयणस्स) असत्यभाषण का (फलविवाग) फलविपाक—परिणामो का भाग, (कहेसी) कहा था, (एवमाहसु) ऐसा गौतमादि गणधरो ने कहा है। (एय) इस प्रकार (त) वह (अलियवयण) असत्यवचन, (लहुसगलहुचवलभणिय) तुच्छ आत्माओ से भी तुच्छ एव चपल मनुष्यो द्वारा बोला जाने वाला, (भयकर) भयकर है, (दुहकर) दु खप्रद है, (अयसकर) अपयश दिलाने वाला है, (वेरकर) वैर विरोध उत्पन्न करने वाला है, (अरतिरतिरागदोसमणसकिलेसवियरण) अरति, रति, राग, द्वेष एव मन मे सक्लेश पैदा करने वाला है, (अलियनियडिसातिजोगबहुल) असत्य, माया और धूर्तता की प्रवृत्तियो से परिपूर्ण है, (नीयजणनिसेविय) जाति, कुल और कामो से हीन कमीने लोगो द्वारा ही सेवित है, (निसस) घातक है अथवा प्रशसारहित है अथवा नि शेष समस्त (अपच्चयकारकं) अविश्वासो का कारण है, (परमसाहुगरहणिज्ज) उत्कृष्ट साधुओ द्वारा निन्द्य है, (परपीलाकारक) दूसरे प्राणियो को पीडा देने वाला है, (परमकिण्हलेस्ससहिय) परम कृष्णलेश्या से युक्त है, (दुग्गतिविनिवायवड्ढण) दुर्गति के पतन मे वृद्धि करने वाला है,(पुणब्भवकर) पुन पुन जन्म कराने वाला, (चिरपरिचिय) अनादिकाल से परिचित—अभ्यस्त है, (अणुगय) परम्परागत है अथवा (अणागय) भविष्य मे भी साथ जाने वाला है, (दुरत) परिणाम मे दु खदायी है। (वितीय) यह द्वितीय (अधम्मदार) अधर्मद्वार, (समत्त) समाप्त हुआ।

मूलार्थ— उस पूर्वोक्त असत्यभाषण से बधे हुए कर्मफल को नही जानने वाले मनुष्य महाभयकर,निरन्तर वेदना से परिपूर्ण, लम्बे समय तक प्रचुर दु खो से व्याप्त नरक और तिर्यञ्चयोनि का बन्ध करते है और उसकी अवधि को बढाते है। तथा निरन्तर असत्य भाषण मे रचेपचे और चिपटे हुए दुर्गति मे निवास पा कर जीव बार-बार जन्म-मरणरूप घोर अन्धकार मे भटकते रहते है। वे जीव नरक और तिर्यञ्चयोनि से शेष बचे हुए कर्मफलो को भोगने के लिए इस मनुष्यलोक मे आते है , लेकिन यहाँ भी दु खमय स्थिति मे होते है, अन्त मे दु ख पाते है, परतन्त्रता की बेडी मे जकडे रहते है, धन और इन्द्रियो के भोगो से वचित रहते है, सुखो से रहित होते है, अथवा मित्रो से विहीन होते है, वे बीवाई, खाज, खुजली आदि चर्मरोग वाले होते है, उनका चेहरा बडा ही विकराल और शरीर का रग भद्दा होता है, वे कठोर और खुर्दरे शरीर को पाते है, उन्हे कही भी आराम नही मिलता, उनके शरीर की कान्ति फीकी होती है, शरीर खोखला व बलहीन होता है, वे निस्तेज होते है, उनकी वाणी

अस्पप्ट एव निप्फल होती है। वे सस्काररहित (गवार) और सत्कारहीन होते हे, उन्हे सुसस्कृत भापा, सभ्यता और मस्कृति नही मिलती। उनके मु ह शरीर आदि से वदवू निकलती है, उनमे कोई विशेप चेतना (वोध) नही होती। वे अभागे, दरिद्र और लावण्यहीन होते है। उनका स्वर कौए के समान कर्कश होता है, उनकी आवाज धीमी (प्रभावहीन) और फटी होती है, उन्हे विभिन्न लोगो द्वारा सताया जाता है, वे मूर्ख, वहरे, अन्धे, गू गे और तोतले होते हैं, वे स्पप्ट उच्चारण नही कर सकते, उनकी इन्द्रियाँ असुन्दर और विकृत होती हैं, वे जाति, कुल, गोत्र एव कामो से नीच होते ह और नीचा की सगति करते है या नीच लोगो की सेवा मे रहते हैं, जगत् मे वे निन्दा के पात्र होते हैं, वे चाकर व विपम आचार विचार वाले अशिप्ट लोगो के आज्ञापालक हजूरिये वनते हे, या उनके द्वेपपात्र वनते है, वे दुर्वुद्धि होते हे, लौकिक शास्त्र महाभारत रामायण आदि, ऋग्वेद, सामवेद यजुर्वेद आदि वेद, योगशास्त्र, कर्मग्रन्थ, जीवविचारआदि अध्यात्मशास्त्रो एव जैन-वौद्ध आदि आगमो या सिद्धान्तो के वोध या श्रवण से रहित होते हे, अतएव धर्मज्ञान से या धार्मिक बुद्धि से हीन दिखाई देते है।

कालान्तर मे उस (पूर्वोक्त) अनुपशान्त या अशुभ असत्यवादजनित कर्मरूप अग्नि से जलते हुए वे मनुप्य तरह-तरह से अपमानित होते हे, उनकी पीठ पीछे निन्दा होती है, उन्हे वार-वार झिडका जाता है, उनकी चुगली की जाती है, उनमे आपस मे फूट हो जाती है या उनके साथ प्रेमसम्वन्ध तोड दिया जाता है, उन्हे गुरुजनो, स्नेहीजनो, सम्वन्धियो और मित्रो के तीखे, मर्मस्पर्शी व कडवे वचन सुनने पडते हैं, ये और इस प्रकार के और भी मन को नही सुहाने वाले, हृदय और चित्त को चुभने वाले, जिदगीभर मन को कचोटने वाले, बडी मुश्किल से दिल-दिमाग से निकलने वाले नाना प्रकार के दोपारोपण वे पाते है। अरुचिकर, तीखे कठोर और मर्मभेदी चुभते वचनो से डाटडपट झिडकियो और धिक्कार-तिरस्कारो को पा कर उनका मु ह दीन और चित्त सदा खिन्न रहता है। इसी तरह उन्हे खराव भोजन मिलता है, फटे-पुराने, मैले-कुचैले कपडे पहिनने को मिलते है, रहने के लिए निकम्मी वस्ती मिलती है, जहाँ वे क्लेश पाते हैं, अत्यन्त विपुल सैकडो दु खो से वे व्यथित रहते हे। न उन्हे शारीरिक सुख मिलता है और न मानसिक शान्ति ही मिलती है।

इस प्रकार पूर्वोक्त असत्यकथन का फलभोग इस लोक और परलोक

मे थोडे से सुख और बहुत से दुखो वाला है, महाभयकर है, अपार कर्मरज से आत्मा को गाढ वधन मे वाधने वाला है, तीक्ष्ण और कठोर है,असाता पैदा करने वाला है, हजारो वर्षो मे जा कर उससे पिंड छूटता है,उस दारुण दुखद फल को भोगे विना कदापि छुटकारा नही होता ।' इस प्रकार ज्ञातकुलनन्दन महात्मा (चार धातिकर्मो से रहित) महावीर नामक जिनेन्द्रदेव ने असत्य-भापण के फलविपाक का वर्णन किया था, ऐसा गौतमादि गणधरो से कहा हे ।

इस प्रकार वह असत्यभापण तुच्छातितुच्छ एव चचल (वाचाल) मनुष्यो द्वारा बोला जाता है, यह भयकर है, दुखजनक है, अपयश (वदनामी) कराने वाला है, वैर का उत्पादक है, चित्त मे बेचैनी, विपयो मे आसक्ति, मोह,द्वेप, ममत्व और मन मे सक्लेश पैदा करता है,यह अहितकर है,माया और धूर्तता से भरा है, जाति, कुल और कार्यो से नीच लोगो द्वारा ही सेवित है, घातक अथवा अप्रशसित है, समस्त अविश्वासो का कारण है, उत्कृष्ट साधुओ द्वारा निन्दित है, दूसरो को पीडा पहुचाने वाला है,परमकृष्णलेश्या से युक्त है, दुर्गतियो मे पतन को बढावा देने वाला है, ससार मे पुन पुन जन्ममरण का कारण है, चिरकाल से परिचित-अभ्यस्त है, निरन्तर आत्मा के पीछे-पीछे लगा रहने वाला है,अथवा भविष्य मे भी आत्मा के साथ आने वाला है । इसका परिणाम अत्यन्त दुखप्रद है ।

इस तरह दूसरा मृपावाद नाम का अधर्मद्वार सम्पूर्ण हुआ ।

व्याख्या

पूर्व सूत्रपाठ मे असत्य बोलने वालो और साथ ही असत्य बोलने के कारणो पर विशद निरूपण करने के वाद शास्त्रकार इस सूत्रपाठ मे असत्य के कटु फल किस-किस प्रकार से जीवो को भोगने पडते है, उसका स्पष्ट वर्णन करते है । वर्णन बहुत ही स्पष्ट है, मूलार्थ मे उसका अर्थ भी हम कर आए है, फिर भी कुछ बातो पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक समझते है । अत उन पर क्रमश विवेचन कर रहे है—

'अलियस्स फलविवाग अयाणमाणा'—शास्त्रकार ने इस वाक्य से यह स्पष्ट कर दिया हे कि असत्य भापण वे ही करते हैं, जो असत्य के फल के बारे मे नही जानते है, जो असत्य का स्वरूप और असत्य से हानि या कर्मवन्ध के कारण नही जानते या जानते हुए भी अजाने-से वने हुए हैं । धन, सत्ता, पद, उच्च जाति या उच्चकुल के गर्व मे आ कर इस भ्रान्ति के कारण असत्य वोलते है कि मेरे असत्य को कौन जान पाएगा ? अथवा असत्य को वुरा मानते हुए भी पूर्व-सस्कारवश या मेरी असत्यवादिता

को कौन जानता है ? इसका फल तो किसी ने कही देखा नही । इस भ्रमवश असत्य का प्रयोग बेखटके करता है । अथवा अदूरदर्शी मनुष्य असत्य के कटुफल की ओर न झाक कर इष्टपूर्ति या अनिष्ट का निवारण भी असत्य बोल कर करना चाहता है । अथवा धनवान या सत्तावान बनने की धुन मे भावी मे मिलने वाले असत्य के कडवे फलो की ओर नजर नही जाती । या फिर ससार के असत्यवादी लोगो को धनसम्पन्न, ऐश्वर्यशाली या सत्ताधारी बने हुए तथा सत्यवादियो को निर्धन, फटेहाल या दुख-पूर्वक दिन बिताते देख कर भविष्य का विचार किए बिना अटपट असत्य का सहारा ले बैठता है । ऐसा व्यक्ति अपने मन को झूठे निर्णयो से आश्वस्त कर लेता है कि 'असत्य, छल-कपट या फरेब से ही सासारिक कार्य चलते है, धनाढ्य या सत्ताधारी बनने के लिए असत्य का ही आश्रय लेना चाहिए ।' इसी तरह कई बार किसी के भुलावे मे आ कर मनुष्य असत्य की राह पर चल पडता है, भविष्य मे उस असत्य के कटु फल भोगने पडेगे, इस बात को वह उस समय भूल जाता है । कई बार चालाक आदमी यह सोचता है कि मै ऐसी सिफत से असत्य बोलूगा कि किसी को मेरे असत्य का पता तक नही चलेगा । ऐसे लोग भी असत्य के फल भोग का जरा भी विचार नही करते । कई लोग यशकीर्ति या समाज मे प्रतिष्ठा पाने के नशे मे दूसरो की खोटी आलोचना, निन्दा या चुगली करते है । इस प्रकार असत्य की शरण लेने मे वे नतीजे को आँखो से ओझल कर देते है । वे यह नही सोचते कि धन, सत्ता या यश, सुख, लाभ और इनका उपभोग तो सातावेदनीय के उदय से लाभान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से ही हो सकता है । ये और इस प्रकार के विभिन्न कारणो से वस्तु-स्वरूप को न समझ कर तथा असत्यभाषण से अत्यन्त अशुभकर्म का बन्ध होने पर उसके उदय के समय आत्मा की कितनी बुरी हालत होगी, इस बात का विचार न करने वाले सभी मनुष्य फलविपाक से अनभिज्ञो की कोटि मे आते है ।

नरक और तिर्यञ्चयोनि मे असत्य का कुफलभोग—कई लोग यो समझ लेते है कि हिंसा के फल के बारे मे बताते समय शास्त्रकार ने नरकभूमियो तथा नारको की दुस्थिति का एव उसके पश्चात् तिर्यञ्चगति की विविध योनियो का जितना वर्णन किया था, उतना असत्यभाषण का फल बताते समय नहीं किया, इसलिए इस आश्रव या अधर्म (पाप, का इतना भयकर फल नही होगा । परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है । जिस बात का शास्त्रकार पहले वर्णन कर चुके है, उसे बार-बार न दोहरा कर सिर्फ सकेत कर देते है । यहाँ भी इस सूत्रपाठ मे असत्यभाषण का फल बताते समय **'नरयतिरिक्खजोणिं'** कह कर उसके लिए कहा है — **'महब्भय अविस्सामवेयण, दीहकाल बहुदुक्खसकड'** आदि । इसी से समझ लेना चाहिए कि असत्य का कटुफल भी नरक-तिर्यञ्चयोनियो मे बहुत लम्बे अर्से तक दुख भोगना है । यहाँ नरक और तिर्यंच-

योनियो का पुन विस्तार से वर्णन नही किया , इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि असत्य की सजा हिसा से कम है या हलकी है। हाँ, यह ठीक है कि हिंसा की भयकरता तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उससे प्राणी के प्राणो का नाश कर दिया जाता हे और सृष्टि के समस्त प्राणियो पर प्राणवध की निर्दयता, क्रूरता और भयकरता का प्रभाव सीधा पडता है। असत्य का प्रभाव दूसरे प्राणियो पर उतना सीधा नही पडता, प्राणियो को मारने, काटने और सताने का उपदेश, शिक्षा या प्रेरणा देने पर ही पडता है। फिर भी असत्य कम भयकर नही हे। उपदेशादि के रूप मे प्राणियो के होने वाले अहित के रूप मे असत्यवचन का प्रयोग भी एक प्रकार की वाचिक हिंसा है, जिसकी परम्परा दीर्घकाल तक चलती है। इसलिए उसका कुफल भी नरक-तिर्यञ्चयोनि मे बार-बार जन्ममरण करके भोगना पडता है।

मनुष्यगति मे असत्यभाषण की सजा—यह तो निर्विवाद है कि नरकगति और तिर्यञ्चगति मे असत्यभापण की भयकर सजा दीर्घकाल तक विविध योनियो मे भटकने के रूप मे काट लेने के बाद उनमे से कई जीवो को सौभाग्य से मनुष्यगति की भी प्राप्ति होती है, किन्तु मनुष्यगति मे भी उनकी हालत बुरी से बुरी होती है। मनुष्यगति मे वे किस प्रकार की बदतर हालत मे होते है, इसका स्पष्ट निरूपण करते हुए शास्त्रकार स्वय कहते है—'**ते य दिसति दुग्गया नरा धम्मबुद्धिवियला, अच्चतविपुलदुक्खसयसपउत्ता**।" इसका अर्थ हम मूलार्थ मे स्पष्ट कर आये है, इसलिये उसे दुबारा न कह कर, हम इस पर थोडा-सा विश्लेषण कर देते है।

मनुष्य को शारीरिक दण्ड की अपेक्षा मानसिक दण्ड असह्य और नरक की यातना से भी भयकर लगता है। मनुष्य को साधनहीन, दरिद्र, कमजोर और अपाहिज या रुग्ण हो जाने पर पद-पद पर ठोकरे खानी पडती हो, जगह-जगह अपमान के कडवे घूट पीने पडते हो, चारो ओर से निन्दा, झिडकियो और आक्षेपो के वाक्य-बाणो का सतत प्रहार सहना पडता हो, बार-बार तुच्छ और गदे शब्दो मे गालिया, भर्त्सना, अपशब्द एव डॉटडपट की बौछारे झेलनी पडती हो, कल्पना कीजिए, कितनी भयकर सजा है वह ? कितनी दर्दनाक स्थिति है मनुष्य की वह ? सुनने और विचार करने मात्र से ही रोगटे खडे हो जाते है ! असत्यभापण या मृषावाद की यह मानसिक सजा कितनी भयकर है और उसका कितना सजीव चित्र उपस्थित किया है शास्त्रकार ने !

अगर शास्त्रकार इस प्रकार से असत्यभापण के फल-स्वरूप मिलने वाले दड का वर्णन न करते तो भी हम प्रत्यक्ष कई बार अनुभव करते है कि झूठे आदमी का कोई विश्वास नही करता, उसे कोई नौकर नही रखता, उसके साथ लेनदेन का कोई व्यवहार नही करना चाहता, सरकार को उसकी जालसाजी का पता लगने पर उसे सख्त

सजा भी मिलती है। पुराने जमाने मे तो असत्य वोलने वाले की जीभ तक काट ली जाती थी, कई वार उसे शिकारी कुत्तो से नुचवा दिया जाता था, उसके हाथ-पैर काट लिए जाते थे। मित्र और सम्वन्धी-गण असत्यवादी से वात करना पसद नही करते, उसे डाटते-फटकारते भी देखे जाते है। इसलिए यह तो अवश्य ही मानना पडेगा कि असत्य वोलने वालो का समाज और राष्ट्र मे अत्यन्त घृणित जीवन वन जाता है।

क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप मे असत्य का फल—लोकव्यवहार मे हम देखते हैं कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, आघात का प्रत्याघात होता है। जव कोई व्यक्ति किसी कुए मे या पहाडी स्थान पर जोर से चिल्लाता है कि 'तेरा वाप चोर!' तो उसी समय प्रतिध्वनि के रूप मे वे ही शब्द उसे सुनने को मिलते है। इसी प्रकार कोई किसी को निर्वल समझ कर उस पर प्रहार करता है तो कई वार तो तुरन्त ही सवलो द्वारा सामने से प्रहार के रूप मे उसी सिक्के में उसका जवाव दिया जाता है। मूसा पैगम्वर के जमाने मे तो यह सजा आम प्रचलित थी कि अगर तुम्हारा कोई एक दात तोडता है तो तुम उसके सारे दात तोड दो। अगर कोई तुम्हारी एक आख फोडता है तो तुम उसकी दोनो आखे फोड दो। हजरत मुहम्मद ने भी शुद्ध न्याय के नाम पर वरावर वदला लेने का फरमान निकाला था। इसी दृष्टि से जव हम विचार करेंगे तो प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया का हमे पता लगे विना न रहेगा। इसी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक न्याय के तथ्य को सामने रख कर शास्त्रकारो ने प्रत्यक्ष अनुभव की आँखो से मनुष्यगति मे असत्य की सजा पाने वालो की वुरी हालत का वर्णन किया है। जिन्होने पूर्वजन्मो में गालिया वकी है, दूसरो पर झूठा आक्षेप किया है, मिथ्या दोपारोपण करके निन्दित और अपमानित किया है, उन्हे उस असत्य का फल भी प्राय उसी रूप मे मिलता है। उनकी जवान लडखडाती है, तुतलाती है, लोग उन्हें चिढाते है उन पर झूठे आक्षेप और आरोप लगाते है, पद-पद पर उनका तिरस्कार करते हैं। जिन्होने पूर्वजन्म मे दूसरो के अग-भग करने, आखें फोडने, कान काटने, जवान खीचने, वदसूरत वनाने, दूसरो को दु खित करने और मजवूत वन्धनो से कस कर वाधने का उपदेश या प्रेरणा दी है, उन्हे उसका फल प्राय उसी रूप मे इस मनुष्यजन्म मे मिलता है। वे अधे, वहरे, गू गे, अपाहिज, वदसूरत और दु खी वनते है, उन्हें शरीर वदवूदार, घिनौना और कुरूप मिलता है। दूसरो के गुलाम वन कर वे नाना प्रकार की भयकर यातनाए और झिडकिया सहते हैं। उन्हे नीच जनो के यहा नौकरी करनी पडती है, वैसी ही नीचजाति और नीच कुल के वातावरण मे पैदा होने के कारण नीच कर्म करने के लिए वे वाध्य किये जाते है। जिन्होने पूर्वजन्म मे मिथ्या वोल वोल कर दूसरो को ठगा है, धर्म के नाम पर झूठे हिंसाजनक उपदेश दिए हैं, आत्मा-परमात्मा के नाम पर लोगो को अपनी मिथ्या मान्यता मे गुमराह किया है,

जीवन के मूल सत्य सिद्धान्तो का अपलाप करके लोगो को लुभावनी और इन्द्रियविषय की मृगमरीचिका के जाल मे फसने को प्रेरित किया है, सद्धर्म की राह से भटका कर अधर्म और पाप के रास्ते बताए है, धर्म की ओट मे वचना करके जिन्होने दूसरो से बढिया भोजन, उत्तम वस्त्र और आलीशान महल पाए है, ऐसे लोगो को इस जन्म मे भी प्राय शुद्ध धर्म का बोध नही मिलता, वे लौकिक, व्यावहारिक, आध्यात्मिक और धार्मिक शास्त्रो के ज्ञान से वञ्चित रहते है, दर्शनशास्त्र और अध्यात्म के श्रवण से भी वे दूर रहते हे, उन्हे सभ्य और सुसस्कृत लोगो के सहवास के बदले गवार और असस्कारी लोगो का सहवास मिलता हे, धार्मिकजनो के सत्सग के बदले पापीजनो का कुसग प्राप्त होता है, इन्द्रियो के विषयसुखो के उपभोग से वे प्राय वचित ही रहते है, अध्यात्मचेतना के बदले उनमे जडता, मूढता, मिथ्यादृष्टि आदि का ही दुर्भाव देखने को मिलता है। अच्छे भोजन, वस्त्र और निवास के बदले रद्दी से रद्दी भोजन, फटे-पुराने वस्त्र और गन्दे से गन्दे निवासस्थान उन्हे मिलते हे। जिन्होने दूसरो के सच्चे सिद्धान्तो या सच्ची मान्यताओ का खण्डन किया है, स्वर्गादि का मिथ्या आश्वासन दे कर दूसरो को छला है, उन्हे इस जन्म मे वैसी ही दु स्थिति प्राप्त होती है, वाणी भी उन्हे निस्तेज, प्रभावहीन, निष्फल, अस्पष्ट और कौए के समान कर्कशस्वर वाली, धीमी और फटी हुई आवाज वाली मिलती है, वे भी बार-बार छले और सताए जाते है। जिन्होने दूसरो को बहका कर आपस मे लडाया-भिडाया है, सिर फुडाया है, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, या अन्य बातो के नाम पर मनुष्य-मनुष्य मे भेद डाले है, घृणा पैदा की है, सच्चे देव, गुरु, धर्म और शास्त्रो की झूठी निन्दा की है, उनका हाल भी यहा प्राय वैसा ही होता है। मित्र, परिवार, गुरुजन और बन्धु-बाधव सभी उन्हे नफरत की निगाहो से देखते है, उनके प्रति उनका स्नेह जरा भी नही होता, आपस मे कलह-क्लेश के कारण वे सदा उद्विग्न और खिन्न रहते है, जनता मे घृणा और निन्दा के पात्र बनते हैं, जगह-जगह उन्हे अपमान, धिक्कार और मार सहनी पडती है, पद-पद पर उन्हे लताडा जाता है, डाटा-फटकारा जाता है। जिन्होने अपनी पहली जिंदगी मे झूठे तौल-नाप किए हे, लोगो को व्यवसाय मे धोखा दिया है, चोरी और लूट की है, उन्हे इस जीवन मे भी प्राय दरिद्रता साधनहीनता तथा पद-पद पर निर्धनता के कारण यातना, अवमानना और उपेक्षा बदले मे मिलती है। या धन आदि सुख के साधन भी उनके लिए क्लेश, कलह, रोग, शोक आदि के कारण दु ख के साधन बन जाते है। अपनी वैद्यक, ज्योतिष या अन्य जीविका चलाने के लिए जिन्होने असत्य बोल कर लोगो को धोखा दिया है पैसा बटोरा है, उन्हे इस लोक मे रोग, शोक, दु ख, दारिद्र्य, घिनौना रूप, बेडौल और दुर्गन्धित शरीर व अगोपाग मिलते है।

मतलब यह है कि असत्यवचन की क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप मे उन सबको

वदले मे प्राय वैसा ही बुरा प्रतिफल मिलता है। साराश यह है कि ससार मे कौन-सा शारीरिक और मानसिक कष्ट ऐसा है, जो असत्यवादी को न मिलता हो। सवसे वडा आध्यात्मिक कष्ट तो यह हे कि असत्यभापण से जीव को नरक-तिर्यञ्च आदि कुगतिया मिलती है, जहा उसे आध्यात्मिक विकास का कोई अवसर या वातावरण नही मिलता, उसके वाद कदाचित् मनुष्यजन्म मिल भी जाय तो वहा भी उसे जीवन मे कोई आध्यात्मिक विकास की चेतना प्राप्त नही होती, और न आध्यात्मिक वातावरण ही मिलता है। पुन पुन जन्म-मरण के चक्रो मे अज्ञान, मिथ्यात्व और मोह की दशा से जीवन मे अधेरा छाया रहता है, आत्मा का स्वरूप और उसके विकास से ज्ञान पर कुहरा छा जाता हे, मार्ग ही नही दिखाई देता, चलना तो दूर रहा। फिर भला उसे वास्तविक आनन्द कैसे प्राप्त हो ? यह मानवजीवन के लिए सवसे वडी नजरवन्द कैद की-सी सजा है।

असत्यभाषण के फलभोग का स्वरूप—इस सूत्रपाठ के अन्त मे शास्त्रकार सक्षेप मे वताते है—असत्यभापण का फलभोग कैसा है ? '**इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो वहुदुक्खो वाससहस्सेहिं मुच्चइ**। अर्थात् वह इस लोक और परलोक मे अल्पसुखकर और वहुदु खप्रद है, इत्यादि। शास्त्रकार ने इन दो शव्दो मे सारा निचोड दे दिया है। असत्य का यह फलभोग कितना भयकर है, रोम-रोम कपाने वाला है। वडा ही कठोर दड है। आत्मा इतने घने अशुभ कर्मों से आच्छादित हो जाती है कि हजारो वर्षों मे जा कर कही उनसे छुटकारा पाती है।

'**न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो**'—कोई यह कहे कि असत्यभापण का फल भुगाने वाला तो जैनदर्शन की दृष्टि से कोई परमात्मा, विष्णु, खुदा, गॉड, ब्रह्मा या ईश्वर तो है नही, और कोई भी जीव स्वय कडवे फल को क्यो भोगना चाहेगा ? इसलिए असत्यभापण का जो फल वताया है, वह कानून की पोथी की तरह शास्त्र के पन्नो पर ही रहेगा, उसे कोई भोगेगा नही। तब फल वताने से भी क्या लाभ ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार उपर्युक्त वाक्य द्वारा स्पष्टीकरण कर देते है कि इस (पूर्वोक्त) दारुण फल को भोगे विना कदापि छुटकारा नही। जीव चाहे या न चाहे, इस सिद्धान्त को माने या न माने, परन्तु असत्यभापण का कुफल तो उसे भोगना ही पडेगा, उसे भोगे विना कोई चारा नही, फिर चाहे वह रोते-रोते भोगे या हसते-हसते। कर्मो मे स्वय ऐसी शक्ति है कि वे अपने जोर से वलात् उसे उन परिणामो को भोगने के लिए उसी योनि मे खीच ले जाते हैं और नियमानुसार वाकायदा उसे फल भोगने को वाध्य कर देते हे। कोई यह तर्क करे कि जडकर्मो मे इतनी कहाँ ताकत है कि वे आत्मा को उसके किये हुए शुभाशुभ आँचरणो के फल भुगवा सके। इसका समाधान यह है कि जड वस्तुएँ भी अपने अपने स्वभाव के अनुसार चेतन

के साथ सयोग होने पर यथोचित फल देती है। जैसे कोई व्यक्ति जहर को किसी शीशी या वर्तन मे रख दे, तव तक तो वह अपना कोई असर नही दिखाता, किन्तु अगर उस जहर को व्यक्ति अपने मुह मे डाल लेगा यानी चेतना के साथ उस का सयोग करा देगा तो वह अवश्यमेव अपना मृत्युरूप फल दिखायेगा। भाग, शराव आदि नशीली चीजो को भी पेट मे डाल लेने पर वे अवश्य ही नशा चढाएँगी। इसी प्रकार आत्मा भी जव किसी क्रिया को करती है तो उसके तीव्र, मद, मध्यम परिणामो (भावो) के अनुसार कर्मों का वन्ध उसके साथ हो जाता है, वे कर्म गाढरूप से वधे हो तो आत्मा उनका पूरा-पूरा फल भोगे विना वीच मे कदापि छूट नही सकती। आत्मा के साथ कर्मो का सयोग ही वरवस उसे फल भोगने को वाध्य कर देता है। इसलिए जीव को कर्मों का फल भुगाने के लिए परमात्मा, व्रह्मा, विष्णु, ईश्वर आदि कोई भी चाहे न हो और जीव चाहे स्वय भोगने के लिए इच्छुक न हो, तो भी कर्म अपने स्वभावानुसार जीव को फल भोगने के लिए विवश कर देंगे।

असत्यभाषण का सक्षिप्त रूप—इस सूत्रपाठ के उपसहार मे असत्यभापण के स्वरूप का सक्षेप मे चित्रण किया है। इसका अर्थ विलकुल स्पष्ट हे। निष्कर्प यह है कि असत्यभापण भय, दुख, अपयश, वैर, राग, द्वेप, मोह, वेचैनी, क्लेश माया, शोक, अविश्वास, निन्दा, कपट, पीडा, दुर्भावना, दुर्गतिगमन, पुन-पुन जन्ममरण, आदि वातो को वढाने वाला है और चिरकाल से परिचित होने से मनुष्य अज्ञानवश इससे चिपटा रहता है। मनुष्य की जीवनयात्रा को यह शान्त और सुखद नही वनने देता।

एवमाहसु नायकुलनदणो' वीरवरनामधेज्जो—इस वाक्य से शास्त्रकार ने अपनी विनम्रता और भक्ति प्रदर्शित करते हुए शास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध की है कि 'मै अपनी वुद्धि की कल्पना से कुछ भी न कह कर ज्ञातकुलनन्दन महात्मा तीर्थंकर महावीर प्रभु ने असत्य का जैसा वस्तुस्वरूप वताया है, उसी के अनुसार कहता हू।'

इस प्रकार सुवोधिनीव्याख्यासहित प्रश्नव्याकरणसूत्र का द्वितीय अध्ययन और मृषावादआश्रवरूप द्वितीय अधर्मद्वार सम्पूर्ण हुआ।

तृतीय अध्ययन : अदत्तादान आश्रव

अदत्तादान का रूप

असत्य आश्रव का वर्णन करने के पश्चात् अव शास्त्रकार तीसरे आश्रव अदत्तादान का इस तृतीय अधर्मद्वार मे वर्णन करते है। क्योकि अदत्तादान (चोरी) और असत्य का परस्पर गाढ सम्बन्ध है। चोरी करने वाले प्राय झूठ वोला करते हैं। अत अव यहाँ अदत्तादान—चोरी का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम अदत्तादान के स्वरूप का निरूपण करते हैं।

मूलपाठ

जवू ! तइय च अदिण्णादाण हरदहमरणभयकलुसतासण-परसतिगऽभिज्जलोभमूल, कालविसमससिय, अहोऽच्छिन्नतण्ह-पत्थाणपत्थोइमइय,अकित्तिकरणं,अणज्जं, छिद्दमतर-विधुर-वसण-मग्गण-उस्सव-मत्तप्पमत्त-पसुत्तवचण - क्खिवणघायणपराणिहुय-परिणाम-तक्करजण-बहुमय, अकलुणरायपुरिसरक्खिय, सया साहुगरहणिज्जं, पियजणमित्तजण-भेदविप्पीतिकारक रागदोस-बहुल, पुणो य उप्पूरसमरसगामडमरकलि-कलहवेहकरण, दुग्गइ-विणिवायवड्ढण, भवपुणब्भवकर चिरपरिचितमणुगय दुरतं तइय अधम्मदार ॥ सू० ६ ॥

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! तृतीयं च अदत्तादान हर-दह-मरण-भय-कलुष-त्रासन-परसत्का-भिध्यालोभमूलं कालविषमसंश्रितमधोऽच्छिन्नतृष्णाप्रस्थानप्रस्तोत्रीमतिकम-कीर्तिकरणमनार्यम् छिद्रान्तरविधुरव्यसनमार्गणोत्सवमत्त - प्रमत्तप्रसुप्त-

वञ्चनाक्षेपणघातनपरानिभृतपरिणामतस्करजनबहुमतमकरुण राजपुरुषरक्षित सदा साधुगर्हणीय प्रियजन-मित्रजनभेदविप्रीतिकारकम् रागद्वेषबहुल पुनश्चोत्पूरसमरसंग्रामडमरकलिकलहवेधकरण दुर्गतिविनिपातवर्द्धन भवपुनर्भवकर चिरपरिचितमनुगत दुरन्त तृतीयमधर्मद्वारम् ।। सू० ६ ।।

पदार्थान्वय—सुधर्मास्वामी कहते हैं—(जबू !) हे जम्बू ! (तइय च) तीसरा (अदिण्णादान) अदत्तादान—चोरी (हर-दह-मरण-भय-कलुस-तासण-परसतिगऽभिज्ज-लोभमूल) हरण, दाह, मृत्यु और भयरूप हे, मलिन है, त्रास पैदा करने वाला है, परधन मे रौद्रध्यानयुक्त मूर्च्छा—लोभ इसका मूल हे, (कालविसमससिय) आधीरात आदि काल और पर्वत आदि विषम स्थान का आश्रय लेने वाला है, (अहोऽच्छिन्न-तण्हपत्थाणपत्थोइमइय) जिसमे लगातार तृष्णातुर जीवो को अधोगति मे प्रस्थान करने मे प्रवृत्त करने वाली बुद्धि है, (अकित्तिकरण) अपयश का जनक, (अणज्ज) आर्यपुरुषो द्वारा अनाचरणीय, (छिद्दमतर-विधुर-वसण-मग्गण-उस्सव-मत्त-पमत्त-पसुत्त-वचण-विखवण-घायण-पराणिहुय - परिणाम - तक्करजणबहुमय) छिद्र, अवसर, विधुर-अपाय, व्यसन—राजा आदि द्वारा ढहाई हुई आफत का अन्वेषण करने वाला तथा उत्सवो मे शराब आदि के नशे मे चूर, असावधान तथा सोये हुए मनुष्यो को ठगने वाला, चित्त मे व्याकुलता पैदा करने और घात करने मे तत्पर, तथा अशान्त-चचल परिणामवाले चोर लोगो द्वारा अत्यन्त मान्य है, (अकलुण) करुणारहित कर्म है, (राजपुरिसरक्खिय) चौकीदार, कोतवाल आदि राजपुरुषो द्वारा निवारित है, (सया साहुगरहणिज्ज) सदा साधुओ द्वारा निन्दित, (पियजणमित्तजणभेदविप्पीति-कारक) प्रियजनो एव मित्रजनो मे परस्पर फूट और अप्रीति—दुश्मनी पैदा करने वाला, (रागदोसबहुल) रागद्वेष से ओतप्रोत है। (पुणो य) और फिर यह (उप्पूर-समर-सगाम-डमर-कलि-कलह-वेहकरण) बहुतायत से मनुष्यो को मारने वाले सग्रामो, स्वचक्र - परचक्र मे डमरो-विप्लवो, लडाई-झगडो—वाक्कलहो और पश्चात्ताप का कारण है, (दुग्गइविणिवायवड्ढण) दुर्गतिपतन मे वृद्धि करने वाला, (भवपुणब्भवकर) ससार मे वारबार जन्म कराने वाला, (चिरपरिचित) चिरकाल से परिचित, (अणुगय) निरन्तर आत्मा के साथ लगा हुआ, (य) और (दुरत) परिणाम मे दु खप्रद यह (तइय) तीसरा (अधम्मदार) अधर्मद्वार है।

मूलार्थ—सुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कहते है—हे जम्बू! तीसरा अदत्तादान विना दी हुई या विना अनुमति के किसी की पराई वस्तु का लेना) हरणरूप है व चित्त को जलाने वाला है, मृत्यु और भयरूप है, पापो

व्याख्या

मृषावाद का निरूपण करने के पश्चात् शास्त्रकार अदत्तादान का निरूपण करने की इच्छा से स्वरूप, नाम आदि पूर्वोक्त पाच द्वारो मे से सर्वप्रथम अदत्तादान के स्वरूप का वर्णन करते है—'जबू ! तइय च अदिण्णादाण'—सुधर्मास्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है—'जम्बू ! यह तीसरा महापाप अदत्तादान है।'

अदत्तादान का लक्षण—जिस वस्तु पर अपना स्वामित्व नही है, उसे बिना दिये या बिना अनुमति के ग्रहण कर लेना या दूसरे के अधिकार की वस्तु को अपने कब्जे मे कर लेना अदत्तादान कहलाता है। इसे चोरी, चौर्य, स्तेय आदि भी कहते हैं। ऐसी अदत्त वस्तु धन, या कोई भी वस्तु वस्त्र,बर्तन आदि साधन या मकान आदि भी हो सकती है।

शास्त्र मे ऐसा अदत्त चार प्रकार का बताया है—स्वामी का अदत्त, जीव का अदत्त, गुरु का अदत्त, तीर्थंकर का अदत्त। इन चारो के भी द्रव्य से (ग्रहण करने योग्य कोई भी वस्तु), क्षेत्र से (सर्व लोक मे), काल से (दिन और रात मे), भाव से (रागद्वेष से) अदत्त होते है। इस प्रकार कुल मिला कर ४+४=१६ भेद अदत्त के हुए। इन सभी प्रकार के अदत्तो का महाव्रती साधु-साध्वी तीन करण एव तीन योग

से त्याग करते है। गृहस्थ श्रावक के लिए स्थूलरूप से अदत्तादान के त्याग का विधान है।

हर-दह-मरण-भय-कलुस-तासण-परसतिगऽभिज्जलोभमूल—चोरी का मूल क्या है? इसका विश्लेपण करते हुए शास्त्रकार सर्वप्रथम इन सब पदो को प्रस्तुत करते है। हर और दह ये दोनो शब्द हरण और दहन के पर्यायवाची हैं। चोर जब चोरी करने जाते है तो घर का स्वामी या अन्य लोग जब उन्हे धन नही बताते है तो वे जबरन उनका धन छीन लेते हैं, या उनकी प्रिय वस्तुओ का हरण कर लेते है। कई बार वे गुस्से मे आ कर घर मे आग भी लगा देते हैं, अथवा हृदय मे सताप पैदा करते है, दूसरो को जान से भी मार देते हैं। कई बार खुद की जान को भी खतरा रहता है, चोर स्वय भी भयभीत रहते हैं, चोरी से दूसरे भी बहुत भयभीत रहते है। चोरी अत्यन्त कलुपित कार्य है। चोरी करने वाले को तथा जिसके यहाँ चोरी होती है,उसे अत्यन्त त्रास पैदा होता है। चोर विरोधियो द्वारा जान से मारे जाते है,पकडे जाने पर जेलखाने मे नरक की-सी यातना भोगते हैं, उनके हाथपैर काट लिये जाते है, वे परलोक मे भी नरक-तिर्यञ्चगति मे भयकर दु ख पाते है। इस तरह जिस चोरी के निमित्त से ये अनर्थ और सक्लेश पैदा होते है, उसका मूल कारण पराये धन को अपने कब्जे मे करने की लिप्सा है, जिसे पूरी करता है मनुष्य स्तेनानु-बन्धी रौद्रध्यान से प्रेरित होकर। रौद्रध्यान के ४ भेद हैं—हिंसानुबन्धी, स्तेनानुबन्धी, मृपानुबन्धी और सरक्षणानुबन्धी। चोरी करने मे ही चित्त लगाए रखना, रात-दिन चोरी करने के स्थानो, तरकीबो और योजनाओ को मन मे घुलाते रहना, चोरी करने के तरीको पर ही मन को एकाग्र कर लेना और इसी उधेडबुन मे लगे रहना स्तेनानुबन्धी रौद्रध्यान है। इस प्रकार इस वाक्य मे चोरी का विश्लेपणमूलक स्वरूप बताया है।

कालविसमससिय—चोरी करने वाला प्राय रात को, जब लोग सो जाते है, तभी चोरी करने निकलता है। उसके पश्चात् बात ठडी पड जाय, इसलिए एक-दो महीने गुफा, खोह, बीहड, घने जगल आदि विपम स्थानो मे जा कर छिपता है, माल भी वही कही गाड देता है, इस प्रकार चोरी विपमकाल और विपमस्थान के आश्रय से की जाती है।

अहोऽच्छिन्नतण्हपत्थाणपत्थोइमइय—चोरी सतत तृष्णातुर व्यक्ति ही करता है, जिसमे ऐसी घोर लालसा होती है, उसकी बुद्धि अपने लिए नरक मे जाने का रास्ता तैयार कर लेती है।

अकित्तिकर—चोरी करने वाले की समाज मे कोई कीर्ति या प्रतिष्ठा नही

होती, राष्ट्र मे भी उसका सम्मान नही होता। परिवार मे भी उसकी वदनामी होती है। इस प्रकार चोरी वदनामी ही कराती है।

अणज्ज—चोरी अपने आप मे अनार्यकर्म है। म्लेच्छ या असभ्य लोग ही इसे अपनाते है, सभ्य या आर्य व्यक्ति तो अपनी मेहनत से कमाई करके जीते ह। वे चोरी को पास भी नही फटकने देते।

छिद्द-मतर तक्करजणवहुमय—चोरी करने के लिए चोर मकानो के दरवाजे या घुसने का रास्ता देखता रहता है, मत्रणा भी करता है, अथवा चोरी करने के अवसरो (मौको) की ताक मे रहता है। चोरी करने मे क्या-क्या खतरा या नुकसान उठाना पडगा ? इसका भी विचार करता है,राजा आदि द्वारा अपने पर क्या-क्या आफते आ सकती है ? इसे भी चोर सोचता है। मेलो-ठेलो, उत्सवो,त्यौहारो और भीडभडक्को मे चोरो का दाव लगता है, ऐसे मौको पर लोग नशे मे चूर हो कर पडे रहते है,वेफिक्र हो कर सो जाते है,या इधर-उधर चले जाते है,घर छोड कर एक जगह इकट्ठे हो जाते है, ऐसे मौको पर लोगो की असावधानी का लाभ उठा कर वे चोरी करते है। साथ ही क्लोरोफार्म जैसी वेहोशी की दवा से वेहोश करके उनका माल ले कर चपत हो जाते है। कई वार घर के मालिक आदि को जान से मार कर द्रव्य ले कर भाग जाते है, चोरी करने मे चोर के परिणाम वहुत ही अशान्त रहते है, चोरो के लिए स्वपरिश्रम की अपेक्षा चोरी का रास्ता ही वहुमान्य होता है।

अकलुण-रायपुरिसरक्खिय—चोरी करना करुणाहीनता का कार्य है। जिसमे सहृदयता होती है, करुणा का निवास होता है वह इस करुणाहीन कार्य को नही करता। अक्सर चोर अपना हृदय पापाणवत् कठोर वना कर ही दूसरे के घरो पर छापा मारते है। वे चोरी करते समय व्यक्ति की धनिकता-निर्धनता एव परिस्थिति-अपरिस्थिति आदि का कतई विचार नही करते। जिस राज्य मे चोरी होती है, वह राज्य-शामन प्रवन्ध की दृष्टि से निकृष्ट माना जाता है, उससे शासक की भी अयोग्यता सावित होती है। इसलिए शासनकर्ता लोग राज्य मे कही चोरी न होने पावे,इसके लिए जगह-जगह राजकर्मचारियो को तैनात करते है, पहरेदारो को रख कर चोरी से रक्षा की व्यवस्था करते है।

सया साहुगरहणिज्ज—साधु-महात्मा चोरी जैसे महापाप को निन्द्यकर्म, घृणित व्यवसाय और गर्हित जीविका मानते है। वे ऐसे समाजघातक,राष्ट्रद्रोही कार्यों की सदा ही निन्दा करते ह।

पियजणमित्तजणभेदविप्पीतिकारक—चोरी करने वाले को उसके प्रियजन और मित्रजन शका की दृष्टि से देखते है, वे उससे सशक रहते है कि कभी हमारे माल पर भी यह हाथ साफ न कर जाय। इसलिए उनके साथ चोरी करने वाले

की मैत्री टूट जाती है, उनमे आपस मे फूट पड जाती है, अप्रीति भी पैदा हो जाती है। अत चोरी परस्पर अविश्वास और फूट पैदा करने वाली व प्रीति-विनाशिनी है।

रागदोसबहुल—चोरी करने वाले मे धन और मुफ्त के माल को हडपने और अपना बना लेने का राग और मोह होता है, साथ ही उसके मार्ग मे विघ्न डालने वालो या सामने करने वालो के प्रति द्वेष भी पैदा होता है। अत चोरी राग-द्वेषवर्द्धक है।

उप्पूरसमरसगामडमरकलिकलहवेहकरण—ससार मे आज तक जितने भी युद्ध हुए है, उनमे लाखो-करोडो मनुष्यो का सहार हुआ है। और वे सब हुए है या तो राज्य छीनने के लिए, या धन और सुन्दरी का अपहरण करने के लिए। चोरी का माल जहाँ आता है, वहाँ उस घर के लोगो की मनोवृत्ति हराम का माल खाने की बन जाती है,इसलिए वे मुफ्त के उस माल को हथियाने के लिए परस्पर लडते-भिडते है, उनमे आपस मे तू-तू-मैं-मैं होती है,कई जगह राज्य या धन को हथियाने के लिए विद्रोह या विप्लव पैदा होता है, कही आपस मे लट्ठ बजते है, सिरफुटौव्वल मचती है और कही आपसी सघर्ष के बाद जब कुछ हाथ नही आता या दोनो तरफ के आदमी मारे जाते है तो पछतावा होता है। इस तरह चोरी, विद्रोह, लडाई-झगडे, वैरविरोध और पश्चात्ताप की जननी है।

दुग्गइविणिवायवड्ढण—चोरी करने वाले की आत्मा सदा रौद्रध्यान मे तल्लीन रहती है, अत उसको कर्मबन्ध,भी प्राय दुर्गति का ही होता है। बन्ध होने पर अनुभाग-बन्ध और स्थितिबन्ध मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। यानी दुर्गतिरूपी जेल मे पडे रहने की अवधि वह लम्बी बढा लेता है।

भवपुणब्भवकर—चोरी के कारण पापानुबन्धी पाप का बन्ध होने से प्राय बार-बार जन्म-मरण करना पडता है। इसलिए चोरी बार-बार जन्म-मरण का कारण है।

चिरपरिचियमणुगय दुरत—अशुभ कर्मों के उदय से चोरी करने वाला बार-बार कुगति मे जाता है और कुगति मे इसी पापकर्म को वह पुन पुन करता है। इस लिए वह चिरकाल से चोरी से परिचित और अभ्यस्त हो जाता है। फिर तो चोरी का पाप आत्मा के साथ निरन्तर लगा रहता है, इससे बडी मुश्किल से पिंड छुडाना होता है।

तइय अधम्मदार—इस प्रकार चोरी अधर्म का तीसरा द्वार है। अधर्मद्वार मे प्रवेश करने के बाद झट पट निकलना नही हो सकता, क्योकि उसका सिरा नही मिलता। एक छोर से दूसरे छोर तक जिधर देखो उधर अधर्म का ही वातावरण मिलता है।

अदत्तादान के पर्यायवाची नाम

अदत्तादान का स्वरूप बताने के बाद अब शास्त्रकार अदत्तादान के गुणनिष्पन्न एकार्थक पर्यायवाची शब्दो का निरूपण करते है—

मूलपाठ

तस्य य णामाणि गोण्णाणि होति तीस,तजहा—१ चोरिक्क २ परहड, ३ अदत्त ४ कूरिकड, ५ परलाभो, ६ असजमो, ७ परधणम्मि गेही,८ लोल्लिक्क, ९ तक्करत्तर्णति य १० अवहारो ११ हत्थलहुत्तण,[1] १२ पावकम्मकरण, १३ तेणिक्क, १४ हरणविप्प-णासो, १५ आदियणा, १६ लुपणा धणाण, १७ अप्पच्चओ १८ अवीलो, १९ अक्खेवो, २० खेवो, २१ विक्खेवो, २२ कूडया, २३ कुलमसी य, २४ कखा,२५ लालप्पणपत्थणा य, २६ आसस-णाय वसण, २७ इच्छामुच्छा य, २८ तण्हागेहि, २९ नियडिकम्म ३० अपरच्छति वि य। तस्स एयाणि एवमादीणि नामधेज्जाणि होति तीस अदिन्नादाणस्स पावकलिकलुसकम्मबहुलस्स अणेगाइ ॥ सू० १०॥

सस्कृतच्छाया

तस्य च नामानि गौणानि (गुण्यानि) भवन्ति त्रिंशत्, तद्यथा—१ चौरिक्य, २ परहृत, ३ अदत्त, ४ क्रूरिकृत, ५ परलाभ., ६ असयम., ७ पर-धने गृद्धिः, ८ लौल्य, ९ तस्करत्वमिति च, १० अपहारो, ११ हस्तलघुत्व (लाघवत्व), १२ पापकर्मकरण, १३ स्तेय, १४ हरणविप्रणाश., १५ आदान, १६ लोपना धनाना, १७ अप्रत्यय. १८ अवपीड १९ आक्षेप. २० क्षेपः, २१ विक्षेपः, २२ कूटता, २३ कुलमषी च, २४ काक्षा, २५ लालपन-प्रार्थना च,२६ आशसनाय व्यसन २७ इच्छा-मूर्च्छा च, २८ तृष्णागृद्धिः २९ निकृतिकर्म ३० अपरोक्षमित्यपि च। तस्यैतान्येवमादीनि नामधेयानि भवन्ति त्रिशद् अदत्ता-दानस्य पापकलिकलुषकर्मबहुलस्यानेकानि ॥१० सू०॥

---

१ 'हत्थलहुत्तण' पाठ भी कही मिलता है। —सपादक

पदार्थान्वय—(तस्स य) उस अदत्तादान के, (गोण्णाणि) गुणनिष्पन्न सार्थक, (तीस) तीस, (नामाणि) नाम, (होंति) हैं। (तजहा) वे इस प्रकार हे—(चोरिक्क) चोरी, (परहड) दूसरे से छीनना, (अदत्त) विना दिये दूसरे की चीज लेना, (कूरिकड) क्रूर व्यक्तियो का कृत्य, (परलाभो) पराये धनादि का लाभ, (असजमो) असयम (परधणम्मि गेही) दूसरो के धन पर गृद्धि-आसक्ति, (लोलिक्क) दूसरे की वस्तु की लम्पटता, (तक्करत्तण) लुटेरो का काम या तस्करता, (इति च) और (अवहारो) वस्तु का अपहरण, (हत्थलहुत्तण) दूसरो की चीज उडाने मे हाथ की सफाई, (पावकम्मकरण) पापकर्मो का कारण, (तेणिक्क) चोरो का कार्य, (हरणविप्पणासो) दूसरे के धनादि का हरण करके भाग जाना, (आदियणा) दूसरे के धन का ग्रहण करना, (लुपणा धणाण) दूसरे की सपत्तियो को गायब करना, (अप्पच्चओ) अप्रतीतिकारक, (अवीलो) दूसरो को पीडारूप, (अक्खेवो) दूसरे के द्रव्य पर झपटना, (खेवो) दूसरे के हाथ से द्रव्य छीनना, (विक्खेवो) दूसरे के हाथ से द्रव्य ले कर इधर-उधर कर देना, (कूडया) झूठा तौल-नाप करना या झूठा व्यवहार या जालसाजी (कुलमसी य) और कुल पर कलक या कालिमा लगाना, (कखा) परद्रव्य की अभिलाषा, (य) और (लालप्पणपत्थणा) लल्लोचप्पो करके दीन शब्दो मे याचना करना, (आससणाय वसण) विनाश के लिए व्यसन, (इच्छा-मुच्छा) परधन की चाह और अत्यत आसक्ति, (तण्हागेहि) प्राप्त द्रव्य को खर्च न करने की इच्छा तथा अप्राप्त द्रव्य को प्राप्त करने की लालसा, (नियडिकम्म) छलकपटपूर्वक कर्म (य) और (अपरच्छति वि) परोक्ष मे किया जाने वाला कार्य। इस प्रकार (पावकलिकलुसकम्मबहुलस्स) पापकर्म और कलह से होने वाले मलिन कामो से ओतप्रोत, (अदिण्णादाणस्स) अदत्तादान के (एयाणि) ये (तीस) तीस नाम और (एवमादीणि) ऐसे और भी (अणेगाइ) अनेक (नामधेज्जाणि) नाम (होंति) हैं।

मूलार्थ—जिसके स्वरूप का वर्णन किया गया है, उस अदत्तादान (चोरी) के ये गुणनिष्पन्न सार्थक तीस नाम है। वे इस प्रकार है—१ चोरी, २—दूसरे से वस्तु को छीन लेना, ३ विना दिये दूसरे की वस्तु ले लेना, ४—क्रूर मनुष्यो का कार्य, ५—दूसरो के धन से अनुचित लाभ उठाना, ६—हाथ-पैर व मन आदि का असयम, ७—पराये धन मे गृद्धि रखना, ८—दूसरो के द्रव्य मे मन का चलायमान होना, ९—लुटेरो का काम, १०—वस्तु का अपहरण, ११—दूसरे की वस्तु को उडाने मे हाथ की सफाई, १२—पापकर्मों का कारण, १३—चोरो का काम, १४ दूसरो का धनादि

चुरा कर भाग जाना या नष्ट-भ्रष्ट कर देना, १५ —बिना आज्ञा के परद्रव्य-ग्रहण करना, १६—दूसरे के धन या वस्तु को गायब कर देना, १७—अविश्वास का कारण, १८—परपीडाकारक १९—पराये धन पर झपटना, २०—दूसरो के हाथ से द्रव्य छीनना, २१—दूसरो के हाथ से द्रव्य छीन कर खुर्द-बुर्द कर देना, २२ तौलने-नापने के उपकरणो मे बेईमानी करना, २३—कुल मे कलक लगाने का कारण, २४—दूसरे के द्रव्य की अभिलाषा करना, २५ लल्लोचप्पो करके दूसरो से अर्थ की याचना करना, २६ —पराई वस्तु को नष्ट करने की बुरी आदत, २७—पराये धन की इच्छा करना और उसमे गाढ आसक्ति रखना, २८—प्राप्त द्रव्य को खर्च न करने की इच्छा और अप्राप्त द्रव्य को पाने की लालसा, २९ मायाचार (जालसाजी) से किया हुआ कर्म, ३०—परोक्ष मे (दूसरे की आख बचा कर) किया जाने वाला काम। इस तरह पापकर्म और कलह से होने वाले मलिन कामो से भरे हुए अदत्तादान के ये तीस नाम है तथा ऐसे और भी अनेक नाम है।

व्याख्या

प्रस्तुत मूलपाठ मे शास्त्रकार ने अदत्तादान के ३० गुणनिष्पन्न सार्थक नाम बताये है। वैसे तो मूलार्थ मे प्रत्येक का अर्थ हम स्पष्ट कर आए है, लेकिन अदत्तादान के इन पर्यायवाची नामो की सार्थकता सिद्ध करने की दृष्टि से यहा कुछ विश्लेषण करना अप्रासगिक नही होगा।

चोरिक्क—किसी वस्तु को, चाहे वह मार्ग मे ही पडी हो, कोई भूल से छोड गया हो, असावधानी से गिरी हुई हो, उसके स्वामी की आज्ञा या इच्छा के बिना अपने कब्जे मे कर लेना चोरी है। यहाँ शका हो सकती है कि कुँए आदि जलाशय से पानी, हाथ आदि साफ करने के लिए मिट्टी, दाँत आदि साफ करने के लिए दतौन की लकडी, किसी कार्य के लिए तिनका आदि चीजे उनके स्वामी की आज्ञा के बिना भी ग्रहण की जाती हैं, किसी शासक से बिना पूछे उसके राज्य मे नगर, गली या मुहल्ले मे प्रवेश किया जाता है, क्या यह भी चोरी ही कही जायगी ? इसका समाधान यह है कि प्रथम तो जिस चीज का कोई स्वामी नही होता या जो चीज सार्वजनिक होती है या उसका मालिक सभी के उपयोग के लिए उसे खुली (मुक्त) कर देता है, जिसे ग्रहण करने से या जिसका उपयोग करने पर लोकव्यवहार मे कोई निन्दा नही होती, जिसके लिए निषेधाज्ञा जारी करके सरकारी कानून नही बना है, अत सरकार उसे दण्ड नही देती, जिसे ग्रहण या उपयोग करने के पीछे अपने अधीन बनाने की

भावना नही होती, अथवा जिसे चोर का कर्म नही माना जाता, उसे व्यवहार मे चोरी नही कहा जा सकता। हालाकि महाव्रती साधुओ के लिए तो प्रत्येक चीज, चाहे वह सार्वजनिक हो या व्यक्तिगत मालिकी की, आज्ञा के बिना ग्रहण करने का निषेध है। जिसका कोई स्वामी न हो उस वस्तु का भी शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा लेकर ग्रहण या उपयोग करने का विधान है। परन्तु गहस्थ के लिए ऐसा कडा विधान नही हे। प्रस्तुत सूत्रपाठ मे इसीलिए 'चोरिक्क' पद दिया है, जिसका अर्थ होता है—चोरी की भावना से किया जाने वाला कर्म। अत इसे अदत्तादान का पर्यायवाचो शब्द कहना ठीक ही है।

परहड—पराये धन या पदार्थ का हरण कर लेने को भी 'परहृत' के रूप मे अदत्तादान का साथी कहना उचित हे। क्योकि दूसरे की वस्तु (स्त्री-पुत्र-धनादि) का हरण करते समय हरण करने वाला किसी के देने से या उसके मालिक की स्वेच्छा से नही लेता, इसलिए 'परहृत' भी चोरी है। इसी प्रकार अमानत या धरोहर के रूप मे रखे गए पराये धन या पर पदार्थ का अपने कब्जे मे कर लेना, उसे अपने उपयोग मे लेना या दूसरे के द्वारा लिखी गई पुस्तक पर लेखक के रूप मे अपना नाम दे देना आदि भी 'परहृत' के प्रकार है।

अदत्त—इसका अर्थ स्पष्ट है—बिना दिये हुए का ग्रहण।

कूरिकड—चोरी बडे ही साहस और क्रूरता का कार्य है। इसलिए क्रूरता-पूर्वक किये जाने के कारण इसे 'क्रूरिकृत' कहा जाना भी सार्थक है। यह भा अदत्तादान का साथी है।

परलाभो—दूसरे की वस्तु से उसकी इजाजत या इच्छा के बिना लाभ उठाना भी 'परलाभ' के रूप मे चोरी है। जैसे कोई व्यक्ति किसी की गाय या बकरी उसके मालिक की अनुमति के बगैर दुह ले, या अमानत या धरोहर रखी हुई पराई चीज से भी इसी प्रकार नाजायज फायदा उठाए, किसी मकान को उसके मालिक से बिना पूछे ही अपने उपयोग मे ले ले इत्यादि सब 'परलाभ' के अन्तर्गत आ जाते है। इसलिए परलाभ को भी अदत्तादान का भाई समझना चाहिए।

असजमो—जिसके मन, इन्द्रियो या हाथ-पैरो पर अकुश (सयम) नही होता, वह खुले हुए पशु की तरह दूसरो के घर उजाडता है। इसलिए अदत्तादान को असयमरूप बताना वास्तव मे यथार्थ है।

परधणम्मि गेही—चोरी की मुख्य प्रेरणा ही पराये धन पर गृद्धि रखने से होती है। जब मनुष्य दूसरो के धन को हडप लेने के लिए लालायित रहता है, तभी वह अदत्तादान मे प्रवृत्ति करता है। इसलिए परधनगृद्धि को अदत्तादान की जननी कहे तो कोई अत्युक्ति नही होगी।

लोलिक्क—पराई मनपसद वस्तु देख कर उसे किसी भी उपाय से लेने के लिए मन का चलायमान होना 'लौल्य' कहलाता है। यह लोलुपता की चचलवृत्ति ही चोरी को उत्तेजन देती हे। इसलिए लौल्य को अदत्तादान का जनक कहना उचित ही हे।

तक्करत्तणति य—जव मनुष्य चोरी करने मे अभ्यस्त हो जाता हे तो वह प्राणो के खतरे की भी परवाह न करके डाका डालने लगता है, साहस करके दूसरो के मकान पर छापा मारता है, अथवा राज्यदण्ड की परवाह न करके चुगी वचाने के लोभ मे तस्करव्यापार (स्मर्गलिग) करता है। ऐसी तस्करता अदत्तादान की वहन नही तो क्या हे? इसलिए तस्करत्व को अदत्तादान का पर्यायवाची ठीक ही वताया है।

अवहारो—किसी भी सजीव या निर्जीव वस्तु का छिप कर, जवर्दस्ती, या धोखा देकर अथवा किसी की गफलत से लाभ उठा कर अपहरण कर लेना अपहार है, और वह भी एक प्रकार का अदत्तादान होने से उसे अदत्तादान का पर्यायवाची कहना यथार्थ है।

हत्थलहुत्तण—कई लोग किसी की जेव, अलमारी, सदूक या कैसवक्स मे पडे हुए धन को ऐसी सिफ्त से चुराते हैं कि उसके मालिक को पता ही नही लग पाता। यह हस्तलाघव या हाथ की सफाई वास्तव मे अदत्तादान का ही प्रकार है, इसलिए इसे अदत्तादान का पर्यायवाची कहना उचित है।

पावकम्मकरण—चोरी करने वाले व्यक्ति मे हिंसा, असत्य, परिग्रह, क्रूरता, निर्दयता, माया, लोभ, क्रोध आदि पापकर्म स्वाभाविक ही पाये जाते है। इसलिए अदत्तादान अनेक पापकर्म का कारण होने से इसे 'पापकर्मकरण' कहना यथार्थ है।

तेणिक्क—चोरो का मुख्य कार्य चोरी करना है। वे झूठ वोलते हैं, छल करते हैं, हत्या, मारपीट आदि करते हैं और इन सवको करते है चोरी के लिए ही। इसलिए अदत्तादान को चोरो का काम (स्तेय) वताना उचित ही है।

हरणविप्पणासो—किसी की चीज उडा कर भाग जाना हरणविप्रणाश है, अथवा किसी की चीज को हरण कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देने को भी हरणविप्रणाश कहते हैं। यह भी अदत्तादान का साथी होने से उसका पर्यायवाची शव्द ठीक ही है।

आदियणा—दूसरो का धन या पदार्थ माग कर ले लेना, किन्तु उसे वापिस न लौटाना या लौटाने से इन्कार कर देना भी, आदान नामक अपराध है, जो चोरी की कोटि मे ही है।

लुपणा धणाण—किसी के धन या पदार्थ को हजम कर जाने या अपने कब्जे मे करने की नीयत से गायव कर देना, पता न चल सके, इस प्रकार से गुम कर देना धन-लोपना है, जो कि अदत्तादान की ही वहन है।

अप्पच्चओ—ससार मे चोरी करने वाले व्यक्ति का कोई विश्वास नही होता, उस पर प्रतीति करके कोई भी जिम्मेवारी का काम नही सोपता। जिमकी चोरी करने की आदत हो, उस पर परिवार व समाज के लोग भी भरोसा नही करते। इसलिए अदत्तादान अप्रत्यय का उत्पादक होने से, उसे अप्रत्यय कहना ठीक ही है।

अवीलो—चोरी दूसरो को भी पीडा देती रहती है, और स्वय चोर के मन को भी वरावर कचोटती रहती है। इसलिए पीडा का कारण होने से अदत्तादान को 'अवपीड' कहना युक्तिसगत है।

अक्खेवो—चोरी करने वाला प्राय कई वार दूसरो के माल पर एकदम झपटता है वह मीधा लपक कर उस पर टूट पडता है, इसलिए आक्षेप नामक अवगुण भी अदत्तादान की पूर्व तैयारी के रूप होने से इसे अदत्तादान का पर्यायवाची वताया गया है।

खेवो—दूसरे के हाथ से द्रव्य छीन लेना क्षेप है, जो अदत्तादान का ही साथी है। इसलिए इसे क्षेप कहना भी अनुचित नही है।

विक्खेवो—दूसरे के हाथ से द्रव्य लेकर इधर-उधर कर देना या फेक देना अथवा खुर्द बुर्द कर देना विक्षेप है, जो अदत्तादान का मित्र है।

कूडया—कूटता कहते है—वेईमानी को। किसी माल के तौलने-नापने, दिखाने-देने, वेचने-खरीदने मे फरेब करना, गडबड करना, मिलावट करना, जालसाजी करना या चकमा देना, ये और इसी तरह के व्यवहार कूटता के प्रकार हैं। कूटता अदत्तादान से किसी भी तरह कम नही है। चोर, डाकू तो सीधे ही चोरी या डकैती करते है, परन्तु ये लोगो की आखो मे धूल झौक कर उनका पैसा निकलवा लेते है, इसलिए कूटता को अदत्तादान की दादी कहे तो कोई अत्युक्ति नही।

कुलमसी य—चोरी जैसे धधे करने वाले व्यक्ति कुल को कलकित करते है, अपने कुल की प्रतिष्ठा पर कालिख पोत देते हैं। इसलिए अदत्तादान कुल पर कालिमा लगाने वाला होने से इसे 'कुलमपी' ठीक ही कहा है।

कखा—मनुष्य विविध प्रकार की महत्त्वाकाक्षाए तथा वडी-वडी आशाए सजोता है, वडप्पन पाने की भी वडी लालसा मन मे होती है। जव प्रतिष्ठा पाने, वडे वनने के लिए साधनो की पूर्ति अपनी न्यायोपार्जित कमाई से नही होतो तो, वह अन्याय, अत्याचार, शोपण, गवन, रिश्वत, लूट आदि के द्वारा उसकी पूर्ति करता है। इस-

लिए 'कांक्षा' भी चोरी मे प्रेरित करने वाली होने से उसे अदत्तादान की नानी कहे तो अनुचित नही होगा।

लालप्पणपत्थणा य—चोरी करने से जब व्यक्ति की विविध आकाक्षाओ की पूर्ति नही होती अथवा चोरी करने का खतरा नही उठा सकता, तब वह लोगो के आगे जा कर उनकी खुशामद करता है, लल्लोचप्पो करता है और याचना करके किसी भी तरीके से उसकी जेब से धन निकलवा लेता है। अथवा उसकी झूठी प्रशसा करके, उसके चरण चूम कर, दीनभाव से बार-बार प्रार्थना करके वह धन निकलवा ही लेता हे। पर यह तरीका खराब है, झूठा हे। अतएव इसे भी शास्त्रकार चोरी के लिए की जाने वाली माया, छल-कपट आदि का कारण होने से अदत्तादान के समकक्ष ही बताते हैं। कई हट्टे कट्टे लोग श्रम न करके अपनी रोजी रोटी के लिए सीधे ही भीख मागने का पेशा अपना लेते है या लोगो से पैसे मागने का धन्धा अपनाते है। ये लोग अग-भग करके दयनीय सूरत बना कर लोगो मे करुणा पैदा करके उनसे धन निकलवा लेते है। इस दृष्टि से इसे भी चोरी की ही कोटि मे माना जाय तो बुरा नही है।

आससणा य वसण—ऐसा व्यसन, जिससे प्राण खतरे मे पड जाय, नाक-कान काट लिये जाय, मारापीटा जाय, सरकार को पता लगने पर जेल खाने मे विविध यातनाए दी जाय, चोरी ही है। इसलिए 'आशसन व्यसन' को अदत्तादान के समकक्ष रखा गया है।

इच्छा मुच्छा य—चोरी करने वाले की पहले तो परधन या सुन्दर पर वस्तु देख कर इच्छा जागती है, फिर उस वस्तु की प्राप्ति के लिए उसमे गाढ लालसा—आसक्ति पैदा होती है। वास्तव मे इन दोनो का जोडा अदत्तादान के सेवन का मूल प्रेरक है। इसलिए अदत्तादान की सहचरी के रूप मे इन्हे माना जाय तो अनुचित नही है।

तण्हागेहि—इसी प्रकार तृष्णा और गृद्धि ये दोनो भी चोरी की प्रेरणा देने मे कारण है। तृष्णा के वश मनुष्य धोखेबाजी, पर-धन का गबन, रिश्वतखोरी, छीनाझपटी आदि करता है, और गृद्धि के वश रात-दिन धन-राज्य आदि को हथियाने के प्लान रचता है, मन मे अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्पो के ताने बाने गूथता है, इसलिए इन दोनो का जोडा भी अदत्तादान का कारण होने से उसके समकक्ष इन्हे भी रखा गया है।

नियडिकम्म—धूर्तता, धोखेबाजी, मायाचारी और जालसाजी के जितने भी काम है, वे सब के सब प्राय पर-धनहरण करने की इच्छा से होते है। इसलिए निकृति (माया) कर्म को भी अदत्तादान का जनक होने से इसे भी पर्यायवाची माना गया है।

अपरच्छति वि य—दूसरे की नजर बचा कर छिप कर व परोक्ष मे जो धनादि अपहरण करने का काम किया जाता हे, वह 'अपराक्ष' नामक चोरी है। यह भी अदत्तादान के तुल्य होने से उसका पर्यायवाची माना गया हे।

एवमादीणि अणेगाइ नामधेज्जाणि होंति—ये तीस नाम तो शास्त्रकार ने बताए है, इनके सिवाय और भी इसी प्रकार के अदत्तादान के नाम हो सकते हे। इसे स्पष्ट करने के लिए 'एवमादीणि' पद दिया हे। अत चोरी का महापाप मलिन कामो से परिपूर्ण होने के कारण सर्वथा त्याज्य हे।

चोरी करने वाले कौन-कौन ?

अदत्तादान के ३० गुणनिष्पन्न नामो का उल्लेख करके शास्त्रकार अब अदत्तादान रूप पाप कर्म करने वालो का निरूपण करते है—

मूलपाठ

त पुण करेति चोरिय तक्करा परदव्वहरा, छेया, कयकरणलद्धलक्खा, साहसिया, लहुस्सगा, अतिमहिच्छ - (त्था) लोभगच्छा, दद्दरओवीलका य, गेहिया, अहिमरा, अणभजका, भग्गसधिया, रायदुट्ठकारी य, विसयनिच्छूढलोकबज्झा, उद्दोहकगामघायक-पुरघायग-पथघायग-आलीवगतित्थभेया, लहुहत्थसपउत्ता, जुइकरा, खडरक्ख-त्थीचोर-पुरिसचोर-सधिच्छेया य, गथिभेदग-परधणहरण-लोमावहार (रा) - अक्खेवी, हडकारका, निम्मदग-गूढचोरक-गोचोरग-अस्सचोरग-दासिचोरा य, एकचोरा, ओकड्ढक-सपदायक-उच्छिपक-सत्थघायक-बिलचोरी - (कोली) कारका य, निग्गाहविप्पलुपगा, बहुविहतेणिक्कहरणबुद्धी, एते अन्ने य एवमादी परस्स दव्वाहि जे अविरया। विपुलबलपरिग्गहा य बहवे रायाणो परधणम्मि गिद्धा, सए य दव्वे असतुट्ठा, परविसए अहिहणति ते लुद्धा परधणस्स कज्जे चउरगविभत्तबलसमग्गा, निच्छियवरजोहजुद्धसद्धिय-अहमहमिति-दप्पिएहिं सेन्नेहिं सपरिवुडा पउम (पत्त) - सगडसूइचक्कसागरगरुलवूहातिएहिं अणिएहिं उत्थरता, अभिभूय हरंति परधणाइ। अवरे

रणसीसलद्धलक्खा संगामम्मि अतिवयति, सन्नद्धवद्धपरियरउप्पी-लियचिंधपट्टगहियाउहपहरणा, माढिवरवम्मगुंडिया, आविद्ध-जालिका, कवयकंकडइया। उरसिरमुहवद्ध-कठतोणमाइतवरफलह-रचित-पहकरसरहसखरचावकरकरछिय-सुनिसितसखरिस-च (व) डकरमुयत-घणचडवेगधारानिवायमग्गे, अणेगधणुमडलग्गसधिता-उच्छलियसत्ति-सूल - कणग - वामकरगहियखेडग-निम्मलनिक्किट्ठ खग्ग-पहरंतकोत-तोमर-चक्क-गया- परसु-मुसल-लंगल-सूल-लउल-भिंडिमाल-सव्वल-पट्टिस-चम्मेट्ठ-दुघण-मोट्ठिय - मोग्गर-वरफलिह-जत-पत्थर-दुहण-तोण-कुवेणी-पीढकलिय - ईलीपहरणमिलिमिलि-मिलतखिप्पत-विज्जुज्जलविरचितसमप्पहणभतले, फुडपहरणे, महारणसख-भेरि-दुंदुभि-वरतूरपउरपडुपडहाहयणिणायगभीरणदित्त-पक्खुभियविपुलघोसे, हयगयरहजोहतुरितपसरितरयुद्धततमधकार-वहुले, कातरनरणयणहिययवाउलकरे। विलुलियउक्कडवरमउड-तिरीडकुंडलोडुदामाडोवियापागडपडागउसियज्झय - वेजयति-चामरचलतछत्त धकारगभीरे हयहेसिय-हत्थिगुलुगुलाइय - रहघण-घणाइय-पाइक्कहरहराइय-अप्फोडिय - सीहनाय-छेलिपविघुट्ठु-कुट्ठकंठगयसद्दभीमगज्जिए,सयराह-हसत-रुसतकलकलारवे,आसूणि-यवयणरुद्दे, भीमदसणाधरोट्ठगाढदट्ठे, सप्पहरणुज्जयकरे, अम-रिसवसतिव्वरत्तनिद्दारितच्छे, वेरदिट्ठिकुद्धचिट्ठिय-तिवलीकुडिल-(य) भिउडिकयनिलाडे, वहपरिणयनरसहस्सविक्कमवियभियबले, वग्गततुरगरहपहावियसमरभडा, आवडियछेयलाघवपहारसाधिता-समूसिस(सवि)य बाहुजुयलमुक्कट्टहासपुक्कतबोलबहुले, फुरफल-गावरणगहिय - गयवर - पत्थितदरियभडखल - परोप्परपलग्ग - जुद्धगव्वित - विउसितवरासिरोसतुरियअभिमुह - पहरितछिन्न-करिकरविय (रं) गितकरे, अवइद्धनिसुद्धभिन्नफालियपगलिय-रुहिरकतभूमिकद्दमचिलिचिल्लपहे, कुच्छिदालियगलित-

अपरच्छति वि य—दूसरे की नजर बचा कर छिप कर व परोक्ष मे जो धनादि अपहरण करने का काम किया जाता हे, वह 'अपराक्ष' नामक चोरी है। यह भी अदत्तादान के तुल्य होने से उसका पर्यायवाची माना गया हे।

एवमादीणि अणेगाइ नामधेज्जाणि होंति—ये तीस नाम तो शास्त्रकार ने बताए है, इनके सिवाय और भी इसी प्रकार के अदत्तादान के नाम हो सकते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए 'एवमादीणि' पद दिया है। अत चोरी का महापाप मलिन कामो से परिपूर्ण होने के कारण सर्वथा त्याज्य है।

चोरी करने वाले कौन-कौन ?

अदत्तादान के ३० गुणनिष्पन्न नामो का उल्लेख करके शास्त्रकार अब अदत्तादान रूप पाप कर्म करने वालो का निरूपण करते है—

मूलपाठ

त पुण करेति चोरिय तक्करा परदव्वहरा, छेया, कयकरणलद्धलक्खा, साहसिया, लहुस्सगा, अतिमहिच्छ - (त्था) लोभगच्छा, दद्दरओवीलका य, गेहिया, अहिमरा, अणभजका, भग्गसधिया, रायदुट्ठकारी य, विसयनिच्छूढलोकबज्झा, उद्दोहकगामघायक-पुरघायग-पथघायग-आलीवगतित्थभेया, लहुहत्थसपउत्ता, जुइकरा, खडरक्ख-त्थीचोर-पुरिसचोर-सधिच्छेया य, गथिभेदग-परधणहरण-लोमावहार (रा) - अक्खेवी, हडकारका, निम्मदग-गूढचोरक-गोचोरग-अस्सचोरग-दासिचोरा य, एकचोरा, ओकड्ढक-सपदायक-उच्छिपक-सत्थघायक-बिलचोरी - (कोली) कारका य, निग्गाहविप्पलुपगा, बहुविहतेणिक्कहरणबुद्धी, एते अन्ने य एवमादी परस्स दव्वाहि जे अविरया। विपुलबलपरिग्गहा य बहवे रायाणो परधणम्मि गिद्धा, सए य दव्वे असतुट्ठा, परविसए अहिहणति ते लुद्धा परधणस्स कज्जे चउरगविभत्तबलसमग्गा, निच्छियवरजोहजुद्धसद्धिय-अहमहमिति-दप्पिएहिं सेन्नेहिं सपरिवुडा पउम (पत्त) - सगडसूइचक्कसागरगरुलवूहातिएहिं अणिएहिं उत्थरता, अभिभूय हरंति परधणाइ। अवरे

रणसीसलद्धलक्खा सगामम्मि अतिवयति, सन्नद्धबद्धपरियरउप्पी-
लियचिंधपट्टगहियाउहपहरणा, माढिवरवम्मगुंडिया, आविद्ध-
जालिका, कवयकंकडइया। उरसिरमुहबद्ध-कठतोणमाइतवरफलह-
रचित-पहकरसरहसखरचावकरकरछिय-सुनिसितसखरिस-च (व)
डकरमुयत-घणचडवेगधारानिवायमग्गे, अणेगधणुमडलग्गसधिता-
उच्छलियसत्ति-सूल - कणग - वामकरगहियखेडग-निम्मलनिक्किट्ठ
खग्ग-पहरंतकोत-तोमर-चक्क-गया- परसु-मुसल-लंगल-सूल-लउल-
भिंडिमाल-सव्बल-पट्टिस-चम्मेट्ठ-दुघण-मोट्ठिय - मोग्गर-वरफलिह-
जत-पत्थर-दुहण-तोण-कुवेणी-पीढकलिय - ईलीपहरणमिलिमिलि-
मिलतखिप्पत-विज्जुज्जलविरचितसमप्पहणभतले, फुडपहरणे,
महारणसख-भेरि-दुदुभि-वरतूरपउरपडुपडहाहयणिणायगभीरणदित्त-
पक्खुभियविपुलघोसे, हयगयरहजोहतुरितपसरितरयुद्धततमधकार-
बहुले, कातरनरणयणहिययवाउलकरे। विलुलियउक्कडवरमउड-
तिरीडकुडलोडुदामाडोवियापागडपडागउसियज्झय - वेजयति-
चामरचलतछत्त धकारगभीरे हयहेसिय-हत्थिगुलुगुलाइय - रहघण-
घणाइय-पाइक्कहरहराइय-अप्फोडिय - सीहनाय-छेलिपविघुट्ठु-
कुट्ठकंठगयसद्दभीमगज्जिए,सयराह-हसत-रुसतकलकलारवे,आसूणि-
यवयणरुद्दे, भीमदसणाधरोट्ठगाढदट्ठे, सप्पहरणुज्जयकरे, अम-
रिसवसतिव्वरत्तनिद्दारितच्छे, वेरदिट्ठिकुद्धचिट्ठिय-तिवलीकुडिल-
(य) भिउडिकयनिलाडे, वहपरिणयनरसहस्सविक्कमवियभियबले,
वग्गततुरगरहपहावियसमरभडा, आवडियछेयलाघवपहारसाधिता-
समूस्सि(सवि)य बाहुजुयलमुक्कट्टहासपुक्कतबोलबहुले, फुरफल-
गावरणगहिय - गयवर - पत्थितदरियभडखल - परोप्परपलग्ग -
जुद्धगव्वित - विउसितवरासिरोसतुरियअभिमुह - पहरितछिन्न-
करिकरविय(रं)गितकरे, अवइद्धनिसुद्धभिन्नफालियपगलिय-
रुहिरकतभूमिकद्दमचिलिचिल्लपहे, कुच्छिदालियगलित-

रुलतनिभेल्लिततफुरुफुरत - ऽविगलमम्माहयविकयगाढदिन्नपहार-समुच्छितरुलतवेभलविलावकलुणे, हयजोह-भमत-तुरग-उद्दाम-मत्तकुंजर- परिसकितजण- निब्बुकछिन्नधय - भग्गरहवरनट्ठसिर-करिकलेवराकिन्न-पतितपहरण-विकिन्नाभरणभूमिभागे, नच्चत-कबंधपउरभयकरवायसपरिलेंतगिद्धमंडलभमतच्छायधकारगभीरे, वसुवसुहाविकंपितव्व पच्चखपिउवण परमरुद्दबीहणग दुप्पवेसतरग अभिवयंति संगामसंकडं परधणं महता।

अवरे पाइक्कचोरसंघा सेणावतिचोरवंदपागड्ढिका य अडवीदेसदुग्गवासी कालहरितरत्तपीतसुक्किल्लअणेगसयचिंध-पट्टबद्धा परविसये अभिहणंति।

लुद्धा धणस्स कज्जे रयणागरसागरं उम्मीसहस्स-मालाउलाकुलवितोयपोतकलकलेंतकलियं, पायालसहस्स-वायवसवेग-सलिल-उद्धममाणदगरयरयधकारं, वरफेणपउरधवल-पुलपुलसमुट्ठियट्टहासं, मारुयविच्छुभमाणपाणियं जलमालुप्पील-हुलियं, अवि य समंतओ खुभियलोलियखोखुब्भमाणपक्खलिय-चलियविउलजलचक्कवाल-महानईवेगतुरिय - आपूरमाण गभीर-विपुलआवत्तचवलभममाण - गुप्पमाणुच्छलंत – पच्चोणियत्त - पाणियपधाविय - खरफरुसपयंडवाउलिय - सलिल - फुट्टंतवीति-कल्लोलसंकुलं, महामगरमच्छ-कच्छभोहार-गाह-तिमि-सुंसुमार-सावयसमाहय समुद्धायमाणकपूरघोरपउरं, कायरजणहियियकंपणं, घोरमारसंतं, महब्भयं, भयंकरं, पतिभयं, उत्तासणगं, अणोरपारं, आगासं चेव निरवलंबं, उप्पाइयपवणधणित-नोल्लिय - उवरुवरि-तरंगदरिय-अतिवेगवेगचक्खुपहमुच्छरंत, कच्छ(त्थ)इ गभीर विपुलगज्जियगुंजिय - निग्घायगरुयनिवतितसुदीहनीहारि-दूरमुच्चतगभीरधुगधुगतसद्दं, पडिपह-रुभंतजक्खरक्खसकुहंड-पिसायरुसियतज्जायउवसग्गसहस्ससंकुलं, वहुप्पाइयभूयं, विरचित

वलिहोमधूवउवचारदिन्नरुधिरच्चणाकरणपयतजोगपययचरिय , परियतजुगतकालकप्पोवम,दुरतमहानईनईवइमहाभीमदरिसणिज्जं, दुरणुच्चर, विसमप्पदेस, दुक्खुत्तार, दुरासय, लवण-सलिलपुण्ण, असियसियसमुसियगेहि, (दच्छ) हत्थतरगेहिं वाहणेहिं अइवइत्ता समुद्दमज्झे हणति, गतूण जणस्स पोते। परदव्वहरा नरा णिरणुकंपा, निरवकखा, गामानगर खेडकव्व-डमडबदोणमुह-पट्टणासमणिगम-जणवए ते य धणसमिद्धे हणति, थिरहियया य छिन्नलज्जा बदिग्गाहगोग्गहे य गण्हति, दारुणमती निक्किवा (णिक्किया) णिय हणति, छिंदति गेहसंधि, निक्खि-त्ताणि य हरति, धणधन्नदव्वजायाणि जणवयकुलाण णिग्घिणमती परस्स दव्वाहि जे अविरया। तहेव केइ अदिन्नादाणं गवेसमाणा कालाकालेसु सचरता चियकापज्जलियसरस-दरदड्ढ-कड्ढियकलेवरे रुहिरलित्तवयण-अखत-खातिय-पीतडाइणि-भमत-भयकरे, जबुयक्खिक्खियते, घूयकयघोरसद्दे, वेयालुट्ठिय-निसुद्धकहकहितपहसित-बीहणक - निरभिरामे, अतिदुब्भिगध-बीभच्छदरिसणिज्जे, सुसाण - वण - सुन्नघर - लेण - अतरावण-गिरिकदर - विसमसावयसमाकुलासु वसहीसु किलिस्सता, सीता-तवसोसियसरीरा, दड्ढच्छवी, निरयतिरियभवसकडदुक्खसंभार-वेयणिज्जाणि पावकम्माणि संचिणता, दुल्लहभक्खन्नपाणभोयणा, पिवासिया, झुझिया, किलता, मसकुणिमकंदमूल - जकिंचिकया-हारा, उव्विग्गा, उप्पुया (उस्सुया), असरणा, अडवी-वासं उवेति वालसतसकणिज्ज।

अयसकरा तक्करा भयकरा कस्स हरामोत्ति अज्ज दव्व इति सामत्थ करेति गुज्झ, बहुयस्स जणस्स कज्ज-करणेसु विग्घकरा, मत्तपमत्तपसुत्तवीसत्थच्छिद्दघाती, वसण-

ब्भुदएसु हरणबुद्धी, विगव्व रुहिरमहिया परेंति नरवतिमज्जाय-मतिक्कता, सज्जणजणदुगछिआ, सकम्मेहिं पावकम्मकारी, असुभपरिणया य दुक्खभागी, निच्चाइ(उ)लदुहमनिव्वुइमणा, इह लोके चेव किलिस्संता परदव्वहरा नरा वसणसयसमावण्णा ॥ सू० ११ ॥

संस्कृतच्छाया

तत्पुन कुर्वन्ति चौर्यं तस्करा परद्रव्यहराश्छेकाः कृतकरण-लब्धलक्ष्याः साहसिका लघुस्वका अतिमहेच्छलोभग्रस्ता दर्दरापव्रीडका-(दर्दरोपपीडका)श्च गृद्धिका अभिमरा ऋणभजका भग्नसन्धिका राजदुष्ट-कारिणश्च विषयनिक्षिप्त-(निर्घाटित) - लोकबाह्या उद्द्रोहक-ग्रामघातक-पुरघातक—पथिघातकादीपकतीर्थभेदा लघुहस्तसम्प्रयुक्ता द्यूतकराः खण्ड-रक्ष-स्त्रीचौर-पुरुषचौर-सन्धिच्छेदाश्च ग्रन्थिभेदक-परधनहरण लोमावहारा (रा)—क्षेपिणो, हठकारका, निर्मर्द्दक गूढचौरक-गोचौरकाश्वचौरक-दासीचौराश्चैकचौरा आकर्षक-सम्प्रदायकावच्छिम्पक सार्थघातक-बिल-कोली (चोरी) कारकाश्च निर्ग्राहविप्रलोपका बहुविधस्तेयहरणबुद्धयः, एतेऽन्ये चैवमादय परस्य द्रव्याद् येऽविरता । विपुलबलपरिग्रहाश्च बहवो राजान परधने गृद्धा. स्वके च द्रव्येऽसतुष्टा परविषयानभिघ्नन्ति, ते लुब्धा परधनस्य कार्ये चतुरङ्गविभक्तबलसमग्रा निश्चितवरयोधयुद्धश्रद्धिताहम-हमिति दर्पितै सैन्यै सम्परिवृता पद्म(पत्र)शकटसूचीचक्रसागरगरुड-व्यूहादिकैरनीकैरास्तृणवन्तोऽभिभूय हरन्ति परधनानि । अपरे रणशीर्षलब्ध-लक्ष्या सग्रामेऽतिपतन्ति, सनद्धबद्धपरिकरोत्पीडितचिह्नपट्टगृहीतायुध-प्रहरणा माढीवरवर्मगुण्ठिता आविद्धजालिका कवचकण्टकिता उर-शिरोमुखबद्धकठतूणहस्तपासिकावरफलकरचितप्रकरसरभसखरचापकरकरा-ञ्छितसुनिशित - शरवर्षचटकरमुच्यमान - घनचण्डवेगधारानिपातमार्गेऽनेक-धनुर्मण्डलाग्रसन्धितोच्छलितशक्तिकणकवामकरगृहीतखेटकनिर्मलनिकृष्टखड्ग-प्रहरत्कुन्ततोमरचक्रगदापरशुमुशललाङ्गल - शूललगुडभिण्डमालशब्बल-पट्टिसचर्मेष्टद्रुघणमौष्टिकमुद्गरवरपरिघयत्र - प्रस्तरद्रुहणतूणकुवेणी-पीठकलितेलीप्रहरणचिकिचिकायमान - क्षिप्यमाणविद्यदुज्ज्वलवि-

प्रचुरपटुपटहाहतनिनादगम्भीरनन्दितप्रक्षुभितविपुलघोषे हयगजरथ-योधत्वरितप्रसृतरजउद्धततमोऽन्धकारवहुले कातरनरनयनहृदय-व्याकुल-करे विलुलितोत्कटवरमुकुटतिरीट, कुण्डलोडुदामाटोपिके प्रकटपताकोच्छितध्वजवैजयन्तीचामरचलच्छत्रान्धकारगम्भीरे हयहेषित - हस्तिगुलुगुलायित-रथघणघणायित - पदातिहरहरायितास्फोटितसिंहनादसेंटित-विघृष्टोत्कृष्टकण्ठगतशब्दभीमगर्जिते सहेलया (एकहेलया) हसद्रुष्यत्-कलकलारावे आशूनितवदनरुद्रे, भीमदशनाधरोष्ठगाढदष्टे सत्प्रह-रणोद्यतकरेऽमर्पवशतीव्ररक्तनिर्दारिताक्षे वैरदृष्टिक्रुद्धचेष्टित - त्रिवलीकुटिलभ्रकुटिकृतललाटे, वधपरिणतनरसहस्रविक्रमविजृम्भितवले। वल्गत्तुरगरथप्रधावितसमरभटापतितछेकलाघवप्रहारसाधितसमुच्छ्रित- वाहुयुगलमुक्ताट्टहासपूत्कुर्वद्बोलवहुले, स्फुरत्फलकावरणगृहीतगजवर-प्रार्थ्यमानदृप्तभटखलपरस्परप्रलग्नयुद्धगर्वितविकोशितवरासिरोषत्वरिता - भिमुखप्रहरच्छिन्नकरिकरव्यङ्गितकरे, अपविद्धनिशुद्धभिन्नस्फाटित-प्रगलितरुधिरकृतभूमिकर्दमचिलिचिल्ल (प्रस्खलत्) - पथे, कुक्षिदारित-गलितलुठन्निर्भेलितान्त्रफुरफुरायमाणविकलमर्माहत - विकृतगाढदत्त-प्रहारमूर्च्छितलुठद्विह्वलविलापकरुणे, हययोधभ्रमत्तुरगोद्दाममत्त-कुजर-परिशंकितजननिवुक्कछिन्नध्वजभग्नरथवरनष्टशिर करिकलेवराकोर्ण-पतितप्रहरणविकोर्णाभरणभूमिभागे नृत्यत्कबन्धप्रचुरभयकरवायसपरि-लीयमानगृद्धमण्डलभ्रमच्छायान्धकारगभोरे वसुवसुधाविकम्पिता इव प्रत्यक्षपितृवन परमरुद्रभयानक दुष्प्रवेशतरकमभिपतन्ति संग्रामसकट परधनमिच्छन्तः । अपरे पदातिचौरसंघा. सेनापतिचौरवृन्दप्रकर्ष-काश्चाटवी-देशदुर्गवासिन कालहरितरक्तपीतशुक्लानेकशतचिह्नपट्टबद्धा परविषयानभिघ्नन्ति । लुब्धा धनस्य कार्ये रत्नाकरसागरमुर्मीसहस्र-मालाकुलाकुलवितोयपोतकलकलायमानकलित पातालसहस्रवातवश-वेगसलिलोद्धमायमानो(उत्पाट्यमानो)दकरजोरजोऽन्धकार, वरफेनप्रचुर-धवलाऽनवरतसमुत्थिताट्टहास मारुतविक्षोभ्य - माणपानीयजलमालोत्पील-शीघ्रमपि च समन्ततः क्षुभितलुलितचोक्षुभ्यमाणप्रस्खलितचलितविपुलजल-चक्रवाल - महानदीवेगत्वरितापूर्यमाणगम्भीरविपुलावर्त्तचपलभ्रमद्गुप्य-दुच्छलत्प्रत्यवनिवृत्तपानीयप्रधावितखरपरुषप्रचण्ड-व्याकुलित - सलिल-

स्फुटद्वीचिकल्लोलसकुल, महामकर - मत्स्य - कच्छपोहारग्राहतिमि-सु सुमारश्वापदसमाहतसमुद्धावत्पूरघोरप्रचुर कातरजनहृदयकम्पन घोर-मारसन्त महाभय भयकर प्रतिभय उत्त्रासनकमनर्वाक्पार आकाशमिव निरवलम्बमौत्पातिकपवनात्यर्थनोदितोपर्यु परितरङ्गदृप्तातिवेग वेग चक्षु-पथमवास्तृण्वन्त कुत्रचिद्गम्भीरविपुलगर्जितगु जितनिर्घातगुरुक-निपतितसुदीर्घनिर्ह्लादीदूरश्रूयमाणगम्भीरधुगधुगायमान-शब्द प्रतिपथरुन्धान (रु भत्) यक्षराक्षसकूष्माण्डपिशाचरुषिततज्जातोपसर्गसहस्रसकुल बहूत्पा-तिकभूत विरचितबलिहोम - धूपोपचारदत्तरुधिरार्चनाकरणप्रयतयोग-प्रयतचरित, पर्यन्तयुगान्तकालकल्पोपम दुरन्तमहानदीनदोपतिमहाभीम-दर्शनीय दुरणुचर विषमप्रवेश दु खोत्तार दुराशय (दुराश्रय) लवणसलि-लपूर्णम्,असितसितसमुच्छ्रितकैर्दक्षतरकै (हस्ततरकै) वाहनैरतिपत्य समुद्रमध्ये घ्नन्ति गत्वा जनस्य पोतान् परद्रव्यहरा नरा, निरनुकम्पा निरवकाक्षा ग्रामाकरनगरखेटकर्वटमडम्बद्रोणमुखपत्तनाश्रमनिगमजनपदान् धन-समृद्धान् घ्नन्ति, स्थिरहृदयाश्च छिन्नलज्जा बदीग्रह - गोग्रहाश्च गृह्णन्ति दारुणमतयो निष्कृपा निजं घ्नन्ति, छिन्दन्ति गेहसन्धि, निक्षिप्तानि च हरन्ति धन-धान्यद्रव्यजातानि जनपदकुलाना निर्घ णमतय. परस्य द्रव्येभ्यो येऽविरता । तथैव केचिददत्तादान गवेषयन्त कालाकालयो सञ्च-रन्तश्चितिकाप्रज्वलित - सरसदरदग्धकृष्टकलेवरे रुधिरलिप्तवदनाक्षत-खादितपीतडाकिनी - भ्रमद्भयकरे खिखीयमानजम्बुके घूककृतघोरशब्दे, वेतालोत्थितनिशुद्धकहकहायमानप्रहसितभीषणनिरभिरामे अतिदुरभि-गन्धबीभत्सदर्शनीये श्मशान वन - शून्यगृह-लयनान्तरापण - गिरिकन्दर-विषमश्वापदसमाकुलासु वसतिषु क्लिश्यन्त शीतातपशोषितशरीरा दग्धच्छवयो निरयतिर्यग्भवसकटदु खसम्भारवेदनीयानि पापकर्माणि सचिन्वन्तो दुर्लभभक्ष्यान्नपानभोजना पिपासिता बुभुक्षिता क्लान्ताः मासकुणपकदमूलयत्किञ्चित्कृताहारा उद्विग्ना उत्प्लुता (उत्पूता अथवा उत्सुका) अशरणा अटवीवासमुपयन्ति व्यालशतशकनीयम् । अयशस्करा-स्तस्करा भयकरा कस्य हरामोऽद्य द्रव्यमिति सामर्थ्य कुर्वन्ति गुह्य । बहुकस्य जनस्य कार्यकारणेषु विघ्नकरा मत्तप्रमत्तप्रसुप्तविश्वस्त-छिद्रघातिनो व्यसनाभ्युदयेषु हरणबुद्धयो वृका इव रुधिरेच्छव परियन्ति

नरपति-मर्यादामतिक्रान्ता' सज्जनजनजुगुप्सिता स्वकर्मभिः पापकर्म-कारिणोऽशुभपरिणताश्च दु खभागिनो नित्याविलदु खानिर्वृ त्तिमनसः इहलोक एव क्लिश्यमाना परद्रव्यहरा नरा व्यसनशतसमापन्ना ।।सू०११।।

पदार्थान्वय—(त पुण) उस (चोरिय) चोरी को (तक्करा) चोरी करने के व्यसन वाले, (परदव्वहरा) दूसरे के द्रव्य का हरण करने वाले, (छेया) चालाक या चौर्यकलानिपुण, (कयकरणलद्धलक्खा) कई बार चोरियां करने से जो अपने लक्ष्य को पा चुके है, चोरी मे अभ्यस्त होने से जो कई मौके पा चुके हैं, (साहसिया) पर्याप्त साहस-हिम्मत कर सकने वाले, बुलद होसले वाले, (लहुस्सगा) तुच्छ आत्मा, (अति महिच्छलोभगच्छा) वहुत वडी महत्त्वाकाक्षा होने के कारण लोभ मे फसे हुए, (दद्दर-ओवीलका) वाणी के चातुर्य से अपने स्वरूप को छिपाने वाले अथवा वागाडम्बर से दूसरो को लज्जित करने वाले, (य) और (गेहिया) दूसरो के धन माल पर गृद्ध-आसक्त (अहिमरा) सामने से सीधा प्रहार करने वाले, (अणभजक) लिये हुए कर्ज को न चुकाने वाले, (भग्गसधिया) विवाद होने पर की हुई सधि या प्रतिज्ञा को तोडने वाले (य) और (रायदुट्ठकारी) खजाना आदि लूट कर राजा का अनिष्ट करने वाले,(विसय-निच्छूढलोकवज्झा) देशनिकाला दिये जाने के कारण जनता (लोगो) द्वारा वहिष्कृत (उद्दोहक-गामघायग-पुरघायक-पथघायग-आलीवग-तित्थभेया) वन आदि को जलाने वाले या उपद्रव (दगा आदि) करने वाले, ग्राम-घातक, नगरघातक, राहगीरो को लूटने वाले, घर आदि जला देने वाले, तीर्थयात्रियो को लूटने मारने वाले, (लहुहत्थ-सपउत्ता) हाथ की चालाकी का प्रयोग करने वाले, (जुइकरा) जुआरी, (खडरक्खत्थि-चोर-पुरिसचोर-सधिच्छेया) चु गी या कर वसूल करने वाले कर्मचारी, या कोतवाल, स्त्री को चुराने वाले या स्त्री से धन लूटने वाले अथवा स्त्री का रूप बना कर चोरी करने वाले, पुरुषो या वालको का अपहरण करके ले जाने वाले या वच्चो को उठाने वाले, सेंध लगाने मे चतुर, (गथिभेदग-परधनहरणलोमावहारा) गठकटे, गिरहकट, पराये धन का हरण करने वाले, कुछ हाथ न लगने के कारण प्राणहरण करने वाले, वशीकरण विद्या आदि का प्रयोग करके लूटने वाले, (अक्खेवी) एकदम झपट कर लूटने वाले (हडकारका) जवरन हठपूर्वक लूट लेने वाले, (निम्मद्दग-गूढचोरक-गोचोरक-अस्सचोरक-दासीचोरा य) निरन्तर सता कर—कुचल कर लूटने वाले, गुप्तचोर, गाय बैल आदि के चोर, घोड़े के चोर, और दासीचोर, (एकचोरा) अकेले ही चोरी करने वाले, (ओकड्ढसपदायकउच्छिपकसत्थघातकविलकोलीकारका) चोरो को दूसरो के घरो मे बुला कर चोरी करवाने वाले, अथवा घरो से गहने निकलवाने वाले,

ज्झय-वेजयति-चल-चामर-चलतछत्त ध कारगभीरे) साफ दिखाई देने वाली पताकाओ, बहुत ऊँची बाधी हुई ध्वजाओ, विजयसूचक वैजयन्ती पताकाओ तथा चलायमान चवरो, और छातो से किये गए अन्धकार के कारण गम्भीर, (हयहेसिय-हत्थिगुलगुला-इय-रहघणघणाइय-पाइक्कहरहराइय-अप्फोडिय-सीहनाय-छेलिय-विघुट्टुक्कुट्ठ-कठगयसद्द भीमगज्जिए) घोडो के हिनहिनाने से, हाथियो से चिघाडने से,रथो की घनघनाहट से, प्यादो के हर-हर शब्द करने से, तालियो की गडगडाहट से, सिहनाद करने से, सीटी की तरह की आवाज करने से,जोर-जोर से चिल्लानसे,जोर से खिलखिला कर हसने से, और एक साथ हजारो कठो की ध्वनि से जहाँ भयकर गर्जनाएँ होती हैं, (सयराह-हसत-रुसत-कलकलरवे) जिसमे एक साथ हसने और रोने या कष्ट होने का शोरशराबा कलकल शब्द होता है, (आसूणिय-वयण रुद्दे) बीच-बीच मे जो आसुओ के साथ मुह फुला कर बोलने से रौद्र हो जाता है, (भीमदसणाधरोट्ठगाढदट्ठसप्पहरणुज्जयकरे) जिसमे भयावने दातो से होठो को जोर से काटने वाले योद्धाओ के हाथ अचूक प्रहार करने मे उद्यत है, (अमरिसवसतिव्व-रत्त-निद्दारितच्छे) रोष से उन योद्धाओ की आँखें लाल और तरेर रही हैं, (वेरदिट्ठिकुद्धचिट्ठियतिवलीकुडिलभिउडीकयनिलाडे) वैरदृष्टि के कारण क्रुद्ध चेष्टाओ से उनकी भौंहे तनी हुई होने से ललाट पर तीन सल पडे हुए हैं, (वहपरिणय-नरसहस्स-विक्कम-वियभियबले) मारकाट मे लगे हुए हजारो मनुष्यो के पराक्रम को देख कर जिस युद्ध में सेनाओ में पौरुष बढ रहा है, (वग्गत - तुरग- रह- पहावित- समर- भड- आवडिय- छेय- लाघव - पहार-पसाधित - समुस्सिय (सविय) - बाहुजुयलमुक्कट्टहास - पुक्कत - बोलबहुले) हिनहिनाते हुए घोड़ो और रथो से दौडते हुए समरभट यानी योद्धा तथा शस्त्रास्त्र चलाने में दक्ष और हस्तलाघव, प्रहार आदि मे सधें हुए सैनिक जिसमें हर्ष से दोनो भुजाएँ ऊँची उठाए, खिलखिला कर ठहाका मार कर हस रहे हैं, किलकारियाँ कर रहे हैं, (फुरफलगावरण - गहिय - गयवर - पत्थित - दरिय - भड-खल-परोप्पर-पलग्ग-जुद्ध- गव्वित- विउसित- वरासि-रोस- तुरिय-अभिमुह-पहरत-छिन्न करिकर-विभगितकरे) चमकती हुई ढालें और कवच धारण किये हुए मस्त हाथियो पर चढ कर रवाना हुए भट शत्रुओ के भटो के साथ परस्पर युद्ध मे सलग्न हैं, तथा युद्धकला मे प्रवीणता के कारण घमडी योद्धा जिसमें अपनी-अपनी तलवारें म्यान में से निकाल कर फुर्ती से परस्पर रोषपूर्वक प्रहार कर रहे हैं और हाथियो की सूडें काट रहे है, जिससे उनके भी हाथ कट रहे हैं, (अवइद्ध-निरुद्ध-भिन्न-फालिय-पगलिय-रुहिर कत-भूमिकद्दम-चिलिचिल्ल-पहे) जहाँ पर मुद्गर आदि से मारे गये, बुरी तरह

से काटे गए या फाड़े गए हाथी आदि पशुओं या मनुष्यो के जमीन पर वहते हुए खून के कीचड से रास्ते लथपथ हो रहे हे, (कुच्छि-दालिय-गलिय-रुलत-निब्भेलितत-फुरुफुरत-विगल-मम्माहय-विकय - गाढदिन्नपहार-मुच्छित-रुलत - बेंभल-विलाव-कलुणे) पेट फट जाने से भूमि पर लुढकती हुई एव बाहर निकलती हुई आतो से खून वह रहा हे , एव तडफडाते हुए, व्याकुल, मर्मस्थान पर चोट खाए हुए, बुरी तरह से कटे हुए, भारी चोट खाने से वेहोश हुए एव इधर-उधर लुढकते हुए विह्वल मनुष्यो के विलाप से जो युद्धभूमि करुण हो रही हे, (हयजोह-भमत-तुरग-उद्दाम-मत्त-कु जर,-परिसंकितजण-निव्वुक छिन्नधय-भग्गरहवर - नट्ठसिर - करिकलेवराकिन्न-पतितपहरण विकिन्नाभरणभूमिभागे) जिस युद्ध में मारे गये योद्धाओ के भटकते हुए घोडे, मतवाले हाथी और भयभीत मनुष्य, मूल से कटी हुई ध्वजाओ वाले टटे हुए रथ, सिरकटे हाथियो के कलेवर, नष्ट हुए हथियार और विखरे हुए गहने युद्धभूमि के एक हिस्से में पडे हैं, (नच्चातकवध - पउर - भयकर - वायस-परिलेंत-गिद्ध-मडल-भमत-छायधकारगभीरे) नाचते हुए वहुत से धडो पर कौए और गिद्ध मडरा रहे हें। वे जव झुड के झुड घूमते हें तो उनकी छाया के अन्धकार से जो गभीर हो रहा है, ऐसे (सगामंमि) युद्ध में (अतिवयति) वे स्वय प्रवेश करते हे, केवल सेना को ही नहीं लडाते। (वसुवसुहाविकपितव्व) देव (लोक) और पृथ्वी को मानो कपाते हुए (परधण महता) पराये धन को चाहने वाले राजा लोग, (पच्चक्ख-पिउवण) साक्षात् मरघट के समान, (परमरुद्दवीहणग) अत्यन्त रौद्र होने के कारण भयावने, (दुप्पवेसतरग) अत्यन्त कठिनाई से प्रवेश करने योग्य, (सगामसकड) सग्राम रूपी सकट में या गहन वन में (अभिवयति) चल कर—आगे हो कर प्रवेश करते हें।

(अवरे) दूसरे (पाइक्कचोरसघा) पैदल चोरो के दल (य) और (सेणावति-चोरवदपागड्ढिका) चोरो के दल के प्रवर्तक सेनापति, (अडवीदेसदुग्गवासी) वन्य-प्रदेशो के खोह, गुफा, बीहड आदि तथा जलीय एव स्थलीय दुर्गम स्थानो मे निवास करते हैं, (कालहरितरत्तपीतसुक्किल्लअणेगसयचिंधपट्टबद्धा) काले, हरे, लाल, पीले, सफेद आदि संकडो रग विरगे चिह्नपट्ट—बिल्ले या चपरास बाधे हुए, (परविसए) दूसरे देशो-परदेशो पर (अभिहणति) धावा वोल देते हैं, (किसके लिए ?) (लुद्धा) लुब्ध—लालची वन कर (धणस्स कज्जे) धन के लिए (रयणागरसागर) रत्नो के खजाने वाले समुद्र पर (चढाई करते हैं) (कैसा समुद्र ?) (उम्मीसहस्समालाउलाकुल-वितोयपोतकलकलेंतकलिय) हजारो लहरो की मालाओ से व्याप्त तथा पेयजल के अभाव

मे जहाज के व्याकुल मनुष्यो के कलकल से युक्त, (पायालसहस्सवायवसवेगसलिल-उद्धममाणदग-रयरयधकार) हजारो पातालकलशो की हवा के कारण तेजी से ऊपर उछलते हुए जलकणो की रज से अन्धकारमय, (वरफेण-पउर-धवल-पुलपुल-समुट्ठिय-ट्टहास) निरन्तर प्रचुरमात्रा मे उठने वाला सफेद फेन ही जिसका अट्टहास है, (मारुय-विच्छुभमाण-पाणिय-जलमालु-प्पीलहुलिय) जहाँ हवा के थपेडो से पानी क्षुब्ध हो रहा है, और जलकल्लोलसमूह भी अत्यन्त वेगवान हो रहे हैं। (अवि य) तथा (समतओ खुभिय-लुलिय-खोखुब्भमाण-पक्खलियचलिय-विपुलजलचक्कवाल-महानईवेग-तुरिय आपूरमाण-गभीर-विपुल - आवत्त-चवल-भममाण गुप्पमाणुच्चलत-पच्चोणियत्त पाणिय-पधाविय-खर-फरुस-पचड - वाउलिय-सलिल - फुट्टत-वीइ-कलोलसकुल) चारो ओर की तूफानी हवाओ से क्षोभित, किनारे पर टकराते हुए जलसमूह से या मगरमगच्छ आदि जलजन्तुओ से अत्यन्त चचल बने हुए, (समुद्र के) बीच मे निकले हुए पर्वत आदि से टकराते व बहते हुए विपुल अथाह जलसमूह से युक्त तथा गगा आदि महानदियो के वेग से शीघ्र लबालब भर जाने वाला है एव गहरे अथाह भँवरो मे चपलतापूर्वक भ्रमण करते, व्याकुल होते, उछलते और नीचे गिरते जलसमूह या जलजन्तुओ का जिसमे निवास है तथा वेगवान् एव अतिकठोर प्रचण्ड क्षुब्ध पानी मे से उठती हुई लहरो रूप किल्लोलो से जो व्याप्त है। (महामगर-कच्छभो-हार-गाहतिमिसुसुमार-सावय-समाहय-समुद्धायमाणकपूरघोरपउर) बडे-बडे मगर-मच्छो, कछुओ, ओहार नामक जलजन्तुओ, और घडियालो (ग्राह), बडी मछलियो (तिमि), सुसुमार और श्वापद नामक जलजन्तु - विशेषो के परस्पर टकराने और एक दूसरे को निगलने के लिए दौडने से जो अतीव घोर बना हुआ है, (कायर-जणहिययकपण) कायर लोगो के हृदय को कपाने वाला है, (मह-भय) महाभयानक (भयकर) भय पैदा करने वाला, (प्रतिभय) प्रतिक्षण भयप्रद, (उत्तासणक) अत्यन्त उद्वेग (घबराहट) पैदा करने वाला (अणोरपार) जिसके आरपार का कोई पता नहीं, (आगास चेव निरवलब) और जो आकाश के समान आलबनरहित है, (उप्पाइय-पवण-धणित-नोल्लिय - उवरुवरितरगदरिय - अतिवेग-चक्खुपहमुच्छरत) उत्पातजनित वायु से अत्यन्त प्रेरित—चलाई हुई एक के बाद दूसरी गर्व से इठलाती हुई लहरो के अतिवेग -- तेजी से दृष्टिपथ—आँखो के रास्ते को ढक देने वाला (कत्थइ) कहीं पर, (गभीर-विपुल-गज्जिय-गुजिय-निग्घाय-गरुय-निवतित-सुदीह-निहारि-दूर-सुच्चत-गभीर घुग-धुगतसद्द) गभीर और विपुल गर्जना से गूजती हुई, आकाश में व्यन्तरकृत महाध्वनि के समान तथा उससे उत्पन्न व दूर सुनाई देने वाली प्रतिध्वनि के समान

गभीर और धुग् धुग् करती हुई आवाज जहाँ पर हो रही है, (पडिपह-रुभत-जक्ख-रक्खस-कुहड-पिसाय-रुसिय-तज्जाय-उवसग्गसहस्ससकुल) जो प्रत्येक रास्ते मे रुकावट डालने वाले यक्ष, राक्षस, कुष्माण्ड और पिशाचजातीय कुपित हुए व्यन्तरदेवो द्वारा जनित हजारो उपसर्गों से व्याप्त है (वहुप्पाइयभूय) वहुत से उत्पातो — उपद्रवो से भरा हुआ है, (विरचितवलिहोमधूवउवचार-दिन्न-रुधिर-च्चणाकरण-पयतजोग-पययचरिय) जो वलि, होम और धूप दे कर की गई देवता की पूजा तथा रुधिर दे कर की हुई अर्चना करने मे प्रयत्नशील सामुद्रिक व्यापार मे रत जहाजी व्यापारियो से सेवित है, (परियत-जुग्गतकाल-कप्पोवम) अन्तिम-युग (कलिकाल) के अन्त यानी प्रलयकाल के कल्प के तुल्य (दुरत) जिसका अन्त पाना कठिन है, (महानई-नईवइ-महाभीम-दरिसणिज्ज) गगा आदि महानदियो का नदीपति (समुद्र), जो अति विकराल दिखाई देता है, (दुरणुच्चर) जो कठिनाई से सेवित किया जा सकता है, (विसमप्पवेस) नमकीन पानी से लवालव भरे होने से जिस मे प्रवेश करना कठिन है, (दुक्खुत्तार) जिसको पार करना वडा कठिन है, (दुरासय) जिसका आश्रय लेना दुष्कर है, (लवणसलिलपुण्ण) खारे पानी से परिपूर्ण, (रयणागरसागर) ऐसे रत्नो के आकर स्वरूप समुद्र मे (असिय-सिय-समूसियगेहिं) ऊँचे किए हुए काले और सफेद झडो से युक्त (दच्छ-हत्थ तरकेहिं वाहणेहिं) अतिशीघ्रगामी अथवा तेज पतवारो वाले जहाजो द्वारा (अइवइत्ता) आक्रमण करके (समुद्दमज्झे) समुद्र के मध्य मे (गतूण) जा कर (जणस्स) सामुद्रिक-व्यापारियो के (पोते) जहाजो को (हणति) नष्ट करते है।

(परदव्वहरा) परद्रव्य का हरण करने वाले, (निरणुकपा) निर्दय, (निरवयक्खा) परलोक की परवाह न करने वाले (धणसमिद्धे) धन से समृद्ध (गामागर-नगर-खेड-कव्वड-दोणमुह-पट्टणा-सम-णिगम-जणवते-) गाँवो, खानो, नगरो, खेडो (धूल के कोट वाले छोटे गाँव), कवंटो (कस्वो), मडम्वो (चार योजन के अन्तर्गत गाँवो से घिरे हुए), पत्तनो (विशाल नगरो), द्रोणमुख (वदरगाह के समीप का नगर जहाँ स्थलमार्ग और जलमार्ग दोनो हो), तापस आदि के आश्रमो, निगमो (व्यापारीमडी), जनपदो—देशो को (हणति) नष्ट कर देते है। (य) और वे (थिरहियया) मजबूत-पक्के दिल वाले अथवा स्थिरहित यानी निहितस्वार्थी, (छिन्नलज्जा) निर्लज्ज लोग (वदिग्गा-हगोग्गहे) मनुष्यो को वदी वना कर या गाय आदि को पकड कर (गिण्हति) ले जाते हैं। (दारुणमती) कठोर वुद्धि वाले, (णिक्किवा) निर्दय अथवा (णिक्किया) निकम्मे लोग (णिय) अपना अथवा अपनो का (हणति) घात करते हैं (य) तथा (गेहसंधि) घर

की सधि को (छिदति) तोडते है यानी सेंध लगाते हैं (य) और जो (परस्स) दूसरे के, (दव्वाहि) द्रव्यो से (अविरया) अविरत-निवृत्त नहीं है, वे (निग्घिणमती) दया-हीन बुद्धिवाले, (जणवयकुलाण) देशवासी लोगो के घरो मे, (निक्खित्ताणि) रखे हुए, (धणधन्नदव्वजायाणि) धन, धान्य और अन्य द्रव्यसमूह को (हरति) चुराते हे। (तहेव) इसी प्रकार, (केई) कितने ही, (अदिन्नादाण) चोरी की (गवेसमाणा) खोज करते हुए (कालाकालेसु) समय-असमय मे (सचरता) घूमते हुए (चियका-पज्जलिय-सरस-दरदड्ढ कड्ढिय-कलेवरे) जहाँ चिताओ मे जलती हुई, रुधिरादि से युक्त, थोडी जली हुई व खींची हुई लाशें पडी हैं, (रुहिरलित्त-वयण-अखत-खातिय-पीतडाइणी-भमत-भयकरे) तथा खून से लथपथ मृतशरीरो को पूरा खाने और खून पी लेने के बाद घूमती हुई डाकिनियो से जो अतीव भयकर हो रहा है, (जबुयखिक्खियते) जहाँ गीदड खीं खीं आवाज कर रहे हैं, (घूयकयघोरसद्दे) जहाँ उल्लू भयकर आवाज कर रहे हैं, (वियालुट्ठिय - निसुद्ध - कह - कहित-पहसित-वीहणक-निरभिरामे) भयकर विद्रूप पिशाचो द्वारा ठहाका मार कर हसने से जो अत्यन्त भयावना और अरमणीय हो रहा है, (अतिदुब्भिगध-बीभच्छदरिसणिज्जे) अत्यन्त बदबूदार और घिनौना होने से देखने मे डरावने (सुसाणे) श्मशान में तथा (वण-सुन्नघर-लेण-अतरावण-गिरिकदर-विसम-सावय-समाकुलासु) वन में, सूने घरो, में मार्ग पर बनी हुई दूकानो, पर्वतो की गुफाओ, ऊबडखाबड जगहो तथा सिंह आदि हिंसक जानवरो से घिरी हुई (वसतीसु) जगहो मे राजदण्ड आदि से बचने के लिए, (किलिस्सता) क्लेश पाते हुए भटकते हैं, (सीतातपसोसियसरीरा) उनके शरीर की चमडी ठड और गर्मी से सूख जाती है, (दड्ढच्छवी) वह रूखी हो कर जल जाती है, (निरयतिरियभवसकड-दुक्ख-सभार वेयणिज्जाणि पावकम्माणि सचिणता) जिनसे नरक और तिर्यञ्च की भवपरम्पराओ में सतत दु खो को भोगना पडता है,ऐसे पापकर्मो का सचय करते है (दुल्लह-भक्खन्न-पाण-भोयणा) उन्हे चोरी का दुष्कर्म करते हुए मोदक आदि भक्ष्य पदार्थो,चावल, गेहूँ आदि अनाजो, दूध आदि पेयपदार्थो का भोजन मिलना दुर्लभ होता है (पिवासिया) प्यासे, (झुझिया) भूखे, (किलता) थके हुए (मस-कुणिम-कद-मूल-जकिचिय-कयाहारा) मास, मृत शरीर, कद, मूल या जो भी चीज मिल जाय उसी को उन्हे खाना पडता है, (उव्विग्गा) रातदिन उद्विग्न-भयभीत-रहते हैं, (उप्पुया) वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर दौडते-भागते रहते हैं अथवा (उस्सुया) हर समय उत्सुक याने चौकन्ने रहते है, (असरणा) कहीं पर उन्हे टिकने को शरण नहीं मिलती, अतएव (वालसत-सकणिज्ज) सैकडो सर्पो के कारण हरदम शकाजनक (अडवीवास उवेंति) अटवी में

रहने के लिए पहुँचते हैं। वे (अयसकरा) अपने को व अपने कुल को वदनाम करने वाले, (भयकरा तक्करा) भयकर चोर, (अज्ज कस्स दव्व हरामोत्ति सामत्थ करेंति गुज्झ) गुप्त मत्रणा करते है कि आज किसका या किसके यहा द्रव्य-धन चुराएँ ? (वहुयस्स कज्जकरणेसु विग्घकरा) वे बहुत-से लोगो के कर्तव्यो और कार्यो मे विघ्न डालते है, (मत्त-प्पमत्त-पसुत्त-वीसत्थछिद्दघाती) वे नशे मे पडे हुए, लापरवाह, सोये हुए और विश्वस्त लोगो का मौका पा कर घात करते हैं, (वसणाब्भुदएसु हरणवुद्धी) दुर्व्यसनो या आफतो या उत्सवो—खुशी के मौकों पर उनकी बुद्धि में चोरी की भावना जागती है, (विगव्व रुहिरमहिया परेंति) वे भेडियो की तरह खून पीने की लालसा से युक्त हो कर चारो ओर भटकते रहते हैं, वे (नरवतिमज्जाय अतिक्कता) राजा के वनाए हुए सरकारी कानूनो की मर्यादा का उल्लघन करते हैं, (सज्जणजण-दुगु छिया) सज्जन लोगो की घृणा के पात्र, (सकम्मेहि) अपने दुष्कर्मो के कारण (पावकम्मकारी) पापकर्म करने वाले (असुभपरिणया) अशुभ परिणामो से युक्त (य) तथा (दुक्खभागी) दु ख के भागी, (निच्चाइलदुहमनिव्वुइमणा) सदा मलिन, दु खयुक्त एव अशान्त मन वाले (परधणहरा) दूसरो के धन का हरण करने वाले वे (नरा) मनुष्य (इह लोके) इस लोक में (चेव) ही (वसणसयसमावण्णा) सैंकडो सकटो से घिरे हुए (किलिस्सता) क्लेश पाते हैं ॥ सू० ११ ॥

मूलार्थ—चोरी करने के स्वभाव वाले, पराये धन का हरण करने वाले, चौर्यकलानिपुण, कई वार चोरिया करने से अपने लक्ष्य को पाये हुए, पर्याप्त साहस करने वाले, तुच्छ आत्मा, वडी महत्वाकाक्षा होने के कारण अत्यन्त लोभ मे फसे हुए, वाणी के चातुर्य से अपने स्वरूप को छिपाने वाले अथवा वागाडम्बर से दूसरो को भ्रमित करने वाले, दूसरो के धनमाल पर अत्यन्त आसक्त सामने से सीधा प्रहार करने वाले, लिए हुए कर्ज को नही चुकाने वाले, विवाद होने पर की हुई सधि या प्रतिज्ञा को भग करने वाले, खजाना आदि लूट कर राजा का अनिष्ट करने वाले, देशनिकाला दिए जाने के कारण जाति या समाज द्वारा बहिष्कृत, वन आदि मे आग लगाने वाले या दगा उपद्रव आदि करने वाले, गाँवो का सफाया करने वाले, नगरो के घातक, पथिको को लूटने वाले, घर आदि जला देने वाले, तीर्थ-यात्रियो को लूटने-मारने वाले, हाथ की चालाकी का प्रयोग करने वाले, जुआ खेलने वाले, चुंगी या कर वसूल करने वाले, कर्मचारी या कोतवाल,

स्त्री का हरण करने वाले या स्त्रियों से धन लूटने वाले अथवा स्त्री का रूप बनाकर चोरी करने वाले, पुरुषों या बालको का अपहरण करके ले जाने वाले, सेंध लगाने मे चतुर, गिरहकट या गठकटे, पराया धन उडाने वाले उचक्के, कुछ हाथ न लगने के कारण दूसरो के प्राण हरण करने वाले, वशीकरण विद्या तथा औषधि आदि के प्रयोग से मूर्च्छित करके लूटने वाले, एकदम झपट कर लूटने वाले, निरतर सताकर या कुचल कर या धमकी दे कर लूटने वाले, गुप्त चोरियाँ करने वाले, गाय बैल आदि के चोर, घोडो के चोर, दासियो को चुराने वाले, अकेले ही चोरी करने वाले, घरो मे से आभूषण चुराने वाले अथवा चोरो को बुला कर दूसरो के घरो मे चोरी करवाने वाले चोरो को भोजन आदि देने वाले, छिप कर चोरी करने वाले, सार्थवाहो (बनजारो) को लूटने वाले, लोगो को चकमे मे डाल कर या विश्वासोत्पादक (मैं दुगुना सोना बना दू गा इत्यादि प्रकार से, वचन बोल कर ठगने वाले, बन्दीघर (जेलखाने) से भाग कर या छूटकर लूटखसोट करने वाले, अथवा लोगो को पकड कर ले जाने वाले और उनसे मनमाना धन बटोरने वाले, तस्कर-व्यापार करने वाले या व्यवसाय मे बेईमानी करके लूटने वाले और जिनकी बुद्धि रात-दिन अनेक प्रकार की चोरी करने मे लगी हुई होती है, वे ही चोरी करते है।

ये और इसी प्रकार के दूसरे लोग भी चोरी करते है, जो परद्रव्यो के के लोभ से अविरत (निवृत्त) नही है। जैसे कि विपुल बल या सैन्य और परिग्रह (परिवार या धन) वाले बहुत से राजा लोग, जो पराये धन मे आसक्त होते है, अपने द्रव्य (राज्य, धन आदि) से असतुष्ट होते है, दूसरे देशो पर चढाई करते है। वे लोभी राजा दूसरो के द्रव्य को हथियाने के लिए अपनी फौज को हाथी, घोडे, रथ और पैदल इन चार भागो मे बाटते है। पक्के निश्चय वाले अच्छे योद्धाओ के साथ युद्ध करने मे आत्मविश्वास वाले तथा मैं पहले लडू गा, मै पहले लडू गा, इस प्रकार के गर्व से भरे हुए पैदल सैनिको से घिरे हुए कमलपत्राकार, शकटाकार, सूई के आकार, चक्राकार, समुद्राकार, गरुडाकार इत्यादि विविध व्यूहरचनाओ (मोर्चों) वाली अपनी विस्तृत सेनाओ से दूसरे की सेनाओ को आच्छादित करके या शत्रु-सेनाओ पर छा कर, उन्हे पराजित करके अन्य राजाओ की धन-सम्पत्ति लूट लेते है। दूसरे कितने ही राजा युद्ध के मैदानो मे सबसे अगली पक्ति मे लड कर विजयी बने हुए कमर कसे

हुए, कवच पहने हुए, तथा खास तरह के परिचयसूचक पट्ट (बिल्ले) मस्तक पर मजबूती से बाधे हुए, कधो पर और हाथो मे अस्त्र-शस्त्र लिये हुए, शस्त्रास्त्र प्रहार से बचने के लिए ढाल और उत्तम कवच से चारो ओर ढके हुए, लोहे की जाली लगाए हुए, कवचो पर लोहे के काटे लगाए हुए, वक्ष-स्थल के साथ ऊर्ध्वमुखी तूणीर (बाणो की थैली या भाथा) गले मे बाँधे हुए, हाथ मे पाश, शस्त्र और ढाल लिए हुए, सैन्यसमूह की रणोचित रचना किए हुए, कठोर धनुष को महर्ष हाथ मे लिये हुए रहते है समरभूमि मे उनके हाथो से खीच कर छोडे गये बाणो की वर्षा ऐसी लग रही है, मानो बादलो से मूसलधार बरसती हुई वर्षा से मार्ग व्याप्त हो। उक्त सग्राम मे सैनिक अनेक धनुष, दुधारी तलवारो, फेंकने के लिए निकाली तथा उछाली हुई त्रिशूलो, बाणो, बाये हाथो मे पकडी हुई ढालो, म्यान से निकाली हुई चमचमाती तलवारो, प्रहार करते हुए भालो, तोमर नामक बाण, चक्र, गदा, कुल्हाडा मूशल, हल, शूल, लाठी, भिडमाल, शब्बल (लोहे के बल्लम), पट्टिस नामक शस्त्र चमडे मे बधे हुए पत्थर गिलौल), द्रुघणो (चौडे भालो), मुट्ठी मे आ जाने वाले विशिष्ट पत्थर के शस्त्रो, मुद्गर, प्रबल आगल, गोफण (यत्र मे बधे हुए पत्थर), द्रुहण (कर्कट, बाणो के भाथो, कुवेणियो—नालीदार बाणो और आसन नामक शस्त्रो से सुसज्जित है। जिन युद्ध मे दुधारी चमकती तलवारो और चमचमाते प्रहरणो (शस्त्रो) के चलाने व फेंकने से आकाश बिजली की तरह उज्ज्वल प्रभा वाला हो जाता है। जहा पर शस्त्रप्रहार स्पष्ट होते है। जिस महायुद्ध मे शखो, भेरियो, उत्तम बाजो तथा अत्यन्त स्पष्ट आवाज वाले ढोलो के बजने की गम्भीर ध्वनि से हर्षित वीरो और कम्पित व क्षुब्ध कायरो का बहुत जोर से कोलाहल हो रहा है। घोडे हाथी, रथ और पैदल योद्धाओ के फुर्ती से चलने से चारो ओर उडती हुई धूल गाढ अन्धकार से रणक्षेत्र को ढक रही है। तथा कायर मनुष्यो के हृदय को कपाने और नेत्रो को व्याकुलित करने वाले, ढीले होने से इधर-उधर हिलते हुए ऊँचे मुकुटो, तीन सेहरे वाले ऊँचे मुकुटो, कानो के कुडलो और नक्षत्रो (एक प्रकार के गहनो) की जहाँ जगमगाहट हो रही है। साफ दिखाई देने वाली पताकाओ, बहुत ऊँची बाँधी हुई ध्वजाओ, विजयसूचक वैजयती-पताकाओ तथा चलायमान चवरो और

छत्रो से हुए अन्धकार के कारण जो गम्भीर है। घोडो के हिनहिनाने से, हाथियो के चिंघाडने से, रथो की घनघनाहट से, प्यादो की हर हर आवाज से, जोर से चिल्लाने से, जोर से खिलखिला कर हसने से, और एक साथ हजारो कठो की ध्वनि से जहाँ भयङ्कर गर्जनाएँ होती है, जिसमे एक साथ हसने, रोने और रुष्ट होने का शोरशराबा हो रहा है, जो बीच-बीच मे आसूओ के साथ मुह फुला कर बोलने से रौद्र हो जाता है, जिसमे भयावने दातो से होठो को जोर से चबाने वाले योद्धाओ के हाथ अचूक प्रहार करने के लिए उद्यत है, रोष से उनकी आखे लाल हो कर तरेर रही है, वैर दृष्टि के कारण क्रुद्ध चेष्टाओ से उनकी भौहे तनी हुई होने से ललाट पर तीन सल पडे हुए है मारकाट मे लगे हुए हजारो मनुष्यो के पराक्रम को देख कर जिस युद्ध मे सेनाओ मे पौरुप बढ रहा है, हिनहिनाते हुए घोडो और रथो से दौडते हुए समरभट-योद्धा तथा शस्त्रास्त्र चलाने मे दक्ष व हस्तलाघव, प्रहार आदि मे सध हुए सैनिक जिसमे हर्ष से उन्मत्त हो कर दोनो भुजाएँ ऊची उठाए खिलखिला कर ठहाका मार कर हँस रहे है और किलकारियाँ कर रहे है। चमकती हुई ढाले और कवच धारण किए मत्त हाथियो पर चढ कर रवाना हुए भट शत्रुओ के भटो के साथ जहा परस्पर युद्ध मे सलग्न हैं, युद्धकला मे दक्षता प्राप्त करने के कारण घमडी योद्धा अपनी-अपनी तलवारे म्यान मे से निकाल कर रोषपूर्वक फुर्ती से जिसमे परस्पर प्रहार कर रहे है एव हाथियो की सूडे काट रहे है, जिससे उनके भी हाथ कट रहे है, जहा पर मुद्गर आदि से मारे गए, बुरी तरह से काटे गए या फाडे गए हाथी आदि पशुओ या मनुष्यो के जमीन पर बहते हुए खून के कीचड से रास्ते लथपथ हो रहे हैं, पेट फट जाने से भूमि पर लुढकती हुई एव बाहर निकलती हुए आतो से खून बह रहा है तथा तडफडाते हुए, व्याकुल, मर्मस्थान पर चोट खाये हुए, बुरी तरह से कटे हुए, भारी चोट खा जाने से बेहोश हुए, एव इधर-उधर लुढकते हुए मनुष्यो के विलाप से वह युद्धभूमि करुण हो रही है। जिस युद्ध मे मारे गये योद्धाओ के भटकते हुए घोडे, मतवाले हाथी और भयभीत मनुष्य तथा मूल से कटी हुई ध्वजाओ वाले टूटे हुए रथ, सिरकटे हाथियो के कलेवर, नष्ट हुए हथियार और बिखरे हुए गहने युद्धभूमि मे पडे है, जहाँ सैनिको के

नाचते हुए अनेक सिरकटे धडो पर कौए और गिद्ध मडरा रहे है और वे झुड के झुंड जब घूमते है तो उनकी छाया के अधकार से वह गम्भीर हो रहा है। ऐसे युद्ध मे वे केवल सेना को ही नही लडाते, बल्कि स्वय भी प्रवेश करते है, मानो देवलोक (आकाश) और इस पृथ्वी को कपाते हुए पराये धन के लिए लालायित वे राजा लोग साक्षात् श्मशान के समान,अत्यन्त रौद्र होने के कारण भयानक और अत्यन्त कठिनाई से प्रवेश करने योग्य इस सग्रामरूपी घने वन मे आगे हो कर प्रवेश करते हैं।

दूसरे पैदल चोरो के दल और चोरो के दल के प्रवर्तक—सेनापति वन्य प्रदेशो मे खोह, गुफा, बीहड या जलीय-स्थलीय दुर्गम स्थानो मे निवास करते हे। काले, हरे, लाल, पीले, सफेद आदि सैकडो रग-बिरगे चिह्नपट्ट (बिल्ले या चपरास) बाधे हुए वे दूसरे देशो यानी राज्यो पर सहसा धावा बोल देते है। लालची बन कर धन के लिए वे रत्नो के खजाने वाले समुद्र पर चढाई कर देते है। जो हजारो तरगो की मालाओ से व्याप्त है पेय जल के अभाव मे जहाज के व्याकुल मनुष्यो के कलकल से युक्त है, हजारो पातालकलशो की हवा के कारण तेजी से ऊपर उछलते हुए जलकणो की की रज से जो अधकारमय है, निरन्तर प्रचुर मात्रा मे उठने वाला सफेद फेन ही जिसका अट्टहास है, जहाँ हवा के थपेडो से पानी क्षुब्ध हो रहा है, जलकल्लोलमालाएँ अत्यन्त वेग वाली हो रही है, चारो ओर तूफानी हवाओ से क्षुब्ध है, किनारे पर टकराते हुए जलसमूह से तथा मगरमच्छ आदि जलजन्तुओ से अत्यन्त चचल है, अपने बीच मे निकले हुए पर्वत आदि से टकराते व बहते हुए अथाह जलसमूह से जो युक्त है, गगा आदि महानदियो के वेग से शीघ्र लबालब भर जाने वाला है, जिसके गहरे अथाह भवरो मे चपलतापूर्वक भ्रमण करते, व्याकुल होते, ऊपर उछलते और नीचे गिरते हुए जलसमूह हे या जलजन्तु हे, तथा जो वेगवान एव अत्यन्त कठोर प्रचण्ड, क्षुब्ध जल मे से उठती हुई लहरो से व्याप्त है। बडे-बडे मगरमच्छो कछुओ, ओहार नामक जलजन्तुओ, घडियालो, बडी मछलियो, सुसुमार और श्वापद नामक जलजन्तुविशेषो के परस्पर टकराने और एक दूसरे को निगलने के लिए दौडने से जो प्रचुर घोर बना हुआ है, जो कायरजनो के हृदय को कपा देने वाला है, अत्यन्त भया-

वना और भय पैदा करने वाला है, जो प्रतिक्षण भयप्रद है, अत्यन्त उद्वेग पैदा करने वाला है, जिसके आर-पार का कोई पता नही लगता, जो आकाश के समान आलम्बन-रहित है, उत्पातजनित वायु से प्रेरित (चलाई हुई) एक के बाद दूसरी गर्व से इठलाती हुई लहरो के वेग से जो दृष्टिपथ को ढक देता है। कही पर गभीर मेघगर्जना जैसी गू जती हुई, व्यन्तरकृत महाध्वनि के सदृश, तथा उससे उत्पन्न होकर दूर तक सुनाई देने वाली प्रतिध्वनि के समान गभीर और धुग् धुग् करती हुई आवाज जिसमे हो रही है। जो प्रत्येक रास्त मे रुकावट डालने वाले यक्ष, राक्षस, कुष्माण्ड और पिशाच जातीय कुपित हुए व्यन्तरदेवो द्वारा जनित हजारो उपसर्गों से व्याप्त है, जो वहुत-से उपद्रवो से भरा हुआ है, जो वलि, होम और धूप दे कर की गई देवता की पूजा और रुधिर दे कर की गई अर्चना मे प्रयत्नशील अपने सामुद्रिक व्यापार मे रत जहाजी व्यापारियो से सेवित है, जो कलि-काल (अन्तिम युग) के अन्त यानी प्रलयकाल के कल्प के समान है, जिसका अन्त पाना कठिन है, जो गगा आदि महानदियो का नदीपति होने से दिखने मे अत्यन्त भयकर है, जिसका सेवन कठिनाई से किया जा सकता है या जिसमे चलना बहुत ही दुष्कर है, जिसमे प्रवेश पाना (पानी से लबालब भरा होने से) बहुत ही कठिन है जिसका पार करना दुष्कर है, जिसका आश्रय लेना भी दु खयुक्त है, जो खारे पानी से भरा हुआ है, ऐसे रत्नाकर सागर मे ऊँचे किये हुए काले और सफेद झडो वाले, अति शीघ्रगामी तेज पतवारो वाले जहाजो द्वारा आक्रमण करके समुद्र के बीचोबीच जा कर वे सामुद्रिक व्यापारियो के जहाजो को नष्ट कर देते ह।

पराये धन को चुराने वाले लोग निर्दय एव परलोक की जरा भी परवाह न करने वाले होते है। वे धन से समृद्ध गावो, नगरो, खेडो, खानो, कस्वो, चार योजन के अन्तर्गत गाँवो से घिरे हुए मडम्बो, बदरगाहो, बदरगाह के समीपवर्ती नगरो—जहाँ जल-स्थल दोनो मार्ग हो, आश्रमो, मठो, व्यापारी मडियो एव जनपदो को नष्ट कर देते हे। वे अत्यन्त मजबूत दिल के या निहितस्वार्थी होते हे, निर्लज्ज होते हे, वे लोगो के वदी वना कर या गाय आदि को पकड कर ले जाते ह। ऐसे कठोर बुद्धि वाले, निर्दय या निकम्मे लोग अपना या अपनो का (एक न एक दिन) घात करते है, घरो मे सेंध

लगाते ह, वे पराये धन से निवृत्त-विरक्त नही होते तथा दया-रहित बुद्धि वाले होते है, इसलिये देशवासी लोगो के घरो मे रखे हुये धन, धान्य तथा अन्य द्रव्यसमूह को चुरा ले जाते है। इसी प्रकार कितने ही लोग चोरी की खोज मे लगे रहते है। वे समय-कुसमय मे घूमते हुए ऐसे श्मशान मे जा कर आश्रय लेते है,जहा चिताओ मे जलती हुई, रुधिरादि से लिप्त, अधजली या इधर उधर घिसटी हुई लाशे पडीहै तथा खून से लथपथ मृत शरीरो को पूरा खाने और पी लेने के पश्चात् घूमती हुई डाकिनियो से अत्यन्त भयावना हो रहा है,जहाँ गीदड खी खी आवाज कर रहे हैं,उल्लू भयङ्कर आवाज कर रहे हे,जो विद्रूप वेतालो द्वारा ठहाका मार कर हसने से अत्यन्त भयानक और अरमणीय हो रहा है,जो अत्यन्त दुर्गन्धित और घृणित होने से देखने मे वडा भयावह है। तथा वे वन मे,सूने घरो तथा शिलाओ से वने हुये घरो मे,मार्ग पर वनी हुई दूकानो,पर्वतो की गुफाओ, ऊबड-खावड जगहो एव सिंह आदि हिंस्र जानवरो से व्याप्त जगहो मे क्लेश पाते हुए भटकते है। उनके शरीर की खाल सर्दी और गर्मी से सूख या सिकुड जाती है, वह सूखी होकर कडी पड जाती है, या जल जाती है। जिनसे नरक और तिर्यंच की भवपरम्पराओ मे सतत दु खो को भोगना पडे ऐसे पापकर्मों का वे सचय करते है। उन्हे मोदक आदि भक्ष्य पदार्थों तथा चावल,गेहूँ आदि अनाजो एव दूध आदि पदार्थों का मिलना दुर्लभ होता है। उन्हे चोरी के दुष्कर्म करते समय भूखे, प्यासे और थके हुए रहना होता है तथा मास, मुर्दा शरीर, कद, मूल या जो कुछ भी मिल जाय,उसी को खाकर रहना पडता है। वे रातदिन उद्विग्न (फडफडाते) रहते है, वे एक जगह से दूसरी जगह दौडते-भागते रहते हे, अथवा हर समय वे गुप्त खवरे पाने के लिय उत्सुक रहते है, कही भी उन्हे टिकने को शरण नही मिलती, अतएव सैकडो सर्पों के कारण हर क्षण शकाजनक अटवी मे रहने के लिए विवश होते हे। वे अपने कुल की वदनामी कराने वाले भयकर चोर होते हैं, जो चोरी करने स पहले ऐसी गुप्त मत्रणा करते ह कि आज किसका धन चुराए ? वे वहुत-से लोगो के कर्तव्य-कर्मों मे विघ्न डालते ह। वे नशे मे चूर, असावधान, सोये, हुए, और विश्वस्त लोगो का मोका पा कर घात करते ह। दुर्व्यसनो, आफतो और उत्सव आदि खुशी के मौको पर उनके दिमाग मे चोरी की भावना जागती है। वे भेडियो की तरह अति क्रूर रक्तपिपासु जैसे होकर सर्वत्र भटकते रहते है, वे राजा द्वारा वनाए हुए सरकारी कानूनो की मर्यादा का उल्लघन करते है, वे सज्जन लोगो के द्वारा घृणा के पात्र हैं, अपने दुष्कर्मों

के कारण पापकर्म करने वाले एव अशुभ परिणामो से युक्त रहते हे, तथा दु ख के भागी वनते हे। उनके मन हमेशा दु खाक्रान्त व अशान्त रहते है। वे परधन हरण करने वाले मनुष्य इस लोक मे ही सैकडो सकटो से घिरे हुए क्लेश पाते रहते है।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ द्वारा शास्त्रकार ने, अदत्तादान करने वाले कौन-कौन होते होते हे ? तथा वे चोरी करने के लिए किन-किन भयकर तरीको का आश्रय लेते हैं ? इसका विशद विवेचन किया हे। मूलार्थ मे इसका स्पष्ट अर्थ किया गया है, जो अनायास ही समझ मे आ सकता है। फिर भी कुछ पदो का विवेचन और विश्लेपण करना आवश्यक समझ कर किया जा रहा है—

त पुण करेंति चोरिय—उस चोरी को करते है—तस्कर, परद्रव्यहारक आदि दुर्जन। चोरी का जन्म सर्वप्रथम मन मे होता है। मनुष्य के मन मे पहले दूसरे की अच्छी वस्तु देख कर या अपने पास उस वस्तु का अभाव होने से दूसरे के यहॉ उस वस्तु की प्रचुरता देख कर उसे किसी भी तरह से प्राप्त कर लेने का लोभ और फिर क्रमश इच्छा, लालसा, तृष्णा और आसक्ति पैदा होती-है। उसके वाद वह अपने मन मे उस वस्तु को प्राप्त करने के उपायो का चिन्तन करता है, योजना वनाता है। उस वस्तु की प्राप्ति मे कौन-कौन-सी रुकावटे आ सकती है ? कौन-कौन-से खतरे उठाने पड सकते है ? किन-किन साधनो का आश्रय लेना पडेगा ? किन-किन सहायको को साथ मे लेना होगा ? इत्यादि विविध तरीको और तरकीबो को अजमाता है। वार-वार उन तरीको और उपायो को अजमा लेने के वाद वह चौर्यकला मे दक्ष और साहसिक वन जाता है, तव वेखटके चोरी करने लग जाता है। कुछ लोग स्वय चोरी नही करते, किन्तु कुछ साहसी व्यक्तियो को अपने यहाँ रख कर या अमुक हिस्सा देने का लोभ दे कर उनसे चोरी करवाते है। कुछ लोग चोरी का माल खरीद लेने का वादा करके चोरो को चोरी करने के लिए प्रोत्साहन देते है,वे उनकी चोरी के विरुद्ध कुछ भी नही कहते, अपितु गुप्त रूप से उस चोरी का समर्थन करते रहते है। कुछ लोग चोरी करने के विविध उपाय वताते हैं, चोरो के साथ साझेदारी मे व्यवसाय करते है, उन्हे चोरी करने के लिए शस्त्र-अस्त्र आदि साधनो की गुप्त रूप से सहायता करते हे। कुछ लोग व्यवसाय मे चोरी करते है, वे अच्छी वस्तु दिखा कर घटिया दे देते है, तोल-नाप मे गडवड करते है, वस्तु मे मिलावट करते है, झूठी सौगन्ध खा कर ग्राहक को ठग लेते हैं, अत्यधिक मूल्य या दर पर वेचते ह , सरकार के द्वारा निश्चित करो की चोरी करते है, वहीखाते मे

झूठा जमाखर्च करते हैं, सौ रुपये दे कर हजार रुपये लिख देते हैं, किसी की धरोहर को हड़प जाते हैं, पराई अमानत को इकार जाते हैं, इत्यादि प्रकार की चोरियो की गणना व्यावसायिक चोरी मे होती है। झूठे विज्ञापनो द्वारा लोगो को धोखा दे कर रुपये बटोरना, नकली कपनी खोल कर लोगो को चकमा देना, बाजार के भावो मे अचानक वृद्धि कर देना आदि भी व्यावसायिक चोरी है।

साहसिक चोरी मे उन चोरियो की गणना होती है, जो डाका डाल कर, आक्रमण करके, समुद्रयात्रियो को अचानक घेर कर लूट पाट की जाती है। सेंध लगा कर, घरो मे घुस कर, ताला तोड कर तिजोरी तोड कर, घर फोड कर चोरी करना भी प्रसिद्ध चोरी है। ये सब तस्कर और परद्रव्यहरणकर्ता कहलाते हैं। इस तरह अनेक प्रकार की चोरियाँ करने वालो का उल्लेख शास्त्रकार ने किया है। चोरो के विविध लक्षण और प्रकार मूलपाठ मे बताये है। उनका क्रमश संक्षेप मे हम विश्लेपण करते हैं—

छेया—चोरी करने वाले छेक यानी प्रवीण होते हैं। मनुष्य उत्तम कार्यो मे दक्षता प्राप्त करे, यही मानवीय नीति है, लेकिन उसी दक्षता का जब चोरी आदि अनैतिक कार्यों मे उपयोग होता है, तो वह दानवीय नीति कहलाती है। चोरी करने मे चतुर लोग ऐसी सिफ्त से सफेदपोश बन कर सनसनीखेज चोरी करते हैं, जिससे सरकार भी उन्हे गिरफ्तार करने मे असमर्थ रहती है। कई लोग चोरी मे ऐसे प्रवीण होते है कि दिन दहाडे बैंक या अन्य किसी भी फर्म पर छापा मार कर द्रव्य लूट लेते है। ऐसे चतुर लोग चोरी करने के नये-नये तरीको का आविष्कार करते रहते है। चौर्यशास्त्र का अध्ययन करके ऐसे लोग चौर्यकला मे दक्ष हो कर नित नये तरीके अजमाते रहते है।

कयकरणलद्धलक्खा—इस पद से शास्त्रकार सूचित करते है कि चोरी करने वाले बार-बार चोरी का अभ्यास करने से चोरी करने मे सिद्धहस्त हो जाते है, अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते है। हर एक काम पहले अल्पमात्रा मे प्रारम्भ होता है। फिर उसका बार-बार अभ्यास करने से वह विशालरूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार मनुष्य छोटी-छोटी चोरिया करके पहले चोरी का अभ्यास करता है। बाद मे अवसर पा कर वह बडा चोर बन जाता है। वह चोरी करने मे इतना अभ्यस्त हो जाता है कि कोई उसकी चोरी को सहसा नही पकड सकता। अथवा उस चोर का सामना करने मे या उसे गिरफ्तार करने मे बडे-बडे लोग व सरकारी अधिकारी तक भी असमर्थ रहते है।

साहसिया—चोरी करने वाले अत्यन्त साहसी होते है। साहसहीन व्यक्ति चोरी सरीखे कामो मे हाथ डालेगा तो उसे हाथो पकडा जाएगा। चोरी जैसे खतरे

को मोल लेना साहसिको का ही काम है। वैसे तो साहस वीर का गुण है, किन्तु उसी साहस का उपयोग जब चोरी सरीखे अनर्थकारी कार्यो मे किया जाता है तो वह दुर्गुण बन जाता है। बल्कि ऐसे कुमार्ग मे साहस का उपयोग करने वाले को सहायक कम मिलते हे, कदाचित् मिल भी जाय तो आफत आने पर उससे किनारा-कसी कर लेते हे। आखिरकार उसे अकेले ही खतरे का सामना करना पडता है और कारावास या प्राणदण्ड अकेले को ही भोगना पडता है, जबकि सन्मार्ग मे साहस करने वाले को अनेको सहायक भी प्राय मिल जाते है, उसकी यशकीर्ति भी चन्द्रमा की चादनी की तरह फैल जाती है। धर्मकार्य मे साहस करने वाले की आत्मा बलवान् बन जाती है, जबकि पापकार्य मे साहस करने वाले की आत्मा निर्बल, भयभीत और कायर बन जाती है। वह साहस अधिक दिनो तक नही टिकता।

लहुस्सगा—चोरी करने वाले की आत्मा अत्यन्त तुच्छ होती है। जो चोरी करता है, उसे ससार तुच्छ दृष्टि से देखता है। उसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है। लकाधीश रावण ने महासती सीता का अपहरण किया। इसके फलस्वरूप उसका यश नष्ट हो गया। उसकी विद्वत्ता, प्रभुता और सत्ता सभी धूल मे मिल गई। उसकी आत्मा का पतन हुआ। व्यक्ति चाहे जितने ऊँचे पद पर पहुचा हुआ हो, ऐश्वर्यशाली हो, प्रभुत्वसम्पन्न हो, किन्तु चोरी जैसे दुष्कृत्य को करने से उसकी प्रभुता, ऐश्वर्य-सम्पन्नता और विद्वत्ता मिट्टी मे मिल जायगी, उसकी आत्मा का पतन हो जायगा। फलत उसकी आत्मशक्ति क्षीण हो जायगी।

अतिमहिच्छलोभगच्छा—जिनकी इच्छाएँ बहुत बढ जाती है, तथा जो लोभ-रूपी पिशाच से ग्रस्त हो जाते हैं, वे चोरी करते है। इस पद से चोरी करने के मूल कारण को भी प्रगट कर दिया गया है। वास्तव मे अतिलोभ या अतिलालसा ही चोरी का मूल कारण है। जब मनुष्य अपने मन मे बडी-बडी आशाएँ व लालसाएँ सजोता है, मनसूबे बाधता है, बडी-बडी इच्छाएँ करता है, या धनवृद्धि की अभिलाषा करता है, तभी उनकी पूर्ति के लिए वह पराये धन पर या पराई वस्तु पर हाथ साफ करता है। धन का लोभ बडो-बडो को चोरी सरीखे अनर्थकारी कार्य मे प्रेरित करता है। धन के लोभ से ही डाकू डाका डालते है, लुटेरे अपनी जान को जोखिम मे डाल कर लूटमार करते है। धन के लोभ से ही व्यापारी व्यवसाय मे तरह-तरह से चोरी करते है। धन के लोभ से ही राजा लोग दूसरे के राज्य को छीन कर अपने कब्जे मे करने का प्रयत्न करते है। सरकारी कर्मचारी या अधिकारी धन के लोभ मे आ कर रिश्वत लेते है, कार्य करने मे चोरी करते है और गबन आदि करते है। भ्रष्टाचार, तस्करव्यापार, करचोरी आदि सब अनर्थो का मूल धनलोभ है। इसीलिए लोभ को पाप का बाप कहा गया है।

इसी प्रकार लोभ पर जब इच्छाओं के पंख लग जाते है तो मनुष्य उससे प्रेरित हो कर पराये धन या परवस्तु को हडपने, पराई अमानत को हजम करने और दूसरे की वस्तु को अपने कब्जे मे करने का प्रयत्न करता है। इसलिए यह ठीक कहा है कि बढी हुई इच्छाओ वाले एव लोभ से ग्रस्त मनुष्य ही चोरी का मार्ग अपनाते है। मनुष्य पहले अपनी इच्छाओ पर लगाम नहीं लगाता, अत बाद मे अपनी उत्कट इच्छा की पूर्ति उचित मार्ग से न होने पर वह अनुचित मार्ग को अपनाता है, वह अनुचित—अनीतिमय मार्ग ही चोरी है।

दद्दरओवीलगा—कुछ चोर ऐसे होते है, जो कठ से ऐसी आवाज निकालते हैं, जिससे वे पहिचाने न जा सके। इस तरह वे गिरफ्तार करने वालो के चगुल मे बच कर भाग निकलते है। अथवा अपनी डरावनी आवाज से लोगो को भयभीत करके या धमकी दे कर लोगो को पीडित करके उनसे धन छीन लेते है। अथवा इस पद का यह भी तात्पर्य है कि कुछ लोग वाणी के चातुर्य से दूसरो को प्रभावित करके ठगते है, परधनहरण करते है। कई लोग झूठ बोल कर वाणी का आडम्बर रच कर जाल मे ऐसे फसाते है कि श्रोता लोग उन पर धन की वर्षा करने लगते हैं। यह भी चोरी का एक प्रकार है। दूसरो की जेब से पैसा निकलवाने के लिए कुछ लोग बडे-बडे लच्छेदार जोशीले भाषण देते हैं, जिसमे वे श्रोताओ की झूठी प्रशसा करके उन्हे कुछ न कुछ देने के लिए विवश कर देते है। अथवा वाग्जाल मे फसा कर भोलेभाले लोगो को ठग लेते है। ठगी भी चोरी करने के अपराध मे परिगणित होती है।

गेहिया—दूसरो के अधिकार की वस्तु पर गृद्ध की तरह दृष्टि गडाए हुए या गृद्धि एव आसक्ति रखने वाले चोर 'गेहिया' कहलाते है, जो मौका पाते ही पराये माल पर हाथ साफ कर जाते है। जब मनुष्य की आसक्ति परपदार्थ या परद्रव्य मे बढ जाती है तब उसकी पूर्ति के लिए वह चोरी जैसे दुष्कृत्य को अपनाता है। आसक्ति ही मनुष्य को छिप कर, गुप्त रूप से काम करने को विवश कर देती है। छिप कर काम करना भी चोरी है। गुप्तरूप से तो मनुष्य वही काम करता है, जिस मे नीति, धर्म आदि शुभ सकल्प नही होते। आसक्तिवश मनुष्य गुप्तरूप से दूसरो के धन या द्रव्य पर हाथ साफ करने का प्रयत्न करता है। इसीलिए सूत्रकार ने ऐसी गृद्धि रखने वाले या पराये धन या वस्तु पर आँख गडाए रखने वाले मनुष्य को चोरी करने वालो मे गिनाया है।

अणभजक-भग्गसधिया—कर्ज न चुकाने वाले और अपनी की हुई सधि या प्रतिज्ञा को भग करने वाले भी चोरो मे शुमार हैं।

रायदुट्ठकारी—राजा या सरकार के कानूनो का उल्लघन करके तस्करव्यापार

करने वाले, चोरबाजारी करने वाले, करचोरी करने वाले तथा सरकारी खजाने आदि को लूट लेने वाले लोग भयकर चोरो की कोटि मे है ।

विसयनिच्छूढलोकवज्झा—देश, जाति या समूह से निष्कासित, लोकविरुद्ध निन्दित आचरण करने वाले लोग भी चोरी, डकैती या लूट का धधा अपना लेते है। इस पद मे उनका सकेत किया गया है ।

उद्दोहक-गामघायक-पुरघायग-पथघायग-आवीलग-तित्थभया—जो लोग चोरी के लिए विविध प्रकार की साहसिक हिंसा का तरीका अपनाते है, उनका सकेत इस पद से किया गया है । ऐसे लोग, जो जगल आदि जला डालते है, गाँव, नगर, यात्रीजन आदि की हत्या करके लूट लेते है तथा विविध प्रकार की यातनाएँ देकर धनहरण कर लेते है अथवा तीर्थयात्रियो को घेर कर उन्हे मारपीट कर उनसे धन छीन लेते हैं, ये सभी चोर है ।

लहुहत्थसपउत्ता परस्स दव्वाहिं जे अविरया—इन सबका अर्थ पहले स्पष्ट कर दिया गया है । इनमे उन सब लोगो का समावेश कर दिया गया है, जो परद्रव्यहरण (चोरी) के त्याग से विरत नही है । यानी जिसने अचौर्यव्रत धारण नही किया है, वह हाथ की सफाई से, जुआ खेल कर, रिश्वत ले कर, कर वसूल करने मे गडबड करके, स्त्री, पुरुष, या और किसी का वेष बनाकर, जेब काट कर, वशीकरण मत्र-तत्र आदि से अथवा बालक का अपहरण करके, सेंध लगाकर, मारपीट कर या सता कर चोरी करता है। अथवा वह गुप्तरूप से गाय, घोडा, दासी का हरण कर लेता है । कई लोग स्वय चोरी नही करते, लेकिन चोरी करने वालो को सहायता दे कर चोरी मे साझेदार बनते है, कई यात्रि सघो को लूट लेते है या विश्वास पैदा करके ठग लेते है कई लोग जेलखाने से भाग कर चोरी का रास्ता अपनाते हैं। ऐसे अदत्तादान से अनिवृत्त लोगो का दिमाग हमेशा चोरी करने मे ही लगा रहता है ।

विपुलबलपरिग्गहा अभिभूय हरति परधणाइ—पराये धन मे आसक्ति रखने वाले राजा लोग कैसे चोरी करते है ? उनकी मनोवृत्ति तथा धनहरण करने का तरीका यहाँ सूचित किया गया है कि ऐसे शासक परधन को अपने कब्जे मे करने के लिए बडी भारी चतुरगिणी सेना सजा कर व्यवस्थित ढग से दूसरे शासक पर या दूसरे के राज्य, कोष आदि पर आक्रमण करके सारा धन या राज्य अपने कब्जे मे कर लेते हैं ।

अवरे रणसीसलद्धलक्खा परविसए अभिहणति—इस लम्बे वाक्य से ऐसे चोरो का सकेत किया है, जो बहुत पैसा खर्च करके व्यवस्थित ढग से एक विशाल सेना को युद्ध की तालीम दे कर तैयार करते है और उस सेना को लडा कर दूसरे देश के राज्य पर कब्जा कर लेते है । इतने लम्बे वाक्य मे सैन्य-सचालन, व्यूहरचना एव युद्धकला

का वणन किया है। साथ ही सेना की मनोवृत्ति का भी विश्लेषण किया है। इतने साहसिक रूप से धनहरण का काम वे ही लोग करते है, जिनकी लालसाएँ अत्यन्त बढी हुई है। यह सब मूलार्थ से स्पष्ट है।

लुद्धा धणस्स कज्जे समुद्दमज्झे हणति, गतूण जणस्स पोते—इस लम्बे वर्णन मे उन लोगो की मनोवृत्ति, तरीको तथा साहसिकता का उल्लेख किया है, जो समुद्रयात्रा करने वालो के जहाजो पर हमला करके उन्हे लूट लेते है। इसका आशय भी मूलार्थ मे स्पष्ट किया गया है। लोभी मनुष्य धन के लिए किन-किन खतरो का सामना करता है, इस बात को समुद्र की भयकरता का वर्णन करके शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है।

परदव्वहरा नरा परस्स दव्वाहि जे अविरया—इस अनुच्छेद मे शास्त्रकार ने परद्रव्यहरण करने वाले लोगो की मनोवृत्ति का विश्लेषण किया है। मूलार्थ मे इसका आशय स्पष्ट है।

तहेव केई अदिन्नादाण वसणसयसमावण्णा—इतने लम्बे वर्णन मे शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ का उपसहार करते हुए चोरी करने वाले लोगो की दुर्दशा और सकटापन्न स्थिति को स्पष्ट किया है। चोरी करने वाले लोगो को अन्न, पानी, निवास, शयन आदि के भयकर कष्टो का सामना करना पडता है, राजदण्ड से बचने के लिए अपनी जान को जोखिम मे डाल कर वे वनो मे भूखे-प्यासे रहते हैं, रात-दिन भयभीत रहते हैं, भयकर हिंस्र-जन्तुओ व जगली जानवरो के बीच मे रहते है। उनकी सूरत, उनका स्वास्थ्य, उनके परिवार की हालत, उनके बालको की शिक्षा-दीक्षा तथा सस्कार से रहित हो जाने की परिस्थिति, उनकी लोभवश परस्पर भय, आशका और आर्त्तरौद्रध्यान से रात-दिन घिरी हुई मन स्थिति और सैकडो व्यसनो और कष्टो से घिरी हुई उनकी जिंदगी का स्पष्ट विश्लेषण शास्त्रकार ने इस मूलपाठ मे कर दिया है जिसका अर्थ स्पष्ट है।

चोरी के भयकर कुकृत्यो के कारण मनुष्य की अनमोल जिंदगी धूल मे मिल जाती है। चोरी करने वालो को अपने जीवन मे किसी भी अच्छी चीज की उपलब्धि नही होती। इस प्रकार का नारकीय जीवन व्यतीत करके चोर अपने आपको स्वय गुमराह करते है। आत्म-वचना के साथ-साथ समाज-वचना करके चोर अपने अमूल्य जीवन को दु खी, अशान्त, अस्वस्थ एव निरर्थक बना लेते है। समाज के सभ्य लोगो की दृष्टि मे वे घृणित बन जाते है, सरकार की निगाहो मे वे अपराधी समझे जाते है और धर्मात्मा पुरुषो की नजरो मे वे पापी और अधर्मी माने जाते हैं। भला यह भी कोई जीवन है, जिसमे अपने शरीर, मन और परिवार को कोई सुख नही मिलता? जिसमे सिवाय तकलीफो और खतरो के कोई लाभ नही? इतने कष्टो के बाद प्राप्त

हुए अनीतिपूर्ण द्रव्य से भी थोडे दिन के लिए सग्रह के सिवाय और कोई सुखशान्ति नही मिलती। इसलिए चोरी के पापमय धन से दूर रहना ही हितावह है।

अदत्तादान (चोरी) के दुष्परिणाम

पिछले सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने चोरी करने वालो के विभिन्न प्रकार, उनके लक्षण और स्वरूप का वर्णन किया है। अब बारहवे सूत्र मे शास्त्रकार चोरी के विभिन्न दुष्परिणामो और कटुफलो की चर्चा करते है—

मूल

तहेव केइ परस्स दव्व गवेसमाणा गहिया य हया य बद्धरुद्धा य तुरिय अतिधाडिया (अनिघाडिया) पुरवर समप्पिया चोरग्गहचारभडचाडुकराण तेहि य कप्पडप्पहार-निद्दय-आरक्खिय-खरफरुसवयण - तज्जण-गलच्छल्लुच्छलणाहि विमणा चारगवसहि पवेसिया निरयवसहिसरिसं। तत्थवि गोमिय-प्पहारदूमण-निब्भच्छण-कडुयवयण-भेसणगभयाभिभूया, अक्खित्त-नियंसणा, मलिणडडिखडवसणा, उक्कोडालचपासमग्गणपरायणेहि (दुक्खसमुदीरणेहि) गोम्मियभडेहि विविहेहि बधणेहि। किं ते? हडि-निगड - वालरज्जुय - कुदडग-वरत्त - लोहसकल-हत्थदुय - बज्झपट्ट - दामक - णिक्कोडणेहि अन्नेहि य एवमादिएहि गोम्मिकभडोवकरणेहि दुक्खसमुदीरणेहि सकोडण-मोडणेहि बज्झति मदपुन्ना। सपुडकवाड-लोहपजर-भूमिघरनिरोह-कूव - चारगकीलग - जूय - चक्कवितत बधणखभालणउद्धचलण-बधण - विहम्मणाहि य विहेडयता अवकोडकगाढउरसिरबद्ध-उद्धपूरित (पूरिय) - (असुभपरिणयाय) फुरतउरकडगमोडणा-मेडणाहि बद्धा य नीससता सीसावेढउरुयावलचप्पडगसधिबधण-तत्तसलागसूइयाकोडणाणि तच्छणविमाणणाणि य खारकडुय-तित्तनावण-जायणाकारणसयाणि बहुयाणि पावियता, उरक्खोडी (क्खाडा) - दिन्नगाढपेल्लण-अट्ठिकसभग्गसुपसुलीगा, गलकालक-

लोहदंड - उरउदरवत्थि(पट्ठि)परिपीलिता मच्छं(च्छि)त-हियथसचुण्णियगमगा, आणत्ति - (त्ती)किंकरेहि, केति अविरा-हि:वेरिएहि जमपुरिससन्निहेहि पहया ते तत्थ मदपुण्णा चडवेला-वज्झपट्ट-पाराइं-छिव- कस- लत(त्ता)-वरत्त-नेत्तप्पहारसयतालिय-गमगा, किवणा, लबत-चम्मवणवेयणविमुहियमणा, घणकोट्टिम-नियलजुयलसकोडिय-मोडिया य कीरति, निरुच्चारा, (असचरणा) एया अन्ना य एवमादीओ वेयणाओ पावा पावेति, अदंतिंदिया वसट्टा, बहुमोहमोहिया, परधणमि लुद्धा, फासिंदियविसयतिव्व-गिद्धा, इत्थिगयरूवसद्दरसगंध-इट्ठरतिमहितभोगतण्हाइया य धणतोसगा गहिया य जे नरगणा।

पुणरवि ते कम्मदुव्वियद्धा उवणीया रायकिंकराण तेसिं वहसत्थगपाढयाण, विलउलीकारकाण, लचसयगेण्हकाण, कूडकवडमायानियडि - आयरणपणिहिवचणविसारयाण, बहुविह-अलियसतजपकाण, परलोकपरमुहाण, निरयगतिगामियाण तेहि य आणत्तजीयदंडा तुरिय उग्घाडिया पुरवरे सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहपहेसु वेत्त-दंड-लउड - कट्ठ-लेट्ठु-पत्थर-पणालि-पणोल्लि - मुट्ठि-लया-पादपण्हि-जाणु-कोप्पर-पहारसभग्ग-महियगत्ता, अट्ठारस-कम्मकारणा जाइयगमगा, कलुणा, सुक्कोट्ठ-कठगलकतालुजीहा, जायता पाणीय विगयजीवियासा, तण्हादिया, वरागा त पि य ण लभति वज्झपुरिसेहिं (नि) धाडियता।

तत्थ य खरफरुसपडहघट्टितकूडग्गहगाढरुट्ठनिसट्ठपरामुट्ठा, वज्झकरकुडिजुयनियत्था, सुरत्तकणवोरगहियविमुकुलकठेगुण-वज्झदूत आविद्धमल्लदामा, मरणभयुप्पण्ण-सेद आयतणोहुत्तुपिय-किलिन्नगत्ता चुण्णगुडियसरीर-रयरेणुभरियकेसा कुसुंभगोकिन्न-मुद्धया छिन्नजीवियासा, घुन्नत्ता वज्झयाण भीता (वज्झपाण-

पीया), तिल तिल चेव छिज्जमाणा, सरीरविक्किंत (त्त) लोहि-
ओवलित्ता कागणिमसाणि खावियता, पावा, खरकरसएहिं-
तालिज्जमाणदेहा, वातिकनरनारिसपरिवुडा, पेच्छिज्जता य
नागरजणेण वज्झनेवत्थिया पणोज्जति नयरमज्झेण किवणकलुणा,
अत्ताणा, असरणा, अणाहा, अबधवा, बधुविप्पहीणा, विपिक्खिता
दिसोदिसि मरणभयुव्विग्गा आघायणपडिदुवारसपाविया, अधन्ना
सूलग्गविलग्गभिन्नदेहा , ते य तत्थ कीरति परिकप्पियगमगा
उल्लम्बिज्जति रुक्खसालासु, केइ कलुणाइ विलवमाणा, अवरे
चउरगधणियबद्धा पव्वयकडगा पमुच्चंते दूरपातबहुविसम-
पत्थरसहा, अन्ने य गयचलणमलणयनिम्मद्दिया कीरति, पावकारी
अट्ठारसखडिया य कीरंति मुडपरसूहिं, केइ उक्कत्तकन्नोट्ठनासा
उप्पाडियनयणदसणवसणा जिब्भिदियच्छिया छिन्नकन्न-सिरा
पणिज्जते छिज्जते य असिणा निव्विसया छिन्नहत्थपाया
पमुच्चते जावज्जीवबधणा य कीरंति, केइ परदव्वहरणलुद्धा,
कारग्गलनियलजुयलरुद्धा, चारगाव(ए)हतसारा, सयणविप्प-
मुक्का,मित्तजणनिरक्खिया,(तिरक्कया) निरासा, बहुजणधिक्कार-
सद्दलज्जायिता (लज्जाविता), अलज्जा, अणुबद्धखुहा,
पारद्धा सीउण्हतण्हवेयणदुग्घट्टघट्टिया, विवन्नमुहविच्छविया,
विहलमलिनदुब्बला, किलता, कासता, वाहिया य आमाभि-
भूयगत्ता, परूढनहकेसमसुरोमा छगमुत्तमि णियगमि खुत्ता ॥

संस्कृतच्छाया

तथैव केचित् परद्रव्यं गवेषयन्तो गर्हिताश्च हताश्च बद्धरुद्धाश्च
त्वरित अतिधाडिता· (अनिर्घाटिताः) पुरवर समर्पिताश्चौरग्राहचारभटचाटु-
कराणा तैश्च कर्पटप्रहार-निर्दयारक्षिक-खरपरुषवचन-तर्जन-गलग्रहणोच्छ-
लणाभिर् विमनसश्चारवसतिं प्रवेशिता· निरयवसतिसदृशीं । तत्राऽपि गौल्मिक-
प्रहारदूमन (दवन) निर्भर्त्सनकटुकवचनभेषणकभयाभिभूता आक्षिप्तनिवसना

मलिनदंडिखंडवसना उत्कोटालचपार्श्वमार्गणपरायणै. (दुःखसमुदीरणैः) गौल्मिकभटै विविधैर्बन्धनैः ।

कानि तानि ? हडि-निगडबालरज्जुक - कुदंडक-वरत्र - लोहसकला-हस्तान्दुक - वर्ध्रपट्ट - दामक - निष्कोटनैर् अन्यैश्चैवमादिकैर् गौल्मिक-भांडोपकरणैर् दु खसमुदीरणै सकोटनामोटनाभ्यां बध्यन्ते मन्दपुण्या, सम्पुट-कपाट-लोह-पजर - भूमिगृह- निरोध - कूप - चारक-कीलक-यूप-चक्र-विततबन्धनस्तम्भालगन - ऊर्द् ध्वचरणबधन-विधर्मणाभिश्च विहेड्यमानाः, अवकोटकगाढोरःशिरोबद्धोर्द् ध्वपूरित अशुभपरिणताश्च) स्फुरदुर कटक-मोटनाऽऽम्रे डनाभ्या बद्धाश्च निश्वसन्तः शीर्षावेष्टकोरुकावल-चप्पडकसधिबधन - तप्तशलाकासूचिकाकोटनानि तक्षणविमाननानि च क्षारकटुकतिक्तदानयातनाकारणशतानि बहुकानि प्राप्यमाणा उर खोडीदत्त-गाढप्रेरणास्थिकसभग्नसुपार्श्वास्थिका गलकालकलोहदडोरउदरवस्ति-(पृष्ठि) परिपीडिता मथ्यमान-हृदयसचूर्णितागोपांगा आज्ञप्तिकिकरै केचिद् अविराधितवैरिकैर् यमपुरुषसन्निभैः प्रहतास्ते तत्र मदपुण्याश्चड-वेला-वर्ध्रपट्ट - पाराइ (लोहकुशीविशेषः) छिवा (श्लक्ष्णकष) कषलतावरत्रवेत्रप्रहारशतताडितांगोपांगाः, कृपणाः लबमानचर्मव्रण-वेदनाविमुखितमनसो, घनकुट्टिमनिगडयुगलसकोटितमोटिताश्च क्रियते निरुच्चारा एता अन्याश्चैवमादिका वेदनाः पापा. प्राप्नुवन्ति, अदान्तेन्द्रिया, वशार्त्ता बहुमोहमोहिता· परधने लुब्धा. स्पर्शेन्द्रिय-विषयतीव्रगृद्धा स्त्रीगतरूपशब्दरसगन्धेष्टरतिमहित -- (वाछित) भोगतृष्णार्दिताश्च धनतोषका गृहीताश्च ये नरगणाः ।

पुनरपि ते कर्मदुर्विदग्धा उपनीता राजकिकराणा तेषा वधशास्त्र-पाठकाना विटपोल्ल (विटल) कारकाणा (अन्यायकर्तृणा अथवा चौर्यादिदुष्ट-कर्मकारकाणा), लचाशतग्राहकाणा कूटकपटमायानिकृत्याचरणप्रणिधि-वचनविशारदाना बहुविधालीकशतजल्पकाना परलोकपराङ्मुखाना निरयगतिगामिकाना तश्चाज्ञप्तजीत(जीव) - दडास्त्वरित उद्घाटिता. पुरवरे शृगाटक-त्रिक-चतुष्क-चत्वर-चतुर्मुखमहापथपथेषु वेत्र-दड-लकुट-काष्ठ-लेष्टु-प्रस्तरप्रणाली प्रणोदी - मुष्टिलता-पादपार्ष्णि - जानु-कुर्परप्रहार-सभग्नमथितगात्रा, अष्टादशकर्मकारणात् यातितागोपागा. करुणाः शुष्कौ-

ष्ठकंठगलकतालुजिह्वा याचमाना पानीय विगतजीविताशास्तृष्णार्दिता वराकास्तदपि च न लभते वध्यपुरुषैर् धाट्यमानाः।

तत्र च खरपरुषपटहघट्टितकूटग्रहगाढरुष्टनिसृष्ट-परामृष्टा वध्यकरकुटीयुगनिवसिता सुरक्तकणवीर- गृहीतविमुकुलकठेगुणवध्यदूताविद्धमाल्यदामानो, मरणभयोत्पन्नस्वेदायतस्नेहोत्तुपितक्लिन्नगात्राश्चूर्णगु ंडितशरीररजोरेणुभरितकेशा' कुसु भकोत्कीर्णमूर्धजाश्छिन्नजीविताशा घूर्णमाना, वधकेभ्यो भीतास्तिल तिलमिव छिद्यमाना शरीरविकृत्तलोहितावलिप्ता काकिणीमासानि खाद्यमाना. पापा. खरकरशतैस्ताड्यमानदेहा वातिकनरनारीसपरिवृता प्रेक्ष्यमाणाश्च नागर-जनेन वध्यनेपथ्यिता प्रणीयन्ते नगरमध्येन कृपण-करुणा अत्राणा, अशरणा, अनाथा, अबान्धवा बधुविप्रहीणा विप्रेक्षमाणा दिशो दिश मरणभयोद्विग्ना आघातनप्रतिद्वारसप्रापिता अधन्या शूलाग्रविलग्नभिन्नदेहास्ते तत्र क्रियन्ते परिकल्पितागोपागा उल्लम्ब्यन्ते वृक्षशाखासु केचित् करुणानि विलपमाना, अपरे चतुरगगाढबद्धा पर्वतकटकात् प्रमुच्यन्ते दूरपातबहुविषमप्रस्तरसहा, अन्ये च गजचरणमलननिर्मर्दिता क्रियन्ते पापकारिण अष्टादशखडिताश्च क्रियन्ते मु ड(कु ठ,परशुभि, केचित् उत्कृत्तकर्णौष्ठनासा उत्पाटितनयनदशनवृषणा जिह्वे न्द्रियाछिता, छिन्नकर्णशिरस प्रणीयन्ते छिद्यन्ते च असिना निर्विषयाश्छिन्नहस्तपादा प्रमुच्यन्ते, यावज्जीवबन्धनाश्च क्रियन्ते, केचित् परद्रव्यहरणलुब्धा' कारार्गलनिगडयुगलरुद्धा, चारकाहृतसारा, स्वजनविप्रमुक्ता, मित्रजननिराकृता, निराशा, बहुजनधिक्कारशब्दलज्जापिता, अलज्जा, अनुबद्धक्षुधा, प्रारब्धा, शीतोष्णतृष्णादुर्घटवेदनाघट्टिता विवर्णमुखच्छविका, विफलमलिनदुर्बला क्लान्ता काशमाना व्याधिताश्चामाभिभूतगात्रा प्ररूढनखकेशश्मश्रुरोमाण पुरीषमूत्रे निजके क्षिप्ता ॥

पदार्थान्वय—(तहेव) पहले कहे अनुसार, (परस्स) दूसरे के (दव्व) धन को, (गवेसमाणा) ढू ढते हुए (केइ) कई लोग (गहिता) पुलिस आदि द्वारा पकडे जाते हैं, (य) और, (हया) पीटे जाते है (य) तथा (बद्धरुद्धा) बाधे जाते हैं व कैद मे बद किये जाते हैं (य) और (तुरिय) जल्दी जल्दी (अतिधाडिया) बहुत ही घुमाये जाते हैं, (पुरवर) वडे नगर मे वे (समप्पिया) सिपाहियो आदि को सौंपे जाते हैं। (य) तथा वे फिर (चोरग्गह-चारभड-चाडुकराण) चोरो को पकडने वालो, चौकीदारो,

सिपाहियो, शूरवीर गुप्तचरो तथा झूठी प्रशसा करने वालो के (तेहि) उन-उन (कप्पडप्पहार-निद्दयआरविखय-खरफरुसवयण-तज्जणगलच्छल्लुच्छलणाहि) कपडे के चाबुको के प्रहार से, निर्दय सिपाहियो के तीखे व कठोर वचनो की डाट-फटकार से तथा गर्दन पकड कर धक्का देने से (विमणा) खिन्न चित्त हुए वे चोर, (निरयवास-सरिस) नरकावास के समान (चारकवसहि) कैदखाने मे (पवेसिया) जबरन घुसाये जाते हैं। (तत्थवि) वहाँ भी (गोम्मियप्पहारदूमणनिब्भच्छणकडुयवयणभेसणगभयाभिभूया) जेल के अधिकारियो द्वारा विविध प्रहारो, नाना प्रकार की यातनाओ, झिडकियो, कडवे वचनो तथा भयकर वचनो से उत्पन्न भय से दबे हुए या दु खित रहते हैं। (अक्खित्तनियसणा) उनके कपडे छीन लिये जाते हैं, (मलिनदडिखडवसणा) उनके पास सिर्फ मैले-कुचेले फटे हुए वस्त्र रहते हैं, (उक्कोडालचपाममग्गणपरायणेहि गोम्मियभडेहि) वार-वार उन कैदियो से रिश्वत और घूस मागने मे तत्पर जेल के सिपाहियो द्वारा (विविहेहि बधणेहि) अनेक प्रकार के बधनो से वे (बज्झति) बाधे जाते हैं। (कि ते ?) वे बन्धन कौन-कौन-से हैं ? (हडि-निगड-वालरज्जुय-कुदडग-वरत्त-लोहसकल-हत्थदुय-वज्झपट्ट-दामक-णिक्कोडणेहि) हाडी—काठ की बेडी, लोह की बेडी, बालो की बनी हुई रस्सी, जिसके किनारे पर रस्सी का फदा बाधा जाता है ऐसा एक काठ, चमडे के मोटे रस्से, लोहे की साकल, हथकडी, चमडे का पट्टा, पैर बाधने की रस्सी, तथा नि कोटन—एक प्रकार के बधन विशेष से (य) और (एवमा-दिएहि) ये और इसी प्रकार के (अन्नेहि) दूसरे (दुक्खसमुदीरणेहि) दु ख पैदा करने वाले, (गोम्मिकभडोवगरणेहि) कैदखाने के अधिकारियो के विशिष्ट उपकरणो से, (सकोडमोडणाहि) कैदियो के शरीर को सिकोड कर और मोड कर (मदपुण्णा) उन अभागे कैदियो को (बज्झति) बाधा जाता है। य) तथा (सपुड-कवाड-लोह पजर-भूमिघरनिरोह-कूव-चारक-कीलग - जूय-चक्क-विततबधण - खभालण-उद्धचलण-बधण-विहम्मणाहि) कैद की कोठरी मे चारो ओर से किवाड बद कर देना, लोहे के पींजरे मे बन्द कर देना, भोयरे-नलघर मे डाल देना, कुए मे उतार देना, बन्दीघर के सींखचो मे जकड देना, कीलें ठोक देना, बैलो के कन्धो पर डाले जाने वाला जूवा कधे पर रख देना, गाडी के पहिये से चारो ओर से बाध देना, बाहे, जाघ और सिर को कस कर बाध देना, खभे से चिपटा देना, पैरो को ऊपर कर के बाध देना इत्यादि अनेक बन्धनो से यातनाए दे कर अधर्मी जेल के अधिकारियो द्वारा (विहेडयता) सिकोडे या मोडे जाते हैं—पीडित किये जाते है। (य) और (अवकोडकगाढउरसिरबद्धउद्धपूरित (असुहपरिणयाय) फुरतउरकडगमोडणा-

मेडणाहि) गर्दन नीचे झुका कर छाती और सिर कस कर बाधे हुए कैदी निःश्वास छोडते हे या कस कर जकडे जाने के कारण उनका श्वास ऊपर को रुक जाता है अथवा उनकी आतें ऊपर को आ जाती हैं, छाती धडकती रहती है, उनके अग मोडे जाते हे, बारबार उल्टे किये जाते हैं। इस तरह अशुभ भावो मे वहते हुए वे (वद्धा) वधे हुए (नीससता) निःश्वास लेते रहते है। (आणत्तिकिकरेहिं) जेल के अधिकारियो का आदेश पाते ही काम करने वाले नौकरो द्वारा, (सीसावेढउरुयावलचप्पडगसधिव धण-तत्तसलागसूइयाकोडणाणि) चमडे की रस्सी का सिर से बाधा जाना, दोनो जाघो को चीरा जाना या मोडा जाना, घुटने, कुहनी, कलाई आदि जोडो को काठ के यत्रविशेष से बाधा जाना, तपी हुई लोहे की सलाई ओर सुई शरीर मे चुभोना, (तच्छणविमाण-णाणि) वसूले से लकडी की तरह छीला जाना, मर्मस्थानो पर पीडा पहुँचाना, (य) और (खार-कडुय-तित्त-नावण-जायणा-कारणसयाणि वहुयाणि) नमक, सोडा आदि क्षार पदार्थ, नीम आदि कडवे पदार्थ, लाल मिर्च आदि तीखे पदार्थ कोमल अगो पर डालना या छिडकना इत्यादि पीडा पहुँचाने के सैकडो निमित्तो को ले कर बहुत-सी यातनाएँ (पावियता) पाते रहते हैं। (उरक्खोडीदिन्नगाढपेल्लण-अट्ठिकसभग-सुपसुलीगा) किसी समय छाती पर महाकाष्ठ रख कर जोर से दवाने से या जोर से मारने से हड्डियाँ टूट जाती हैं, पसलिया ढीली हो जाती हैं, (गलकालकलोहदडउर-उदर-वत्थि-पट्ठि-परिपीलिता) मछली पकडने के काटे के समान घातक काले लोहे की नोक वाले डडे से छाती, पेट, गुदा और पीठ मे भोकने से वे अत्यन्त पीडित हो जाते हैं। (मच्छतहियययसचुण्णियगमगा) इतनी भयकर पीड़ा से अपराधियो का हृदय मथ दिया जाता है और उनके सारे अग-उपाग चूर-चूर कर दिये जाते हैं।

(केई) कितने ही (अविराहियवेरिएहिं जमपुरिससन्निहेहिं) बिना अपराध किये ही वैरी वने हुए यमदूतो के समान पुलिस के सिपाहियो द्वारा (पहया) पीटे जाते हैं। (ते) वे (मदपुण्णा) अभागे चोर (तत्थ) कैदखाने में, (चडवेला-वज्झपट्ट-पाराइ-छिव-कस-लत-वरत्त-वेत्तपहारसय-तालियगमगा) थप्पडो, मुक्को, चमडे के पट्टो, लोहे के कुश, लोहे के नोकदार व तीखे शस्त्र, चाबुक, लात चमडे के मोटे रस्से और बेंतो के सैकडो प्रहारो से अग-उपागो में चोट पहुचा कर सिपाहियो द्वारा पीडित (कीरति) किये जाते है, (किवणा) वेचारे दीनहीन वने हुए चोर, (लवत-चम्म-वण-वेयणविमुहियमणा) लटकती हुई चमडी पर हुए घावो की वेदना के कारण अपने चोरी के अपराध से उन्मने हो जाते हैं (घणकोट्टिम-नियल जुयल-सकोडिय-मोडिया)हथौड़ो से कूट कर तैयार की हुई दोनो वेड़ियो के रातदिन पहिनाये रखने से

उनके अग सिकुड जाते हैं, मुड़ जाते हैं और ढीले हो जाते हैं। (य) और (निरुच्चारा) जेलखाने की कालकोठरी में वद किये जाने के कारण उनका टट्टी-पेशाव रोक दिया जाता है, अथवा वोलने पर प्रतिवन्ध लगा दिया जाता है, (असंचरणा) इधर-उधर घूमना-फिरना वद कर दिया जाता है।

(एया) ये (अन्ना य) और दूसरी (एवमादीओ वेयणाओ) इसी प्रकार की वेदनाएँ (पावा) वे पापी (पावेंति) पाते हैं। (कौन ?) (अदतिंदिया) अपनी इन्द्रियो को वश में नहीं रखने वाले, (वसट्टा) विषयों के गुलाम होने से पीडित, (वहुमोह-मोहिता) अत्यन्त मोह-आसक्ति के कारण मूढ वने हुए (परधणमि लुद्धा) पराये धन में लुब्ध एव (फासिदियविसयतिव्वगिद्धा) स्पर्शेन्द्रिय के विषय में तीव्र अ , (इत्यिगयरूवसद्दरसगधइट्ठरतिमहितभोगतण्हाइया) स्त्रीसम्वन्धी रूप, शव्द, रस, व गध में इष्ट, रति एवं वाछित भोग (सहवास) की तृष्णा से व्याकुल (य) तथा (धनतोसगा) केवल धन मिलने मे ही सतुष्ट होने वाले (जे य नरगणा गहिया) सरकारी आदमियो द्वारा गिरफ्तार किये गए जो मनुष्यगण-चोर हैं, वे (पुणरवि) फिर भी (कम्मदुव्वियड्ढा) पापकर्म के दुष्परिणाम को नहीं समझने वाले उन (वहुसत्थ-पाढयाण) वधशास्त्र के पढ़ने-पढ़ाने वाले, (विलउलीकारकाण) दुष्ट-अन्याय युक्त कर्म करने वाले, (लचसयगेण्हगाण) सैकडों रिश्वतें लेने वाले (कूड-कपड-माया-नियडि-आयरण-पणिहिवचणविसारयाण) जो न्यूनाधिक तौल-नाप आदि करने में, वेश और भाषा को वदलने में, माया, छल, धूर्तता और फरेव एवं धोखेवाजी के आचरण-अमल करने में, गुप्तचर-सम्वन्धी वचना में विशारद—प्रवीण हैं, (निरयगतिगामि-याण) नरकगति के मेहमान हैं (वहुविहअलियसतजपकाण) अनेक प्रकार के सैकडो झूट वोलने वाले हैं, (य) और (परलोयपरमुहाण) परलोक से विमुख यानी लापरवाह वने हुए हैं, ऐसे (राजकिकराण) राजपुरुषों-सरकारी नौकरो—को (उवणीया) सजा के लिए सांप दिये जाते हैं।

(य) और (तेहि) उन राजकर्मचारियो द्वारा (आणत्तजीयदडा) जिन्हें प्राण-दड—मृत्युदड की आज्ञा दी गई है, उन चोरो को, (तुरिय) शीघ्र ही, (पुरवरे) नगर में (सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहपहेसु) सिंघाडे के आकार वाली तिकोन जगह, जहां तीन रास्ते या वाजार मिलते हैं वहां, जहां चार रास्ते या वाजार मिलते हैं वहां चौक में, विशाल प्रागण में, चारो ओर मुह यानी द्वार वाले किसी देवमन्दिर आदि में, विशाल आम राजमार्ग [चौडी सडक] पर तथा साधारण रास्तों पर (उग्घाडिया) जनसमूह के सामने जाहिर में लाये जाते हैं, फिर (वेत्त-दड-लउड-

कट्ठ-लेट्ठु-पत्थर-पणालि-पणोल्लि- मुट्ठि-लया - पाद-पण्हि-जाणु - कोप्परपहारसभग-महियगत्ता) वेंतो से, डडो से, लाठियो से, लकडी, ढेले, पत्थर, लम्बे लट्ठ, मारने के डडे से, मुक्को, घू सो, लातो, पैरो, एडियो , घुटनो व कुहनियो आदि से प्रहार करके अग-अग का कचूमर निकाल दिया जाता है और घायल कर दिया जाता है। (अट्टारसकम्मकारणा) अठारह प्रकार के चोर और चोरी के कारणो को लेकर (जाइयगमगा) उनके अग-अग पीडित कर दिये जाते हैं। वहाँ उन (कलुणा) करुणा के पात्र-दयनीय अपराधियो के (सुक्कोट्ठकठगलकतालुजीहा) ओठ, कठ, गला, तालु और जीभ सूख जाते हैं, (विगयजीवियासा) उन्हे जीने की आशा नहीं रहती (तण्हादिया) प्यास के मारे बेचैन (वरागा) बेचारे वे (पानीय जायता) पानी मागते हैं, (त पि य ण लभति) पर,उसे भी वे नहीं पाते। (य) और (तत्थ) वहाँ—कैदखाने में (वज्झपुरिसेहिं) वध के लिए नियुक्त पुरुषो—जल्लादो द्वारा (धाडियता) वध्यस्थान पर उन्हे धकेल कर या घसीट कर ले जाया जाता है। उस समय (खरफरुस-पडह-घट्टित- कूडग्गह- गाढ-रुट्ठ- निसट्ठ- परामट्ठा) अत्यन्त कर्कश ढोल बजाते हुए राजपुरुषो द्वारा धकेले जाते हुए, एव अत्यन्त रोष से भरे हुए राज-पुरुषो—चाडालो द्वारा फासी के लिए दृढतापूर्वक पकडे हुए होने से अत्यन्त अपमानित वे (वज्झकरकडिजुयनियत्था) मृत्युदड के समय पहिनाए जाने वाले विशेष कपडे के जोडे को पहने हुए, तथा (सुरत्तकणवीर-गहिय-विमुकुल-कठेगुण-वज्झदूतआविद्धमल्लदामा) खिले हुए लाल कनेर के फूलो से गूथी हुई वध्यदूत-सी माला वध्य के गले मे डाली जाती है, जो उस की मृत्यु की सजा को स्पष्ट सूचित करती है, (मरणभयुप्पणसेद—आयत्तणेहुत्तुपियकिलिन्नगत्ता) मृत्यु के भय से उन्हे पसीना छूट जाता है, उस पसीने की शरीर पर फैली हुई चिकनाई से उनका सारा शरीर चिकना हो जाता है और भीग जाता है। (चुण्ण-गुडियसरीररयरेणुभरियकेसा) कोयले आदि के चूरे से उनके शरीर पर लेपन किया जाता है और हवा से उड कर लगी हुए धूल से उनके केश अत्यन्त रूखे और धूल भरे हो जाते है। साथ ही उनके (कुसुम्भगोकिन्नमुद्धआ) सिर के बाल लाल कुसुम्भे के रग से रजित कर दिये जाते हैं,(छिन्नजीवियासा) उनकी जीने की आशा क्षीण हो जाती है। (घुन्नता) भय से विह्वल होने के कारण डगमगाते हुए, (वज्झयाण भीया) वध करने वालो—जल्लादो से हरदम भयभीत रहते है अथवा (वज्झपाणपीया) मार डाले जायेंगे, इस भय से प्राणो के प्रति अत्यन्त आसक्त हैं, (तिल तिल चेव छिज्जमाणा) तिल-

तिल करके उनके शरीर के छोटे-छोटे टुकडे किये जाते हैं,(सरीरविकत्तलोहिओवलित्ता) उन्हीं के शरीर से काटे हुए और खून से लिपटे हुए (कागणिमंसाणि) छोटे-छोटे मास के टुकडो को (खावियता) उन्हे खिलाया जाता है। फिर (पावा, उन पापियो का (खरकरसएहि तालिज्जमाणदेहा) छोटे-छोटे पत्थरो से भरे हुए चमडे के सैकडो थैलो से अथवा फटे हुए सैकडो वासो से उनका शरीर पीटा जाता है। देखने के लिए आतुर (वातिक्नरनारिसपरिवुडा) पागलो के समान नरनारियो की अनियत्रित भीड़ से घिरे हुए (य) और (नागरजणेण) नागरिक लोगो द्वारा (पेच्छिजता) देखे जाते हुए वे-चोर (वज्झनेपत्थिया) मृत्युदण्ड पाये हुए वध्य कैदी की पोशाक पहने (नगर-मज्झेण) शहर के बीचोबीच होकर (पणेज्जति) ले जाये जाते हैं। उस समय वे (किवणकलुणा) दीनहीन-अत्यन्त दयनीय, (अत्ताणा) रक्षाहीन, (असरणा) शरणरहित, (अनाहा) अनाथ, (अवधवा) बन्धुहीन, (वधुविप्पहीणा) अपने भाईबन्धुओ से बिलकुल त्यक्त-त्यागे हुए (दिसोदिस विपिक्खता) सहारे के लिए एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर ताकते हुए वे, (मरणभयुव्विग्गा) मृत्यु के भय से अत्यन्त व्याकुल होते हैं। (आघायणपडिदुवारसपाविया) वध्यभूमि—शूली या फासी दिये जाने के द्वार—स्थान पर लाये जाकर वे (अधन्ना) अभागे मनुष्य (सूलग्गविलग्गभिन्नदेहा) शूली की नोक पर रखे जाते हैं, जिससे उनका शरीर चिर जाता है, (य) और (तत्थ) वहीं—वध्य-भूमि में ही (ते परिकप्पियगमगा कीरति) उनके अग-प्रत्यग काट कर टुकडे-टुकडे कर दिये जाते हैं।

(केई) उनमे से कई (कलुणाइ विलवमाणा) करुण विलाप करते हुए मनुष्य (रुक्खसालासु) वृक्ष की शाखाओ पर (उल्लबिज्जति) लटका दिये जाते हैं, (अवरे) दूसरे, (चउरगधणियवद्धा) दोनो हाथो और दोनो पैरो को कस कर बाँधे जाते हैं, (पव्वयकडगा) पर्वत की चोटी से (पमुच्चते) नीचे गिरा दिये जाते हैं, जहाँ वे (दूरपात वहुविसमपत्थरसहा) वहुत ऊँचे से गिराये जाने के कारण वहुत ही ऊबडखाबड पत्थरो की चोट सहते हैं, (य) और (अन्ने) अन्य कुछ लोग (गय-चलणमलणनिम्मद्दिया कीरन्ति) हाथी के पैर तले कुचल डाले जाते हैं। (य) तथा (पापकारी वे पाप कर्म करने वाले चोर (मु डपरसूहि) कुठित-भोथरे कुल्हाडो से (अट्ठारसखडिया) अठारह स्थानो से खडित (कीरन्ति) किये जाते हैं। (केई) कई चोर ऐसे भी होते हैं, (उक्कत्तकन्नोट्ठनासा) जिनके कान, ओठ और नाक काट लिये जाते हैं, तथा (उप्पाडियनयणदसणवसणा) जिनके नेत्र, दाँत और अडकोश उखाड़ लिये जाते हैं, एव (जिब्भदियच्छिया छिन्नकन्नसिरा) जिनकी जीभ खींच कर निकाल

ली जाती है तथा कान और शिराएँ—नसे काट ली जाती हैं, फिर उन्हें (पणिज्जते) वध्यभूमि मे ले जाया जाता हे (य) और वहाँ (छिज्जते असिणा) तलवार से काट दिया जाता हे, (छिन्नहत्थपाया) हाथ—पैर, कटे हुए उन चोरो को (निव्विसया) देशनिकाला दे कर, देशनिर्वासित करके (पमुच्चते) राजपुरुपो द्वारा छोड दिया जाता है। (य) और (केई) कई तो (जावज्जीवबधणा) उम्रभर की कैद मे (कीर ति) रखे जाते हैं। (केइ) कितने ही (परदव्वहरणलुद्धा) दूसरो के धन को हरण करने मे लुब्ध—आसक्त मनुष्यो को (कारगलनियलजुयलद्धा) कारावास मे अर्गला लगा कर दोनो पैरो में बेडियाँ डाल कर बन्द कर दिया जाता हे,(चारगाए) वहाँ कारागार मे ही (हयसारा) उनका सारा धन छीन लिया जाता हे। इस तरह वे (सयणविप्पमुक्का) अपने सगे-सम्बन्धियो द्वारा छोड दिये जाते हैं, (मित्तजणनिरक्खिया) मित्र लोग उन्हे नहीं रखते, अथवा (तिरक्कया) मित्रजन उनका तिरस्कार करते हैं, इससे वे (निरासा) निराश हो जाते हैं, (बहुजणधिक्कारसद्दलज्जायिता) अनेक लोगो द्वारा—'धिक्कार हैं तुम्हे' इस प्रकार कहे जाने से लज्जित होते हे अथवा अपने परिवार को लज्जित करते हैं, ऐसे उन (अलज्जा) निर्लज्ज मनुष्यो को (अणुबद्धखुहा) निरन्तर भूख लगी रहती है। तथा वे (पारद्धा) अभिभूत या अपराधी (सीउण्हतण्हवेयणादुग्घट्ट-घट्टिया) सर्दी, गर्मी और प्यास की असह्य वेदना से कराहते रहते हैं (विवन्नमुखविच्छविया) उनका चेहरा फीका और कान्तिहीन रहता है (विहलमइलदुब्बला) वे हमेशा असफल, मलिन और दुर्बल रहते हैं, (किलता) ग्लानि से युक्त—मुर्झाए हुए रहते है, (कासता) कई खासते रहते हैं, (य) तथा (वाहिया) अनेक रोगो से घिरे रहते हे, अथवा (आमाभिभूयगत्ता) भोजन भलीभाति हजम न होने के कारण अपक्वरस से उनका शरीर पीडित रहता है। (परूढनहकेस-मसु-रोमा) उनके नख, केश, और दाढी-मूँछो के बाल और रोम बढ जाते हे, वे (तत्थेव) वहीं कैदखाने मे (णियगमि छग-मुत्तमि) अपने टट्टी-पेशाव में ही लिपटे हुए रहते हैं।

मूलार्थ—पहले कहे अनुसार दूसरो के धन को हरण करने की फिराक मे लगे हुए बहुत-से लोग पुलिस आदि द्वारा रगे हाथो या बाद मे पकड लिए जाते हे, फिर उन्हे पीटा जाता है, रस्सो से बाधा जाता है, और जेल की कोठरी मे वद कर दिया जाता हे। इसके पश्चात् शीघ्र ही उन्हे सरेआम घूमाया जाता है और वडे शहर मे चोर पकडने वाले

चौकीदारो, जेल के अधिकारियो या मीठी-मीठी बातें बना कर भेद निकालने वालो को सौंप दिया जाता है। उनके द्वारा उन चोरो को कपडे के कोडो से पीटा जाता है, सिपाही उन्हे तीखे व कठोर वचनो से डाटते फटकारते है, उनकी गर्दन पकड कर धक्का देते है, इससे वे खिन्नचित्त होते है, फिर उन्हे नरकावास के समान जेल को कालकोठरी मे जबर्दस्ती घुसा कर बद कर दिया जाता है। वहा भी जेल के अधिकारियो द्वारा मार, झिडकियो व कटुवचनो की बौछार होती है, जिससे वे दु खित होते है। वहाँ कभी कपडे छीन कर वे वस्त्ररहित कर दिये जाते है, कभी उन्हे मैले कुचैले-फटे और चीथडे जैसे वस्त्र पहिनने को दिए जाते है। जेल के निर्दयी कर्मचारी अधिकारी बार-बार उन कैदियो से अनेक प्रकार की रिश्वतें मागने मे तत्पर रहते है। जेल के सिपाहियो द्वारा वे अनेक प्रकार के बन्धनो से जकड दिये जाते है। वे बन्धन कौन-कौन-से है ? काठ की बेडी, लोह की बेडी, बालो की बनी हुई रस्सी, जिसके किनारे पर रस्सी बधी रहती है, ऐसा एक काठ, चमडे का मोटा रस्सा, लोह की साकल, हथकडी, चमडे का पट्टा, पैर बाधने की रस्सी तथा निष्कोटन नामक एक विशेष बधन, इन और ऐसे ही अन्य दु ख पैदा करने वाले कैदखाने के खास विविध उपकरणो से उन अभागो के शरीर को सिकोड कर और मोड कर बाधा जाता है। वे लकडी के एक प्रकार के यत्र से दबाये जाते है, किवाड वाली कोठरी मे बद किए जाते है, लोह के पीजरे मे डाल दिए जाते है, भूमिगृह मे बद किए जाते है, कभी कु ए मे उतार दिए जाते है, कभी जेल के सीखचो मे बद किए जाते है, कभी बैलो के कधो पर रखा जाने वाला जूवा उनके कधो पर रखा जाता है, कीलें ठोकी जाती है, कभी गाडी का पहिया उनके गले मे डाला जाता है, कभी उनके पैर, बाहे और सिर थभे के साथ कस कर बाध दिए जाते है, कभी पैरो को ऊपर करके बाध कर लटका दिए जाते है, इस प्रकार अधर्मी, निर्दय जेल के कर्मचारियो द्वारा उनको यातनाएँ दी जाती है। फिर गर्दन नीचे झुका कर उनकी छाती और सिर को कस कर बाधा जाता है, जिससे उनकी सास ऊपर जाते समय रुक जाती है या उनकी आते ऊपर को आ जाती है, डर के मारे उनका हृदय धडकने लगता है, फिर उनको मोडा और उलटा किया जाता है और बाधा जाता है, जिससे वे दु खभरे नि श्वास छोडते है। उनके सिर को चमडे की रस्सी से कसकर

बाध दिया जाता हे, दोनो जाघो को चीरा या मोडा जाता हे, काठ के एक खास यत्र से उनके घुटने, कलाई आदि जोडो को वाधा जाता है,तपी हुई लोहे की सलाई ओर सुई शरीर मे चुभोई जाती हे । वसूले से काठ की तरह उनके शरीर का छीला जाता हे । ऐसी अनेक पीडाए उन्हे दी जाती है । शरीर पर हुए घावो पर नमक आदि खारे, मिर्च आदि तीखे, नीम आदि कडुवे पदार्थ छिडके जाते हे । इस तरह की यातनाओ के सैकडो निमित्तो को लेकर वे पीडा पाते है । कभी कभी आदेश पाते ही काम करने वाले जेल के क्रूर नौकरो द्वारा उनकी छाती पर बडे वजनदार काठ को रख कर जोर से दबाया जाता है, जिससे उनको हड्डिया और पसलिया टूट जाती है । मछली को पकडने के तीखे नोकदार काटे के समान काले लोहे का डडा उनकी छाती, पेट, गुदा और पीठ मे भोक दिया जाता है, इस प्रकार उन्हे पीडित करके उनका हृदय मथ दिया जाता है और उनके अग-अग चूर-चूर कर कर दिये जाते है । कितने ही चोर, जिन्होने कोई बडा अपराध नही किया है, फिर भी वैरभाव रखने वाले यमदूतो के समान क्रूर सिपाहियो द्वारा वे पीटे जाते है और जेलखाने मे उन अभागो के अगोपागो पर थप्पडो, मुक्कों, घूंसो, चमडे के पट्टो, लोहे के कुश, पतले चाबुक, चमडे के चाबुक, लात और चमडे की बडी रस्सी एव बेतो के सैकडो प्रहारो से चोट पहुचाई जाती है । शरीर पर लटकती हुई चमडी पर हुए घावो की असह्य वेदना के कारण उन्हे चोरी से अब नफरत हो चुकी है । फिर भी पुलिस के सिपाहियो द्वारा हथौडो से कूट कर तैयार की गई दो बेडियो से उनके अग सिकोडे और मोडे जाते है,जेल की कोठरी मे उन्हे स्वतन्त्रता से मलमूत्र भी नही करने दिया जाता, न वोलने दिया जाता है, और न इधर-उधर घूमने की छूट दी जाती है । इन तथा इसी प्रकार की अन्य वेदनाओ को वे पापी भोगते है, जो इन्द्रियो को वश मे नही रखते, इन्द्रियो के गुलाम होने से पीडित है, जो अत्यन्त मोह से मूढ वने हुए है, पराये धन मे लुब्ध है, जो स्पर्शेन्द्रियो के विषय मे अत्यन्त आसक्त है, जो स्त्रीसम्बन्धी रूप, शब्द, रस, गन्ध तथा इष्ट रति और वाछित भोग (सहवास) की तृष्णा से आतुर हे तथा सिर्फ धन देख कर ही सतुष्ट होने वाले वे लोग राजपुरुषो—सिपाहियो द्वारा गिरफ्तार किए जाते हे । फिर भी पापकर्म के बुरे नतीजे को नही समझने वाले वे

मनुष्यगण पुन: उन सरकारी नौकरो के हवाले किये जाते है, जो वध-(मारने-पीटने के) शास्त्र को पढने-पढाने वाले है, अन्याययुक्त दुष्ट कर्म करने वाले है, सैकडो रिश्वते लेने के आदी हे, जो झूठा तौलन-नापने, वेश और भाषा को वदलने, झूठ-फरेव करने, धोखा देने, धूर्तता करने, अपने मायाजाल को छिपाने के लिए और माया करने, ठगी करने या गुप्तचर सम्वन्धी चालाकी मे अत्यन्त प्रवीण होते ह, वे अनेक प्रकार के सैकडो झूठ बोलने वाले, परलोक की परवाह न करने वाले तथा नरकगति के मेहमान वनने वाले है। जिन्हे प्राणदड की सजा सुनाई गई है, वे चोर उन्ही राजकर्मचारियो द्वारा शीघ्र ही नगर मे सिघाडे के आकार वाले त्रिकोण स्थान मे, जहा तीन गलियाँ या वाजार मिलते ह वहाँ, अथवा जहा चार गलियाँ या वाजार मिलते है, वहा (चौक मे), चारो ओर दरवाजे वाले चौमुखे देवमन्दिर आदि पर या राज-मार्ग (चौडी आम सडक) पर या साधारण रास्ते पर सरेआम जाहिर मे ला कर खडे किए जाते हे। और वेतो, डडो, लाठियो, लकडी, ढेले, पत्थरो, सिर तक लम्वे लट्ठो, घोडे आदि को पीटने की पैनियो, मुक्को, लातो, पैरो, एडियो,घुटनो और कुहनियो के प्रहार से उनका शरीर जर्जरितऔर घायलकर दिया जाता है। अठारह प्रकार के चौर्य कर्म यानी चोरी करने के कारणो से उनके अग-अग को अत्यन्त यातनाए दी जाती है। उन दयनीय अपराधियो के ओठ, गला, तालु और जीभ सूख जाते है, उन्हे जाने की आशा नही रहती, प्यास के मारे सताये हुए वे वेचारे उन सिपाहियो से पानी मागते हे। लेकिन पानी नही पाते। वल्कि वध (उनको मृत्युदड देने) के लिए नियुक्त किए गये पुरुप उन्हे धकेल देते हैं। अत्यन्त कर्कश ढोल वजाते हुए चलने के लिए उन्हे पीछे से धकेला जाता है। मृत्युदड देने के पहले अत्यन्त क्रोध से आग-ववूला हुए जल्लादो (राजपुरुषो) द्वारा मजवूती से वे पकडे जाते हैं। वध्य से सम्वन्धित खासवस्त्र का जोडा पहने हुए,लाल कनेर के खिले फूलो से गू थी हुई वध्यदूत की तरह वध्य व्यक्ति को सूचित करने वाली फूलमाला को वे गले मे पहने होते है। उनके शरीर मौत के डर से पैदा हुए अधिक पसीने की चिक-नाई से चिकने हो जाते ह,पीसे हुए कोयले वगैरह के काले रग से उनके शरीर पोत दिये जाते ह, हवा मे उड-उड कर आई हुई धूल से उनके वाल भर जाते है। उनके सिर के वाल कुसुम्भे के लाल रग से लाल कर दिये जाते है, अव उन्हे अपने जीने की कोई आशा नही रहती, भय से विह्वल हो कर वे

कापने लगते हे, वध करने वाले जल्लादो को देख कर डरते है। फिर तिल-तिल करके उनका शरीर छेदा जाता है, उन्ही के शरीर से काटे हुए और खून से लथपथ छोटे-छोटे मास के टुकडे उन्हें खिलाये जाते हे। छोटे-छोटे पत्थरो से भरे चमडे के सैकडो थैलो से उन्हे मारा जाता है। पागलो की तरह मनुष्यो की अनियत्रित भीड से वे घिर जाते हे, नागरिक लोग उन्हे देखने लिए इकट्ठे हो जाते है। फिर वध्य (मौत की सजा पाने वाले व्यक्ति) की पोशाक पहने हुए नगर के बीचो-बीच हो कर उन्हे ले जाया जाता है। उस समय वे बेचारे दीनो से भी दीन, रक्षाहीन, अशरण, अनाथ, बन्धुहीन और सगे-सम्बन्धियो द्वारा त्यक्त होते हैं। एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर ताकते हुए, मृत्यु के भय से घबराए हुए वे अभागे कैदी वध्यभूमि के दरवाजे पर लाये जाते हे और शूली की नोक पर उन्हे रखा जाता हे, जिससे उनका शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है, और वही वध्यभूमि मे उनके अग-अग के टुकडे-टुकडे कर दिए जाते है। उनमे से कई करुणाजनक विलाप करते हैं, उन्हे वृक्षो की शाखाओ पर लटका दिया जाता है। कुछ को दोनो हाथ-पैर बाध कर पर्वत की चोटी से नीचे लुढका दिया जाता है। ऊँचाई से गिरने के कारण वे ऊबड-खाबड पत्थरो की चोट सहते है। पापकर्म करने वाले उन चोरो को भोथरे कुल्हाडे द्वारा अठारह जगह से खण्डित किया जाता है। कई चोरो के कान, ओठ और नाक काट लिए जाते है, आखे निकाल ली जाती है, दात उखाड लिए जाते है और अडकोश काट दिये जाते है, जीभ खीच कर बाहर निकाल ली जाती है,कान और शिराएँ काट ली जाती है और बाद मे वे वध्यभूमि मे ले जाये जाते है। सरकारी नौकरो द्वारा कितने ही चोर तलवार से काट दिए जाते है, कई लोगो के हाथ-पैर काट लिए जाते है और उन्हे देश से निर्वासित कर सीमा के बाहर छोड दिया जाता है। कई जिंदगी-भर कैद खाने मे बद कर दिए जाते है। पराए धन के लोभी कई चोरो को कैद-खाने की अर्गला और दोनो बेडिया डाल कर रखा जाता है। कैदखाने मे उनके पास का सर्वस्व धन छीन लिया जाता है। वे उनके कुटुम्बियो द्वारा छोड दिए जाते है, मित्रो से तिरस्कार पाते ह, निराश हो जाते है। बहुत से लोगो द्वारा धिक्कारे जा कर वे लज्जित किए जाते है, अथवा वे अपने परिवार को लजाते है निर्लज्ज हो जाते है। वे निरन्तर भूख से पीडित रहते हे। वे पापी सर्दी-गर्मी और प्यास की असह्य वेदना से व्याकुल रहते है। उनके चेहरे मलिन

और निस्तेज (कान्तिहीन) रहते है। वे अमफल, मलिन और दुर्बल हो जाते हैं, मुर्झाए हुए से रहते हैं। कई खासी से पीडित या कई रोगो से घिरे रहते हैं, कई लोगो के शरीर आव आदि अपक्वरस से पीडित रहते हैं। उनके नख, केश, दाढी-मूछो के बाल बढ़ जाते है, वे बंदीगृह मे अपने ही मलमूत्र मे लिपटे रहते हैं।

व्याख्या

पूर्वसूत्र मे शास्त्रकार ने अदत्तादान (चोरी) करने वाले विविध कोटि के मनुष्यो का स्वरूप बताया है तथा उनके द्वारा अजमाये जाने वाले तरीको और उनमे पैदा होने वाले खतरो का वर्णन किया है, साथ ही चोरो की मनोवृत्ति और साहसिकता का वर्णन करते हुए उनके जीवन मे सदा साथ लगी रहने वाली अशान्ति और बेचैनी का भी उल्लेख किया है। अब इस सूत्रपाठ के द्वारा पाचवे फलद्वार के रूप मे चोरी से होने वाले बुरे नतीजो का, खासतौर से मनुष्यलोक मे होने वाली उनकी दुःस्थिति का सजीव वर्णन किया है। मूलार्थ द्वारा सारा ही वर्णन स्पष्ट है, फिर भी कुछ मुद्दो पर विवेचन करना आवश्यक समझ कर नीचे सक्षेप मे यथावश्यक स्थलो का स्पष्टकरण कर रहे हैं—

'परस्स दव्वं गवेसमाणा गहिया य हया य बद्धरुद्धा य'—दूसरे के द्रव्य की तलाश मे घूमने वाले जब रगे हाथो पकडे जाते हैं, तब पुलिस वाले तो उनकी खूब मरम्मत करते ही हैं, जनता भी जूतो, डडो, लाठियो और मुक्को से ऐसे लोगो की अच्छी तरह पूजा करती है। उनके पैरो मे और हाथो मे हथकडियाँ बेडिया डाल कर उन्हे जेल के सीकचो मे बद कर दिया जाता है। और फिर जेल मे जेल के अधिकारियो और कर्मचारियो द्वारा कितना बुरा हाल किया जाता है, इसका सजीव वर्णन शास्त्रकार ने तो किया ही है, हर एक समझदार व्यक्ति भी ऐसे लोगो की जेलो मे जो दुर्दशा होती है, उसे देखता—सुनता है। जेल मे यातना देने के जितने भी साधन और तरीके हो सकते है, उन सबको जेलरो द्वारा भरपेट अजमाया जाता है।

'तुरिय अतिधाडिया ... गोम्मियभडेहिं'—इस लम्बे पाठ मे जेल के अधिकारियो को सौपने और जेल मे निवास के दौरान जो-जो यातनाएँ बन्धन, मारपीट अपमान, तिरस्कार, झिडकियाँ, प्रहार आदि के रूप मे दी जाती हैं, उनका स्पष्ट वर्णन किया है। इसमे कोई भी सदेह नहीं कि चोरी करने से प्राप्त होने वाले धन और उससे प्राप्त होने वाले सुख की कल्पना की तुलना मे चोर को गिरफ्तारी होने पर उसे मिलने वाली मानसिक और शारीरिक यातनाएँ बहुत ही भयकर और प्रचुर मात्रा मे है। मामूली समझदार व्यक्ति भी यह घाटे का सौदा नहीं करेगा।

इसके बजाय वह न्यायनीति से श्रम करके या कोई आजीविका करके अपना जीवन सतोष, शान्ति और सुख के साथ बिताना पसद करेगा। भला, चोरो की जिंदगी भी कोई जिंदगी है, जिसमे न तो सुख से वह खा-पी सकता है, न सुख से नीद ले सकता है, न आमोदप्रमोद या मनोरजन कर सकता है। चोर की जिंदगी मे न तो कोई सामाजिक प्रतिष्ठा हे, न मानसिक शान्ति है, न धार्मिक जीवन का आनन्द है और न ही आध्यात्मिक जीवन की स्फूर्ति हे। वन्य पशु से भी गयाबीता और खतरनाक जीवन है यह। रातदिन पकडे जाने, दड मिलने, इज्जत जाने और पीटे जाने की आशका से चोर बेचैन रहता है। मनुष्यजीवन पा कर चोरी का धधा करने वाले अपनी जिदगी को खतरे, भय, आशका ओर अधर्म मे डाल कर निष्फल बना डालते है। मनुष्यजीवन की प्राप्ति से वे कोई भी लाभ वर्तमान या भविष्य के लिए नही उठा पाते। मनुष्यजीवन जैसा देवदुर्लभ उच्च जीवन मिलने पर भी उसे चोरी जैसे पापकर्म मे बिता कर पिछली सारी कमाई का फल धो दिया जाता है, सारा ही 'कातापीजा पुन कपास' कर दिया जाता हे। परलोक मे अपने साथ पाप की गठरी के सिवाय चोर और कुछ भी नही ले जाता। इस लोक मे भी चोरी करने वाले दुष्कर्मी जन किसी अच्छे वातावरण से, अच्छे धार्मिक पुरुषो की सगति से, धर्मपोषक साहित्य के पठन-पाठन से और जीवन के शुद्ध और स्वस्थ चिन्तन से प्राय दूर ही रहते है। परलोक मे भी उन्हे पापानुबन्धी पाप के फलस्वरूप वैसा ही खराब वातावरण, बुरी सगति, बुरा खानपान, बुरा ही साहित्य और खराब ही चिन्तन मिलता है। क्योकि इस लोक मे इतनी भयकर सजा पाने के बावजूद भी उनकी लेश्याएँ, उनकी परिणामधाराएँ और उनके चिन्तन की धुरा नही बदलती। तब परलोक मे भी ये बाते कैसे बदल सकती है ?

'विविहेहिं बधणेहिं, किं ते ? हडिनिगड एवमादीओ वेयणाओ पावा पावेंति'—चोरी करने के आदी बने हुए अपराधी को किन-किन भयकर बधनो और यातनाओ मे से गुजरना पडता हे, इसका निरूपण बडी कुशलता से शास्त्रकार ने किया है। वे बन्धन और उनसे होने वाली यातनाएँ इस प्रकार है—काठ का बना हुआ एक बन्धन विशेष, जिसे हडी या हाडी भी कहते है, खोडा भी कहते है, उसके बीच मे जो छेद होते है, उनमे कैदी के दोनो पाव फसा कर उसके ताला लगा दिया जाता है। इस बधन से कैदी कही भी चल-फिर या उठ-बैठ नही सकता। लोहे की बेडियाँ पैरो मे डाली जाती हैं, जिनके कारण कैदी स्वतन्त्रतापूर्वक कही जा-आ नही सकता। बालो की बनी हुई मजबूत रस्सी से कैदी के हाथ-पैर आदि कस कर बाध दिये जाते हैं। यह रस्सी शरीर मे चुभती है, जिससे शरीर पर चिह्न पड जाते हैं। 'कुदड' काठ का एक मोटा डडा होता है, जिसके सिरे पर रस्सी का

फदा लगा रहता है , जिसे कैदी के गले मे पहना दिया जाता है। वरत्र' (वरत) चमडे की मोटी मजबूत रस्सी होती है, जिससे कैदी के सारे शरीर को कस कर वाध दिया जाता हे। लोहे की साकल से कैदी के हाथ आदि वाध कर सिपाही उस कैदी को पकडे रहता है, अथवा कभी-कभी स्तभ आदि के साथ वाध भी देता है। हत्यदुय यानी 'हस्तान्दुक' कैदी के हाथ को वाधने का लोह का एक यत्र होता है। 'वर्ध्रपट्ट' चमडे का वह पट्टा होता है, जिससे अपराधी के भुजा, जाघ आदि अवयवो को खूब कस कर वाध दिया जाता है। अथवा उस पट्टे को गीला करके कैदी के मस्तक पर कस कर लपेट दिया जाता है। ज्यो-ज्यो वह पट्टा सूखता जाता है,त्यो-त्यो वह कैदी के मस्तक मे घुसता जाता है और इससे उसके मस्तक का मास वाहर निकल आता है। यह भयकर दड उस अपराधी को दिया जाता है, जिसने भयकर अपराध किया हो। इस महान् दु ख से पीडित हो कर वह काल के गाल मे चला जाता है। 'दामक' पैरो को वाधने की एक रस्सी होती है। 'निप्कोटन' एक खास किस्म का वधन होता है,जिससे कैदी के हाथपैर मोड कर वाधे जाते हे। ये और इस प्रकार के और भी सैकडो वधन के साधन जेलखाने मे होते हैं, जो कैदियो के दु खो को वढाने वाले होते है। जेल के अधिकारी अपराधियो को चुन-चुन कर ऐसी सजा देते है और उनके अगोपागो को तोड-मरोड डालते है।

इतनी ही सजा दे कर वे विराम नही लेते , अपितु वे और भी तरह-तरह की यातनाएँ कैदियो को देते है, जिनका उल्लेख शास्त्रकार करते है—उन अभागे कैदियो के पैर चौडे करके काठ के एक यत्र के छेदो मे फसा दिये जाते हे। कई कैदी लोहे के पीजरो और भूमिगृहो मे डाल दिये जाते हैं, अधे कुए मे उतार दिये जाते है, जेल की कालकोठरी मे वद कर दिये जाते हैं , कील, जूआ या गाडी का पहिया उनके गले आदि मे वाध दिया जाता है। कितने ही कैदियो के सिर झुका कर उनके हाथो को जाघो के वीच मे करके गठडी-सा वाध कर लुढका देते है , कइयो को खभे के साथ वाध देते है, कुछ कैदियो के पैर ऊपर मे वाध कर उन्हे औधे मुह लटका देते हैं। इन और ऐसी ही विविध यातनाओ से पीडित कैदी गर्दन नीची करके मस्तक और छाती को वाध देने के कारण पूरी तरह श्वास भी नही ले सकते। उनका श्वास ऊपर ही रुक जाता है। वे हाफने लगते हैं। उनके पेट की आते वाहर निकल आती है। इतना होने पर भी उन अभागे कैदियो को वदीघर के सिपाही चैन नही लेने देते। वे कभी तो चमडे की रस्सी पानी मे भिगो कर उनके मस्तक पर पगडी की तरह वाध देते हैं , कभी घुटने और कोहनी आदि शरीर के जोडो को काठ के यत्र-विशेष

से वाध देते हे , कभी तपी हुई लोहे की सलाइया उनके शरीर पर चुभोते है, कभी गर्मागर्म सूइयाँ उनके अगो मे भोकते हे , कभी वसूले से काठ के समान उनके शरीर की चमडी छीलते है , कभी उनके घावो पर नमक आदि खारे पदार्थ छिडकते हैं, लालमिर्च आदि तीखे पदार्थ उनके गुप्त-अगो मे डालते हे, कभी नीम आदि कडवे पदार्थ उन्हे खिलाते हे। कई कैदियो की छाती पर वडा भारी काठ रख कर उसे बहुत जोर से दबाते है , जिससे उनकी हड्डी-पसली सब चूर-चूर हो जाती है। कभी मछली को पकडने के लोहे के काटे के समान नोकदार लोहे के काले डडे को छाती, पेट, गुदा और पीठ मे ठोक कर भयकर त्रास पहुचाते हे। इस प्रकार जेल के आज्ञापालक सेवक अपने अधिकारियो का हुक्म पाते हो विविध प्रकार की यातनाएँ दे कर कैदियो के अग-प्रत्यगो को अत्यन्त जर्जरित कर देते है। इससे उनके हृदय को वडा आघात पहुचता है।

जेल के कई सिपाही तो इतने क्रूर और अकारणद्वेषी होते हैं कि किसी कैदी का इतना भयकर अपराध न हो, तो भी यमदूतो के समान अत्यन्त क्रूर वन कर वे उन अभागे कैदियो के मुह थप्पडो के मारे लाल कर देते हे, लोहे के कुश से उनके शरीर की हड्डियाँ तोड डालते है, घोड आदि को पीटने के चावुको से मार-मार कर उनकी पीठ सूजा देते है, जिससे उनके शरीर से खून टपकने लगता है, कभी लातो और घूसो की चोट से मर्मस्थानो को व्यथित कर देते हे, कभी चमडे की मोटी रस्सी से सारे शरीर को वाध कर उन्हे नीचे लुढका देते हैं और ऊपर से बेंते मार कर अधमरे कर देते हैं। उनके शरीर पर इतने घाव हो जाते हैं कि उनकी चमडी लटकने लगती है,उसमे से खून वहने लगता है। इतनी असह्य वेदना होती है,जो शब्दो से नही कही जा सकती। लोहे के वडे-वडे हथौडो से कूट कर वनाई हुई मजबूत वेडियो और हथकडियो से उनके हाथ-पैर जकड दिये जाते है। वेडियो के कारण वे इधर-उधर चल नही सकते। यातनाएँ देने पर मुह से बोल भी नही सकते। वोलने पर और ज्यादा मार पडती है। इस प्रकार जेल के कर्मचारियो द्वारा पराये धन पर हाथ साफ करने वाले पापी चोर नाना प्रकार की असह्य यातनाएँ पाते है।

'अदत्तदिया धणलोसगा गहिया य जे नरगणा'—प्रश्न यह होता है कि जेल मे कितनी भयकर यातनाएँ चोरो को दी जाती है, चोर स्वय भी जानते है, फिर भी वे वार-वार चोरी के इस निन्दनीय मार्ग को क्यो अपनाते है ? अपनी अमूल्य जिदगी को जानवूझ कर ऐसी आफत मे क्यो डालते है ? वे ईमानदारी और स्वपरिश्रम से अर्थप्राप्ति का निरापद रास्ता क्यो नही अपनाते ? इसी वात का उत्तर शास्त्रकार 'अदत्तदिया' आदि पदो से देते है। वस्तुत शास्त्रकार

मनुष्य के मन की तह तक पहुच गए है। उनका यह स्पष्ट मनोविश्लेपण है कि जो व्यक्ति इन्द्रियो को जरा भी वश मे नही कर सकते, चटपटी और मसालेदार चीजे तथा विविध मिठाइयाँ एव मास अडे आदि तामसी पदार्थों के खाने के शौकीन है, शराव, गाजा, भाग, अफीम आदि नशीली चीजो के पीने के आदी है, वढिया भडकीले कपडे पहनने के लिए लालायित रहते हे, हाथ-पैर हिलाना नही चाहते, आलसी वन कर वैठे-वैठे खाना चाहते है, नाटक, सिनेमा, खेलतमाशे, रडियो के नाच-गान आदि देखने—सुनने मे मस्त रहते हे या स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत होकर पराई स्त्रियो को ताकते फिरते है,जिन्हे उनके रूप,सौन्दर्य, हावभाव,वाणी, अगविन्यास आदि देखने-सुनने का व्यसन लगा है, अपने शरीर को मोहवश वारवार सजाते है, तेलफूलेल लगाते है, सावुन से रगड-रगड कर धोते है, नई नई सुन्दरियो के साथ सहवास करने के लिए उत्सुक रहते है, वे अवसर अपनी इप्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए सभी उपाय अजमाते हैं, मुफ्त का धन कही से मिल जाय, इसी फिराक मे रात-दिन रहते ह। ऐसे व्यक्तियो को अपनी उपर्युक्त वासनाएँ, कामनाएँ और लालसाएँ पूरी करने के लिए धन जुटाना तो अवश्यम्भावी है। वे इन सव इन्द्रियविपयो की पूर्ति के लिए विना मेहनत किये धन कहाँ से पायेगे ? अत अन्तत वे चोरी का ही रास्ता अपनाते है। वे चोरी के इन वुरे नतीजो को वखूवी जानते हैं। लेकिन इन सव वुरी आदतो के शिकार जो वन गये हैं, इन सव वुरे व्यसनो का चस्का जो लग गया है। इसलिए वे जानते-वूझते हुए भी चोरी के खतरनाक मार्ग को अपनाते है। चोरी से प्राप्त धन के द्वारा अपनी इन सव वुरी आदतो को पालते-पोसते हुए वे रगे हाथो पुलिस द्वारा कभी न कभी पकड लिये जाते हैं और पूर्वोक्त यातनाओ के भागी वनते ह।

पुणरवि ते कम्मदुवियद्धा———इसीलिए शास्त्रकार ने इस पक्ति मे स्पष्ट कर दिया है कि इतनी यातनाएँ सह लेने के पश्चात् भी कई लोग चोरी को नही छोडते और मोह एव अज्ञान से मूढ वन कर अपने दुर्व्यसनो को पालने-पोसने के लिए, फिर चोरी करते है, और फिर पकडे जाते है। ससार मे वहुधा अभाव के कारण चोरियाँ हुआ करती है। चोरी का जन्म भी सच पूछा जाय तो अभाव के कारण हुआ है। यह वात दूसरी है कि आगे चल कर मनुष्य या तो अपनी लालसाओ और आदतो का शिकार वन कर चोरी करने लगे, या मुफ्त मे धन पाने का चस्का लग जाने के करण पेशेवर चोर वन जाए।

कई पेशेवर चोर नहीं होते, वे अपने स्त्री और वालवच्चो को भूख से विलखते देख कर त्रस्त हो जाते है,किन्तु उदरपूर्ति के लिए अन्य कोई रोजगार धधा नही मिलता है,तो चोरी का मार्ग अपनाते हैं। ऐसे लोग सरकार के द्वारा दी जाने वाली सजा से घवरा कर पुन इस दुप्कर्म को नही करते। लेकिन जिनको पूर्वोक्त महेच्छाएँ पूरी करने का भूत

सवार हो जाता है, वे चोरी किये विना नही रहते। मध्ययुग से समाज-व्यवस्था मे कुछ ऐसी सामाजिक खर्चीली कुरूढिया घुस गई है कि प्रामाणिकता या ईमानदारी से पैसा कमाने वाले मनुष्य के लिए जिन्हे निभाना बहुत ही कठिन होता है। इस फिजूल खर्ची की पूर्ति के लिए मनुष्य चारो तरफ हाथ-पैर मारता है। जब किसी तरह से पूर्ति होती नही देखता तो वह चोरी आदि अनैतिक उपायो का सहारा लेता है। चोरी मे प्रवृत्त होने वाले इन तीन कोटि के व्यक्तियो के अलावा चौथे पेशेवर चोर होते है, जो चोरी करने मे सिद्धहस्त होते है, पकडे जाने पर भी अधिकारियो को रिश्वत देकर छूट जाते है। फिर भी 'सौ सुनार की तो एक लुहार की' इस कहावत के अनुसार कभी न कभी वे रगे हाथो पकड ही जाते ह और उन्हे इन भयकर यातनाओ का सामना करना पडता है। मगर वे बराबर सजा पाने पर भी इतने ढीठ हो जाते है कि फिर चोरी के निन्द्यकर्म मे प्रवृत्त हो जाते है। इतना जरूर है कि उनके लिए चोरी बहुत ही महगी और कष्टसाध्य साबित होती है। वे इतना समय और इतनी शक्ति यदि ईमानदारी से कमाने में लगाते तो उनका जीवन सुखी और शान्तिमय होता। पर जिसको एक बार चोरी की चाट लग गई,मुफ्त मे धन पाने की धुन सवार हो गई, वह इन सजाओ की कोई परवाह नही करता। जैसे पतगा रोशनी देखते ही उस पर टूट पडता है, वैसे ही ऐसे धनलोलुप लोग सम्पत्ति को देखते ही उसे हडपने के लिए टूट पडते है, अपनी जान तक को न्योछावर कर देते है।

'उवणीया रायकिंकराण णियगमि खुत्ता'—ऐसे पेशेवर या ढीठ चोरो को वेष बदलने, छलकपट और झूठफरेब करने एव हजारो झूठ बोल कर मीठी-मीठी बातो से चोरो के मन की बात निकलवाने मे प्रवीण वधशास्त्रज्ञ राजपुरुषो (सिपाहियो) के हवाले किया जाता है। वे उन भयकर चोरो को न्यायाधीश द्वारा सुनाई हुई प्राणदड की सजा को अमली रूप देते है। प्राणदड देने से पहले उस चोर के साथ कितना निर्दय व्यवहार किया जाता है, तथा कैसी-कैसी भयकर यातनाएँ दी जाती हैं, इसका शास्त्रकार ने विशद वर्णन किया है। यहाँ उसे दोहराने की आवश्यकता नही। वध्यस्थान मे ले जाते समय की दशा का वर्णन भी बडा रोमाचक है। जिनको प्राणदण्ड दिया जाता है,उनके गले मे एक ढोल बाँधा जाता है,जो प्राय उन्ही से बजवाया जाता है। ढोल बजाने या चलने मे सुस्ती करने पर वध करने के लिए नियुक्त राजकिंकर (जल्लाद) उन्हे जोर से धक्का देते हुए पीछे से धकेलते जाते है। वध्य-भूमि पर ले जाते समय गुस्से से अत्यन्त लाल-लाल आँखे किए जल्लाद यमदूत के समान उनकी मुश्के खूब कस कर बाँधते हैं तथा उन्हे वध्य (मौत की सजा पाने वाले) की खास पोशाक पहनाते है, उन्हे लाल कनेर के खिले हुए फूलो की माला पहनाते है, जो वध्यदूत के समान वध्य को पहिचानने का एक चिह्न होती है। फिर

कोयला पीस कर या काला रग उनके हाथ, पैर और मुँह आदि अगो पर पोता जाता है। उनके सिर के वाल उडती हुई धूल से भरे होते है। सिर के वाल कुसुम्भे के लाल रग या सिंदूर से लाल कर दिये जाते है। मृत्यु के डर से उनका सारा शरीर चिकने पसीने की धारा से लथपथ हो जाता है। उन्हे अव अपने जीने की आशा बिलकुल नही रहती। वधिको (जल्लादो) को देख कर भय के मारे वे कापने लगते हैं, उनके पैर लडखडाने लगते है। उन्हे देखने के लिए चारो ओर से पागलो की तरह नरनारियो की भीड उनके चारो ओर जमा हो जाती है। नगरनिवासी भी उन्हे देखने के लिए उमड पडते है। उस समय प्यास के मारे उनके कठ, ओठ जीभ और तालु सूख जाते है और वे पानी की याचना करते है, लेकिन निर्दय सिपाही उन्हे एक घूट भी पानी नही देते।

जिस समय उनको वध्यवेप पहना कर नगर के बीचोवीच हो कर ले जाया जाता है, उस समय वे दीनातिदीन, रक्षाहीन, शरणहीन, अनाथ, अवाधव, वन्धुओ द्वारा परित्यक्त और असहाय हो कर चारो दिशाओ मे कातर दृष्टि से देखते है। मौत के भय से वे अत्यन्त उद्विग्न हो जाते है।

मृत्युदड के विविध रूप—उनमे से कई चोरो के अग के तिल-तिल के समान छोटे-छोटे टुकडे किये जाते है। शरीर के एक भाग से काटे हुए वे टुकडे खून से लिपटे होते है, जो उन्हे ही खिलाये जाते है।

कई अपराधी चोरो को पत्थर के छोटे-छोटे टुकडो से भरे हुए चमडे के थैलो से पीटा जाता है, अथवा फटे हुए वाँसो से मार-मार कर उनका अग-अग ढीला कर दिया जाता है।

कई अपराधियो के हाथ-पैर वध्यभूमि मे काट लिये जाते है और पेड की शाखाओ से वाँध कर लटका दिये जाते है, जहा वे अत्यन्त करुण विलाप करते हैं। कई अपराधियो के दोनो हाथ और दोनो पैर वाँध कर पहाड की चोटी [illegible] नीचे लुढका दिया जाता है। वहुत ऊँचे से गिरने तथा ऊबड-खावड [illegible] के कारण उनका शरीर चूर-चूर हो जाता है।

कई पापकर्म करने वाले चोर हाथी के पैरो तले कुचलवा [illegible] उतार दिये जाते है।

कुछ चोरो के अग-प्रत्यग भोथरे कुल्हाडे से धीरे-धीरे [illegible] उन्हे वहुत ही वेदना होती है और उनके प्राण भी जल्दी नही [illegible]

कई दुष्ट चोरो के कान, नाक और ओठ काट [illegible] ली जाती है, दात और अडकोश उखाड लिये जाते है, [illegible] जाती है, और फिर उन्हे वध्यभूमि मे ले जाकर [illegible] जाता है।

कुछ चोरो के हाथ-पैर काट कर उन्हे देश निकाला दे दिया जाता
कुछ चोरो को जव वध्यस्थल के द्वार पर ले जाया जाता है, तव
भय से काँपते रहते है। निर्दय जल्लाद उन्हे शूली की तीक्ष्ण नोक पर चढ
जिससे उनका शरीर विदीर्ण हो जाता है।

कई परधनहरण करने वालो को आजन्म कैद की सजा दी जाती है,
वे जिंदगीभर वहाँ सडते रहते है। उन्हे कालकोठरी मे हथकडियाँ—वेडिय
कर पटक दिया जाता है। उनका सव धन जप्त कर लिया जाता है। वे
स्त्री और अपने वाल वच्चो के वियोग मे जिंदगीभर झूरते रहते है,उनके मित्र,
आदि उनका तिरस्कार करते हे, वहुत से लोगो द्वारा वे धिक्कारे जाते हैं, ल।
किये जाते है। वे वहाँ सर्दी, गर्मी की तीव्र वेदना सहते है,उनका मुँह पीला पड र
है, चेहरे का तेज खत्म हो जाता हे। उनकी सभी आशाएँ धूल मे मिल जाती
वहाँ मनचाही वस्तु पाना तो दूर रहा, मुँह पर भी नही ला सकते। उनका श
अत्यन्त मलन और दुर्वल हो जाता है। खाँसी के मारे रात-दिन खो-खो करते र
है, रातदिन एक ही अंधेरी कोठरी मे रहने के कारण कोढ आदि वीमारियाँ उ
घेर लेती है। उन्हे खाना हजम नही होता। उनके केश नख और दाढी-मूछो के वा
वहुत वढ जाते है। वहाँ वे अपने ही टट्टी-पेशाव से लथपथ रहते हे। इस प्रका
जीते हुए भी वे मरे के समान जेलखाने मे नारकीय जीवन विताते है और वही
खिव-खिव कर मर जाते हैं।

चोर और चौर्य-कर्म की उत्पत्ति के प्रकार—ससार मे चोर भी एक प्रकार
के नही होते। यानी केवल चोरी करने वाले ही चोर नही कहलाते, अपितु चोरी के
दुष्कम मे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मदद करने वालो को गणना भी चोरो मे की
जाती है। वे कुल मिला कर सात है। कहा भी है—

'चौरश्चौरार्पको मत्री, भेदज्ञ काणकक्रयी।
अन्नद स्थानदश्चैव, चौर सप्तविध स्मृत ॥'

अर्थात्—१–'चोरी करने वाला, २—चोरी करवाने वाला, ३—चोरी करने
की सलाह देने वाला, ४—भेद वताने वाला, ५—चोरी का माल कम कीमत मे
खरीदने वाला, ६—चोरो को खाने के लिए अन्न देने वाला, और ७—उन्हे छुपने के
लिए स्थान देने वाला, ये सातो चोर कहलाते है।'

इसी प्रकार चोरी सरीखे दुष्कर्म के होने मे निमित्त कारण १८ है। उसके
लिए, देखिए, ये प्राचीन श्लोक—

भलन कुशल तर्जा, राजभागोऽवलोकनम्।
अमार्गदर्शन शय्या पदभगस्तथैव च ॥ १ ॥

विश्राम पादपतनमासन गोपन तथा ।
खण्डस्य खादन चैव, तथाऽन्यन् माहराजिकम् ॥२॥
पद्याऽग्न्युदक - रज्जूना प्रदान ज्ञानपूर्वकम् ।
एता प्रसूतयो ज्ञेया, अष्टादश मनीषिभि. ॥ ३ ॥

अर्थात्—(१) **भलन** आप डरे नही,मैं आपकी सहायता करूँगा, ऐसे वचनो द्वारा चोर को प्रोत्साहन देना, (२) **कुशल**—मिलने पर चोरो से कुशल मगल पूछना, (३) **तर्जा**—चोरो को हाथ आदि से इशारा करना, (४) **राजभाग**—राजा का देय भाग न देना, (५) **अवलोकन**—चोरी करते हुए देखकर भी उपेक्षा करना, (६) **अमार्गदर्शन**—'चोर किधर गये है ?' ऐसा पूछने पर जानते हुए भी दूसरा रास्ता वताना या ठीक न वतलाना, (७) **शय्या**—चोरो को सोने के लिए शय्या, खाट आदि देना, (८) **पदभग**—चोरो के पैरो के निशान (पशु आदि चलाकर) मिटा देना, ताकि पता न लगे, (९) **विश्राम**—अपने घर मे चोरो को विश्राम देना, (१०) **पादपतन**—चोरो को प्रणाम आदि करके या जाहिर मे प्रतिष्ठा देकर उनका सम्मान करना, (११) **आसन**—'आइये बैठिये' इत्यादि कह कर चोरो को आसन देना, (१२) **गोपन**—चोरो को अपने यहाँ छिपाना, अथवा किसी के पूछने पर दूसरी वातो मे लगा कर चोरी पर पर्दा डालना, (१३) **खण्डखादन**—चोरो को प्रेमपूर्वक मिठाइयाँ खिलाना, या आग्रहपूर्वक भोजन कराना, (१४) **माहराजिक**—चोरो को 'महाराज' !,सरकार !,ठाकुर साहव ! हजूर !, वावूजी ! इत्यादि आदरसूचक शब्दो से वुलाना अथवा लोगो मे उस चोरी की जानकारी हो जाने पर चोरी का माल दूसरे राष्ट्र मे जाकर वेच देना, (१५) **पद्या-प्रदान**—बहुत दूर से आने के कारण थके हुए चोरो के लिए पैर धोने हेतु गर्म पानी व मालिश के हेतु तेल आदि वस्तुएँ देना, (१७) **अग्निदान**—चोरो को भोजनादि वनाने के लिए अग्नि देना, (७) **उदकदान**—पीने के लिए उन्हे ठडा पानी देना और (१७) **रज्जुप्रदान**—चोरी करके लाये हुए पशुओ को वाँधने के लिए रस्सी आदि देना। इन १८ दोपो को वुद्धिमान चोरी की प्रसूतियाँ (उत्पत्ति कारण) समझे । चोरो के साथ जानवूझ कर पूर्वोक्त व्यवहार करने वाले को ये १८ दोप लगते है। इसीलिए शास्त्रकार ने सकेत किया है—**'अट्ठारसकम्मकारणा'** यानी चौर्यकर्म के ये १८ कारण हैं ।

इन १८ कारणो मे से किसी भी कारण का पता लगते ही पुलिस का सिपाही चोरी के अपराध मे उसे गिरफ्तार कर सकता है, और पूर्वोक्त प्रकार का कठोर दड उसे दे सकता है ।

चोरी के कटुफल : अन्य गतियो मे

पूर्वोक्त मूलपाठ मे शास्त्रकार ने चोरी करने वालो को मनुष्यलोक मे क्या-क्या दड मिलता है ? उनकी मानसिक-शारीरिक स्थिति कितनी भयकर होती है ?

इसका निरूपण किया है। अब आगे अन्य गतियो मे चोरी के क्या-क्या फल भोगने पडते है ? इसका निरूपण करते है—

मूलपाठ

तत्थेव मया अकामका, बधिऊण पादेसु कड्ढिया खाइयाए छूढा, तत्थ य विग-सुणग-सियाल - कोल - मज्जार-वंद (चड)-सदसगतु डपक्खिगण-विविहमुहसयलविलुत्तगत्ता, केइ किमिणा य कुहियदेहा, अणिट्ठवयणेहि सप्पमाणा-'सुट्ठु कय, ज मउत्ति पावो' तुट्ठेण जणेण हम्ममाणा, लज्जावणका च होति सयणस्स वि य दीहकाल मया सता। पुणो परलोगसमावन्ना नरए गच्छति निरभिरामे अगारपलित्तककप्प-अच्चत्थसीतवेदण - अस्साउदिन्न-सयतदुक्खसयसमभिद्दुते, ततो वि उवट्टिया समाणा पुणोवि पवज्जति तिरियजोणिं, तहि पि निरयोवम अणुहवति वेयणं ते अणतकालेण, जति नाम कहिंवि मणुयभाव लभति णेगेहिं णिरयगतिगमण-तिरियभवसयसहस्सपरियट्टेहिं।

तत्थ वि य भमतऽणारिया नीचकुलसमुप्पणा आरिय-जणेवि लोकबज्झा तिरिक्खभूता य अकुसला कामभोगतिसिया जहिं निबधति निरयवत्तणिभवप्पवचकरणपणोल्लिया पुणो वि ससारावत्तणेममूले धम्मसुतिविवज्जिया अणज्जा कूरा मिच्छत्त-सुतिपवन्ना य होति एगतदडरुइणो वेढेता कोसिकाकारकीडोव्व अप्पग अट्ठकम्मततुघणबधणेण एव नरग-तिरिय-नर-अमर-गमणपेरतचक्कवालं जम्मजरामरण-करणगभीरदुक्खपक्खुभिय-पउरसलिल, सजोगविओगवीचीचिंतापसगपसरिय-वहबधमहल्ल-विपुलकल्लोल - कलुणविलवितलोभकलकलितबोलबहुल, अव-माणणफेणं, तिव्वखिसणपुलपुलप्पभूयरोगवेयण-पराभवविणिवात-फरुसधरिसणसमावडिय - कठिणकम्म-पत्थरतरगरगतनिच्चमच्चु-

भयतोयपट्ठ, कसायपायालकलससकुल, भवसयसहस्सजलसचय, अणत, उव्वेयजणय, अणोरपार, महब्भय, भयकर, पइभयं, अपरिमियमहिच्छकलुसमतिवाउवेगउद्धम्ममाण - आसापिवास-पायालकामरतिरागदोसवधणवहुविहसंकप्प-विपुलदगरयरयधकारं, मोहमहावत्तभोगभममाण-गुप्पमाणुच्छलतवहुगब्भवासपच्चोणियत्त-पाणिय, पधावितवसणसमावन्नरुन्नचडमारुयसमाहयाऽमणुन्नवीची-वाकुलिन-भग(भग्ग) - फुट्टतनिट्ठकल्लोलसकुलजल, पमादवहु-चडदुट्ठसावयसमाहयउद्धायमाणग-पूरघोरविद्धसणत्थवहुल,अण्णाण-भमतमच्छपरिहत्थ, अनिहुतिंदिय-महामगरतुरियचरियखोक्खुभ-माणसतावनिचयचलत - चवलचचल - अत्ताणऽसरणपुव्वकयकम्म-सचयोदिन्नवज्जवेइज्जमाणदुहसयविपाकघुन्न तजलसमूह, इड्ढिरस-सायगारवोहार-गहियकम्मपडिवद्ध - सत्तकड्ढिज्जमाणनिरयतल-हुत्तसन्न-(त्ता)विसन्नवहुल, अरइ-रइ-भय-विसाय-सोग - मिच्छत्त-सेलसकड, अणाइसताणकम्मवधणकिलेसचिक्खिलसुदुत्तार, अमर-नर-तिरिय-निरयगतिगमणकुडिलपरियत्तविपुलवेलं, हिंसालिय-अदत्तादाणमेहुणपरिग्गहारभ - करणकारावणाणुमोदण - अट्ठविह अणिट्ठकम्मपिंडितगुरुभारक्कंतदुग्गजलोघदूर - निवोलिज्जमाण-उम्म(म्मु)ग्गनिमग्गदुल्लभतल, सारीरमणोमयाणि दुक्खाणि उप्पियता सातस्स य परित्तावणमय उव्वुडुनिव्वुडय करेता चउरत-महतमणवयग्ग,रुद्द,ससारसागर अट्ठिय अणालवणमपतिट्ठाणमप्पमेय चुलसीतिजोणिसहस्सगुविल अणालोकमधकार अणतकाल, निच्च उत्तत्थसुण्ण-भवसण्णसपउत्ता (ससारसागरं) वसति उव्विग्ग-(ग्गा)वासवसहिं । जहिं आउय निवधति पावकम्मकारी वधवजण-सयणमित्तपरिवज्जिया, अणिट्ठा भवति, अणादेज्जदुव्विणीया कुठाणासण-कुसेज्ज -कुभोयणा, असुइणो, कुसघयण-कुप्पमाण-

कुसठिया, कुरूवा, बहुकोहमाणमायालोभा, वहुमोहा, धम्मसन्न-सम्मत्त-परिब्भट्टा, दारिद्दोवद्दवाभिभूया निच्चं परकम्म-कारिणो, जीवणत्थरहिया, किविणा, परपिंडतक्कका, दुक्खलद्धाहारा, अरसविरसतुच्छकयकुच्छिपूरा, परस्स पेच्छता, रिद्धिसक्कार-भोयणविसेससमुदयविधि निदता अप्पक कयत च परिवयंता, इह य पुरेकडाइं कम्माइ पावगाइ विमणसो सोएण डज्झमाणा, परिभूया होति सत्तपरिवज्जिया य छोभा सिप्पकलासमयसत्थ-परिवज्जिया, जहाजायपसुभूया, अवियत्ता, णिच्च नीयकम्मोप-जीविणो, लोयकुच्छणिज्जा मोघमणोरहा, निरासबहुला, आसा-पासपडिबद्धपाणा, अत्थोपायाणकामसोक्खे य लोयसारे होति। अफलवतका य सुट्ठु वि य उज्जमंता तद्दिवसुज्जुत्तकम्मकय-दुक्खसठवियसित्थपिडसचया, पक्खीणदव्वसारा. निच्च अधुव-धणधण्णकोसपरिभोगविवज्जिया, रहियकामभोगपरिभोगसव्व-सोक्खा, परसिरिभोगोवभोगनिस्साणमग्गणपरायणा, वरागा अकामिकाए विणेति दुक्ख, णेव सुह णेव निव्वुतिं उवलभति, अच्चतविपुलदुक्खसयसपलित्ता परस्स दव्वेहिं जे अविरया।

एसो सो अदिण्णादाणस्स फलविवागो इहलोइओ, पार-लोइओ, अप्पसुहो, बहुदुक्खो, महब्भओ, बहुरयप्पगाढो, दारुणो, कक्कसो, असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चति, न य अवेदयित्ता अत्थि उ मोक्खोत्ति, एवमाहसु णायकुलणदणो महप्पा जिणो उ वीरवर-नामधेज्जो कहेसी य अदिण्णादाणस्स फलविवाग। एय त ततिय पि अदिन्नादाण हरदहमरणभयकलुसतासण-परसतिकभेज्जलोभमूल एव जाव चिरपरिगतमणुगत दुरत ।। ततियं अधम्मदार समत्त तिवेमि ।। ३ ।। (सू० १२)

संस्कृतच्छाया

तत्रैव मृता अकामका बद्ध्वा पादयोराकृष्टा खातिकाया क्षिप्ता-स्तत्र च वृकशुनकशृगालकोलमार्जारवृन्द (चण्ड) सन्दशकतुण्डपक्षिगणविविध-मुखशतविलुप्तगात्रा कृतविभागा, केचित् कृमिवन्तश्च कुथितदेहा अनि-ष्टवचनै शाप्यमाना —'सुष्ठु कृतं यन्मृत पाप' इति तुष्टेन जनेन हन्यमाना लज्जापनकाश्च भवन्ति स्वजनस्यापि च दीर्घकाल, मृता सन्त ,पुन परलोक-समापन्ना नरके गच्छन्ति निरभिरामे, अंगारप्रदीप्तककल्पात्यर्थशीतवेदना-ऽसातोदीर्णसततदुखशतसमभिद्रुते । ततोऽप्युद्धृता सन्त पुनरपि प्रपद्यन्ते तिर्यग्योनिम् । तत्राऽपि निरयोपमा अनुभवन्ति वेदना तेऽनन्तकालेन । यदि नाम कथचिद् मनुजभावं लभन्ते नैकेषु निरयगतिगमनतिर्यग्भवशत-सहस्रपरिवर्तेषु तत्रापि भवन्त्यनार्या नीचकुलसमुत्पन्ना । आर्यजनेऽपि लोकबाह्या तिर्यग्भूताश्च अकुशला कामभोगतृषिता यत्र निबध्नन्ति निरयवर्तिभवप्रपचकरणप्रणोदीनि पुनरपि ससारावर्त्तनिमीमूलानि धर्मश्रुति-विवर्जिता अनार्या क्रूरा मिथ्यात्वश्रुतिप्रपन्नाश्च भवन्ति एकान्तदडरुचयो वेष्टयन्त कोशिकाकारकीट इव आत्मानम् अष्टकर्मतन्तुघनबन्धनेन । एवं नरकतिर्यग्नरामरगमनपर्यन्तचक्रवाल जन्मजरामरणकरणगभीरदुखप्रक्षुभित-प्रचुरसलिल, सयोगवियोगवीचीचिन्ताप्रसगप्रसृतवधबधमहाविपुल-कल्लोलकरुणविलपितलोभकलकलायमानबोलबहुलम्, अवमाननफेन, तीव्र-खिसन (निन्दा) निरन्तरप्रभृतरोगवेदनापराभवविनिपातपरुषघर्षणसमापतित-कठिनकर्मप्रस्तरतरगरगन्नित्यमृत्युभयतोयपृष्ठ, कषायपातालसकुल, भव-शतसहस्रजलसचय, अनन्तम्, उद्वेगजनकम्, अनर्वाक्पार, महाभय, भयकरं, प्रतिभयम्, अपरिमितमहेच्छकलुषम्, अतिवायुवेगोद्धन्यमानाशापिपासा-पाताल - कामरतिरागद्वेषबधनबहुविधसकल्पविपुलदकरजोरयोऽन्धकारम्, मोहमहावर्त्तभोगभ्राम्यद्गुप्यदुच्छलद्बहुगर्भवासप्रत्यवनिवृत्तपानीय,प्रधावित-व्यसनसमापन्नरुदितचडमारुतसमाहतामनोज्ञवीची - व्याकुलितभगस्फुटद-निष्टकल्लोलसकुलजल, प्रमादबहुचडदुष्टश्वापदसमाहतोद्धावत्पूरघोर-विध्वसानर्थबहुलम्, अज्ञानभ्राम्यन्मत्स्यपरिहस्त (दक्ष), अनिभृतेन्द्रिय-महामकर - त्वरितचरितचोक्षुभ्यमाणसतापनित्यक (निचय) - चलच्चपल-चचलात्राणाशरणपूर्वकृतकर्मसचयोदीर्णवर्ज्यवेद्यमानदुखशतविपाकघूर्णज्जल-

स॒हम्, ऋद्धिरससातगौरवापहारगृहीतकर्मप्रतिबद्धसत्त्वाकृष्यमाणनिरय-तलहुत्त (अभिमुख) - सन्नविषण्णबहुलम् अरतिरतिभयविषादशो क मिथ्यात्व-शैलसकटम् अनादिसन्तानकर्मबन्धनक्लेशकर्दमसुदुरुत्तारम्, अमरनर-तिर्यङ् निरयगतिगमनकुटिलपरिवर्तनविपुलवेलम्, हिंसालीकादत्ता॰न-मैथुनपरिग्रहारम्भकरणकारणानुमोदनाष्टविधानिष्टकर्मपिंडितगुरुभाराऽऽ—क्रान्तदुर्गजलौघदूरनिबोल्यमानोन्मग्ननिमग्नदुर्लभतलम्, शारीरमनोमयानि दु खानि उत्पिबन्त, सातासातपरितापनमयमुन्मग्ननिमग्नत्व कुर्वन्तश्चतुरन्त-महान्तम्, अनवदग्रम्, रुद्रम्, ससारसागरम्, अस्थितम्, अनालम्बनम्, अप्रतिष्ठानम्, अप्रमेयम्, चतुरशीतियोनिशतसहस्रगुपिलम्, अनालोकान्ध-कारम्, अनन्तकालम्, नित्यम्, उत्त्रस्तशून्यभयसज्ञासप्रयुक्ता वसन्ति ससार-सागरम् उद्विग्नावासवसतिम् । यत्रायुष्क निबध्नन्ति पापकर्मकारिणो बान्धव-जनस्वजन-मित्र-परिवर्जिता अनिष्टा भवन्ति अनादेयदुर्विनीता.,कुस्थाना॰न-कुशय्या, कुभोजना,अशुचय (अश्रुतय), कुसहनन-कुप्रमाणकुसस्थिता कुरूपा, बहुक्रोधमानमायालोभा, बहुमोहा,धर्मसज्ञासम्यक्त्व परिभ्रष्टा,दारिद्र्योपद्रवा-भिभूता, नित्य परकर्मकारिणो,जीवनार्थरहिता, कृपणा, परपिडतर्कका, दु ख-लब्धाहारा, अरसविरसतुच्छकृतकुक्षिपूरा, परस्य प्रेक्षमाणा, ऋद्धि-सत्कारभोजनविशेषसमुदयविधि निन्दत आत्मान कृतान्त च परिवदन्त इह च पुराकृतानि कर्माणि पापकानि विमनस, शोकेन दह्यमाना, परिभूता भवन्ति, सत्त्वपरिवर्जिताश्च छोभा. (नि सहाया· क्षोभणीया वा),शिल्पकलासमयशास्त्र-परिवर्जिता, यथाजातपशुभूता, अप्रतीता (अप्रतीत्युत्पादका·), नित्य नीच-कर्मोपजीविनो, लोककुत्सनीया, मोघमनोरथा, निराशा-(निरास) बहुला, आशापाशप्रतिबद्धप्राणा, अर्थोपादानकामसौख्ये च लोकसारे भवन्त्यफल-वन्तश्च, सुष्ठु अपि उद्यच्छन्त (उद्यमवन्त), तद्दिवसोद्युक्तकर्मकृतदु ख-सस्थापितसिक्थपिंडसचया, प्रक्षीणद्रव्यसारा नित्य अध्रुवधनधान्यकोश-परिभोगविवर्जिता, रहितकामभोगपरिभोगसर्वसौख्या परश्रीभोगोपभोग-निश्राणमार्गणपरायणा, वराका, अकामिकया विनयन्ति दु ख, नैव सुखं नैव निर्वृतिमुपलभते, अत्यन्तविपुलदु खशतसप्रदीप्ता परस्य द्रव्येभ्यो येऽविरता ।

एष स अदत्तादानस्य फलविपाक, इहलौकिक, पारलौकिक, अल्प-सुखो, बहुदु खो, महाभयो, बहुरज प्रगाढो, दारुण ,कर्कश ,असातो, वर्षसहस्रै र्

मुच्यते। न चावेदयित्वा अस्ति तु मोक्ष इति। एवमाख्यातवान् ज्ञातकुल-नन्दनो महात्मा जिनस्तु वीरवरनामधेय। कथितवान् च अदत्तादानस्य फलविपाकमेतम्। तत् तृतीयमप्यदत्तादान दाह-हरण-मरण-भय-कलुष-त्रासन परसत्काभिध्यालोभमूलम् एव यावत् चिरपरिगतम् अनुगतम्, दुरन्तम्। तृतीयम् अधर्मद्वार समाप्तमिति ब्रवीमि ॥ ३ ॥ (सूत्र० १२)

पदार्थान्वय—(तत्थेव) वहाँ कैदखाने मे ही (मया) मर जाते है। (अकामया) वे मरना नहीं चाहते हुए भी अकालमृत्यु से मरते है, अपनी इच्छा से नहीं। मरने पर वे (पादेसु) पैरो मे (वधिऊण) रस्सी बाध कर (कड्ढिया) जेलखाने से बाहर खीचे जाते हैं, और (खाइयाए छूढा) खाई मे फैक दिये जाते हैं। (य) और (तत्थ) वहाँ—खाई मे, (वग-सुणग-सियाल-कोल-मज्जार-वद-सदसग-तु ड-पक्खि-गणविविहमुहसयविलुत्तगत्ता) भेडियो, कुत्तो, सियारो, सूअरो और विलावो के झुड तथा सडासी के समान मु ह वाले पक्षीगण विविध अपने मुखो से उनके शरीर को नोच डालते है। (केई) कई अपराधियो को (विहगा) गीध, बाज आदि चट कर जाते हैं, (केइ) कई अपराधियो के (किमिणा कुहियदेहा) शरीर मे कीडे पड जाते हैं, उनके शरीर सड जाते हैं। इस प्रकार सड-सड कर मर जाने के बाद भी (इति अणिट्ठवयणेंहि सप्पमाणा) इस प्रकार के अनिष्ट-अप्रिय वचनो से निन्दित किए जाते हैं—धिक्कारे जाते हैं कि (सुट्ठु कय ज पावो मओ) ठीक किया या अच्छा हुआ, जो यह पापी मर गया या मार डाला गया, (य) और फिर (तुट्ठेण जणेण) सतुष्ट लोगो द्वारा (हम्ममाणा) निन्दा का ढिंढोरा पीटा जाता है। (य) और (मया सता दीहकाल सयणस्स विलज्जावणया) मरने के बाद भी वे दीर्घकाल तक दूसरो को ही नहीं, अपने स्वजन-सम्बन्धियो को भी अपने पिछले कारनामो से लज्जित करते (होति) हैं। पुणो) मरने के पश्चात् वे (परलोगसमावन्ना) परलोक मे पहुँचते हैं, वहा भी वे (निरभिरामे) असुन्दर-खराब तथा (अगारपलित्तककप्प-अच्चत्थसीयवेदण-अस्साउदिन्नसयतदुक्खसयसमभिद्दुते) जलते हुए अगारे के समान अत्यन्त गर्मी और अत्यन्त ठड की पीडा तथा असातावेदनीयकर्म के उदय से प्राप्त निरन्तर सैकडो दु खो से भरे हुए (नरए) नरक मे (गच्छति) जाते हैं। (ततो वि) वहाँ से (उवट्टिया) इतने दु ख भोगने के बाद निकले हुए वे पुणोवि) फिर भी (तिरियजोणि पवज्जति) तिर्यञ्चयोनि को प्राप्त करते है (तहि पि) वहाँ भी (निरयोवम) नरक के समान (वेयण) वेदना (अणुहवति) भोगते हैं। (ते) वे (अणतकालेण) अनन्तकाल मे (जति नाम कहिंपि) यदि किसी भी तरह से (णेगेहि निरयगतिगमण-तिरिय-भवसयसहस्सपरियट्टेहिं) अनेक चक्कर नरकगति मे गमन के और लाखो चक्कर तिर्यंचगति मे जाने के होने

पर (मणुयभव) मनुष्यभव-मानवजन्म (लभति) पाते हे (तत्थ वि य) तो भी वहा पर (नीचकुलसमुप्पणा) नीच कुल मे पैदा होते हे, (अणारिया) अनार्य (भवता) होते हैं, (आरियजणे वि) कदाचित् आर्यमनुष्यो मे जन्म ले लें तो भी (लोकवज्झा) लोगो से बहिष्कृत (य) और (तिरिक्खभूया) पशुओ के जैसे (अकुसला) कुशलता से रहित विवेकहीन—जडमूढ, (कामभोगतिसिया) कामभोगो की अत्यधिक लालसा वाले होते हे। (जहि) जहाँ (निरयवत्तणिभवप्पवचकरणपणोल्लिया) नरक गति मे अनेको जन्म मरण करने के कारण उसी नरक गमन के योग्य पापकर्म की प्रवृत्ति से प्रेरित होते हैं, (पुणोवि) फिर (ससारावत्तणेममूले) ससार—जन्ममरण के चक्र—मे परिभ्रमण कराने के मूल कारण दु खजनक अशुभ कर्मों का (निबधति) दृढ बन्धन करते हैं तथा (धम्मसुतिविवज्जिया) धर्मशास्त्र के श्रवण और ज्ञान से रहित (अणज्जा) अनार्य—श्रेष्ठ आचरणो से दूर (करा) क्रूर (य) और (मिच्छत्तसुति-पवन्ना) मिथ्यात्व के प्रतिपादक शास्त्र को स्वीकार करने वाले (एगतदडरुइणो) सर्वथा दण्डशक्ति—हिंसा में ही रुचि—आस्था रखने वाले (कोसिकाकारकीडोव्व) रेशम के कीडे के समान, (अट्ठकम्मततुघणबधणेण) आठ कर्मरूपी ततुओ के गाढ बधन से (अप्पग) अपनी आत्मा को, (वेढेंता) जकड लेते हे लपेट लेते हैं। (एव) इस प्रकार (उत्तत्थ-सुण्णभसयण्णसपउत्ता) अत्यन्त उग्र त्रास से त्रस्त, कर्तव्यशून्य, भय-आहारादि सज्ञाओ से युक्त वे जीव (निच्च) सदा के लिए (ससारसागर) ससाररूपी समुद्र मे ही, (वसति) निवास करते है—ससारसागर मे ही परिभ्रमण करते रहते हैं, (नरयतिरि-यनरअमरगमणपेरतचक्कवाल) नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतियो मे गमन करना ही ससार सागर की बाह्य परिधि हे, (जम्मजरामरणकरणगभीरदुक्खपक्खुभियपउरसलिल) जन्म, जरा, मृत्यु के कारण होने वाला गभीर दु ख ही जिस ससार-सागर का क्षुब्ध प्रचुर जल है, (सजोगविजोगवीचीचिंतापसगपसरियवह-वधमहल्लविपुलकल्लोलकलुण-विलवितलोभकलकलितबोलबहुल) जिस ससारसमुद्र मे सयोग और वियोगरूपी लहरें हैं, निरन्तर चिन्ता ही उनका फैलाव है, वध और बधन ही जिसमे लबी-लबी विस्तीर्ण कल्लोल-तरगें है तथा करुणापूर्ण विलाप और लोभ की कलकल ध्वनि का प्राचुर्य हे। (अवमाणणफेण) जहाँ अपमानरूपी फेन—झाग हैं, (तिव्वखिं-सणपुलपुलप्पभूयरोगवेयणपराभवविणिपातफरुसधरिसणसमावडियकठिणकम्मपत्थरतरग-रगतनिच्चमच्चुभयतोयपट्ठ) तीव्र निन्दा, बारबार उत्पन्न होने वाले रोग, वेदना, तिर-स्कार, अपमान, नीचे गिरा देना, कठोर झिडकियाँ—डाटडपट जिनसे प्राप्त होते हैं, ऐसे

कठोर ज्ञानावरणीय आदि कर्मरूपी पत्थरो से उठी हुई तरगो के समान चचल एव हमेशा मृत्यु और भयरूप ससार-समुद्र के जल का तल—सतह हे। (कसायपायाल-सकुल) जो ससारसागर कषायरूप पातालकलशो से व्याप्त है, (भवसयसहस्सजलसचय) लाखो भवो जन्ममरणो की परम्परा ही उसकी अगाध जलराशि है, (अणत) जो अनन्त हे (उव्वेयजणय) उद्वेगजनक हे (अणोरपार) तटरहित होने से आरपाररहित है, (महब्भय) दुस्तर होने से महाभयानक है, (भयकर) भय पैदा करने वाला है, (पइभय) प्रत्येक प्राणी के हृदय मे एक दूसरे प्राणी द्वारा प्रतिभय पैदा करने वाला है, (अपरिमियमहिच्छकलुसमतिवाउवेगउद्धम्ममाणआसापिवासपायालकामरतिरागदोस-बधणवहुविहसकप्पविपुलदगरयरयधकार) वडी-वडी असीम इच्छाओ और मलिन बुद्धिरूप हवाओ के प्रचड वेग से उत्पन्न हुए तथा आशा [अप्राप्त पदार्थ को पाने की सम्भावना] और पिपासा [प्राप्त अर्थ को भोगने की आकाक्षा] रूप पाताल—समुद्रतल से कामरति-शब्दादिविषयो के प्रति राग और द्वेष के बन्धन के कारण अनेक प्रकार के सकल्परूपी प्रचुर जलकणो के वेग से जो अन्धकारमय हो रहा है, (मोहमहावत्तभोगभममाणगुप्पमाणुच्छलतवहुगब्भवासपच्चोणियत्तपाणिय) जिस ससार समुद्र के जल में प्राणी मोहरूप महान भवरो में भोगरूपी गोल चक्कर खा रहे है, व्याकुल होकर उछल रहे हें तथा वहुत-से बीच के हिस्से मे फैलने के कारण ऊपर उछल कर फिर नीचे गिर रहे हैं, (पधाविनवसणसमावन्नरुन्नचडमारुयसमाहयामणुन्न-वीचीवाकुलितभगफुट्टतनिट्ठकल्लोलसकुलजल) जिस समुद्र मे इधर-उधर दौडते हुए व्यसनो से ग्रस्त व्यसनी प्राणियो के रुदनरूपी प्रचण्ड वायु से परस्पर टकराती हुई अमनोज्ञ लहरो से व्याकुल तथा तरगो से फूटता हुआ, चचल कल्लोलो से व्याप्त जल हे, (पमादवहुचडदुट्ठसावयसमाहयउद्धायमाणपूरघोरविद्धसणत्थवहुल) जो प्रमादरूप अत्यन्त भयकर दुष्ट हिंसक जन्तुओ से सताये गये तथा नाना चेष्टाओ से उठते हुए मनुष्यादि या मत्स्यादि जतुओ के समूह का विध्वस करने वाले घोर अनर्थो से परिपूर्ण है, (अण्णाणभमतमच्छपरिहत्थ) जिसमे भयकर अज्ञानरूपी वडे-वड़े मच्छ घूम रहे हें, (अनिहुतिंदिय-महामगर-तुरियचरिय-खोखुब्भमाणसतावनिचयचलत-चवलचचल-अत्ताणऽसरणपुव्वकयकम्मसचयोदिन्नवज्जवेइज्जमाणदुहसयविपाकघुन्नत-जलसमूह) अनुपशान्त इन्द्रियो वाले जीवरूपी महामगरो की शीघ्र चेष्टाओ से जो अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है, तथा जिसमे सतापो का समूह है, ऐसा प्राणियो के द्वारा पूर्वसचित पाप-कर्मों के उदय से प्राप्त कर्मो का भोगा जाने वाला फलरूपी घूमता हुआ जलसमूह है, जो चपला के समान अत्यन्त चचल और चलता रहता हे, त्राण-

रहित है, शरण रहित है, (इड्ढिरससायगारवोहारगहियकम्मपडिबद्धसत्तकढिज्जमाण-निरयतलहुत्तसन्नविसन्नबहुल) ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातागौरव के रूप मे प्राणियो के अहकारयुक्त अशुभ अध्यवसायविशेषरूप अपहार-हिंसक जलजन्तुविशेष से इसमे कर्मविशिष्ट प्राणी पकडे जाते है तथा नरकरूप पाताल के सम्मुख खींचे जाते है, इस प्रकार खेद और विषादयुक्त जीवो से भरा हुआ यह ससार-समुद्र है, (अरइ-रइ-भय-विसाय-सोग-मिच्छत्तसेलसकड) यह अरति, रति, भय, विषाद, शोक और मिथ्यात्वरूपी पर्वतो से व्याप्त है, (अणाइसताणकम्मबधणकिलेसचिक्खिल्लसुदुत्तार) इसमे अनादिकालीन प्रवाह वाले कर्मबन्धन एव रागादि क्लेशरूपी कीचड है, जिसके कारण यह बडी कठिनाई से पार किया जाता है, (अमर-नर-तिरिय-निरयगतिगमण-कुडिलपरियत्तविपुलवेल, देवगति, मनुष्यगति, तिर्यचगति और नरकगति मे गमनरूप कुटिल टेढीमेढी चक्राकार घूमने वाली इसकी विस्तीर्ण वेला है, (हिंसालिय-अदत्तादाण-मेहुण- परिग्गहारभकरणकारावणाणुमोदण - अट्ठविहअणिट्ठकम्मपिडित-गुरुभारक्कतदुग्गजलोघदूरनिबोलिज्जमाण-उमग्गनिमग्गदुल्लभतल) हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और आरम्भ के करने, कराने और अनुमोदन द्वारा सचित अनिष्ट अष्टविधकर्मों के अत्यन्त भार से दबे हुए तथा व्यसनरूपी जलप्रवाह द्वारा दूर फेंके हुए तथा इसी जल मे डूबते-उतराते हुए जो प्राणी हैं, उनके लिए इस ससारसमुद्र का तल (पैदा) पाना अत्यन्त दुर्लभ है, (सारीरमणोमयाणि) शारीरिक और मानसिक, (दुक्खाणि) दु खो को,(उप्पियता) भोगते हुए (सायस्सायपरितावणमय) सुख और दु ख से उत्पन्न परिताप-सतापरूप (उब्बुड्ड-निब्बुड्डय करेंता) डूबने व फिर ऊपर उभरने का जिसमे पराक्रम करते हैं, (चउरतमहत) चार दिशा और चारगति के भेद से जो महान है, (अणवयग्ग) अनन्त, अन्तरहित है, (रुद्द) विस्तीर्ण है, (अट्ठिय अणालबण अपतिट्ठाण) सयम मे अस्थिर जीवो के लिए जहा कोई सहारा नहीं है, ठहरने का कोई स्थान या सुरक्षा के लिए स्थान नहीं है, यानी ससारसमुद्र असयमी जीवो का आधाररूप है। (अप्पमेय) अल्पज्ञो-असर्वज्ञो के ज्ञान का अगोचर—अविषय है, (चुलसीतिजोणिसय-सहस्सगुविल) चौरासी लाख जीवयोनियो से व्याप्त है, (अणालोकमधकार) जहाँ अज्ञान का अधकार है, (अणतकाल) जो ससारसमुद्र अनन्तकाल तक स्थायी है। वह ससारसागर (उव्विग्गावासवसहिं) उद्विग्न प्राणियो के निवास की भूमि है, (जहिं) जहाँ जिस-जिस गाँव, कुल आदि की (पावकम्मकारी) पापकर्म करने वाले ससारी जीव (आउय निबधति) आयुष्य बाधते है, वहाँ पर वे, (वधवजणसयणमित्तपरि-

वज्जिया) भाई आदि वधुओ, पुत्र आदि स्वजनो और मित्रो से रहित और (अणिट्ठा) सव लोगो के अप्रिय (नर्वात) होते हैं, (अणादेज्जवुव्विणीया) उनकी आज्ञाएँ या वचनो को लोग ठुकरा देते ह, वे दुर्विनीत होते हैं, (कुठाणासण-कुसेज्ज-कुभोयणा) उन्हे खराव स्थान, खराव आसन, वुरी शय्या, रद्दी भोजन मिलता है, (असुइणो) वे गदे और अपवित्र होते हैं, अथवा श्रुति-शास्त्र के ज्ञान से रहित होते है, (कुसघयण-कुप्पमाण-कुसठिया) वे निकृष्ट सहनन (शारीरिक ढांचे) वाले, कद के या तो वहुत ही ठिगने वौने होते हैं या वहुत लवे होते हैं, कुसस्थान वाले—हु डक आदि विकृत आकार के वेडौल होते है, (कुरूवा) कुरूप होते हैं, (वहुकोहमाणमायालोभा) उनमे अत्यन्त क्रोध, अत्यन्त अभिमान, अतिमाया—छलकपट और तीव्र लोभ होता है, (वहुमोहा) वे अत्यन्त मोह—आसक्ति से ग्रस्त होते हैं, अथवा अत्यन्त मूढ होते हैं, (धम्मसन्नसम्मत्तपरिब्भट्ठा) धर्मवुद्धि और सम्यग्दर्शन—सम्यक्त्व से भ्रष्ट होते हैं, (दरिद्दोवद्दवाभिभूया) वे दरिद्रतारूपी उपद्रव के सताए हुए होते है, (निच्च परकम्मकारिणो) वे हमेशा दूसरो के ही आज्ञाधीन रह कर काम करने वाले नौकर होते ह, (जीवणत्थरहिया) जिंदगी—गुजरवसर करने लायक द्रव्य या साधनो से रहित होते हैं, (किविणा) कृपण होते हैं या रक—दयापात्र या दयनीय होते हैं, (परपिंडतक्कका) दूसरो के द्वारा दिये जाने वाले भोजन की ताक मे रहते हैं, (दुक्खलद्धाहारा) वडी मुश्किल से आहार पाते हैं, (अरसविरसतुच्छकयकुच्छिपूरा) जैसे-तैसे रूखे-सूखे, नीरस तुच्छ भोजन से वे अपना पेट भर लेते हैं, (परस्स) दूसरो की (रिद्धि-सक्कार-भोयणविसेससमुदयविहि पेच्छता) ऋद्धि-वैभव, प्रतिष्ठा-सत्कार-सम्मान, भोजन, वस्त्र, मकान आदि का रहन-सहन व पद्धति देख कर, (अप्पक निवता) अपने आपको कोसते हैं या अपनी निंदा-भर्त्सना करते हैं, (य) और (कयत) अपने भाग्य को (य) और (इह पुरेकडाइ पावगाइ कम्माइ परिवयता) इस जन्म मे या पहले के जन्मो मे किये हुए पापकर्मों को कोसते है—धिक्कारते हैं (विमणसो) मलिन मन होकर (सोएण) शोक-अफसोस से, (डज्झमाणा) जलते हुए (परिभूया) तिरस्कृत-लज्जित या दु खित (होति) होते हैं (य) और (रिवज्जिया) सत्त्व से रहित-वेदम, (छोभा) क्षुब्ध हो जाने वाले—कुढ़ने वाले—चिडचिडे स्वभाव के, (सिप्पकलासमयसत्थपरिवज्जिया) चित्र आदि शिल्पकला से अनभिज्ञ, धनुर्वेद आदि विद्याओ से शून्य और जैन, वौद्ध आदि शास्त्रो-सिद्धान्तो के ज्ञान से रहित, (जहा-

जायपसुभूया) जन्मजात अज्ञानी पशु के समान जडता के प्रतिनिधि, (अवियत्ता) अप्रतीति पैदा करने वाले, (निच्च नीयकम्मोपजीविणो) हमेशा नीच कर्मो से अपनी जीविका चलाने वाले (लोयकुच्छणिज्जा) लोक मे निन्दनीय, (मोघमणोरहा) विफल-मनोरथ वाले, (निरासबहुला) अत्यन्त निराशा से युक्त, (आसापासपडिवद्धपाणा) उनके प्राण अनेक आशाओ के पाश से बधे रहते हैं (य) और (लोयसारे) लोक मे सारभूत (अत्थोपायण-कामसोक्खे) अर्थोपार्जन तथा काम-भोगो के सुख मे (सुट्ठु उज्जमता वि य) भलीभाति उद्यम करने पर भी (अफलवतका) असफल (होंति) होते है। (तद्दिवसुज्जुत्तकम्मकयदुक्खसठवियसित्थपिंडसचया) जिस-जिस दिन वे उद्यम करते हैं,उस-उस दिन बहुत काम करने और कष्ट सहने पर भी वे मुश्किल से सत्तु के पिंड का ही सचय कर पाते हैं अथवा अनाज के कणो का समूह कठिनाई से सग्रह कर पाते हैं (पक्खीणदव्वसारा) उनका सारभूत द्रव्य नष्ट हो जाता है, (निच्च अधुवधण-धण्णकोसपरिभोगवज्जिया) अस्थिर धन, धान्य और कोष के परिभोग से वे हमेशा ही वचित रहते है, (रहियकामभोगपरिभोगसव्वसोक्खा) शब्दरूपादि काम और गन्ध-रसस्पर्शरूप भोग के एक बार या बारबार सेवन के तमाम सुखो से वे वचित ही रहते हैं, बेचारे (परसिरिभोगोवभोग-निस्साण-मग्गणपरायणा) दूसरो की लक्ष्मी के भोग-उपभोग को अपने अधीन करने की फिराक मे लगे हुए वे (वरागा) बेचारे (अकामिकाए) नाहक ही, विना मतलब के, नहीं चाहते हुए भी, (दुक्ख विणेंति) दु ख ही पाते हैं, (णेव सुह णेव निव्वुतिं) वे न तो सुख पाते हैं और न शान्ति—मानसिक स्वस्थता (उवलभति) पाते हैं। (जे परस्स दव्वाहिं अविरया) सच है, जो दूसरो के द्रव्यो के प्रति विरत नहीं हुए, वे, (अच्चतविपुलदुक्खसयसपलित्ता) वे अत्यन्त मात्रा मे सैकडो दु खो से सतप्त होते रहते हैं।

(एसो) यह, पूर्वोक्त (अदिण्णादाणस्स) चोरी का (फलविवागो) फलविपाक—उदय मे आया हुआ कर्मफल है, जो (इहलोइयो) इस लोकसम्बधी है, (पारलोइओ) परलोक-सम्बन्धी भी है, (अप्पसुहो बहुदुक्खो) अल्पसुख और अत्यन्तदु.ख का कारण है, (महब्भओ) यह महाभयानक हे, (बहुरयप्पगाढो) बहुत गाढ कर्मरूपी रज वाला हे, (दारुणो) घोर है, (कक्कसो) कठोर है, (असाओ) दु खमय हे, (वाससहस्सेहिं मुच्चति) हजारो वर्षा मे जा कर छूटता है। (न य अवेदयित्ता मोक्खो अत्थि) इसे भोगे विना कोई छुटकारा नहीं होता।

(इति एव) इस प्रकार (णायकुलनदणो) ज्ञातकुल मे उत्पन्न हुए, (महप्पा)

महात्मा, (वीरवरनामधेज्जो) महावीर नाम के (जिणो उ) तीर्थंकर वीतरागदेव ने, (आहसु) कहा है (य) पुन (अदिण्णादाणस्स) अदत्तादान के (एय) इस (त ततिय) पूर्वोक्त तीसरे (फलविवाग पि) फलविपाक को भी उन्हीं भगवान् ने कहा है। इस प्रकार यह अदत्तादान (हर-दह-मरण-भय-कलुस-त्तासण-परसतिकभेज्जलोभमूल) परधनहरण, दहन, मृत्यु, भय, मलिनता, त्रास, रौद्रध्यान-सहित लोभमूलक है, यानी ये सब इसकी जडें है। (एव) इस प्रकार (जाव) यावत् (चिरपरिगतमणुगत दुरत) चिरकाल से प्राप्त,अनादि परम्परा से पीछे लगा हुआ और दु ख से अन्त होने वाला है। इस प्रकार (ततिय अधम्मदार समत्त) यह तीसरा अधर्म द्वार समाप्त हुआ। (तिबेमि ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वे कैदी वही मर जाते है, यद्यपि वे मरना नही चाहते, लेकिन पूर्वोक्त कठोर दड के कारण उनकी वही अकाम (अकाल) मृत्यु हो जाती है। मरने पर अथवा मरणासन्न स्थिति मे उनके पैरो में कसकर रस्सी वाध दी जाती है और उन्हे जेलखाने से वाहर खीच कर निकाला जाता है औरगहरी खाई मे फेक दिया जाता है। वहाँ उनकी लाशो पर भेडियो, कुत्तो, गीदडो, सूअरो और वनविलावा के झु ड के झु ड टूट पडते ह और उधर से सडासी के समान मु ह वाले पक्षियो की कतार आती है और उन सवके नाना प्रकार के सैकडो मु ह उनके शरीर को नोच-नोच कर टुकडे-टुकडे कर डालते है। कई लाशो का वाज और गीध सफाया कर देते ह। कई अपराधियो के शरीर मे कीडे पड जाते है, जिससे उनका सारा शरीर सड जाता है। उनकी इस प्रकार की कुमौत से सतुष्ट जन निम्नोक्त अशुभ उद्गार निकालते हे—'अच्छा किया, वहुत ठीक हुआ, जो यह पापी मर गया।' इस प्रकार कई उन पर वचनो से ताने कसते हे और प्रसन्न हो कर उनकी लाशो को पीटते हे अथवा उनके विपय मे निन्दात्मक मौखिक ढिंढोरा पीटते है। उन कुलागारो को मरने के वाद दूसरो के द्वारा ही नही, अपने स्वजनो द्वारा भी इस प्रकार धिक्कारा और लज्जित किया जाता है। अथवा मरने के वाद भी दीर्घकाल तक उनके गाव के ही नही, परिवार के लोगो को भी लज्जित होना पडता है।

मरने के वाद परलोक मे पहुँच जाने पर भी वे चोर अशुभ व असातावेदनीय कर्म के उदय से ऐसे बुरे नरक मे जा कर उत्पन्न होत हे, जहाँ जलते अगारो के समान तेज गर्मी है, और अत्यधिक ठड है, इस अवस्था मे वे निरन्तर सैकडो दु.खो से घिरे रहते है।

असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह एवं आरम्भ के करने, कराने और अनुमोदन द्वारा सचित आठ प्रकार के कर्मों के अत्यन्त बोझ से दबे हुए तथा व्यसनरूपी जल के प्रवाह के द्वारा अत्यन्त निमग्न हुए प्राणी ससारसागर मे डूबते-उतराते रहते हे, उन्हे इसका पैंदा (तलभाग) पाना अत्यन्त दुर्लभ है। जिसमे प्राणी शारीरिक और मानसिक दुख भोगते रहते हे। सासारिक सुख और दुख से उत्पन्न परिताप के कारण वे कभी इसके ऊपर-ऊपर तैरने और कभी डूबने की चेष्टाएँ करते रहते हे। चारो दिशाओ रूपी चार गतियो तक इसका अन्त—किनारा होने से यह ससारसागर महान् है, अन्तरहित है, विस्तीर्ण है। सयम मे अस्थिर जीवो के लिए यहाँ आलबन—सहारा या सरक्षण नही है। यह अल्पज्ञो (छद्मस्थो) के ज्ञान का विपय नही है, यह चौरासी लाख जीवयोनि से भरा है। यहाँ पर अज्ञानरूपी अधेरा है, यह अनन्तकाल तक स्थायी है और नित्य है।

इस ससारसमुद्र की उद्विग्न-निवास वाली जगह मे रहने वाले पापकर्म करने वाले प्राणी जिस किसी गाँव या कुल आदि का आयुष्य बाधते है, वहाँ पर पैदा होकर वे भाई आदि बन्धुओ, पुत्र आदि स्वजनो और मित्रो से रहित होते है, वे जनता को अप्रिय लगते है, उनके वचनो को कोई मानता नही, वे स्वय दुर्विनीत होते है। उन्हे खराब से खराब स्थान, खराब आसन, खराब शय्या (खाट,बिछौने आदि) और रद्दी भोजन मिलता है। वे स्वय गदे, घिनौने और आचरण से अशुद्ध होते है अथवा शास्त्रज्ञान से हीन होते है। उनको शरीर का सहनन-गठन खराब मिलता है, उनका कद ठीक नही होता, उनको शरीर का ढाचा बहुत ही हलका मिलता है, वे अत्यन्त बदसूरत होते है, वे अत्यन्त क्रोधी, मानी, मायी और लोभी होते है, वे अत्यन्त आसक्ति वाले या मूढ होते है। वे धर्मसज्ञा (सस्कारिता) और सम्यक्त्व से कोसो दूर होते है, दरिद्रता का उपद्रव उन्हे सदा सताता रहता है। वे हमेशा दूसरो के आज्ञाधीन रह कर काम करते है। वे जीवन के साधनरूप अर्थ से रहित होते हे अथवा मनुष्यजीवन के लक्ष्य—प्रयोजन से अनभिज्ञ होते है, वे कृपणरक या दयनीय होते है, हमेशा दूसरो से भोजन पाने की ताक मे रहते है, बडी मुश्किल से भरपेट भोजन पाते है। उन्हे जो भी नीरस, रूखा-सूखा और तुच्छ आहार मिल जाता है, उसी को अपने पेट मे डाल लेते है। वे सदा दूसरो

का मुह ताकते रहते हैं अथवा दूसरों के वैभव ठाठवाठ, इज्जत, मानमर्तबो, भोजनसामग्री, रहन-सहन एव शान शौकत को बढती देख-देख कर अपनी निन्दा करते है,अपने भाग्य को तथा अपने पूर्वकृत कर्मों को कोसते है,धिक्कारते है। इस जन्म मे और पूर्वजन्मो मे किये हुए अपने पापकर्मों का विचार करके वे उन्मना और उदास हो जाते है और शोक-अफसोस से जलते हुए मुर्झाए रहते है। किसी बात का दम न होने से वे चिडचिडे और क्षुब्ध से हो जाते है। वे चित्र आदि शिल्पकला (हुन्नर) या धनुर्वेदादि भौतिक विज्ञान तथा जैन-बौद्ध आदि धर्मों के सिद्धान्तज्ञान से रहित होते हैं। जन्मजात नगधडग पशुओ की सी उनकी जिंदगी होती है। वे अप्रतीति पैदा करने वाले होते है। सदा नीच कर्म करके ही वे अपनी जीविका चलाते है। वे लोक मे निन्दनीय और असफल मनोरथ होते हैं, उनके जीवन मे प्राय निराशा होती है, उनके प्राण विविध आशाओ के पाश मे बधे रहते है। जगत् मे सारभूत अर्थोपार्जन और कामभोगो के सुखो के लिए वे वडी अच्छी तरह से परिश्रम करते है, लेकिन कभी सफल नहीं होते। यही नहीं, रोजाना सारे दिन किसी काम मे लगे रहने पर भी वडे कष्ट से अनाज का पिंड इकट्ठा कर पाते है। उनका सारभूत द्रव्य नष्ट हो जाता है, वे अस्थिर धन, धान्य और कोश के उपभोग से सदा ही वचित रहते है, काम (रूप और शब्द के विपयो) तथा भोग (गन्ध, रस और स्पर्श के विपयो) के वार-वार सेवन से होने वाले सुख से वे रहित होते है। हमेशा वे (पूर्व सस्कारवश) दूसरो की लक्ष्मी के भोग और उपभोग को अपने अधीन करने की फिराक मे रहते है, न चाहते हुए भी बेचारे दु ख पाते रहते हैं। वे न तो सुख ही पाते है और न शान्ति ही। सारांश यह है कि दूसरे के द्रव्यो को हरण करने की इच्छा से जो विरत नही होते, वे अत्यन्त प्रचुर सैकडो दु खो से पीडित और सतप्त रहते है।

यह पूर्वोक्त अदत्तादान का फलविपाक (कर्मफल) इस लोकसम्बन्धी तथा परलोकसम्बन्धी अल्पसुखद और वहुत दु खप्रद है, महाभयानक है, प्रगाढ कर्मरज से ओत-प्रोत है, दारुण है, कठोर है तथा दु खमय है। यह हजारो वर्षों मे जा कर छूटता है, और बिना भोगे इससे छुटकारा नही हो सकता।

इस प्रकार ज्ञातकुल के नन्दन महात्मा महावीर नामक जिनेन्द्रदेव तीर्थ-

और सुसस्कार मिले, जिससे कि वे कर्मों को भोगने के समय भी समभाव रखते तो अकामनिर्जरा के वदले सकामनिर्जरा होती , यानी सवर पूर्वक कर्मों का क्षय जडमूल से हो जाता ।

मतलव यह है कि नरक-तिर्यञ्चगतियो मे उपर्युक्त शुद्ध वातावरण न मिलने के कारण अशुभ कर्मों का क्षय पूर्णतया न हो सका, हा, कुछ क्षय हुआ तभी तो उनके पुण्यकर्मों का अश अधिक होने से उन्हे मनुष्यजीवन मिला। परन्तु पहले के उन जन्मो मे अशुभकर्मो का वे पूरा क्षय न कर सके , वहाँ भी परस्पर कपाय, राग, द्वेप, वैरविरोध, सघर्प आदि के कारण अशुभकर्मों का नया जत्था और इकट्ठा कर लिया। इस कारण मनुष्यजन्म मे उन अवशिष्ट अशुभकर्मों के फलस्वरूप प्रतिकूल वातावरण व प्रतिकूल परिस्थितियाँ मिली। इसलिए मनुष्यजन्म पा कर भी कोरे के कोरे बने रहे। मनुष्यजन्म मे भी पूर्वजन्मो के कुसस्कारवश पुन हिंसा आदि कुमार्गों को अपना कर नरक मे जाने की सामग्री इकट्ठी कर ली। उन्होने मनुष्यभव मे भी जन्ममरण की परम्परा घटाने के वजाय वढा ली। आशय यह है कि एक वार आत्मा का पतन हो जाता है तो उसका पुन उठना वहुत ही कठिन होता है। नीतिकार भर्तृहरि ने तो स्पष्ट कहा है—

'विवेकभ्रष्टाना भवति विनिपात' शतमुखः ।' 'विवेक से भ्रष्ट लोगो का शतमुखी पतन हो जाता है।'

एक बार आत्मा विवेकभ्रष्ट हुई कि फिर वह उत्थान के साधनो से सदा वचित रहती है , उन्नति और विकास के अवसर उसे नही मिल पाते। कदाचित् मिल भी भी जाय तो वह उस ओर झाकता भी नही, या उनसे लाभ नही उठा पाता। इसी कारण उसे सदा के लिए फिर पतन के ही निमित्त मिलते जाते है।

शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि जो मनुष्यजन्म पा कर चोरी आदि पापकर्मों को एक वार अपना लेता है , और जीवन के अन्तिम समय तक अपने पापो का कोई पछतावा या आलोचना आदि नही करता, शुद्धि का मार्ग नही अपनाता , वह पापवुद्धि मरने के वाद नरक या तिर्यंच मे जहाँ कही भी जाता है, उसे कोई सद्वोध, सुसस्कार, सम्यक्त्व या सत्सग मिलना दुर्लभ होता है। उसकी वुद्धि पर कर्मो का आवरण इतना छा जाता है कि उसे वह ये चारो उत्तम वाते प्राप्त ही नही होने देता। धर्मसस्कार की वातें उसे नही सुहाती, सत्सग करना उसे आग के पास जाने-सा लगता है, सद्वोध उससे उलटा लगता है और सम्यक्त्व तो उपादान शुद्ध हुए विना प्राप्त ही नही होता। हाँ, श्रेणिकराजा की तरह यदि ये मनुष्यलोक से ही क्षायिक सम्यक्त्व साथ मे ले कर नरक मे जाते तो उनके लिए नरक अशुभकर्मों को क्षय करने की स्थली—तपोभूमि वन जाता। नरक तो दूर रहा , इस लोक मे भी उनके जीवन मे सम्यक्त्व होता, तो चोरी जैसे कुकर्मपथ मे एकाध वार चढ जाने पर भी

वे पश्चात्ताप करते, उसका प्रायश्चित्त लेते, अपना अपराध जाहिर में प्रकट करके या चोरी का माल उसके मालिक को वापिस लौटा कर या माल न रहा हो तो उसके मालिक के सामने विनय, क्षमायाचना और अपराध स्वीकार करके उसकी क्षतिपूर्ति करते। इस प्रकार शुद्ध हो कर जीवन विताते। परन्तु ऐसे हठी चोरों का हृदयपरिवर्तन होना अत्यन्त दुष्कर होता है।

इसलिए मिथ्याज्ञान का स्वीकार करके वे चोर जब एक बार अनार्यकर्म मे प्रवृत्त हो जाते हैं तो फिर वे उन्ही पापकर्मो से बलात् प्रेरित हो कर वैसे ही पापकर्म पुन पुन करते जाते हैं और उन्ही नरक-तिर्यञ्चगतियो मे परिभ्रमण करते रहते है। ऐसे गुरुकर्मा जीवो के उत्थान के मार्ग मे यदि सबसे भयकर कोई रोडा है तो वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के कारण सद्बोध न होने से जीव बार-बार नरकादि योनियो मे भटकता रहता है। यही आत्मा का सबसे बडा शत्रु है। यदि चोर अपने मिथ्यात्व को छोड दे तो शीघ्र ही उत्थान के मार्ग पर आ सकता है। किन्तु मिथ्यात्व का पल्ला न छोडने के कारण वह ससारसागर मे गोते लगाता रहता है।

यही कारण है कि शास्त्रकार आगे चल कर मूलपाठ मे इसी बात को द्योतित करते हैं—'नरग-तिरिय-नर-अमरगमणपेरतचक्कवाल ससारसागर निच्च उत्तत्थ-सुण्णभयसण्णसपउत्ता वसति।' इसका भावार्थ यह है कि वे जन्म-मरण के चक्र से अत्यन्त तग आ कर दिशाशून्य एव भयादि सज्ञाओ के वशीभूत हो कर और कोई रास्ता न पाकर अनन्त काल तक उसी ससारसागर मे जन्ममरण के गोते लगाते रहते हैं। यहाँ शास्त्रकार ने ससार के साथ समुद्र की तुलना करके गुरुकर्मा जीव की मनोदशा तथा जीवन की स्थिति का सुन्दर विश्लेषण किया है। यह वर्णन मूलार्थ व पदार्थान्वय मे स्पष्ट है। यहाँ इस पर अधिक विवेचन की आवश्यकता नही।

मानवजीवनप्राप्ति के बाद भी भयकर सजा—मनुष्य का जीवन इतना उत्तम जीवन है कि इस जीवन मे मनुष्य चाहे तो सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र एव तपत्याग के द्वारा पूर्वकर्मो का क्षय करके अपना जीवन शुद्ध बना कर मोक्षप्राप्ति कर सकता है, किन्तु पूर्वजन्मो मे की हुई चोरी जैसी निन्द्य प्रवृत्ति का फल लाखो जन्मो मे भोगने के पश्चात् मनुष्यजन्म पा लेने पर भी चोर को सच्ची राह नही मिलती। इसलिए मनुष्यजन्म अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होने पर भी उसे पूर्वकृत अशुभ आचरण की सजा मिलती है और वह मनुष्य समाज मे तिरस्कृत, निन्दित, अपमानित, घृणित और दीन-हीन जीवन बिताता हुआ जैसे-तैसे कष्टमय जिंदगी पूरी करता है। वह अपनी दुर्दशा पर आसू बहाता है, अपने को कोसता है, दूसरो के

वैभव,सत्कार, ठाठबाठ आदि को देख कर तरसाता है, परन्तु पा कुछ भी नही सकता। क्योकि उसने चोरी जैसे कुकर्म को किसी जन्म मे अपना कर हजारो का धनहरण किया, उन्हे लूटा, खसोटा, सताया, मार डाला और उनका घरबार जला दिया। क्या उसका फल उसे वैसे ही रूप मे नही मिलेगा ? अवश्य मिलेगा ! इसीलिए कई जन्मो पूर्व का वह चोर अब खुद लुटता है पिटता है, दरिद्र बनता है, मन मे जलता है, घोर अन्तराय कर्म के उदयवश वह कुछ भी प्राप्त करने मे असमर्थ रहता है, अज्ञ, मूढ, नीच और कुसस्कारी बनता है।

इसी बात को शास्त्रकार मूलपाठ द्वारा उद्घोपित करते है—'**उव्विगावासवसहिं पावकम्मकारी णेव सुह णेव निव्वुतिं उवलभति, अच्चतविउलदुक्खसयसपलित्ता अविरया।**' इसका अर्थ मूलार्थ तथा पदार्थान्वय मे स्पष्टरूप से किया जा चुका है।

मतलब यह है कि मनुष्य चाहे जैसा कुकर्म करके यहाँ सरकार, समाज या कुल की आँखो मे धूल झोक दे, फलत दड से स्पष्ट बच जाय, सजा से साफ बरी हो जाय, लेकिन वे दुष्कर्म उसका पीछा नही छोडते। वे कही न कही, उसे उसका फल भुगवा कर ही छोडते है। वहाँ किसी की पेश नही चलती। कई बार तो ऐसे दुष्कर्म का फल हाथोहाथ इसी जन्म मे मिलता देखा जाता है। किसी ने किसी के लडके की हत्या की, उसका इकलौता लडका मर गया। किसी ने किसी गरीब सच्चरित्र व्यक्ति को लूटा या उसका घरबार नीलाम करवा दिया, उसकी दुराशीप के फलस्वरूप उस पापकर्म करने वाले का भी धन बीमारी, मुकद्दमेबाजी या अन्य कामो मे खर्च हो गया और वह कगाल हो गया, असाध्य बीमारी का शिकार हो गया। कर्मों के आगे किसी की पेश नही चलती। अत जो यहाँ स्वय ही अपने कृत कर्मों पर विचार करके शुद्ध हृदय से उसका प्रायश्चित्त कर लेता है वह अपने गाढ बन्धनो को हलका कर सकता है।

परन्तु यदि कोई जिद्द ठान कर अपने दुष्कर्मों मे दिनोदिन वृद्धि करता जाता है , हसते-हसते बेखटके पापकम करता जाता है, तो उसका फल उसे रो-रो कर भोगना पडता है। शास्त्रकार स्वयमेव कहते ह—'**न य अवेदयित्ता अत्थि उ मोक्खोत्ति**' अर्थात्—उन दुष्कर्मों का फल भोगे बिना कोई छुटकारा नही। इसमे किसी के साथ भी कोई रियायत नही होती।

'**एवमाहसु कहेसी य अदिण्णादाणस्स फलविवाग एय**'—इसका अर्थ स्पष्ट है। इस बात से तीर्थंकर प्रभु महावीर स्वामी के प्रति शास्त्रकार ने अपनी विनय-भक्ति प्रदर्शित की है , और इन बातो को उन वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के द्वारा प्रतिपादित बता सारे वर्णन पर प्रामाणिकता की छाप लगा दी ह।

एय त ततिय पि अदिन्नादाण दुरत'—इस सूत्रपाठ का उपसहार करते हुए शास्त्रकार अदत्तादान की भयकरता और अशान्ति-दु खप्रदता वता कर पुन विवेक जगाते है। यह शास्त्रकार का पुनरुक्तिदोप न समझ कर आप्तपुरुप द्वारा अपने स्वजन को वार-वार समझाने के समान ससारी प्राणियो के लिए वार-वार दिया गया हितोपदेश समझना चाहिए।

इस प्रकार श्री प्रश्नव्याकरणसत्र की सुवोधिनी व्याख्या सहित तीसरे अधर्मद्वार के रूप मे अदत्तादान आश्रव नामक तृतीय अध्ययन पूर्ण हुआ।

चतुर्थ अध्ययन : अब्रह्मचर्य-आश्रव

अब्रह्मचर्य का स्वरूप

तीसरे अध्ययन मे तृतीय अधर्म—अदत्तादान आश्रव का वर्णन किया गया था। अब इस चौथे अध्ययन मे शास्त्रकार चतुर्थ अधर्म— अब्रह्मचर्य आश्रव का वर्णन करते है। प्राय यह देखा जाता है कि जो मनुष्य अपनी इन्द्रियो और मन पर सयम नही रखता, इन्द्रियविषयो मे अत्यधिक आसक्त रहता है, अब्रह्मचर्य मे प्रवृत्त होता है, वही प्राय चोरी किया करता है। इसलिए प्रसगवश अदत्तादान के पश्चात् अब्रह्मचर्य का निरूपण किया जा रहा है। शास्त्रकार की प्रतिपादनशैली यह रही है कि किसी भी वस्तु का पूर्ण निरूपण करने के लिए वे स्वरूप, नाम आदि ५ द्वारो के जरिये वर्णन करते है। अत यहाँ भी पहले की भाति अब्रह्मचर्य का वर्णन करते समय शास्त्रकार पहले उसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

मूलपाठ

जबू ! अबंभ च चउत्थ सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पत्थणिज्ज, पकपणयपासजालभूय, थीपुरिसनपु सवेदचिध, तवसजमबभचेरविग्घ, भेदायतणबहुपमादमूल, कायरकापुरिससेविय, सुयणजणवज्जणिज्ज, उड्ढनरयतिरिय-तिलोक्कपइट्ठाण, जरामरणरोगसोगबहुल, वहवधविघात-दुव्विघाय, दसणचरित्तमोहस्स हेउभूय, चिरपरिचिय[1]मणुगय दुरत चउत्थ अधम्मदार ॥सू० १३॥

सस्कृतच्छाया

जम्बू ! अब्रह्म च चतुर्थं सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य प्रार्थनीयम्,

---

१ कही-कही इसके बदले 'चिरपरिगयमणाइकालसेविय' पाठ भी मिलता है।

—सपादक

पकपनकपाशजालभूतम्, स्त्रीपुरुषनपुसकवेदचिह्नम्, तप.सयमब्रह्मचर्य-विघ्नो, भेदायतनबहुप्रमादमूलम्, कातरकापुरुषसेवितम्, सुजनजनवर्जनीयम्, ऊर्द्ध्वनरकतिर्यक्त्रैलोक्यप्रतिष्ठानम्, जरामरणरोगशोकबहुलम्, वध-बन्ध-विघात दुर्विघातम्, दर्शनचारित्रमोहस्य हेतुभूतम्, चिरपरिचितम्, अनुगतम्, दुरन्त चतुर्थमधर्मद्वारम् ॥ सू० १३ ॥

पदार्थान्वय श्रीसुधर्मास्वामीजी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है—(जम्बू) हे जम्बू ! (चउत्थ च) चोथा, (अबभ) अब्रह्मचर्य—मैथुन, (सदेवमणुयासुरस्स) देव, मानव और असुरसहित (लोयस्स) लोक—ससार का, (पत्थणिज्ज) अभिलाषा करने योग्य है—वाछनीय है। (पकपणयपासजालभूय) यह पतला कीचड है, सूक्ष्म काई के समान चिपकने वाला, पाश-रूप तथा जालमय है, (थीपुरिसनपु सवेदचिंध) स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपु सकवेद ही इसका चिह्न है, (तवसजमबभचेरविग्घ) यह अनशन आदि तप पाच इन्द्रियो और मन पर के सयम और ब्रह्मचर्य के लिए विघ्नरूप हे। (भेदायतणवहुपमादमूल) चारित्रिक जीवन के नाश के आधार स्वरूप जो अनेक प्रकार के मदविषयकषायादि प्रमाद है, उनका मूल है। (कायरकापुरिससेविय) कष्टो से घबराने वाले कायर और निन्दनीय व्यक्ति ही इसका सेवन करते हैं। (सुयणजणवज्जणिज्ज) पापो से विरत जो सज्जन पुरुष है, उनके द्वारा त्याज्य हैं। (उड्ढनरयतिरियतिलोक्कपइट्ठाण) ऊर्द्ध्वलोक—देवलोक,अधोलोक— नरकलोक और मध्यलोक-तिर्यग्लोक के रूप मे जो त्रिलोक है, उसमे सर्वत्र इसकी अवस्थिति है। (जरामरणरोगसोगवहुल) यह बुढापा, मृत्यु, रोग और चिन्ता—शोक से प्रचुर है। (वधबधविघातदुव्विघाय) वध—मारने-पीटने, वध—बधन मे डालने और विघात-मार डालने पर भी जिसका नाश करना दुष्कर है। (दसणचरित्तमोहस्स हेउभूय) दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का कारणभूत है। (चिरपरिचिय) चिरकाल से से परिचित है। (अणुगय) निरन्तर पीछे लगा रहने वाला है (दुरत) इसका परिणाम दु खद है अथवा इसका अन्त कठिनाई से होता है। (चउत्थ अधम्मदार) ऐसा यह चौथा अधर्मद्वार हे।

मूलार्थ—गणधर श्रीसुधर्मास्वामीजी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है—जम्बू ! यह चौथा अब्रह्मचर्य मैथुनसेवन नामक आश्रव है। देव, मनुष्य और असुरसहित सारा लोक इसकी अभिलाषा (चाह) रखता है। यह मानव

जीवन को फसाने के लिए दलदल (पतला कीचड) है। पनक है, यानी काई के समान है, पाशरूप दृढ बधन है, और मायाजाल है। इसे पहिचानने के चिह्न स्त्रीवेद (स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की अभिलाषा), पुरुषवेद (पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा) और नपु सकवेद (स्त्री और पुरुष दोनो के साथ सहवास की वृत्ति) है। यह अनशन आदि बारह प्रकार के तप, इन्द्रियो और मन आदि पर के सयम और ब्रह्मचर्य मे विघ्न करने वाला है। चारित्रजीवन का नाश करने वाले मदविषयकषायादि बहुत-से प्रमादो की जड है। कष्टो से घबराने वाले कायर और निन्द्य पुरुष इसको हृदय से अपनाते है। श्रेष्ठजनो—पापो के त्यागी पुरुषो द्वारा यह त्याज्य है। स्वर्ग, नरक और तिर्यंग्—इन तीनो लोको मे यह प्रतिष्ठित—जड जमाए हुए—है। यह बुढापा, मौत, रोग और शोक—चिन्ताओ का कारण है। इससे सम्बन्धित व्यक्ति को मारने-पीटने, बन्धन मे डालने या जान से खत्म कर देने पर भी इसका सर्वथा नाश करना—मिटाना कठिन है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मबन्ध का हेतु यही है। यह जीव का अनादिकाल से परिचित है, जीव के साथ लगातार इसका सम्बन्ध रहा है और इसका अन्त (परिणाम) दु खदायी है अथवा दु ख से इसका अन्त किया जा सकता है। इस प्रकार का यह चौथा अधर्मद्वार है।

व्याख्या

तीसरे अधर्मद्वार—अदत्तादान-आश्रव के निरूपण करने के पश्चात् शास्त्रकार अब चौथे अधर्मद्वार—अब्रह्मचर्य-आश्रव का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम अब्रह्मचर्य का स्वरूप बताते है।

अब्रह्मचर्य का लक्षण—हिंसा, मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह-इन पाचो आश्रवो मे से अब्रह्मचर्य आश्रव का त्याग बडा ही दुष्कर है। बडे-बडे योगियो, साधको, त्यागियो और तपस्वियो को इसने पछाड दिया है। इसका चेप इतना गाढ है कि एक बार लगने पर जल्दो छूटता नही। कहा भी है—

'हरिहरहिरण्यगर्भप्रमुखे भुवने न कोऽप्यसौ शूर।
कुसुमविशिखस्य विशिखान् अस्खलयद् यो जिनादन्य ॥'

अर्थात्—'विष्णु, महेश और ब्रह्मा आदि से लेकर जितने भी ससार मे व्यक्ति है, उनमे सिवाय वीतराग के कोई ऐसा शूरवीर नही है, जिसने काम (अब्रह्मचर्य) के बाणो को व्यर्थ किया हो, यानी जो काम के बाणो का शिकार न हुआ हो।

अब्रह्म, काम, मैथुन, विषयसेवन, कुशील आदि सब समानार्थक शब्द है। ब्रह्म का अर्थ आत्मा या परमात्मा होता है। ब्रह्म यानी आत्मा या परमात्मा मे रमण करना अथवा आत्मा या परमात्मा की सेवा मे लगना ब्रह्मचर्य कहलाता है। जिस प्रवृत्ति मे आत्मा या परमात्मा को छोड कर इन्द्रियविषयो का ही आसक्तिपूर्वक सेवन होता हो, शरीर पर मूर्च्छा-ममता करके उसी की सेवा मे रातदिन लगे रहना होता हो, वह अब्रह्मचर्य है। जब मनुष्य शरीर और इन्द्रिया के लुभावने विषयो मे आसक्त हो जाता है तो सर्वप्रथम कामवासना या मैथुनसेवन की प्रवृत्ति की ओर ही झुकता है। फिर वह जननेन्द्रिय पर सयम नही रखता। यही अब्रह्मचर्य है, शीलभ्रष्टता है, मैथुनसेवन है और कामवासना की प्रवृत्ति है।

अब्रह्मचर्य के चिह्न—किसी व्यक्ति मे अब्रह्मचर्य की वृत्ति है या नही? इसकी पहिचान केवल उसको बाह्य वेशभूषा से ही नही होती। इसकी पहिचान के लिए शास्त्रकार ने तीन चिह्न बताए है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपु सकवेद—**'थीपुरिस-नपु सवेद-चिध**। जब तक स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा अन्तर्मन मे जागती हो, तब तक उसमे अब्रह्मचर्य की वृत्ति मौजूद है और उसको शास्त्रीय परिभाषा मे स्त्रीवेद कहा गया है। जब तक पुरुष के अन्तर्मन मे किसी स्त्री को देख कर उसके साथ सहवास की इच्छा जागती है या उसके प्रति आकर्षण पैदा होता है, तब तक उसमे अब्रह्मचर्य है और उसका बाह्य प्रतीक पुरुषवेद है। जब तक किसी नपु सक को स्त्री और पुरुष दोनो के प्रति रमण की इच्छा जागती है, तब तक वहा भी अब्रह्मचर्य है, और उसकी बाह्य पहिचान नपु सकवेद है। अब्रह्मचर्य की प्रवृत्ति की स्थूलरूप मे पहिचान स्त्री और पुरुष की दिनचर्या, व्यवहार, चेष्टाए, हावभाव या प्रवृत्ति देख कर ही की जा सकती है। स्थूलदृष्टि वाले दुनियावी लोग तो बाह्य व्यवहार—किसी पराई स्त्री के साथ व्यभिचार, बलात्कार, प्रेमालाप, प्रणय आदि देख कर या पराये पुरुष के साथ किसी स्त्री का उपर्युक्त व्यवहार देख कर अब्रह्मचर्य की प्रवृत्ति को जान पाते है।

अब्रह्मचर्य की सर्वत्र धूम—आज जहा देखो, वही अब्रह्मचर्य की धूम मची हुई है। सिनेमाघर, नाटकशाला, वेश्यालय आदि अब्रह्मचर्य के स्थानो मे एव स्वाग-तमाशा करने वालो के यहाँ पर भीड लगी रहती है। मनुष्यो का इतना जमघट देख कर यही कहा जा सकता है कि लोगो की ब्रह्मचर्य की ओर रुचि अत्यन्त कम है। हालाकि अब्रह्मचर्य से होने वाले नुकसानो को उनमे से बहुत-से जानते भी है, फिर भी मन की कामवृत्ति एव व्यसन के कारण उनके पैर धर्मस्थानो मे आने के बजाय उन अधर्मस्थानो की ओर ही ज्यादा बढते है। मनुष्यलोक मे ही जब अब्रह्मचर्य की इतनी प्रवृत्ति है, इतना बोलबाला है, तब देवो, असुरो और तिर्यंचो के

लोक मे क्यो नहीं होगी ? इसीलिए शास्त्रकार स्वय कहते है—**'उड्ढनरयतिरिय-तिलोक्कपइट्ठाण ।'**

मनुष्य जैसा समझदार और विवेकी प्राणी भी जब काम मे इतना अधिक आसक्त हो जाता है कि उसे गम्यागम्य, समय-असमय, लाभ-हानि आदि का कोई भान नहीं रहता , तब तिर्यञ्चो का तो कहना ही क्या ? तिर्यञ्चो मे तो मनुष्य जितना विवेक और विचार नही है । वे कामवासना के अत्यधिक शिकार हो तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? कहा भी है—

> **'कृश. काण खज श्रवणरहित पुच्छविकलो,**
> **व्रणै पूयक्लिन्नै कृमिकुलशतैरावृततनु ।**
> **क्षुधाक्षामो जीर्ण· पिठरककपालार्पितगल ,**
> **शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदन ॥'**

अर्थात्—एक कुत्ता बहुत दुबला है, काना है, लगडा है, बहरा है, पू छकटा है, घावो मे पीप बह रही है, सैकडो कीडो मे शरीर व्याप्त है, भूख से विकल है, बूढा है । पेट, कपाल और गला पिचके हुए है अथवा गले मे पिठर-कपाल पडा है, तब भी वह कामविवश हो कर कुतिया के पीछे लगता है । अफसोस है, काम मरे हुए को भी मारता है ।'

देवो मे भी काम का बोलबाला है । वहाँ भी एक-एक देव के कई देवागनाए होती है । मनुष्यलोक की तरह वहा भी स्त्रियो के लिए परस्पर सघर्ष होता है और कामसुखसेवन की होड लगी रहती है । इसलिए शास्त्रकार का यह कथन सोलहो आने सच है कि **'सदेव मणुयासुरस्स लोयस्स पत्थणिज्ज'**—देवता,मनुष्य और असुरसहित सारे लोक-जगत् मे इसकी अभिलाषा है,पूछ है या लोग इसे चाहते है । इतना इसका आकर्षण क्यो है ? दुनिया इस काम (अब्रह्मचर्य) के पीछे क्यो पागल बनी फिरती है ? इसका उत्तर आगे चल कर शास्त्रकार स्वय ही देते है—**'चिरपरिचियमणुगय ।'** यह अब्रह्मचर्य चिर-परिचित है,अनादिकाल से अभ्यस्त है, परम्परा से सभी प्राणी बारबार इसके सम्पर्क मे आते है, लगातार इसके साथ सम्बन्ध बना रहा है, यह सतत प्राणी के साथ-साथ चला आ रहा है । प्राणी जहा भी जिस योनि मे भी जाता है, वहाँ काम (मैथुन) उसके साथ निरन्तर रहता है, इसलिए इसका छोडना अत्यन्त दुष्कर लगता है ।

'पकपणयपासजालभूय'—इसीलिए शास्त्रकार ने अब्रह्मचर्य (काम) को दलदल-पतला कीचड, चिपकने वाला गाढ बधन और जाल के समान बताया है । जैसे प्राणी दलदल मे फस जाने पर निकल नही सकता , प्राय वह वही फस कर मर जाता है , वैसे ही काम के दलदल मे फस जाने पर मनुष्य सहसा निकल नही सकता । जैसे पाश मे बधे हुए मृगादि पशुओ का और जाल मे फसे हुए मछली आदि जलचरजीवो

का छूटना दुष्कर है, वैसे ही काम के पाश और जाल से छूटना भी कठिन है। कहा भी है—

> सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणाम्,
> लज्जा तावद् विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव।
> भ्रूचापाकृष्टमुक्ता. श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते।
> यावल्लीलावतीना न हृदि धृतिमुषो दृष्टिवाणा पतन्ति॥

अर्थात्—यह पुरुष तव तक ही सन्मार्ग मे लगा रहता है, तव तक ही इन्द्रियो पर विजय पाता है, तव तक ही लज्जा रखता है और विनय करता है, जब तक उस पर युवती नारियो के भौह रूपी धनुप से खीच कर फैके गए तथा कान तक पहुचे हुए धैर्य को हरने वाले, नीले पक्ष्म वाले दृष्टिबाण (काम के बाण) नही पडते है। उसकी वही नैतिकमृत्यु हो जाती है।

इसीलिए जिस प्राणी के जीवन मे अब्रह्मचर्य ने स्थान पा लिया है, उसे चाहे जितना मारा-पीटा जाय, सताया जाय या बधन मे डाला जाय, अथवा प्राणरहित कर दिया जाय, उसका अब्रह्मचर्य के कुसस्कार से सर्वथा बच निकलना मुश्किल है, क्योकि इसका चेप ही इतना गाढ है कि छूटना कठिन होता है। कहा भी है—

> **'किं किं ण कुणइ,किं किं न भासए चिंतए वि य न किं किं ?।**
> **पुरिसो विसयासत्तो विहलघलिउव्व मज्जेण ॥'**

अर्थात्—मद्य से मत्त पुरुप की तरह विपयासक्त पुरुप क्या-क्या नही करता ? क्या-क्या नही बोलता ? क्या-क्या नही सोचता ? इसी बात को **'वधबध-विघातदुर्विधाय'** और **'दुरत'** इन दो पदो मे शास्त्रकार स्वय कहते है।

अब्रह्मचर्य से कायिक, मानसिक और आत्मिक हानियाँ—अब्रह्मचर्य जीवन का सर्वनाश करने वाला है। जो व्यक्ति इसके चगुल मे फस जाता है, वह वीर्यनाश करके शरीर की शक्ति को खत्म कर बैठता है। वीर्य शरीर की शक्ति का मूल है। अगर वीर्य का अधिक नाश हो जाता है तो अशक्त हो जाने के कारण मनुष्य क्षयरोग, हृदयरोग, मदाग्नि आदि अनेक बीमारियो का शिकार बन जाता है, कहा भी है—

> **'कम्प स्वेद श्रमो मूर्च्छा, भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षय।**
> **राजयक्ष्मादिरोगाश्च भवेयुर्मैथुनोत्थिता ॥'**

'अब्रह्मचर्य से कपन, पसीना, थकान, मूर्च्छा,चक्कर आना, घवराहट, कमजोरी एव टी वी आदि वीमारियाँ पैदा होती है।' उसे असमय मे ही बुढापा आ घेरता है। वीर्यनाश करने वाला व्यक्ति रातदिन निराश, चिन्तातुर और उत्साहहीन बना रहता है। वह किसी भी अच्छे कार्य को करने का साहस नही कर सकता। उसके चेहरे पर सदा मायूसी छाई रहती है। एक आचार्य ने कहा है—

'जो सेवइ किं लहई, थाम हारेइ, दुब्बलो होइ ।
पावेइ वेमणस्स दुक्खाणि य अत्तदोसेण ।।'

'मैथुनसेवन से क्या लाभ होगा ? मनुष्य अपने उत्साह और स्फूर्ति को खो देता है, दुर्वल हो जाता है। मन मे ग्लानि पाता है और अपने आपकी इस गलती से अनेक दुःख पाता है।' यह तो हुई शारीरिक और मानसिक हानियाँ, जिनका सकेत शास्त्रकार ने स्वय किया है—**'जरामरणरोगसोगवहुल'** । अव आध्यात्मिक हानि की वात सुन लीजिए। जिसके जीवन मे अब्रह्मचर्य ने अड्डा जमा लिया है, उसकी आत्मा दुर्वल हो जाती है, उसमे आत्मविश्वास नाममात्र को भी नही होता, उसके जीवन मे मद, विपय, क्रोध, मान माया और लोभ कपाय, निन्दा या निद्रा और विकथा (स्त्री-भक्त-राज-देश की कुचर्चा) ये पाचो प्रमाद घुस जाते है और उसके चारित्रिक जीवन का सर्वनाश कर देते है। जीवन को मोहाच्छन्न करके सच्चे ज्ञान से, दर्शन से और शुद्ध आचरण से रहित कर देने वाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय घुन की तरह उसके जीवन मे लग जाते है और वे दोनो कर्म उसकी आत्मा को विविधगतियो और योनियो मे वारवार भटकाते है। कभी नरक मे ले जाते हैं तो कभी तिर्यंचगति मे भटकाते है। आचार्यो ने वताया है—

तिव्वकसाओ वहुमोहपरिणओ, रागद्दोससजुत्तो ।
वधइ चरित्तमोह दुविहपि चरित्तगुणघाई ।।१।।
अरिहतसिद्धचेईअतवसुअगुरुसाहुसघपडिणीओ ।
वधति दसणमोह अणतससारिओ जेण ।।२।।

अर्थात्—'तीव्रकपायी, अत्यन्तमोही, राग और द्वेप से युक्त व्यक्ति चारित्रगुण का घात करने वाले दो प्रकार के चारित्रमोहनीयकर्म का वध करता है। अब्रह्मचर्य का सेवन करने वाला अर्हन्त (वीतराग), सिद्ध, चैत्य, तप, श्रुत-शास्त्र, गुरु, साधु और सघ का विरोधी वन जाता है, जिससे वह दर्शनमोहनीय कर्म का वध करता है और उसके कारण अनन्तकाल तक ससार मे परिभ्रमण करता है।'

ये सव वहुत वडी आत्मिक हानिया है। इसी की साक्षी शास्त्रकार के ये वचन देते है—**'भेदायतण-वहुपमायमूल दसणचरित्तमोहस्स हेउभूय ।'** इसके अतिरिक्त आत्मा के विकास के लिए जो अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश (धर्मपालन के लिए कष्टसहन), प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान, और व्युत्सर्ग ये १२ प्रकार के तप है, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, पाचो इन्द्रियो पर नियत्रण, मन का निग्रह, आदि सयम के प्रकार है और ब्रह्मचर्य रूप है, अब्रह्मचर्य (मैथुनसेवन) इनमे सदा रुकावट डालने वाला है। आत्मा के विकास के लिए महापुरुषो ने जो भी प्रक्रियाएँ या साधनाएँ वताई है,

उन सबमे अब्रह्मचर्य विघ्नकारक है। तप, जप, ध्यान, मौन, स्वाध्याय, सेवा आदि सब मे यह रोडा अटकाने वाला है। इसीलिए कहा है—'तवसजमबभचेरविग्ध।' मतलब यह है कि अब्रह्मचर्य शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक और आत्मिक सभी प्रकार की हानि करने वाला है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक डॉ० थोरो से उसके शिष्य ने पूछा—'गुरुदेव ! मनुष्य को अपने जीवन मे कितनी बार स्त्रीप्रसग करना चाहिए ?' थोरो ने उत्तर दिया—'जीवनभर मे सिर्फ एक बार।' शिष्य ने फिर पूछा—'अगर इतने मे न रहा जाय तो ?' थोरो ने कहा—'साल मे एक बार।'

'अगर इतने से भी न रहा जाय तो ?' शिष्य ने पुन पूछा।

थोरो—'तो, महीने मे एक बार।'

शिष्य—'अगर इस पर भी न रहा जाय तो क्या करना चाहिए ?'

थोरो—'तब उसे कफन ले कर अपने सिरहाने रख लेना चाहिए और फिर जो मन चाहे करना चाहिए।'

मतलब यह है कि ब्रह्मचर्य के नाश से जीवन का ह्रास और नाश होता है। अब्रह्मचर्य से कितनी बडी हानि है यह ?

कई लोग यह मानते है कि हिंसा, झूठ, चोरी आदि से तो अपने नुकसान के साथ-साथ दूसरो का भी बडा भारी नुकसान है, लेकिन अब्रह्मचर्य से केवल अपना ही नुकसान होता है, इसमे परिवार, राष्ट्र या समाज आदि का क्या नुकसान है ?

परन्तु यह भ्रान्ति है। अब्रह्मचर्य-सेवन से अपनी तो अपार हानि होती ही है, परिवार आदि की भी बहुत बडी हानि होती है। जिस परिवार, कुल, जाति या राष्ट्र मे व्यभिचारी या कामी पुरुष होते है, वे अपने दुष्कार्य से उसे बदनाम और कलकित करते है, उनकी सतानो मे भी परम्परा से प्राय वे ही कुसस्कार उतर कर आते है। वह परिवार या समाज को दुर्बल, निर्वीर्य, निरुत्साही व कुसस्कारी सतान दे जाता है। ऐसे व्यक्ति कई पैतृक रोग भी अपनी सतान को दे जाते है, जो पीढी दर पीढी चलते है। अब्रह्मचर्य-सेवन करने वाला प्राय किसी न किसी रोग से अल्प आयु मे ही कालकवलित हो जाता है, इससे राष्ट्र या समाज को उसके जीवन से होने वाले सुकार्यों के लाभ से वचित रहना पडता है, परिवार को उसकी बीमारी के समय आर्थिकहानि उठानी पडती है, हैरानी-परेशानी भोगनी पडती है और उसकी सेवा मे लगातार जुटा रहना पडताहै, जिससे आजीविका का कार्य ठप्प हो जाता है। ये सब सामाजिक, पारिवारिक या राष्ट्रीय हानियाँ कम नही है !

अब्रह्मचर्य का सेवन कौन करते है, कौन नहीं ?—अब सवाल यह होता है कि अब्रह्मचर्य जब इतनी अगणित हानियाँ करता है तो उसका सेवन कौन व्यक्ति और क्यो सेवन करते है ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है—'कायरकापुरिस-

सेविय सुयणजणवज्जणीय' अर्थात्—कायर और समाज मे घृणित लोग ही प्राय इसका सेवन करते है , धर्मपरायण विवेकी सज्जनपुरुप तो इसे त्याज्य समझते है। जो लोग भ्रान्तिवश ब्रह्मचर्य का पालन करना महाकष्टदायक समझते है , ससारासक्त मोही जनो को देख कर वे विपयभोगो या मैथुनसेवन मे ही आनन्द की कल्पना करते है, वे ही स्त्रीपरिपह या कामवासना पर विजय नही पाने वाले तथा कष्टो से घवराने वाले कायर व्यक्ति होते है। वास्तव मे ब्रह्मचर्य स्वाभाविक है और जीवन का वास्तविक आनन्द प्राप्त कराने वाला हे। अब्रह्मचर्य ही अस्वाभाविक, कष्टकर और सतानोत्पत्ति एव सतानो के पालन-पोपण, विवाहादि करने की नाना चिन्ताओ का जाल वढाने वाला है। इसमे सुख होता तो वीतरागपुरुप या उनके पदचिह्नो पर चलने वाले साधु और श्रावक इसका त्याग न करते। इसलिए शास्त्रज्ञ, विवेकी और धर्मपरायण पापो से विरक्त सज्जन पुरुप तो इसे विप की तरह त्याज्य समझते हैं। शेप समस्त पदो का अर्थ पदार्थान्वय एव मूलार्थ मे स्पप्ट किया जा चुका है।

अब्रह्मचर्य के पर्यायवाचो नाम

पिछले सूत्र मे शास्त्रकार अब्रह्मचर्य के स्वरूप का निरूपण कर चुके , अव आगे के सूत्रपाठ मे वे क्रमश अब्रह्मचर्य के समानार्थक नामो का निर्देश करते है—

मूलपाठ

तस्स य णामाणि गोण्णाणि इमाणि होंति तीस, तजहा—१ अबभं, २ मेहुण, ३ चरत, ४ ससग्गि, ५ सेवणाधिकारो ६ सकप्पो, ७ बाहणा पयाण, ८ दप्पो, ९ मोहो, १० मण-सखोभो (सखेवो) ११ अणिग्गहो, १२ वि-(वु)ग्गहो, १३ विघा-ओ, १४ विभगो, १५ विब्भमो, १६ अधम्मो, १७ असीलया, १८ गामधम्मत(ति)त्ती, १९ रती, २० रागचिंता-(रागो), २१ कामभोगमारो, २२ वेर, २३ रहस्स, २४ गुज्झ, २५ बहु-माणो, २६ बभचेरविग्घो, २७ वावत्ति, २८ विराहणा, २९ पसगो, ३० कामगुणोत्ति वि य तस्स एयाणि एवमादीणि नाम-धेज्जाणि होंति तीस ॥ सू० १४ ॥

सस्कृतच्छाया

तस्य च नामानि गुण्यानि इमानि भवन्ति त्रिशत् , तद्यथा—१ अब्रह्म २ मैथुन, ३ चरत्, ४ संसर्ग, ५ सेवनाधिकार', ६ सकल्प , ७ बाधना पदा-

नाम्, ८ दर्पः, ९ मोह, १० मनःसंक्षोभः [सक्षेप], ११ अनिग्रह, १२ विग्रह [व्युद्ग्रह], १३ विघातः, १४ विभग., १५ विभ्रम, १६ अधर्मः, १७ अशीलता १८ ग्रामधर्मतप्ति (तृप्तिः), १९ रतिः, २० रागचिन्ता (राग), २१ कामभोगम र, २ वैर, २३ रहस्य, २४ गुह्य, २५ बहुमानः, २६ ब्रह्मचर्यविघ्न, २७ व्यापत्ति, २८ विराधना, २९ प्रसगः, ३० कामगुण, इत्यपि च तस्यैतानि एवमादीनि नामधेयानि भवन्ति त्रिशत् ॥सू० १४॥

पदार्थान्वय—(तस्स य) उस अब्रह्मचर्य के (इमाणि) ये, (गोण्णाणि) गुणनिष्पन्न सार्थक, (तीस) तीस, (णामाणि) नाम, (होति) होते हैं। (तजहा) वे इस प्रकार हैं—(अबभ) अब्रह्म, (मेहुण) मैथुन (चरत) सारे विश्व मे चलने वाला या व्याप्त, (ससग्गि) स्त्री-पुरुष के ससर्ग से जनित, (सेवणाधिकारो) चोरी आदि दुष्कर्मो के सेवन मे निमित्त या नियुक्त, (सकप्पो) सकल्प-विकल्प से होने वाला, (बाहणा पयाण) सयम के स्थानो अथवा सयमी पद पर स्थित लोगो की बाधा पीडा का हेतु, (दप्पो) शरीर और इन्द्रियो के दर्प उद्रेक से उत्पन्न होने वाला, (मोहो) मोह —मूढता या मोहनीय कर्म से उत्पन्न होने वाला, (मणसखोभो) चित्त की चचलता अथवा (मणसखेवो) मन के सक्षेप अर्थात् मन की सकीर्णता से होने वाला, (अणिग्गहो) विषय में प्रवृत्त होते हुए मन तथा इन्द्रियो का न रोकना, (विग्गहो) कलह का कारण, अथवा (वुग्गहो) विपरीत अभिनिवेश—हठ से होने वाला, (विघाओ) गुणो का विघातक, (विभगो) सयम के गुणो का भग करने वाला, (विब्भमो) परमार्थ की भ्रान्ति का कारण अथवा विभ्रमो का,कामविकारो का आश्रय, (अधम्मो) अधर्म, (असीलया) शील-रहितता—सदाचारहीनता, (गामधम्मतित्ती) ग्रामधर्मो—इन्द्रियविषयो—शब्दादि कामगुणो की तलाश का कारण, (रती) रतिक्रीडा - सभोगक्रिया, (रागचिंता) राग-प्रणय का चिन्तन अथवा श्रृगार, हावभाव, विलास आदि रागरगो का चिन्तन, (कामभोगमारो) काम और भोग में अत्यधिक आसक्ति होने पर मृत्यु का कारण अथवाकामभोगो का साथी मार यानी कामदेव,(वेर) वैर का हेतु,(रहस्स) एकान्त में आचरणीय,(गुज्झ) गोपनीय,(बहुमाणो) बहुत से लोगो द्वारा मान्य या इष्ट, (बभचेरविग्घो) ब्रह्मचर्य के लिए विघ्नरूप, (वावत्ति) आत्मगुणो से भ्रष्ट करने वाला, (विराहणा) चारित्रधर्म की विराधना—नाश करने वाला (पसगो) कामभोगो में आसक्ति, (कामगुणो) कामवासना का कार्य, (त्ति) इस प्रकार (तस्स) उस अब्रह्मचर्य के, (एयाणि) ये, (तीस) तीस तथा (एवमादीणि) इस प्रकार के (अवि य) और भी अनेक (नामधेज्जाणि) नाम (होति) हैं।

मूलार्थ—इस अब्रह्मचर्य के गुणयुक्त अर्थात् यथार्थगुणो को प्रगट करने वाले सार्थक तीस नाम है। वे इस प्रकार है १—अब्रह्म—आत्मा और परमात्मा की उपासना से रहित अकुशल अनुष्ठान, २—मैथुन- स्त्रीपुरुप के जोडे के सयोग से निष्पन्न होने वाला, ३—सारे विश्व मे व्याप्त या सर्वत्र चलने वाला, ४—स्त्री और पुरुप के सपर्क से जन्य, ५—चोरी आदि पापकर्मो के सेवन मे लगाने वाला, ६—मन के सकल्प से उत्पन्न होने वाला अथवा सकल्प-विकल्प का कारण, ७—सयम के स्थानो अथवा सयमीजनो को वाधा-पीडा पहुचने वाला, ८—शरीर और इन्द्रियो के दर्प से—अधिक पुष्ट होने से—उत्पन्न अथवा ऐश्वर्य आदि के अभिमान से पैदा होने वाला, ९—मूढता-अज्ञानता-रूप, अथवा मोहनीयकर्म का कार्य, १०—मन मे क्षोभ से उत्पन्न होने वाला अथवा मन का सक्षेप करना—मन को केवल स्त्री के प्रेम मे ही सकीर्ण कर देने वाला, ११—विपयो मे दौडते हुए मन का और उद्दाम इन्द्रियो का निग्रह न करना, १२—विग्रह-लडाई-झगडो का कारण, अथवा विपरीत अभिनिवेश-पूर्वाग्रह से उत्पन्न, १३—आत्मा के चारित्रगुणो का घातक, १४—सयम के गुणो का भजक,—पूर्णावस्था तक उन गुणो को न पहुँचने देने वाला, १५—अहितकर विपयभोगो मे हित की भ्रान्ति पैदा करने वाला, १६—अधर्म का कारण, १७ शील का नाशक, १८ इन्द्रियो के शब्दादिविपयो को ढूढने का कारण, १९—रतिक्रीडा करना-मैथुनसेवन करना, २०—प्रेमी-प्रेमिका के शृगार, हावभाव, रतिक्रीडा आदि रागरगो के चिन्तन से पैदा होने वाला, २१—कामभोगो मे अत्यन्त आसक्ति होने से मृत्यु का कारण, २२—स्त्री के निमित्त से वैरविरोध का कारण। २३—एकान्त मे किया जाने वाला कार्य, २४—छिप कर किया जाने वाला या छिपाने योग्य २५—सासारिक जीवो द्वारा वहुत मान्य या इष्ट, २६ ब्रह्मचर्यपालन मे विघ्नकारक, २७ आत्मा को निजगुणो से भ्रष्ट करने वाला, २८ चारित्र की विराधना का कारण, २९—कामभोगो मे आसक्ति का कारण, ३०—कामगुण—कामवासना का कार्य, इस प्रकार अब्रह्मचर्य के ये तीस तथा इस प्रकार के और भी नाम होते है।

व्याख्या

अब्रह्मचर्य शब्द ही एक व्यापक अर्थ वाला है, जिससे सभी अर्थ प्रगट हो सकते है, लेकिन परहितपरायण दयालु शास्त्रकार आम जनता को स्पष्टरूप मे समझाने और इस वात को उनके गले उतारने की दृष्टि से इसके तीस नामो का निरूपण

करते है, जो अब्रह्मचर्य के समानार्थक है, सार्थक है, और गुणनिष्पन्न है। यद्यपि 'मूलार्थ' मे इन सबके अर्थ स्पष्ट है, फिर भी इनकी व्याख्या करना आवश्यक समझ-कर सक्षेप मे व्याख्या करते है—

'अबभ' सस्कृत भाषा मे इसका रूप होगा—'अब्रह्म', जिसका सामान्य अर्थ है—ब्रह्म का अभाव। 'ब्रह्म' शब्द निम्नोक्त सात अर्थो मे प्रयुक्त होता है—तत्त्व, तप, वेद, ब्रह्मा, यज्ञ करने वाला, योग का एक भेद और ब्राह्मण।[1] यहाँ प्रसगवश तत्त्व, तप, वेद और ब्रह्मा इन चार अर्थो का इस शब्द मे समावेश हो सकता है। तत्त्व का अर्थ आत्मस्वरूप है। आत्मा का ब्रह्म से यानी अपने स्वरूप से अलग हो जाना, आत्मस्वरूप को छोड़ कर इन्द्रियो के विषयो मे प्रवृत्त हो जाना, अब्रह्म है, अतत्त्व रूप है। तप पवित्र अनुष्ठान या आचरण को कहते हैं। मैथुन अपवित्र आचरणरूप है, उसके सद्भाव मे तप का होना असम्भव है। इसलिए यह अब्रह्म अतप—अकुशलानुष्ठान—पापाचरण रूप भी है। वेद का अर्थ आगमज्ञान है। जिसके हृदय मे कामवासना जाग रही है, उसके हृदय मे सम्यग्ज्ञान नही होता। अतएव अब्रह्म अवेद—अज्ञानरूप है। ब्रह्म परमात्मा या भगवान् वीतराग अर्हन्त को कहते हैं। जिसमे ज्ञानावरणीय आदि (चार घातिकर्म तथा रागद्वेषादि भाव) कर्म नही होते, वह अर्हन्त है, अथवा शुद्ध आत्मा का नाम भी ब्रह्म है। जो कामी जीव होता है, वह शुद्ध आत्मभाव को अर्थात् परमात्मा—वीतराग अर्हन्त की दशा को नही प्राप्त कर सकता। इसलिए शुद्ध आत्मा—परमात्मा या वीतरागरूप ब्रह्म से रहित होने के कारण वह अब्रह्म कहलाता है।

'मेहुण'—स्त्री-पुरुष के जोडे को मिथुन कहते है। स्त्री-पुरुष-युगल के सयोग-विशेष से यह उत्पन्न होता है। इसलिए इसका मैथुन नाम भी सार्थक ही है।

चरत—आज अब्रह्मचर्य एक या दूसरे रूप मे सारे ससार मे व्याप्त है, सारे ससार मे यह प्रचलित है, इसलिए इसका 'चरत्' नाम यथार्थ है। ऊर्द्ध्वलोक मे—स्वर्ग मे इसकी अप्रतिहतगति है। नौ ग्रैवेयक तथा पाच अनुत्तर—विमानवासी देवो को छोड कर शेष देवलोको मे इसका प्रत्यक्ष साम्राज्य है। ज्योतिषी देवो मे भी इसका सचार है। और मध्यलोक मे वीतरागी साधुओ के सिवा मनुष्यो और तिर्यचो मे सर्वत्र इसका बोलबाला है। अधोलोक मे भी व्यन्तरदेवो और भवनपतिदेवो मे भी कामवासना प्रबल होती है। नारक जीवो मे भी नपुसकवेद के उदय से तीव्रवासना का होना आगम, सिद्ध है।

१ 'ब्रह्म तत्त्वतपोवेदे न द्वयो पुसि वेधसि।
ऋत्विग्योगभिदोर्विप्रे'—मेदिनीकोश

अथवा 'चरत्' का अर्थ यह भी हो सकता है कि सभी प्राणियों के जीवन मे यह चलता रहता है, चलायमान होने वाला भी है। इसलिए इसका 'चरत्' नाम भी सार्थक है। चर् धातु जैसे गति अर्थ मे है, वैसे भक्षण अर्थ मे भी है। उसके अनुसार 'चरत्' का यह अर्थ तो उचित कहा जा सकता है कि जो चारित्र गुणो को चर जाय—उन्हे सफाचट कर दे। वास्तव मे अब्रह्मचर्य विश्वव्यापी, सर्व प्राणियो मे सचरण करने वाला या चारित्र गुणो का चरने वाला है,अत इसका चरत् नाम सार्थक है।

'ससग्गि'—स्त्री और पुरुषो का ससर्ग—बार-बार एकान्त सपर्क या सस्पर्श भी कामविकारो को पैदा करने वाला होता है। इसलिए ससर्गजन्य होने से इसे अब्रह्म का पर्यायवाची कहना ठीक ही है। कहा भी है—

'नामाऽपि स्त्रीति सह्लादि विकरोत्येव मानसम्।
किं पुनर्दर्शन तस्या विलासोल्लासितभ्रुव ॥'

'स्त्री का नाम भी विकारी मन मे आह्लाद पैदा कर देता है, मन मे विकार वासना पैदा कर देता है तो फिर विलास (हाव भाव) के साथ तिरछे कटाक्ष वाली स्त्री का दर्शन या स्पर्श क्या नही कर सकता ?'

'सेवणाधिकारो'—यह चोरी आदि विरोधी सेवनाओ—पापकर्मों मे प्रवृत्त कराने वाला है। क्योकि विषयासक्त कामी पुरुष स्त्री के इशारे पर चोरी, हत्या, मद्यपान, मासभक्षण आदि सभी अकार्यो मे प्रवृत्त हो जाता है। कहा भी है—

'सर्वेऽनर्था विधीयन्ते नरैरर्थैकलालसैर्।
अर्थस्तु प्राथ्यर्ते प्राय प्रेयसीप्रेमकामिभि।'

अर्थात्—अर्थ की लालसा वाले मनुष्य दुनिया भर के सभी अनर्थों को करने के लिए उद्यत हो जाते है, और प्रेमिकाओ का प्रेम चाहने वाले लोग धन अवश्य चाहते है।

इसलिए पापाचारो मे नियुक्त या प्रेरित करने वाला होने से इसे अब्रह्म का भाई कहना उचित ही है।

सकप्पो—अब्रह्मचर्य का सर्वप्रथम प्रवेश मन के सकल्प विकल्प से होता है। कहा भी है—

'काम ! जानामि ते रूपम्, सकल्पात् किल जायसे।
न त्वा सकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ॥'

हे काम ! मैं तेरे स्वरूप को जानता हू। तू सकल्प से ही तो पैदा होता है। मैं तेरा सकल्प ही नही करूँगा तो तू मेरी आत्मा मे उत्पन्न न हो सकेगा।

इसलिए सकल्प से पैदा होने के कारण इसे अब्रह्म का पर्यायवाची कहना ठीक है।

बाहणा पयाण—अब्रह्म सयम के पद अर्थात् स्थानो का बाधक है, अत इसका बाधना नाम भी उचित है। 'पया' का सस्कृत रूप प्रजा भी होता है, अत अब्रह्म सयमी मानव प्रजा को बाधा पहुँचाने वाला है।

दप्पो---अत्यधिक स्वादिष्ट एवं गरिष्ठ वस्तुओ का सेवन शरीर को पुष्ट बना देता है, उससे भी कामविकार पैदा होता है। जैसा कि उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है—

रसा पगाम न निसेवियव्वा, पाय रसा दित्तिकरा हवंति।
दित्त च कामा समभिद्दवंति, दुम जहा साउफल तु पक्खी ॥

अर्थात्—शरीर को पौष्टिक बनाने वाले रसो—स्वादिष्ट चीजो का अत्यधिक सेवन नही करना चाहिए। क्योकि प्राय रसीले पदार्थ दर्प (उत्तेजना) पैदा करने वाले होते है। और दर्पयुक्त मनुष्य को कामवासनाएँ उसी तरह सताती है,जैसे स्वादिष्ट फल वाले पेड को पक्षी पीडित करते है।

अथवा वैभव आदि का दर्प भी मनुष्य को व्यभिचार के रास्ते चढा देता है। इसलिए इसे अब्रह्म का समानार्थक कहना उचित है।

मोहो—यह अज्ञान और मूढता से उत्पन्न होता है,इसलिए इसे मोह कहा है। वास्तव मे यह वेद नामक नोकषाय,जो चारित्रमोहनीय कर्म का एक भेद है, उसके उदय से उत्पन्न होता है, इसलिए इसे मोह कहा है। मोह मे अधा होकर ही मनुष्य कामवासना से प्रेरित होता है। मोह की भयकरता का वर्णन एक आचार्य ने बहुत ही सुन्दर ढग से किया है—

दृश्य वस्तु पर न पश्यति जगत्यन्ध पुरोऽवस्थित,
रागान्धस्तु यदस्ति तत्परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवा
नारोप्याशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ॥

अर्थात्—अन्धा मनुष्य तो सामने रखी हुई घडा, कपडा आदि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली चीजो को ही नही देख पाता, किन्तु राग (मोह) से अन्धा बना हुआ व्यक्ति तो जो प्रत्यक्ष मे विद्यमान है उसको तो नही देखता,किन्तु जो वस्तु उसके सामने प्रत्यक्ष मे मौजूद नही है, उसे देखता है। यही कारण है कि वह अपनी मानी हुई प्रियतमा के अत्यन्त घिनौने अपवित्र शरीर मे झूठी कल्पनाएँ करके प्रसन्न होता है। उसके हड्डी के दातो को कुन्दपुष्प मानता है, अस्थिमय मलयुक्त नेत्रो को नीलकमल मानता है, कफ आदि घृणित पदार्थो से भरे हुए मुख को पूर्ण चन्द्रमा की उपमा देता है, मास के पिंड-रूप स्तनो को स्वर्ण कलश मानता है,उसकी हड्डी,मास,रुधिर आदि से भरी हुई अपवित्र भुजाओ को सुन्दर लता की और उगलियो को कोमल किसलयो—कोपलो की उपमा देता है। यह सब उसके अज्ञान और मोह की ही करामात है।

इसलिए मोह को अब्रह्म का साथी कहना ठीक ही है।

'मणसखोहो'—चित्त मे चचलता और व्यग्रता आए बिना काम-वासना उत्पन्न नहीं हो सकती। किसी भी सुन्दरी को देख कर मन चलायमान न हो तो काम-वासना पैदा नही होती, लेकिन जब मन विचलित होता है, तभी वासना जागती है और वही

अब्रह्मचर्य-सेवन है। बडे-बडे योगियो का मन सुन्दरियो को देख कर चलायमान हो जाता है, साधारण आदमियो की तो बात ही क्या ? प्रमाण के लिए देखिए निम्न-लिखित गाथा—

'निरकडकडवखकडप्पहारनिदिभिन्न - जोगसन्नाहा ।
महारिसिजोहा जुवईण जति सेव विगयमोहा ॥'

अर्थात्—'निर्मोही महर्षि कर्मशत्रुओ के साथ जूझने वाले योद्धा है, लेकिन उनका भी योग (ध्यान या समाधि) रूपी कवच युवतियो के निकृष्ट कटाक्षरूपी वाण से छिन्न-भिन्न हो जाता है और वे उन ललनाओ के सेवन करने मे प्रवृत्त हो जाते है, तव दूसरो का तो कहना ही क्या ?'

इसलिए मन सक्षोभ को अब्रह्म का जनक कहे तो कोई अत्युक्ति नही।

'अनिग्गहो'—इन्द्रियो के विषय जव मनुष्य के सामने जाते है, उस समय यदि वह अपने को सभाल ले, इसी प्रकार जव मन मे दुर्विषयो के सकल्प उठने लगे कि तुरन्त सावधान हो जाय, मन मे राग और द्वेष न होने दे तथा इन्द्रियो को उनमे प्रवृत्त न होने दे, शीघ्र ही रोक ले तो कोई कारण नही है कि काम-वासना मे प्रवृत्ति हो। परन्तु जव मनुष्य इन्द्रियो के विषयो और मन के दुर्विकल्पो को रोकता नही, उन्हे खुल्ली छूट दे देता है, तभी काम-वासना मे प्रवृत्ति या अब्रह्माचरण होता है। कहा भी है—

'वलवानिन्द्रियग्रामो विद्वासमपि कर्षति'—इन्द्रियाँ वडी वलवान् होती है। ये वडे-वडे विद्वानो को भी खीच कर विषयो के गर्त मे पटक देती है।

इसलिए अनिग्रह भी अब्रह्म के मुख्य कारणो मे से एक होने कारण उसे अब्रह्म का समानार्थक सहोदर कहना उचित ही है।

विग्गहो—काम-वासना के सेवन मे मुख्य निमित्त स्त्री होती है। जव दो कामी पुरुष एक ही सुन्दरी को चाहते है और दोनो ही उसे अपनी वनाने पर उतारू हो जाते है तो कामावेश मे वे उसके लिए वडी से वडी लडाई या युद्ध करने को व मरने-मारने को तैयार हो जाते है। अथवा जव कोई जवर्दस्त कामी पुरुष किसी भद्र पुरुष की सुन्दर स्त्री को जवरन हथियाना चाहता है, और वह उसके कब्जे मे अपनी पत्नी को देने के लिए तैयार नही होता, तव जवर्दस्त कामान्ध पुरुष उसके लिए लडाई छेडता है और अपनी जान को भी जोखिम मे डाल देता है। कहा भी है—

"ये रामरावणादीना सग्रामा ग्रस्तमानवा ।
श्रूयन्ते स्त्रीनिमित्तेन, तेषु कामो निवन्धनम् ॥'

अर्थात—सुनते है, प्राचीन काल मे राम-रावण आदि के जो युद्ध हुए है, जिन मे लाखो आदमियो का सहार हुआ है, वे सव स्त्री के निमित्त से हुए है। उनमे मुख्य कारण काम—अब्रह्मचर्य ही तो था।

इसलिए अब्रह्मचर्य (काम) सेवन की तीव्रता से कामवासना की मुख्य निमित्त-भूत किसी स्त्री को ले कर होने वाली लडाई (विग्रह) भी काम के कारण होने से विग्रह को अब्रह्म का पर्यायवाची कहा गया है।

अथवा 'वुग्गहो' पद भी इसके बदले मिलता है। वस्तु को विपरीत मानना ही व्युद्ग्रह या विपरीत आग्रह है। वस्तु को विपरीत मानने पर भी काम मे प्रवृत्ति होती है। जैसा कि कामियो का स्वरूप बताया है—

दु खात्मेषु विषयेषु सुखाभिमान, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु च दु'खबुद्धि ।
उत्कीर्णवर्णपदपक्तिरिवाऽन्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतमतिप्रयोगात् ॥

अर्थात्—'जो इन्द्रियविषय दु खदायक है, उन्हे विपरीत आग्रहवश कामी सुखरूप मानते हैं और नियम, व्रत, त्याग आदि जो वास्तव मे सुखरूप है, उन्हे वे बडे कष्टमय मानते है। जैसे किसी पत्थर या लकडी पर उलटी खोदी हुई वर्णो और पदो की पक्ति होती है, वैसे ही कामी पुरुषो की दृष्टि और गति भी उलटी है।

व्युद्ग्रह—विपरीत आग्रह भी कामवासना का कारण होता है, अत इसे पर्यायवाची पद मानना भी अनुचित नही है।

विघाओ—अब्रह्मचर्य ज्ञान, दर्शन चारित्र आदि आत्मगुणो का सर्वथा घात करने वाला होने से 'विघात' भी कहता है।

क्योकि जब मनुष्य के हृदय मे कामपिशाच (अब्रह्म) प्रविष्ट हो जाता है तो उसके सभी सद्गुण एक-एक करके नष्ट हो जाते है। एक आचार्य ने ठीक ही कहा है—

'विषयासक्तचित्तस्य गुण को वा न नश्यति ।
न वैदुष्य, न मानुष्य, नाभिजात्य, न सत्यवाक् ॥

अर्थात्—जिसका चित्त विषयो मे आसक्त हो जाता है, उसका कौन-सा ऐसा गुण है, जो नष्ट न हो जाता हो ? उस कामासक्त मे तब न तो विद्वत्ता रहती है, न मनुष्यता ही। न वह कुलीनता को रख पाता है और न अपने वचनो का पाबद ही रहता है।'

एक आचार्य ने तो यहाँ तक ललकार कर कहा है—

"जइ ठाणी जइ मोणी जइ मु डी वक्कली तवस्सी वा ।
पत्थतो अ अवभ वभा वि न रोयए मज्झ ॥१॥
तो पढिय तो गुणिय तो मुणिय तो य चेइओ अप्पा ।
आवडियपेल्लियामतिओ वि जइ न कुणइ अकज्ज ॥२॥"

अर्थात्'चाहे कोई कायोत्सर्ग मे स्थित रहने वाला—ध्यानी हो,चाहे मौनी हो,चाहे वृक्ष की छाल पहने रहता हो अथवा तपस्वी हो, यदि वह अब्रह्मचर्य (काम) मे प्रवृत्त होना चाहता है तो वह ब्रह्मा ही क्यो न हो, मुझे तो अच्छा नही मालूम होता। उसी का पढना सफल है, उसी का अभ्यास और मनन करना सफल है, तभी उसे ज्ञानी कहा जायगा और तभी सावधान और विवेकी आत्मा माना जायगा, यदि वह आपत्ति आने पर भी अकार्य—अब्रह्म में प्रवृत्ति नही करता है।'

ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुचा हुआ पुरुप भी कामसेवन के चक्कर मे पडते ही एकदम नीचे गिर जाता है, सर्वथा पतित और गुणो से रहित हो जाता है। वह किसी का विश्वासपात्र नही रहता।

विभगो—अब्रह्मचर्य का मार्ग अपनाते ही साधक के चारित्रादि गुणो का भग हो जाता है। चारित्र-पालन के लिए जो व्रत, नियम आदि स्वीकार किये जाते है, वे सव टूट जाते है। मनुष्य सयम मे शिथिल होकर मर्यादाएँ तोडता जाता है। यह सव प्रभाव अब्रह्मचर्य का ही है। इसलिए उसे विभग भी कहा गया हे।

विब्भमो—ससार मे अगणित लोगो को अब्रह्मचर्य मे प्रवृत्त देख कर तथा उन्हे धन और साधनो से सम्पन्न देखकर अब्रह्मचर्य के प्रति अच्छाई की या अब्रह्मचर्य मे सुखप्राप्ति की भ्रान्ति हो जाती ह। अत विशेप प्रकार के भ्रम का कारण होने से अब्रह्म को विभ्रम भी कहा गया है। अथवा विभ्रम का अर्थ कामविकार भी है। अब्रह्म कामविकारो का कारण है, अत इसे विभ्रम भी कहा गया है।

अधम्मो—मनुष्य के मन मे कामविकार का प्रवेश होते ही धर्मभाव नष्ट होने लगते है। इसलिए इसे अधर्म कहा है। अथवा यह स्वय अधर्मरूप (पापस्वरूप) है और अधर्म (पाप) का वन्ध भी करता है, इसलिए इसे अधर्म ठीक ही कहा है।

असीलया—शील यानी सदाचार से रहित होना अशीलता है। जव मनुष्य अब्रह्मचर्य को अपनाता है तो सदाचार की मर्यादाओ को ताक मे रख देता है। चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से कुशील सेवन होता हे। इसलिए अशीलता को अब्रह्मचर्य की वहन कहे तो अनुचित नही।

गामधम्मतत्ती—कामी पुरुप व्यसनी की तरह रात-दिन कामवासना पैदा करने वाले शव्दादि कुविपयो की फिराक मे रहता हैं। शब्दादि कुविपयो की तलाश करते रहना ही गामधर्म-तप्ति है। अब्रह्मचर्यपरायण व्यक्ति भी यही धधा करता है। इसलिए अब्रह्मचर्य और ग्रामधर्मतप्ति ये दोनो साथी हैं।

'रती'—स्त्रीपुरुप की गुप्त रतिक्रीडा ही अब्रह्मचर्यसेवन की अन्तिम निष्पत्ति

है। इसलिए रति अब्रह्मचर्य का उत्कट और बाह्यरूप है, इसी कारण इसे 'रति' (सयोगक्रिया) भी कहा है।

'रागचिता'—स्त्रीपुरुषो की पारस्परिक रतिक्रीडा, हावभाव, विलास आदि प्रणयराग कहलाता है, इसे आजकल रागरग भी कहते हैं। उसका चिन्तन करने से कामविकार पैदा होता है, इसलिए रागचिता भी अब्रह्म का कारण होने से अब्रह्म का पर्यायवाची शब्द माना गया है। कही-कही 'रागो' पाठ भी है। उसका अर्थ होता है—दाम्पत्यप्रणय—विकारी प्रेम। चूकि अब्रह्म अपने आप मे राग का ही कार्य है।

'कामभोगमारो'—काम (शब्द और रूप) तथा भोग (रस, गन्ध और स्पर्श) से मार—काम पैदा होता है, अत अब्रह्म और मार दोनो को एकार्थक कहे तो अनुचित नही। अथवा काम और भोग द्वारा यह जीवो को मारता है—पीडित करता है, इसलिए भी यह अब्रह्म का समानार्थक है।

वेर—ससार मे वैरविरोध के दो मूलकारण है—धन और स्त्री। स्त्री के निमित्त से जो वैर बढता है, उसमे यह अब्रह्म (काम) ही कारण है। इसलिए वैर को जन्म देने वाला होने के कारण कार्य का कारण मे उपचार करके इसे वैर कहा है।

'रहस्स'—प्राय सभी पापक्रियाएँ एकान्त मे की जाती है। पापकृत्य होने के कारण मैथुनसेवन भी एकान्त मे किया जाता है इसलिए एकान्त मे किये जाने से इस कुकार्य को भी रहस्य कह कर 'अब्रह्म' का साथी बताया है।

गुज्झ—पाप हमेशा छिपाने योग्य हुआ करता है। 'प्रच्छन्न पाप'—पाप का लक्षण है—'प्रच्छन्न'। इसलिए इसे गुह्य-गोपनीय कहा है। अथवा मैथुन गुह्य-गुप्त अगो द्वारा सम्पन्न होता है, इसलिए इसे 'गुह्य' कह कर अब्रह्म का मित्र बताया है।

'बहुमाणो'—ससार के अगणित प्राणी अब्रह्म की प्रवृत्ति को मानते है, अथवा स्त्रीपुरुष के सयोगजन्य इस अकार्य को बहुत सम्मान देते है। इसलिए इसे 'बहुमान' कह कर अब्रह्म का समर्थक बताया है।

'बभचेरविग्घो'—ससार मे राम (परमात्मा-शुद्ध आत्मा) भी है और काम भी। परन्तु राम की प्राप्ति मे जैसे काम सहयोग नही देता, वैसे ही काम की प्राप्ति मे राम भी सहयोग नही दे सकता। मतलब यह है राम और काम एक ही सिंहासन पर नही बैठ सकते। ब्रह्मचर्यपालन शुद्ध आत्मा एव परमात्मा की प्राप्ति के लिए है, जबकि अब्रह्मचय (काम) का आचरण क्षणिक वैषयिक सुख की प्राप्ति के लिए होता है। अत यह स्वाभाविक है कि अब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्यपालन मे सहायक न हो कर विघ्न-कारक ही बनेगा। अब्रह्मचर्य कामोत्तेजक विचारो, कुचेष्टाओ, अश्लील दृश्यो, गदे गीतो, तथा कामविकार की तमाम प्रवृत्तियो की ओर खीचेगा, जबकि ब्रह्मचय

इन सव वातो का विरोधी है। इसलिए अब्रह्मचर्य का एक नाम, 'ब्रह्मचर्यविघ्न' रखा है, यह ठीक ही है।

'वावत्ति'—बुरे विचारो, बुरे कार्यों और बुरी वाणी से ससार मे अनर्थ पैदा होते ह, ये अशान्ति और आफत के कारण ह। अब्रह्मचर्य भी इन तीनो बुराइयो का मूल है। इसलिए व्यापत्ति—वडी आपत्ति—महा-अनर्थ का कारण होने से इसे अब्रह्म का पर्यायवाची वताया है।

'विराहणा'—अब्रह्मचर्य से आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य आदि शक्तियो की, सद्गुणो की विराधना होती है। आत्मा के शुद्धभाव, वीतरागता, ब्रह्मचर्य, स्वभावपरिणति आदि का घात अब्रह्मचर्य से होता है। इसलिए सद्गुणो की विराधना का कारण होने से इसे अब्रह्म के समकक्ष वताया गया है।

पसगो—अब्रह्मचर्य स्त्री आदि हेय पदार्थो मे आसक्ति पैदा करने कारण है, इसलिए इसे 'प्रसग' कहा है। अथवा स्त्री आदि कामोत्तेजक पदार्थों या वातावरण का अनुचित और अतिससर्ग करने से अब्रह्माचरण होता है, इसलिए प्रसग अब्रह्माचरण का कारण होने से इसे अब्रह्म का पर्यायवाची वताया है।

'कामगुणो'—जव चित्तभूमि मे कामवासनारूपी बीज वोया जाता है,तभी उसके फलस्वरूप मथुन की प्रवृत्ति होती है। काम बीज है और मैथुन उसका फल। इसलिए कामगुण (कामवासना) अब्रह्म का वीज होने से उसे अब्रह्मचर्य का साथी वताया है। अथवा काम यानी कामनाओ का गुणन-वारवार आवृत्ति करने वाला होने से इसे कामगुण कहना भी सार्थक है। क्योकि अब्रह्मचर्य सेवन करने वाले का मन और वुद्धि ये दोनो स्थिर नही रहते, उसके मन मे नाना प्रकार की इच्छाएँ-कामनाएँ उठती रहती है, एक की पूर्ति हुई न हुई कि दूसरी इच्छा तैयार खडी रहती है। उसके पश्चात् तीसरी। इस प्रकार कामनाओ का ताता लगा रहता है। इसलिए अब्रह्म को कामनाओ की वारवार आवृत्ति का कारण होने से कामगुण कहना सगत ही है।

इस प्रकार अब्रह्म के तीस सार्थक नामो की व्याख्या की गई है। इसके ये और ऐसे अन्य मन्मथ, मदन आदि अनेक नाम होते है। परन्तु विस्तार के भय से शास्त्र-कार ने संक्षेप मे ही दिग्दर्शन कराया है।

अब्रह्मसेवनकर्ता कौन और कैसे ?

पूर्वसूत्रपाठ मे शास्त्रकार अब्रह्म के सार्थक नामो का निरूपण कर चुके, अव अगले सूत्र मे वे क्रमश अब्रह्मचर्यसेवन-कर्ता कौन-कौन है और वे किस-किस तरह से इसका सेवन करते हैं, यह वताते हैं।

मूलपाठ

त च पुण निसेवति सुरगणा सअच्छरा मोहमोहियमती, असुर-भुयग-गरुल-विज्जु-जलण -दीव-उदहि-दिसि-पवण - थणिया, अणवन्नि-पणवनि य-इसिवादिय-भूयवादिय-कंदिय-महाकदिय-कूहड-पयगदेवा, पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस - किनर-किंपुरिस - महोरग-गधव्वा, तिरिय-जोइस-विमाणवासि-मणुयगणा, जलयर-थलयर-खहयरा य, मोहपडिबद्धचित्ता, अवितण्हा, कामभोगतिसिया, तण्हाए बलवईए महईए समभिभूया, गढिया य, अतिमुच्छिया य, अबभे उस्सण्णा, तामसेण भावेण अणुम्मुक्का, दसणचरित्त-मोहस्स पजरमिव करेति अन्नोऽन्न सेवमाणा ।

भुज्जो असुर-सुर-तिरिय - मणुअ - भोगरतिविहारसपउत्ता य चक्कवट्टी सुरनरवतिसक्कया, सुरवरुव्व देवलोए भरह-णग-णगर-णियम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कव्वड-मडब-सवाह-पट्टण-सहस्समंडियं, थिमियमेइणीय, एगच्छत्त ससागर भु जिऊण वसुह नरसीहा,नरवई,नरिदा,नरवसभा,मरुयवसभकप्पा,अब्भहिय रायतेय-लच्छीए दिप्पमाणा, सोमा, रायवसतिलका, रविससिसखवर-चक्कसोत्थियपडागजवमच्छकुम्मरहवर-भग - भवण-विमाण-तुरय-तोरण-गोपुर-मणिरयण - नंदियावत्त-मुसल - णगल - सुरइयवर-कप्परुक्ख-मिगवति-भद्दासण-सु(र)रूवि-(चि)-थूभ-वर-मउड-सरिय-कु डल-कु जर-वरवसभ-दीव- मदर - गरुल-ज्झय - इदकेउ-दप्पण-अट्ठावय-चाव - बाण - नक्खत्त - मेह-मेहल-वीणा-जुग-छत्त-दाम-दामिणि-कमडलु-कमल-घंटा-वरपोत-सूइ - सागर-कुमुदागर-मगर-हार-गागर-नेउर-णग-णगर-वइर - किन्नर-मयूर-वररायहस-सारस-चकोर-चक्कवाग-मिहुण-चामर - खेडग - पव्वीसग-विपचि-वरता-लियट-सिरियाभिसेय-मेइणि-खग्गकुस - विमलकलस-भिगार-वद्ध-

माणगपसत्थउत्तम - विभत्तवरपुरिसलक्खणधरा, बत्तीसवररायसहस्साणुजायमग्गा, चउसट्ठिसहस्सपवरजुवतीण णयणकता, रत्ताभा, पउमपम्हकोरटगदामचपकसुतयवरकणकनिहसवन्ना, सुवण्णा, सुजायसव्वगसु दरगा, महग्घवरपट्टणुग्गय-विचित्तराग-एणिपेणिणिम्मिय-दुगुल्लवरचीणपट्टकोसेज्ज-सोणीसुत्तकविभूसियगा, वरसुरभि-गधवरचुण्णवासवरकुसुमभरियसिरया,कप्पियछेयायरिय-सुकयरइतमालकडगगयतुडियपवरभूसणपिणद्धदेहा, एकावलिकठ-सुरइयवच्छा, पालबपलवमाणसुकयपडउत्तरिज्जमुद्दियापिंगलगुलिया, उज्जलनेवत्थरइयचेल्लगविरायमाणा तेएण दिवाकरोव्व दित्ता, सारयनवत्थणियमहुरगंभीरनिद्धघोसा, उप्पन्नसमत्तरयण-चक्करयणप्पहाणा, नवनिहिवइणो, समिद्धकोसा, चाउरंता, चाउराहिं सेणाहिं समणुजातिज्जमाणमग्गा, तुरगवती, गयवती, रहवती, नरवती, विपुलकुलवीसुयजसा,सारयससिसकलसोमवयणा, सूरा, तेलोक्कनिग्गयपभावलद्धसद्दा, समत्तभरहाहिवा नरिंदा, ससेलवणकाणण च हिमवतसागरत धीरा भुत्तूण भरहवास जिय-सत्तू, पवररायसीहा, पुव्वकडतवप्पभावा, निविट्ठसचियसुहा, अणेगवाससयमायुवतो भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहि लालियता अतुलसद्दफरिसरसरूवगधे य अणुभवेत्ता तेवि उवणमंति अवितित्ता कामाण ।

संस्कृतच्छाया

तच्च पुन: निषेवन्ते सुरगणा साप्सरसो मोहमोहितमतय, असुर-भुजगगरुडविद्यु ज्ज्वलनद्वीपोदधिदिक्पवनस्तनिता:, अणपन्निक-पणपन्निक-ऋषिवादिक-भूतवादिक-क्रन्दित - महाक्रन्दित-कूष्मांड - पतगदेवा:, पिशाच-भूत-यक्ष-राक्षस-किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्वा ,तिर्यग्-ज्योतिर्विमानवासि-मनुज-गणा, जलचर-स्थलचर-खचराश्च,मोहप्रतिबद्धचित्ता,अवितृष्णा ,काम-भोगतृषिता , तृष्णया बलवत्या महत्या समभिभता, ग्रथिताश्च, अति-

मूर्च्छिताश्च अब्रह्मणि अवसन्ना, तामसेन भावेन अनुन्मुक्ताः, दर्शनचारित्र-मोहस्य पजरमिव कुर्वन्त्यन्योन्य सेवमाना.।

भूयो ऽसुर-सुर-तिर्यग्-मनुज-भोगरतिविहारसम्प्रयुक्ताश्च चक्रवर्तिनः सुरनरपतिसत्कृता सुरवरा इव देवलोके भरत-नग - नगर-निगम-जनपद-पुरवर-द्रोणमुख-खेट-कर्बट-मडम्ब-सवाह-पत्तनसहस्रमडिता स्तिमित मेदिनी-काम् एकच्छत्राम् भुक्त्वा वसुधा नरसिहा, नरपतयो, नरेन्द्रा, नरवृषभा, मरुद्वृषभकल्पा, अभ्यधिक राजतेजोलक्ष्म्या दीप्यमाना, सौम्या, राजवश-तिलका, रविशशिशखवरचक्रस्वस्तिकपताकायवमत्स्यकूर्मरथवरभग-भवनविमानतुरगतोरण - गोपुर - मणिरत्ननन्द्यावर्त्तमुशललागलसुरचितवर-कल्पवृक्षमृगपतिभद्रासनसुरू (पी) ची-स्तूपवरमुकुटमुक्तावलीकुडलकुजर-वरवृषभद्वीपमन्दरगरुडध्वजेन्द्रकेतुदर्पणाष्टापदचापबाणनक्षत्रमेघमेखलावीणा-युगच्छत्रदामदामिनीकमडलुकमल -घटावरपोतसूचीसागरकुमुदाकरमकरहार-गागरनूपुरनगनगरवज्रकिन्नरमयूरवरराजहससारसचकोरचक्रवाकमिथुनचामर खेटकपव्वीसकविपचीवरतालवृन्त-श्रीकाभिषेकमेदिनीखड्गाकुशविमलकलश-भृगारवर्द्धमानकप्रशस्तोत्तमविभक्तवरपुरुषलक्षणधरा, द्वात्रिशद्वरराज-सहस्रानुयातमार्गाश्चतु षष्टिसहस्रप्रवरयुवतीना नयनकान्ता, रक्ताभा, पद्मपक्ष्मकोरटकदामचपकसुतप्तवरकनकनिकषवर्णा, सुवर्णा, सुजातसर्वाग-सुन्दरागा, महार्घवरपत्तनोद्गतविचित्ररागैणीप्रैणीनिर्मितदुकूलवरचीनपट्ट-कौशेयश्रोणीसूत्रकविभूषितागा, वरसुरभिगन्धवरचूर्णवासवरकुसुमभरित-शिरस्का, कल्पितछेकाचार्यसुकृतरतिदमालाकटकागदतुटिकप्रवरभूषणपिनद्ध-देहा, एकावलीकठसुरचितवक्षस, प्रलम्बप्रलम्बमानसुकृतपटोत्तरीयमुद्रिका-पिंगलागुलिका, उज्ज्वलनैपथ्यरचितचिल्लग-(लीन)विराजमाना, तेजसा दिवाकर इव दीप्ता, शारदनवस्तनितमधुरगम्भीरस्निग्धघोषाश्चातुरन्ता-श्चातुरीभि सेनाभि समनुयायमानमार्गा, तुरगपतयो, गजतपयो, रथपतयो, नरपतयो, विपुलकुलविश्रुतयशस, शारदशशिसकलसौम्यवदना, शूरास्त्रैलो-क्यनिर्गतप्रभावलब्धशब्दा, समस्तभरताधिपा, नरेन्द्रा, सशैलवनकानन च हिमवत्सागरान्त धीरा भुक्त्वा भरतवर्ष जितशत्रव, प्रवरराजसिहा पूर्वकृत-तप प्रभावा, निविष्टसचितसुखा अनेकवर्षशतायुष्मन्तो भार्याभिश्च जनपद-

प्रधानाभिजल्यमाना अतुलशब्दस्पर्शरसरूपगन्धान् चानुभूय तेऽप्युपनमन्ति मरणधर्ममवितृप्ता कामानाम् ।

पदार्थान्वय—(पुण) और (त च) उस अब्रह्मचर्य को, (सअच्छरा) अप्सराओ-देवियो सहित, (मोहमोहितमती) मोह से मोहित बुद्धिवाले, (असुर-भुयग गरुल-विज्जु-जलण- दीव- उदहि- दिसि- पवण- थणिया) असुरकुमार, नाग कुमार, सुपर्ण (गरुड) कुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार और स्तनित-मेघकुमार ये दस भवनवासी देव, (अणवन्नि-पणवन्नि य-इसिवादिय-भूय-वादिय-कंदिय-महाकंदिय-कूहंड-पयगदेवा) अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माड और पतग ये आठ व्यन्तर जाति के उच्च माने जाने वाले—यानी वन आदि स्थानो के अन्दर के भागो मे रहने वाले देव, तथा (पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-महोरग-गधव्वा) पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व ये आठ व्यन्तरजाति के देव, जो पूर्वोक्त व्यन्तरो से नीचे माने जाते ह, (तिरिय-जोइस-विमाणवासि-मणुयगणा) तिर्यग्लोक-मध्यलोक मे विमानवासी ज्योतिषदेव तथा मनुष्यगण (य) और (जलयर-थलयर-खहयरा) जलचर, स्थलचर और खेचर-पक्षी, (मोहपडिबद्धचित्ता) जिनका चित्त मोह मे आसक्त है वे, (अवितण्हा) कामभोगो की प्राप्ति होने पर भी जिनकी तृष्णा मिटी नहीं है, वे, (कामभोगतिसिया) अप्राप्त काम भोगो के प्यासे, (महईए बलवईए तण्हाए) भोगो की बडी बलवती-प्रबल तृष्णा-लालसा से (समभिभूया) सताये हुए, (गढिया) विषयो मे रचेपचे,(य) और (अतिमुच्छिया) अत्यन्त मूर्च्छित—आसक्त, (अबभे) अब्रह्मचर्य मे—कामवासना के कीचड मे, (उस्सण्णा) फसे हुए (तामसेण भावेण) तामसभाव से—अज्ञानमय-जडता के परिणाम से (अणुम्मुक्का) मुक्त नहीं हुए, (अन्नोऽन्न) नरनारी के रूप में परस्पर अब्रह्म—मैथुन का (सेवमाणा) सेवन करते हुए, (दसणचरित्तमोहस्स) दर्शनमोहनीय एव चारित्र-मोहनीयकर्म का (पजरमिव) अपनी आत्मारूपी पक्षी को पींजरे में डालने के समान बध, (करेंति) करते हैं।

(भुज्जो य) और पुन (असुर-सुर-तिरिय-मणुअ-भोग-रतिविहारसपउत्ता) असुरो, सुरो, तिर्यंचो और मनुष्यो सम्बन्धी भोगो—शब्दादिविषयो में राग-आसक्ति-पूर्वक विहारो—विविध प्रकार की क्रीडाओ में प्रवृत्त—जुटे हुए (सुरनरवतिसक्कया) देवेन्द्रो और नरेन्द्रो द्वारा सम्मानित, (देवलोए) स्वर्गलोक में, (सुरवरुव्व) देवेन्द्र की

तरह, (भरह णग-णगर-णियम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कब्बड-मडव-सवाह-पट्टण-सहस्समडिय) भरतक्षेत्र के हजारो पर्वतो, नगरो, निगमो—व्यापारियो के स्थानो, जनपदो, राजधानीरूप नगरो, द्रोणमुखो—जलस्थलपथ से युक्त स्थानो—बदरगाहो, धूल के कोट वाली बस्तियो—खेडो, कर्वटो—कस्बो, मडवो—आसपास बस्ती से रहित स्थानो, सवाहो—छावनियो, पत्तनो—मडियो से सुशोभित, (थिमियमेइणिय) सुरक्षा से निश्चित-स्थिर लोगो से बसी हुई पृथ्वी वाली (एगच्छत्त) एकछत्रा, (ससागर) समुद्र-पर्यन्त (वसुह) वसुधा का (भु जिऊण) उपभोग करके (चक्कवट्टी) चक्रवर्ती, (य) तथा (नरसीहा) मनुष्यो मे सिह के समान शूरवीर, (नरवई) मनुष्यो के स्वामी, (नरिंदा) मनुष्यो मे ऐश्वर्यशाली, (नरवसभा) मनुष्यो मे लिये हुए कर्त्तव्यभार को निभाने मे समर्थ बैल के समान, (मरुयवसभकप्पा) नाग-भूत यक्षादि देवो मे वृषभ के समान अग्रगण्य, (अब्भहिय रायतेयलच्छीए दिप्पमाणा) राजकीय तेजोलक्ष्मी से अत्यधिक देदीप्यमान, (सोमा) सौम्य अथवा नीरोग, (रायवसतिलगा) राजवश के तिलक, (रविससिसखवरचवकसोत्थियपडाग-जवमच्छकुम्मरहवरभगभवणविमाण तुरयतोरणगोपुरमणिरयणनदियावत्तमुसलणगलसुरइयवरकप्परुक्ख - मिगवति-भद्दासण-सुरुचि-थू भ- वरमउड - सरियकु डल - कु जरवर - वसभदीवमदरगरुलज्झय - इ दकेउ-दप्पण-अट्ठावय-चाव-बाण-नक्खत्त-मेह-मेहल-वीणाजुगछत्तदामदामिणीकमडलु-कमल-घटा-वरपोत-सूइ-सागर-कुमुदागर-मगर-हार-गागर-नेउर-णग- णगर-वइर- किन्नर-मयूर-वर-रायहस-सारस-चकोर-चक्कवाग-मिहुण-चामर-खेडक - पव्वीसग - विपचि-वरतालियट-सिरियाभिसेय-मेइणि-खग्ग-कुस-विमलकलस-भिंगार - वद्धमाणगपसत्थ - उत्तम-विभत्त-वरपुरिसलक्खणधरा) सूर्य, चन्द्र, शख, उत्तम चक्र, स्वस्तिक, पताका, जौ, मत्स्य, कछुआ, उत्तम रथ, योनि, भवन, विमान, अश्व, तोरण, नगरद्वार, चन्द्रकान्त आदि मणि, रत्न, नौ कोनो वाला साथिया—नन्द्यावर्त, मूसल, हल, सुरचित—सुन्दर श्रेष्ठ कल्पवृक्ष, सिह, भद्रासन, सुरुचि नामक आभूषण, स्तूप, सुन्दर मुकुट, मुक्तावली हार, कुडल, हाथी, उत्तम बैल, द्वीप, मेरुपर्वत अथवा घर, गरुड, ध्वजा, इन्द्रकेतु, (इन्द्र-महोत्सव मे गाडी जाने वाली स्तभरूप लकडी), दर्पण—शीशा, वह फलक या पट जिस पर शतरज या चौपड खेली जाती है, अथवा कैलाशपर्वत, धनुष, बाण, नक्षत्र, मेघ, मेखला—करधनी, वीणा, गाडी का जूआ, छत्र, माला, पूरे शरीर तक लम्बी माला, कमडलु, कमल, घटा, मुख्य जहाज, सुई, समुद्र, कुमुदवन या कुमुदो से भरा तालाब, मगर, हार—मणिमाला, गागर नामक आभूषण अथवा पानी का गागर—घडा, पैरो के नूपुर पर्वत, नगर, वज्र, किन्नर नामक देव अथवा किन्नर नामक बाजा, मोर, उत्तम,

राजहस, सारस, चकोर, चक्रवाक पक्षियो के जोडे, चवर, ढाल, पव्वीसक नामक बाजा, सात तारो की वीणा, उत्तम पखा, लक्ष्मी का अभिषेक, पृथ्वी, तलवार, अकुश, निर्मल कलश, झारी और सकोरा या प्याला, श्रेष्ठ पुरुषो के इन सब उत्तम, मागलिक और विभिन्न लक्षणो— चिह्नो को धारण करने वाले (बत्तीसवररायसहस्साणुजायमग्गा) बत्तीस हजार श्रेष्ठ मुकुटबद्ध राजा मार्ग मे जिनके पीछे-पीछे चलते हैं, (चउसट्ठिसहस्सपवरजुवतीण णयणकता) चौसठ हजार सुन्दर युवतियो के नेत्रो के प्यारे, (रत्ताभा) लाल कान्ति वाले, (पउमपम्हकोरटदामचपकसुतयवरकणकनिहसवन्ना) कमल के गर्भ—मध्यभाग, चम्पा के फूलो, कोरट (हजारा) नामक फूलो की माला और तपे हुए सुन्दर सोने की कसौटी पर खींची हुई रेखा के समान गोरे रग के, (सुवण्णा) सुन्दर वर्ण वाले, (सुजायसव्वगसुदरगा) जिनके सभी अग बडे सुन्दर और सुगठित—सुडौल हैं, (महग्घवरपट्टणुग्गय विचित्तरागएणिपेणिणिम्मियदुगुल्लवरचीणपट्टकोसेज्ज-सोणीसुत्तकविभूसियगा) बडे-बडे शहरो मे बने हुए, विविध रगो वाले, हिरनी तथा खास जाति की हिरनी के चमडे के समान कोमल वहुमूल्य वल्कल-छाल के वस्त्र अथवा पूर्वोक्त हिरनी के चमडे से बने हुए कीमती कपडे, चीनी वस्त्र तथा रेशमी वस्त्र और कटिसूत्र से जिनका शरीर सुशोभित है, (वरसुरभिगधवरचुण्णवासवरकुसुमभरियसिरया) जिनके मस्तक श्रेष्ठ सुगध से, सुन्दर चूर्ण (पाउडर) की सुवास से, उत्तम फूलो से भरे हुए हैं, (कप्पियछेयारियसुकयरइतमालकडगगयतुडियवरभूसणपिनद्धदेहा) प्रसिद्ध चतुर कलाकारो—शिल्पियो द्वारा बडी कुशलता से आर्यजनो के पहनने योग्य बनाई हुई सुखकर माला, कडे, बाजूबद, तुटिक—अनन्त तथा उत्तम आभूषण शरीर पर पहने हुए, (एकावलिकठसुरइयवच्छा) जिन्होने कठो और वक्षस्थलो पर एकलडी की सुन्दर मणिमाला पहन रखी है,(पालबपलबमाणसुकयपडउत्तरिज्जमुद्दियापिंगलगुलिया) जो लम्बी धोती और लटकते हुए दुपट्टे को पहने हैं तथा उगलियो मे अगूठी डाले हुए हैं, जिनसे उनकी अगुलियाँ पीली हो रही हैं, (उज्जलनेवत्थरइयचेल्लगविरायमाणा) वे अपनी उजली वेषभूषा से, गहनो और अच्छी तरह पहनी हुई पोशाक से सुशोभित हो रहे हैं, (तेयसा दिवाकरोव्व दित्ता) तेज से वे सूर्य की तरह चमक रहे हैं, (सारयनवत्थणियमहुरगभीरनिद्धघोसा) उनकी आवाज शरद्ऋतु के नये मेघ के गर्जन के समान मधुर, गम्भीर और स्नेह-भरी है, (उप्पन्नसमत्तरयणचक्करयणपहाणा) चक्ररत्नप्रमुख समस्त १४ रत्न जिनके यहाँ उत्पन्न हो गए हैं, (नवनिहिवई) जो नौ निधियो के स्वामी हैं, (समिद्धकोसा)

जिनका कोश—खजाना अत्यन्त समृद्ध—परिपूर्ण है, (चाउरता) तीनो ओर समुद्र और चोथी ओर हिमवान पर्वत तक जिनके राज्य का अन्त है, सीमा है। (चाउरांहि सेणांहि समणुजातिज्जमाणमग्गा) हाथी, घोडे, रथ और पैदल—ये चारो प्रकार की सेनाएँ जिनके मार्ग का अनुगमन करती है, अर्थात् जिनकी आज्ञा मे हैं। (तुरगवती गयवती रहवती नरवती) वे घोडो के स्वामी है, हाथियो के मालिक हैं, रथो के स्वामी हैं तथा मनुष्यो के भी अधिपति है, (विपुलकुलवीसुयजसा) जिनका कुल बडा विशाल है और यश भी दूर-दूर तक फैला हुआ प्रसिद्ध है, (सारयससिसकलवयणा) जिनका मुख शरत्काल के सोलहकलाओ सहित—पूर्ण चन्द्रमा के समान है, (सूरा) शूरवीर हैं, (तेलोक्कनिग्गयपभावलद्धसद्दा) जिनका प्रभाव तीनो लोको मे प्रसिद्ध है और जो सर्वत्र जयजयकार पाये हुए है, (समत्तभरहाहिवा) जो सारे भरतक्षेत्र के अधिपति है, (धीरा) जो धीर हैं, (जियसत्तू) जिन्होने अपने दुश्मनो को जीत लिया है, (पवररायसीहा) बडे-बडे राजाओ मे जो सिंह के समान हैं, (पुव्वकडतवप्पभावा) वे अपने पूर्वजन्मो मे कृत तप से प्रभावशाली हैं, (निविट्ठसंचियसुहा) वे संचित पुष्ट सुख को भोगने वाले है, (अणेगवाससयमायुवतो) सैकडो वर्षो की आयु वाले (नरिंदा) चक्रवर्ती नरेन्द्र (ससेलवणकाणण) पर्वतो, वनो और उद्यानो से सहित, (हिमवत-सागरत) उत्तर मे हिमवान पर्वत और तीनो दिशाओ मे समुद्रपर्यन्त, (भरहवास) भरतक्षेत्र-भारतवर्ष को, (भुत्तूण) भोग कर—भारत के राज्य का उपभोग करके, (य) तथा (जणवयप्पहाणांहि भज्जांहि) जनपद—देश मे सर्वश्रेष्ठ और नामी पत्नियो के साथ (लालियता) भोगविलास करते हुए (अतुलसद्दफरिसरसरूवगधे अणुभवेत्ता) अनुपम अद्वितीय शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध सम्बन्धी विषयो का अनुभव करके (ते वि) वे भी (कामाण अवितित्ता) कामभोगो से अतृप्त हो कर या तृप्त न हुए और (मरणधम्म उवणमति) मरणधर्म को, मृत्यु को पाते हैं।

मूलार्थ—जिनकी बुद्धि मोह से मोहित हो रही है, ऐसे देव अपनी देवियो-अप्सराओ के साथ उस मैथुन का सेवन करते है। वे देव निम्नोक्त है—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्ण (गरुड)—कुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, दिशाकुमार पवनकुमार और स्तनित—मेघकुमार। ये दस भेद भवनवासी देवो के है। अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माड और पतग - ये आठ भेद उच्चजाति के व्यन्तरदेवो के है। पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व, ये आठ

कुंडल, हाथी, उत्तम वैल, द्वीप, मेरुपर्वत या गृह, गरुड, ध्वजा, इन्द्रकेतु (इ द्रयष्टि) दर्पण, चौपड या शतरज का फलक या पट, अथवा कैलाश पर्वत, धनुप, वाण, नक्षत्र, मेघ, मेखला—करधनी, वीणा, वैल के कंधो पर रखा जाने वाला जूवा, छत्र, फूलो की माला, दामिनी (लक्षणविशेप), कमडलु, घटा, उत्तम जहाज, सूई, समुद्र, कुमुदपुष्पो का वन, मगर, रत्नो का हार, गागर नामक आभूपण अथवा गागर—घडा, नूपुर, पर्वत नगर, वज्र, किन्नर (वाद्यविशेप या देवविशेप), मयूर, राजहस, सारस, चकोर और चक्रवाक का जोडा, चवर, ढाल, पव्वीसक (एक बाजा), सप्ततत्री वीणा, श्रेष्ठ पखा, लक्ष्मी का अभिपेक, पृथ्वी, तलवार, अकुश, निर्मल कलश, झारी, सकोरा या प्याला, श्रेष्ठ पुरुषो के इन मगलकारक विभिन्न उत्तम लक्षणो को जो धारण करते है, तथा बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके मार्ग का अनुसरण करते है, चौसठ हजार सर्वा गसु दर युवतियो के नेत्रो को जो प्यारे है, जिनके शरीर की कान्ति लाल है, जो कमल के गर्भ—मध्यभाग, कोरट (हजारा) के फूलो की माला, चम्पा के फूल, कसौटी पर खीची हुई तप्त शुद्ध सोने की रेखा के समान गोरे रग के है, जिनका रगरूप अच्छा है, जिनके शरीर के सभी अग सुगठित है। बडे-बडे नगरो मे चतुर शिल्पकलाचार्यों द्वारा अच्छे तरीके से बनाए गये रग-बिरगे हिरनी या उच्च जाति की हिरनी की चमडी के समान कोमल अथवा उक्त हिरनियो के चमडो से ही बने हुए वस्त्र, दुकूल नामक वृक्ष की छाल को कूट कर उसका सूत कात कर बुने हुए, या पेड की छाल से वने हुए या कपास के वस्त्र, चीन देश के बने हुए पट्टवस्त्र, रेशमी वस्त्र, कटिसूत्र (करधनी) से उनका शरीर सुशोभित हो रहा है। मनोज्ञ सुगध वाले इत्र आदि द्रव्यो से तथा खुशबूदार चूर्ण (पाउडर) की सुवास से तथा उत्तमोत्तम फूलो से जिनके सिर भरे हुए है, प्रसिद्ध कलाकारो द्वारा बनाई हुई सुन्दर सुखप्रद माला, कडे, बाजूबन्द, अनत आदि सु दर आभूषण शरीर पर धारण किये हुए हे, जिन्होने एकलडी की विचित्र मणियो की माला कठ और वक्षस्थल पर धारण कर रखी है, जिन्होने लबी धोती और लम्बे लटकते हुए दुपट्टे पहन रखे है, अगूठियो से जिनकी उ गलियाँ पीली दिखाई दे रही हे, जो उजली, चमकती हुई और अच्छी तरह सजी-धजी वेशभूपा से सुशोभित हो रहे है। तेज से जो सूर्य के समान चमक रहे

है, जिनकी आवाज शरत्काल के नए बादलो के गर्जन के समान मधुर, गभीर और स्नेहभरी है। चक्ररत्नप्रमुख १४ रत्न जिनके यहाँ उत्पन्न हुए है। जो नौ निधियो के स्वामी है। जो अखूट (समृद्ध) खजाने के मालिक है। जिनके राज्य की सीमा तीनो ओर समुद्र तक एव चौथी ओर हिमवान पर्वत तक है। हाथी, घोडे, रथ और पैदल—ये चारो प्रकार की सेनाएँ उनके मार्ग का अनुगमन करती है, अर्थात्—उनकी आज्ञा मे चलती है। जो घोडो के स्वामी है, हाथियो के अधिपति है, रथो के मालिक है, और मनुष्यो के नायक—स्वामी है। जिनका कुल वहुत विशाल है, जिनकी प्रसिद्धि सारे लोक मे है, जो समस्त भरतक्षेत्र के स्वामी है, जो धैर्यशाली है, जो सर्वशत्रुओ को जीतने वाले है, वडे-वडे नरेशो मे जो सिह के समान है। जो पूर्वजन्म मे किए हुए तप के प्रभाव से युक्त है, जो सचित सुख का उपभोग करते है, जिनकी आयु सैकडो वर्ष लम्बी होती है, ऐसे चक्रवर्ती नरेन्द्र पर्वतो, उद्यानो और वनो सहित उत्तर मे हिमवान पर्वत तक और शेप तीन दिशाओ मे समुद्र तक भरतक्षेत्र—भारतवर्ष का राज्योपभोग करते है तथा भारत के सभी जनपदो की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अपनी पत्नियो के साथ भोगविलास करते है और अनुपम शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध सम्वन्धी पचेन्द्रिय-विपयो का अनुभव करते है। ऐसे चक्रवर्ती भी कामभोगो से अतृप्त हो कर ही कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त करते है।

व्याख्या

शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ मे विस्तृत रूप से यह वताया है कि अब्रह्मचर्य के सेवन करने वाले कामरसिक लोग कौन-कौन है और उनके तौरतरीके, ठाठवाठ, वैभव, प्रभाव, वस्त्राभूपण, रहन-सहन आदि कैसे होते है ? वर्णन इतना सजीव है कि पढते-पढते भारत के भूतपूर्व राजाओ और रईसो की स्मृति ताजा हो जाती है। इसलिए जितना भी वर्णन है, वह स्वाभाविक लगता है, आश्चर्यजनक नही।

इस वर्णन से और अनुभव से ऐसा लगता है कि कामी-भोगी लोगो के जीवन के साथ ये ठाठवाठ, वेशभूपा, आडम्वर और रागरग व धे हुए ह। इनके विना उनका एक कदम भी आगे नही वढ सकता।

जानवूझ कर भी अब्रह्मचर्य के कीचड मे क्यो ?—प्रश्न होता ह, ये देव और वैभवशाली मनुप्य अब्रह्मचर्यसेवन का कटुफल अनुभव करते ह, स्त्रियो को ले कर वडे-वडे युद्ध तक होते है, मानसिक सक्लेश की कोई सीमा नही रहती, कभी-कभी

तो जीवन भी सकट मे पड जाता है, फिर ये सब जानते-बूझते हुए भी अब्रह्मचर्य का पल्ला क्या पकडे रहते हैं, इन्हे इस बुरे कार्य मे विरक्ति क्यो नही होती ?

इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है—'**मोहमोहितमती**' यानी इन सबकी बुद्धि मोह के घने कुहरे से ढकी रहती है। मोहाच्छन्न व्यक्ति अपने भले-बुरे, हानि-लाभ, कार्य-अकार्य और हिताहित का विचार नही कर पाता। यही कारण है कि चारित्र-मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के कारण देव और देवागनाए दोनो अब्रह्मचर्य का त्याग नही कर सकते और न वे मनुष्य ही सहसा अब्रह्मचर्य को तिलाजलि दे पाते हैं, जो सुखवैभव मे पल रहे है, जिनके पास अपार धनराशि है, अतुल वैभव है, हजारो नौकर-चाकर या दास-दासियाँ है, सुख के एक से एक बढ कर साधन है, नितनये शृ गार सजे जाते है, राग-रग मे ही जिनका अधिकाश जीवन बीतता है भोगविलास और आमोदप्रमोद ही जिनके जीवन का सर्वस्व है।

मतलब यह है कि जहाँ सुख-साधनो की प्रचुरता है, ऐश्वर्य और वैभव के अबार खडे है, जहाँ एक देव या एक पुरुष के अधीन हजारो देवागनाएँ या नारियाँ रहती है, ऐसे लोग अधिक से अधिक कामभोगो मे लीन रहते हैं, अपने जीवन मे वे भौतिक सुखोपभोग को ही प्रधानता देते है, रातदिन विषयभोगो के ही सपने लेते रहते है, सुन्दरियो की ही टोह मे रहते है। ससार मे चारगतियाँ है—नरक-गति, तिर्यञ्चगति मनुष्यगति और देवगति। इन चारो मे से सबसे ज्यादा सुख-साधन और ऐश्वर्य की प्रचुरता देवगति मे है, इसीलिए शास्त्रकार ने सर्व-प्रथम देवलोक के देव-देवियो मे कामभोग की तीव्र वासना का उल्लेख किया है—'**सुरगणा सअच्छरा**'।

देवो में अधिक विषयलालसा क्यो ?—प्राय यह देखा गया है कि जो जितना अधिक सुख मे पलता है, वह अधिकतर अब्रह्मचर्य का शिकार होता है। वह न तो साधु के महाव्रतो को ग्रहण कर सकता है और न श्रावक के अणुव्रतो को। यही कारण है कि देवगति के देव-देवी व्रतो को जरा भी ग्रहण नही कर सकते। मन मे विचार उठते ही उनकी इच्छानुसार भोगो की साधन-सामग्री कल्पवृक्षो से उपलब्ध हो जाती है। आहार (भोजन) की इच्छा होते ही उनके कठ मे अमृतमय आहार उपस्थित हो जाता है और उनकी तृप्ति हो जाती है। इसीलिए शास्त्रकार ने देवो के लिए ही 'मोहमोहितमती' विशेषण का प्रयोग किया है।

देवो का अधिकतर समय कामक्रीडाओ मे ही बीतता है। विविध उपायो से विषयसेवन करने मे ही वे मशगूल रहते है। इन्द्रियो के उत्तम से उत्तम शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शरूप विषय और उनकी प्राप्ति के लिए, श्रेष्ठसाधन वहाँ मौजूद है ही। इसलिए उन्हे वहाँ विषयो की प्राप्ति के लिए अधिक प्रयास नही करना

पडता। फिर देवो के वैक्रियशरीर होता है। वैक्रियलब्धि तो उन्हे जन्म से ही मिलती ह। देव लोक के देवदेवियो का शरीर रक्त, मास, हड्डी, चर्बी आदि अपवित्र धातुओ मे वना हुआ नही होता, सुकोमल सुन्दर, सुडौल शरीर होता है। उनके शरीर की सुकुमारता और तज्जन्य रति-सुख की उपमा किसी पदार्थ से नही दी जा सकती। वहाँ के कल्पवृक्षो मे प्राप्त पदार्थो के सुख या कठ मे झरने वाले अमृतमय आहार के सामने यहाँ के मेवामिष्टान्न आदि कुछ भी नही ह। वहाँ के कल्पवृक्ष के फूलो और सुगन्धित द्रव्यो की तुलना मे यहा के इत्र या केसर, कस्तूरी, चदन आदि सर्वश्रेष्ठ सुगधित पदार्थ भी मिट्टी के तेल के समान तुच्छ वताये गये ह। वहाँ के आभूपण, वस्त्र, और रत्नजटित अकृत्रिम विमानो की सुन्दरता के सामने रूप, रग और सुन्दरता मे यहाँ की कोई भी चीज ठहर नही सकती है। देवागनाओ के नूपुर आदि आभूपणो की झकार के सामने वीणा, कोयल आदि की ध्वनि फीकी ह। देवागनाओ के सुरम्य कठ मे निकलने वाली सुरीली आवाज और गायन का तो कहना ही क्या है! तात्पर्य यह है कि देवलोक मे उत्तमोत्तम विपयो की पराकाष्ठा है। इस कारण मोह के वाह्य साधनो के या निमित्तो के प्राप्त होने से तथा अन्तरग मे चारित्रमोहनीय कर्म के तीव्र उदय मे अब्रह्म सेवन भी वहा चरम सीमा पर ह, यह निसदेह कहा जा सकता है। इसी वात की पुष्टि शास्त्रकार ने की है। साथ ही उन्होने विभिन्न कोटि के देवो के नाम गिनाए हैं।

'देव' का अर्थ—असल मे देखा जाय तो देव उसे कहते हैं, जो सदा क्रीडा करते रहते ह, जिनके शरीर, आभूपण आदि देदीप्यमान होते है, जो सदा हर्प मे मग्न रहते ह, इन्द्रियविपयो मे मस्त रहते ह, तथा जिनके चित्त मे लगातार अनेक कामनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं एव जो विविध स्थानो मे क्रीडा के लिए गमन करते ह। इसलिए देवो मे विपयेच्छा प्रवल हो, इसमे कहना ही क्या?

भवनवासी देव कौन और कहाँ रहते है?—शास्त्रकार ने 'असुरभुयगगरुल' इत्यादि पक्ति से असुरकुमार आदि १० प्रकार के भवनवासी देव वताये ह। इनका भवनवासी नाम इसलिए पडा है कि ये भवनो मे रहते हैं। जैनशास्त्रानुसार अधोलोक मे रत्नप्रभा पृथ्वी का पिड एक लाख अस्सी हजार योजन का है। ऊपर और नीचे से एक-एक हजार योजन छोड कर शेप १७८००० योजन मे भवनवासी देवो के भवन ह। अधोलोक की इस पृथ्वी के तीन भाग ह—खरभाग, पकभाग और जलबहुल भाग। मध्यलोक से नीचे १६ हजार योजन चौडी खरभाग भूमि है, जहा असुरकुमार

---

१ विशेप जानकारी के लिए देखो—प्रज्ञापनासूत्र द्वितीयपद।

—सपादक

जाति के देवो को छोड कर वाकी के नागकुमार आदि ६ प्रकार के भवनवासी देवो के भवन वने हुए है । उस खरभाग से नीचे ८८००० योजन चौडी पकभागभूमि है, जहाँ असुरकुमार जाति के देवो के भवन वने हुए है ।

यद्यपि सव देवो की अवस्था आयुपर्यन्त पूर्ण यौवनावस्था के समान एक सरीखी रहती हे, तथापि भवनवासी देव प्राय विक्रिया द्वारा कुमारो के समान अपनी अवस्था वना लेते हे और कुमारो की तरह ही चमकीले वस्त्र, कडे, कुडल, हार और मुकुट आदि आभूपण पहने रहते है एव वालकवत् विविध क्रीडाएँ करते है, इसलिए इनके जातीय नाम के आगे 'कुमार' शब्द लगाया जाता हे ।

व्यन्तरदेव और उनका निवास—विविध देशान्तरो मे इनके निवास हे, इसलिए इन्हे व्यन्तर कहा जाता हे । रत्नप्रभा पृथ्वी का जो प्रथम भाग एक हजार योजन का है, उसमे से ऊपर और नीचे का सौ-सौ योजन छोड कर वाकी का जो ८०० योजन का टुकडा है, उसके तिर्यग्भाग मे व्यन्तरो के असख्यात नगर हैं ।

इसके अतिरिक्त इनका एक नाम 'वाणव्यन्तर' भी है, जिसका अर्थ होता हे-वनो मे रहने वाले व्यन्तर । जो नीची जाति के यक्षादि व्यन्तर देव है, वे प्राय वनो मे, पर्वतो की गुफाओ मे, पेडो मे, वृक्षो के कोटरो मे, विविध जलाशयो या प्राकृतिक दृश्यो वाले स्थानो, वगीचो और शून्यगृहो मे रहते हैं ।

'तिरिय-जोइस-विमाणवासि—मणुयगणा'—मध्यलोक के ज्योतिपदेव भी अब्रह्मचर्य सेवन मे पीछे नही है । ज्योतिपदेवो के ५ भेद है—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे । इनमे से सूर्य और चन्द्र ज्योतिपदेवो के इन्द्र होते है । सूर्यदेव के ४ अग्रमहिपी देवियाँ होती है, जो प्रत्येक विक्रिया करके अपने चार-चार हजार रूप वना सकती है । उनके साथ सूर्य दिव्यसुख का अनुभव करते है । चन्द्रमा के भी ४ अग्रमहिपी देविया होती है, वे भी हर एक विक्रिया द्वारा अपने चार-चार हजार रूप वदल सकती है । इनके साथ चन्द्रमा भी दिव्यसुख का अनुभव करते है । पाचो प्रकार के ज्योतिपदेव ढाई द्वीप पर्यन्त निरन्तर गमन करते रहते है, आगे नही । इस भूमि के समतल भाग से लेकर ११० योजन आकाशक्षेत्र मे कुल ज्योतिपदेवो के विमान हे ।

इसके वाद शास्त्रकार ने मनुष्यगति के स्त्रीपुरुपो मे भी अब्रह्मचर्य का प्रभाव वताया है । मनुष्यो मे वडे-वडे शूरवीर योद्धा भयकर युद्धो मे अपना जौहर दिखा सकते हे,वे मतवाले हाथियो के मस्तको को अपनी तलवार के एक प्रहार से टुकडे टुकडे कर सकते है, वडे-वडे दुर्दान्त सिंहो का शिकार कर सकते है, लेकिन काम-

---

१ इसका विस्तृत वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के द्वितीय स्थानपद मे देखो ।

—सपादक

वासना के आगे वे भी लाचार हो कर घुटने टेक देते है। काम के चेप से तो निस्पृह त्यागी परमवीर साधु-महात्मा ही बचे है, जो कामिनी के ससर्ग से दूर रहते है।

'जलयर-थलयर-खहयरा'—देवो की अपेक्षा मनुष्यो के पास सुख-साधनो की कमी है। वैभव और शक्ति मे भी मनुष्य देवो से बहुत पीछे है। फिर देवगण महाव्रत और अणुव्रत को स्वीकार नही कर सकते, जबकि मनुष्यगण इन दोनो को स्वीकार कर सकते है, बशर्ते कि चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो। इसलिए देवो की अपेक्षा मनुष्यो मे अब्रह्मचर्य का प्रभाव अपेक्षाकृत कम है। यद्यपि पचेन्द्रिय-तिर्यचो मे कोई-कोई अणुव्रत तक ग्रहण कर सकते है, तथापि पचेन्द्रिय-तिर्यंचो मे कामवृत्ति का प्रभाव कम नही है।

मध्यलोक मे ज्योतिषी देव, मनुष्य और तिर्यंच तीन रहते है। इनमे से दो का वर्णन पहले किया जा चुका है। तिर्यंचगति के जीवो पर अब्रह्म का प्रभाव बताने के लिए ही शास्त्रकार ने अब यह उल्लेख किया है। तिर्यंचगति के जीवो मे पचेन्द्रिय जीव ही मैथुन सेवन कर सकते है। बाकी के एकेन्द्रिय से ले कर चार इन्द्रिय तक के जीव बाह्य मैथुनसेवन नही कर सकते। उनमे नपुसकवेद के उदय से कामवासना अवश्य होती है। लेकिन बाह्यरूप मे मैथुनसेवन करने की इन्द्रिय आदि सामग्री उनको उपलब्ध नही होती। इसलिए पचेन्द्रिय-तिर्यचो का ही तीन भागो मे बाट कर निर्देश किया है।

जलचर तिर्यंचपचेन्द्रिय वे है, जो जल मे ही जीवन धारण करके रहते है। जैसे—मछली, मगरमच्छ, घडियाल आदि। स्थलचर तिर्यंचपचेन्द्रिय जीव वे है, जो भूमि पर ही विचरण करते है। जैसे—गाय, बैल, घोडा, सिंह कुत्ता आदि। और खेचर तिर्यंचपचेन्द्रिय जीव वे है, जो आकाश मे उडते है। जैसे—चिडिया, कबूतर, बाज, चील आदि।

ये तीनो प्रकार के पचेन्द्रिय जीव अब्रह्मचर्य के पजे मे फसे हुए है। कामवासना के निमित्त से इनमे परस्पर खूब लडाइयाँ होती है। कई दफा तो ये परस्पर लडते-लडते अपनी जान तक गवा बैठते है।

प्रश्न होता है कि नरकगति मे भी तो पचेन्द्रिय नारकजीव है, क्या वे अब्रह्मचर्य के चक्कर मे दूर है? इसके उत्तर मे शास्त्रकार ने इस अध्ययन के प्रारम्भ मे स्वरूपद्वार मे ही बता दिया है कि अब्रह्मचर्य ने क्या स्वर्ग, क्या नरक, क्या मनुष्य और क्या तिर्यंच सभी पर अपना जादू चला रखा है। फिर नरक के जीव इस विकार मे फँसे बच सकते है? परन्तु एक बात यह है कि नरक के जीवो के पास केवल दुःख-सामग्री ही है। वहा न तो इन्द्रिय-सुख है और न इन्द्रियविषयसुख के साधन है।

यद्यपि विपयसेवन मे प्रवृत्त करने वाले चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से नारक जीवो मे नपु सकवेद होने पर भी विपयसेवन के अनुकूल वाह्य साधन न मिलने के कारण वे मैथुन सेवन नही कर पाते। मगर कामभोग की वासना उनमे बनी रहती है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने अब्रह्मचर्य के पाश मे वधे हुए प्राणियो मे नरक के जीवो तथा एकेन्द्रिय से ले कर चतुरिन्द्रिय तिर्यंचप्राणियो का जिक्र नही किया।

मोहपडिबद्धचित्ता—शास्त्रकार द्वारा इस सूत्रपाठ मे वताए हुए सभी प्राणियो का चित्त मोह या मोहनीय कर्म के वशीभूत रहता है। इसका तीव्र उदय होने पर वे अपने कर्त्तव्यपथ से भ्रष्ट हो जाते है और न करने योग्य कार्य भी कर वैठते है। ससार मे मोहनीय कर्म ही सव कर्मो मे प्रवल है। सारा ससार मोहकर्म से ग्रस्त है।

अवितण्हा कामभोगतिसिया तण्हाए बलवईए महईए समभिभूया'—इन पदो से शास्त्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि देवो को विपयसुखभोग के इतने मनचाहे साधन मिल जाने पर भी और धनसम्पन्न या सत्ताधारियो को भी विपयसुखभोग के प्रचुर साधन प्राप्त हो जाने के वावजूद भी उनकी तृष्णा उन प्राप्त कामभोगो से बुझती नही है, उसका कारण मोहनीय कर्म ही है। परन्तु यह तो निश्चित है कि कामभोगो के अधिकाधिक सेवन से कामवासना कभी शान्त नही होती। कहा भी है—

न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

अर्थात्—कामो के अधिकाधिक उपभोग से काम कभी शान्त नही होता है। प्रत्युत आग मे घी डालने के समान वह और अधिक वढता है—भडकता है।

किन्तु मोहवश जीव दूसरो को प्राप्त कामभोगो को देख कर ईर्ष्यावश अप्राप्त कामभोगो को प्राप्त करने के लिए हरदम लालायित रहता है। उसकी काम-पिपासा कभी शान्त ही नही होती। ससार के सभी प्राणी चक्रवर्ती या देवेन्द्र की-सी विषयसुखसामग्री चाहते है। कदाचित् वह मिल भी जाय या उससे भी अधिक मिल जाय तो भी उसे तृप्ति नही होती। वह उससे भी अधिक की चाह करता है। परन्तु इस खोटी चाह से तो मनुष्य को दुःख की राह ही मिलती है। कहा भी है—

'विषयाशा प्रतिप्राणि यस्या विश्वमणूपमम्।
कस्य कियद्धि सप्राप्त, वृथा वै विषयैषिता॥'

अर्थात्—ससार मे प्रत्येक प्राणी को विपयसेवन की इच्छा रहती है। और वह इच्छा इतनी विशाल है कि उसमे सारे विश्व की सम्पत्ति भी अणु के समान है। भला, बताओ तो सही, वह किसे कितनी प्राप्त हुई है? और हो सकती है? न तो किसी को प्राप्त हुई है और न हो सकती है। विपयसुख की यह एपणा वृथा है। सतोप के सिवाय इसे शान्त करने की और कोई अमोघ औपधि नही है।

परन्तु जो लोग विपयभोग की प्यास मिटाने के लिए मैथुन या अब्रह्मसेवन की प्रक्रिया अपनाते है, उन्हे वलवती विपयतृष्णा धर दवाती है और वे उसके इशारे पर नाच कर अपनी जिंदगी से हाथ धो बैठते हैं।

गढिया य अतिमुच्छिया य—विपयतृष्णा के सहारे जीने वाले जीव विपयो की पूर्ति सहसा न होने पर उसी के पीछे दीवाने वन कर आसक्त और एक दिन अतिमूर्च्छित हो जाते हैं। अब्रह्मचर्य के दलदल मे फसे वे लोग इस तामसभाव से मुक्त नही हो पाते, और पति-पत्नी दोनो परस्पर कामवासना का सेवन करते हुए दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के पीजरे मे अपनी आत्मा को डाल देते ह। वहाँ वे पक्षी की तरह परतत्र होकर उस पीजरे के वधन मे वध पडे रहते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटि सागरोपमकाल की है। यह एक वार मे वाधे हुए दर्शनमोहकर्म की उत्कृष्ट स्थिति है। यदि वह जीव लगातार दर्शनमोह का कर्मवध करता चला जाए तो अनन्तकाल तक उससे छुटकारा पाना कठिन है। भोगविलास और सुखसुविधाओ मे रचापचा रहने वाला जीव अकसर आत्मा, परमात्मा या तीर्थंकर, स्वर्ग, नरक, धर्म, पुण्य और सघ आदि की उपेक्षा कर देता है। वह धर्म और भगवान् की निन्दा भी जीभर कर किया करता है। इसलिए दर्शनमोहनीय कर्म का वन्ध होना स्वाभाविक है। कदाचित् अब्रह्मसेवी दर्शनमोहनीयकर्म का वन्ध न करे तो भी चारित्रमोहनीयकर्म का वन्ध तो उसके जीवन मे अवश्यम्भावी है। उससे वह छूट नही सकता। उसकी उत्कृष्टस्थिति ४० कोटाकोटि सागरोपम की है।

मनुष्यगति के नामी अब्रह्मचर्यसेवी—अव शास्त्रकार मनुष्यगति के विशिष्ट ऐश्वर्यशाली, सत्ताधारी और वैभवसम्पन्न खास-खास व्यक्तियो के अब्रह्मसेवन के तोरतरीके निम्नोक्तसूत्र से वता रहे है—'भुज्जो असुरसुरतिरियमणुअभोगरति ' इत्यादि।

मनुष्यगति मे असाधारण-विभूतिसम्पन्न चक्रवर्ती होते ह। वे दो तरह के होते है—अधचक्री—त्रिखडाधिपति वासुदेव और पूर्णचक्री—पट्खडाधिपति।

यहाँ सूत्रपाठ मे प्रथम चक्री के वैभवविलास का वर्णन है। सुर असुर, मनुष्य और तिर्यंचो के सातिशय भोगो मे अतीव आसक्ति होने मे वे भाति-भाति की क्रीडाओ मे, रागरग मे सतत मशगूल रहते हैं। सुरपति और नरपति उनका बहुत

सत्कार करते है। उनके लिए वे अपने-अपने देश की सुन्दर से सुन्दर वस्तुएँ और अगनाएँ भेट मे भेजते है। जैसे स्वर्गलोक मे इन्द्र अनेक मनोहर और प्राकृतिक दृश्य वाले स्थानो मे जा कर क्रीडा करता है, वैसे ही ये भी पर्वतो, प्राकृतिक दृश्यो, झरनो, मनोहर लताकु जो, मनोज्ञ नगरो, जनपदो आदि स्थानो मे अपनी विविध सवारियो द्वारा जा पहुँचते है और वहाँ अनुकूल समय मे चित्ताकर्पक क्रीडाएँ करते है। कई वार समुद्र या वडी-वडी नदियो के समीपवर्ती स्थानो मे जलमार्ग या स्थलमार्ग द्वारा पहुच कर अभीष्ट सुखो का उपभोग करते हे। कभी मन मे आया तो धूल के कोट वाली वस्तियो कस्वो, गाँवो या वस्ती से दूर ऐसे एकान्तस्थानो मे जा पहुचते है। कभी ऐसे स्थानो मे जा कर अपनी महफिल जमाते हे, जहाँ सुरक्षा के लिए अनाज व अन्य सामग्री का प्रवन्ध पहले से होता है। किसी समय रत्नो का जहाँ व्यापार होता है, ऐसे पत्तनो मे पहुच कर मन को प्रफुल्लित करते हैं।

मतलव यह है कि विविध साधनो से और भाति-भाति के तौरतरीको से शव्दादिविपयो का पुन पुन सेवन करने पर भी वे कामभोगो से तृप्त नही होते और अन्त मे कामभोगो की इच्छा करते-करते ही काल के गाल मे पहुच जाते हैं।

चक्रवर्ती का वैभव—शास्त्रकार पट्खडाधिपति चक्रवर्ती के वैभवविलासो का निरूपण करते हुए कहते हे—'**एगच्छत्त ससागर भु जिऊण वसुह भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहि लालियता अवितित्ता कामाण।**' इस लम्वे पाठ का वर्णन वहुत ही स्पष्ट है। ये सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के स्वामी होते हैं, तीनो और अमुद्र तक और उत्तर मे हिमवान पर्वत तक इनका अखड राज्य होता है। वत्तीस हजार मुकुटवद्ध राजा सिर झुका कर उनकी आज्ञा को स्वीकार करते हैं। विशेप वात यह है कि मूलपाठ मे वर्णित नाना प्रकार की अगणित भोगसामग्रियो के अलावा उनके अकेले के ६४ हजार पत्नियाँ होती है, जो उन्हे देख कर अपने नेत्रो को आनन्दित करती है। चक्रवर्ती का सारा दारोमदार चक्र आदि १४ रत्नो पर होता है। चक्रवर्ती को ६ खडो पर विजय प्राप्त कराने मे तथा चक्रवर्ती पद प्राप्त कराने मे ये सहायक होते है। खान से निकला हुआ पदार्थविशेप यहाँ रत्न नही कहलाता, अपितु जिस-जिस जाति की जो-जो श्रेष्ठ वस्तु होती है, उसे ही रत्न कहा जाता है। चक्रवर्ती के १४ रत्न होते है। जो निम्नोक्त गाथा से प्रगट है—

'सेणावइ १ गाहावइ २ पुरोहिय ३ तुरग ४ वड्ढइ ५।
गय ६ इत्थी ७ चक्क ८ छत्त ९ चम्म १० मणि ११,
कागणि १२ खग्ग १३ दडो य १४॥'

अर्थात् १ सेनापति, २ गाथापति (स्थपति), ३ पुरोहित, ४ अश्व, ५ वढई, ६ हाथी, ७ स्त्रीरत्न, ये सात (पचन्द्रिय) सचेतन (सजीव) रत्न है, तथा ८ चक्र,

तक चक्रवर्ती इसी से प्रकाश करता है, तथा एक दीवार पर गोमूत्रिकाक्रम से २५ और दूसरी दीवार पर २४ चक्राकार मडल चक्रवर्ती इसी काकिणीरत्न से खडिया की तरह सुखपूर्वक अकित करता है।

भरतक्षेत्र के अपरार्ध भाग के विजय के लिए जब तक चक्रवर्ती रहता है, तब तक तमिस्रगुफा और खण्डप्रपातगुफा खुली रहती है।

तेरहवां खड्गरत्न होता है, जो १२ अगुल का होता है, लेकिन युद्ध मे अजेय होता है। चौदहवां दण्डरत्न होता है, जो रत्नमय, और पाच लताओ वाला होता है, जिसमे इन्द्र के वज्र जितनी ताकत होती है, जो बहुत ही लम्बा-चौडा होता है, जो शत्रु की सेना को त्रास पहुचाता है, विषम ऊँची-नीची जगहो को सम कर देता है, वह शान्ति करने वाला और मनोरथपूर्ति करने वाला होता है, सर्वत्र अबाधित होता है और एक हजार योजन नीचे तक घुस जाता है।

ये चौदह ही रत्न एक-एक हजार यक्षो द्वारा अधिष्ठित होते है। इसी तरह चक्रवर्ती नौ निधियो के अधिपति होते है। वे नौ निधियाँ इस प्रकार है—

"नेसप्प पडुयए पिंगलए, सव्वरयणे तहा महापउमे।
काले य महाकाले माणवगमहाणिही सखे ॥"

अर्थात्—नैसर्प, पाण्डु, पिंगलक, सर्वरत्न, महापद्म, काल, महाकाल, माणवक और शख ये नौ महानिधियाँ हैं।

सस्कृत ग्रन्थो मे इस सम्बन्ध मे एक भिन्न ही उल्लेख मिलता है—

महापद्मश्च पद्मश्च शखो मकरकच्छपौ।
मुकुन्द-कुन्द-नीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥

अर्थात्—महापद्म, पद्म, शख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व, ये नौ निधियां है।

इन महानिधियो से चक्रवर्ती का कोश परिपूर्ण रहता है, उन्हे किसी चीज की कमी नही रहती।

इतने समृद्ध भी कामभोगो से अतृप्त—वैभव का इतना लम्बा-चौडा वर्णन करने के पीछे शास्त्रकार का आशय यही है कि इतने मनचाहे वैभव,ऐश्वर्य, सुखसाधन, रत्न और भोगो के प्राप्त होने पर भी और उनका उपयोग कर लेने पर भी वे एक दिन इस ससार से अतृप्त ही चल देते है,तो अल्पपुण्य वाला प्राणी किस बिसात मे है ? अत ऐसा समझ कर अतृप्तिकारी विषयवासनाओ का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। इसी से सच्ची तृप्ति और शान्ति मिल सकती है।

संसार के अन्य पुण्यशालियो की काम-प्रवृत्ति

चक्रवर्ती की कामभोगो मे प्रवृत्ति का विस्तृत वर्णन करने के बाद आगे शास्त्रकार बलदेव, वासुदेव के रूप मे पुण्यशाली और प्रशसनीय माने जाने वाले अन्य पुरुषो के वैभव और उनकी कामभोगो मे प्रवृत्ति का पुन विशद वर्णन करते हैं—

मूलपाठ

भुज्जो भुज्जो बलदेव-वासुदेवा य पवरपुरिसा, महाबल-परक्कमा, महाधणुवियट्टका, महासत्तसागरा, दुद्धरा, धणुद्धरा, नरवसभा, रामकेसवा, (स)भायरो, सपरिसा, वसुदेवसमुद्द-विजयमादियदसाराण पज्जुन्न-पतिव-सब-अणिरुद्ध-निसह-उम्मुय-सारण-गय-सुमुह-दुम्मुहादीण जायवाण अद्धुट्ठाण वि कुमार-कोडीणं हियदयिया, देवीए रोहिणीए देवीए देवकीए य आणद-हियभावणदणकरा, सोलसरायवरसहस्साणुजातमग्गा, सोलस-देवीसहस्सवरणयणहियदइया, णाणामणिकणगरयणमोत्तिय-पवालधणधन्नसचयरिद्धिसमिद्धकोसा, हयगयरहसहस्ससामी, गामागर-नगर-खेड-कब्बड-मडब-दोणमुह-पट्टणासम-सवाह-सहस्स-थिमियणिव्वुय- पमुदितजणविविहसासनिप्फज्जमाण - मेइणिसर-सरियतलागसेलकाणणआरामुज्जाण - मणाभिरामपरिमडियस्स दाहिणड्ढवेयड्ढगिरिविभत्तस्स लवणजलहिपरिगयस्स छव्विह-कालगुणकामजुत्तस्स अद्धभरहस्स सामिका, धीरकित्तिपुरिसा, ओहबला, अइबला, अनिहया, अपराजियसत्तुमद्दणरिपुसहस्स-माणमहणा, साणुक्कोसा, अमच्छरी, अचवला, अचडा, मित-मजुलपलावा, हसियगभीरमहुरभणिया, अब्भुवगयवच्छला, सरण्णा, लक्खणवंजणगुणोववेया, माणुम्माणपमाणपडिपुन्नसुजाय-सव्वगसुदरगा, ससिसोमागारकतपियदसणा, अमरिसणा, पयंड-डडप्पयारगंभीरदरिसणिज्जा तालद्धउविद्धगरुलकेऊ, बलवग-गज्जतदरितदप्पितमुट्ठियचाणूरमूरगा, रिट्ठवसभघातिणो, केसरि-

मुहविप्फाडगा,दरितनागदप्पमद्दणा (महणा), जमलज्जुणभजगा, महासउणिपूतणारिवू,कसमउडतो(मो)डगा, जरासिंधमाणमहणा, तेहि य अविरलसमसहियचंदमंडलसमप्पभेहिं सूरमरीयकवयं विणिम्मुयतेहि सपतिड(द)डेहिं आयवत्तेहिं धरिज्जतेहिं विरायता, ताहि य पवरगिरिकुहरविहरणसमुट्ठियाहिं, निरुवहय-चमरपच्छिमसरीरसजाताहिं अमइलसेयकमलविमुकुलुज्जलित-रयतगिरिसिहर-विमलससिकिरणसरिसकलहोय - निम्मलाहिं पवणाहयचवलचलियसललियपणच्चियवीइपसरियखीरोदगपवर - सागरुप्पूरचचलाहिं माणसमरपसरपरिच्चियावासविसदवेसाहिं कणगगिरिसिहरससिताहि अववायुप्पातचवलजायिणसिग्घवेगाहि हंसवधूयाहि चेव कलिया, नाणामणिकणगमहरिहतवणिज्जुज्जल-विचित्तडडाहि सललियाहि नरवतिसिरिसमुदयप्पगासणकरीहिं वरपट्टणुग्गयाहि समिद्धरायकुलसेवियाहि कालागुरु-पवरकुदुरुक्क-तुरुक्क धूववसवासविसदगधुद्धुयाभिरामाहि चिल्लिकाहि उभयोपास पि चामराहि उक्खिप्पमाणाहि सुहसीतलवातवोइयगा, अजिता, अजितरहा, हलमुसलकणगपाणी, सखचक्कगयसत्तिणदगधरा, पवरुज्जलसुकतविमलकोथूभतिरीडधारी, कुडलउज्जोवियाणणा, पुडरीयणयणा, एगावलीकंठरतियवच्छा, सिरिवच्छसुलंछणा, वरजसा, सव्वोउयसुरभिकुसुमसुरइयपलबसोहतवियसतचित्तवण-मालरतियवच्छा, अट्ठसयविभत्तलक्खणपसत्थसुदरविराइयगमंगा, मत्तगयवरिंदललियविक्कमविलसियगती, कडिसुत्तगनीलपीतको-सिज्जवाससा, पवरदित्ततेया, सारयनवथणियमहुरगभीरणिद्ध-घोसा, नरसीहा, सीहविक्कमगई, अत्थमियपवररायसीहा, सोमा, बारवइपुण्णचदा, पुव्वकयतवप्पभावा, निविट्ठसचियसुहा, अणेग-वाससयमाउवतो भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहिं लालियता अतुल-

सद्दफरिसरसरूवगंधे अणुभवेत्ता तेवि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं ।

संस्कृतच्छाया

भूयो भूयो बलदेववासुदेवाश्च प्रवरपुरुषा, महाबलपराक्रमा, महा-धनुर्विकर्षका महासत्त्वसागरा, दुर्धरा, धनुर्धरा, नरवृषभा रामकेशवा, सभ्रातर सपरिषदो, वसुदेवसमुद्रविजयादिकदशार्हाणा प्रद्युम्नप्रतिव-शम्ब-अनिरुद्ध-निषधोल्मुकसारणगजसुमुखदुर्मुखादीनां यादवाना अध्युष्टानामपि (अर्धाधिकतिसृणामपि) कुमारकोटीनां हृदयदयिता., देव्या रोहिण्या देव्या देवक्याश्चानन्दहृदयभावनन्दनकरा ,षोड़शराजवरसहस्त्रानुयातमार्गा ,षोडश-देवीसहस्त्रवरनयनहृदयदयिता, नानामणिकनकरत्नमौक्तिकप्रवालधनधान्य-सचर्याद्धसमृद्धकोशा, हयगजरथसहस्त्रस्वामिनो, ग्रामाकरनगरखेटकर्बटमडब-द्रोणमुखपत्तनाश्रमसवाहसहस्त्रस्तिमितनिर्वृत्तप्रमुदितजनविविधसस्यनिष्पद्य-मानमेदिनोसर सरित्तडागशैलकाननारामोद्यानमनोऽभिरामपरिमडितस्य दक्षिणार्द्धवैताढ्य - (विजयार्द्ध)गिरिविभक्तस्य लवणजलधिपरिगतस्य षड्विधकालगुणक्रम(काम)युक्तस्य अर्द्धभरतस्य स्वामिका, धीरकीर्तिपुरुषाः, ओघबला, अतिबला, अनिहता, अपराजितशत्रुमर्दनरिपुसहस्रमानमथना., सानुक्रोशा, अमत्सरिणोऽचपला अचडा, मितमजुलप्रलापा, हसितगम्भीर-मधुरभणिता, अभ्युपगतवात्सल्याः, शरण्या लक्षणव्यजनगुणोपपेता मानो-न्मानप्रमाणप्रतिपूर्णसुजातसर्वांगसुन्दरांगा , शशिसोमाकारकान्तप्रियदर्शना अमर्षणा. (अमसृणा), प्रचड(प्रकाड) दडप्रचार (प्रकार) गम्भीरदर्शनीया , तालध्वजोद्‌विद्धगरुडकेतवो, वलवद्‌गर्जद्दरितदर्पित(क)मौष्टिकचाणूर-मूरका, रिष्टवृषभघातिन केसरिमुखविस्फाटका दरित (दृप्त)नागदर्पमथना (मर्दना), यमलार्जुनभजका महाशकुनिपूतनारिपव , कसमुकुटमोटका, जरासन्धमानमथना॰, तैश्च अविरलसमसहितचन्द्रमडलसमप्रभैः सूरमरीचि-कवच विनिमुंचद्‌भि , सप्रतिदडैर् आतपत्रैर् ध्रियमाणैर् विराजमाना , तैश्च प्रवरगिरिकुहरविहरणसमुद्धतैर् निरुपहतचमरपश्चिमशरीरसजा-तैर् अमलिनसितकमलविमुकुलोज्ज्वलितरजतगिरिशिखरविमलशशिकिरण-सद्दशकलधौतनिर्मलै पवनाहतचपलचलितसललितप्रवृत्त(प्रनर्तित) वीचि-प्रसृतक्षीरोदकप्रवरसागरोत्पूरचचलैर् मानससर प्रसरपरिचितावासविशदवे-

षाभिः कनकगिरिशिखरसंश्रिताभिर् अवपातोत्पातचपलजयिशीघ्रवेगाभिर् हसवधूभिरिव कलिता, नानामणिकनकमहार्घ्य(र्ह)-तपनीयोज्ज्वलविचित्र-दडै सललितैर् नरपतिश्रीसमुदयप्रकाशनकरैर् वरपत्तनोद्गतै समृद्धराज-कुलसेवितै कालागुरुप्रवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूपवशवासविशदगन्धोद्धूताभिरामैः लीनै (दीप्यमानै) उभयोरपि पार्श्वयोश्चामरैरुत्क्षिप्यमाणै सुखशीतलवात-वीजितागा, अजिता, अजितरथा, हलमुशलकणकपाणय, शखचक्रगदा-शक्तिनन्दकधरा, प्रवरोज्ज्वलसुकृतविमलकौस्तुभतिरीटधारिण , कुडलोद्-द्योतितानना, पुडरीकनयना, एकावलीकठरचितवक्षस , श्रीवत्ससुलाछना, वरयशस , सर्वर्तुकसुरभिकुसुमसुरचितप्रलम्बशोभमानविकसच्चित्रवनमाला-रतिद(रचित)वक्षसोऽष्टशतविभक्तलक्षणप्रशस्तसुन्दरविराजितागोपागा, मत्तगजवरेन्द्रललितविक्रमविलसितगतय, कटिसूत्रकनीलपीतकौशेयवासस., प्रवरदीप्ततेजस , शारदनवस्तनितमधुरगम्भीरस्निग्धघोषा, नरसिंहा , सिंह-विक्रमगतय ,अस्तमितप्रवरराजसिंहा.,सौम्या, द्वारावतीपूर्णचन्द्रा पूर्वकृततपः-प्रभावा निविष्टसचितसुखा अनेकवर्षशतायुष्मन्तो भार्याभिश्च जनपद-प्रधानाभिर्लाल्यमाना अतुलशब्दस्पर्शरसरूपगन्धाननुभूय तेऽपि उपनमन्ति मरणधर्ममवितृप्ता कामानाम् ।

पदार्थान्वय—(भुज्जो भुज्जो य) और पुन पुन , (पवरपुरिसा) श्रेष्ठ पुरुष (महाबलपरक्कमा) महाबली तथा महापराक्रमी (महाधणुवियट्टका) बडे-बडे सारग आदि धनुष को चढाने वाले, (महासत्तसागरा) महासत्त्व के सागर, (दुद्धरा) शत्रुओ से अपराजेय, (धणुद्धरा) प्रधान धनुर्धारी, (नरवसभा) मनुष्यो मे धोरी बैल के समान—श्रेष्ठ, (रामकेसवा) बलराम और केशव—श्रीकृष्ण -(अथवा नारायण और बलभद्र) (भायरो) भाई, अथवा (सभायरो) भाइयो के सहित (सपरिसा) परिवारसहित (वसुदेव-समुद्दविजयमादियदसाराण) वसुदेव, समुद्रविजय आदि दशार्ह-महनीय-पूज्य पुरुषो के, (पज्जुन्नपतिवसबअनिरुद्ध-निसह-उम्मुय-सारण-गय-सुमुह-दुम्मुहादीण जायवाण) प्रद्युम्न, प्रतिव शम्ब, अनिरुद्ध, निषध, औल्मुक, सारण, गज, सुमुख,दुर्मुख आदि यादवो,तथा (अद्धुट्ठाण कुमारकोडीण वि) साढे तीन करोड कुमारो के भी (हिययदइया) हृदयो के वल्लभ (य) और (रोहिणीए देवीए) देवी—रानी रोहिणी के, तथा (देवकीए देवीए) देवकी देवी-रानी के (आणदहिययभावनदणकरा) आनन्दस्वरूप हृदय के भावो की वृद्धि करने वाले, (सोलसरायवरसहस्साणुजातमग्गा) सोलह हजार बडे-बडे राजा, जिनके मार्ग का अनुसरण करते हैं, (सोलस देवीसहस्स-

वरणयणहिययदइया) सोलह हजार सुन्दर नयनो वाली देवियो — महारानियो के हृदयो के प्रिय (णाणामणिकणगरयणमोत्तियपवालधणधन्नसचयरिद्धिसमिद्धकोसा) जिनके कोश-खजाने अनेक प्रकार की मणियो, सोने, रत्न, मोती, मूगे, धन और धान्य के सचयरूप ऋद्धि से समृद्ध-परिपूर्ण हैं, (हयगयरहसहस्ससामी) जो हजारो हाथियो, घोडो और रथो के स्वामी हे, (गामागर-नगर-खेड-कव्वड-मडव-दोणमुह-पट्टणासम-सवाहसहस्सथिमियणिव्वुय-पमुदितजणविविहसासनिप्फज्जमाणमेइणि - सर-सरिय-तलाग-सेल-काणण-आरामुज्जाण-मणाभिरामपरिमडियस्स) हजारो गाँवो, खानो, नगरो, खेडो (धूल के कोट वाले नगरो), कर्वटो—कस्वो, मडवो (जहा ढाई योजन तक कोई वस्ती न हो), द्रोणमुखो—वदरगाहो, पत्तनो—मडियो, आश्रमो, सवाहो—सुरक्षा के लिए वने हुए किलो मे स्वस्थ, स्थिर, शान्त और प्रमुदित लोग रहते हे, जहाँ विविध प्रकार के अन्न पैदा करने वाली भूमि है, वडे-वडे सरोवर हैं, नदियाँ हैं, छोटे-छोटे तालाव हैं, पर्वत है,वन है, दम्पतियो के क्रीडा करने योग्य लतामडपसहित वगीचे हैं, फुलवाडियाँ हैं, और इन उपर्युक्त मनोहर गाँवो आदि से सुशोभित, (दाहिणड्ढवेयड्ढगिरिविभत्तस्य) जिसका दक्षिण की ओर का आधा भाग वैताढ्य पर्वत से विभक्त हैं, लवणसमुद्र से वेष्टित—घिरा हुआ है, (छव्विहकालगुणकामजुत्तस्स) छही प्रकार की ऋतुओ के कार्यों (क्रम) के होने वाले अत्यन्त सुख से युक्त (अद्धभरहस्स) अर्ध भरतक्षेत्र के (सामिका) स्वामी हैं, वे (धीर-कित्तिपुरिसा) धैर्यवान और कीर्तिमान पुरुष हैं, (ओहवला) प्रवाहरूप से निरन्तर वलशाली, (अइवला) अत्यन्त वलवान्, (अनिहता) दूसरो से अपीडित, (अपराजियसत्तुमद्दणरिपुसहस्समाणमहणा) अपराजित शत्रुओ का भी मर्दन करने वाले तथा हजारो रिपुओ का मानमर्दन करने वाले, (साणुक्कोसा) दयावान् (अमच्छरी) मात्सर्यरहित-परगुणग्राही, (अचवला) काया की चचलता से रहित, (अचडा) विना कारण कोप नहीं करने वाले, (मितमजुलपलावा) परिमित और मृदु भाषण करने वाले, (हसियगभीरमहुरभणिया) मुस्कान के साथ गभीर और मधुर वचन बोलने वाले, (अब्भुवगयवच्छला) सम्मुख आए हुए व्यक्ति के प्रति वात्सल्य भाव रखने वाले,(सरण्णा) शरणागत की रक्षा करने वाले,(लक्खणवजण-गुणोववेया) शरीर पर सामुद्रिक शास्त्र मे वताए हुए उत्तम लक्षणो-चिह्नो तथा तिल, मस्से आदि व्यजनो के गुणो से युक्त, (माणुम्माणपमाणपडिपुन्नसुजायसव्वग-सुदरगा) मान और उन्मान से प्रमाणोपत तथा इन्द्रियो व अवयवो आदि से प्रतिपूर्ण होने से उनके शरीर के सभी अग सुडौल और सुन्दर हैं, (ससिसोमागारकत-

पियदसणा) उनकी आकृति चन्द्रमा के समान सौम्य है तथा उनका दर्शन अत्यन्त प्रिय और मनोहारी है, (अमरिसणा) अपराध को सहन नही करने वाले या कार्य मे आलस्य न करने वाले (पयडडप्पयारगभीरदरिसणिज्जा) जिनके दण्ड का प्रकार या प्रचार प्रचड – उग्र है, या प्रकाड—श्रेष्ठ है और जो गभीर दिखाई देते हैं। (ताल-द्धउव्विद्धगरुलकेऊ) ताडवृक्ष के चिह्न से बलदेव की ध्वजा अकित है और वासुदेव की गरुड के चिह्नवाली ऊँची ध्वजा है। (बलवगगज्जतदरितदप्पितमुट्ठियचाणूर-मूरगा) गर्जते हुए बलशाली अभिमानियो मे महाभिमानी मौष्टिक और चाणूर नाम के नामी पहलवानो को जिन्होने चूर-चूर कर दिया है, (रिट्ठवसभघातिणो) जिन्होने रिष्ट नामक दुष्ट साड को मार डाला है, (केसरिमुहविप्फाडगा) जो सिंह के मुह को चीरने वाले है, (दरितनागदप्पमहणा) गर्वयुक्त कालीयनाग (सर्प) के घमड को चूर-चूर करने वाले (जमलज्जुणभजका) विक्रिया से बने हुए वृक्ष के रूप में यमल अर्जुन को नष्ट कर देने वाले, (महासउणिपूतणारिवू) महाशकुनि और पूतना नाम की विद्याधरियो के शत्रु, (कसमउडमोडगा) कस के मुकुट को मोडने वाले यानी मुकुट पकड कर कस को नीचे पटक कर मारने वाले, (जरासिधमाणमहणा) जरासध के मान का मर्दन करने वाले, (य) और (तेहिं) उन प्रसिद्ध, (अविरलसमसहियचद-मडलसमप्पभेहि) घनी, समान और ऊँची की हुई शलाकाओ – ताडियो से निर्मित एव चन्द्रमा के मडल के समान प्रभाव वाले, (सूरमरीयकवच विणिम्मुयतेहि) सूर्य की किरणो के समान चारो ओर तेज से फैलते हुए किरणमडलरूप कवच को फैंकते-बिखेरते हुए, (सपतिदडेहि) अनेक दडो से (धरिज्जमाणेहिं) धारण किये जाते हुए (आयवत्तेहिं) छत्रो से (विरायता) विराजमान—शोभायमान (य) और (ताहि) उन-उत्कृष्ट (पवरगिरिकुहरविहरणसमुट्ठियाहि) श्रेष्ठ पर्वतो की गुफाओ मे विचरण करने वाली चमरी गायो से प्राप्त किये गए (निरुवहयचमर-पच्छिमसरीरसजाताहिं) नीरोगी चमरी गायो के शरीर के पिछले भाग—पूछ वाले हिस्से से उत्पन्न हुए, (अमइल - सियकमलविमुकुलुज्जलितरयतगिरिसिहरविमलससिकिरणसरिसकलहोय-निम्मलाहि) बिना मुर्झाए या बिना मसले हुए विकसित श्वेतकमल, उज्ज्वल रजत गिरि के शिखर तथा निर्मल चन्द्रमा की किरणो के सदृश वर्ण वाले एव चादी की तरह निर्मल, (पवणाहयचवलचलियसललियपणच्चियवीइपसरियखीरोदगपवरसागरुप्पूर-चचलाहि) हवा से प्रताडित, चपलता से चलते हुए, लीलापूर्वक नाचते हुए व लहरो के प्रसार तथा सुन्दर क्षीरसागर के जलप्रवाह के समान चचल, (माणससरपसरपरि-चियावासविसदवेसाहि) मानसरोवर के प्रसार मे परिचित आवास और श्वेत वेष

वाली (कणगगिरिसिहरससिताहि) सुवर्णमय सुमेरुपर्वत के शिखर पर वैठी हुई, (अवायुप्पातचवलजयिणसिग्घवेगाहिं) ऊपर और नीचे गमन करने मे दूसरी चचल वस्तुओ को शीघ्र गति के वेग मे जीतने वाली, ऐसी (हसवधूयाहि) हसनियो के (चेव) समान चामरो से (कलिया) युक्त (नाणामणिकणगमहरिहतवणिज्जुज्जल-विचित्तडडाहि) नाना प्रकार की मणियो के, पीले रग वाले तथा वहुमूल्य सोने के चमकीले विविध दडो से, एव (सललियाहिं) लालित्य से युक्त (नरवतिसिरिसमुदयप्पगा-सणकरीहिं) राजाओ की लक्ष्मी के अभ्युदय को प्रकाशित करने वाले, (वरपटटणुग्ग-याहिं) वडे-वडे नगरो मे वने हुए, (समिद्धरायकुलसेवियाहि) समृद्धिशाली राजवशो मे इस्तेमाल किये जाने वाले (कालागुरुपवरकदुरुक्क-तुरुक्क-धूव-वसवासविसदगधुद्धूयाभि-रामाहिं) काला अगर, उत्तम चीड की लकडी और तुरुष्क-सुगन्धित द्रव्यविशेष से वनी हुई धूप के कारण उठने वाली सुवास से जिसमे स्पष्ट व मनोहर सुगन्ध आ रही है, ऐसे (उभयो पाम पि उक्खिप्पमाणाहि चामराहिं) दोनो वगलो—पार्श्वों की ओर ढुलाए जाते हुए चवरो से (सुहसीतलवातवीइअगा) सुखद और शीतल हवा अगो पर की जा रही हे, ऐसे (अजिता) जो किसी से जीते नहीं जा सकें, (अजित-रहा) अपराजित रथ वाले (हलमुसलकणगपाणी जो अपने हाथ मे हल, मूसल और वाण रखते हैं। (सखचक्कगयसत्तिणदगधरा) पाचजन्य शख, सुदर्शन चक्र, कौमुदी गदा, शक्ति (त्रिशूल विशेष) और नन्दक नामक तलवार को धारण करने वाले, (पवरुज्जलसुकतविमलकोथुभतिरीडधारी अत्यन्त उज्ज्वल व अच्छी तरह वनाये गये कौस्तुभ मणि ओर मुकुट को धारण करने वाले (कुडलउज्जोवियाणणा) कुडलो से जिनका मुह प्रकाशित होता है, (पुडरीयणयणा) श्वेतकमल के समान जिनके विक-सित नेत्र हैं, (एगावलीकठरइयवच्छा) जिनके कठ और वक्षस्थल पर एकलडी वाला विविध मणियो का आनन्ददायी हार पडा रहता हे, (सिरिवच्छसुलछणा) जिनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का उत्तम चिह्न हे, (वरजसा) जो वडे यशस्वी हैं, (स वोउयसुरभिकुसुमसुरइयपलबसोहत-वियसत-चित्तवणमालरतियवच्छा) सव ऋतुओ के सुगन्धित फूलो से गूथी हुई, लम्वी, शोभायुक्त खिली हुई अनूठी वनमाला से जिनका वक्षस्थल सुशोभित होता है, (अट्ठसयविभत्तलक्खणपसत्थसुदरविराइयगमगा) माग-लिक एव सुन्दर आठ सौ विभिन्न लक्षणो से जिनके अग और उपाग सुशोभित होते हैं, (मत्तगयवरिदललियविक्कमविलसियगती) जिनकी गति अर्थात् चाल मतवाले श्रेष्ठ गजेन्द्र की-सी ललित और विलासयुक्त हे, (कडिसुत्तगनीलपीतकोसिज्ज-

वाससा) जो कटिसूत्र-करधनी से युक्त हैं, नीले व पीले रेशमी-कोशेय वस्त्र पहने हुए हैं, (पवरदित्ततेया) उनके शरीर पर प्रखर तेज चमक रहा है, (सारयनवत्थणितमहुर-गभीरनिद्धघोसा) जिनकी आवाज शरत्काल के नये मेघ की गर्जना के समान मधुर, गभीर ओर स्निग्ध है, (नरसीहा) जो मनुष्यो मे सिंह के समान शूरवीर होते है, (सीहविक्कमगई) सिंह के समान पराक्रम और चाल वाले है, (अत्थमियपवर-राजसीहा) जिन्होने बडे-बडे राजसिंहो का जीवन अस्त—समाप्त कर दिया है,(सोमा) जो सौम्य-शान्त है,(बारवइपुण्णचदा) जो द्वारावती—द्वारिका नगरी के पूर्णचन्द्रमा हैं, (पुव्वकयतवप्पभावा) जो अपने पूर्वजन्म मे किये हुए तप के प्रभाव से युक्त होते हैं, (निविट्ठ-सचियसुहा) पूर्वजन्म के पुण्योदय से सचित इन्द्रियसुखो का जो उपभोग करते है, (अणेगवाससयमाउवतो) जो कई सौ वर्ष की आयु वाले है, ऐसे (बलदेव-वासुदेवा) बलदेव-बलभद्र और वासुदेव-नारायण श्रीकृष्ण (जणवयपहाणाहि य भज्जाहि) विविध जनपदो—देशो की प्रधान-श्रेष्ठ भार्याओ-पत्नियो के साथ, (लालियता) भोगविलास करते हुए (अतुलसद्दफरिस-रसरूवगधे) अनुपम—अद्वितीय शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध स्वरूप इन्द्रियविषयो का (अणुभवेत्ता) अनुभव करके (ते वि) वे भी (कामाण अवितित्ता) कामभोगो से अतृप्त हो कर ही, (मरणधम्म उवणमति) कालधर्म को—मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ—बलदेव और वासुदेव भी पुन पुन कामभोगो के सेवन से तृप्त न होकर मौत के मुह मे चले गए तो साधारण मनुष्य का तो कहना ही क्या ? वे मनुष्यो मे श्रेष्ठ पुरुष थे, वे महाबली और महापराक्रमी थे। सारग आदि बडे-बडे धनुषो को चढाने वाले, महासाहस के समुद्र, शत्रुओ से अजेय एव धनुर्धारियो मे प्रधान थे। वे लिए हुए कार्यभार का निर्वाह करने मे धोरी बैल के समान नरवृषभ बलराम (नौवा बलभद्र) और केशव-वासुदेव (नौवा नरायण) दोनो भाई थे, वे बडे भारी परिवार के सहित थे। उन्ही मे वसुदेव और समुद्रविजयजी आदि दश दशार्ह—पूज्य पुरुष हुए है तथा प्रद्युम्न, प्रति-व, शब, अनिरुद्ध, निषध, औल्मुक, सारण, गज, सुमुख और दुर्मुख आदि यादवो की सतानो के रूप मे साढे तीन करोड कुमार हुए है। रानी रोहिणी के पुत्र बलराम थे और महारानी देवकी के पुत्र थे—श्रीकृष्ण वासुदेव। वे रोहिणीदेवी ओर देवकीदेवी के हृदय मे उत्पन्न हुए आह्लाद की वृद्धि करने वाले थे। सोलह हजार मुकुटबद्ध राजा उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले थे यानी उनकी आज्ञानुसार चलने वाले थे और सोलह हजार

सुन्दर युवतियो के वे हृदयवल्लभ थे। नाना प्रकार की मणियो, सोने, रत्न, मोती, मू गो तथा धन-धान्यो के सचयरूप लक्ष्मी से जिनके खजाने भरे रहते थे। वे हजारो घोडो, हाथियो और रथो के स्वामी थे। वे हजारो सुन्दर गाँवो, नगरो, खानो, खेडो, कस्बो, मडवो, द्रोण-मुखो वदरगाहो, पत्तनो-मडियो, आश्रमो सुरक्षित किलो (सवाहो से युक्त अर्द्ध भरतक्षेत्र के स्वामी थे, जिनमे लोग स्वस्थ, स्थिर, शान्त और प्रमुदित रहते थे, जहा विविध प्रकार के अनाज पैदा करने वाली उपजाऊ भूमि थी। वह बडे-बडे सरोवरो, नदियो, छोटे-छोटे तालावो, पर्वतो, वनो, दम्पत्तियो के क्रीडा करने के योग्य लतागृहो से युक्त वगीचो, फुलवाडियो और उद्यानो से सुशोभित था। वह दक्षिण की ओर का अर्द्ध भरत वैताढ्य पर्वत से विभक्त एव लवणसमुद्र से घिरा हुआ तथा छहो ऋतुओ के कार्यों से क्रमश: प्राप्त होने वाले अत्यन्त सुख से युक्त था। वे धैर्यवान औरकीर्तिमान पुरुप थे। उनमे प्रवाहरूप से निरन्तर वल पाया जाता था। वे अत्यन्त बलवान थे। दूसरो के वलो से वे कभी मात नही खाते थे। वे अपराजित माने जाने वाले शत्रुओ का भी मानमर्दन करने वाले और हजारो शत्रुओ का अभिमान चूर-चूर करने वाले थे। वे दयालु, मात्सर्य-रहित यानी परगुणग्राही, चचलता से रहित, अकारण क्रोध न करने वाले, परिमित और मृदुभापी तथा मुस्कान के साथ गभीर और मधुर वचन वोलने वाले थे। वे पास आए हुए व्यक्ति के प्रति वत्सल थे तथा शरणागत को शरण देने वाले थे। सामुद्रिक शास्त्र मे वताये हुए शरीर के उत्तमोत्तम लक्षणो (चिह्नो) और तिल, मस्से आदि व्यञ्जनो के गुणो से युक्त थे। उनके शरीर के समस्त अग और उपाग मान एव उन्मान प्रमाण से परिपूर्ण थे। उनकी आकृति चन्द्रमा के समान सौम्य थी, उनका दर्शन बडा ही मनोरम और सुहावना लगता था। वे अपराध को नही सह सकते थे अथवा कार्य मे आलस्य नही करते थे। वे अपनी प्रचड या प्रकाड दण्डशक्ति का प्रसार प्रचार करने मे वडे गभीर दिखाई देते थे। वलदेव की ध्वजा तालवृक्ष के चिह्न से तथा कृष्ण की ऊची फहराती हुई ध्वजा गरुड के चिह्न से अकित थी। उन्होने गर्जते हुए वलशाली अत्यन्त घमडी मौष्टिक और चाणूर नामक मल्लो को खत्म कर दिया था। रिष्ट नामक दुष्ट वैल का भी सहार कर दिया था। वे सिंह के मु ह मे हाथ डाल कर उसे चीर डालते थे। उन्होने गर्वोद्धत भयकर कालीयनाग के अभिमान को नष्ट कर दिया था

और विक्रिया से वृक्षरूपधारी यमलार्जुन को खंडित कर दिया था। वे कसपक्ष की महाशकुनी और पूतना नाम की दो विद्याधरियो के शत्रु थे, उन्होने कस का मुकुट मोडा था, यानी मुकुट पकड कर उसको नीचे पटका और दे मारा था। उन्होने जरासध के मान का मर्दन किया था यानी उसे भी यमलोक पठा दिया था। वे ऐसे छत्रो से सुशोभित रहते थे, जो सघन, समान तथा ऊँची की गई सलाइयो ताडियो से बनाए गए थे और चन्द्रमडल के समान प्रभा वाले थे, वे सूर्यकिरण के प्रभामडल की तरह अपने चारो ओर तेज को फैकते थे। विशाल होने के कारण अनेक दण्डो के द्वारा धारण किए हुए थे। इसी तरह अत्यन्त श्रेष्ठ पहाडो की गुफाओ मे घूमने वाली नीरोग चमरी गायो की पूँछ के पिछले) हिस्से मे उत्पन्न हुए, निर्मल श्वेतकमल, उज्ज्वल रजतगिरि के शिखर एव निर्मल चन्द्रमा की किरणो के समान श्वेत, चाँदी के समान स्वच्छ तथा हवाओ से ताडित, चचलतापूर्वक हिलते और लीलापूर्वक नाचते हुए एव थिरकती हुई लहरो के विस्तार से युक्त सुन्दर क्षीरसमुद्र के जलप्रवाह के समान चचल, मानसरोवर के विस्तार मे परिचित आवास वाली और श्वेत रूप वाली, स्वर्णगिरि पर बैठी हुई तथा ऊपर-नीचे गमन करने मे दूसरी चचल वस्तुओ को मात करने जैसे शीघ्र वेग वाली हसनियो के समान श्वेत चवरो से वे युक्त थे। उन चवरो के डडे (मूठे) नाना प्रकार की चन्द्रकात आदि मणियो से जटित होते हे, कई लालरग के तपे हुए महामूल्यवान् सोने के बने हुए तथा कई पीले सोने के होते है। वे (चवर) सौदर्य से परिपूर्ण और राजलक्ष्मी के अभ्युदय को प्रगट करते है, वे अच्छे शहरो मे (कुशल कारीगरो द्वारा) बनाए जाते है। समृद्धिशाली राजवशो मे उन (चवरो) का उपयोग किया जाता है। काला अगर, उत्तम चीड की लकडी और तुरुक्क नामक सुगन्धित द्रव्य की धूप देने के कारण उठी हुई सुवास से उन चवरो मे स्पष्ट और मनोहर सुगन्ध प्रगट होती है। इस प्रकार के चवर उनके दोनो बगलो (पार्श्वों) मे ढुलाए जाने से उनकी सुखद व शीतल हवा उनके अग-अग को स्पर्श करती है। वे अजेय होते हे, उनके रथ भी अपराजित होते हे, उनके हाथ मे मूसल और बाण होते ह। वे पाचजन्य शख, सुदर्शन चक्र, कौमोदकी गदा, शक्ति—त्रिशूल विशेष एव नन्दक नामक तलवार को धारण करते हे, वे अत्यन्त उज्ज्वल और भलीभाँति बनाए हुए सुन्दर कौस्तुभमणि और मुकुट को धारण करते

है। कुंडल उनके मुख को प्रकाशित करते है। उनके नेत्र श्वेतकमल के समान विकसित होते है। उनके कठ और वक्षस्थल पर श्रीवत्स नामक उत्तम चिह्न होता है। वे महायशस्वी होते हैं। सभी ऋतुओ के सुगन्धित पुष्पो से रचित लम्वी देदीप्यमान एव विकसित अनूठी वनमाला उनके वक्षस्थल पर सुशोभित होती है। मागलिक और सुन्दर विभिन्न ८०० लक्षणो से उनके अगोपाग शोभा पाते हैं। मतवाले श्रेष्ठ हाथियो की तरह उनकी गति-चाल वडी ही ललित (सुन्दर) और विलसित होती है। उनकी कमर मे कटिसूत्र (करधनी) होता है, और वे नीले तथा पीले रेशमी वस्त्र पहनते है। वे प्रखर तेज से देदीप्यमान होते हे। उनकी आवाज शरत्काल के नए मेघ की गर्जना के समान गभीर, मधुर और स्निग्ध होती है। वे मनुष्यो मे सिंह के समान पराक्रमी होते है। उनकी सिंह के समान पराक्रम व गति होती है, सिंह के समान वडे-वडे पराक्रमी राजाओ के जीवन को उन्होने अस्त कर दिया है। वे सौम्य होते है। द्वारावती—द्वारिका नगरी के निवासियो के लिए वे पूर्णचद्रमा के समान होते है। उनमे पूर्वजन्म मे किए हुए तप का प्रभाव होता है। वे पूर्वकालकृत पुण्यो के उदय से सचित इन्द्रिय-सुख वाले होते है। वे कई सौ वर्ष की आयु वाले होते है। वे प्रधान देशो की श्रेष्ठ पत्नियो के साथ ऐश-आराम करते हे और एक से एक बढकर इन्द्रियजन्य स्पर्श, रस, रूप और गन्ध-स्वरूप विपयो का उपभोग करते हैं। परन्तु अन्त मे, वे भी उन कामभोगो से तृप्त न हो कर एक दिन मृत्यु की गोद मे चले जाते है।

व्याख्या

पूर्व सूत्रपाठ मे चक्रवर्तियो के वैभव, सुख के साधन और अन्त मे कामभोगो से अतृप्ति की हालत मे ही उनकी मृत्यु आदि का शास्त्रकार ने स्पष्ट वर्णन किया है। अव उससे आगे वलदेवो और वासुदेवो की ऋद्धि, समृद्धि, ठाठवाठ और भोगविलासो का वर्णन करते हुए वताया है कि वे भी इन कामभोगो से अतृप्त हो कर ही इस ससार से एक दिन विदा हो जाते हैं। वर्णन काफी स्पष्ट है। पदार्थान्वय और मूलार्थ मे हम इन सवका अर्थ स्पष्ट कर आए है, फिर भी कुछ पदो पर विश्लेपण करना आवश्यक है।

'भुज्जो भुज्जो वलदेव-वासुदेवा य'—यहाँ 'भुज्जो भुज्जो' (भूयो भूय) शव्द 'तथा' अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। 'जैसे चक्रवर्ती कामभोगो से सतुष्ट न हुए

और एक दिन कालकवलित हो गए, वैसे ही बलदेव और वासुदेव भी कामभोगो से तृप्त न हो कर एक दिन इस ससार से चल देते है'—ऐसा पूर्वापर सम्बन्ध यहा समझ लेना चाहिए । यद्यपि इस सूत्रपाठ म सामान्यरूप से नौ बलभद्रो और नौ नारायणो के विषय मे निरूपण किया गया है, तथापि कही-कही कुछ विशेषण खासतौर से बलदेव (बलराम) और वासुदेव (श्रीकृष्ण) को लक्ष्य मे रख कर प्रयुक्त किये गये है ।

सामान्य बलदेव और वासुदेव के लिए प्रयुक्त विशेषण—**'पवरपुरिसा महाबलपरक्कमा महाधणुवियट्टका महासत्तसागरा दुद्धरा धणुद्धरा नरवसभा'** यहाँ तक जितने भी पद है, वे जितने भी बलभद्र और नारायण हुए है, उन सबके लिए प्रयुक्त हुए है । इन सबका अर्थ तो स्पष्ट है ही । सक्षेप मे कहा जा सकता है, कि वे ससार के अद्वितीय शक्तिमान्, साहसी और अजेय योद्धा एव बेजोड धनुर्धारी होते है, इसलिए सर्वोत्तम पुरुष कहलाते है । **'रामकेसवा भायरो'**— इसके बाद इन दो पदो से आगे की पक्तिया खासतौर से बलराम बलदेव) और केशव (वासुदेव श्रीकृष्ण) के लिए प्रयुक्त की गई है । यानी **रामकेसवा'** पद से ले कर **'हिययदइया'** तक एव और आगे **'तालद्धउव्विद्धगरुलकेऊ'** से ले कर **'जरासिंध-माणमहणा'** तक एव और आगे **'हलमुसलकणकपाणी, सखचक्क-गयसत्तिणदगधरा पवरुज्जलसुकतविमल-कोथूभतिरीडधारी'** आदि पद विशेपरूप से बलराम और श्रीकृष्ण इन दोनो के लिए ही प्रयुक्त है । बाकी के सारे पद सामान्यत बलदेव और वासुदेव के लिए प्रयुक्त किए गये है ।

नौ बलभद्र और नौ नारायण ६३ श्लाघ्य-प्रशसनीय पुरुषो मे से हैं । इन ६ बलभद्रो और ६ नारायणो मे से बलराम और श्रीकृष्ण ये दोनो भाई प्रधान थे । जैन इतिहास के अनुसार ये इस अवसर्पिणी काल के नौवे बलदेव (बलभद्र) और नारायण (वासुदेव) थे । ये दोनो जगत् मे अतिविख्यात हुए । इन्होने ससार मे कई अद्भुत, अपूर्व और असाधारण पराक्रम के कार्य किए । वे सिर्फ दो ही पराक्रमी नही थे, अपितु उनका सारा परिवार—५६ कोटि यादव सहित अतुलबलधारी और पराक्रमी था । वसुदेव, समुद्र-विजय आदि दस पूज्य पुरुष इस वश के मुखिया थे । ये दोनो अपने अद्भुत जौहरो से उन सबके हृदय को प्रफुल्लित करने वाले थे । यादवजाति के प्रद्युम्न आदि साढे तीन करोड स्फूर्तिमान कुमार थे, उन्हे भी ये दोनो अत्यन्त प्रिय और उनके हृदय के श्रद्धेय थे । बलरामजी की माता का नाम महारानी रोहिणी देवी था और श्रीकृष्ण की माता का नाम महारानी देवकी देवी था । इन दोनो के हृदयो को ये दोनो आनन्दित करने वाले थे । ये भरतक्षेत्र के आधे भाग के स्वामी थे । इसलिए अर्धभरत के भिन्न भिन्न राज्यो के स्वामी १६ हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करते

थे। प्रत्येक वासुदेव के १६ हजार विभिन्न देशो की अद्वितीय सुन्दरी हृदय-वल्लभा पत्नियाँ होती हैं। गृहस्थ का सुख धन के विना नही टिकता,इसलिए शास्त्रकार ने उनके वैभव की चर्चा की है कि उनके खजानो मे नाना प्रकार की चन्द्रकान्त आदि मणियाँ और कर्केतन आदि रत्न तथा सुवर्ण आदि द्रव्य भरे रहते थे।

धन की रक्षा सैनिकशक्ति के विना नहीं होती। इसलिए शास्त्रकार ने कहा—**'हयगयरहसहस्ससामी'**—वे हजारो घोडो, हाथियो और रथो के स्वामी थे। राजाओ की महत्ता राज्य से होती है, इसीलिये बताया है—**'गामागरनगर खेडकब्बड** इत्यादि। यानी गाँव, नगर, खाने,खेडे, कस्बे आदि हजारो जनपदो से उनका राज्य सुशोभित था। उनके राज्य की सीमा उत्तर मे वैताढ्यगिरि तक थी, शेप तीनो ओर वह लवणसमुद्र से घिरी हुई थी। भरतक्षेत्र के ठीक मध्यभाग मे वैताढ्यगिरि है, जिसे रजताचल भी कहते हैं। वैताढ्यपर्वत ही भरतक्षेत्र को दो खण्डो मे विभक्त करता है—उत्तरभारत और दक्षिणभारत। वलदेव और वासुदेव दक्षिण भरतार्द्ध के स्वामी थे।

वलदेव-वासुदेव के असाधारण गुण यद्यपि वलदेव और वासुदेव दोनो के पास पूर्वजन्मकृत तप और साधना के प्रभाव से सुखभोग के साधनो की कमी नही रहती, उनके सामने अभाव कभी मुह वाए नही खडा रहता। कोई भी सासारिक भौतिक वस्तु ऐसी नही है, जो उन्हे उपलब्ध न हो सकती हो, तथापि उनमे कुछ असाधारण गुण होते है, जिसके कारण वे उन भोगो के वीच रहते हुए भी कई सौ वर्प की इतनी लवी आयु तक अपनी जीवनयात्रा मनुष्यलोक मे यापनकर लेते है। नहीं तो, साधारण गुणहीन मानव भोगो का कीडा बन कर कभी का समाप्त हो गया होता। इसी वात को दृप्टिगत रख कर शास्त्रकार उनमे पाये जाने वाले असाधारण गुणो का निरूपण करते है, जिनसे कि दुनिया उन्हे श्रेष्ठ मानव के रूप मे पहिचानती हे और युगो-युगो तक वे मानव के मन-मस्तिप्क पर चढ कर अमर हो जाते हैं—

(१) **धैर्य और कीर्ति के धनी**—मनुष्य को हर कार्य मे सफलता और आत्म-विश्वास पैदा कराने वाला गुण धैर्य है। धीर वही कहलाता है—जिसका मन अनेक झझा वातो और क्षोभ पैदा करने के निमित्तो के आ पडने पर भी क्षुब्ध न हो। कहा भी है—

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येपा न चेतासि त एव धीरा।'

'विकार का कारण उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त विकृत नही होते, वे ही धीर पुरुप होते हैं।' वास्तव मे हर परिस्थिति मे, हर हालत मे जो मनुष्य समत्व—सतुलन की पगडडी पर स्थिर रह सकता हो, वही धैर्यवान कहलाता है। वलदेव और वासुदेव दोनो के जीवन मे ऐसे अनेक अधड आए, लेकिन वे अपने पथ से विचलित

न हुए। जैन और वैदिक धर्म शास्त्रो मे इनके जीवन से सम्बन्धित धैर्य के अनेक ज्वलन्त उदाहरण उल्लिखित है। जहा मामूली व्यक्ति घबरा कर, हार कर बैठ जाता है, वहाँ ये अपनी धीरता के कारण अपने पथ पर अडिग रहे है।

जो धीरतापूर्वक बडे-बडे असाधारण कार्य सफल कर दिखाता है, दुनिया उसी का लोहा मानती है और उसी की कीर्तिपताका दिग्दिगन्त मे फहराती है। यही कारण है कि हजारो वर्ष व्यतीत हो जाने पर आज भी उनके जीवन की अमरगाथाए आम जनता की जबान पर है, उनको लोग कर्मयोगी के रूप मे श्रद्धा से मानते है, उनके पदचिह्नो पर चलते है।

(२) **समस्तभौतिक शक्तियो के स्वामी**—ससार का यह नियम है, कि शक्तिमान ही ससार मे असाधारण कार्य करके दिखा सकता है, राज्यसचालन कर सकता है, न्याय का प्रवर्तन कर सकता है तथा बडे से बडा त्याग भी कर सकता है। शक्तिहीन मानव तो प्राप्त राज्य को भी खो देता है, न्याय-अन्याय का विचार नही करता और न ही कोई विशिष्ट कार्य कर सकता है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—**ओहबला, अइबला, अनिहया**। यानी वे प्रवाहरूप से अखड बल के धनी थे, अति बली थे, दूसरो के बल को भी मात कर देते थे, और किसी से मार नही खाते थे। अर्थात् वे तीनो शक्तियो से सम्पन्न थे—प्रभुत्वशक्ति, मत्रशक्ति और उत्साहशक्ति। इसके अलावा शारीरिक शक्ति और मनोबल की भी उनमे कमी न थी। इसीलिए तो शास्त्रकार स्वय उल्लेख करते है—उन्होने दुर्दान्त अहकारी और बलवान मौष्टिक और चाणूर पहलवानो को पछाड दिया था, रिष्ट नामक बैल को मार डाला था, कालीयनाग—सर्प के दर्प का मर्दन कर दिया था, वृक्ष का रूप धारण करके आए हुए यमलार्जुन का सफाया कर दिया था, कस की भेजी हुई महाशकुनि और पूतना विद्याधरियो का भी काम तमाम कर दिया था, कस को सिंहासन से नीचे पटक कर परलोक पठा दिया था, जरासध के मान को खडित कर दिया था, त्रिपृष्ठ नाम के भव मे विषमगिरि गुफानिवासी उपद्रवी केसरी सिंह के दोनो होठ पकड कर उसका मुह चीर डाला था अथवा केशी नामक अतिदुष्ट घोडे को उसके मुह मे हाथ डाल कर श्रीकृष्णजी ने चीर दिया था।

वे अपराजित माने जाने वाले शत्रुओ का भी मर्दन कर देते थे तथा हजारो रिपुओ का घमड चूरचूर कर देते थे। वे दोनो महाबली, महापराक्रमी, शत्रुओ से अजेय, प्रधान धनुर्धारी थे। वे राजाओ मे सिंह के समान थे, सिंह के समान पराक्रम और चाल वाले थे, तथा उन्होने बडे-बडे राजाओ को परास्त कर दिया था।

(३) **महासत्त्व के सागर**—साहसी व्यक्ति हार को झटपट जीत मे बदल देता है। बडे-बडे साम्राज्यो का निर्माण, समाजो की रचना और असख्य व्यक्तियो

पर आधिपत्य साहस के विना नही हो सकता। इन दोनो महापुरुषो मे असाधारण साहस था, तभी तो व्रजभूमि मे जमे-जमाए साम्राज्य को एक दिन छोड कर ठेठ सुदूर समुद्र तट पर द्वारिका मे उन्होने अपने साम्राज्य की नीव डाली। साहस और अध्यवसाय ने उनके जीवन को चमका दिया। अन्यथा, केवल ग्वालो के साथ गोकुल मे रह कर वे कभी इतना विराट् कार्य नही कर सकते थे।

(४) **दयावान**—दया के विना दूसरो की सहानुभूति और आशीर्वाद मनुष्य नही पा सकता और विना सहानुभूति और आशीर्वाद के मनुष्य अपने जीवन का सर्वांगीण विकास नही कर सकता। श्रीकृष्ण ने अपने जीवन मे जराजर्जर उपेक्षित वृद्ध की ईट उठाने जैसी सहायता करने के अनेक कार्य किये हैं। वे जहाँ भी निर्बल को सबल द्वारा सताता देखते, वही अड जाते और उसे न्याय दिलाते। इसलिए दया का गुण बहुत आवश्यक है।

(५) **अमात्सर्य**—किसी के भी विशिष्ट गुण, कार्य या पराक्रम को देख कर उनके मन मे मत्सर, डाह, ईर्ष्या या तेजोद्वेष नही पैदा होता था। वे दूसरे के गुण आदि को देख कर प्रसन्न होते थे, गुणग्राही होते थे।

(६) **अचचलता**—चचलता छिछोरपन का चिह्न होता है। जो व्यक्ति महान् होता है, उसमे गभीरता होती है, चचलता नही। बात-बात मे तुनुकमिजाजी, चचलता या चपलता जीवन के कई कार्यो को विगाड देती है। इसीलिए बलदेव-वासुदेव मे इस गुण का होना आवश्यक है।

(७) **अचडा**—बात-बात मे क्रोध करना उच्छृखलता की निशानी है। महान् व्यक्ति सहसा कुपित नही होते। वे गभीरता से हर बात को सोचते है, सहसा निर्णय नही देते और न सहसा गर्म हो कर उबल पडते है। इसलिए उनमे विना कारण कभी क्रोध पैदा नही होता। शिशुपाल के द्वारा अनेक गलतियाँ की जाने पर भी श्रीकृष्णजी ने उन्हे काफी देर तक क्षमा किया, वे शीघ्र कुपित नही हुए।

(८) **हित-मित-मधुरभाषी**—वाणी मनुष्य के जीवन की क्षुद्रता और महानता का परिचय करा देती है। बलदेव-वासुदेव की वाणी नपीतुली, मधुर और हितकर होती है। वे विना कारण कभी किसी पर प्रकोप नही करते। दुर्योधन के द्वारा किये गए दुर्व्यवहार के समय भी वे शान्तिदूत वन कर उसकी राजसभा मे गए थे। अपमान किये जाने पर भी उन्होने शान्त सयत शब्दो मे ही उत्तर दिया। मुसकरा कर कडवी बात का जवाब मीठे शब्दो मे देने की क्षमता इन उत्तम पुरुषो मे होती है।

(९) **वात्सल्य**—वात्सल्य का गुण ऐसा है, जो पराये से पराये व्यक्ति को भी सदा के लिए अपना बना लेता है। वात्सल्य बरसाने वाले व्यक्ति के सभी

आत्मीय हो जाते है, अपनी दृष्टि मे उसे कोई पराया लगता ही नही। श्रीकृष्णजी मे बचपन से ही माता यशोदा से प्राप्त वात्सल्य का गुण सस्काररूप से उतर आया था। वे पिछडी जातियो, दुबलो, गावो, गायो तथा नारीजाति के प्रति हमेशा वात्सल्य वहाते रहे।

(१०) **शरण्य**—शरण मे आये हुए को शरण दे देना भी महान् उदारता और त्याग का काम है। स्वार्थी और अनुदार मनुष्य सहसा ऐसा नही कर सकता। वह किसी भी शरणागत को उससे अपना स्वार्थ सिद्ध न होता देख ठुकरा देता है। श्री कृष्णजी तो इस विषय मे उदार और शरणागतवत्सल थे।

(११) **अमर्षण**—अपराध या गल्ती को नजरअदाज कर देना दुर्बल और स्वय दुर्गुणी व्यक्ति का काम होता है। जो व्यक्ति स्वय सद्गुणी और सिद्धान्तो पर दृढ होगा , वह अपने या दूसरे के अपराधो की कभी उपेक्षा नही करेगा। यही बात श्रीकृष्ण मे थी। अथवा प्राकृत 'अमरिसण' का सस्कृत रूप 'अमसृण' भी हो सकता है। जिसका अर्थ होता है, महत्त्वपूर्ण कार्यो मे आलस्य न करना। किसी कार्य को दुर्लक्ष्य करके समय से आगे ठेल देने पर वह कार्य वर्षो तक पूरा नही हो पाता। दीर्घसूत्रता या कार्य मे ढिलाई ही जीवन को महान् बनने मे विघ्न बनती है। श्रीकृष्णजी के जीवन मे कर्मयोग और पुरुषार्थ तो कूट-कूट कर भरा था।

(११) **दण्ड देने मे गभीर**—किसी को विना विचारे झटपट मनचाहा दण्ड दे डालना अन्याय है। कमजोर होने के कारण चाहे कोई व्यक्ति शक्ति के आगे झुक जाय और चुपचाप उस अन्याय को पी ले , लेकिन अन्तत उसका मन विद्रोह कर बैठता है, उसके हृदय मे प्रतिक्रिया अवश्य पैदा होती है। इसलिए महान् व्यक्ति किसी को दण्ड देते समय पूरा न्याय तौल कर ही निर्णय करते हैं। श्रीकृष्ण मे यह गुण अधिक विकसित था।

(१३) **सौम्य आकृति, मधुर मनोरम दर्शन और गभीर हृदय**—ये तीनो गुण मनुष्य के उन्नत व्यक्तित्व के परिचायक होते है। जो व्यक्ति छिछला, उच्छृखल, क्रोधी या वाचाल होगा, उसमे ये गुण प्राय नही होते। कहावत है—

'वक्त्र वक्ति हि मानसम्' यानी मुख हमेशा मन के भावो को प्रगट कर देता है। श्री कृष्णजी मे ये गुण सदा रहे है। इसीलिए वे अपने मधुर व्यक्तित्व से लाखो लोगो को आकर्षित कर सके। **'आकृतिर्गुणान् कथयति'** इस न्याय से आकृति से गुणो का पता लग जाता है।

(१४) **चमकता हुआ उत्तम तेजस्वी जीवन**—यह महान् जीवन की निशानी है। जिसके जीवन मे कोई दम नही होता, जो बातबात मे अपने वचन से हट जाता है, सिद्धान्तो को ताक मे रख कर समझौता करने लग जाता है, व्रत-नियमो पर

अटल नही रहता, उसका जीवन तेजस्वी नही होता, अपितु वह मायूस, उदास, निराश और सत्त्वहीन जीवन होता है। श्रीकृष्ण का जीवन चमकता हुआ जीवन था।

(१५) **मधुर, गभीर और स्निग्ध आवाज**—यह विशेपता भी उत्तम व्यक्तित्व की चिह्न है, जो श्रीकृष्णजी के जीवन मे थी।

(१६) **सुन्दर मस्त चाल**—मनुष्य की चालढाल को देख कर उसके आचरण या चरित्र का वहुत-सा पता लग जाता है। श्रीकृष्ण की हाथी जैसी मस्त, ललित और मन्थर चाल उनके जीवन मे एकाग्रता और व्यवस्थितता को सूचित करती थी।

(१७-१८) **लक्षणो और व्यजनो से युक्त तथा मानोन्मानपूर्वक सर्वांग-सुन्दर शरीर**—शरीर भी मनुष्य के जीवन का प्रतिविम्व है। शरीर पर स्थित लक्षण और व्यजन (तिल, मप आदि) तथा शरीर का सुन्दर गठन और अगो की परिपूर्णता आदि भी उसे पहिचानने के लिए वहुत वडे निमित्त है। जैसे घुटने तक की लम्वी भुजाएँ, चौडी छाती, विशाल भाल, विशाल नेत्र, चौडे कधे, उन्नत ललाट आदि शुभ लक्षण कहलाते है, इसी प्रकार शरीर पर होने वाले तिल, मप, रेखाएँ, लहसुन आदि व्यजन कहलाते है। श्रीकृष्णजी मे यह गुण सविशेप थे।

ये और इस प्रकार के कुछ अन्य खास गुण वलदेव और वासुदेव मे होते थे, जिनका शास्त्रकार ने मूल मे उल्लेख किया है। तभी तो वे भोगो के बीच रहते हुए भी अपने जीवन को दीर्घायु और गुणसम्पन्न रख सके। अन्यथा, वे इस ससार से कभी के मिट गये होते, सुरा, सुन्दरी आदि के चक्कर मे पडने वाले कई निरकुश राजाओ की तरह वे भी वर्वाद हो गए होते।

इनके विशेष चिह्न—पाच जन्य शख, सुदर्शन चक्र, कौमोदकी गदा, नन्दक तलवार और सारग धनुप इनके अतीव विशिष्ट शक्तिसम्पन्न होते है। प्राचीन-काल मे राजा लोग ध्वजा पर अपना खास चिह्न अकित करते थे। वलदेव की ध्वजा पर ताड के वृक्ष का तथा श्रीकृष्णजी की ध्वजा पर गरुड का चिह्न अकित था। उनका वक्षस्थल श्रीवत्स लाछन और एकावली हार से सुशोभित रहता था। वे गले मे वनमाला डाले रहते थे।

इनके विशिष्ट राजचिह्न होते है—छत्र और चवर। इन दोनो का शास्त्रकार ने विशद निरूपण किया है, उन पक्तियो का अर्थ मूलार्थ मे स्पष्ट कर दिया गया है।

निष्कर्ष—इस प्रकार वलदेव-वासुदेव के वैभवो, गुणो, शक्ति और भोगो के साधनो के विस्तृत निरूपण का निचोड यही है कि इतने सुखसाधन व भोग मिल जाने पर भी जव वलदेव और वासुदेव जैसे उच्च व्यक्ति अब्रह्मचर्य के मार्ग मे फिसल गए तो फिर सामान्य मानव की तो विसात ही क्या है?

माडलिक राजाओ एवं उत्तरकुरु-देवकुरु के मनुष्यों की विभूति

अव शास्त्रकार माडलिक नरेन्द्रो और उत्तरकुरु-देवकुरुक्षेत्र के भोगसम्पन्न मनुष्यो के ऐश्वर्य वैभव और कामभोगो के साधनो का निरूपण करते हुए, अन्त मे उनकी भी अतृप्ति का प्रतिपादन करते है—

मूलपाठ

भुज्जो मडलियनरवरेदा, सबला, सअतेउरा, सपरिसा, सपुरोहियाऽऽमच्च-दण्डनायक - सेणावति-मतनीतिकुसला, नाणा-मणिरयणविपुलधणधण्णसचयनिहीसमिद्धकोसा, रज्जसिरिं विपुल-मणुभवित्ता, विक्कोसता, बलेण मत्ता, तेवि उवणमति मरणधम्म अवितित्ता कामाण ।

भुज्जो उत्तरकुरु-देवकुरुवणविवरपादचारिणो नरगणा भोगुत्तमा, भोगलक्खणधरा, भोगसस्सिरिया, पसत्थसोमपडिपुण्ण-रूवदरिसणिज्जा, सुजातसव्वगसु दरगा, रत्तुप्पलपत्तकतकरचरण-कोमलतला, सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा,[1] अणुपुव्वसुसहयगुलीया, उन्नयतणुतबनिद्धनखा, सठितसुसिलिट्ठगूढगोफा, एणीकुरुविंदवत्त-वट्टाणुपुव्विजघा, समुग्गनिसग्गगूढजाणू, वरवारणमत्ततुल्लविक्कम-विलसिय (विलासित)गती, वरतुरगसुजायगुज्झदेसा, आइन्नहयव्व निरुवलेवा, पमुइयवरतुरगसीह - अतिरेगवट्टियकडी, गगावत्त-दाहिणावत्ततरगभंगुररविकिरणबोहियविकोसायत - पम्हगंभीर-विगडनाभी, सहितसोणदमुसल-दप्पणनिगरियवरकणगच्छरुसरिस-वरवइरवलियमज्झा, उज्जुगसमसहिय-जच्चतणुकसिणणिद्धआदेज्ज-लडहसूमालमउयरोमराई,झसविहगसुजातपीणकुच्छी,झसोदरा,पम्ह-विगडनाभी(भा),सनतपासा[2], सगयपासा,सु दरपासा, सुजातपासा, मितमाइयपीणरइयपासा, अकरंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहय-

---

१ 'अणुपुव्विसुजायपीवरगुलिका' पाठ भी मिलती है ।
२ 'सततपासा' पाठ भी कही कही मिलता है । —सपादक

देहधारी, कणगसिलातलपसत्थसमतलउवइयविच्छिन्नपिहुलवच्छा, जुयसंनिभपीणरइयपीवर- पउट्ठसठियसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसुनिचित-घणथिरसुवद्धसधी, पुरवरवरफलिहवट्टियभुया, भुयईसरविपुल-भोगआयाण-फलिउज्छूढदीहवाहू, रत्ततलोवइयमउयमसलसुजाय-लक्खणपसत्थ - अच्छिद्दजालपाणी, पीवरसुजायकोमलवरगुली, तवतलिणसुइरुइलनिद्धनखा, निद्धपाणिलेहा, चदपाणिलेहा, सूरपाणिलेहा, सखपाणिलेहा, चक्कपाणिलेहा, दिसासोवत्थिय-पाणिलेहा, रविससिसखवरचक्कदिसासोवत्थियविभत्तसुविरइय-पाणिलेहा, वरमहिस-वराह - सीह-सद्दूल-रिसह-नागवरपडिपुन्न-विउलखधा, चउरगुलसुप्पमाणकबुवरसरिसग्गीवा, अवट्ठिय-सुविभत्तचित्तमसू, उवचियमसलपसत्थसद्दूलविपुलहणुया, ओय-वियसिलप्पवालबिबफलसनिभाधरोट्ठा, पडुरससिसकल-विमल-सख-गोखीर-फेण-कुंद-दगरय-मुणालिया-धवलदतसेढी, अखडदता, अप्फुडियदता, अविरलदता, सुणिद्धदता, सुजायदता, एगदत-सेढिव्व अणेगदता, हुयवयनिद्धतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततल-तालुजीहा, गरुलायतउज्जुतुगनासा, अवदालियपोडरियनयणा, कोकासियधवलपत्तलच्छा, आणामियचावरुइल-किण्हब्भराजि-सठियसगयाययसुजायभुमगा, अल्लीणपमाणजुत्तसवणा, सुसवणा, पीणमसलकवोलदेसभागा, अचिरुग्गयबालचदसठियमहानिलाडा, उडुवति(रिव)-पडिपुन्नसोमवयणा, छत्तागारुत्तमगदेसा, घणनि-चियसुवद्धलक्खणुन्नयकूडागारनिभपिडियग्गसिरा, हुयवहनिद्धत-धोयतत्ततवणिज्जरत्तकेसतकेसभूमी, सामलीपोडघणनिचिय-छोडियमिउविसय(त)पसत्थसुहुमलक्खणसुगधिसुदरभुयमोयग - - भिगनीलकज्जल पहट्ठ - भमरगणनिद्धनिगुरुबनिचिय-कुंचिय-पयाहिणावत्तमुद्धसिरया, सुजातसुविभत्तसगयगा, लक्खणवजण-

गुणोववेया, पसत्थबत्तीसलक्खणधरा, हसस्सरा, कुचस्सरा, दुदुभिस्सरा, सीहस्सरा, (उज्ज)ओघसरा, मेघसरा, सुस्सरा, सुस्सरनिग्घोसा,वज्जरिसहनारायसघयणा,समचउरंससठाणसठिया, छायाउज्जोवियगमगा, पसत्थच्छवी, निरातका, ककग्गहणी, कवोतपरिणामा, सउ(गु)णि पोसपिट्ठ तरोरुपरिणया, पउमुप्पल-सरिसगधुस्साससुरभिवयणा अणुलोमवाउवेगा, अवदायनिद्ध-काला, विग्गहियउन्नयकुच्छी, अमयरसफलाहारा, तिगाउयसमू-सिया, तिपलिओवमट्ठिनीका तिन्नि य पलिओवमाइ परमाउ पालयित्ता तेवि उवणमति मरणधम्म अवितित्ता कामाणं ॥

संस्कृतच्छाया

भूयो मांडलिकनरवरेन्द्राः, सबलाः सान्त पुराः, सपरिषदः, सपुरोहिताऽऽमात्य-दण्डनायक-सेनापति-मत्रनोतिकुशला, नानामणि-रत्न विपुल-धन-धान्यसचय-निधिसमृद्धकोशा, राज्यश्रिय विपुलाम् अनुभूय विक्रोशन्तो, बलेनमत्तास्तेऽपि उपनमन्ति मरणधर्मम् अवितृप्ताः कामानाम् ।

भूय उत्तरकुरु-देवकुरुवनविवरपादचारिणो नरगणा, भोगोत्तमा, भोगलक्षणधरा, भोगसश्रीका', प्रशस्तसौम्यप्रतिपूर्णरूपदर्शनीयाः, सुजात-सर्वांगसुन्दरागा, रक्तोत्पलपत्रकान्तकरचरणकोमलतला, सुप्रतिष्ठितकूर्म-चारुचरणा, अनुपूर्वसुसहतागुलिका, उन्नततनुताम्रस्निग्धनखा, सस्थित-सुश्लिष्टगूढगुल्फा, एणीकुरुविंदवृत्तवृत्तानुपूर्व्विजघा, समुद्गनिसर्गगूढजानवो, मत्तवरवारणतुल्यविक्रमविल(ला)सितगतयो, वरतुरगसुजातगुह्यदेशा, आकीर्णहय इव निरुपलेपा, प्रमुदितवरतुरगसिंहातिरेकवर्त्तितकटयो, गगावर्त्तदक्षिणावर्त्ततरगभगुररविकिरणबोधित - विकोशायमानपद्मगम्भोर-विकटनाभय, सहत(सहित)सोणद(शोणद) - मुशल - दर्पण - निगलित (निगरिका) वरकनकत्सरुसदृशवरवज्रवलितमध्या, ऋजुकसमसहत (सहित) जात्यतनुकृष्णस्निग्धादेयलडहसुकुमारमृदुकरोमराजयो, झषविहगसुजातपीन-कुक्षयो, झषोदरा, पद्मविकटनाभय, सन्नतपार्श्वा, सगतपार्श्वा', सुन्दर-पार्श्वा, सुजातपार्श्वा, मितमात्रिक(मातृक)-पीनरतिदपार्श्वा, अकरडुककनक-रुचकनिर्मलसुजातनिरुपहतदेहधारिण, कनकशिलातलप्रशस्तसमतलोपचित-

विस्तीर्णपृथुलवक्षसो, युगसन्निभरतिदपीवरप्रकोष्ठसस्थितसुश्लिष्टविशिष्ट-लष्टसुनिचितघनसुवद्धसन्धयः, पुरवरवरपरिघवर्तितभुजा, भुजगेश्वरविपुल-भोगादानपरिघोत्क्षिप्तदीर्घबाहवो, रक्ततलोपचित(तलौपचयिक तलौपयिक) मृदुक मासलसुजातलक्षणप्रशस्ताच्छिद्रजालपाणय, पीवरसुजातकोमलवरागु-लयस्ताम्रतलिनशुचिरुचिरस्निग्धनखाः, स्निग्धपाणिरेखाश्चन्द्रपाणिरेखाः, सूर्यपाणिरेखा., शखपाणिरेखाश्चक्रपाणिरेखा, दिक्स्वस्तिकपाणिरेखा, रविशशिशखवरचक्रदिक्स्वस्तिकविभक्तसुविरचितपाणिरेखा, वरमहिष-वराह-सिह-शार्दूल-वृषभ-नागवरप्रतिपूर्ण - विपुलस्कन्धाश्चतुरगुलसुप्रमाण-कम्बुवरसदृशग्रीवा, अवस्थितसुविभक्तचित्रश्मश्रव., उपचितमासलप्रशस्त-शार्दूलविपुलहनुकाः, उपचित (औपयिक)शिलाप्रवालविम्बफलसन्निभाधरो-ष्ठाः, पाण्डुरशशिशकलविमलशखगोक्षीरफेनकुन्ददकरजोमृणालिकाधवल-दन्तश्रेणयोऽखडदता, अस्फुटितदन्ता, अविरलदन्ता. सुस्निग्धदन्ता, सुजात-दन्ता, एकदन्तश्रेणिरिवानेकदन्ता, हुतवहनिध्मातधौततप्ततपनीयरक्ततलतालु जिह्वा, गरुडायतर्जुतुगनासा, अवदालितपुडरीकनयना, कोकासित-(विकसित)धवलपत्रलाक्षा, आनामितचापरुचिरकृष्णाभ्रराजिसस्थित-संगतायतसुजातभ्रूका,आलीनप्रमाणयुक्तश्रवणा सुश्रवणा ,पीनमासलकपोल-देशभागाः, अचिरोद्गतवालचन्द्रसस्थितमहाललाटा, उडुपति'पतिरिव)-प्रतिपूर्णसौम्यवदनाश्छत्राकारोत्तमागदेशा, घननिचितसुबद्धलक्षणोन्नतकूटा-कारनिर्भपिडिताग्रशिरसो, हुतवहनिध्मातधौततप्ततपनीयरक्तकेशान्तकेश-भूमयः, शाल्मलिपौण्डघननिचितच्छोटितमृदुविशदप्रशस्तसूक्ष्मलक्षणसुगन्धि-सुन्दरभुजमोचकभृगनीलकज्जलप्रहृष्टभ्रमरगणस्निग्धनिकुरुम्बनिचित - -कुचितप्रदक्षिणावर्त्तमूर्द्धशिरोजा, सुजातसुविभक्तसगतागा, लक्षणव्यजन-गुणोपपेता, प्रशस्तद्वात्रिशल्लक्षणधरा, हसस्वरा., क्रौचस्वरा, दुन्दुभिस्वरा, सिहस्वरा, ओघस्वरा, मेघस्वरा, सुस्वरा, सुस्वरनिर्घोषा, वज्रर्षभनाराच-सहनना., समचतुरस्रसस्थानसस्थिताश्छायोद्योतितागोपागा, प्रशस्तच्छवयो, निरातका, ककग्रहणीका (णिन), कपोतपरिणामा शकुनिपोस(अपान) पृष्ठान्तरोरुपरिणता', पद्मोत्पलसदृशगन्धोच्छ्वाससुरभिवदना, अनुलोम-वायुवेगा, अवदातस्निग्धकाला, विग्रहिकोन्नतकुक्षयोऽमृतरसफलाहारास्त्रि-गव्यूतसमुच्छ्रितास्त्रिपल्योपमस्थितिकास्त्रीणि च पल्योपमानि परमायूषि पालयित्वा तेऽप्युपनमन्ति मरणधर्ममवितृप्ता कामानाम् ।

पदार्थान्वय---(भुज्जो) तथा (सबल) बल या सैन्य के सहित, (सअतेउरा) अन्त पुर---रनवाससहित, (सपरिसा) परिषदो या परिवार के सहित, (सपुरोहिया-ऽमच्च-दडनायक-सेनावति-मतनीतिकुसला) शान्तिकर्मकर्ता पुरोहितो, अमात्यो--मत्रियो, दडनायको---दडाधिकारियो---कोतवालो, सेनापतियो तथा मत्रो---गुप्त परामर्शों के करने मे और नीति मे कुशल व्यक्तियो के सहित, (नाणामणिरयण-विपुल-धण-धन्नसचय-निहीसमिद्धकोसा) अनेक प्रकार को मणियो, रत्नो, विपुलधन और धान्यो के सग्रह और निधियो से जिनके खजाने समृद्ध---परिपूर्ण हैं, (विपुल रज्जसि-रिमणुभवित्ता) अत्यधिक राज्यलक्ष्मी का अनुभव---उपभोग करके (विक्कोसता) दूसरो को कोसने वाले---रुलाने वाले अथवा कोशरहित हो कर या विशिष्ट कोश वाले हो कर, (बलेण मत्ता) बल से गर्वित, ऐसे जो (मडलियनरवरेंदा) माडलिक नरेन्द्र---मडलाधिपति राजा होते हैं, (तेवि) वे भी (कामाण) कामभोगो से (अवितित्ता) अतृप्त हुए ही (मरणधम्म) काल-धर्म---मृत्यु को, (उवणमति) प्राप्त होते हैं।

(भुज्जो) इसी तरह फिर, (उत्तरकुरु-देवकुरु-वणविवरपादचारिणो) देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रो (उपचार से हेमवत, रम्यकवर्ष, हरिवर्ष और ऐरण्यवत आदि क्षेत्रो) के वनो, गुफाओ और आरामो आदि मे पैदल विचरण करने वाले, जो (नरगणा) यौगलिक मनुष्यसमूह है, वे (भोगुत्तमा) भोगो से उत्तम अर्थात् उत्तम भोगो से सम्पन्न होते हैं, (भोगलक्खणधरा) भोगो के सूचक स्वस्तिक आदि लक्षणो के धारक होते हैं, (भोगसस्सिरिया) भोगो से शोभायमान होते हैं, (पसत्थसोमपडिपुण्णरूवदरिस-णिज्जा) श्रेष्ठ मगलमय सौम्य-शान्त और परिपूर्ण रूपसम्पन्न होने से दर्शनीय होते हैं, (सुजातसव्वगसु दरगा) उत्तम रूप से बने हुए सब अवयवो से सर्वांगसुन्दर शरीर वाले होते हैं, (रत्तुप्पल-पत्त-कत-कर-चरण-कोमलतला) उनकी हथेली और पैरो के तलुए लालकमल के पत्तो की तरह रक्ताभ और कोमल होते हैं, (सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा) उनके चरण-पैर कछुए के समान सुस्थिर और सुन्दर होते हैं, (अणुपुव्वसुसहयगुलीया) उनकी उगलियाँ अनुक्रम से बडी और छोटी सुसहत-सघन छिद्ररहित होती हैं। (उन्नयतणुतबनिद्धनखा) उनके नख उन्नत-उभरे हुए, पतले, लाल, और चिकने-चमकीले होते हे, (सठितसुसिलिट्ठगूढगोफा) उनके पैरो के गट्टे---गुल्फ सुस्थित, सुघड और मासल होने से दिखाई नहीं देने वाले होते हैं। (एणीकुरुविंदवत्तावट्टाणु-पुव्विजघा) उनकी जाघें हिरनी की जाघ, कुरुविंद नामक तृणविशेष और वृत्त---सूत कातने की तकली के समान क्रमश वर्तुल और स्थूल होती है। (समुग्गनिसग्गगूढ-

जाणू) उनके घुटने डिब्बे व उसके ढकने के समान स्वाभाविकरूप से मासल होने से गूढ होते हैं। (वरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलसियगती) उनकी चाल—गति मदोन्मत्त उत्तम हाथी के समान मस्त तथा पराक्रम और विलास से युक्त होती है। (वरतुरगसुजायगुज्झदेसा) श्रेष्ठ घोडे की-सी सुनिष्पन्न लघु और गुप्त उनकी जननेन्द्रिय—लिंग होती है, (आइन्नहयव्व निरुवलेवा) आकीर्ण - उत्तमजाति घोडे के गुदाभाग की तरह उनका गुदाभाग मलद्वार मल के सम्पर्क से रहित होता है, (पमुइयवरतुरगसीहअतिरेगवट्टियकडी) उनकी कमर हृष्टपुष्ट श्रेष्ट घोडे और सिंह की कमर से भी बढकर गोल होती है। (गगावत्तदाहिणावत्ततरगभगुररविकिरण-वोहियविकोसायतपम्हगभीरविगडनाभी) उनकी नाभि गगानदी के आवर्त्त-भवर एव दक्षिणावर्त्त--चक्कर वाली तरगो के जाल के समान तथा सूर्य किरणो के द्वारा खिले हुए पद्म-कमल की तरह गम्भीर और विकट-विशाल होती है, (सहतसोणद (सोणद) मुसलदप्पणनिगरियवरकणगच्छरुसरिस-वरवइरवलियमज्झा) उनके शरीर का मध्यभाग सिकुडी हुई दतौन अथवा समेटी हुई लकडी की तिपाई, मूसल, दर्पण और मूष मे शोधे – तपाये हुए श्रेष्ठ सोने की बनी तलवार आदि की मूठ के समान तथा उत्तम वज्र की तरह पतला होता है। (उज्जुगसम-सहिय - जच्च-तणु - कसिण-णिद्ध-आदेज्ज-लडह-सूमाल-मउयरोमराई) उनके शरीर पर सीधी और लबाई-चौडाई मे एकसरीखी, परस्पर सटी हुई, स्वभाविकरूप से बारीक, काली, चिकनी तथा प्रशसनीय सौभाग्यशाली पुरुषो के योग्य सुकुमार और मृदु—मुलायम रोमराजि--रोओ की पक्ति होती है। (झसविहगसुजातपीणकुच्छी) उनके दोनो पार्श्वप्रदेश मछली और पक्षी के पार्श्वप्रदेश कुक्षि की तरह सुन्दर व मोटे होते हैं। (झसोदरा) उनका पेट मछली के समान, (पम्हविगडनाभिसनतपासा) कमल के समान गहरी उनकी नाभि है तथा दोनो बगलें नीचे की ओर झुकी हुई हैं, इसलिए (सगयपासा) उनके दोनो पार्श्व ठीक सगत होते हैं। (सुदरपासा) उनकी बगलें—पार्श्व सुन्दर हैं, (सुजातपासा) योग्य गुणो से युक्त बगलें हैं (मितमाइयपीणरइय-पासा) उनके पार्श्व (बगलें) मानोपेत परिणाम से युक्त—न्यूनाधिकता से रहित हैं, परिपुष्ट हैं, (अकरडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयदेहधारी) वे ऐसे शरीर को धारण किये होते हैं, जिनकी पीठ और बगल की हड्डिया मास से ढकी हुई हैं, तथा जो सोने के आभूषण की तरह निर्मल कान्तियुक्त तथा सुन्दरता से बना हुआ और नीरोग होता है। (कणगसिलातलपसत्थसमतलउवइयविच्छिन्नपिहुलवच्छा)

उनके वक्षस्थल सोने के शिलातल के समान प्रशस्त, समतल, ऊँचाई-नीचाई मे बराबर, मासभरे और विशाल होते हैं। (जुयसन्निभपीणरइयपीवरपउट्ठसठिय सुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठस निचितघणथिरसुबद्धस धी) उनकी दोनो कलाइयां जूवे के समान लम्बी, पुष्ट, सुखप्रदायिनी, रमणीय, मोटी होती है तथा विशेष सुडौल, सुगठित, यथास्थान सुन्दर मासल और नसो से दृढ बनी हुई हड्डियो की स धियाँ होती (पुरवरफलिहवट्टियभुया) उनकी भुजाए नगरद्वार की आगल के समान लम्बी और गोल होती हे। (भुयईसरविपुलभोगआयाणफलिह-उच्छूढदीहबाहू) उनकी बाहे भुजगेश्वर—शेषनाग के विशाल—विस्तीर्ण शरीर या फन की तरह और अपने स्थान से निकाल ली गई आगल के समान लबी होती हैं। (रत्ततलोवइय-मउय-मसल-सुजाय-लक्खण-पसत्थ-अच्छिद्द-जालपाणी) उनके हाथ लाल-लाल हथेलियो से युक्त, परिपुष्ट अथवा उचित, कोमल, मासल-मास से भरे, सुन्दर बने हुए, स्वस्तिक आदि लक्षणो से प्रशस्त और छेदरहित—परस्पर सटी हुई उगलियो वाले होते हैं। (पीवरसुजायकोमलवरगुली) उनके हाथो की उगलियाँ परिपुष्ट, सुरचित, कोमल और श्रेष्ठ होती हैं। (तबतलिणसुइरुइलनिद्धनखा) उनके नख लाल-लाल, सूक्ष्म-पतले, पवित्र, रुचिर एव चमकीले होते है। (निद्धपाणिलेहा) उनके हाथ की रेखाएँ चिकनी होती है, (चदपाणिलेहा) वे चन्द्रमा की तरह अविषम-सम या चन्द्राकित हस्तरेखा वाले, (सूरपाणिलेहा)-सूर्य के समान चमकने वाली या सूर्याकित हस्तरेखा वाले (सखपाणिलेहा) शख के समान उन्नत या शखाकित हस्तरेखा वाले, (चक्कपाणिलेहा) चक्र के समान वृत्त—गोल या चक्राकित हस्तरेखा वाले, (दिसासोवत्थियपाणिलेहा) दिशा-प्रधान स्वस्तिक यानी दक्षिणावर्त्त स्वस्तिक के चिह्न वाली हस्तरेखाओ वाले, (रविससिसखवरचक्कदिसासोवत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा) वे सूर्य, चन्द्र, शख, श्रेष्ठ चक्र, दक्षिणावर्त्त, स्वस्तिक आदि विभिन्न चिह्नो से अकित-सुरचित हस्तरेखाओ वाले होते हैं। (वरमहिस-वराह-सीह-सद्दूल-रिसह-नागवर-पडिपुण्णविउलखधा) उनके कधे श्रेष्ठ भैसे यमराज के भैंसे, सूअर, सिंह, व्याघ्र, साड और गजेन्द्र के कधो सरीखे परिपूर्ण और मोटे—परिपुष्ट होते हैं। (चउरगुलसुप्पमाणकबुवरसरिसगीवा) उनकी गर्दन ठीक चार अगुल प्रमाण और शख के समान होती है। (अवट्ठियसुविभत्तचित्तमसू) उनकी दाढी-मूछें न कम न ज्यादा—एक सरीखी बढी हुई और अलग-अलग विभक्त, शोभायमान होती हैं। (उवचिय-मसल-पसत्थ-सद्दूल-विपुलहणुआ) वे पुष्ट मासयुक्त, सुन्दर तथा व्याघ्र की ठुड्डी के समान विस्तीर्ण ठुड्डी वाले होते है। (ओयवियसिल-प्पवाल-बिंबफल-

सनिभाधरोट्ठा) उनके नीचले ओठ सशोधित मूगे और विम्बफल के समान लाल-लाल होते हैं । (पडुर-ससि-सकल-विमल-सख-गोखीर-फेण-कुद-दगरय-मुणालिया-धवलदतसेढी) उनके दातो की पक्ति सफेद रग के चन्द्रमा के टुकडे, निर्मल शख, गाय के दूध, समुद्र फेन, कुदपुष्प, जलकण तथा कमल की नाल के समान धवल-सफेद होती है । (अखडदता) उनके दात अखड होते हैं, (अप्फुडियदता) विना टूटे हुए होते हैं, (अविरलदता) वे घने दतो वाले, (सुणिद्धदता) चिकने दातो वाले, (सुजायदता) सुदर दातो वाले, और (एगदतसेढिव्व अणेगदता) वे एक दात की पक्ति के समान अनेक-बत्तीस दातो वाले होते है । (हुयवह-निद्धत-धोय-तत्त-तवणिज्ज रत्ततलतालुजीहा) उनके तालु और जीभ आग मे तपाये हुए तथा धोए हुए निर्मल सोने के समान लाल तल वाले होते हैं । (गरुलायत-उज्जु-तुगनासा) उनकी नाक गरुड के समान लवी, सीधी और ऊँची होती है । (अवदालिय-पोडरीय-नयणा) उनके नेत्र खिले हुए श्वेत कमल के समान होते हैं, (कोकासियधवलपत्तलच्छा) तथा विकसित सफेद पक्ष्म-पपनी से युक्त भी होते है । (आणामिय-चाव-रुइल-किण्हब्भराजि-सठिय-सगयायय-सुजायभुमगा) उनकी भौहे थोडे से झुकाये हुए धनुष के समान मनोरम, एक जगह जमे हुए काले-काले वादलो की रेखा के समान काली, उचित मात्रा मे लवी और सुदर होती है । (अल्लीण-पमाण-जुत्तसवणा) उनके दोनो कान एक जगह टिके हुए, उचितप्रमाणयुक्त पखे के समान होते हैं । (सुसवणा) वे सुन्दर कानो वाले अथवा अच्छी तरह सुनने की शक्ति से युक्त होते हैं । (पीणमसलकपोलदेसभागा) उनके दोनो गाल तथा आसपास के भाग परिपुष्ट, और मास से भरे हुए होते हैं । (अचिरुग्गयवालचदसठियमहानिडाला) उनके ललाट थोडे ही समय पहले नवीन उदय हुए वालचन्द्रमा के आकार के समान विशाल होते हैं । (उडुपतिपडिपुन्न-सोम-वयणा) उनके मुख पूर्ण चन्द्रमा के समान सौम्य होते हैं । (छत्तागारुत्तमागदेशा) छाते के आकार के समान उभरा हुआ उनका मस्तक का भाग होता है । (घण-निचिय-सुवद्ध-लक्खणुन्नयकूडागार-निभ-पिडियग्ग-सिरा) उनके सिर का अग्रभाग लोहे के मुद्गर के समान ठोस—सुदृढ, नसो से आवद्ध, उत्तम लक्षणो से युक्त, उन्नत—उभरा हुआ, शिखरसहित भवन के समान और गोलाकार पिड के समान होता है । (हुयवहनिद्ध तधोयतत्ततवणिज्जरत्तकेसत-केसभूमी) उनके मस्तक की चमडी अग्नि मे तपाये और धोये हुए तप्त सोने के समान लाल-लाल तथा सिरे पर वढे हुए वालो से युक्त होती है । (सामलीपोडघण-निचिय-छोडिय मिउ-विसय पसत्थ सुहुम लक्खण सुगधि- सुदर-भुय-मोयग-भिग-नील-कज्जल-

पहट्ठभमरगण-निद्ध-निगुरु व-निचिय-कु चिय - पयाहिणावत्तमुद्धसिरया) उनके मस्तक के बाल सेमर के फल के समान घने, छाटे हुए या मानो घिसे हुए, बारीक, सु स्पष्ट, प्रशस्त-मागलिक, चिकने, उत्तम लक्षणो से युक्त, सु गन्धित द्रव्यो से सु वासित, सु न्दर, भुजमोचकरत्न के समान काले, नीलमणि और काजल के समान तथा हर्षित भौरो के झु ड की तरह कृष्णकान्ति वाले, झु डरूप मे इकट्ठे और टेढे मेढे घु घराले, दक्षिण की ओर घूमे हुए होते है। (सु जाय-सु विभत्त-स गयगा) उनके अग वडे ही सु डौल, योग्यस्थान पर और सु न्दर होते हैं। (लक्खणवजणगुणोववेया) वे उत्तमोत्ताम लक्षणो व तिल, मस्सा आदि व्यजनो के गुणो से युक्त होते हैं। (पसत्थवत्तीसलक्खणधरा) वे मागलिक वत्तीस लक्षणो के धारक होते हैं। (हसस्सरा) उनका स्वर हस के समान होता हे, (कु चस्सरा) वे क्रौचपक्षी—कुररी के समान आवाज वाले होते है, (दु दुभिस्सरा) वे दु दुभि की ध्वनि के सयान ध्वनि वाले होते हैं, (सीहस्सरा) वे सिंहगर्जना के समान आवाज वाले होते हैं। (ओघस्सरा) बिना फटे हुए या बिना रुके हुए स्वर के समान स्पष्ट स्वर वाले होते हैं। (मेघस्सरा) उनकी आवाज बादलो के गर्जन के समान होती है, (सुस्सरा) उनकी आवाज कानो को सुखद एव प्रिय होती है, (सुस्सरनिग्घोसा) वे अच्छे स्वर और अच्छे निर्घोष वाले होते हैं (वज्जरिसहनारायसघयणा) वे वज्रऋषभनाराच सहनन वाले होते हैं, (समचउरसस ठाणस ठिया) उनका शरीर समचतुरस्र स स्थान से गठा हुआ होता है, (छायाउज्जोवियगमगा) उनके अग-प्रत्यग कान्ति से चमकते रहते हैं। (पसत्थच्छवी) उनके शरीर की चमडी-त्वचा श्रेष्ठ होती है, (निरातका) वे नीरोग रहते हैं। (क कग्गहणी) कक नामक पक्षी के सभान वे अल्प आहार ही ग्रहण करते हैं। (कवोत-परिणामा) कबूतर की तरह उनमे आहार की परिणति पचाने-हजम करने की शक्ति होती है। (सउणिपोसरिट्ठतरोरूपरिणया) पक्षी के समान उनका मलद्वार अपानमार्ग होता है, जिससे वे मलत्याग करने के बाद उसके लेप से रहित रहते हैं। तथा उनकी पीठ,पार्श्वभाग और जघाएँ परिपक्व होती हैं। (पउमुप्पलसरिसगधुस्सास-सुरभिवयणा) पद्म कमल और नीलकमल के सरीखी सु गन्ध से उनके श्वास और मुख सु गन्धित रहते हैं। (अणुलोमवाउवेगा) उनके शरीर की वायु का वेग अनुकूल-मनोज्ञ रहता है। (अवदायनिद्धकाला) निर्मल और चिकने काले बाल उनके सिर पर होते हैं। (विग्गहियउन्नतकुच्छी) उनका पेट शरीर के अनुरूप उन्नत-ऊँचा व मोटा होता है। (अमयरसफलाहारा) वे अमृत के समान रसयुक्त फलो का

आहार करने वाले होते हैं। (तिगाउयसमूसिया) उनके शरीर की ऊंचाई तीन गाऊ—कोश होती है, (तिपलिओवमट्ठितीका) उनकी स्थिति तीन पल्योपम की होती हे। (य) और (तिन्निपलिओवमाइ) इस तीन पल्योपम की (परमाउ) उत्कृष्ट आयु को (पालयित्ता) भोग कर, (तेवि) वे भोगभूमि—अकर्मभूमि के मनुष्य भी (कामाण अवितित्ता) काम भोगो से अतृप्त होकर अन्त मे (मरणधम्म) मृत्यु को—कालधर्म को, (उवणमति) प्राप्त होते हैं—पाते हैं।

मूलार्थ—इसी तरह माडलिक नरेश भी जो वडे वलवान् तथा प्रचुर सैन्य वाले होते हे, उनके अपने अन्त पुर-रनवास होते हे, वे सभाओ से युक्त होते हे या वडे परिवार वाले होते हे, शान्तिकर्म करने वाले पुरोहितो, राज्य-चिन्ता करने वाले अमात्यो–मन्त्रियो, दडनायको, सेनापतियो, मत्रणा और राजनीति मे कुशल दरबारियो से युक्त होते हे। उनके कोश नाना प्रकार की मणियो, रत्नो तथा प्रचुर धन और धान्यो के सग्रह से भरे रहते है। वे विपुल राजलक्ष्मी का उपभोग करके अपने बल से मतवाले हो कर दूसरो को आक्रोस करते हैं—अथवा कोश खाली होने पर दूसरो पर रोप करते है, अन्त मे वे भी कामभोग से अतृप्त ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

तथा उत्तरकुरु और देवकुरु क्षेत्र के यौगलिक मानवगण, जो वन खडो, गुफाओ वगैरह मे पाद विहार करते है, उत्तमोत्तम भोगो से सम्पन्न होते है, भोगो के सूचक स्वस्तिक आदि उत्तम लक्षणो के धारक होते हे, भोगो से शोभा पाते हैं, उनका रूप और दर्शन वडा ही मागलिक, सौम्य—शान्त और प्रतिपूर्ण होता है, उनके शरीर के तमाम अगो की बनावट अच्छी होने से उनके सभी अग सुन्दर होते हे, उनकी हथेली और पैरो के तलुए लाल कमल के पत्र की तरह कोमल और सुन्दर होते हे, उनके पैर सुस्थिर कछुए के समान उन्नत-उभरे हुए होते है, उनकी उ गलियाँ अनुक्रम से छोटी-बडी और छिद्र-रहित होती हैं। उनके नख उभरे हुए, पतले, लाल और चमकीले होते है। उनके पैरो के गट्टे सुस्थित, सुघटित और मासल होने से गूढ होते है, उनकी जाघे हिरनी की जाघो के समान तथा कुरुविंद नामक तृणविशेप और सूत कातने की तकली के समान वर्तु ल-गोल और उत्तरोत्तार स्थूल होती है, उनके घुटने गोल डिब्बे और उसके ढक्कन के समान स्वाभाविकरूप से मास से ढके हुए होते है, मतवाले उत्तम हाथी के समान उनका पराक्रम और मस्त सुन्दर गति-चाल

होती है। श्रेष्ठ घोडे के लिंग के समान उनका गुप्तांग—मूत्रेन्द्रिय सुनिष्पन्न होता है और आकीर्ण (उत्तम जाति के) घोडे के समान मलद्वार मल के लेप से रहित होता है।

उनकी कमर हृष्ट पुष्ट घोडे और सिंह की कमर से भी बढकर गोल होती है, उनकी नाभि गगानदी के भवर के समान, दक्षिणावर्त्त लहरो की परम्परा जैसी, सूर्य की किरणो से विकसित व कोश से बाहर निकले हुए कमल के समान गम्भीर और विशाल है। समेटी हुई तिपाई या सिकुडी हुई दतौन की लकडी, मूसल और मूप मे शोधे हुए श्रेष्ठ तप्त सोने की बनी हुई मूठ के समान और उत्तम वज्र के समान पतला उनका मध्यभाग होता है। उनकी रोमराजि सीधी, एक सरीखी, परस्पर सटी हुई, स्वभाव से बारीक, काली, चमकीली, सौभाग्यसूचक, मनोहर व अत्यत कोमल तथा रमणीय होती है। उनका पार्श्वभाग – बगले मछली और पक्षी की कुक्षि के समान पुष्ट और सुन्दर होता है। उनका पेट मछली के समान होता है। कमल के समान विशाल उनकी नाभि होती है। उनके पार्श्व प्रदेश नीचे की ओर झुके हुए होते है, सगत—जँचते हुए होते है, इसलिए उनके पार्श्व सुन्दर दिखाई देते है। यथा योग्य गुण वाले तथा परिमाण से युक्त, परिपुष्ट और रमणीय उनके पार्श्व होते है। उनकी पीठ और पार्श्वभाग की हड्डियाँ व पसलियाँ आदि मास से ढकी होने से वे निर्मल, सुन्दर, पुष्ट और नीरोग शरीर से युक्त होते है। उनका वक्ष स्थल सोने की शिला के तल के समान मागलिक, समतल, मास से भरे हुए, पुष्ट, विशाल और नगर के फाटक समान चौडा होता है। उनकी कलाइयाँ (कुहनी से नीचे का भाग) गाडी के जूवे के सदृश, यूप (खभे) के समान, मास से पुष्ट, रमणीय और मोटी होती है, तथा उनके शरीर की सन्धियाँ-जोड सुन्दर आकृति वाली, अच्छी तरह गठी हुई, मनोज्ञ, घनी, स्थिर, मोटी और अच्छी तरह बद्ध होती है। उनकी भुजाएँ महानगर के द्वार की भारी आगल के समान गोल होती है। तथा उनके बाहु शेषनाग आदि के विशाल शरीर के समान विस्तीर्ण और आदेय—रम्य तथा अपनी जगह से बाहर निकाली हुई आगल के समान लबी होती है। उनके हाथ लाल-लाल हथेलियो से सुशोभित, मास से पुष्ट, कोमल, उचित-जचते हुए तथा स्वस्तिक आदि लक्षणो के कारण प्रशस्त एव सटी हुई उगलियो वाले होते है। उनके हाथ की उगलियाँ परिपुष्ट, सुरचित, कोमल और श्रेष्ठ होती हैं।

उनके नख लाल, वारीक (पतले), स्वच्छ, सुन्दर और चमकीले होते हैं। उनके हाथ की रेखाएँ बडी चिकनी होती है, तथा चन्द्र, सूर्य, गख, चक्र और दिशा स्वस्तिक के आकार से अकित होती हे। यानी सूर्य, चन्द्रमा, शख, श्रेष्ठ चक्र, दिक्-स्वस्तिक आदि विभिन्न आकृतियो से युक्त उनकी हस्तरेखाएँ होती हे। उनके कधे श्रेष्ठ और वलवान महिप, सूअर, सिंह, व्याघ्र, साड और गजेन्द्र के कधो के समान परिपूर्ण और पुष्ट होते हे। उनकी गर्दन चार अगुल प्रमाण वाली एव शख के समान सुन्दर होती है। उनकी दाढी-मूछे न्यूनाधिकता से रहित, एक सरीखी, सुविभक्त—अलग-अलग दिखाई देने वाली और शोभादायक होती है। उनकी ठुड्डी पुष्ट, मासल, प्रशस्त, वाघ की ठुड्डी की तरह विस्तीर्ण-चौडी होती है, उनके नीचे के ओठ शोधे हुए मूगे तथा बिम्वफल के समान लाल होते हैं। उनके दातो की पक्ति चन्द्रमा के टुकडे, निर्मल गख, गाय के दूध, समुद्रफेन, कुन्दपुष्प, जलरज और कमलिनी के पत्ते पर पडे हुए जलविंदु या कमल की नाल की तरह सफेद—धवल होती हैं। उनके दात अखडित होते है, विना टूटे, सघन, चिकने और सुरचित-सुन्दर होते हे। उनके अनेक दात एक ही दात की श्रेणी की तरह मालूम होते ह। यानी उनके वत्तीस दात भी एक दात के-से लगते हें। उनके तलुए और जीभ का तलप्रदेश तपाये हुए निर्मल सोने के समान लाल-लाल होते हैं। उनका नाक गरुड की नाक के समान लवी, सीधी और ऊँची उठी हुई होती है। उनके नेत्र खिले हुए श्वेतकमल के समान होते है। तथा उनकी आँखे सदा प्रसन्न रहने के कारण विकसित धवल पपनी वाली होती ह। उनकी भौह थोडे नमाए हुए धनुष के समान सुन्दर तथा जमे हुए काले-काले वादलो की पक्ति के समान आकार युक्त काली, सगत, उचित लवी-चौडी और सुन्दर होती ह। उनके कान परस्पर सटे हुए प्रमाणोपेत होते हे, जिनसे वे खूव अच्छी तरह सुन सकते ह। अथवा उनके कान अच्छी तरह सुनने की शक्ति वाले होते हे। उनके गाल पुष्ट और मास से भरे होने से लाल होते हें। थोडी ही समय पहले उदित हुए वालचन्द्रभा के आकार के समान विशाल उनका ललाट होता है। उनका चेहरा पूर्ण चन्द्रमा के समान वडा ही सौम्य होता है। उनका मस्तक छत्र के समान उभरा हुआ होता है। उनके सिर का अग्रभाग लोहे के मुद्गर के समान मजबूत नसो से आवद्ध, उत्तम लक्षणो से युक्त, शिखरसहित भवन तथा गोला

कार पिंड के समान होता है। उनके मस्तक की त्वचा (चमडी) अग्नि से तपाए, एव धोए हुए सोने-सी निर्मल, लाल तथा बीच मे केशो से युक्त होती है। उनके मस्तक के बाल सेमर के फल के समान अत्यन्त घने, घिसे हुए से—बारीक, कोमल, सुस्पष्ट, प्रशस्त—मागलिक, चिकने, उत्तम लक्षण से युक्त, सुगन्धित और सुन्दर होते हे, तथा भुजमोचकरत्न के समान काले, नीलमणि, काजल, गुनगुनाते हुए प्रसन्न भौरो के झु ड के समान काली काति वाले, झु ड के झु ड इकट्ठे, टेढे-मेढे—घु घराले एव दक्षिण की ओर घूमे हुए होते हैं। उनके शरीर के अवयव सुडौल, सुरचित व सगत-जचते हुए होते है। वे लक्षणो और व्यजनो के गुणो से युक्त होते है। वे प्रशस्त—उत्तमोत्तम ३२ लक्षणो को धारण करने वाले होते है। उनकी आवाज हस के स्वर के समान, क्रौच—पक्षी के स्वर के तुल्य, दु दुभि के नाद के समान, सिह की गर्जना के समान, मेघ की गर्जना के समान, बिना फटे हुए स्वर वाली तथा कानो को सुख देने वाली होती है, उनका निर्घोष—शब्दोच्चारण भी आदेय होता है। उनका सहनन (शरीर की हड्डियो का ढाचा) वज्र ऋषभ नाराच होता है—उनका शरीर समचतुरस्र (चारो ओर से समान) सस्थान (डीलडौल) से गठे हुए होते है, उनके अग-प्रत्यग कान्ति से चमकते रहते हे। उनके शरीर की चमडी उत्तम होती है। उनका शरीर रोगरहित होता है। ककपक्षी के समान उनकी गुदा होती है, अथवा कक पक्षी की तरह वे अल्पआहार ग्रहण करने वाले होते है, कबूतर की तरह वे खाए हुए गरिष्ठ आहार को पचा लेते हे। वे पक्षी के मलद्वार समान मलद्वार वाले होने से मलत्याग करने मे लेप से रहित होते हे। उनकी पीठ, पार्श्व भाग और जघाएँ परिपक्व होती है। उनका मुख पद्म कमल व नीलकमल की तरह सुगन्धित रहता है। उनके शरीर की वायु का वेग अनुकूल और मनोज्ञ होता है। उनके बाल स्वच्छ, चमकीले, काले होते है, उनका पेट शरीर के अनुपात मे उन्नत—कुछ उभरा हुआ सा होता है। वे अमृत के समान रसीले फलो का आहार करते है। उनका शरीर तीन गाऊ—कोस ऊँचा होता है। तथा उनकी आयु—स्थिति तीन पल्योपम की होती है।

ऐसे वे अकर्मभूमि—भोगभूमि के मनुष्य भी तीन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु को भोगकर अन्त मे कामभोगो से अतृप्त ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या

विस्तृत वर्णन करने के पीछे रहस्य—पूर्व सूत्रपाठ मे अर्धचक्रवर्ती, पूर्णचक्र वर्ती, वलदेव, वासुदेव के भोगो, वैभवो तथा सुखसाधनो का विस्तृत वर्णन करने के वाद इस सूत्रपाठ मे भी माडलिक नृपो तथा देवकुरु-उत्तरकुरु के मानवो की सुख सम्पदा, शरीरसम्पदा और भोगो के साधनो का विस्तृत वर्णन किया है, इसके पीछे क्या रहस्य है ?

वास्तव मे इतने विस्तृत वर्णन के पीछे शास्त्रकार का यही आशय प्रतीत होता है कि ससार के प्राय सभी प्राणी अब्रह्मचर्यसेवन को भ्रान्तिवश आत्मा के लिए सतोप और सुख का साधन समझते है और इसकी पूर्ति के लिए वे सभी प्रकार के साधन जुटाने और तरह-तरह से उखाड-पछाड करने मे अपनी ओर से कोई कोरकसर नही रखते। वे इसमे अपनी पूरी ताकत का उपयोग करते हुए दिखाई देते है। वे प्राय यही समझते है कि हमे अव तक इसके अनुकूल सामग्री नही मिली है, इसलिए हम पूर्ण तृप्ति के आनन्द का अनुभव नही कर सके। यदि हमे कामभोग-सेवन की उत्तम और प्रचुर सामग्री मिल जाती तो हम उसका यथेच्छ सेवन करके सतुष्ट हो जाते। लेकिन उनकी यह मान्यता आग को शान्त करने के लिए उसमे घी की आहुति डालने के समान है। जैसे आग मे घी की आहुति डालने से वह और ज्यादा भडकती है, वैसे ही विपय-वासना की आग को शान्त करने के लिए भोगोपभोग के अनेकानेक साधनो को जुटाने और उनका सेवन करने से भी वह शान्त होने के वदले और ज्यादा भडकती है। इसी वात को स्पष्ट करने हेतु शास्त्रकार ने पूर्वोक्त सभी पुण्यशालियो और भोग की उत्तमोत्तम साधन-सामग्री वालो का दृष्टान्त विस्तृतरूप से दे कर वताया है कि जिनके पास यौवन, शारीरिक वल, सौन्दर्य, धन-जन की अपार शक्ति और प्रभुता थी, भोग के एक से एक वढकर उत्तम साधन थे, हर तरह की मनचाही भोगसामग्री प्राप्त करने के लिए जिनके पास धनसम्पत्ति का अखूट खजाना था, हजारो सुन्दरियाँ उनके चित्त को प्रफुल्लित रख कर कामसुख को वढाने के लिए सेवा मे हाजिर रहती थी, देवदुर्लभ क्रीडाएँ करने के लिए जल, स्थल और नभ के सभी क्रीडास्थल उनके लिए खुले थे, हजारो राजा उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे, जो वल, वुद्धि, धन, साधन, सौन्दर्य, प्रभुत्व आदि मे किसी से कम नही थे, फिर भी वे अर्धचक्री, पूर्णचक्री, वलदेव, वासुदेव, माडलिक नृप या उत्तरकुरु-देव-कुरु क्षेत्र के भोगप्रधान मानव विपय भोगो से सतुष्ट न हो सके। वे असतुष्ट हालत मे ही इस ससार से विदा हो गए। तव भला, साधारण आदमी की क्या विसात है कि वह यथेच्छ भोग-सामग्री जुटा कर उससे सतुष्ट हो ही जायगा ? जव इतने वडे वडे भाग्यशाली समर्थ मानव भी अब्रह्मसेवन से सतुष्ट नही हुए तो तुम जैसा साधारण मानव या प्राणी कैसे सतुष्ट हो जायगा ? इसलिए इस भ्रान्ति को मन से

सर्वथा निकाल फेंको कि यदि विषयसेवन की पूर्ण सामग्री मिल जाती तो हम उससे सतुष्ट हो जाते । आज तक कोई भी, यहा तक कि चक्रवर्ती जैसा परम शक्तिमान मानव भी भोग-सामग्री के अबार लगा कर तृप्त नही हुआ तो तुम भोगसामग्री से कैसे तृप्त हो जाओगे ?

इसी उपदेश को हृदयगम कराने के लिए शास्त्रकार ने विस्तृतरूप से ये सब दृष्टान्त दे कर निरूपण किया है ।

भोग का प्रमुख साधन स्वस्थ और उत्तम शरीर होने पर भी—कोई यह कह सकता है कि माडलिक नृपो या देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र के भोगभूमीय मानवो के पास उत्तम, स्वस्थ और बलवान शरीर नही होता होगा , तब वे कहाँ से विषयभोगो से तृप्त होते ? इसी का उत्तर शास्त्रकार **'भुज्जो मडलियनरवरेंदा भुज्जो उत्तरकुरु-देवकुरुवणविवरपादचारिणो नरगणा अवितित्ता कामाण'** इस विस्तृत पाठ से देते हैं ।

वास्तव मे विषयभोगो के सेवन के लिए प्रमुख साधन शरीर है । अगर शरीर और शरीर के अवयव स्वस्थ, सुन्दर, बलिष्ठ, परिपूर्ण, सुडौल, हृष्टपुष्ट और प्रमाणोपेत नही है तो मनचाहे विषयभोगो के सेवन की आशा भी दुराशा ही सिद्ध होती है । यही कारण है कि इस विस्तृत सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने सर्वप्रथम माडलिक राजाओ के बल, परिवार, परिषद्, पुरोहित, अमात्य, दडनायक, सेनापति, मत्रणाकुशल एव नीतिनिपुण मत्रिगण, वैभव, राजलक्ष्मी आदि भोग के सभी साधनो की प्रचुरता का वर्णन किया है । तत्पश्चात् भोगभूमि मे पले हुए और भोगो की ही दुनिया मे बसने वाले देवकुरु-उत्तरकुरुक्षेत्र के यौगलिक मनुष्यो के विषयभोगो और उनके प्रमुख साधन शरीर व उसके अगोपागो का विस्तृत निरूपण किया है । यही नही, उनके स्वस्तिक आदि भोगो के उत्तम चिह्न, भोगो की सम्पन्नता, प्रशस्त सौम्यरूप और दर्शनीयता का निरूपण करने के साथ-साथ उनके हाथ-पैर के तलुओ, चरणो, उगलियो, नखो, गट्टो, जाघो, घुटनो, चालढाल, गुप्तागो, कमर, नाभि, मध्यभाग, रोमराजि, पेट के पार्श्वभागो, पेट, बगलो, पसलियो, आतो, वक्षस्थल, जोडो, भुजाओ, हाथो, हस्तरेखाओ, कध, गर्दन, दाढी-मूछो, ठुड्डी, अधरोष्ठो, दतपक्ति, दातो, तालु, जीभ, नाक, आखो, भौंहो, कानो, कपोल, ललाट, चेहरा, मस्तिष्क, मस्तक के अग्रभाग, खोपडी, बाल आदि नख से लेकर शिखा तक के तमाम अग-प्रत्यगो का स्पष्ट निरूपण किया है । इतने विस्तृत निरूपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भोग का प्रमुख साधन उनका शरीर अपने आप मे समस्त अगोपागो के सहित स्वस्थ सशक्त, पुष्ट बलिष्ठ, परिपूर्ण, योग्य तथा प्रशस्त बत्तीस लक्षणो से युक्त, उत्तमोत्तम लक्षणो और व्यजनो से सम्पन्न, वज्रऋषभनाराचसहनन और समचतुरस्र-सस्थान से युक्त था । इसी प्रकार उनके शरीर की कान्ति, उनकी आवाज, शरीर की सुगन्ध, भोजन हजम करने की शक्ति, अमृतमय रसीले फलो का आहार, तीन गाऊ की ऊँचाई,

तीन पल्योपम की दीर्घायु, अनुरूप वायुवेग इत्यादि सभी साधन एक से एक बढ कर थे।

यद्यपि चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव, या माडलिक नरेशो की तरह यौगलिको के पास किसी वैभव, धनसम्पत्ति,सेना, राजाओ की मडली द्वारा आज्ञाकारिता, राजलक्ष्मी या रथादि परिवहन के साधनो के होने का उल्लेख शास्त्रकार ने मूलपाठ मे नही किया है, परन्तु उन्हे इनमे से किसी भी वस्तु की आवश्यकता नही होती। वे प्रकृति से प्राप्त उत्तमोत्तम साधनो पर निर्भर रहते है। उनके पैरो मे ही इतनी शक्ति होती है कि उन्हे वाहन आदि की अपक्षा नही होती, और वे जिंदगी की आवश्यकताओ के लिए इधर-उधर मारे-मारे नही फिरते। उसी वनप्रदेश या भूखण्ड मे अहमिन्द्र की तरह निर्द्वन्द्व, शान्त, निर्वैर और कलहरहित उनका विचरण होता है। वे धनसम्पत्ति की न तो अपने जीवन-निर्वाह के लिए जरूरत समझते है और न ही सग्रह करके रखते है। उन्हे कृत्रिम भोगसाधनो या सुखसामग्री की आवश्यक्ता ही नही होती। प्रकृति से मिला हुआ उत्तम सुडौल, सुपुष्ट, वलिष्ठ, सुन्दर और समस्त परिपूर्ण अगोपागो से युक्त शरीर ही उनका सर्वस्व जीवनधन होता है, जिसके सहारे वे पचेन्द्रियविषयो के उपभोग का आनन्द लेते हैं। उनके शरीर मे कभी रोग नही होता, उनके नख से लेकर शिखा तक किसी भी अग मे कोई विकार पैदा नही होता, और न कभी वे किसी वात की चिन्ता, शोक या सताप से ग्रस्त होते है। जिसका जीवन प्रकृति पर निर्भर है, प्रकृति के नियमो का जो उल्लघन नही करता, उसे रोग, शोक, दु ख, दारिद्र्य और दुश्चिन्तन क्यो होगा? वे जहाँ होते है, वहाँ न तो नगर वसे हुए हैं, न गाँव ही, न वे अपनी सुरक्षा के कभी लिये कोट, किला, खाई या सुरक्षित स्थान वनाते है, और न ही सर्दी, गर्मी और वरसात से वचने के लिए मकान वनाते ह। आधुनिक सभ्यता और वनावट से वे कोसो दूर रहते हैं। कृषि, वाणिज्य,शिल्प,कला-कौशल,कल-कारखाने आदि उत्पादन के साधन और रथ, विमान, जलयान आदि वाहन तथा शस्त्र, अस्त्र आदि सुरक्षा के साधनो की वे आवश्यकता ही नही समझते। जीवनयापन के लिए या विषयसुख के लिए वे स्वस्थ शरीर और प्राकृतिक वनसम्पदा पर ही निर्भर रहते है। वनसम्पदा इतनी घनी, सुरम्य, शान्त और निर्द्वन्द्व है कि उन्हे जीवनयापन व विषयसुखलाभ के लिए कही भी अन्यत्र जाने या कृत्रिम साधनो का सहारा लेने की जरूरत ही नही पडती। इसीलिए शास्त्रकार सर्वप्रथम उनका परिचय एक ही पद मे दे देते है—
'उत्तरकुरुदेवकुरुवणविवरचारिणो नरगणा।'

वस्तुत उनका जीवन शान्त, निर्द्वन्द्व, निश्चिन्त होता है और उनके कषाय वहुत ही मन्द होते हैं। उनके जीवन मे स्वार्थ की मात्रा अत्यन्त कम होती है, इसलिए कभी सघर्ष का मौका नही आता। वहाँ वनसम्पदा इतनी है कि कोई किसी वृक्ष, लता,

फल, फूल आदि पर या किसी स्थान पर अपना अधिकार जमा कर या ममत्व करके नही बैठता। उन्हे अपनी आजीविका के लिए जगल काटने, खेती करने, कलकारखाने चलाने, या किसी शिल्प द्वारा निर्वाह करने की भी जरूरत नही होती। चिन्ता-फिक्र से रहित, मस्ती भरा उनका जीवन होता है। वे यह नही चिन्ता करते कि कल क्या खायेगे ? कल क्या पहनेगे ? कल कहाँ रहेंगे ? और कल कौन-सी जीविका करेंगे ? इसका कारण यह है कि उन्हे समस्त साधन-सामग्री अभिलापा के अनुसार कल्पवृक्षो से मिल जाती है। खाने-पीने की चिन्ता उन्हे इसलिए नही करनी पडती कि वहाँ उन्हे हर चीज विचार करते ही मिल जाती है, किसी को खाद्य या पेय वस्तुओ का कोई मूल्य नही देना पडता। वहाँ की मिट्टी का स्वाद भी मिश्री से बढकर मधुर होता है तथा फलो का रस अमृत के समान होता है। इसीलिए कहा है—**'अमयरसफलाहारा।'**

इतना बेफिक्री का मस्त और शान्त जीवन होते हुए भी, भोगभूमि के वातावरण मे सहज भाव से भोगो के सर्वोत्तम प्राकृतिक साधन प्राप्त होने पर भी, वे अपनी जिंदगी के अन्तिम क्षणो तक कामभोगो से सर्वथा तृप्त नही होते और अतृप्त अवस्था मे ही अपना शरीर छोड कर परलोक मे चल देते है। वाह्यशान्ति का साम्राज्य होने पर भी उन्हे इस सम्बन्ध मे आन्तरिक मानसिक शान्ति और सतुष्टि नही मिलती।

भोगभूमि के मनुष्यो का सक्षिप्त परिचय—प्रसगवश जैनशास्त्रो की दृष्टि से भोगभूमि के इन मनुष्यो का सक्षेप मे परिचय देना आवश्यक है। जैनदृष्टि से जम्बूद्वीप मे कुल सात क्षेत्र माने जाते है—१ भरत, २ ऐरावत, ३ महाविदेह, ४ हैमवत, ५, हैरण्यवत, ६ और हरिवर्ष ७ रम्यक्वर्ष। धातकीखण्ड और पुष्करार्द्धद्वीप मे भरत आदि क्षेत्र जम्बूद्वीप से दुगुने हैं। इन सात क्षेत्रो मे से भरत, ऐरावत और महाविदेह क्षेत्र से सम्वन्धित ५–५ कर्मभूमियाँ है। यानी जम्बूद्वीप मे भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र की तीन कर्मभूमियाँ है, तथा धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप मे इन तीनो क्षेत्रो की दुगुनी-दुगुनी कर्मभूमियाँ है। कुल मिला कर ३+६+६=१५ कर्मभूमियाँ है। इन कमभूमियो मे रहने वाले लोग असि, मसि, कृपि, वाणिज्य, शिल्प, कला (सेवा) आदि ६ कर्मो द्वारा अपनी आजीविका करते है। उत्तरकुरु और देवकुरुक्षेत्र भौगोलिक दृप्टि से महाविदेह क्षेत्र की ही सीमा मे क्रमश उत्तर और दक्षिण मे है, इनमे अकर्मभूमिक जीव रहते है। इसी तरह हरिवर्प, रम्यक्वप तथा हैमवत और हैरण्यवत मे भी अकर्मभूमिका वाले जीव निवास करते है। इन अकर्मभूमियो मे असि, मसि, कृपि आदि किसी प्रकार का कर्म या आजीविका के लिए कोई व्यवहार नही होता। वहाँ हमेशा भोगभूमि वनी रहती है। जीवनयापन के लिए जो भी अल्प

सुखसामग्री उन्हे अपेक्षित होती है, वह कल्पवृक्षो से मिल जाती है। उन्हे कभी कमाने या जीविका के लिए उखाडपछाड करने की जरूरत नही पडती।

प्रकृति का यह नियम हे कि जहाँ जनसख्या घटती-वढती नही, वहाँ सघर्ष नही होता, न जोवनोपयोगी साधनो को पाने के लिए रस्साकस्सी ही होती है। सवको अपनी आवश्यकता और रुचि के अनुसार मनचाही चीजे प्रकृति से प्राप्त हो जाती हैं।

जैनदृष्टि से दो प्रकार के कालचक्र माने जाते हे—उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल। आयु, शरीर, सस्थान, सहनन, वृति, वल आदि वाते जिसमे घटती जाती है, उमे अवसर्पिणी-काल कहते है और जिसमे ये चीजे उत्तरोत्तर वढती जाती है, उसे उत्सर्पिणीकाल कहते हैं। इन दोनो मे से प्रत्येक काल के ६-६ आरे क्रमश होते है। वर्तमान मे अवसर्पिणीकाल काल का पाचवा आरा चल रहा है। १ सुपमसुपमा, २ सुपमा, ३ सुपमदु पमा ४ दु पमसुपमा, ५ दु पमा और ६ दु पमदु पमा—इन ६ आरो के व्यतीत हो जाने के वाद इनसे विपरीत फिर उत्सर्पिणीकाल के क्रमश ६ आरे दु पमदु पमा से शुरू हो कर सुपमसुपमा तक सम्पूण होते है। सुपमसुपमा से ले कर दु पमदु पमा तक के ६ आरे क्रमश ४ कोटाकोटिसागर, ३ कोटाकोटिसागर, २ कोटा-कोटिसागर, १ कोटाकोसागर मे ४२ हजार वर्ष कम, २१ हजार वर्ष और २१ हजार वर्ष के लम्वे होते है।

इन सातो क्षेत्रो मे से सिर्फ भरत और ऐरावत क्षेत्र ही ऐसे है, जहाँ छही कालो का क्रमश परिवर्तन होता रहता है। महाविदेहक्षेत्र मे तो हमेशा चतुर्थ आरे का-सा भाव और व्यवहार वना रहता है। भोग भूमि क्षेत्रो मे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी जैसा काल चक्र नही होता।

यद्यपि भोगभूमि के इन भोगप्रधान यौगलिक मानवो की आयु उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है, लेकिन वे अपनी लम्वी उम्र को मनोवाछित कामभोगो के सेवन मे ही विता देते है। यद्यपि उनमे सप्त कुव्यसनो मे से एक भी व्यसन नही होता, परन्तु अप्रत्याख्यानादि कपाय का उदय होने से वे त्याग-प्रत्याख्यान नही कर मकते। इन्द्रियविपयो का यथेष्ट सेवन करते हे। उन्हे किसी भी अभीष्ट वस्तु का अभाव प्रतीत नही होता। अपने दीर्घ जीवनकाल मे उनके सिर्फ दो ही सतान—एक लडका और एक लडकी—नियमानुसार होते है। चूकि ज्यादा सतान होने पर मनुष्य को उनके पालन-पोपण की, रोगादि दु ख से सुरक्षा की व वियोग आदि की चिन्ता सवार हो जाती है। अत एक पुत्र और पुत्री के रूप मे नियमित सतान होने से ये किसी भी प्रकार के रोग, शोक, जरा, वियोग आदि के दु ख से व्याकुल या पोडित नही होते।

इनका शरीर सदा नवयौवन अवस्था वाला, बडा सुन्दर और पुष्ट होता है। उनका जन्म और मरण भी सुखपूर्वक होता है, क्लेशकर नही। जब इनकी आयु के ६ मास बाकी रहते है, तभी परभव की आयु का बन्ध होता है। जब इनका आयुष्यकम पूर्ण हो जाता है तो पतिपत्नी-युगल (यौगलिक) मे से एक को छीक और दूसरे को जभाई आती है और किसी प्रकार का कष्ट भोगे बिना सुखपूर्वक दोनो की एक साथ ही मृत्यु हो जाती है। मर कर वे दोनो नियमानुसार देवलोक मे देव होते हैं। उनके पीछे नियमानुसार एक ही जोडा उनकी सतान के रूप मे शेष रहता है। ४९ दिन के पश्चात् ही वह जोडा यौवनावस्था को प्राप्त कर लेता है। इनके जीवन के विकासक्रम के लिए एक आचार्य ने कहा है—

> सप्तोत्तानशया लिहन्ति दिवसान् स्वागुष्ठमार्यास्तत,
> कौ रिंगन्ति तत पदै कलगिरो यान्ति स्खलद्भिस्तत ।
> स्थेयोभिश्च तत कलागुणभतस्तारुण्यभोगोद्गता,
> सप्ताहेन ततो भवन्ति सुदृशोदानेऽपि योग्यास्तत ॥१॥

अर्थात्—जन्मग्रहण करने के पश्चात् वे अकर्मभूमिक आर्य मनुष्ययुगल ७ दिन तक अधोमुख किये हुए पेट के बल सोये रहते है और अपने अगूठे को चूसते रहते हैं। इस के बाद ७ दिन तक घुटनो के बल जमीन पर रेगते—सरकते हैं। दूसरे सप्ताह के बाद ७ दिन तक पैरो से लडखडाते व गिरते-पडते हुए चलते है और तुतलाते हुए मधुर शब्द बोलने लगते हे। तीसरे सप्ताह के बाद ७ दिन मे पैरो से अच्छी तरह चलने लगते ह। चौथे सप्ताह के बाद ७ दिन मे सुन्दर गायन आदि कला मे प्रवीण होने का गुण प्राप्त कर लेते है। पाचवे सप्ताह के बाद छठे सप्ताह तक मे वे तारुण्य-जवानी अवस्था प्राप्त कर लेते है और सातवें सप्ताह मे वे सम्यक् प्रकार से भोग योग्य हो जाते हैं।

इस प्रकार सात सप्ताह के अन्दर ही उनका शीघ्र विकास हो जाता है। उस काल की व्यवस्था के अनुसार उत्पन्न हुआ वह युगल (लडका-लडकी) पतिपत्नी के रूप मे दाम्पत्य को अगीकार कर लेता है। और तीन पल्य की उत्कृष्ट आयु भोग कर मृत्यु के समय अपने पीछ उसी नियमानुसार एक युगल छोड जाते है। वह भी इसी परम्परानुसार चलता है।

मतलब यह है कि अकमभूमि के इस यौगलिक जोवन मे किसी प्रकार का कष्ट नही होता। फिर भी वे कामभोगो से अतृप्त रह कर दूसरे लोक मे चल देते हैं। इनके सम्बन्ध मे अन्य बाते मूलपाठ मे स्पष्ट है ही।

भोगभूमि के मनुष्यों की महिलाएँ

भोगभूमि के पुरुषों की भोगसम्पन्नता और शरीर की सर्वांगसुन्दरता का निरूपण करने के पश्चात् अब आगे के सूत्रपाठ में शास्त्रकार उनकी पत्नियों का वर्णन करते हैं—

मूलपाठ

पमया वि य तेसिं सोम्मा सुजायसव्वंगसुन्दरीओ, पहाण-महिलागुणेहिं जुत्ता, अतिकंतविसप्पमाणमउयसुकुमालकुम्मसंठिय-सिलिट्ठ - (विसिट्ठ)चलणा, उज्जुमउयपीवरसुसाहतंगुलीओ, अब्भुन्नतरइय(तित)तलिणतंबसुइनिद्धनखा, रोमरहियवट्टसंठिय-अजहन्नपसत्थलक्खण-अकोप्पजंघजुयला, सुणिम्मियसुनिगूढजाणू, मंसलपसत्थसुबद्धसंधी, कयलीखंभातिरेकसंठिय-निव्वणसुकुमाल-मउय-कोमलअविरलसमसहित सुजायवट्ट (माण) पीवरनिरंतरोरू, अट्ठावयवीइपट्ठसंठियपसत्थविच्छिन्नपिहुलसोणी, वयणायामप्प-माणदुगुणियविसालमंसलसुबद्धजहणवरधारिणीओ, वज्जविराइय-पसत्थलक्खणनिरोदरीओ, तिवलिवलियतणुनमियमज्झियाओ, उज्जुयसमसहिय- जच्चतणुकसिणनिद्धआदेज्जलडहसुकुमालमउय-सुविभत्तरोमराजीओ, गंगावत्तगपदाहिणावत्ततरंगभंगरविकिरण-तरुणबोधितआकोसायंत - पउमगंभीरविगडनाभी, अणुब्भड-पसत्थसुजातपीणकुच्छी, सन्नतपासा, सुजातपासा, संगतपासा, मियमाियपीणरइय(तित)पासा, अकरडुयकणगरुयग-निम्मल-सुजायनिरुवहयगायलट्ठी, कंचणकलसपमाणसमसहियलट्ठ-चूचुय-आमेलगजमलजुयलवट्टियपओहराओ, भुयंगअणुपुव्वतणुयगो-पुच्छवट्टसमसहियनमियआदेज्जलडहबाहा, तंबनहा, मंसलग्गहत्था, कोमलपीवरवरंगुलीया, निद्धपाणिलेहा, ससिसूरसंखचक्कवर-सोत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा, पीणुण्णयकक्खवत्थिप्पदेसपडि-पुन्नगलकवोला, चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा, मंसलसंठिय-पसत्थहणुया, दालिमपुप्फप्पगासपीवरपलंबकुंचितवराधरा,

सुंदरोत्तरोट्ठा, दधिदगरयकुंदचंदवासंतिमउलअच्छिद्दविमल-दसणा, रत्तुप्पलपउमप्पत्तसुकुमालतालुजीहा, कणवीरमुउलऽकुडिल-अब्भुन्नयउज्जुतुंगनासा, सारदनवकमलकुमुदकुवलयदलनिगर-सरिसलक्खणपसत्थअजिम्हकंतनयणा, आनामियचावरुइलकिण्हब्भ-राइसंगयसुजायतणुकसिणनिद्धभुमगा, अल्लीणपमाणजुत्तसवणा, सुस्सवणा, पीणमट्ठगंडलेहा, चउरंगुलविसालसमनिडाला, कोमुदि-रयणिकरविमलपडिपुन्नसोमवदणा, छत्तुन्नयउत्तमंगा, अकविल-सुसिणिद्धदीहसिरया, छत्त-ज्झय-जूव-थूभ-दामिणी-कमंडलु-कलस-वावि-सोत्थिय-पडाग - जव-मच्छ-कुम्म-रथवर - मकरज्झय- अंक-थाल-अंकुस-अट्ठावय-सुपइट्ठ-अमर - सिरियाभिसेय-तोरण-मेइणि-उदधिवर-पवरभवण - गिरिवर-वरायंससललियगय - उसभ-सीह-चामर-पसत्थबत्तीसलक्खणधरीओ, हंससरित्थगतीओ, कोइलमहुर-गिराओ, कंता, सव्वस्स अणुमयाओ, ववगयवलिपलितवंगदुव्वन्न-वाधि-दोहग्गसोयमुक्काओ, उच्चत्तेण य नराण थोवूणमूसियाओ, सिंगारागारचारुवेसाओ, सुंदरथणजहणवयणकरचरणणयणा, लावण्णरूवजोव्वणगुणोववेया, नंदणवणविवरचारिणीओ व्व अच्छ-राओ उत्तरकुरुमाणुसच्छराओ अच्छेरगपेच्छणिज्जियाओ तिन्नि य पलिओवमाइं परमाउं पालयित्ता ताओ वि उवणमंति मरण-धम्मं अवितित्ता कामाणं ॥ सू० १५॥

संस्कृतच्छाया

प्रमदा अपि च तेषां भवन्ति सौम्याः सुजातसर्वांगसुन्दर्यः, प्रधानमहिला-गुणैर्युक्ताः, अतिकान्तविसर्पमाण-(विस्व-प्रमाण)-मृदुक - सुकुमालकूर्मसंस्थित-श्लिष्ट (विशिष्ट) चरणाः, ऋजुमृदुकपीवरसुसंहतांगुलीकाः, अभ्युन्नतरतिद-(रचित) तलिनताम्रशुचिस्निग्धनखाः, रोमरहितवृत्तसंस्थिताजघन्यप्रशस्त-लक्षणाऽकोप्यजंघायुगलाः, सुनिर्मितसुनिगूढजानुमांसलप्रशस्तसुबद्धसन्धयः, कदलीस्तम्भातिरेकसंस्थितनिर्व्रणसुकुमालमृदुककोमलाऽविरलसमसंहित - - सुजातवृत्तपीवरनिरन्तरोरवः, अष्टापदवीचिपृष्ठसंस्थितप्रशस्तविस्तीर्णपृथल-

श्रोणयो, वदनाऽऽयामप्रमाणद्विगुणितविशालमांसलसुबद्धजघनवरधारिण्यो, वज्रविराजितप्रशस्तलक्षणनिरुदरा, त्रिवलिवलित(क)तनुनमितमध्या, ऋजुकसमसंहितजात्यतनुकृष्णस्निग्धादेयलडहसुकुमारमृदुसुविभक्तरोमराजयो, गंगावर्त्तकप्रदक्षिणावर्ततरंगभंगरविकिरणतरुणबोधिताऽकोशायमानपद्म - गम्भीरविकटनाभयो, अनुद्भटप्रशस्तसजातपीनकुक्षय, सन्नतपार्श्वा., सुजातपार्श्वा संगतपार्श्वा,मितमात्रिकपीनरतिद (रचित)-पार्श्वा, अकरण्डुक-कनकरुचकनिर्मलसुजातनिरुपहतगात्रयष्टय, काचनकलशप्रमाणसमसंहित-लष्टचचुकाऽमेलकयमलयुगलवर्त्तितपयोधरा, भुजगाऽनुपूर्वतनुकगोपुच्छवृत्त-समसंहितनमितादेयलडहबाहवस्ताम्रनखा, मासलाग्रहस्ता, कोमलपीवर-वरांगुलीका ,स्निग्धपाणिरेखा ,शशिसूरशखचक्रवरस्वस्तिकविभक्तसुविरचित-पाणिरेखा, पीनोन्नतकक्षवस्तिप्रदेशप्रतिपूर्णगल पोला, चतुरंगुलसुप्रमाण-कम्बुवरसदृशग्रीवा, मासलसंस्थितप्रशस्तहनुका, दाडिमपुष्पप्रकाशपीवर-प्रलम्बकुंचितवराधरा, सुन्दरोत्तरोष्ठा, दधिदकरज कुन्दचन्द्रवासन्तीमुकुला-च्छिद्रविमलदशना, रक्तोत्पलपद्मपत्रसुकुमालतालुजिह्वा, करवीरमुकुला-ऽकुटिलाऽभ्युन्नतर्जुतुंगनासा, शारदनवकमलकुमुदकुवलयदलनिकरसदृश-लक्षणप्रशस्ताऽजिह्मकान्तनयना, आनामित-चापरुचिरकृष्णाऽभ्रराजि-संगतसुजाततनुकृष्णस्निग्धभ्रूका, आलीनप्रमाणयुक्तश्रवणा, सुश्रवणा ,पीन-मृष्टगंडरेखाश्चतुरंगुलविशालसमललाटा, कौमुदीरजनीकरविमलप्रतिपूर्ण-सौम्यवदनाश्छत्रोन्नतोत्तमांगा,अकपिलसुस्निग्धदीर्घशिरोजाश्छत्रध्वजयूपस्तूप-दामिनीकमंडलुकलशवापीस्वस्तिकपताकायवमत्स्यकूर्मरथवरमकरध्वजाक-- स्थालांकुशाष्टापदसुप्रतिष्ठकाऽमर - श्रीकाऽभिषेकतोरणमेदिन्युदधि-वरप्रवरभवनगिरिवरवरादर्शसललितगजर्षभसिंहचामरप्रशस्तद्वात्रिंशल्लक्षण-धर्यो, हंससदृक्षगतय, कोकिलमधुरगिर, कान्ता, सर्वस्याऽनुमता, व्यपगत-वलीपलितव्यंगदुर्वर्णव्याधिदौर्भाग्यशोकमुक्ता, उच्चत्वेन च नराणां स्तोकोन-मुच्छ्रिता, श्रृंगारागारचारुवेषा, सुन्दरस्तनजघनवदनकरचरणनयना, लावण्यरूपयौवनगुणोपपेता, नन्दनवनविवरचारिण्य इवाऽप्सरस उत्तर-कुरुमानुष्याऽप्सरस, आश्चर्यप्रेक्षणीया ,त्रीणि च पल्योपमानि परमायूंषि पाल-यित्वा ताश्चाऽप्युपनमन्ति मरणधर्ममवितृप्ता कामानाम् ॥ सू० १५॥

पदार्थान्वय (य) और (तेसिं) उनकी (पमदा वि) स्त्रियाँ भी (सौम्मा) सौम्य-शान्तस्वभाव वाली (सुजायसव्वगसुंदरीओ) उत्तम सर्वांगो से सुन्दर, (पहाणमहिला-

गुर्णेहि जुत्ता) महिलाओ के उत्तमोत्तम - प्रमुख गुणो से युक्त होती हैं। (अतिकत विसप्पमाणमउयसुकुमालकुम्मसठियसिलिट्ठचलणा) उनके चरण अतिरमणीय, खासतौर से अपने शरीर के अनुपात मे उचितप्रमाणोपेत अथवा चलते समय भी कोमल से कोमल, कछुए के समान उभरे हुए और मनोज्ञ होते है। (उज्जुमउयपीवरसुसाहतगुलीओ) उनकी उगलियाँ सीधी, कोमल, पुष्ट और परस्पर सटी हुई—छिद्ररहित होती हैं, (अब्भुन्नत-रइयतलिणतबसुइनिद्धनखा, उनके नख ऊपर उठे हुए, आनन्ददायक, पतले,लाल,निर्मल और चमकीले होते है। (रोमरहियवट्टसठिय अजहन्नपसत्थलक्खण-अकोप्प-जघजुयला) उनकी दोनो जघा-पिंडलिया रोओ से रहित, गोलाकार, असाधारण मागलिक लक्षणो से युक्त व रमणीय (घृणारहित) होती हैं। (सुणिम्मितसुनिगूढजाणू) सुन्दर बने हुए, मास से अच्छी तरह ढके हुए उनके घुटने होते हैं। (मसलपसत्थसुबद्धसधी) मास से भरी हुई, श्रेष्ठ तथा नसो से बधी हुई उनकी सधियाँ (जोड) होती हैं। (कयलीखभातिरेकसठियनिव्वणसुकुमालमउयकोमल- अविरलसमसहितसुजायवट्टपीवर-निरतरोरू) उनकी जघाए-साथल केले के खभे से भी अधिक सुदर आकार वाले,घाव-दाग से रहित,अत्यन्त कोमल, सुकुमार,अन्तररहित, समप्रमाणवाली, सुन्दर लक्षणो से युक्त, अथवा सहनशील, सुगठित, गोल, पुष्ट एव समान होती हैं, (अट्ठावयवीइपट्ठसठियपसत्थविच्छिन्न-पिहुलसोणी) उनकी श्रोणि (नितब) जूआ खेलने के पासो की लहरो वाले पटटे के समान आकार वाली श्रेष्ठ,और विस्तीर्ण होती है। (वयणायामप्पमाणदुगुणियविसालमसलसुबद्धजहणवरधारिणीओ) वे मुख की लबाई के प्रमाण—१२ अगुल—से दुगुने यानी चौवीस अगुल विशाल,मास से पुष्ट, गढे हुए, श्रेष्ठजघन (कटि प्रदेश से नीचे का भाग,पेड़) को धारण करने वाली होती हैं। (वज्ज-विराइयपसत्थलक्खणनिरोदरीओ) वे मध्य मे पतली होने से वज्र के समान शोभायमान, प्रशस्त लक्षणो से युक्त, कृश उदर-वाली होती हैं, (तिवलिवलियतणुनमियमज्झियाओ) उनके शरीर का मध्यभाग-उदर तीन रेखाओ से अकित, कृश और झुका हुआ होता है। (उज्जुयसमसहियजच्चतणुकसिणणिद्धआदेज्जलडहसुकुमालमउयसुविभत्त-रोमराइओ) उनकी रोमावली सीधी, एकसरीखी, परस्पर मिली हुई, स्वाभाविक, बारीक, काली, मुलायम, प्रशसनीय, ललित, सुकुमार, कोमल और यथास्थान शोभायमान होती है। (गगावत्तग-पदाहिणावत्ततरगभग-रविकिरण-तरुणबोधित-आकोसायत - पउमगभीरविगडनाभी) उनकी नाभि गगानदी के भवर के समान, दक्षिण की ओर चलने वाले भवर—चक्कर से युक्त तरगमाला के समान, सूर्य की किरणो से ताजे खिले हुए व विना कुम्हलाए हुए कमल के समान गभीर और विशाल

होती है। (अणुव्भडपसत्थसुजातपीणकुच्छी) उनकी कुक्षि नहीं उभरी हुई, प्रशस्त, सुन्दर और पुष्ट होती है। (सन्नतपासा) उनका पार्श्वभाग ठीक मात्रा मे झुका हुआ, (सुजातपासा) सुगठित (संगतपासा) संगत अर्थात् जचता हुआ होता है। (मियमाियियपीणरइयपासा) उनका पार्श्वभाग प्रमाणोपेत—मित, उचित मात्रा मे रचा हुआ, पुष्ट और सुख देने वाला है। (अकरडुय-कणग-रुचय-निम्मल-सुजाय-निरुवहयगायलट्ठी) उनकी गात्रयष्टि—देह उभरी हुई पीठ की अस्थि से रहित स्वभावत शुद्ध हुए सोने से निर्मित्त रुचक नामक आभूषण के समान निर्मल या स्वर्णकान्ति से युक्त, अच्छी गठी हुई व रोगरहित होती है। (कंचणकलसपमाणसमसहियलट्ठचूचुयआमेलगजमलजुयलवट्टियपओहराओ) उनके दोनो पयोधर स्तन सोने के दो कलश के समान, प्रमाणोपेत, उठे हुए—उन्नत, समान, कठोर तथा मनोहर चूची वाले, तथा शिखर पर गोल होते है। (भुयग- अणुपुव्व - तणुय - गोपुच्छवट्ट - सम - सहिय - नमिय - आदेज्ज - लडह - बाहा) उनकी दोनो भुजाएँ सर्प के समान क्रमश पतली, गाय की पूँछ के समान गोल, एक सरीखी, शिथिलता से सहित, झुकी हुई, सुभग और ललित होती है। (तवनहा) उनके नख तावे के समान लाल होते हैं, (मसलग्गहत्था) उनके हाथो की पहोची—कलाई (या हथेली) मास से पुष्ट होती है। (कोमलपीवरगुलीया) उनकी अँगुलियाँ वडी कोमल और पुष्ट होती हैं। (निद्धपाणिलेहा) उनके हाथो की रेखा वहुत चिकनी होती हैं, (ससिसूरसखचवकवरसोत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा) तथा उनकी हस्तरेखाएँ चन्द्रमा, सूर्य, शख, श्रेष्ठचक्र, और स्वस्तिक के चिह्नो से अकित और सुन्दर वनी हुई होती हैं। (पीणुन्नयकक्खवत्थिप्पदेसपडिपुण्णगलकपोला) उनकी काख और मलोत्सर्गस्थान पुष्ट व उन्नत होते है तथा गाल परिपूर्ण और गोल होते हैं। (चउरंगुलसुप्पमाणकवुवरसरिसगीवा) उनकी गर्दन चार अगुल ठीक प्रमाण वाली, श्रेष्ठ शख के सदृश होती है। (मसलसठियपसत्थहणुया) उनकी ठुड्डी मास से पुष्ट, सुस्थिर और प्रशस्त होती है। (दालिमपुप्फप्पगासपीवरपलवकुंचितवराधरा) उनके निचले ओठ दाडिम—अनार के विकसित फूलो के समान लाल, कान्तिमान, पुष्ट, कुछ लवे, सिकुडे हुए और श्रेष्ठ होते है। (सुन्दरोत्तरोट्ठा) उनके ऊपर के ओठ भी वडे सुन्दर होते हैं। (दधिदगरयकुंदचदवासतिमउलअच्छिद्दविमलदसणा) उनके दात दही, पत्ते पर पडी हुई बूंद, कुन्दपुष्प, चन्द्रमा, वासती—चमेली की लता की कलियो के समान सफेद, छिद्र—अन्तररहित, और उजले होते हैं।

(रत्तुप्पलपउमपत्तसुकुमालतालुजीहा) वे रक्तोत्पल के समान लाल तथा कमल के पत्तो के समान कोमल तालु और जीभ वाली होती है। (कणवीरमुउलऽकुडिलऽब्भुन्नयउज्जुतुगनासा) उनकी नाक कनेर की कलियो के समान, वक्रता (टेढेमेढेपन) से रहित, आगे से उठीहुई, सीधी और ऊँची होती है। (सारदनवकमलकुमुदकुवलयदलनिगरसरिसलक्खणपसत्थ-अजिम्हकतनयणा) उनकी आँखें शरदऋतु के सूर्यविकासी ताजे कमल, चन्द्रविकासी कुमुदपुष्प, एव नीलकमल के पत्तो के समूह के समान, लक्षणो से श्रेष्ठ, अकुटिल (टेढेपन से रहित) और रमणीय होती हैं। (आनमियचावरुइलकिण्हब्भराइसगय-सुजायतणुकसिणनिद्धभुमगा) उनकी भौंहे कुछ नमाये हुए धनुष के समान मनोहर, काले-काले बादलो की पक्ति के समान, सुन्दर, पतली, काली और चिकनी होती है। (अल्लीणपमाणजुत्तसवणा) उनके कान परस्पर सटे हुए, शरीर के नाप से युक्त होते हैं। (सुस्सवणा) उनके कानो की श्रवणशक्ति अच्छी होती है। (पीणमट्ठगडलेहा) उनकी कपोलरेखा पुष्ट, साफ और मुलायम होती है। (चउरगुलविसालसमनिडाला) उनका ललाट चार अगुल चौडा और सम (विषमतारहित) होता है। (कोमुदिरयणिकरविमलपडिपुन्नसोमवदणा) उनके मुख चादनी से युक्त निर्मल पूर्ण चन्द्रमा के समान गोल व सौम्य होते हैं। (छत्तुन्नयउत्तमगा) उनके मस्तक छत्र के समान उन्नत—उभरे हुए और गोल होते है। (अकविलसुसिणिद्धदीहसिरया) उनके मस्तक के बाल अकपिल—काले, चिकने और लम्बे-लम्बे होते हैं। (छत्त-ज्झय-जुव-थूभ-दामिणि-कमडलु-कलस-वावि-सोत्थिय-पडाग-जव-मच्छ-कुम्मरथ- वर-मकरज्झय-अक-थाल-अकुस-अट्ठावय-सुपइट्ठ-अमर-सिरियाभिसेय-तोरण-मेइणि-उदधिवर - पवर-भवण-गिरिवर-वरायस-सललियगय-उसभ-सीह-चामर-पसत्थ-बत्तीसलक्खणधरीओ) वे १ छत्र, २ ध्वजा, ३ यज्ञस्तम्भ, ४ स्तूप, ५ दामिनी—माला, ६ कमडलु, ७ कलश, ८ वापी, ९ स्वस्तिक, १० पताका, ११ यव—जौ, १२ मत्स्य, १३ कछुआ, १४ प्रधान रथ, १५ मकरध्वज—कामदेव, १६ वज्र—हीरा—अकरत्न, १७ थाल, १८ अकुश, १९ चौपड या शतरज जिस पर खेली जाती है, वह पट्टा —फलक या वस्त्रविशेष, २० स्थापनिका—ठवणी या ऊचे पैंदे का प्याला, २१ देव २२ लक्ष्मी का अभिषेक, २३ तोरण वदनवार या घर के द्वार की महराव, २४ पृथ्वी, २५ समुद्र, २६ श्रेष्ठ भवन, २७ उत्तम पर्वत, २८ उत्तमदर्पण, २९ क्रीडा करता हुआ हाथी, ३० बैल, ३१ सिंह, ३२ चवर—इन प्रशस्त ३२ लक्षणों को धारण करने वाली होती हैं। (हससरित्थगतीओ) उनकी चाल—गति हस के सरीखी होती है। (कोइलमहुरगिराओ) उनकी वाणी कोयल के समान मधुर होती

हैं, (कता) वे विशेष कान्तिवाली—कमनीय एव (सव्वस्स अणुमयाओ) सव लोगो को अनुमत-प्रिय लगने वाली होती हैं। (ववगयवलिपलितवगदुवन्नवाधि-दोहग्ग-सोयमुक्काओ) वे चेहरे पर झुर्रियो, सफेद बालो, अगहीनता—अपगपन, कुरूपता, व्याधि-बीमारी, दुर्भाग्य—सुहाग से रहितता, तथा शोक—चिन्ता से मुक्त होती हैं, (य) और (उच्चत्तेण) ऊँचाई मे (नराण थोवूणमूसियाओ) पुरुषो से कुछ कम ऊँची होती हैं,(सिंगारागारचारुवेसाओ) वे शृ गार की घर होती हैं,उनकी वेशभूषा बहुत ही सुन्दर होती है। (सु दरथण-जघण-वयण-कर-चरण-णयणा) उनके स्तन,कमर के आगे का हिस्सा—पेडू, मुख—चेहरा,हाथ, पैर और नेत्र बडे सुन्दर होते हैं। (लावन्नरूवजोवण्ण-गुणोववेया) वे लावण्य, रूप और यौवन के उत्तम गुणो से सम्पन्न होती हैं। (नदण-वण विवरचारिणीओ अच्छराओ व्व) वे ऐसी लगती हैं, मानो नदनवन मे विचारण करने वाली अप्सराएँ हो, वास्तव मे वे (उत्तरकुरुमाणुसच्छराओ) उत्तरकुरुक्षेत्र की मानवी अप्सराएँ होती हैं। (अच्छेरग-पेच्छणिज्जाओ) वे आश्चर्यपूर्वक दर्शनीय—देखने जैसी (होंति) होती हैं। (य) तथा (तिन्नि) तीन (पलियोवमाइ) पल्योपम की (परमाउ) उत्कृष्ट आयु को (पालयित्ता) पाल कर—भोग कर (ताओ वि) वे भी (कामाण अवितित्ता) कामभोगो से अतृप्त ही, (मरणधम्म) मृत्यु को—कालधर्म को, (उवणमति) प्राप्त होती हैं।

मूलार्थ—और उन अकमभूमि—भोगभूमि के मनुष्यो की स्त्रियाँ भी सौम्य—शान्त स्वभाव वालो, भलीभाति रचित सभी अगो से सुन्दर और महिलाओ के मुख्य-मुख्य गुणो से युक्त होती हैं। उनके चरण अत्यन्त कमनीय, चलते समय कोमल वस्तुओ से भी अतिकोमल, सुकुमार, कछुए की तरह वीच मे उभरे हुए, मनोहर होते है। उनकी अगुलियाँ सीधी,कोमल, पुष्ट और परस्पर सटी हुई होती है, उनके नख आगे को उठे हुए, सुखद या सुरचित, पतले, तावे के समान लाल,साफ एव चिकने होते हैं। उनकी दोनो जघाएँ—पिंडलियाँ रोओ से रहित, छाते की-सी उभरी हुई, गोलमटोल, उत्तम और मागल्यचिह्नो से युक्त, और देखने वालो को प्रिय होती हैं। उनके घुटने अच्छी तरह से बने हुए और मास से ढके होने से अच्छे लगते हैं। उनकी सधियाँ जोड मास से पुष्ट, प्रशस्त और सुगठित—परस्पर बधी हुई होती है। उनके दोनो उरू—पिंडलियो के ऊपर के भाग, जाघे—केले के खभे से भी अधिक

गठे हुए, व्रण से रहित, सुकुमाल, मुलायम एव चिकने होते हे, तथा अन्तररहित समप्रमाण वाले, सुन्दर, गोल और सुपुष्ट होते है। उनकी श्रोणि (कटितट) जूए या चौपड-शतरज खेलने के पट्टे के ऊपर खीची हुई लहरो के समान आकार वाली रेखाओ सरीखी, सुन्दर लक्षणो सहित अथवा सहनशील, विस्तीर्ण और पृथुल होती है। वे अपने मु ह की लम्बाई के प्रमाण (बारह अगुल) से दुगुनी (यानी २४ अगुल) लम्बी, विशाल, मास से पुष्ठ, सुगठित जघन—कमर के आगे के भाग—पेडू को धारण करने वाली होती है, उनका उदर—पेट बीच मे पतला—कृश होने से वज्र के समान शोभायमान, श्रेष्ठ लक्षणो से युक्त और अत्यन्त कृश होता है। उनके शरीर का मध्य भाग त्रिवलियो—तीन रेखाओ से अकित, पतला, और झुका हुआ होता है। उनकी रोमराजि सीधी, एक सरीखी, परस्पर जुडी हुई, स्वाभाविकरूप से बारीक, काली, चिकनी, आकर्षक, ललित, सुकुमार, मुलायम और अलग-अलग रोमो से युक्त होती है। उनकी नाभि गगानदी के भँवर एव दक्षिण की ओर चक्कर लगाने वाली तरगो के समान,सूर्य की किरणो के छूते ही ताजे नये खिले हुए व कोश से अलग हुए कमल के समान गभीर और विशाल होती हे। उनकी कुक्षि कूख बाहर नही उभरी हुई—अप्रकट, प्रशस्त, श्रेष्ठ और पुष्ट होती है। उनके पार्श्वभाग (काख से नीचे का भाग—बगलें) नीचे की ओर अच्छी तरह झुके हुए होते है, सुन्दर होते है, जचते हुए—सगत होते हैं, वे उचित परिमित प्रमाण से युक्त, परिपुष्ट और आनन्ददायक होते है। उनकी गात्रयष्टि देहरूपी यष्टि स्वाभाविक रूप से शुद्ध-साफ सोने के रुचक—एक प्रकार के आभूषण की तरह निर्मल—स्वच्छ—धूल से रहित, सुनिर्मित एव रोगादि से रहित होती हैं। उनके दोनो स्तन सोने के कलशो की तरह गोल, उन्नत, समान, कठिन, मनोहर, जुडवा जैसे, अग्रभाग पर लगी हुई दो चूचियो से युक्त और वढे हुए होते है। उनकी दोनो बाहे साप के समान क्रमश पतली, गाय की पू छ के समान गोल, एक सरीखी, शिथिलतारहित, झुकी हुई, आकर्पक और रमणीय होती है। उनके नख तावे के समान लाल होते है। उनके हाथ के पजे मास से परिपुष्ट होते हे, उनके हाथो की उ गली कोमल, पुष्ट और उत्तम होती है, उनके हाथो की रेखाएँ चिकनी होती है, उनके हाथो की रेखाएँ चन्द्रमा, सूर्य, शख, श्रेष्ठ चक्र, स्वस्तिक आदि विभिन्न चिह्नो से भलीभाति अकित होती हे। उनकी कावें और मलोत्सर्ग का स्थान-

गुह्य प्रदेश उभरे हुए है। और परिपूर्ण गोल-गोल गाल होते है। उनकी गर्दन चार अगुल ठीक प्रमाण वाली, श्रेष्ठ शख के समान होती है, उनकी ठुड्डी मास से भरी हुई, पुष्ट और आकार मे श्रेष्ठ होती है। उनके निचले ओठ अनार के फूल के समान चमकदार, लाल-लाल, पुष्ट, कुछ लबे और सिकुडे हुए होते है, उनके ऊपर के ओठ भी बडे सुन्दर होते है। उनके दात दही, जल की बूदो, कुन्द के फूलो, चन्द्रमा, वासती—चमेली की-बेल की कलियो के समान तथा अन्तररहित एव अत्यन्त उजले होते है। उनके तालु और जीभ लाल कमल के समान लाल और कमल के पत्तो के समान कोमल होते है। उनकी नाक कनेर की कलियो के समान टेढेपन से रहित, आगे से अदर को और उठी हुई, सीधी और ऊँची होती है। उनकी आँखें शरदऋतु के ताजे सूर्यविकासी कमल और चन्द्रविकासी कुमुदपुष्प तथा नीलकमल के पत्तो के ढेर के समान एव लक्षणो से श्रेष्ठ, अकुटिल या तेजस्वी और प्रिय होती है। उनकी भौहे कुछ नमाये हुए धनुष के समान मनोहर, काले-काले बादलो की घटाओ की-सी सुन्दर, पतली, काली और चिकनी होती है। उनके कान अच्छी तरह लगे हुए और प्रमाणोपेत होते है। उनकी श्रवणशक्ति अच्छी होती है, उनके कपोलतट पुष्ट और चिकने होते है, उनका ललाट चार अगुल चौडा और विपमतारहित होता है। उनका मुख चादनी से युक्त निर्मल पूर्ण चन्द्रमा के समान गोल और सौम्य होता है। उनका मस्तक छाते के समान गोल और उभरा हुआ होता है। उनके मस्तक के केश भूरे नही, किन्तु काले, चिकने और लबे-लबे होते है। वे छत्र, ध्वज, यज्ञस्तम्भ, स्तूप, दामिनी—माला, कमडलु, कलश, बावडी, साथिया (स्वस्तिक), पताका, यव—जौ, मच्छ, कछुआ, श्रेष्ठ रथ, कामदेव, अकरत्न—हीरा, थाल, अकुश, जिस पर चौपड या शतरज खेली जाती है वह पट्टा या कपडा, स्थापनिका–ठवणी या ऊँचे पेंदे का प्याला, देव, लक्ष्मी का अभिपेक, तोरण (गृहद्वार पर मेहराव या वन्दनवार) पृथ्वी, समुद्र, श्रेष्ठ भवन, उत्तम घर, उत्तम दर्पण, क्रीडा करते हुए हाथी, बैल, सिह और चवर, इन बत्तीस उत्तम लक्षणो को धारण करने वाली होती है। उनकी गति-चाल हस के समान होती है। कोयल के समान उनकी मधुर वाणी होती है। वे कान्ति वाली और सर्वजनप्रिय होती है। वे मुख पर झुर्रियो, सफेद बालो और अपगपन—अंगविकलता से रहित होती है तथा कुरूपता, व्याधि, दुर्भाग्य और शोक से मुक्त है। वे ऊँचाई मे मनुष्यो से कुछ कम ऊँची होती हैं वे शृगार का

घर होती है और उनकी वेशभूपा अत्यन्त सुन्दर और उजली होती है। उनके स्तन, पेडू, मुख, हाथ, पैर और नेत्र अत्यन्त सुन्दर होते हैं। वे लावण्य, सौन्दर्य और यौवन के गुणो से सम्पन्न होती है। वे नन्दनवन मे विचरण करने वाली अप्सराओ के समान मानुपीरूप मे उत्तरकुरुक्षेत्र की अप्सराएँ होती है, जो आश्चर्यपूर्वक देखने जैसी होती है। वे तीन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु को भोग कर अन्तत कामभोगो से अतृप्त ही मृत्यु पाती है।

व्याख्या

इससे पूर्व सूत्रपाठ मे जिन भोगभूमि (अकर्मभूमि) के मनुष्यो का वर्णन किया है, उनकी पत्नियो का उससे आगे के सूत्रपाठ मे वर्णन किया गया है। इस विस्तृत सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने उत्तरकुरु-देवकुरुक्षेत्र की महिलाओ के उत्तमोत्तम गुणो और मागल्यसूचक लक्षणो के अतिरिक्त उनके चरण, अगुली, नख, जाघें, घुटने, सधियाँ, उरू, कमर, पेट, मध्यभाग, रोमावली, नाभि, कुक्षि, पार्श्वभाग, गात्रयष्टि, स्तन, वाहू, नख, पजा, हाथो की उगली, हस्तरेखा, कपोल, गर्दन, ठुड्डी, ओठ, दात, तालु, जीभ, नाक, आँख, कान, भौंह, ललाट, मुख, मस्तिष्क, वाल, आदि प्रत्येक अग-उपाग का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। अन्त मे उनकी चाल-ढाल, आवाज, ऊँचाई, लोकप्रियता, कमनीयता, लावण्य, रूप, यौवन, वेशभूपा और निवास आदि का वर्णन भी किया है।

मतलव यह है कि शास्त्रकार ने उनकी शारीरिक, मानसिक और वौद्धिक योग्यता, प्रकृति और गुणो का सुन्दर चित्रण किया है।

इस वर्णन से पता चलता है कि ये सब महिलाएँ कृत्रिमताओ, फैशन और नखरो से काफी दूर होती है। जिस प्रकार भोगभूमि के पुरुप प्रकृति के अत्यन्त निकट होते हैं, वैसे ही वहाँ की ये महिलाएँ भी टापटीप और आडम्बर से अति दूर होती हैं। शरीर का जो स्वाभाविक सौन्दर्य, लावण्य, और स्वास्थ्य है, उसी पर वे निर्भर रहती है। यही कारण है कि इतने लम्बे वर्णन मे कही भी यह बात नही वताई गई है कि उनके शरीर पर आभूषण कौन-कौन-से थे? उनके नखो और ओठो को विशेप लाल करने के लिए कौन-सी चीज लगाई जाती थी? गालो को विशेपरूप से चमकाने के लिए वे कौन-सा पाउडर या वासचूर्ण लगाती थी? दातो को चमकाने के लिए, मिस्सी या मजन, आँखो को आकर्पक वनाने के लिए काजल या अजन कौन-से लगाती थी? वालो का जूडा वाधती थी तो किस चीज से? गले की शोभा के लिए कौन-सा हार पहनती थी?

फिर भी स्त्रियो मे जो स्वाभाविक सौन्दर्य होता है, वह उनमे था। वे स्वस्थ,

निश्चिन्त और रोगशोकमुक्त थी, और वृद्धत्व से, सफेद वालो से, अगविकलता से एव चेहरे पर झुर्रियो आदि से वे रहित थी।

कोई कह सकता है कि वे असभ्य और फूहड होगी, उनमे आधुनिक सभ्यता नही होगी, इसलिए उनका जीवन सभ्य-जीवन नही होगा। इसका उत्तर एक ही पद मे स्वय शास्त्रकार ने दे दिया है—'पहाणमहिलागुणेहिं जुत्ता' अर्थात्—वे मुख्य-मुख्य महिलागुणो से सम्पन्न होती है।

प्राचीनकाल मे महिला के प्रधान गुणो मे ६४ कलाएँ मानी जाती थी। ६४ कलाओ मे ऐसी कोई विद्या या कला बाकी नही रह जाती, जो महिलाओ के प्रधान गुणो की पूर्ति न कर सके। यह ठीक है कि भोगभूमि की स्त्रियाँ ६४ कलाओ का शिक्षण नही पाती थी, फिर भी उनका जीवन स्वभावत ही कलापूर्ण था। इसलिए उन्हे असभ्य और फूहड कैसे कहा जा सकता है ? वर्तमान की पढी-लिखी, फैशन-परस्त और शृगारप्रिय, चालाक तथा कलहप्रिय युवतियो से तो कही अच्छी होती हैं वे। अत प्रकृति से ही वे शान्त, सभ्य और नारी सुलभ लज्जा और सकोच से युक्त होती है।

उनके शरीर पर भले ही वाह्य अलकार नही होते, परन्तु उनके जीवन मे निम्नोक्त दस स्वाभाविक अलकार अवश्य होते है। कहा भी है—

'लीला-विलासो विच्छित्ति बिब्बोक, किल किंचित।
मोट्टायित कुट्टमित ललित विहृत तथा॥
विभ्रमश्चेत्यलकारा स्त्रीणा स्वाभाविका दश।'

यानी लीला, विलास, हावभाव, रूठना, क्रीडा करना, ललित कलाएँ वताना, अगविन्यास, अभिनय, विभ्रम इत्यादि स्वाभाविक अलकार भोगभूमि की उन महिलाओ मे भी होते है। वे शान्त, सौम्य, स्वतत्र महिलाएँ होती हैं, कलहकारिणी, स्वार्थी, क्रूर और चालाक नही। वे मध्ययुग की रानियो की तरह अन्त पुर मे या केवल घर की चारदीवारी मे वद हो कर नही रहती है। इसीलिए उनके लिए शास्त्रकार ने कहा—**'नदणवणविवरचारिणीओ व्व अच्छराओ।'** यानी वे नन्दनवन मे विचरण करने वाली अप्सराओ की तरह स्वतत्र विचरण करने वाली होती है।

महिलाओ का वर्णन क्यो ?—अव प्रश्न यह होता है कि इस सूत्रपाठ मे भोगभूमि के केवल पुरुपो का ही वर्णन पर्याप्त था। इन महिलाओ का इतना विशद वर्णन करने का प्रयोजन क्या था ?

इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि यह अब्रह्मचर्य का प्रकरण चल रहा है। और उसमे भी अब्रह्मसेवनकर्ताओ के निरूपण का प्रसग है। अब्रह्मचर्य-सेवन का मूल आधार स्त्री है। यद्यपि स्त्री और पुरुप दोनो के सयोग से अब्रह्मचर्य की निप्पत्ति होती है, तथापि अब्रह्मचर्य-सेवन का पहला और मूल कारण स्त्री है। स्त्री के रूपरग, हाव-भाव, कटाक्ष, विलास, अग-विन्यास और

चालढाल को देख कर साधारण पुरुषो की तो बात ही क्या, बडे-बडे योगियो और त्यागियो का मन भी चलायमान हो जाता है, इसलिए जो कामराग, दृष्टिराग और स्नेह-आसक्तिराग का मूल कारण है, जिसके राग के वश हो कर ही पुरुष अपने मूल गुणो, व्रतो और नियमो को भूल जाता है, वह स्त्री ही है।

यही कारण है कि शास्त्रकार ने भोगभूमि के पुरुषो की स्त्रियो का सागोपाग वर्णन किया है।

पुनश्च—शास्त्रकार का अगप्रत्यगो के सहित नारियो का वर्णन करने के पीछे एक आशय यह भी हो सकता है कि किसी को यह कहने की गुजाइश न हो कि भोगभूमि के पुरुषो के पास कामभोगसेवन के लिए स्त्रियाँ नही होती या अगोपाग, लावण्य और सौन्दर्य मे सर्वोत्तम नारियाँ नही होती। इसलिए व कामभोगो को तरसते-तरसते ही मर जाते है। उनके प्रत्येक के पास सुन्दर, सुशील, शान्त और यौवनसम्पन्न सर्वोत्तम स्त्री होती है। फिर भी वे कामभोगो को तरसते-तरसते अतृप्त अवस्था मे ही इस लोक से विदा हो जाते हैं। यही तो स्त्री के आकर्षण की विशेषता है। कहा भी है—

> 'तिर्यञ्चो मानवा देवा केचित् कान्तानुचिन्तनम्।
> मरणेऽपि न मुञ्चन्ति, सद्योग योगिनो यथा ॥'

अर्थात्—'प्राय सभी तिर्यञ्च, मनुष्य और देव मृत्युशय्या पर पडे-पडे अपनी प्रिया के चिन्तन मे मग्न रहते है। जैसे योगीश्वर अपने सच्चे योग को नही छोडता, वैसे ही वे मरणोन्मुख अवस्था मे भी कामभोग का चिन्तन नही छोडते।'

जिस प्रकार पुरुष कामभोगो से तृप्त नही होते, वैसे ही स्त्रियाँ भी कामभोगो से तृप्त नही होती। उनकी कामवासना भी अतृप्त रहती है। शास्त्रकार ने यहाँ स्त्रियो का वर्णन करके यह बता दिया है कि कर्मभूमि की स्त्रियाँ, जिनके पास इतने सुखसाधन नही है, या जो रोग, शोक, दुख दारिद्र्य आदि से ग्रस्त रहती हैं वे तो दूर रही, भोगभूमि की स्त्रियाँ, जिनके पास पर्याप्त सुखसाधन है, रोग, शोक आदि से जो कभी पीडित नही होती, वे भी कामभोगो से अतृप्त दशा मे ही इस लोक से विदा होती है। इसीलिए अत मे स्पष्ट कहा है—

'ताओऽवि उवणमति मरणधम्म अवितित्ता कामाण।'

बाकी के सारे सूत्रपाठ का अर्थ पदार्थान्वय एव मूलार्थ से स्पष्ट है।

अब्रह्माचरण और उसका दुष्फल

पूर्व सूत्रपाठ मे शास्त्रकार अब्रह्मचर्यसेवनकर्ता स्त्री - पुरुषो, देवदेवियो, चक्रवर्तियो, बलदेव-वासुदेवो और माडलिको का विशद निरूपण कर चुके। अब इस सूत्रपाठ मे 'अब्रह्माचरण किस-किस तरीके से किया जाता है' और 'उसका कितना भयकर फल प्राप्त होता है?' इन दो बातो (द्वारो) का निरूपण करते है—

मूलपाठ

मेहुणसन्नासपगिद्धा य मोहभरिया सत्थेहिं हणंति एक्कमेक्कं, विसयविसस्स उदीरएसु, अवरे (उदारा) परदारेहिं हम्मंति, विसुणिया धणनासं सयणविप्पणासं च पाउणंति। परस्स दाराओ जे अविरया मेहुणसन्नासपगिद्धा य मोहभरिया अस्सा, हत्थी, गवा य, महिसा, मिगा य मारेंति एक्कमेक्कं, मणुयगणा वानरा य पक्खी य विरुज्झंति, मित्ताणि खिप्पं भवंति सत्तू, समये धम्मे गणे य भिंदंति पारदारी, धम्मगुणरया य बंभयारी खणेण उल्लोट्ठए चरित्ताओ,जसमंतो सुव्वया य पावेंति अयसकित्तिं,रोगत्ता वाहिया पवड्ढिंति रोयवाही, दुवे य लोया दुआराहगा भवंति––इहलोए चेव परलोए परस्स दाराओ जे अविरया, तहेव केइ परस्स दारं गवेसमाणा गहिया हया य बद्धरुद्धा य एवं जाव गच्छंति विपुल-मोहाभिभूयसन्ना। मेहुणमूलं च सुव्वए तत्थ तत्थ वत्तपुव्वा संगामा जणक्खयकरा सीयाए दोवईए कए रुप्पिणीए पउमावईए, ताराए, कंचणाए, रत्तसुभद्दाए, अहिन्नियाए, सुवन्नगुलियाए, किन्नरीए, सुरूवविज्जुमतीए य रोहिणीए य। अन्नेसु य एवमा-दिएसु बहवो महिलाकएसु सुव्वंति अइक्कंता संगामा गामधम्म-मूला (अबंभसेविणो) इहलोए ताव नट्ठा (विनुट्ठकीत्ति) परलोए वि य णट्ठा महया मोहतिमिसंधकारे घोरे तसथावर-सुहुमबादरेसु पज्जत्तसाहारणसरीरपत्तेयसरीरेसु य, अंडज-पोतज-जराउय-रसज-ससेइम-संमुच्छिम-उब्भिय-उववादिएसु य नरग-तिरियदेवमाणुसेसु,जरामरणरोगसोगबहुले पलिओवमसागरोवमाइं अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टंति जीवा मोहवस(स)संनिविट्ठा।

एसो सो अबंभस्स फलविवागो इहलोइओ पारलोइओ य

अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहि न मुच्चति, न य अवेदइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति, एवमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उ वीरवर-नामधेज्जो, कहेसी य अबंभस्स फलविवागं, एयं तं अबंभंपि चउत्थं सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पत्थणिज्जं एवं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं चउत्थं अधम्मदारं समत्तं त्ति बेमि ॥४॥ (सू०१६)

संस्कृतच्छाया

मैथुनसंज्ञासंप्रगृद्धाश्च मोहभृताः शस्त्रैः घ्नन्ति अन्योऽन्यम्, विषय-विषस्य उदीरकेषु (उदाराः) अपरे परदारैः (परदारेषु प्रवृत्ताः) हन्यन्ते, विश्रुताः धननाशं च प्राप्नुवन्ति, परस्य दारेभ्यो ये अविरताः मैथुनसंज्ञासम्प्रगृद्धाः (सम्प्रगृह्याः) च मोहभृताः अश्वाः, गजाः, गावो, महिष्यः, मृगाश्च मारयन्ति परस्परम्। मनुजगणाः वानराश्च पक्षिणश्च विरुध्यन्ते, मित्राणि क्षिप्रं भवन्ति शत्रवः। समयान्, धर्मान्, गणान् च भिंदन्ति परदारिणः। धर्मगुण-रताश्च ब्रह्मचारिणः क्षणेन अपवर्तन्ते चारित्रात्। यशस्वन्तः सुव्रताश्च प्राप्नु-वन्ति अयशःकीर्तिम्। रोगार्त्ताः, व्याधिताः प्रवर्द्धयन्ति रोगव्याधीन्। द्वावपि लोकौ दुराराधकौ भवतः,इहलोके चैव परलोके परस्य दारेभ्यो ये अविरताः। तथैव केचित् परस्य दारान् गवेषयन्तो गृहीताः हताश्च बद्धरुद्धाश्च एवं यावद् गच्छन्ति विपुलमोहाभिभूतसंज्ञाः। मैथुनमूलं च श्रूयन्ते तत्र-तत्र वृत्त-पूर्वाः संग्रामाः जनक्षयकराः, सीतायाः द्रौपद्याः कृते रुक्मिण्याः पद्मावत्या-स्तारायाः कांचनायाः रक्तसुभद्रायाः अहिल्यायाः सुवर्णगुलिकायाः किन्नर्याः सुरूपविद्युन्मत्या रोहिण्याश्च। अन्येषु चैवमादिकेषु बहवो महिलाकृतेषु श्रूयन्ते अतिक्रान्ताः संग्रामाः ग्रामधर्ममूलाः। अब्रह्मसेविनः इह लोके तावन्नष्टाः (इहलोकेऽपि नष्टकीर्तिः) परलोकेऽपि च नष्टाः महति महामोहतिमिस्रान्धकारे घोरे त्रसस्थावरसूक्ष्मबादरेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तसाधारणशरीरप्रत्येक-शरीरेषु च अण्डजपोतजजरायुजरसजसंस्वेदिमोद्भिज्जौपपातिकेषु च नरकतिर्यग्देवमानुषेषु जरामरणरोगशोकबहुले पल्योपमसागरोपमाण्यनादिकमनवदग्रं दीर्घाद्धं (दीर्घाध्वं) चातुरन्तसंसारकान्तारमनुपरिवर्तन्ते जीवाः मोहवशसंनिविष्टाः।

एष स अब्रह्मणः फलविपाकः, इहलौकिकः पारलौकिकश्च अल्पसुखः,

बहुदुःख , महद्भय., बहुरज सप्रगाढो, दारुण', कर्कशः, असात , वर्षसहस्रै र् मुच्यते, न च अवेदयित्वा अस्ति खलु मोक्ष , इति एवम् आख्यातवान् ज्ञात-कुलनन्दनो महात्मा जिनस्तु वीरवरनामधेयो, अचीकथत् च अब्रह्मण फलविपाकम् एतम् तम्, अब्रह्म अपि चतुर्थं सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य प्रार्थनीयम् एव चिरपरिचितम् अनुगतम् दुरन्तम्। चतुर्थं अधर्मद्वार समाप्तम्, इति ब्रवीमि ॥४॥ (सू० १६)

पदार्थान्वय—(मेहुणसन्नासपगिद्धा) मैथुनसेवन करने की सज्ञा—वासना मे अत्यन्त आसक्त (य) और (मोहभरिया) अज्ञान—मूढता या मोह—कामवासना से भरे हुए (एक्कमेक्क) परस्पर एक दूसरे को (सत्थेहिं) शस्त्रो से (हणति) मारते हैं। (अवरे) दूसरे कई लोग (विसयविसस्स उदीरएसु परदारेसु) शब्दादिविषयरूपी विष की उदीरणा करने वाली—बढाने वाली—पराई स्त्रियो मे प्रवृत्त हुए अथवा (विसय-विस—उदारा परदारेसु) विपयरूपी विष के वशीभूत अर्थात् अत्यन्त तीव्र होकर परस्त्रियो मे प्रवृत्त हुए (हम्मति) दूसरो द्वारा मारे जाते हैं। (विसुणिया) प्रसिद्ध हो जाने पर (धणनास) धन का नाश (य) और (सयणविप्पणास) अपने कुटुम्ब का नाश (पाउणति) पाते हैं। (परस्स दाराओ) दूसरे की स्त्रियो से (जे अविरया) जो विरक्त नहीं हैं, वे (य) और (मेहुणसन्नासपगिद्धा) मैथुन सेवन करने की सज्ञा—वासना मे अत्यन्त आसक्त, (मोहभरिया) मूढता या मोह से परिपूर्ण (अस्सा हत्थी गवा य महिसा य मिगा) घोडे, हाथी, बैल, भैसे और मृग या जगली जानवर (एक्कमेक्क) परस्पर लड कर एक दूसरे को (मारेंति) मार डालते हैं, (मणुयगणा) मानवगण, (य) तथा (वानरा) वदर (य) और (पक्खी) पक्षीगण (विरुज्झति) मैथुनवश पर-स्पर एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं। (मित्ताणि) मित्र, (खिप्प) शीघ्र ही, (सत्तू) शत्रु (भवति) हो जाते है। (परदारी) परस्त्रीगामी (समये,धम्मे, य गणे) सिद्धान्तो या शपथो का, धर्माचरण का—सत्य-अहिंसादि धर्म का, और गण—समान विचार-आचार वाले मानवसमूह का—समाज का,या समाज की मर्यादाओ का (भिंदति) भग कर डालते हैं—तोड देते हैं। (य) तथा (धम्मगुणरया) धर्म और गुणो मे रत (बभयारी) ब्रह्मचर्यपरायण व्यक्ति, मैथुनसज्ञा के वशीभूत हो जाने पर (खणेण) क्षणभर मे (चरित्ताओ) चरित्र सयम से (उल्लोट्ठए) गिर जाते हैं—भ्रष्ट हो जाते हैं। (जसमतो य सुव्वया) यशस्वी तथा भलीभाँति व्रत के पालन करने वाले मनुष्य (अयसकित्तिं पावेति) अपयश और अपकीर्ति को पाते हैं। (रोगत्ता वाहिया) ज्वरादि

रोगो से पीडित तथा कोढ़ आदि व्याधियो से दु:खी मानव कामसेवन की तीव्रवासना के कारण (रोयवाही) रोग और व्याधि को (पवड्ढति) और ज्यादा बढाते हैं। (जे) जो प्राणी (परस्स दाराओ) दूसरे की स्त्रियो से (अविरया) विरत नहीं हैं, या त्याग नहीं किया है,वे (दुवे य लोया) दोनो लोको में (इहलोए चेव परलोए) इस लोक मे तथा परलोक मे (दुआराहगा) दु:ख से आराधक—आराधना करने वाले—(भवति) होते हैं। (तहेव) इसी प्रकार (केई) कई लोग (परस्स) पराई (दार) स्त्रियो की (गवेसमाणा) फिराक—तलाश में रहने वाले (गहिया) पकडे जाते हैं, (य) और (हया) पीटे जाते हैं,(य) तथा (बद्धरुद्धा) बाधे जाते हैं और जेल मे बन्द कर दिये जाते हैं। (एव) इस प्रकार (विपुलमोहाभिभूयसन्ना) तीव्र मोह से या मोहनीय कर्म के उदय से उनकी सद्बुद्धि मारी जाती है, वे (एव गच्छति जाव) इस प्रकार वे नीची गति मे जाते हैं। यह तृतीय अध्ययन के पाठ तक समझ लेना चाहिए।

(य) तथा (मेहुणमूल) मैथुनसेवन करने के निमित्त (तत्थ-तत्थ) उन-उन शास्त्रो मे (सीयाए, दोवईए कए रुप्पिणीए, पउमावईए, ताराए, कचणाए, रत्तसुभद्दाए, अहिन्नि(ल्लि)याए, सुवन्नगुलियाए, किन्नरीए, सुरूवविज्जुमतीए य रोहिणीए) सीता के लिए, द्रौपदी के लिए, रुक्मिणी के लिए, पद्मावती के लिए, तारा के लिए, काचना के लिए, रक्तसुभद्रा के लिए, अहिल्या के लिए, स्वर्णगुटिका के लिए, किन्नरी के लिए, सुरूपविद्युन्मती के लिए और रोहिणी के लिए, (वत्तपुव्वा) पूर्वकाल मे हुए (जणक्खयकरा) मनुष्यो का सहार करने वाले (सगामा) युद्ध (सुव्वए) सुने जाते हैं। (य) और (एवमादिकेसु अन्नेसु महिलाकएसु गामधम्ममूला बहवो अइक्कता सगामा) ये और इस प्रकार की अन्य स्त्रियो के लिए इन्द्रियविषयो के निमित्त भूतकाल मे हुए बहुत-से सग्राम (सुव्वति) सुने जाते हैं। (अबभसेविणो) मैथुनसेवन करने वाले जीव (इहलोए ताव नट्ठा) इस लोक मे तो बदनामी आदि होने के कारण नष्ट हो ही जाते हैं, (परलोए वि य नट्ठा) परलोक मे भी नष्ट होते हैं। (तसथावरसुहुमबायरेसु) त्रस, स्थावर, सूक्ष्म या बादर जीवो मे, (य) तथा (पज्जत्तमपज्जत्तसाहारणसरीरपत्तेयसरीरेसु) पर्याप्त, अपर्याप्त, साधारण और प्रत्येकशरीरी जीवो मे (य) और अडजपोतजजराउयरसजससेइमउब्भियउववादिएसु) अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, (रस मे जन्म लेने वाले), सस्वेदिम—पसीने से पैदा होने वाले, उद्भिज्ज और औपपातिक जीवो मे, ऐसे (नरगतिरियदेवमाणुसेसु) नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्यगति के जीवो मे (जरामरणरोगसोगबहुले) बुढापा, मृत्यु, रोग

और शोक से भरे हुए (महया मोहतिमिसधकारे) महामोहरूपी घोर अधकार वाले (घोरे) भयकर (परलोए वि) परलोक मे दूसरे जन्म मे भी,(पलिओवमसागरोवमाइ) पल्योपम और कभी-कभी सागरोपम काल तक (नट्ठा) नष्ट होते हैं—वर्बाद हो जाते हैं—दु ख पाते हैं। तथा (अणादीय) अनादि (अणवदग्ग) अनन्त (दीहमद्ध) दीर्घकाल तक या लम्बे मार्ग वाले, (चाउरत-ससारकतार) चार गति वाली ससाररूपी अटवी मे (अणुपरियट्ट ति) वार-वार लगातार परिभ्रमण करते रहते हैं।

(एसो) यह (सो) वह पूर्वोक्त (अबभस्स फलविवागो) अब्रह्मचर्य का फलभोग (इहलोइओ) इस लोकसम्वन्धी (य) तथा (पारलोइओ) परलोक-सम्वन्धी (अप्पसुहो वहुदुक्खो) थोडे सुख और अधिक दु ख वाला (महब्भओ) महाभयानक (बहुरयप्पगाढो) वहुत ही गाढ कर्मरज का वध करने वाला (दारुणो) घोर (कक्कसो) कठोर (असाओ) असातारूप है। (वाससहस्सेहिं) और यह हजारो वर्षों मे जा कर (मुच्चइ) छूटता है। (य) और (अवेदइत्ता) विना भोगे (मोक्खो) मोक्ष छुटकारा—(हु न अत्थि) निश्चय ही नहीं होता।

(एव) इस प्रकार (नायकुलनदणो) ज्ञातकुल के नन्दन—ज्ञातकुल को समृद्ध करने वाले, (वीरवरनामधेज्जो महप्पा जिणो उ), महावीर नाम के महात्मा जिनेन्द्र—तीर्थंकर ने (आहसु) कहा है। (य) तथा (एय त) पूर्वोक्त इस (अबभस्स) मैथुनसेवनरूप अब्रह्मचरण के (फलविवाग) फल के अनुभव को भी (कहेसी) वताया है। (एव) इस प्रकार (त) पूर्वोक्त वह (चउत्थ अबभ वि) चौथा आश्रव—अब्रह्म भी (सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स) देवता, मनुष्य और असुरसहित सम्पूर्ण लोक के जीवो से (पत्थणिज्ज) प्रार्थनीय—वाछित है। (एव) इस तरह (चिरपरिचिय) चिरकाल से अभ्यस्त—परिचित, (अणुगय) परम्परा से लगातार साथ आने वाला, (दुरत) अन्त में दु खप्रद या कष्ट से अन्त होने वाला, (चउत्थ) चौथा, (अहम्मदार) अधर्मद्वार (समत्त) समाप्त हुआ। (इति) ऐसा (बेमि) मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—मैथुनसेवन करने की वासना मे अत्यन्त आसक्त और मोहमूढता से भरे हुए लोग आपस मे एक दूसरे को हथियारो से मारते है और शब्दादि—विपयरूपी विप को उत्तेजित करने वाली परस्त्रियो मे अत्यन्त तीव्रता से प्रवृत्त हुए कई लोग दूसरो द्वारा भी मारे जाते है। प्रसिद्ध हो

जाने पर उन्हे अपने धन के नाश और कुटुम्ब का सर्वनाश ही मिलता है। इस प्रकार जो दूसरे की स्त्रियो के सेवन से विरक्त नहीं है, वे मैथुनसेवन की लालसा मे अत्यन्त आसक्त एव मूढता मोह से परिपूर्ण घोडे, हाथी, बैल, भैसे एव मृग—जगलो पशु परस्पर लड कर एक दूसरे को मारते हैं, तथा मनुष्य, बदर और पक्षीगण परस्पर एक दूसरे के विरोधी हो जाते है, मित्र भी झटपट शत्रु बन जाते हे। परस्त्रीगामी अपने सिद्धान्तो या शपथो अथवा वादो का, धर्माचरण का या अहिंसा-सत्यादि धर्म का और गण-समाज यानी समान आचार-विचार वाले जनसमूह का या समाज की मर्यादाओ का भग कर डालते है—तोड देते है। तथा धर्म और गुणो मे रत ब्रह्मचारी व्यक्ति भी मैथुनसज्ञा के वशीभूत हो जाने पर क्षणभर मे पतित हो जाते है, प्रतिष्ठित—यशस्वी तथा व्रतो का भलीभाति पालन करने वाले व्यक्ति भी अपयश और अपकीर्ति पाते है। ज्वरादिरोग से पीडित और कुष्ट आदिव्याधियो से ग्रस्त मानव कामसेवन की तीव्र लालसा के कारण अपने रोगो और व्याधियो को और ज्यादा बढाते है। जो प्राणी पराई स्त्रिया के सेवन से अविरत है—विरक्त नही हे, वे अपने इहलोक और परलोक—दोनो लोक बिगाड लेते हे—उभय लोक मे मुश्किल से आराधक बनते है। इसी प्रकार जो व्यक्ति पराई स्त्रियो की तलाश मे ही रात-दिन लगे रहते है, वे गिरफ्तार किये जाते है, मारे-पीटे जाते हे, रस्सी आदि बधनो से बाधे जाते है और जेल मे बद किये जाते हे। इस तरह तीव्रमोहनीय कर्म के उदय से उनकी सद्बुद्धि मारी जाती है। यो वे अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप नरक आदि नीची गति मे जाते है। तृतीय अध्ययन का यहाँ तक का पाठ इससे सम्बन्धित मान लेना चाहिए।

तथा मैथुनसेवन के निमित्त से अनेक शास्त्रो मे सीता के लिए द्रौपदी के लिए, रुक्मिणी के लिए, पद्मावती के लिए, तारा के लिए, काचना के लिए, रक्तसुभद्रा के लिए, अहिल्या के लिए, सुवर्णगुटिका के लिए, किन्नरी के लिए, सुरूपविद्युन्मती के लिए और रोहिणी के लिए पूर्वकाल मे जनसहारक अनेक सग्राम होने के वर्णन सुने जाते हे। इसी प्रकार अन्य स्त्रियो के लिए इन्द्रियविषयो के सेवन के निमित्त भूतकाल मे हुए बहुत से सग्राम सुने जाते ह। मैथुनसेवन करने वाले जीव इस लोक मे भी परस्त्रीसेवन के कारण कलकित हो कर नष्ट—भ्रष्ट हुए ह, परलोक मे भी वे विनष्ट हुए है—दुर्गतिगामी

बने है। महामोहान्धकार वाले तथा बुढापा, मृत्यु, रोग और शोक से भरे हुए घोर परलोक मे भी वे त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर जीवो मे, पर्याप्त, अपर्याप्त, साधारणशरीरी और प्रत्येक शरीरी जीवो मे और अडज, पोतज, जरायुज, रसज, मस्वेदिम (पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव) उद्भिज्ज और औपपातिक जन्म वाले ऐसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के जोवो मे, पल्योपम और सागरोपम काल तक दुःख पाते ह। मोह या मोहनीय कर्म से ग्रस्त जीव अनादि-अनन्त दीर्घकाल वाली या लबे मार्ग वाली चतुर्गति रूप भयानक ससार-अटवी मे भ्रमण करते है।

यह पूर्वोक्त अब्रह्माचरण से उत्पन्न कर्मों के फलविपाक-फल का भोग इस लोक मे तथा परलोक मे अल्पसुख और बहुत दुःख देने वाला है। यह महाभयानक है और गाढ कर्मरज के बधन का कारण है। यह दारुण, कठोर और असाताजनक है। यह हजारो वर्षों मे जा कर छूटता है। इसे भोगे बिना कदापि छुटकारा नही होता। इस प्रकार ज्ञातकुलनन्दन महात्मा महावीर जिनेन्द्र ने कहा है। वैसा ही इस पूर्वोक्त अब्रह्मसेवन के फलविपाक का वर्णन किया है। यह पूर्वोक्त अब्रह्म (मैथुन) भी देव, मनुष्य और असुरसहित समस्त सासारिक जीवो द्वारा प्रार्थनीय—अभीष्ट है। इसी तरह यह चिरकाल से अभ्यस्त है। अनादिकाल से जीवो के साथ निरन्तर सम्बद्ध है, अन्त मे दुःख-दायी है, या दुःख से इसका अन्त होता है। यह चतुर्थ अधर्मद्वार समाप्त हुआ। ऐसा मैं (शास्त्रकार) कहता हूँ।

व्याख्या

शास्त्रकार ने पूर्व सूत्रपाठो मे क्रमश अब्रह्म के पर्यायवाची नामो का तथा अब्रह्म के स्वरूप और अब्रह्मसेवनकर्त्ताओ का निरूपण करने के वाद इस अन्तिम सूत्रपाठ मे अब्रह्मसेवन के निमित्तो और उसके दुष्फलभोगो का सयुक्तरूप से वर्णन किया है। यद्यपि वर्णन स्पष्ट है, तथापि कुछ पदो पर तथा वीच वीच मे दिये गए दृष्टान्तो पर प्रकाश डालना आवश्यक है। अत नीचे हम कुछ वातो पर प्रकाश डाल रहे हैं—

मेहुणसन्नासपगिद्धा—कामवासना खुजली की तरह वडी मीठी लगती है। परन्तु खुजली को वारवार खुजलाने पर उस स्थान पर घाव हो जाता है और वहाँ खून टपकने लगता है। इसी प्रकार कामवासना की खुजली को भी वार-वार खुजलाने से

आपस मे सघर्ष पैदा होता है। एक ही स्त्री पर आसक्त कई कामी लोगो मे परस्पर लाठियो, भालो, डडो एव तलवार आदि शस्त्रो से लडाई छिड जाती है। लडाई जहाँ होती है, वहाँ परस्पर वैरभावना की आग बढती जाती है और वह सारे परिवार का, धन-सम्पत्ति का और कुल की प्रतिष्ठा एव चारित्र का सर्वनाश कर देती है। इसीलिए शास्त्रकार ने इस सर्वनाश का सर्वप्रथम कारण मैथुनसज्ञा मे अत्यन्त आसक्त जीवो को बताया है, फिर वे चाहे मनुष्य हो, चाहे पशु-पक्षी हो। निष्कर्ष यह है कि '**मैथुनसज्ञा**' ही मनुष्य को अपने आपका, परिवार का, धन-सम्पत्ति का और कुलप्रतिष्ठा एव चारित्रका भान भूला देती है।

मैथुनसज्ञा और उसका अर्थ—ससार के समस्त प्राणियो को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की चार सज्ञाओ ने बुरी तरह घेर रखा है। उनमे से मैथुन की सज्ञा बडी भयकर होती है और वह होती है नोकषायरूप चारित्रमोहनीय कर्म के एक भेद—वेदकर्म के उदय से। साथ ही उसका उदय नौवे अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थान के सवेदभाग तक रहता है। अत मैथुनसज्ञा का अस्तित्व सवेदभाग के अनिवृत्तिगुणस्थानवर्ती मुनि तक मे माना गया है। लेकिन रतिक्रीडा इत्यादि के रूप मे मैथुनसेवनरूप उसका कार्य पाचवे गुणस्थान तक ही होता है। इससे आगे छठे गुणस्थान से ले कर आगे के सभी गुणस्थानो मे मैथुनसज्ञा का कार्य नही होता।

मैथुनसज्ञा किन-किन कारणो से पैदा होती है? इसके लिए एक आचार्य कहते है—

> **'पणीदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए।**
> **वेदस्सोदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एव ॥'**

अर्थात्—'इन्द्रियो मे दर्प उत्पन्न करने वाले स्वादिष्ट या गरिष्ठ रसीले भोजन के करने से, पहले सेवन किये हुए विषयभोगो का स्मरण करने से, कुशीलसेवन करने से और मोहनीयकर्मजनित वेद की तीव्र उदीरणा-उत्तेजना या तीव्र कर्मोदय होने से मैथुनसज्ञा उत्पन्न होती है।'

उपर्युक्त गाथा के द्वारा मैथुनसज्ञा के अन्तरग और वहिरग कारणो का साफतौर से पता लग जाता है।

प्रश्न होता है कि यहाँ मैथुनशब्द के आगे 'सज्ञा' शब्द का क्या प्रयोजन है, क्योकि मैथुनशब्द का अर्थ ही अब्रह्मसेवन होता है, फिर सज्ञा-शब्द के लगाने का

१—इन चारो सज्ञाओ का विस्तृतस्वरूप जानने के लिए जैनशास्त्रो तथा जैनग्रन्थो का अवलोकन करें।
—सपादक

क्या अर्थ रह जाता है ? इसका उत्तर 'सज्ञा' शब्द का वास्तविक अर्थ ज्ञात होने से हो जायगा । सस्कृतभाषा मे 'सज्ञा' शब्द के कई अर्थ है । इस सम्बन्ध मे मेदिनीकोष का निम्नोक्त प्रमाण प्रस्तुत है—

'सज्ञा नामनि गायत्र्या, चेतनारवियोषितो. ।
अर्थस्य सूचनायां च, हस्ताद्यै रपि योषिति ॥'

अर्थात्—'स्त्रीलिंगवाची सज्ञा शब्द का प्रयोग नाम, गायत्री, चेतना (होश मे आना-बाहोशी), सूर्य की स्त्री, हाथ आदि से किसी बात के लिए सकेत करना, इत्यादि अर्थों मे होता है । परन्तु यहाँ सज्ञा शब्द न तो किसी के नाम के अर्थ मे है, न गायत्री अर्थ में, न सूर्यपत्नी के अर्थ मे और न सकेत करने के अर्थ मे है । यहाँ सीधेतौर पर सज्ञा शब्द चेतना-अर्थ मे भी प्रतीत नही होता । वास्तव मे जैनदर्शन मे सज्ञा-शब्द पारिभाषिक है, और वह दो अर्थो मे प्रयुक्त होता है । एक तो मन के व्यापार रूप अर्थ मे सज्ञाशब्द का प्रयोग होता है । जैसे— सज्ञी और असज्ञी जीव । यहाँ सज्ञी का मतलब है मन के व्यापार—सज्ञा वाला जीव । दूसरा सज्ञा-शब्द वासना या अभिलाषा अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । यहाँ मैथुनशब्द के साथ सज्ञाशब्द लगाने से प्रसगवश कामसेवन की अभिलाषा या वासना अर्थ ही सगत लगता है ।

केवल मैथुन-शब्द के रहने से तो पाचवे गुणस्थान तक रहने वाली मैथुनक्रिया का ही बोध होता । लेकिन मैथुन की वासना या अभिलाषा अव्यक्त रूप से तो नौवें गुणस्थान तक रहती है । इसलिए इस बात को द्योतित करने के लिए ही शास्त्रकार ने मैथुन-शब्द के साथ सज्ञाशब्द जोडा है । यही कारण है कि आगे चल कर शास्त्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि – **'धम्मगुणरया य बभयारी खणेण उल्लोट्टए चरित्ताओ ।'** अर्थात्— मैथुनसज्ञा के बढ जाने पर अहिंसा-सत्यादि चारित्रधर्म और सद्‌गुणो मे रत और ब्रह्मचर्यनिष्ठ मुनि, साधु, सन्यासी और योगी भी क्षणभर मे चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं । इसीलिए यहाँ मैथुनसज्ञा को सर्वनाश का सर्वप्रथम कारण बताया है ।

इसके अतिरिक्त शास्त्रकार ने इसी सूत्रपाठ मे आगे चल कर जिन भयकर अनर्थो— परस्पर शस्त्राघात, मारपीट, जीवनाश, युद्ध और सघर्ष आदि का वर्णन किया है , उन सब अनर्थों की खान मैथुनसज्ञा ही है । इसलिए **'मेहुणसन्नासपगिद्धा'** शब्द से शास्त्रकार का एक तात्पर्य यह भी मालूम होता है कि मैथुनसज्ञा मे आसक्ति रखने वाले जीवो की दशा को जान कर मैथुनसज्ञा के कारणो से सभ्रान्त व्यक्ति बचा रह सकता है । चू कि मैथुनसज्ञा से इस जन्म और परजन्म मे आत्मा का अहित होता है, अत उससे बचना ही श्रेयस्कर है ।

मोहभरिया'—अब्रह्मचर्य मे प्रवृत्त होने वाले जीवो के लिए दूसरा कारण बन जाता है—**'मोह'** । यह मोह ही है, जो मनुष्य को विवेकान्ध बना देता है, हिताहित का भान भुला देता है , जो मनुष्य के ज्ञानचक्षुओ पर पर्दा डाल देता है । मोह से

मूढता, जडता, अज्ञानता और विवेकविकलता पैदा होती है। मनुष्य अपनी शक्तियो का सदुपयोग करने के बदले दुरुपयोग कर बैठता है। मैथुनसज्ञा भी मोहनीयकर्म के तीव्र उदय से होती है। दर्शनमोहनीय देव, गुरु, धर्म और आत्मा के गुणो पर श्रद्धा नही जमने देता, वह सम्यक् विश्वास को उखाड फैकता है। और चारित्र-मोहनीय आत्मा मे चारित्र के गुणो को उत्पन्न नही होने देता, वह चारित्र का पालन करने मे बाधक बनता है। त्याग, प्रत्याख्यान, असयम से विरति, सयम मे पराक्रम आदि समस्त चारित्रगुणो का वह नाश कर देता है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव पापक्रियाओ को सुखदायी समझ कर उनमे अधिकाधिक प्रवृत्त होता जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने सकेत किया है कि मोह से ग्रस्त हुए जीव इस लोक मे सदा भयोत्पादक, शरीर को सत्त्वहीन व क्षीण बना देने वाले और मन को सदा उद्विग्न तथा विक्षुब्ध बना देने वाले मैथुन का सेवन बेखटके करते है।

सत्थेहि हणति एक्कमेक्क इस वाक्य मे कामीपुरुषो की दशा का वर्णन किया गया है। मोहान्ध कामीजन क्षणिक विषयतृप्ति के लिए परस्पर एक दूसरे को प्राणरहित कर देते है। कहा भी है—

> **'भड्क्त्वा भाविभवाश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर् भृशम्।**
> **मृत्वाऽपि स्वयमस्तभीतिकरुण सर्वान् जिघासुर्मुधा॥**
> **यद्यत्साधुविगर्हित हतमिति तस्यैव धिक् कामुक।**
> **कामक्रोधमहाग्रहाहितमना. किं किं न कुर्याज्जन॥'**

अर्थात्—कामी पुरुष पापो से निर्भय एव जीवदया से रहित हो कर अपने भावी जन्मो को बिगाड देता है, तथा अपने प्राणो को खो कर भी काले नाग के समान भयकर भोगो को भोगने की तीव्र इच्छा करता है। जिस मैथुन आदि कुकृत्य को सत्पुरुषो ने निन्दित माना है—आत्मा से दूर किया है, धिक्कारा है, उसी की कामना करने वाला पुरुष काम और क्रोधरूपी महाग्रहो से ग्रस्त हुआ क्या-क्या दुष्कर्म नही कर डालता ? अर्थात् कामी पुरुष सभी पापकर्मो मे बेखटके प्रवृत्त होते है।

मतलब यह है कि कामवासना मे अन्धा हो कर मनुष्य अब्रह्मचर्य के साथ-साथ हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह और मोह, मद आदि अनेक पापो के करने से नही हिचकिचाता। सत्पुरुषो की बात उसके गले नही उतरती। इसीलिए कामी पुरुष असहिष्णु और आवेशयुक्त हो कर एक दूसरे को शस्त्र से मार डालते है।

'विसयविसस्स उदीरएसु अवरे परदारेहि हम्मति'—कुछ लोग, जो विषयरूपी विष को उत्तेजित करने वाली-बढावा देने वाली परस्त्रियो मे प्रवृत्त होते है, दूसरो द्वारा मार डाले जाते है। वास्तव मे देखा जाय तो विषयो को जन्म देने वाली एव उत्तेजित करने वाली तो मनुष्य की कामुक मनोवृत्ति—मैथुनसज्ञा होती है, लेकिन

उनकी उस कामवासना को भडकाने मे प्रवल निमित्त वनती है—स्त्री । गृहस्थजीवन मे अणुव्रती श्रावक,जिसने स्वदारसतोष-परदारविरमणव्रत ग्रहण किया है,वह अपनी विवाहिता स्त्री के साथ कामभोग-सेवन करता है, उसके लिए वह लोगो के लिए निन्दा या घृणा का पात्र नही वनता और न कोई व्यक्ति उसे मारपीट सकता है, लेकिन परस्त्री के साथ तो तभी व्यक्ति की काम-प्रवृत्ति होती है, जव उसकी वासना अत्यन्त भडक उठती है । और ऐसा व्यक्ति जनता की दृष्टि मे निन्दित, अपमानित माना जाता है, कोई न कोई व्यक्ति अथवा स्वय उस स्त्री का पति ही उसे मार डालता है ।

'विसुणिया धणनास, सयणविप्पणास च पाउणति'—इतना ही नही, जो पुरुप परस्त्रीगामी हो , साथ ही अपनी जाति, समाज या राष्ट्र मे प्रसिद्ध भी हो, वे अपने प्राणो से ही हाथ नही धो वैठते, अपितु अपने धन को भी (अपने उस कलक को छिपाने या ऐव को दवाने के लिए) स्वाहा कर देते है अथवा अपने उस महापाप के कारण सारे परिवार के प्राणो को सकट मे डाल देते है । रावण आदि परस्त्रीसगकामी दुरात्मा अपने परिवार का विनाश कराने मे कारण हुए है ।

'परस्स दाराओ अस्सी हत्थी गवा य महिसा मिगा य मारेंति एक्कमेक्क''—केवल मनुष्यो मे ही नही , पशुपक्षियो मे भी यह देखा जाता है कि अपनी प्रिया मादा के साथ दूसरा नर पशु या पक्षी प्रेम करने लगता है तो वे परस्पर लडते है और एक दूसरे को मार डालते है । घोडो, हाथियो, साडो, भैसो, वदरो या हिरण आदि पशुओ एव पक्षियो मे यह मनोवृत्ति पाई जाती है कि वे अपनी प्रेमिका मादा के साथ दूसरे नरपशु को वैठे या कामक्रीडा करते देखते हैं तो उसे सह नही सकते है । वे मौका देख कर अपने प्रतिद्वन्द्वी को मार डालते हैं । कई मनुष्य,वदर या पक्षी अपनी प्रेमिका के साथ किसी नर-पशु या पक्षी को देखते ही परस्पर लडने लगते हैं । अच्छे से अच्छे गाढ या जिगरी दोस्त भी जव अपने दोस्त को परस्त्रीगमन करते देखते है, तो वे मित्रता छोड देते है, परस्पर शत्रुता धारण कर लेते है ।

समये, धम्मे, गणे य भिंदति पारदारो'—परस्त्रीगामी मनुष्य का कोई धर्मकर्म नही होता । वह अभक्ष्य चीजो को भक्षण करने या अपेयवस्तुओ को पीने के लिए तैयार हो जाता है, अपने समाज को भी तिलाजलि दे वैठता है । वह समाज की मर्यादाओ को भी तोड देता है । समान आचारविचारो का जनसमूह गण कहलाता है । वह गण आसानी से धर्ममर्यादाओ के पालन करने के लिए जिन आचारविचारो या धर्मों—नियमो, व्रतो की मर्यादा वाधता है, उसे भी परदारसेवी वेखटके तोड डालता है । वह सिद्धान्तो को ताक मे रख देता है, अपने स्वीकृत शपथो को भी भग कर देता है । उसका कोई भरोसा नही करता ।

आशय यह है कि जो पहले सिद्धान्तवादी था, जिसकी बात को लोग पत्थर की लकीर मानते थे, वह परस्त्री के चक्कर मे जब पड जाता है तो सिद्धान्त आदि से भ्रष्ट हो जाता है। कहा भी है—

'धर्मं शील कुलाचार शौर्यं स्नेह च मानव'।
तावदेव ह्यपेक्ष्यन्ते यावन्न स्त्रीवशो भवेत् ॥'

अर्थात्—'मनुष्य तब तक ही धर्म, शील, कुलाचार, शौर्य, जाति, कुल और स्नेह की अपेक्षा करता है, जब तक वह किसी स्त्री के प्रेम मे नही पड जाता।' बहुधा किसी सुन्दरी के मोह मे पडने वाले धर्म, सदाचार, कुल की नीति-रीति, सिद्धान्त, स्नेह, जाति और समाज के साथ सम्बन्ध आदि सबको एक झटके मे तोड फैंकते है। ऐसे लोग अपने उस ऐब या दोष को क्रान्ति के नाम से छिपाते है, समाज मे क्रान्तिकारी के नाम से वे अपने को प्रसिद्ध करने का प्रयत्न करते है। वास्तव मे, ऐसा कामुक व्यक्ति खुद तो बिगडता है ही, अपने परिवार को भी बिगाडता है, समाज मे भी गलत सस्कारो का चेप छोड जाता है।

'धम्मगुणरया य बभचारी खणेण उल्लोट्ठए चरित्ताओ'—बडे-बडे तपस्वी, धर्मात्मा, गुणवान और ब्रह्मचारी भी स्त्री के सम्पर्क, आसक्तिमय ससर्ग और जाल मे फँस कर अपने सुन्दर चरित्र से भ्रष्ट या पतित हो जाते है। सामान्य मनुष्यो की तो बात ही क्या ? कहा भी है—

'श्लथसद्भावना - धर्म, स्त्रीविलासशिलीमुखै।
मुनिर्योद्धा हतोऽधस्तान्निपतेच्छीलकुजरात् ॥'

अर्थात्—'कर्मशत्रुओ के साथ युद्ध करने वाला धर्मयोद्धा मुनिवर भी स्त्रियो के हावभाव और लीलारूपी बाणो से घायल होकर श्रेष्ठ भावनारूप अपने धर्म से शिथिल हो जाता है और ब्रह्मचर्यरूपी हाथी से नीचे गिर जाता है।' वास्तव मे स्त्री ससर्ग ही मोहवृद्धि का कारण होता है और उससे कामवासना अकुरित होती है, जो अत्यधिक आसक्ति से फलती-फूलती है। रथनेमि जैसे त्यागी साधु भी एकान्त मे सती राजीमती का रूप-लावण्य देख कर अपने सयम से चलायमान हो गए थे, मुनिश्रेष्ठ स्थूलभद्र के गुरुभ्राता कोशावेश्या पर मोहित होकर अपने सयम से पतित होने को उद्यत हो गए थे। जब इतने महान् सयमी भी स्त्री के जरा-से सम्पर्क से डोल गए, और अपने धर्म को तिलाजलि देने के लिए तैयार हो गए, तब भला, सामान्य व्यक्तियो का तो कहना ही क्या ?

'जसमतो पावेंति अयसकित्ति, रोगत्ता वाहिया पवड्ढिति रोयवाही'—बडे-बडे यशस्वी व्यक्ति, जिनकी दूर-दूर तक कीर्ति फैली हुई होती है, जो उत्तम व्रतधारी

है,वे भी स्त्री के प्रेमपाश मे पड कर घोर अपयश, बदनामी और अपकीर्ति की कालिख अपने मुँह पर पोत लेते है। कहा भी है—

'अपकीर्तिकारण योषित् योषिद् वैरस्य कारणम्।
ससारकारण योषित्, योषित वर्जयेन्नर. ॥'

अर्थात्—स्त्री अपकीर्ति का कारण है, वैर का कारण है, इसी तरह नारी ससारवृद्धि का कारण भी है, अत मनुष्य को स्त्री ससर्ग से दूर रहना चाहिए।

ससार मे उत्तम कार्यो के करने से मनुष्य की कीर्ति, प्रतिष्ठा और इज्जत वढती है। ऐसा मनुष्य प्रशसापात्र, सम्माननीय और सर्वमान्य वनता है, परन्तु जव मनुष्य कामवासना मे अन्धा होकर किसी स्त्री के जाल मे फँस जाता है तो वह लोगो की दृष्टि मे गिर जाता है। लोग उसे नफरत की निगाहो से देखने लगते है। उसकी कोई प्रतिष्ठा या प्रशसा नही करता।

इसके अतिरिक्त स्त्री ससर्ग, जब कामभोग की तीव्र अभिलापा से किया जाता है, तो उस व्यक्ति का शरीर अनेक वीमारियो और व्याधियो का घर वन जाता है। रोगी और व्याधिग्रस्त व्यक्ति स्त्रीसहवास करेगा तो उसकी वीमारी और व्याधि अवश्य ही वढेगी। जिसका नतीजा यह होगा कि वह असमय मे ही बूढा, अशक्त और जीर्ण होकर मौत का मेहमान वन जायगा। कहा भी है—

'सद्यो बुद्धिहरा तुडी, सद्यो बुद्धिकरा वचा।
सद्य. शक्तिहरा नारी, सद्य शक्तिकर पयः ॥'

अर्थात्—'तुडी या कुदरू का फल शीघ्र बुद्धि का ह्रास करता है। वचसे वुद्धि प्रखर होती है। इसका नियमितरूप से सेवन करने पर बुद्धि तीक्ष्ण होती है। स्त्री तत्काल शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनो शक्तियो का हरण कर लेती है और दूध पीने से तत्काल शक्ति आती है।'

मतलव यह है कि स्त्री के प्रति कामवामना जागते ही या उससे ससर्ग करते ही वह मन और तन दोनो को कमजोर वना देती है। और आत्मा तो इन दोनो के क्षीण होते ही निर्वल बन जाती है।

एक अन्य नीतिकार ने तो यहा तक कह दिया है—

'दर्शनाद् हरते चित्त, स्पर्शनाद् हरते बलम्।
चिन्तनाद् हरते बुद्धि, स्त्री प्रत्यक्षराक्षसी ॥'

'स्त्री का दर्शन ही चित्त का हरण कर लेता है, उसका स्पर्श वल को नष्ट कर देता है, स्त्री के चिन्तन से वुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। इसलिए स्त्री वास्तव मे प्रत्यक्ष राक्षसी है।'

स्त्री का दर्शन और स्पर्शन तो दूर रहा, उसका मन मे चिन्तन भी मनुष्य का सत्त्व चूस लेता है। उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति तो चिन्तन मात्र से क्षीण हो जाती है।

किसी नीतिकार ने कहा है—

> 'व्रण-श्वयथुरायासात् स च रोगश्च जागरात्।
> तौ च रक्तौ दिवा स्वापात् ते च मृत्युश्च मैथुनात्॥'

अर्थात्—परिश्रम करने से घावो पर सूजन आ जाती है और जागने से रोग उत्पन्न होता है, तथा दिन मे सोने से रोग और वीर्यपात होता है, परन्तु मैथुन (स्त्री-सहवास) से तो रोग, वीर्यपात और मृत्यु तीनो ही हो जाते हैं।

अत स्त्रीससर्ग अपकीर्ति, रोग, शोक, दु ख-दरिद्रता और दौर्बल्य बढाने वाला है, इसमे कोई सदेह नही।

'दुवे य लोया दुआराहगा भवति परस्स दाराओ जे अविरता'—इसके अतिरिक्त जो न तो पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करके साधुधर्म निभाते है और न ही मर्यादित ब्रह्मचर्यपालन (स्वस्त्री-सतोष) करके गृहस्थधर्म की मर्यादाएँ ही निभापाते हैं, किन्तु सुन्दर परस्त्रियो की मन मे अभिलाषा करते है, उन्हे ताकते रहते है, उनके लिए मन मे झूरते रहते है, वे न तो इस लोक को साध सकते हैं, न परलोक को। वे दोनो ही लोको को बिगाड डालते है। इसलिए वे उभयलोक विराधक होते है। कहा भी है—

> 'परदाराऽनिवृत्तानामिहाऽकीर्तिर्विडम्बना।
> परत्र दुर्गतिप्राप्तिर्दौर्भाग्य षण्ढता तथा॥'

अर्थात्—पराई स्त्रियो के सेवन का त्याग जिन्होने नही किया है, इस लोक मे तो उनकी अपकीर्ति (बदनामी) और विडम्बना (मारपीट, कैद, हत्या अपमान आदि) होती ही है, परलोक मे भी उन्हे नरक-तिर्यञ्चगति (दुर्गति) मिलती है, मनुष्यजन्म मिलने पर भी वे भाग्यहीनता (अभागापन) और नपु सकता प्राप्त करते है।

मतलब यह है कि परस्त्रीगामी दोनो लोको को खो देता है।

'तहेव केइ परस्स दार गवेसमाणा गहिया विपुलमोहाभिभूयसन्ना'—जिस मनुष्य को अपनी विवाहिता पत्नी को छोडकर पराई स्त्रियो को खोजने की चाट लग जाती है, परस्त्रियो को अपने चगुल मे फसाने की धुन सवार हो जाती है, वे अपनी आदत से लाचार हो कर एकदिन अपनी बुरी लालसा को पूरी करने के लिए दु साहस कर बैठते है, लेकिन आखिरकार एकदिन वे रगे हाथो पकडे जाते

जाते है, मारे-पीटे जाते है, जेल मे बद कर दिये जाते है, अनेक प्रकार की यातनाएँ पाते हैं, साक्षात् नरक-की-सी असह्य पीडा उन्हे यहाँ और परलोक मे मिलती हैं। आगे चलकर उन्हे परलोक मे भी भयकर सजाएँ मिलती है।

'मेहुणमूल च सुव्वए तत्थ सगामा जणक्खयकरा'—वास्तव मे ससार मे जितने भी जनसहारक सग्राम लडे जाते हैं, उनमे एक निमित्त कारण स्त्री भी है। परस्त्रीगामी इतना भयकर पापात्मा है कि कृत पाप का कुफल तो उसे मिलता ही है, किन्तु उसके निमित्त से अन्य प्राणियो को भी उनका कटुफल अनुभव करना पडता है। विभिन्न धर्मशास्त्रो मे जगह-जगह ऐसी वाते देखने-सुनने मे आई है कि इस परस्त्रीसेवन के निमित्त से असख्य निरपराध जनसमूह का निर्मम सहार करने वाले युद्ध हुए हैं। जिस देश, गाँव या नगर मे परस्त्रीलपट निवास करता है, उस गाँव, नगर या देश का सहार हुआ है। फिर इस पापकर्मरूपी दावानल की चिनगारियाँ दूर-दूर तक उछलती है और उन देशो को भस्मसात् कर डालती है। इसलिए मैथुन-सेवन की जड परस्त्री को माना गया है, परस्त्री को लेकर ही तलवारे चली हैं, वैर-विरोध वढे हैं और निर्दोप मनुष्यो के सहारक सैकडो युद्ध हुए है। इसीलिए एक आचार्य ने कहा है—

'सतापफलयु नृणा प्रेमवतामपि।
वद्धमूलस्य मूल हि महद्वैरतरो. स्त्रिय.॥'

अर्थात्—प्रेमभाव से रहने वाले मनुष्यो मे महान् भयकर वैररूपी वृक्ष का जिस पर सतापरूपी फल लगते है और जो वडी मजवूत-जड जमाए हुए है, मूल स्त्रियाँ ही है।

ससार मे स्त्रियो के लिए वडे-वडे झगडे हुए हैं, जिनमे कामलोलुप लोगो ने तो पतगो की तरह कूद कर अपनी जाने दी है, लेकिन लाखो निर्दोप मनुष्य यो ही मारे गए है। इसलिए स्त्री को झगडे की जड कहा है। जैसे कमठ के जीव ने पार्श्वनाथ (तीर्थंकर) की आत्मा के साथ स्त्री के निमित्त से ही भयकर वैर विरोध किया, जो अनेक भवो तक चला।

स्त्री के निमित्त हुए स ग्राम के विभिन्न उदाहरण—

(१) **सीता के निमित्त युद्ध**—मिथिला नगरी के राजा जनक थे। उनकी रानी का नाम विदेहा था। उनके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम भामडल और पुत्री का नाम जानकी-सीता था। सीता अत्यन्त रूपवती और समस्त कलाओ मे पारगत थी। जव वह विवाह योग्य हुई तो राजा जनक ने स्वयवरमडप वनवाया और देश-विदेशो के राजाओ, राजकुमारो और विद्याधरो को स्वयवर के लिए आमन्त्रित किया। राजा जनक ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि जो स्वयवर-मडप मे स्थापित देवाधिष्ठित

धनुप की प्रत्यचा चढा देगा, उसी के गले मे सीता वरमाला डालेगी।' ठीक समय पर राजा, राजकुमार और विद्याधर आ पहुँचे। अयोध्यापति राजा दशरथ के पुत्र रघुकल-कमलदिवाकर रामचन्द्र भी अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ उस स्वयवर मे आए थे। महाराजा जनक ने सभी समागत राजाओ को सम्बोधित करते हुए कहा—'महानुभावो! आपने मेरे आमन्त्रण पर यहाँ पधारने का कष्ट किया है, इसके लिए धन्यवाद! मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो वीर इस धनुप को चढा देगा, उसी के गले मे सीता वरमाला डालेगी।" यह सुन कर सभी समागत राजा, राजकुमार और विद्याधर बहुत ही प्रसन्न हुए। सब को अपनी सफलता की आशा थी। सब विद्याधरो और राजाओ ने बारी-बारी से अपनी ताकत अजमाई, लेकिन धनुप किसी से भी टस से मस नही हुआ। राजा जनक ने निराश होकर खेदपूर्वक जब सभी क्षत्रियो को फटकारा कि क्या यह पृथ्वी वीरशून्य हो गई है! तभी लक्ष्मण के कहने पर रामचन्द्रजी उस धनुप को चढाने के लिए उठे। सभी राजा आदि आश्चर्यचकित थे। रामचन्द्रजी ने धनुप के पास पहुच कर पचपरमेष्ठी का ध्यान किया। धनुप का अधिष्ठायक देव उसके प्रभाव से शान्त हो गया। तभी श्रीरामचन्द्रजी ने सबके देखते ही देखते क्षणभर मे धनुप को उठा लिया और झट से उस पर बाण चढा दिया। सभी ने जयनाद किया। सीता ने श्रीरामचन्द्रजी के गले मे वरमाला डाल दी। वही विधिपूर्वक दोनो का पाणिग्रहण हो गया। विवाह के बाद श्रीरामचन्द्रजी सीता को ले कर अपने अन्य परिवार के साथ अयोध्या आए। सारी अयोध्या मे खुशियाँ मनाई गई। अनेक मगलाचार हुए। इस तरह कुछ समय आनन्दोल्लास मे व्यतीत हुआ।

एक दिन राजा दशरथ के मन मे इच्छा हुई कि रामचन्द्र को राज्याभिषिक्त करके मैं अब त्यागी मुनि बन जाऊँ। परन्तु होनहार बलवान है। जब रामचन्द्रजी की विमाता कैकयी ने यह सुना तो उसने सोचा कि राजा अगर दीक्षा लेगे तो मेरा पुत्र भरत भी साथ ही दीक्षा ले लेगा। अत भरत को दीक्षा लेने से रोकने के लिए उसने राजा दशरथ को युद्ध मे अपने द्वारा की हुई सहायता के फलस्वरूप प्राप्त और सुरक्षित रखे हुए वर को इस समय मागना उचित समझा। महारानी कैकयी ने राजा दशरथ से अपने पुत्र भरत को राज्याभिपेक देने का वर माँगा। महाराजा दथरथ को अपनी प्रतिज्ञानुसार यह वरदान स्वीकार करना पडा। फलत श्रीरामचन्द्रजी ने अपने पिता की प्रतिज्ञा का पालन करने और भरत को राज्य का अधिकारी बनाने के लिए सीता और लक्ष्मण के साथ वनगमन किया। वन मे भ्रमण करते हुए वे दण्डकारण्य पहुचे और वहाँ पर्णकुटी बना कर रहने लगे।

एक दिन लक्ष्मणजी घूमते-घूमते उस वन के एक ऐसे प्रदेश मे पहुँचे, जहा

खरदूषण का पुत्र शम्बुक बासो के बीहड मे एक वृक्ष से पैर बाधकर औंधे लटकते हुए चन्द्रहासखड्ग की एक विद्या सिद्ध कर रहा था। परन्तु उसकी विद्या सिद्ध न हो सकी। एक दिन लक्ष्मण ने आकाश मे अधर लटकते हुए चमचमाते चन्द्रहासखड्ग को कुतूहलवश हाथ मे उठा लिया और उसका चमत्कार देखने की इच्छा से उसे बासो के बीहड पर चला दिया। सयोगवश खरदूषण और चन्द्रनखा के पुत्र तथा रावण के भानजे शम्बुककुमार पर वह तलवार जा लगी। बासो के साथ-साथ उसका भी सिर कट गया। जब लक्ष्मणजी को यह पता लगा तो उन्हे बडा पश्चात्ताप हुआ। उन्होने रामचन्द्रजी के पास जा कर सारा वृत्तान्त सुनाया। उन्हे भी बडा पश्चात्ताप हुआ। वे समझ गए कि लक्ष्मण ने एक बहुत बडी विपत्ति को बुला लिया है। जब शम्बुककुमार के मार डाले जाने का समाचार उसकी माता चन्द्रनखा को मालूम हुआ तो वह क्रोध मे आगबबूला हो उठी और पुत्रघातक से बदला लेने के लिए उस पर्णकुटी पर आ पहुची, जहा राम-लक्ष्मण बैठे हुए थे। वह आई तो थी बदला लेने, परन्तु वहां वह श्रीराम-लक्ष्मण के दिव्यरूप को देखकर उन पर मोहित हो गई। उसने विद्या के प्रभाव से षोडशी सुन्दर युवती का रूप बना लिया और कामज्वर से पीडित हो कर एक बार राम से तो दूसरी बार लक्ष्मण से कामाग्नि शान्त करने की प्रार्थना की। मगर स्वदारसतोषी परस्त्रीत्यागी राम-लक्ष्मण ने उसकी यह जघन्य प्रार्थना ठुकरा दी। पुत्र के वध करने और अपनी अनुचित प्रार्थना को ठुकरा देने के कारण चन्द्रनखा का रोष दुगुना भभक उठा। वह सीधी अपने पति खरदूषण के पास आई और पुत्रवध का सारा हाल कह सुनाया। सुनते ही खरदूषण अपनी कोपज्वाला से दग्ध हो कर वैर का बदला लेने हेतु सदलबल दडकारण्य मे पहुचा। जब राम-लक्ष्मण को यह पता लगा कि खरदूषण लडने के लिए आया है तो श्रीलक्ष्मणजी उसका सामना करने पहुचे। दोनो मे युद्ध छिड गया। उधर लकाधीश रावण को जब अपने भानजे के वध का समाचार मिला तो वह भी लकापुरी से आकाश-मार्ग द्वारा दण्डकवन मे पहुचा। आकाश से ही वह टकटकी लगा कर बहुत देर तक सीता को देखता रहा। सीता को देख कर रावण का अन्त करण कामबाण से व्यथित हो गया। उसकी विवेकबुद्धि और धर्मसज्ञा लुप्त हो गई। अपने उज्ज्वल कुल के कलकित होने की परवाह न करके दुर्गतिगमन का भय छोड कर उसने किसी भी तरह से सीता का हरण करने की ठान ली। सन्निपात के रोगी के समान कामोन्मत्त रावण सीता को प्राप्त करने के उपाय सोचने लगा। उसे एक उपाय सूझा। उसने अपनी विद्या के प्रभाव से जहा लक्ष्मण सग्राम कर रहा था, उस ओर जोर से सिहनाद की ध्वनि की। श्रीराम यह सिहनाद सुन कर चिन्ता मे पडे कि लक्ष्मण भारी विपत्ति में फसा है, अत उसने मुझे बुलाने को यह पूर्वसकेतित सिहनाद किया है। इसलिए वे सीता को अकेली छोड कर तुरन्त लक्ष्मण की सहायता के लिये चल पडे।

परस्त्रीलपट दुष्ट रावण इस अवसर की प्रतीक्षा मे था ही। उसने मायावी साधु का वेप वनाया और दान लेने के वहाने अकेली सीता के पास पहुचा। ज्यो ही सीता वाहर आई, त्यो ही जवरन उसका अपहरण करके अपने विमान मे विठा लिया और आकाशमार्ग से लका की ओर चल दिया। सीता का विलाप और रुदन सुन कर रास्ते मे जटायु पक्षी ने विमान को रोकने का भरसक प्रयत्न किया, लेकिन उसके पख काट कर उसे नीचे गिरा दिया और सीता को लेकर झटपट लका पहुचा। वहाँ उसे अशोक-वाटिका मे रखा। रावण ने सीता को अनेक प्रलोभन और भय वता कर अपने अनु-कूल वनाने की भरसक चेष्टाएँ की, लेकिन सीता किसी भी तरह से उसके वश मे न हुई। आखिर उसने विद्याप्रभाव से श्रीराम का कटा हुआ सिर भी वताया और कहा कि अव रामचन्द्र तो इस ससार मे नही रहा तू व्यर्थ ही किसका शोक कर रही है ? अव तो मुझे स्वीकार कर ले। इत्यादि नाना उपायो से सीता को मनाने का प्रयत्न किया, लेकिन सीता ने उसकी एक न मानी। उसने श्रीराम के सिवाय अपने मन मे और किसी पुरुप को स्थान न दिया। रावण को भी उसने अनुकूल-प्रतिकूल अनेक वचनो से उस अधर्मकृत्य से हटने के लिए समझाया, पर वह अपने हठ पर अडा रहा।

उधर श्रीराम लक्ष्मण के पास पहुचे तो लक्ष्मण ने पूछा-'भाई ! आप माता सीता को पर्णकुटी मे अकेली छोड कर यहा कैसे आ गए ?' श्रीराम ने सिंहनाद को मायाजाल समझा और तत्काल अपनी पर्णकुटी मे वापस लौटे। वहा देखा तो सीता गायव ! सीता को न पा कर श्रीराम उसके वियोग से व्याकुल हो कर मूर्च्छित हो गए, भूमि पर गिर पडे। इतने मे लक्ष्मण भी युद्ध मे विजय पा कर वापिस लौटे तो अपने वडे भैया की यह दशा और सीता का अपहरण जान कर अत्यन्त दु खित हुए। लक्ष्मण के द्वारा शीतोपचार से राम होश मे आये। फिर दोनो भाई वहा से सीता की खोज मे चल पडे। मार्ग मे उन्हे ऋष्यमूक पर्वत पर वानरवशी राजा सुग्रीव और हनुमान आदि विद्याधर मिले। उनसे पता लगा कि 'इसी रास्ते से आकाशमार्ग से विमान द्वारा रावण सीता को हरण करके ले गया है।' उसके मुख से 'हा राम !' शव्द सुनाई दे रहा था, इसलिए मालूम होता है, वह सीता ही होगी।' अत दोनो भाई निश्चय करके सुग्रीव, हनुमान आदि वानरवशी तथा सीता के भाई भामटल आदि विद्याधरो की सहायता से सेना ले कर लका पहुचे। युद्ध से व्यर्थ मे जनसहार न हो, इसलिए पहले श्रीराम ने रावण के पास दूत भेज कर कहलाया कि सीता को हमे आदर पूवक सौप दो और अपने अपराध के लिए क्षमा याचना करो तो हम विना सग्राम किये वापिस लौट जाएँगे। लेकिन रावण की मृत्यु निकट थी। उसे विभीपण, मन्दोदरी आदि हितैपियो ने भी वहुत समझाया, किन्तु उसने किसी

की एक न मानी। आखिर युद्ध की दुदुभि वजी। राम और रावण की सेना मे परस्पर घोर सग्राम हुआ। दोनो ओर के अगणित मनुष्य मौत के मेहमान बने। अधर्मी रावण के पक्ष के वडे-वडे योद्धा रण मे खेत रहे। आखिर रावण रणक्षेत्र मे आया। रावण तीन खण्ड का अधिनायक प्रतिनारायण था। उससे युद्ध करने की शक्ति राम और लक्ष्मण के सिवाय किसी मे न थी। यद्यपि हनुमान आदि अजेय योद्धा राम की सेना मे थे, तथापि रावण के सामने टिकने की और विजय पाने की ताकत नारायण के अतिरिक्त दूसरे मे नही थी। अत रावण के सामने जो भी योद्धा आए उन सवको वह परास्त करता रहा, उनमे से कई तो रणचडी की भेंट भी चढ गए। रामचन्द्रजी की सेना मे हाहाकार मच गया। राम ने लक्ष्मण को ही समर्थ जान कर रावण से युद्ध करने का आदेश दिया। दोनो ओर से शस्त्रप्रहार होने लगे। लक्ष्मण ने रावण के चलाए हुए सभी शस्त्रो को निष्फल करके उन्हे भूमि पर गिरा दिया। अन्त मे, क्रोधवश रावण ने अन्तिम अस्त्र के रूप मे अपना चक्र लक्ष्मण पर चलाया, लेकिन वह लक्ष्मण की तीन प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण के ही दाहिने हाथ मे जा कर ठहर गया। रावण हताश हो गया।

अन्तत लक्ष्मणजी ने वह चक्र सभाला और ज्यो ही उसे घुमा कर रावण पर चलाया, त्यों हो रावण का सिर कट कर भूमि पर आ गिरा। रावण यम-लोक का अतिथि वना।

रावण की मृत्यु के वाद श्रीराम ने उसके धर्मप्रिय भाई विभीषण को लका का राज्य सौपा। चिरकाल से वियोग के कारण दु खित सीता श्रीराम को और श्रीराम सीता को पा कर हर्षविभोर हो गए। आनन्दोत्सव-पूर्वक उन्होने अयोध्या मे प्रवेश किया और सहर्ष राज्य करने लगे।

यद्यपि सीता के निमित्त रामचन्द्रजी ने रावण से युद्ध छेडा था, तथापि रामचन्द्रजी का पक्ष न्याय और धर्म से युक्त था, रावण का पक्ष अन्याय-अनीति और अधर्म से पूर्ण था। इसलिए महासती सीता के लिए जो युद्ध हुआ, वह रावण की मदान्धता और कामान्धता के ही कारण हुआ।

(२) **द्रौपदी के लिए हुआ सग्राम**—कापिल्यपुर मे द्रुपद नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम चुलनी था। उनके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न था, और पुत्री का नाम था—द्रौपदी। विवाहयोग्य होने पर राजा द्रुपद ने उसके योग्य वर चुनने के लिए स्वयवरमण्डप की रचना करवाई तथा सभी देशों के राजा-महाराजाओ को स्वयवर के लिए आमन्त्रित किया। हस्तिनागपुर के राजा पाण्डु के पाचो पुत्र युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव भी उस स्वयवर-मडप मे पहुचे। मडप मे उपस्थित सभी राजाओ और राजपुत्रो को

सम्बोधित करते हुए द्रुपदराजा ने प्रतिज्ञा की घोषणा कि "यह जो सामने वेध यत्र लगाया गया है, उसके द्वारा तीव्रगति से घूमती हुई ऊपर मे यत्रस्थ मछली का प्रतिबिम्ब नीचे रखी हुई कडाही के तेल मे भी घूम रहा है। जो वीर नीचे प्रतिबिम्ब को देखते हुए धनुष से उस मछली का (लक्ष्य का) वेध कर देगा, उसी के गले मे द्रौपदी वरमाला डालेगी।" यह सुनते ही वहा उपस्थित सभी राजाओ ने अपना-अपना हस्तकौशल दिखाया, लेकिन कोई भी मत्स्यवेध करने मे सफल न हो सका। अन्त मे, पाडवो का नवर आया। अपने वडे भाई युधिष्ठिर की आज्ञा मिलने पर धनुर्विद्याविशारद अर्जुन ने अपना गाडीव धनुष उठाया और तत्काल लक्ष्यवेध कर दिया। अपने कार्य मे सफल होते ही अर्जुन के जयनाद से सभामडप गूज उठा। राजा द्रुपद ने भी अत्यन्त हर्षित होकर द्रौपदी को अर्जुन के गले मे वरमाला डालने की आज्ञा दी। द्रौपदी अपनी दासी के साथ मडप मे उपस्थित थी। वह अर्जुन के गले मे ही माला डालने जा रही थी, किन्तु पूर्वकृतनिदान के प्रभाव से दैवयोगात् वह माला पाँचो भाइयो के गले मे जा पडी। इस प्रकार पूर्वकृतकर्मानुसार द्रौपदी के युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि पाच पति कहलाए।

एक समय पाण्डु राजा राजसभा मे सिंहासन पर बैठे थे। उनके पास ही कुन्ती महारानी बैठी थी और युधिष्ठिर आदि पाचो भाई भी बैठे हुए थे। द्रौपदी भी वही थी। तभी आकाश से उतर कर देवर्षि नारद सभा मे आए। राजा आदि ने तुरत खडे होकर नारद-ऋषि का आदर-सम्मान किया। लेकिन द्रौपदी किसी कारण-वश उनका उचित सम्मान न कर सकी। इस पर नारदजी का पारा गर्म हो गया। उन्होने द्रौपदी द्वारा किए हुए इस अपमान का बदला लेने की ठान ली। उन्होने सोचा—'द्रौपदी को अपने रूप पर वडा गर्व है। इसके इस गर्व को चूर-चूर न कर दिखाऊँ तो मेरा नाम नारद ही क्या?' वे इस दृढसकल्पानुसार मन ही मन द्रौपदी को नीचा दिखाने की योजना वना कर वहाँ से चल दिए। देश-देशान्तर घूमते हुए नारदजी धातकीखड के दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र की राजधानी अमरकका[1] नगरी मे पहुचे। वहा के राजा पद्मनाभ ने नारदजी को अपनी राजसभा मे आये देख उनका वहुत आदर-सत्कार किया। कुशलक्षेम पूछने के वाद राजा ने नारदजी से पूछा—"ऋषिवर! आप की सर्वत्र अवाधित गति है। आपको किसी भी जगह जाने की रोक-टोक नही है। इसलिए यह वताइए कि 'सुन्दरियो से भरे मेरे अन्त पुर (रनवास) जैसा

---

१ अपरकका नाम भी है।

—सपादक

और कही कोई सुन्दर अन्त पुर आपने देखा है ?" यह सुनकर नारदजी हस पडे और वोले—"राजन् ! तू अपनी नारियो के सौन्दर्य का वृथा गर्व करता है। तेरे अन्त पुर मे द्रौपदी-सरीखी कोई सुन्दरी नही है। सच कहू तो, द्रौपदी के पैर के अगूठे की वरावरी भी वे नही कर सकती।" यह वात सुनते ही विपयविलासानुरागी राजा पद्मनाभ के चित्त मे द्रौपदी के प्रति अनुराग का अकुर पैदा हो गया। उसे द्रौपदी के विना एक क्षण भी वर्पो के समान सतापकारी मालूम होने लगा। उसने तत्क्षण पूर्व-सगतिक देवता की आराधना की। स्मरण करते ही देव उपस्थित हुआ। राजा ने अपना मनोरथ पूर्ण कर देने की वात उससे कही। अपने महल मे सोई हुई द्रौपदी को देव ने शय्या-सहित उठा कर पद्मनाभ नृप के क्रीडोद्यान मे ला रखा। जागते ही द्रौपदी अपने को अपरिचित प्रदेश मे पा कर एकदम घवरा उठी। वह मन ही मन पचपरमेष्ठी का स्मरण करने लगी। इतने मे राजा पद्मनाभ ने आ कर उससे प्रेमयाचना की, अपने वैभव एव सुखसुविधाओ आदि का भी प्रलोभन दिया। नीतिकुशल द्रौपदी ने सोचा—'इस समय यह पापात्मा कामान्ध हो रहा है। अगर मैंने साफ इन्कार कर दिया तो विवेकशून्य होने से शायद यह जवर्दस्ती मेरा शीलभग करने को उद्यत हो जाय ! अत फिलहाल अच्छा यही है कि इसे भी वुरा न लगे और मेरा शील भी सुरक्षित रहे।' ऐसा सोच कर द्रौपदी ने पद्मनाभ से कहा—'राजन् ! आप मुझे ६ महीने की अवधि इस पर सोचने के लिए दीजिए। उसके वाद आपकी जैसी इच्छा हो, करना।' उसने भी वात मजूर कर ली। इसके वाद द्रौपदी अनशन आदि तपश्चर्या करती हुई सदा पचपरमेष्ठी के ध्यान मे लीन रहने लगी।

पाडवो की माता कुन्ती द्रौपदीहरण के समाचार ले कर हस्तिनागपुर से द्वारिका पहुची और श्रीकृष्ण से द्रौपदी का पाता लगाने और लाने का आग्रह किया। इसी समय कलहप्रिय नारदऋपि भी वहाँ आ धमके। श्रीकृष्णजी ने उनसे पूछा—"मुने ! आपकी सर्वत्र अवाधित गति है। ढाई द्वीप मे ऐसा कोई स्थान नही है, जहाँ आपका गमन न होता हो। अत आपने कही द्रौपदी को देखा हो तो कृपया वतलाइए।" नारदजी वोले—"जनार्दन ! धातकीखण्ड मे अमरकका नाम की राजधानी है। वहाँ के राजा पद्मनाभ के क्रीडोद्यान के महल मे मैंने द्रौपदी जैसी एक स्त्री को देखा तो है।" नारदजी से द्रौपदी का पता मालूम होते ही श्रीकृष्णजी पाचो पाडवो को साथ ले कर अमरकका की ओर रवाना हुए। रास्ते मे लवणसमुद्र उनका मार्ग रोके हुए था, जिसको पार करना उनके वूते की वात नही थी। तव श्रीकृष्णजी ने तेला (तीन उपवास) धारण करके लवणसमुद्र के अधिष्ठायक देव की आराधना की। देव प्रसन्न हो कर श्रीकृष्णजी के सामने उपस्थित हुआ। श्रीकृष्णजी के कथनानुसार समुद्र ने उन्हे रास्ता दे दिया।

फलत श्री कृष्णजी पाचो पाडवो को साथ लिये हुए राजधानी अमरकका नगरी मे पहुचे और एक उद्यान मे ठहर कर अपने सारथी के द्वारा पद्मनाभ को सूचित कराया। पद्मनाभ अपनी सेना ले कर युद्ध के लिए आ डटा। दोनो ओर से युद्धप्रारम्भ होने की दुदुभि वजी। वहुत देर तक दोनो मे जम कर भयकर युद्ध हुआ। पद्मनाभ ने जव पाडवो को परास्त कर दिया, तव श्री कृष्ण स्वय युद्ध के मैदान मे आ डटे और उन्होने अपना पाचजन्यशख वजाया। पाचजन्य का भीपण नाद सुनते ही पद्मनाभ की तिहाई सेना तो भाग खडी हुई, एक तिहाई सेना को उन्होने सारग-गाडीव धनुप की प्रत्यचा की टकार से मूर्च्छित कर दिया। शेप बची हुई तिहाई सेना और पद्मनाभ अपने प्राणो को वचाने के लिए दुर्ग मे जा घुसे। श्रीकृष्ण ने नरसिंह का रूप वनाया और नगरी के द्वार, कोट और अटारियो को अपने पजे की मार से भूमिसात् कर दिया। वडे-वडे विशालभवनो और प्रासादो के शिखर गिरा दिये। सारी राजधानी (नगरी) मे हाहाकार मच गया। पद्नाभराजा भय से कापने लगा और श्रीकृष्ण के चरणो मे आ गिरा तथा आदरपूर्वक द्रौपदी को उन्हे सौप दिया। श्रीकृष्णजी ने उसे क्षमा किया और अभयदान दिया।

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण द्रौपदी और पाचो पाडवो को ले कर जयध्वनि एव आनन्दोल्लास के साथ द्वारिका पहुचे।

इस प्रकार राजा पद्नाभ की कामवासना—मैथुनसज्ञा के कारण महाभारत-काल मे द्रौपदी के लिए भयकर सग्राम हुआ।

(३) **रुक्मिणी के लिए हुआ युद्ध**—कुडिनपुर नगरी के राजा भीष्म के दो सतान थी—एक पुत्र और एक पुत्री। पुत्र का नाम रुक्मी था और पुत्री का नाम था—रुक्मिणी।

एक दिन घूमते-घामते नारदजी द्वारिका पहुंचे और श्रीकृष्ण की राजसभा मे प्रविष्ट हुए। उनके आते ही श्रीकृष्ण अपने आसन से उठ कर नारदजी के सम्मुख गए और प्रणाम करके उन्हे विनयपूर्वक आसन पर विठाया। नारदजी ने कुशलमगल पूछ कर श्रीकृष्ण के अन्त पुर मे गमन किया। वहाँ सत्यभामा अपने गृहकार्य मे व्यस्त थी। अत वह नारदजी की आवभगत भलीभाति न कर सकी। नारदजी ने इसे अपना अपमान समझा और गुस्से मे आ कर प्रतिज्ञा की—"इस सत्यभामा पर सौत ला कर यदि मे इसे अपने अपमान का फल न चखा दूँ तो मेरा नाम नारद ही क्या।" तत्काल वे वहाँ से रवाना हुए और कुडिनपुर के राजा भीष्म की राजसभा मे पहुचे। राजा भीष्म और उनके पुत्र रुक्म ने उनको वहुत सम्मान दिया। फिर उन्होने हाथ जोड कर अपने आगमन का कारण पूछा। नारदजी ने कहा—"हम भगवद्—

भजन करते हुए भगवद्भक्तों के यहाँ घूमते-घामते पहुच जाते है।" इधर-उधर की बातें करने के पश्चात् नारदजी अन्तःपुर मे पहुचे। रानियों ने उनका सविनय सत्कार किया। रुक्मिणी ने भी उनके चरणों मे प्रणाम किया। नारदजी ने उसे आशीर्वाद दिया—"कृष्ण की पटरानी हो।" इस पर रुक्मिणी की बुआ ने साश्चर्य पूछा—"मुनिवर ! आपने इसे यह आशीर्वाद कैसे दिया ? और श्रीकृष्ण कौन है ? उनमे क्या-क्या गुण हैं ?" इस प्रकार पूछने पर नारदजी ने उनके सामने श्रीकृष्ण के वैभव और गुणो का वर्णन करके रुक्मिणी के मन मे कृष्ण के प्रति अनुराग पैदा कर दिया। नारदजी भी अपनी प्रतिज्ञा की सफलता की सम्भावना से हर्षित हो उठे। नारदजी ने वहाँ से चल कर पहाड की चोटी पर एकान्त मे बैठ कर एक पट पर रुक्मिणी का सुन्दर चित्र बनाया। उसे ले कर वे श्रीकृष्ण के पास पहुचे और उन्हे वह दिखाया। चित्र इतना सजीव था कि श्रीकृष्ण देखते ही भावविभोर हो गए और रुक्मिणी के प्रति उनका आकर्षण जाग उठा। वे पूछने लगे—"नारदजी ! यह तो बताइए, यह कोई देवी है, किन्नरी है ? या मानुषी है ? यदि यह मानुषी है तो वह पुरुष धन्य है, जिसे इसके करस्पर्श का अधिकार प्राप्त होगा। नारदजी मुसकरा कर बोले—"कृष्ण ! वह धन्य पुरुष तो तुम ही हो"। नारदजी ने सारी घटना आद्योपान्त कह सुनाई। तदनन्तर श्रीकृष्ण ने राजा भीष्म से रुक्मिणी के लिए याचना की। राजा भीष्म तो इससे सहमत हो गए। लेकिन रुक्मी इसके विपरीत था। उसने इन्कार कर दिया कि "मै तो शिशुपाल के लिए अपनी बहन को देने का सकल्प कर चुका हू।" रुक्मी ने श्रीकृष्ण के निवेदन पर कोई ध्यान नही दिया और माता-पिता की अनुमति की भी परवाह न की। उसने सबकी बात को ठुकरा कर शिशुपाल राजकुमार के साथ अपनी बहन रुक्मिणी के पाणिग्रहण का निश्चय कर लिया। शिशुपाल को वह बडा प्रतापी और तेजस्वी तथा भूमडल मे बेजोड बलवान मानता था। श्रीकृष्ण के बल, तेज और वैभव का उसे विशेष परिचय नही था। रुक्मी ने शिशुपाल के साथ अपनी बहन की शादी की तिथि निश्चित कर ली। शिशुपाल भी बडी भारी बारात ले कर सजधज के साथ विवाह के लिए कुडिनपुरी की ओर चल पडा। अपने नगर से निकलते ही उसे अमगलसूचक शकुन हुए, किन्तु शिशुपाल ने कोई परवाह न की और विवाह के लिए चल ही दिया। कुण्डिनपुर पहुँच कर नगर के बाहर वह एक उद्यान मे ठहरा। उधर रुक्मिणी नारदजी से आशीर्वाद प्राप्त कर और श्री कृष्ण के गुण सुन कर उनसे प्रभावित हो गई थी। फलत मन ही मन उन्हे पतिरूप मे स्वीकृत कर चुकी थी। वह यह सुन कर

अत्यन्त दु खी हुई कि भाई रुक्मी ने उसको व पिताजी की इच्छा के विरुद्ध हठ करके शिशुपाल को विवाह के लिए बुला लिया है और वह बरातसहित उद्यान मे आ भी पहुचा है। रुक्मिणी को उसकी बुआ बहुत प्यार करती थी। उसने रुक्मिणी को दु खित और सकटग्रस्त देख कर उसे आश्वासन दिया और श्रीकृष्णजी को एक पत्र लिखा—"जनार्दन ! रुक्मिणी के लिए इस समय तुम्हारे सिवाय कोई शरण नही है ! यह तुम्हारे प्रति अनुरक्त है और अहर्निश तुम्हारा ही ध्यान करती है। इसने यह सकल्प कर लिया है कि कृष्ण के सिवाय ससार के सभी पुरुष मेरे लिए पिता या भाई के समान है। अत तुम ही एकमात्र इसके प्राणनाथ हो ! यदि तुमने समय पर आने की कृपा न की तो रुक्मिणी को इस ससार मे नही पा ओगे और एक निरपराध अबला की हत्या का अपराध आपके सिर लगेगा। अत इस पत्र के मिलते ही प्रस्थान करके निश्चित समय से पहले ही रुक्मिणी को दर्शन दे।"

इस आशय का करुण एव जोशीला पत्र लिख कर बुआ ने एक शीघ्रगामी दूत द्वारा श्रीकृष्णजी के पास द्वारिका भेजा। दूत पवनवेग के समान शीघ्र द्वारिका पहुचा और वह पत्र श्रीकृष्ण के हाथ मे दिया। पत्र पढते ही श्री कृष्ण को हर्ष से रोमाच हो उठा और क्रोध से उनकी भुजाएँ फडक उठी। वे अपने आसन से उठे और अपने साथ बलदेव को ले कर शीघ्र कुण्डिनपुरी पहुँचे। वहाँ नगर के बाहर गुप्तरूप से एक बगीचे मे ठहरे। उन्होने अपने आने की एव स्थान की सूचना गुप्तचर द्वारा रुक्मिणी और उसकी बुआ को दे दी। वे दोनो इस सूचना को पा कर अतीव हर्षित हुई।

रुक्मिणी के विवाह मे कोई अडचन पैदा न हो, इसके लिए रुक्मी और शिशुपाल ने नगर के चारो ओर सभी दरवाजो पर कडा पहरा लगा दिया था। नगर के बाहर और भीतर सुरक्षा का भी पूरा प्रबन्ध कर रखा था। लेकिन होनहार कुछ और ही थी।

रुक्मिणी की बुआ इस पेचीदा समस्या को देख कर उलझन मे पड गई। आखिर उसे एक विचार सूझा। उसने श्रीकृष्णजी को उसी समय पत्र द्वारा सूचित किया—"हम रुक्मिणी को साथ ले कर कामदेव की पूजा के बहाने कामदेव के मन्दिर मे आ रही हैं। और यही उपयुक्त अवसर है—रुक्मिणी के हरण का। इसलिए आप इसी स्थान पर सुसज्जित रहे।"

पत्र पाते ही श्रीकृष्ण ने तदनुसार सब तैयारी कर ली। विवाह के मगलकार्य सम्पन्न हो रहे थे। उसी समय नगर मे घोषणा करवाई गई कि 'आज रुक्मिणी अपनी सखियो के साथ वर की शुभकामना के लिए कामदेव की पूजा करने जाएगी।" ठीक समय पर पूजा की सामग्री से सुसज्जित थालो को लिए मगलगीत गाती हुई

रुक्मिणी अपनी सखियो के साथ महल से निकली । नगर के द्वार पर राजा शिशुपाल के पहरेदारो ने यह कह कर उन्हे रोक दिया कि--'ठहरो! राजा की आज्ञा किसी को वाहर जाने देने की नही ह ।" रुक्मिणी की सखियो ने उनसे कहा—"हमारी सखी शिशुपाल की शुभकामना के लिए कामदेव की पूजा करने जा रही है । तुम इस मगलकार्य मे क्यो विघ्न डाल रहे हो ? खवरदार ! यदि तुम इस शुभकार्य मे वाधा डालोगे तो इसका वुरा परिणाम तुम्हे भोगना पडेगा । तुम कैसे स्वामिभक्त हो कि अपने स्वामी के हित मे वाधा डालते हो !" द्वाररक्षको ने यह सुन कर खुशी से उन्हे वाहर जाने दिया । रुक्मिणी अपनी वुआ और सखियो सहित आनन्दोल्लास के साथ कामदेवमदिर मे पहुची । परन्तु वहाँ किसी को न देख कर व्याकुल हो गई ।

उसने आर्त्त स्वर मे प्रार्थना की । श्रीकृष्ण और वलदेव दोनो एक ओर छिपे रुक्मिणी की भक्ति और अनुराग देख रहे थे । यह सव देख-सुन कर वे सहसा रुक्मिणी के सामने आ उपस्थित हुए । लज्जा के मारे रुक्मिणी सिकुड गई और पीपल के पत्तो के समान थर-थर कापने लगी । श्रीकृष्ण को चुपचाप खडे देख वलदेवजी ने कहा—"कृष्ण ! तुम वुत से खडे क्या देख रहे हो ? क्या लज्जावती ललना प्रथम दर्शन मे अपने मु ह से कुछ वोल सकती है ?" इतना सुनते ही कृष्ण ने कहा—"आओ, प्रिये ! चिरकाल से तुम्हारे वियोग मे दु खित कृष्ण यही है ।" यो कह कर रुक्मिणी का हाथ पकड कर उसे सुसज्जित रथ मे विठा लिया । कु डिनपुरी के वाहर रथ के पहुचते ही उन्होने पाचजन्य शख का नाद किया, जिससे नागरिक एव सैनिक काप उठे ! इधर रुक्मिणी की सखियो ने शोर मचाया कि रुक्मिणी का हरण हो गया हे । इसके वाद श्रीकृष्ण ने जोर से ललकारते हुए कहा—"ऐ शिशुपाल ! मैं द्वारिकापति कृष्ण तेरे आनन्द की केन्द्र रुक्मिणी को ले जा रहा हू । अगर तुझ मे कुछ भी सामर्थ्य हो तो छुडा ले ।" इस ललकार को सुन कर शिशुपाल और रुक्मी के कान खडे हुए । वे दोनो क्रोधावेश मे अपनी-अपनी सेना लेकर सग्राम करने के लिए रणागण मे उपस्थित हुए । मगर श्रीकृष्ण और वलदेव दोनो भाइयो ने सारी सेना को कुछ ही देर मे परास्त कर दिया । शिशुपाल को उन्होने जीवनदान दिया । शिशुपाल हार कर लज्जा से मु ह नीचा किए वापिस लौट गया । रुक्मी की सेना तितर-वितर हो गई और उसकी दशा भी वडी दयनीय हो गई । अपने भाई को दयनीय दशा मे देख कर रुक्मिणी ने प्रार्थना की कि मेरे भैया को प्राणदान दिया जाय । श्रीकृष्ण ने हस कर कहा—"ऐसा ही होगा ।' रुक्मी को उन्होने पकड कर रथ के पीछे वाध रखा था, रुक्मिणी के कहने पर छोड दिया । दोनो वीर वलराम और श्रीकृष्ण विजयश्रीसहित रुक्मिणी को लेकर अपनी राजधानी द्वारिका मे आए और वही श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी के साथ विधि-वत् पाणिग्रहण किया ।

(४) पद्मावती से लिए हुआ सग्राम—भारतवर्ष मे अरिष्ट नामक नगर था। वहाँ वलदेव के मामा हिरण्यनाभ राज्य करते थे। उनके पद्मावती नाम की एक कन्या थी। सयानी होने पर राजा ने उसके स्वयवर के लिए वलराम और कृष्ण आदि तथा अन्य सब राजाओ को आमन्त्रित किया। स्वयवर का निमत्रण पाकर वलराम और श्रीकृष्ण तथा दूसरे अनेक राजकुमार अरिष्टनगर मे पहुँचे।

हिरण्यनाभ के एक वडे भाई थे—रैवत। उनके रैवती, रामा, सीमा और वन्धुमती नाम की चार कन्याएँ थी। रैवत सासारिक मोह जाल को छोड कर स्वपरकल्याण के हेतु अपने पिता के साथ ही वाईसवें तीर्थंकर श्रीअरिष्टनेमि के चरणो मे जैनेन्द्री मुनिदीक्षा धारण कर ली थी। वे दीक्षा लेने से पहले अपनी उक्त चारो पुत्रियों का विवाह वलराम के साथ करने के लिए कह गए थे।

इधर पद्मावती के स्वयवर मे वडे-वडे राजा-महाराजा आए हुए थे। वे सव युद्ध कुशल और तेजस्वी थे। पद्मावती ने उन सव राजाओ को छोड कर श्रीकृष्ण के गले मे वरमाला डाल दी। इससे नीतिपालक सज्जन राजा तो अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे—'विचारशील कन्या ने योग्य वर चुना है।" किन्तु जो दुर्बुद्धि,अविवेकी और अभिमानी राजा थे, वे अपने वल और ऐश्वर्य के मद मे आकर श्रीकृष्ण से युद्ध करने को प्रस्तुत हो गए। उन्होने वहाँ उपस्थित राजाओ को भडकाया—"ओ क्षत्रियवीर राजकुमारो! तुम्हारे देखते ही देखते यह ग्वाला स्त्री-रत्न ले जा रहा है। 'शस्त वस्तु हि भूभुजाम्' इस कहावत के अनुसार उत्तम वस्तु राजाओ के ही भोगने योग्य होती है। अत देखते क्या हो! उठो, सव मिल कर इससे लडो और यह कन्या-रत्न इससे छुडा लो।" इस प्रकार उत्तेजित किये गए अविवकी राजा मिल कर श्री कृष्ण से लडने लगे। घोर युद्ध छिड गया। श्रीकृष्ण और वलराम दोनो भाई सिंहनाद करते हुए निर्भीक होकर शत्रुराजाओ से युद्ध करने लगे। वे जिधर पहुचते उधर ही रणक्षेत्र योद्धाओ से खाली हो जाता। रणभूमि मे खलवली और भगदड मच गई। 'जल्दी भागो,प्राण वचाओ! ये मनुष्य नही, कोई देव या दानव प्रतीत होते हैं। ये तो हमे शस्त्र चलाने का अवसर ही नही देते। अभी यहाँ और पलक मारते ही और कही पहुँच जाते है।' इस प्रकार भय और आतक से विह्वल होकर चिल्लाते हुए वहुत से प्राण वचा कर भागे। जो थोडे से अभिमानी वहाँ ठटे रहे, वे यमलोक पहुँचा दिये गए। इस प्रकार वहुत शीघ्र ही उन्हे अनीति का फल मिल गया। वहाँ शान्ति हो गई।

अन्त मे, रैवती, रामा आदि (हिरण्यनाभ के वडे भाई रैवत की) चारो कन्याओ का विवाह वडी धूमधाम से वलरामजी के साथ हुआ और पद्मावती का श्रीकृष्णजी के साथ। इस तरह वैवाहिक मगलकार्य सम्पन्न होने पर वलराम और श्री

कृष्ण बहुत-सा दहेज और अपनी पत्नियो को साथ लेकर द्वारिका नगरी मे पहुचे वहाँ पर अनेक प्रकार के आनन्दोत्सव मनाये गए।

(५) तारा के लिए हुई लडाई—किष्किन्धानगरी मे वानरवशी विद्याधर आदित्य राज्य करता था। उसके दो पुत्र थे—वाली और सुग्रीव। एक दिन अवसर देख कर वाली ने अपने छोटे भाई सुग्रीव को अपना राज्य सौंप दिया और स्वय मुनि-दीक्षा लेकर घोर तपस्या करने लगा। उसने चार घातीकर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त किया और एक दिन सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बन कर मोक्ष प्राप्त किया। सुग्रीव की पत्नी का नाम तारा था। वह अत्यन्त रूपवती और पतिव्रता थी। एक दिन खेच-राधिपति साहसगति नाम का विद्याधर तारा का रूप—लावण्य देख कर उस पर आसक्त हो गया। वह तारा को पाने के लिए विद्या के बल से सुग्रीव का रूप बनाकर तारा के महल मे पहुच गया। तारा ने कुछ चिह्नो से जान लिया कि मेरे पति का बनावटी रूप धारण करके यह कोई विद्याधर आया है। अत उसने यह बात अपने पुत्रो से तथा जाम्बवान आदि मन्त्रियो से कही। वे भी दोनो सुग्रीवो को देख कर विस्मय मे पड गए, उन्हे भी असली और नकली सुग्रीव का कोई पता न चला। अतएव उन्होंने दोनो सुग्रीवो को नगरी से बाहर निकाल दिया। दोनो मे घोर युद्ध हुआ, लेकिन हार-जीत किसी की भी न हुई। नकली सुग्रीव को किसी भी सूरत से हटते न देख कर असली सुग्रीव विद्याधरो के राजा महाबली हनुमानजी के पास आया और उन्हे सारा हाल कहा। हनुमानजी वहाँ आए, किन्तु दोनो सुग्रीवो मे कुछ भी अन्तर न जान सकने के कारण कुछ भी समाधान न कर सके और अपने नगर को वापिस लौट गए।

असली सुग्रीव निराश होकर श्रीरामचन्द्रजी की शरण मे पहुचा। उस समय श्रीरामचन्द्रजी पाताललका के खरदूषण से सम्बन्धित राज्य की सुव्यवस्था कर रहे थे। सुग्रीव उनके पास जब पहुँचा और उसने अपनी दु खकथा उन्हे सुनाई तो श्रीराम ने उसे आश्वासन दिया कि 'मै तुम्हारी विपत्ति दूर करूगा।' उसे अत्यन्त व्याकुल देख कर श्रीराम और लक्ष्मण ने उसके साथ प्रस्थान कर दिया।

वे दोनो किष्किन्धा के बाहर ठहर गये और असली सुग्रीव से पूछने लगे—"वह नकली सुग्रीव कहा है ? तुम उसे ललकारो और भिड जाओ उसके साथ।" असली सुग्रीव द्वारा ललकारते ही युद्धरसिक नकली सुग्रीव भी रथ पर चढ कर लडाई के लिए युद्ध के मैदान मे आ डटा। दोनो मे बहुत देर तक जम कर युद्ध होता रहा, पर, हार या जीत दोनो मे से किसी की भी न हुई। राम भी दोनो सुग्रीवो का अन्तर न जान सके। नकली सुग्रीव से असली सुग्रीव बुरी तरह परेशान होगया। अत निराश होकर

वह पुन श्रीराम के पास आ कर कहने लगा—"देव ! आपके होते मेरी ऐसी दुर्दशा हुई। अत आप स्वय अब मेरी सहायता करे।" राम ने उससे कहा—"तुम भेदसूचक कोई ऐसा चिह्न धारण कर लो और उससे पुन युद्ध करो। मैं अवश्य ही उसे अपने किये का फल चखाऊंगा।"

असली सुग्रीव ने वैसा ही किया। जब दोनो का युद्ध हो रहा था तो श्रीराम ने कृत्रिम सुग्रीव को पहिचान कर वाण से उसका वही काम तमाम कर दिया। इससे सुग्रीव प्रसन्न होकर श्रीराम और लक्ष्मण को स्वागत पूर्वक किष्किन्धा ले गया, वहाँ उनका बहुत ही सत्कार-सम्मान किया। सुग्रीव अब अपनी पत्नी तारा के साथ आनन्द से रहने लगा।

इस प्रकार राम और लक्ष्मण की सहायता से सुग्रीव ने तारा को प्राप्त किया और जीवन भर उनका उपकार मानता रहा।

(६) **काचना के लिए हुआ युद्ध**—काचना के लिए भी सग्राम हुआ था, लेकिन उसकी कथा अप्रसिद्ध होने से यहाँ नही दो जा रही है। कई टीकाकार मगध सम्राट् श्रेणिक की चिलणा रानी को ही 'काचना' कहते है। अस्तु, जो भी हो, काचना भी युद्ध की निमित्त बनी है।

(७) **रक्त सुभद्रा के लिए हुआ सग्राम**—सुभद्रा श्रीकृष्णजी की बहन थी, वह पाडुपुत्र अर्जुन के प्रति रक्त—आसक्त थी, इसलिए उसका नाम 'रक्तसुभद्रा' पड गया। एक दिन वह अत्यन्त कामासक्त होकर अर्जुन के पास चली आई। श्रीकृष्ण को जब इस बात का पता लगा तो उन्होने सुभद्रा को वापिस लौटा लाने के लिए सेना भेजी। सेना को युद्ध के लिए आती देख कर अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ हो कर सोचने लगा—'श्रीकृष्णजी के खिलाफ युद्ध कैसे करू ? क्योकि व मेरे आत्मीयजन है। और युद्ध नही करूँगा तो सुभद्रा के साथ हुआ प्रेमबन्धन टूट जायेगा।' इस प्रकार सदेह के झूले मे झूलते हुए अर्जुन को सुभद्रा ने क्षत्रियोचित कर्त्तव्य के लिए प्रोत्साहित किया। अर्जुन ने अपना गाडीव धनुप उठाया और श्रीकृष्णजी द्वारा भेजी हुई सेना से लडने के लिए आ पहुचा। दोनो मे जम कर युद्ध हुआ। अर्जुन के अमोघ बाणो की वर्षा से श्रीकृष्णजी की सेना तितरबितर हो गई। विजय अर्जुन की हुई। अन्ततोगत्वा सुभद्रा ने वीर अर्जुन के गले मे वरमाला डाल दी। दोनो का पाणिग्रहण हो गया। इसी वीरागना सुभद्रा की कुक्षि से वीर अभिमन्यु का जन्म हुआ, जिसने अपनी नववधू का मोह छोड कर छोटी उम्र मे ही महाभारत के युद्ध मे वीरोचित क्षत्रिय-कर्त्तव्य बजाया और वही वीरगति को पा कर इतिहास मे अमर हो गया। सचमुच वीरमाता ही वीर पुत्र को पैदा करती है।

मतलब यह है कि रक्तसुभद्रा को प्राप्त करने के लिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण सरीखे आत्मीय जन के विरुद्ध भी युद्ध किया।

(८) अहिन्निका की कथा अप्रसिद्ध होने से उस पर प्रकाश डालना अशक्य है। कई लोग 'अहिन्नियाए' पद के वदले 'अहिल्लियाए' मानते है। उसका अर्थ होता हे—अहिल्या के लिए हुआ सग्राम।" अगर यह अर्थ हो तव तो वैष्णव रामायण मे उक्त 'अहिल्या' की कथा इस प्रकार है—अहिल्या गौतमऋषि की पत्नी थी। वह वडी सुन्दर और धर्मपरायणा स्त्री थी। एक वार इन्द्र उसका रूप देखकर मोहित हो गया। एक दिन गौतम ऋषि कही वाहर गये हुए थे। इन्द्र ने उचित अवसर जान कर गौतम ऋषि का रूप वनाया और छलपूर्वक अहिल्या के पास पहुच कर सयोग की इच्छा प्रगट की। निर्दोप अहिल्या ने अपना पति जान कर कोई आनाकानी न की। इन्द्र अनाचार सेवन करके चला गया। जव गौतम ऋपि आए तो उन्हे इस वात का पता चला और उन्होने इन्द्र को शाप दे दिया कि 'तेरे एक हजार भग हो जाय।' वैसा ही हुआ। वाद मे, इन्द्र के वहुत स्तुति करने पर ऋपि ने उन भगो के स्थान मे एक हजार नेत्र वना दिये। परन्तु अहिल्या पत्थर की तरह निश्चेष्ट होकर तपस्या मे लीन हो गई। वह एक ही जगह गुमसुम हो कर पडी रहती। एक वार श्रीराम विचरण करते-करते आश्रम के पास से गुजरे तो उनके चरणो का स्पर्श होते ही वह जागृत होकर उठ खडी हुई। ऋपि ने भी प्रसन्न होकर उसे पुन अपना लिया।

(९) सुवर्णगुटिका के लिए हुआ सग्राम—सिन्धु—सौवीर देश मे वीतभय नामक एक पत्तन था। वहाँ उदयन राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम पद्मावती था। उसकी देवदत्ता नामक एक दासी थी। एक वार देश-देशान्तर मे भ्रमण करता हुआ एक परदेशी यात्री उस नगर मे आ गया। राजा ने उसे मन्दिर के निकट धर्मस्थान मे ठहराया। कर्मयोग से वह वहाँ रोगग्रस्त हो गया। रुग्णावस्था मे इस दासी ने उसकी वहुत सेवा की। फलत आगन्तुक ने प्रसन्न होकर इस दासी को सर्वकामना पूर्ण करने वाली १०० गोलियाँ दे दी और उनकी महत्ता एव प्रयोग करने की विधि भी वतला दी। अव्वल तो स्त्री जाति फिर दासी। भला दासी को उन गोलियो का सदुपयोग करने की वात कैसे सूझती ? उस वदसूरत दासी ने सोचा—"क्यो नही, मैं एक गोली खा कर सुन्दर बन जाऊँ।" उसने अजमाने के लिए एक गोली मुँह मे डाल ली। गोली के प्रभाव से वह दासी सोने के समान रूप वाली—खूवसूरत वन गई। तव से उसका नाम सुवर्णगुटिका ही प्रसिद्ध हो गया। वह नवयुवती तो थी ही। एक दिन वैठे-वैठे उसके मन मे विचार आया—"मुझे सुन्दर रूप तो मिला, लेकिन विना पति के सुन्दर रूप भी किस काम का ? पर किसे पति वनाऊँ ? राजा को तो वनाना ठीक नही, क्योकि एक तो यह वूढा है, दूसरे, यह मेरे लिए पितातुल्य है। अत किसी नवयुवक को ही पनि वनाना चाहिए।" सोचते-सोचते उसकी दृष्टि मे उज्जयिनी का राजा चन्द्रप्रद्योत जँचा। फिर क्या था ? उसने मन

मे चन्द्रप्रद्योत का चिन्तन करके दूसरी गोली निगल ली। गोली के अधिष्ठाता देव के प्रभाव से उज्जयिनी नृप चद्रप्रद्योत को स्वप्न मे दासी का दर्शन हुआ। फलत सुवर्णगुटिका से मिलने के लिए वह आतुर हो गया। उसे स्वर्णगुटिका का पता चल गया। वह शीघ्र ही गधगज नामक उत्तम हाथी पर सवार हो कर रात्रि के समय वीतभय नगर मे पहुचा। सुवर्णगुटिका तो उससे मिलने के लिए पहले से ही तैयार वैठी थी। चन्द्रप्रद्योत के कहते ही वह उसके साथ चल दी।

प्रात काल राजा उदयन उठा और नित्यनियमानुसार अश्वशाला आदि का का निरीक्षण करता हुआ हस्तिशाला मे आ पहुचा। वहाँ सब हाथियो का मद सूखा हुआ देखा तो वह आश्चर्य मे पड गया। तलाश करते-करते राजा उदयन को एक गजरत्न के मूत्र की गध आ आई। राजा ने शीघ्र ही जान लिया कि यहाँ गन्धहस्ती आया है। उसी की गन्ध से हाथियो का मद सूख गया। ऐसा गधहस्ती हाथी सिवाय चन्द्रप्रद्योत के और किसी के पास नही है, फिर राजा ने यह वात भी सुनी कि सुवर्णगुटिका दासी भी गायब है। अत राजा को पक्का शक हो गया कि चन्द्रप्रद्योत राजा ही दासी को भगा ले गया है। राजा उदयन ने रोपवश उज्जयिनी पर चढाई करने का विचार कर लिया। परन्तु मन्त्रियो ने समझाया—"महाराज! चन्द्रप्रद्योत कोई साधारण राजा नही है। वह वडा वहादुर और तेजस्वी है। केवल एक दासी के लिए उससे शत्रुता करना बुद्धिमानी नही है।" परन्तु राजा उनकी वातो से सहमत न हुआ और चढाई करने को तैयार हो गया। राजा ने कहा—"अन्यायी अत्याचारी और उद्दण्ड को दण्ड देना मेरा कर्तव्य है।" अन्त मे यह निश्चय हुआ कि "दस मित्र राजाओ को ससैन्य साथ लेकर उज्जयिनी पर चढाई की जाय।" ऐसा ही हुआ। अपनी-अपनी सेना लेकर दस राजा उदयननृप के दल मे शामिल हुए। अन्तत महाराजा उदयन ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। वडी मुश्किल से उज्जयिनी के पास पहुचे। चन्द्रप्रद्योत राजा भी यह समाचार सुनते ही विशाल सेना लेकर युद्ध करने के लिए मैदान मे आ डटा। दोनो मे घमासान युद्ध हुआ। राजा चन्द्रप्रद्योत का हाथी तीव्रगति से मडलाकार घूमता हुआ विरोधी सेना को कुचल रहा था। उसके मद की गध से ही विरोधी सेना के हाथी भाग खडे हुए। अत उदयन की सेना मे कोलाहल मच गया। यह देख कर रथारूढ उदयन ने गधहस्ती के पैर मे खीच कर तीक्ष्ण वाण मारा। हाथी वही धराशायी हो गया और उस पर सवार चन्द्रप्रद्योत भी नीचे आ गिरा। अत सब राजाओ ने मिलकर उसे जीतेजी पकड लिया। राजा उदयन ने उसके ललाट पर 'दासीपति' शब्द अकित कर अन्तत उसे क्षमाकर दिया।

सचमुच, स्वर्णगुटिका के लिए जो युद्ध हुआ, वह परस्त्रीगामी कामी चन्द्रप्रद्योत राजा की रागासक्ति के कारण से हुआ।

(१०) रोहिणी के निमित्त हुआ सग्राम—अरिष्टपुर मे रुधिर नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम सुमित्रा था। उसके एक पुत्री थी। उस का नाम था—रोहिणी। रोहिणी अत्यन्त रूपवती थी। उसके सौन्दर्य की बात सर्वत्र फैल गई थी। इसलिए अनेक राजा-महाराजाओ ने रुधिरराजा से उसकी याचना की थी। राजा बडे असमजस मे पड गया कि वह किसको अपनी कन्या दे, किसको न दे ? अन्ततोगत्वा उसने रोहिणी के योग्य वर का चुनाव करने के लिए स्वयवर रचने का निश्चय किया। रोहिणी पहले से ही वसुदेवजी के गुणो पर मुग्ध थी। वसुदेवजी भी रोहिणी को चाहते थे। वसुदेवजी उन दिनो गुप्त रूप से देशाटन के लिए भ्रमण कर रहे थे। राजा रुधिर की ओर से स्वयवर की आमन्त्रणपत्रिकाएँ जरासध, आदि सब राजाओ को पहुच चुकी थी। फलत जरासध, आदि अनेक राजा स्वयवर मे उपस्थित हुए। वसुदेवजी भी स्वय वर का समाचार पाकर वहा आ पहुँचे। वसुदेवजी ने देखा कि इन बडे-बडे राजाओ के समीप बैठने से मेरे मनोरथ मे विघ्न पडेगा, अत मृदग बजाने वालो के बीच म वैसा ही वेप बना कर बैठ गए। वसुदेवजी मृदग बजाने मे बडे निपुण थे। अत मृदग बजाने लगे। नियत समय पर स्वयवर का काय प्रारम्भ हुआ। ज्योतिषी के द्वारा शुभमुहूर्त की सूचना पाते ही राजा रुधिर ने रोहिणी (कन्या) को स्वयवर मे प्रवेश कराया। रूपराशि रोहिणी ने अपनी हसगामिनी गति एव नूपुर की झकार से तमाम राजाओ को आकर्षित कर लिया। सबके सब टकटकी लगा कर उसकी ओर देख रहे थे। रोहिणी धीरे-धीरे अपनी दासी के पीछे-पीछे चल रही थी। सब राजाओ के गुणो और विशेषताओ से परिचित दासी क्रमश प्रत्येक राजा के पास जा कर उसके नाम, देश, ऐश्वर्य, गुण और विशेषता का स्पष्ट वर्णन करती जाती थी। इस प्रकार दासी द्वारा समुद्रविजय, जरासध आदि तमाम राजाओ का परिचय पाने के बाद उन्हे स्वीकार न कर रोहिणी जब आगे बढ गई तो वसुदेवजी हर्षित होकर मृदग बजाने लगे। मृदग की सुरीली आवाज मे ही उन्होने यह व्यक्त किया—

'मुग्धमृगनयनयुगले ! शीघ्रमिहागच्छ मैव चिरयस्व।
कुलविक्रमगुणशालिनि ! त्वदर्थमहमिहागतो यदिह ॥'

अर्थात्—'हे विस्मयमुग्धमृगनयने ! अब झटपट यहाँ आ जाओ। देर मत करो। हे कुलीनता और पराक्रम के गुणो से सुशोभित सुन्दरि ! मै तुम्हारे लिए ही यहाँ (मृदगवादको की पक्ति मे) आ कर बैठा हू।'

मृदगवादक के वेप मे वसुदेव के द्वारा मृदग से ध्वनित उक्त आशय को सुन कर रोहिणी हर्ष के मारे पुलकित हो उठी। जैसे निर्धन को धन मिलने पर वह

आनन्दित हो जाता है, वैसे ही निराश रोहिणी भी आशाधन पा कर आनन्दविभोर हो गई और शीघ्र ही वसुदेवजी के पास जा कर उनके गले में वरमाला डाल दी। एक साधारण मृदग बजाने वाले के गले मे वरमाला डालते देख कर सभी राजा, राजकुमार विक्षुब्ध हो उठे। सारे स्वयवरमण्डप मे शोर मच गया। सभी राजा चिल्लाने लगे–"बडा अनर्थ होगया ! इस कन्या ने कुल की नीति-रीति पर पानी फेर दिया। इसने इतने तेजस्वी, सुन्दर और पराक्रमी राजकुमारो को ठुकरा कर और न्यायमर्यादा को तोड कर एक नीच वादक के गले मे वरमाला डाल दी ! यदि इसका इस वादक के साथ अनुचित सम्बन्ध या गुप्तप्रेम था तो राजा रुधिर ने स्वयवर रचा कर क्षत्रियकुमारो को आमन्त्रित करने का यह नाटक क्यो रचा ? यह तो हमारा सरासर अपमान है ?" इस प्रकार के अनेक आक्षेप-विक्षेपो से उन्होने राजा को परेशान कर दिया। राजा रुधिर किंकर्त्तव्यविमूढ और आश्चर्यचकित हो कर सोचने लगा—"विचारशील, नीतिनिपुण और पवित्र विचार की होते हुए भी, पता नही, रोहिणी ने इन सब राजाओ को छोड कर एक नीच व्यक्ति का वरण क्यो किया ? रोहिणी ऐसा अज्ञानपूर्ण कृत्य नही कर सकती, फिर रोहिणी ने यह अनर्थ क्यो किया ?" अपने पिता को इसी उधेडबुन मे पडे देख कर रोहिणी ने सोचा कि 'मैं लज्जा छोड कर पिताजी को इनका (अपने पति का) परिचय कैसे दू ?' वसुदेवजी ने अपनी प्रिया का मनोभाव जान लिया। इधर जब सारे राजा लोग कुपित होकर अपने दल-बलसहित वसुदेवजी से युद्ध करने को तैयार हो गए, तब वसुदेवजी ने भी सबको ललकारा—"क्षत्रियवीरो ! क्या आपकी वीरता इसी मे है कि आप स्वयवर मर्यादा का भग कर अनीति-पथ का अनुसरण करे ! स्वयवर के नियमानुसार जब कन्या ने अपने मनोनीत वर को स्वीकार कर लिया है, तब आप लोग क्यो अडचन डाल रहे है ?" राजा लोग न्याय-नीति के रक्षक होते है, नाशक नही। आप स्वय समझदार है, इतने मे ही सब समझ जाइए।" इस नीतिसगत बात को सुन कर न्यायनीतिपरायण सज्जन राजा तो झटपट समझ गए और उन्होने युद्ध से अपना हाथ खीच लिया। वे सोचने लगे कि इस बात मे अवश्य कोई न कोई रहस्य है। इस प्रकार की निर्भीक और गभीर वाणी किसी साधारण व्यक्ति की नही हो सकती। लेकिन कुछ दुर्जन और अडियल राजा अपने दुराग्रह पर अडे रहे। जब वसुदेवजी ने देखा कि अब सामनीति से काम नही चलेगा, ऐसे दुर्जन तो दण्डनीति-दमननीति से ही समझेगे, तो उन्होने कहा "तुम्हे वीरता का अभिमान है तो आ जाओ मैदान मे ! अभी सब को मजा चखा दू गा।"

वसुदेवजी के इन वचनो ने जले पर नमक छिडकने का काम किया। सभी दुर्जन राजा उत्तेजित हो कर एक साथ वसुदेवजी पर टूट पडे और शस्त्र-अस्त्रो से प्रहार करने लगे। अकेले रणशूर वसुदेवजी ने उनके समस्त शस्त्रास्त्रो को विफलकर सब राजाओ पर विजय प्राप्त की।

राजा रुधिर भी वसुदेवजी के पराक्रम से तथा वाद मे उनके वश का परिचय पा कर मुग्ध हो गया। हर्षित हो कर उसने वसुदेवजी के साथ रोहिणी का विवाह कर दिया। प्राप्त हुए प्रचुर दहेज एव रोहिणी को साथ ले कर वसुदेवजी अपने नगर को लौटे। इसी रोहिणी के गर्भ से भविष्य मे वलदेवजी का जन्म हुआ, जो श्रीकृष्णजी के वडे भाई थे।

इसी तरह किन्नरी, सुरूपा और विद्यु न्मती के लिए भी युद्ध हुआ। ये तीनो अप्रसिद्ध हैं। कई लोग विद्यु न्मती को एक दासी वतलाते है, जो कोणिक राजा से सम्वन्धित थी, और उसके लिए युद्ध हुआ था। इसी प्रकार किन्नरी भी चित्रसेन राजा से सम्वन्धित मानी जाती है, जिसके लिए राजा चित्रसेन के साथ युद्ध हुआ था। जो भी हो, ससार मे ज्ञात-अज्ञात, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध अगणित महिलाओ के निमित्त से भयकर युद्ध हुए हैं, जिसकी साक्षी शास्त्रकार इस सूत्रपाठ से दे रहे हैं—'**अन्नेसु य एवमादिएसु वहवो महिलाकएसु सुव्वति अइक्कता सगामा गामधम्म-मूला।**'

अब्रह्मसेवन का दूरगामी भयकर फल—जो वात ससार मे प्रकृतिविरुद्ध, नीतिविरुद्ध, धर्मविरुद्ध तथा लोकविरुद्ध होती है, उसमे प्रवृत्ति करने मे वडी-वडी अडचने आती हैं, कई दफा तो ऐसी प्रवृत्ति करने वाले के प्राण भी खतरे मे पड जाते हैं। अब्रह्मचर्यसेवन भी उनमे से एक है। अब्रह्मचर्यसेवन की मुख्य निमित्त स्त्री है और उसे उचित या अनुचित तरीको से प्राप्त करने मे भूतकाल मे भी वडी-वडी लडाइया हुई हैं, और वर्तमान मे भी होती हैं। कई दफा तो जायज तरीके से किमी स्त्री के साथ पाणिग्रहण करने मे भी वडे खतरो का सामना करना पडता है। यह तो हुई स्त्री को प्राप्त करने मे दिक्कतो की वात, जिसका जिक्र इससे पहले के पृष्ठो मे हम कर आए है। अव शास्त्रकार अब्रह्म-सेवन से होने वाले इहलौकिक और पार-लौकिक, निकटवर्ती और दूरवर्ती अशुभपरिणामो का निरूपण निम्नोक्त पाठ द्वारा करते हैं—**अवभसेविणो इहलोए वि नट्ठा परलोए वि णट्ठा, महया मोहतिमि-सधकारे दीहमद्ध चाउरतससारकतार अणुपरियट्ट ति जीवा मोहवस निविट्ठा।**" यह वर्णन और उसका अर्थ विलकुल स्पष्ट है। इस सूत्रपाठ मे अब्रह्म-सेवन के निकटवर्ती परिणामो का पहले जिक्र किया है कि महामोहमोहित और परस्त्रीलोलुप हो कर जो अब्रह्मसेवन करता है, उसके यश-कीर्ति, वुद्धि, आत्मशक्ति, भगवद् वचनो पर श्रद्धा, चारित्रवल, निर्भयता तथा शारीरिक-मानसिक ताकत आदि गुण नष्ट हो जाते हैं। इमी का अर्थ है—इस लोक मे जीवन का सर्वनाश होना। जो इस लोक का जीवन विगाड देता है उसका परलोक का जीवन तो नष्ट हो ही जाता है। इमलिये भ्रष्ट जीवन वाले व्यक्ति गाढ महामोहान्धकार से ग्रस्त हो कर

ऐसी योनियो मे जाता है, जहा उसे ज्ञान का प्रकाश अनन्त-अनन्त जन्मो तक नही मिल पाता। वे योनिया है—त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, बादर, साधारण शरीर, प्रत्येक शरीर, पर्याप्तक और अपर्याप्तक तथा जरायुज, अडज, पोतज, रसज, सस्वेदिम, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज और औत्पातिक आदि। उक्त योनियो मे बार-बार जन्म लेकर वह तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति और नरकगति रूप ससार मे अनन्त-अनन्त चक्कर काटता रहता है। इस प्रकार बार-बार जन्म और मरण के रूप मे परि-भ्रमण करना ही ससार कहलाता है। ससार मे रहने वाले जीव वे कहलाते है,जिन्होने अभी तक मोक्ष (सिद्धगति) नही पाया, जिनके जन्ममरण का चक्र बद नही हुआ। ससारी जीवो के मुख्यतया दो भेद है—त्रस और स्थावर। अपनी इच्छा से स्वतत्रता-पूर्वक चल-फिर सकते हो, ऐसे जीव त्रस कहलाते है। त्रस जीव द्वीन्द्रिय (दो इन्द्रियो वाले जीव) से लेकर पचेन्द्रिय (पाच इन्द्रियो वाले) तक के प्राणी होते है। जिनके केवल एक ही स्पर्शन-इन्द्रिय हो, उन्हे स्थावर कहते है। स्थावरजीव सभी एकेन्द्रिय होते है। त्रस और स्थावर इन दोनो प्रकार के जीवो की उत्पत्ति जिससे होती है, उसे जन्म कहते है। जन्म मुख्यतया तीन प्रकार का होता है—गर्भजन्म, उपपातजन्म और सम्मूर्च्छन (सम्मूर्च्छिम) जन्म। गर्भ से जन्म लेने वाले गर्भज, उपपात (देवो और नारको के स्थानविशेष) से जन्म लेने वाले औपपातिक और सम्मूर्च्छन—(नर और मादा के सयोग के बिना—अपने आप मिट्टी, पानी आदि के सयोग विशेष) रूप से जन्म लेने वाले सम्मूर्च्छिम कहलाते है।

गर्भजन्म माता के रज और पिता के वीर्य के सयोग से होता है। यह जन्म मनुष्यो और तिर्यच-पचेन्द्रियो के होता है, दूसरे प्राणियो के नही। गर्भजन्म तीन प्रकार का होता है—जरायुज, अडज और पोतज। रुधिर और मास से लिपटी हुई थैली यानी गर्भ के वेष्टन को जरायु कहते है, उस जरायु से जो जन्म लेते है वे जरायुज कहलाते है। मनुष्य, गाय, बैल, घोडा आदि सब जरायुज हैं। जो अडे से जन्म लेते हैं, वे अडज कहलाते है। समस्त प्रकार के पक्षी या सर्प आदि भी अडज होते हैं। जो जरायु आदि के आवरण से रहित है, वह पोत कहलाता है। गर्भ से निकलते समय जिनके शरीर पर जरायु आदि किसी प्रकार का आवरण नही होता तथा गर्भ से निकलते ही जिनमे कूदने-फादने की शक्ति होती है, उन्हे पोत या पोतज जीव कहते है—जैसे हस्ती आदि। मनुष्य के जरायुजन्म होता है, जबकि तिर्यचपचेन्द्रियो के ये तीनो ही प्रकार के जन्म होते है।

देवो और नारकीय जीवो की उत्पत्ति के जो स्थानविशेष होते हैं, उन्हे उपपात कहते है,वे सपुटाकार होते हैं। जब किसी का जन्म देव या नारक मे होता है तो वह ऐसे सपुटाकार स्थानविशेष मे होता है और अन्तर्मुहूर्त मे नवयौवन-अवस्थासहित उत्पन्न हो कर उसमे से बाहर निकल आता है। इसलिए नारको और देवो को औपपातिक कहते है।

गर्भज और औपपातिक जीवो के अतिरिक्त शेष सब जीवो का जन्म सम्मूर्च्छनज होता है। गर्भ के विना ही इधर-उधर के समीपवर्ती परमाणुओ से जिनका शरीर बन जाता है, उन्हे सम्मूर्च्छनज या सम्मूर्च्छिम कहते है। विच्छू, मेढक, चीटी, कीडे-मकोडे, घास-पात आदि सब सम्मूर्च्छन जन्म वाले है। एकेन्द्रियजीव से ले कर चतुरिन्द्रिय (चार इन्द्रियो वाले) तक के जीव नियम से सम्मूर्च्छन जन्म वाले होते है। इनका जन्म और किसी तरह से नही होता। मनुष्य के मल-मूत्र, गदगी आदि के चौदह स्थानो मे उत्पन्न होने वाले मानवरूप जीवाणु भी सम्मूर्छिम होते है। साप-मछली आदि कई पचेन्द्रिय जीव भी सम्मूच्छन जन्म से होते हे। इस सम्मूर्च्छनज जन्म के तीन भेद है—स्वेदज, रसज और उद्भिज्ज। पसीने से उत्पन्न होने वाले जू, खटमल आदि जीवो को स्वेदज कहते है। शराव आदि रस मे पैदा होने वाले जीवो को रसज कहते है और पृथ्वी को फोड कर उत्पन्न होने वाले खजन आदि प्राणी या वृक्ष,घासपात आदि को उद्भिज्ज कहते हैं।

त्रस और स्थावर, दोनो प्रकार के जीव पर्याप्तक भी होते है, अपर्याप्तक भी। जिन जीवो की शरीर आदि पर्याप्तियाँ पूर्ण हो चुकती है, उन्हे पर्याप्तक कहते हैं और जिनकी ये पर्याप्तियां पूर्ण नही हुई, उन्हे कहते है—अपर्याप्तक।

त्रस जीव स्थूलशरीर वाले ही होते है, इसलिए वे वादर ही होते हैं, जबकि स्थावरजीव दो प्रकार के होते है—वादर और सूक्ष्म। वादर जीव स्थूल शरीर वाले होते है,अत अग्नि शस्त्र आदि से उनका घात हो सकता है। इसलिए वादरशरीर वालो को वादर जीव कहते है। वादरशरीर उसे कहते हैं, जो शरीर दूसरो को रोक सके या वाधा पहुचा सके अथवा दूसरो के द्वारा रोका जा सके या वाधित हो सके। जो शरीर किसी के रोकने से न रुक सके और न वाधित हो सके, तथा जो शरीर न किसी को रोके, और न वाधा पहुचाए, उसे सूक्ष्म शरीर कहते है। सूक्ष्म शरीर वाले जीवो को सूक्ष्मजीव कहते है। अग्नि, शस्त्र आदि से उनका घात नही होता है, वे अपनी आयु पूर्ण करके ही मरते हैं।

एकेन्द्रिय जीवो को स्थावर कहते है। इनके पाच भेद है—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इनमे से प्रत्येक के वादर और सूक्ष्म दो-दो भेद है। वनस्पतिकायिक जीवो के दो भेद और है—साधारण और प्रत्येक। जिस वनस्पति के एक शरीर के स्वामी अनन्तजीव हो, उसे साधारण वनस्पतिकायिकजीव कहते हैं और जिस वनस्पति के एक शरीर का एक ही स्वामी हो, उसे प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव कहते है। प्रत्येक वनस्पतिकायिक के दो भेद और होते हैं—सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जिस वनस्पति के एक शरीर के आश्रित अनन्त जीव रहते हैं, उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है। यानी उस

वनस्पति के एक शरीर का स्वामी तो एक जीव ही होता है,लेकिन उस शरीर पर या उसके आश्रित जहाँ दूसरे निगोदिया जीव निवास करते हो, उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है । और जिस प्रत्येक वनस्पति के शरीर पर दूसरे निगोदियाजीव निवास न करते हो, उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है ।

इस प्रकार शास्त्रकार के निरूपण के अनुसार ससारी जीवो का यहाँ सक्षेप मे स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है ।

इस वर्णन से शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि अब्रह्मचर्यसेवन के फलस्वरूप नरक, तिर्यच, देव और मनुष्यगतिरूप ससारचक्र मे घूमता हुआ जीव अनन्तकाल तक निगोद (साधारण वनस्पतिकायिक) मे भ्रमण करता है, फिर कही वडी मुश्किल से त्रसपर्याय को प्राप्त करता है । इस त्रसपर्याय को वह जीव ज्यादा से ज्यादा दो हजार सागरोपम काल तक ही धारण कर सकता है , इससे अधिक समय तक नही । उक्त काल वीतने पर उसे अवश्य ही एकेन्द्रिय (निगोद आदि) मे पहुचना पडता है, जहाँ एक श्वास मे १८ वार जन्ममरण करते हुए अनन्तकाल तक निवास करना पडता है । त्रसपर्याय मे रहते हुए यदि कभी वह नरक मे पहुच गया तो वहाँ उसे जघन्य (कम से कम) दस हजार वर्ष से लेकर उत्कृष्ट (ज्यादा से ज्यादा) तेतीस सागरोपमकाल व्यतीत करना पडता है । निगोद के सिवा तिर्यचगति की पृथ्वीकाय आदि अन्य स्थावर जीवयोनियो मे पहुच गया तो वहाँ असख्यात वर्ष तक रहना पडता है । यदि सयोगवश पचेन्द्रियतिर्यचो या मनुष्यो मे से किसी जीवयोनि मे पहुच गया तो वहाँ भी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति तक रहना पडता है ।

इसी वात को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है—'**अणवदग्ग दीहमद्ध चाउरत ससारकतार अणुपरियट्टति जीवा मोहवससनिविट्ठा ।**' अर्थात्—सीमारहित, लम्वे मार्ग वाले, चातुर्गतिक ससाररूप जगल मे मोहवश अब्रह्मचर्यसेवन मे ग्रस्त पामरजीव अनन्तकाल तक वारवार पर्यटन करते रहते है ।

चारो गतियो मे मिलने वाले कटुफल - शास्त्रकार पिछले अध्ययनो के मूलसूत्रपाठो मे नरक तियञ्च और मनुष्यगति मे प्राप्त होने वाले विभिन्न दु खो का विशद वर्णन कर चुके है । अत यहाँ भी अब्रह्मसेवन के फलस्वरूप उन्ही दु खो को समझ लेना चाहिए । वृत्तिकार ने इस सम्वन्ध मे कुछ गाथाएँ लिखी हैं, जिन्हे हम यहाँ उद्ध त कर रहे है—

नरएसु जाइ अइकक्खडाइ, दुक्खाइ परमतिक्खाइ ।
को वण्णेइ ताइ जीवतो वासकोडीहिं ।।१।।
कक्खडदाह सामलि, असिवण-वेयरणि-पहरणसएहिं ।
जा जायणाओ पावति निरया त अहम्मफल ।।२।।

जिसकी सौ जिह्वाएँ हो तो भी,सौ वर्ष मे भी वह कह नही सकता। देवलोक मे दिव्य अलकार से सुसज्जित शरीर वाले देव जब वहाँ से च्युत होते है—शरीर छोडते हैं, तब वह दुःख उनके लिए अतिदारुण होता है। उस देवविमान के वैभव को, देवलोक से च्यवन—दूसरे लोक मे गमन को सोच-सोच करके चाहे जितना बलवान हो तो भी उसका हृदय सौ टुकडो मे फट जाता है। देवता भी ईर्ष्या, विपाद, मद, क्रोध, मोह, लोभ, माया इत्यादि दुर्गुणो से पीडित है, तब भला उन्हे सुख कहाँ से हो? इस प्रकार चारो गतियो मे गमनरूप दुःखमय ससार मे भ्रमण करते हुए सवरधर्म को अप्राप्त (नही पाए हुए) जीवो को कही सुख नही है। इस ससार मे सज्ञा, कपाय, विकथा प्रमाद, मिथ्यात्व, दुष्टयोग (मन-वचन-काया का व्यापार) एव दुर्ध्यान के वशीभूत जीव दुःखो की परम्परा पाते है। ऐसा जान कर चतुर जीवो को सदा अप्रमादी हो कर अनादिकालीन मोह आदि दोपो का सग छोड देना चाहिए।

उपसहार—इस सूत्रपाठ के अन्त मे, शास्त्रकार अब्रह्मसेवन के फलविपाक पर पुन सक्षेप मे प्रकाश डालते है। इसका अर्थ मूलार्थ और पदार्थान्वय से स्पष्ट है।

साराश यह है कि अब्रह्मचर्यसेवन की देवो, मनुष्यो, असुरो, तिर्यञ्चो आदि मे सर्वत्र धूम है और उसका कटुफल भी अनन्तकाल तक भोगना पडता है, परन्तु फल भोगने के समय बुद्धि पर मिथ्यात्व का पर्दा होने से पुन पुन जीव इस चिरपरिचित कामविकार का सेवन करता है और फिर ससारसागर मे गोते लगाता है। अत अब्रह्मचर्य का त्याग किये बिना जीव को कदापि शान्ति नही मिलती।

इस प्रकार सुबोधिनीव्याख्यासहित प्रश्नव्याकरणसूत्र के चतुर्थ अध्ययन—अब्रह्मचर्य आश्रव के रूप मे चौथा अधर्मद्वार समाप्त हुआ।

पंचम अध्ययन : परिग्रह आश्रव

परिग्रह का स्वरूप

चतुर्थ अध्ययन—अब्रह्मचर्य आश्रव के रूप मे चतुर्थ अधर्मद्वार का निरूपण करने के पश्चात् अब शास्त्रकार पचम अध्ययन मे परिग्रह-आश्रव के रूप मे पाचवे अधर्मद्वार का निरूपण करते है। चू कि अब्रह्मचर्यसेवन परिग्रह के होने पर ही होता है। इसलिए शास्त्रकार अब क्रमश परिग्रह का वर्णन प्रारम्भ करते है। शास्त्रकार अपनी निरूपणशैली के क्रम के अनुसार स्वरूप आदि पाच द्वारो मे से सर्वप्रथम परिग्रह के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते है—

मूलपाठ

जबू ! इत्तो परिग्गहो पचमो उ नियमा णाणामणि-कणग-रयण - महरिहपरिमल- सपुत्तदार-परिजण-दासी-दास-भयग-पेस-हय-गय-गो-महिस-उट्ट-खर-अय-गवेलग-सीया-सगड-रह-जाण-जुग्ग सदण-सयणासण-वाहण-कुविय-धण-धन्न-पाण-भोयणाच्छायण-गध-मल्ल-भायण-भवणविहिं चेव बहुविहीय भरह णग-णगर-णियम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कव्वड- मडब-सवाह-पट्टण-सहस्सपरि-मडिय थिमिय-मेइणीय एगच्छत्त ससागर भु जिऊण वसुह अपरि-मियमणततण्ह-मणु गय-महिच्छसार-निरय मूलो, लोभकलिकसाय-महक्खधो, चितासयनिचियविपुलसालो, गारवपविरल्लियग्ग-विडवो, नियडितयापत्तपल्लवधरो, पुप्फफल जस्स कामभोगा, आयासविसूरणा-कलहपकपियग्गसिहरो, नरवतिसपूजितो, बहु-जणस्स हियय दइओ, इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलिहभूओ चरिम अहम्मदार ॥ सू० १७ ॥

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! इत परिग्रह. पचमस्तु नियमात् नानामणि-कनक-रत्न-महार्ह-परिमल सपुत्रदार-परिजन-दासी - दास - भृतक -प्रष्य-हय-गज-गो-महिषोष्ट्र-खराऽज-गवेलक-शिविका-शकट-रथ-यान-युग्य स्यन्दन-शयनासन-वाहन-कुप्य-धन धान्य-पान-भोजनाच्छादन-गन्ध-माल्य-भाजन-भवनविधि चैव बहुविधिक भरत नग-नगर-निगम-जनपद-पुरवर-द्रोणमुख-खेट-कर्व्वट-मडम्ब-सवाह-पत्तन सहस्रपरिमडितम्, स्तिमितमेदिनीकम्, एकच्छत्रम्, ससागरम्, भुक्त्वा वसुधाम् अपरिमितानन्ततृष्णाऽनुगतमहेच्छसारनिरयमूलो, लोभकलिकषाय-महास्कन्धश्चिन्ताशतनिचितविपुलशालो(शाखो), गौरवविस्तारवदग्र-विटपो, निकृतित्वचापत्रपल्लवधर, पुष्पफल यस्य कामभोगा, आयास-विसूरणा-कलह - प्रकम्पिताऽग्रशिखरो, नरपतिसपूजितो, बहुजनस्य हृदयदयित, अस्य मोक्षवरमुक्तिमार्गस्य परिघभूतश्चरममधर्म द्वारम् ॥ (सू० १७) ॥

पदार्थान्वय—श्री सुधर्मास्वामीजी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—(जंबू) हे जम्बू ! (इत्तो) इस चौथे अब्रह्मनामक आश्रवद्वार के अनन्तर (पचमो उ) पाचवा आश्रव (नियमा) नियम से, (परिग्गहो, परिग्रह है, (बहुविहीय) वह अनेक प्रकार का है। (णाणामणि कणग-रयण-पेस-हय-गय-गो-महिस-उट्ट-खर-महरिह - परि-मल सपुत्तदार-परिजण-दासी-दास-भयग-अय-गवेलग-सीया-सगड-रह - जाण-जुग्ग-सदण-सयणासण-वाहण कुविय-धण-धन्न-पाण-भोयणाच्छायण-गध-मल्ल-भायण - भवणविहिं) अनेक प्रकार की मणियो, सुवर्ण, कर्केतनादि रत्नो, बहुमूल्य सुगन्धित द्रव्यो, पुत्रो सहित स्त्रियो, परिवारो, दासी-दासो, कर्मचारियो, नौकर-चाकरो, हाथियो, घोडो, गायो, बैलो, भैंसो, ऊटो, गधो,बकरे-बकरियो,भेडो, शिविकाओ—पालकियो, गाडियो, रथो, जहाजो या विशेष प्रकार की सवारियो, गोल्ल नामक देशविशेष मे प्रसिद्ध दो हाथ की पालकियो, विशेष प्रकार के रथो,शय्याओ, आसनो, वाहनो—नौकाओ, कुप्य-सोने-चादी को छोड कर घर का शेष सामान,धन—नकद रुपया-पैसा आदि, धान्यो—गेहूँ-चावल आदि अनाजो, दूध आदि पेय पदार्थो, भोज्यपदार्थों, सुगन्धिद्रव्यो, पुष्प मालाओ, वर्तन-भाडो और मकानो के प्राप्त सयोगो का, (चेव) उसी प्रकार (णग-णगर-णियम-जणवय पुरवर-दोणमुह-खेड-कव्वड-मडब-सवाह - पट्टण -सहस्सपरिमडिय) हजारो पर्वतो, नगरो, निगमो—व्यापारी मडियो, प्रदेशो, महानगरो, वदरगाहो या जलमार्ग व स्थलमार्ग से जुडे हुए स्थानो, चारो ओर धूल के कोट वाली वस्तियो—

खेडो, कस्वो—छोटे नगरो, मडवो—जिनके चारो ओर ढाई-ढाई कोस तक वस्ती न हो, ऐसी वस्तियो, सवाहो दुर्गों या सुरक्षास्थलो एव पत्तनो—वडे शहरो जहाँ देश विदेश के लोग वस्तुएँ खरीदने वेचने के लिए आते हो, अथवा जहाँ रत्नादि का व्यापार होता हो, इन सवसे सुशोभित तथा (थिमियमेइणीय) जहाँ के निवासी निर्भयता—निश्चिततापूर्वक रहते हो, ऐसे (एगच्छत्तं) एकच्छत्र—अन्य राजा के आधिपत्य से रहित (ससागर) समुद्रपर्यन्त (भरह) भरतक्षेत्र का, तथा (वसुह) उसके अन्तर्गत पृथ्वी का, (भुजिऊण) उपभोग या पालन करके, (अपरिमिय-मणततण्हमणुगयमहिच्छसार-निरयमूलो) असीम व अनत तृष्णा तथा लगातार वढती हुई इच्छाएँ ही जिसमे प्रमुख हैं, अतएव जो नरक का मूल है, (लोभ-कलि-कसायमहक्खधो) लोभ, कलह, कषाय ही जिसका महास्कन्ध—विशाल धड है। (चितासयनिचियविपुल सालो) सैकडो चिन्ताए ही जिसकी घनी और विस्तीर्ण शाखाएँ हैं, अथवा सैकडो चिन्ताएँ ही जिसकी निरन्तर फैली हुई डालियाँ हैं; (गारव-पविरल्लियग्गविडवो) ऋद्धि, रस और साता का गौरव ही जिसके शाखा के वीच के अग्रभाग हैं—तने हैं, (नियडितया-पत्त-पल्लवधरो) छल-कपट या एक मायाचार को छिपाने के लिए दूसरा मायाचार करना अथवा धूर्तता ही जिसकी त्वचा (छाल), वडे पत्ते व छोटे पत्ते हैं, तथा (कामभोगा) कामभोग ही (जस्स, जिसके (पुप्फफल) फूल और फल हैं। (आयास-विसूरणा-कलह-पकपियग्ग सिहरो) शारीरिक श्रम, चित्त का खेद और कलह ही जिसका कम्पायमान अग्रशिखर—ऊपर का सिरा है, ऐसा परिग्रहरूपी वृक्ष है, जो (नरवतिस पूजितो) राजाओ द्वारा भली-भाति सम्मानित है, (वहुजणस्स हियय दइओ) वहुत-से लोगो के हृदय को प्यारा है, यह (इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स) इस प्रत्यक्ष भावमोक्ष के मुक्तिरूप निर्लोभरूप माग-उपाय का (फलिहभूओ) अर्गलरूप है। और (चरिम अधम्मदार) अन्तिम अधर्मद्वार है।

मूलार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है—'हे जम्बू! इस चौथे अब्रह्मनामक आश्रवद्वार के निरूपण के पश्चात् पाचवाँ आश्रव वताता हू, जो परिग्रह है। वह अनेक जाति की चन्द्रकान्त-सूर्यकान्त आदि मणियो, सोना, कर्केतन आदि रत्नो, वहुमूल्य, कस्तूरी, केसर, तेल आदि सुगन्धित द्रव्यो पुत्रो समेत स्त्रियो, कुटुम्व-परिवारो, दास-दासियो, कर्मचारियो नौकर-चाकरो, घोडो, हाथियो, गाय-वैलो, महिषो-भैसो, ऊटो, गधो, वकरे-वकरियो, भेडो, पालकियो, वैलगाडियो, रथो, यानो—विशेप

प्रकार की गाडिया, गोल्ल देश मे प्रसिद्ध दो हाथ की पालकियो, विशेप रथो, शय्याओ, आसनो, जहाजो—नौकाओ, घर का सब सामान -कुप्य, नकद रुपये—पैस आदि धन, गेहू चावल आदि धान्यो- अनाजो, दूध आदि पेय पदार्थों, अशनादि चारा प्रकार का आहार, वस्त्रो, सुगन्धचूर्णादि द्रव्यो फूलो की मालाओ, थाली, कटोरे आदि वर्तना, एव मकानो के प्राप्त सयोगो का तथा हजारो पर्वता, नगरा, व्यापारीमडियो, जनपदो-प्रदशा, नगर के सिरे पर बसी हुई बस्तियो—उपनगरा, वदरगाहो—जलमार्गों और स्थलमार्गों से युक्त, धूलि के कोट वाल खेडो, कस्वो,चारो और ढाई योजन तक के वस्ती से रहित भूभागो,सवाहो—रक्षा के लिए अन्नादि के सग्रह से युक्त बस्तियो, पट्टणो-जहाँ देश-देशान्तर स लोग माल खरीदने—वेचने आते हो, अथवा रत्न आदि का व्यापार होता हो,ऐस स्थानो से मडित -युक्त, तथा जहाँ लोग निश्चिन्तता-स्थिरता से रहते ह,ऐसी भूमि से युक्त,एकच्छत्र (निष्कटक) और सागर-पर्यन्त भरत क्षेत्र से सम्वन्धित पृथ्वी के राज्य का उपभोग करके असीम,अनन्त तृष्णा (प्राप्त पदार्थों की रक्षा एव उनकी वृद्धि की लालसा) और लगातार बढती हुई वडी-बडी इच्छाएँ ही प्रधान रूप से जिसमे है,ऐसे परिग्रह रूपी वृक्ष का शुभफल रहित नरक मूल है,लोभ,कलह और कपाय ही उस परिग्रह वृक्षका विशालस्कन्ध है,—मोटी धड है। सैकडो चिन्ताएँ ही जिसकी निरन्तर फैलती हुई या सघन और विस्तीर्ण शाखाएँ है, रस, ऋद्धि और साता को गौरव—आदर प्रदान करना ही जिसको अग्रशाखाएँ—पतली टहनिया हे, छलकपट या एक मायाचार को छिपाने के लिए दूसरा मायाचार—दम्भ ही उस परिग्रहवृक्ष की छाल, वडे पत्ते और कोपले (छोटे पत्ते) है। तथा कामभोग ही जिसके फ़ूल एव फल है,शरीरश्रम और चित्त का खेद ही जिस परिग्रह वृक्ष का कपायमान अग्र शिखर—सिरा है।

ऐमा यह परिग्रह वृक्ष है, जिसका राजा लोगो ने भली-भाँति आदर किया है, अनेक लोगो के हृदय को यह प्रिय लगता है और इस प्रत्यक्ष भावमोक्ष के निर्लोभ (मुक्ति)रूप उपाय के लिए अर्गल के समान है, ऐसे यह अन्तिम आ ्रव—परिग्रह रूप अधर्म द्वार है।

व्याख्या

अब्रह्म का एक वाह्य कारण परिग्रह भो है, इसलिए अब्रह्म का निरूपण करने के वाद शास्त्रकार ने क्रमप्राप्त पाचवे आश्रव या अधर्म का निरूपण किया है।

वास्तव मे 'ससारमूलमारम्भास्तेषा हेतु परिग्रह' इस सूक्ति के अनुसार ससार के मूल कारण आरम्भ—हिंसाजनक कार्य—है और उनका कारण परिग्रह हे।

परिग्रह का लक्षण -परिग्रह का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ इस प्रकार है—'परि-सामस्त्येन ग्रहण परिग्रहण, मूर्च्छावशेन परिगृह्यते, आत्मभावेन ममेति बुद्ध्या गृह्यते इति परिग्रह' किसी चीज का समस्तरूप से ग्रहण करना, अथवा मूर्च्छावश जिसे ग्रहण किया जाता ह या अपनेपन—मेरेपन के भाव से 'मेरी हे', इस बुद्धि से जिसे ग्रहण किया जाय, उसे परिग्रह कहते है।

वास्तव मे परिग्रह उसी का नाम है, जिसे ममत्त्वबुद्धि से ग्रहण किया जाय। आत्मा ज्यो-ज्यो ममत्त्वबुद्धि से किसी चीज को ग्रहण करता जाता हे,त्यो-त्यो वह भारी होता चला जाता ह। जैसे भारी चीज हमेशा नीचे जाती हे, वैसे ही आत्मा परिग्रह के पाप से भारी हो जाने के कारण नीचे से नीचे नरक मे जाती हे। अपनी अज्ञानता,मोह या ममता के वशीभूत हो कर आत्मा ज्यो-ज्यो किसी वस्तु या दुर्भाव को हितकारी समझ कर ग्रहण करती जाती है, त्यो-त्यो वह उसके चक्कर मे फँस कर अपने ज्ञान, सुख आदि स्वभाव को खो बैठती है। जैसे मकडी अपने मु ह मे से तन्तु निकालती है और उसी के जाल मे स्वय फस कर अपना सर्वस्व—प्राण तक गवा देती हे,वैसे ही आत्मा भी अपने ही ममत्त्वजाल मे स्वय फस कर अपना सर्वस्व गँवा देती हे।

यही कारण है कि परिग्रह का लक्षण तत्त्वार्थसूत्र मे वताया गया हे—'मूर्च्छा परिग्रह' अर्थात्—मूर्च्छा-ममता-आसक्ति ही परिग्रह है।

प्रश्न यह होता है कि यदि परिग्रह का लक्षण ममता-मूर्च्छा ही है, तव शास्त्र-कार ने धन, धान्य आदि को परिग्रह क्यो कहा ? और आगम मे इनके त्याग को परिग्रह-त्याग कैसे वताया ?

-इसके उत्तर मे यही कहना है कि यदि ग्रहण करना ही परिग्रह होता तो मनुष्य कई ऐसी चीजे ग्रहण करता है, जो धर्मपालन, परोपकार या स्वपर-कल्याण के लिए आवश्यक होती है। जैसे साधु वर्ग के लिए वस्त्र-पात्र आदि धर्मोपकरण रखना, धर्म स्थान मे रहना, किसी गाव या नगर मे आना और ठहरना, आहार-पानी लेना और उनका सेवन करना, ऊपर से गिरते हुए किसी बच्चे को वचाने के हेतु नि स्वार्थभाव से झेल लेना, श्रावक-श्राविकाओ को जैनधर्म के सस्कारो व धर्माचरण से ओतप्रोत रखने के लिए सगठनवद्ध करना, शरीर धारण करना, विभिन्न शुभक्रियाओ के कारण भी कर्मों का ग्रहण करना, इत्यादि वाते ग्रहण की जाती है। इसलिए ये चीजे भी परिग्रह के अन्तर्गत आ जानी चाहिएँ। परन्तु दशवैकालिक सूत्र मे इन या ऐसी ही अन्य चीजो को परिग्रह नही वताया गया है। वहाँ इसका स्पष्टीकरण किया गया ह—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तंपि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य ॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा ॥

अर्थात्—'वस्त्र, पात्र, कंवल या पादप्रोंछन आदि जो धर्मोपकरण साधु-मुनि धारण करते हैं या पहनते हैं, वह सिर्फ संयम की रक्षा के लिए, धर्मपालन के लिए और लज्जानिवारण के लिए ही। इसलिए छह काया के जीवों के त्राता ज्ञातपुत्र महर्षि महावीर ने उसे परिग्रह नहीं कहा है। मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है।

निष्कर्ष यह है कि धर्मपालन करने के लिए, संयम के निर्वाह के लिए या लज्जानिवारण के हेतु जो भी वस्तुएँ अममत्वभाव से ग्रहण या धारण की जाती हैं, वे सब परिग्रह की कोटि में नहीं आती। परिग्रह वही कहलाएगा, जब कोई भी वस्तु ममत्वबुद्धि से, अपनी बना लेने की लालसा से आसक्ति या मूर्च्छा की दृष्टि से ग्रहण की जाएगी।

धन, धान्य आदि बाह्य पदार्थों को परिग्रह इसलिए बताया गया कि इन पदार्थों का त्याग न करने से उनमें ममत्व रहता है। बिना ममता के प्रायः बाह्य पदार्थ नहीं रखे जाते। अथवा सोना, चांदी, रुपया, पैसा, घर का विविध समान, हाट, हवेली, मकान, दुकान, अपने स्वामित्व से युक्त गांव, नगर आदि सब परिग्रह यों है कि इनके संसर्ग से ममत्व-भाव पैदा होता है। ये सब पदार्थ ममत्वभाव पैदा करने के कारण हैं।

बाह्य पदार्थों का संग्रह जिसके पास न हो, उसे यदि अपरिग्रही कहा जाए, तब तो चींटी, कुत्ते, बिल्ली, गाय आदि पशु भी अपरिग्रही सिद्ध होंगे। अतः मुख्य बात वस्तु की नहीं, ममत्व की है। जिन्हें ममत्व का त्याग नहीं है, जिनके मन में ग्रहण करने की इच्छा या लालसा है, अगर उन्हें कोई अनावश्यक या आवश्यकता के उपरांत भी खाने-पीने की चीजें दे दे तो वे उसे ममत्व-पूर्वक ग्रहण कर लेते हैं, इसलिए वे अपरिग्रही या मर्यादित परिग्रही की कोटि में नहीं आते।

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि बाह्य पदार्थों के ग्रहण न करने मात्र से उनके प्रति ममत्व भी निकल गया। कई बार यह देखा जाता है कि कई व्यक्ति ऊपर से धन आदि के बड़े त्यागी दिखाई देते हैं, किन्तु अन्तरंग में ममत्व न छूटने से वे समय-समय पर कई वस्तुओं का संग्रह करने-कराने में तत्पर दिखाई देते हैं।

सारांश यह है कि ममत्व के त्यागपूर्वक बाह्य पदार्थों का त्याग करना या ममत्वभाव से रहित हो कर धर्मोपकरण, शरीर आदि का ग्रहण-धारण करना

परिग्रह का त्याग है। इसलिए वास्तविक मूल परिग्रह तो ममत्त्वभाव है और उसके निमित्त होने से धन आदि भी वाह्य परिग्रह हैं।

जिस व्यक्ति ने धन, धान्य आदि मे ममत्व का, अधिकार का या स्वामित्व (मालिकी) का त्याग कर दिया हे, उस व्यक्ति के वाह्य परिग्रह का भी त्याग हो जाता है। उसे वाह्य पदार्थों पर ममत्व रह ही कैसे सकता है? उसके सामने या आसपास लाखो की सम्पत्ति पडी रहे, वाग-वगीचे, मकान, दूकान सामान, नगर, गाँव या राष्ट्र रहे तो भी उन पर उसका ममत्व या स्वामित्व न रहने से उसके लिए वह परिग्रह का त्याग ही हे। ऐसी हालत मे यदि उस ममत्वत्यागी को कोई आवश्यकता समझ कर धन, मकान या राज्य आदि कोई चीज देना चाहेगा या लेने के लिए अनुरोध करेगा तो भी वह उन्हे कदापि ग्रहण नही करेगा।

एक व्यक्ति अभाव के कारण या उपलब्ध न हो सकने के कारण वाह्य पदार्थ नही रखता, किन्तु उन सुन्दर और मनोज्ञ वस्तुओ को देख-देख कर वह मन मे ललचाता है, अथवा मन मे उनके पाने के लिए चिन्तन करता है, योजना बनाता है, तो वह वास्तव मे परिग्रहत्यागी नही है। जिसे चीज उपलब्ध हो सकती है, या लोग आदरपूर्वक किसी मनोज्ञ, सुन्दर या अभीष्ट चीज को उसे भेंट देना चाहते है, फिर भी वह उन्हे ग्रहण नही करता यहा तक कि उनकी ओर देखता तक नही, मन से भी उन्हे चाहता नही, वही वास्तव मे परिग्रहत्यागी है।

परिग्रह के भेद—मूर्च्छा या ममता ही परिग्रह की परिभाषा होने के कारण परिग्रह के मुख्य दो भेद होते है—अतरग और वाह्य। मूर्च्छा-ममता करना अन्तरग परिग्रह है। आशय यह है,जव आत्मा अपनी निजी वस्तु अर्थात् सहज शुद्ध निजस्वभाव या ज्ञानदर्शनादि निज गुणो को छोड कर परभावो—क्रोधादि कपायो या मिथ्यात्व, हास्यादि विकारो या राग-द्वेप आदि मे रमण करने लगता है, उन्हे ही अपने मान कर अपना लेता हे, तव वे कर्मजन्य विकारभाव आत्मा के लिए अन्तरग परिग्रह कहलाते हैं। वे अन्तरग परिग्रह १४ हे—१ मिथ्यात्त्व, २ राग, ३ द्वेप, ४ क्रोध, ५ मान, ६ माया, ७ लोभ, ८ हास्य, ९ रति, १० अरति, ११ शोक, १२ भय, १३ जुगुप्सा और १४ वेद। आत्मा ने अनादिकाल से इन मिथ्यात्व आदि अन्तरग परिग्रहो को पकड रखा है, अपना रखा है। इनके कारण नित्य नये-नये कर्मवन्धन से जकडा जाता हुआ प्राणी अपनी स्वाभाविक ऊर्द्ध्वगमनशक्ति को खो वैठा है और वायु के झोको से चचल वनी हुई अग्नि की लपटो के समान अपनी स्वाभाविक स्थिति से हट कर वह इधर-उधर नरक-तियञ्च आदि गतियो मे गुमराह हो कर भटक रहा है। वास्तव मे मिथ्यात्व, क्रोधादि कपाय एव वेद आदि अन्तरग परिग्रह ही आत्मा का पतन करने वाले है। जिनके अन्तकरण से ये निकल गये हे और

चन्द्रकान्त आदि मणि,सोने, चादी,हीरे आदि वहुमूल्य पदार्थ अपनी तिजोरी या भडार मे रखे और उन्हे देख-देख कर आँखे टडी की, इत्र आदि वहुमूल्य सुगन्धित द्रव्यो से अपने शरीर और वस्त्रादि सुवासित किये , सुन्दर स्त्रियो और आज्ञाकारी विनीत पुत्रो को देख-देख कर अपने मन और नेत्र मे काल्पनिक शान्ति की अनुभूति की, अपने मनोनुकूल कुटुम्बीजन पाकर तथा आज्ञाकारी सेवक-सेविकाएँ पा कर झूठा सन्तोप माना, शरीर के पोपण के लिए दूध, दही, घी आदि पदार्थों के साधक गाये-भैस आदि पशु उपलब्ध किए, सवारी के लिए हाथी, घोडे, रथ, ऊँट आदि प्राप्त किये, गृहकार्य के लिए या परिवार का निर्वाह करने के लिए वढिया कपडे, शय्या, वर्तन, मकान, भोजन, पेय-पदार्थ, धन और धान्य आदि का सग्रह किया, अभीष्ट भोगविलास के लिए अनेक साधन जुटाए, फिर भी आत्मा की तृप्ति न हुई,आसक्ति और तृष्णा वनी रही। ज्यो-ज्यो इन वाह्य परिग्रहो की माँग वढती गई, त्यो-त्यो चिन्ता और व्याकुलता भी वढती गई।

अत पहले परिग्रह रूप विविध वस्तुओ के पाने की चाह, फिर प्राप्ति के लिए प्रयत्न, तदनन्तर प्राप्त वस्तु की रक्षा और फिर प्राप्त वस्तु का वियोग, ममत्व-त्याग न होने की हालत मे दूसरे के पास किसी वस्तु की प्रचुरता और अपने पास उसके न होने के कारण ईर्ष्या, द्वेप, वैरविरोध आदि, इन पाचो अवस्थाओ मे परिग्रह को ले कर दुख और अशान्ति, चिन्ता और व्याकुलता, निराशा और उद्विग्नता मन को घेरे रहती है।

परिग्रह को वृक्ष की उपमा—यही कारण है कि शास्त्रकार ने आगे चलकर इसी सूत्रपाठ मे परिग्रह को वृक्ष की उपमा दी है। "**अपरिमियमणततण्हमणुगय** से ले कर **पर्कापयग्गसिहरो**" तक का पाठ इस वात का साक्षी है। इस परिग्रह-रूपी वृक्ष की जड तृष्णा और महाभिलापा है। क्योकि प्राप्त हुए पदार्थो की रक्षारूप तृष्णा और अप्राप्त वस्तु की आकाक्षा के आधार पर ही यह परिग्रह वृक्ष टिका हुआ है। यदि ये दोनो नष्ट हो जाएँ तो परिग्रह वृक्ष गिर जाएगा। वास्तव मे असीम एव अनन्त तृष्णा और लगातार नई-नई वस्तुओ को पाने की इच्छा और लालसा ही परिग्रहवृक्ष को मजवूत वनाने और टिकाए रखने वाली जडे है। ये जडे दिनोदिन हरीभरी होती हैं। मनुष्य के अरमान और उसकी वडी-वडी इच्छाएँ कभी पूरी नही होती। वे पूरी हो, चाहे न हो, मनुष्य के मन मे तृष्णा या लालसा के पैदा होते ही परिग्रह का पाप जन्म ले लेता है। इसलिए निरर्थक इच्छाओ या तृष्णाओ से वचना चाहिए।

इस परिग्रहवृक्ष का महास्कन्ध लोभ,कलह और क्रोध,मान, और माया रूप कपाय है। प्राप्त या अप्राप्त वस्तुओ के प्रति आसक्ति लोभ है,किसी इप्ट वस्तु का वियोग और अनिप्ट वस्तु का सयोग होने पर परस्पर कलह होता है। कलहके साथ क्रोध,अभिमान

और छल-कपट का गठबन्धन है ही। ये तीनों लड़ाई-झगडे के मूल कारण है। परिग्रह के लिए दुनिया मे भाई-भाई मे, पिता-पुत्र मे, पति-पत्नी मे, माता-पुत्र मे भयकर लड़ाइयाँ हुई हैं, सिर फुटौव्वल हुआ है, तू-तू-मैं-मैं हुई है। इसीलिए लोभ, कलह और कषाय, इन तीनो को परिग्रहवृक्ष का महास्कन्ध (धड) बताया गया है।

फिर सैकडो नित नई चिन्ताएँ इस परिग्रहवृक्ष की शाखाएँ है। कहा भी है—

अर्थानामर्जने दु ख, अर्जितानां च रक्षणे।
आये दु ख, व्यये दु ख, धिगर्था कष्टसश्रया ॥'

अर्थात्—अर्थों—धनसम्पत्ति या पदार्थों को अव्वल तो प्राप्त करने मे ही चिन्ता आदि दु ख लगे हुए है, फिर प्राप्त हो जाने पर उन धन आदि प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने मे चिन्ता आदि सैकडो कष्ट है। धन के आने मे दु ख, खर्च होने मे दु ख। धिक्कार है, अर्थ सुख क नही, कष्टो के ही आश्रयस्थान है।

परिग्रह बढने के साथ ही क्रोध, अभिमान, माया और लोभ तो बढ ही जाते हैं। साथ ही कई ऐब भी लग जाते है। ऐब लग जाने पर परिग्रही मनुष्य स्वय चिन्ताओ के जाल मे फसता है। एक चिन्ता पूरी हुई न हुई, तब तक दूसरी चिन्ता आ धमकती है। शाखाओ की तरह चिन्ताएँ नित-नई बढती ही जाती है। इसलिए चिन्ताएँ परिग्रह-वृक्ष की डालिया है, जो बहुत दूर तक फैली हुई है।

ऋद्धि-रस-सातागौरवरूप इस परिग्रह वृक्ष की विस्तृत अग्रशाखाएँ है। जब मनुष्य के पास परिग्रह बढ जाता है, तो उसे अपनी ऋद्धि-विभूति, अपने पास प्रचुर धन के कारण प्राप्त हुए साधनो, इन्द्रियविषयो मे रागरग आदि मे या स्वादिष्ट भोज्य वस्तुओ मे रस का एव अपने प्राप्त हुए सुखसाधनो के द्वारा होने वाले क्षणिक सुख का घमड हो जाता है। इससे वह दूसरो को तुच्छ समझता है, अपने हितैषियो को ठुकरा देता है, अपने सिवाय अन्य से घृणा करने लगता है।

इस परिगृहवृक्ष की छाल (त्वचा), पत्ते और छोटे कोमल पत्ते वचना व छल है। जब मनुष्य के पास परिग्रह बढता है या वह परिग्रह बढाना चाहता है तो वह अपने सगे भाई तक के साथ प्राय झूठ-फरेब, द्रोह, छल-छिद्र या धोखेबाजी करता है।

इसके बाद इस परिग्रहवृक्ष के फूल और फल कामभोग है। जब मनुष्य के पास परिग्रह बढता है, और वह बढता है—अन्याय-अनीति या शोषण द्वारा, तब उस परिग्रही को ऐश-आराम, भोगविलास या रागरग की सूझती है। वह नाटक-सिनेमाओ मे ही अपना धन खर्च करता है। फिर उसका चित्त धार्मिक बातो मे, धर्माचरण मे, दान मे, या शुभकार्यो मे लगना कठिन है। रातदिन नाना प्रकार के

मनचाहे कामभोगो को भोगने की ही उसकी धुन वनी रहती है। भोग मानवजीवन को गला देते है, नि सत्त्व कर डालते है,सत्य, अहिंसा, न्यायनीति के गुणो से और शरीर मे भी भ्रष्ट कर देते हे। जव मनुष्य के पास अनापसनाप धन के रूप मे परिग्रह आता है तो वह व्यभिचारसेवन या अनाचारसेवन करने का व्यसनी या आदी हो जाता ह, और उसकी इज्जत-आवरु मिट्टी मे मिल जाती है। और परिग्रहवृक्ष का अग्रशिखर है—शारीरिक खेद, चित्त मे खिन्नता, परस्पर कलह, गालीगलौज आदि। परिग्रह की प्राप्ति के लिए वहुत-सी वार परिग्रहलोलुप व्यक्ति अन्याय, अनीति, गवन,कमजोरी, शोपण, चोरी आदि अनेक अनैतिक तरीको को अपनाना ह। उनमे उसे मानसिक खेद तो होता ही है। वार-वार सकट मे घिर जाने का भय,पकड जाने का डर, दण्ड मिलने की आशका, अनुचित ढग से प्राप्त धन आदि को छिपाने, दवाने या सरकार की नजरो मे वचने की मन मे योजना वनाने की धुन, वार-वार दौडधूप मे घवराहट का अनुभव, ये और इसी प्रकार के विविध मानसिक खेद तो परिग्रही को होते ही रहते है। शारीरिकखेद की भी कोई सीमा नही हे। परिग्रहधारी को चोर, डाकू, सरकार आदि से मारे-पीटे जाने, सताये जाने या दण्डित किये जाने का खतरा रहता है। उसे कई दिनो तक नीद नही आती। अपच, मन्दाग्नि, क्षय रक्तचाप, हृदयपीडा आदि भयकर रोग उसे प्राय घेरे रहते ह। और परस्पर गाजीगलौज, डाटडपट आदि बुरे वचन तो परिग्रह के कारण मनुष्य को प्राप्त होते ही ह।

वास्तव मे परिग्रह विपवृक्ष की तरह महाभयकर है। लोग इससे छुटकारा पाने के वदले इसके साथ अधिकाधिक चिपटते जाते है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'नरपतिसपूजितो वहुजणस्स हिययदइओ।'** अर्थात्—परिग्रह भोग के पुतले राजा आदि लोगो द्वारा ही अधिक सम्मान्य और आदरणीय है। आजकल तो क्या राजा, क्या रक, क्या खेती करने वाला और क्या मजदूर, प्राय सभी परिग्रह या परिग्रही का ही अधिक सम्मान-सत्कार करते है, उसे ही आदर देते है। यह वहुत लोगो के हृदय का प्यारा है। लडका अगर कमाऊ है, तो वह सवको प्यारा लगता है। वहू अगर दहेज मे वहुत धन लाई है तो सवको अच्छी लगती है, इसी तरह घर मे पिता कमाता है तो पुत्र को या पुत्र की माता को अच्छा लगता है। इसलिए परिग्रह या परिग्रही को वहुत-से लोगो का हृदयवल्लभ वताया है।

'मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलिहभूओ'—वास्तव मे मोह या आसक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति मे मुख्य रुकावट है। मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ उपाय—निर्लोभता—मुक्ति है। परिग्रह मोहरूप या आसक्ति रूप होने से निर्लोभता—अनासक्ति के मार्ग मे अर्गला के समान है। समस्त कर्मवन्धनो को तोड देने वाले आत्मध्यान आदि शुद्ध परिणामरूप भावमोक्ष का मार्ग निर्लोभता है, जिसे पाने मे परिग्रह एक भयकर वाधक है। यह एक

पदार्थान्वय—(व) और (तस्स) उस परिग्रह के, (गोण्णाणि) गुणनिष्पन्न—सार्थक, (इमाणि) ये (तीस) तीस, (णामाणि होंति) नाम होते हैं। (तजहा) वे इस प्रकार हैं—(परिग्गहो) परिग्रह,(सचयो) सचय (चयो) चय— पदार्थो को इकट्ठा करना, (उवचओ) पदार्थों की वृद्धि करना—उपचय, (निहाण) निधान— भूमि आदि मे गाड कर रखना अथवा धन मे निरन्तर बुद्धि जमाए रखना अथवा (निदाण) सर्वदोषो का आदिकारण, (सभारो) धान्य आदि वस्तुएँ अधिक परिमाण मे भर कर रखना, जमाखोरी करना, (सकरो) भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओ को मिला कर रखना, (आयरो) पदार्थो को आदरपूर्वक सहेज कर रखना, (पिंडो) द्रव्यो का ढेर करना, (दव्वसारो) सारभूत द्रव्य या जिसमे द्रव्य ही सार वस्तु मानी जाती ह, वह (तहा महेच्छा) तथा अपरिमित इच्छा, (पडिवधा) धन, पदार्थ आदि मे आसक्ति रखना, (लोहप्पा) लोभरूप स्वभाव, (महिड्ढिया) धन आदि की महती इच्छा अथवा (महिद्दिया) वडी भारी याचना,(उवकरण) घर का उपयोगी सामान,(सरक्खणा) अत्यन्त आसक्तिपूर्वक शरीरादि का जतन करना—रक्षा करना,(भारो) भाररूप-बोझिल,(सपाय-उप्पायको) अनर्थो का उत्पादक, (कलिकरडो) कलहो-झगडो का पिटारा, (पवित्थरो) धन-धान्य आदि का विस्तार करना , (अणत्थो) अनर्थो का कारण, (सथवो) स्त्री-पुत्रादि मे अत्यन्त ससर्ग या गाढपरिचयरूप आसक्ति, (अगुत्ती) इच्छाओ को दबा कर न रखना, अथवा (अकित्ति) अपयश का कारण, (आयासो) शारीरिक और मानसिक खेद, (अविओगो) धनादि का अपने से वियोग न करना, नहीं छोडना , (अमुत्ती) निर्लोभता का अभाव, (तण्हा) धनादिद्रव्यो की तृष्णा—लालसा, (अणत्थको) परमार्थदृष्टि से निष्प्रयोजन— निरर्थक, (आसत्ती) पदार्थो मे आसक्ति—मूर्च्छा रखना, (य) और (असतोसोत्ति वि य) असतोष भी , (तस्स) उस परिग्रह के (एयाणि) ये ऊपर बताए (तीस) तीस, तथा (एवमादीणि) इसी प्रकार के और भी (नामधेज्जाणि) नाम (होंति) होते हैं। (सू० १८)

मूलार्थ—परिग्रह के गुणनिष्पन्न—सार्थक निम्नोक्त तीस नाम है। वे इस प्रकार हैं—१ परिग्रह, २ सचय -सर्वथा ग्रहण करने की बुद्धि से धनादि एकत्र करना, ३ चय वर्तमानकाल की अपेक्षा से धनादि का सग्रह करना, ४ उपचय—आगामीकाल की दृष्टि से वारवार धनादि की वृद्धि करना, ५ निधान—निरन्तर धन को भूमि मे गाड कर या तिजोरी मे रखना अथवा सव दोपो का निदान, ६ सभार—धान्य आदि पदार्थों को अधिक मात्रा

कि ये कपडे या ये पदार्थ मेरे काम मे आएँगे। उमे यह पता नही है कि काल किस समय आ दवोचेगा। उस समय ये सब चीजे यही की यही धरी रह जायेगी। अथवा वह जिस समय उन पदार्थो मे से किसी को काम मे लेना चाहेगा, उस समय बीमारी, अशक्ति, अगविकलता आदि अन्तरायो के कारण वह उन्हे जरा भी काम मे नही ले सकेगा। इसलिए 'सभार' मे भी परिग्रह के समान ग्रहण करके केवल भरने या भरे रखने की दृष्टि होने से वह भी परिग्रह का मित्र है।

'सकरो'—भिन्न-भिन्न पदार्थों को मिला कर—एकत्र करके रखना 'सकर' कहलाता हे। कई वार मनुष्य के मन मे यह विचार आता है कि अगर यह कीमती चीज अलग रखी जायगी तो कोई माग लेगा या घर का कोई आदमी इसका इस्तेमाल कर लेगा। अत वह उस वहुमूल्य चीज को दूसरी घटिया चीजो के साथ इस तरह मिला कर रख देता है कि दूसरे को झटपट न मिले। इस सकरवृत्ति के पीछे उस वस्तु के पीछे ममत्त्व की भावना होती है, और यही वात परिग्रह मे होती है। इसलिए 'सकर' को परिग्रह का समानार्थक शब्द कहना उचित हैं।

'आयरो'—अपने शरीर, धन, धान्य आदि का आदर-सत्कार करना, लाड-प्यार करना 'आदर' कहलाता है। कई मनुष्यो को देखा गया है कि वे अपने धन, शरीर या वस्त्र आदि को वहुत ही सहेज कर हिफाजत से रखते हैं। शरीर सशक्त है, परोपकार के काम मे आ सकता है, अथवा गृहकार्य करने मे भी सशक्त है, लेकिन उसके प्रति मोह या आसक्ति होती है, इसलिए वे न तो उससे कुछ काम लेते है, न परोपकार के लिए शरीर का उपयोग करते है, जीवनभर आलसी और अकर्मण्य वन कर शरीर को ही सजाने—सवारने या धनादि को हिफाजत से रखने—रखाने मे लगे रहते है। उनकी यह वृत्ति-प्रवृत्ति मोह-ममत्ववश होतो है, इस लिए आदर को परिग्रह का जनक कहना उपयुक्त है।

'पिडो'—किसी वस्तु या धन की राशि वनाना या ढेर करना या एकत्रीकरण करना पिड कहलाता है। मनुष्य कई वार लोभवश धन की राशि करने मे या किसी वस्तु का ढेर करने मे ही लग जाता है, उस धुन मे वह न तो ठीक तरह से खाता-पीता है, न ही सोता है, न किसी से मिलता जुलता है, न अपने परिवार या समाज के प्रति कर्त्तव्यो पर ध्यान देता है और न ही किसी परोपकार के काम मे प्रवृत्त होता हैं। रातदिन मम्मण सेठ की तरह धन के ढर लगाने मे या किसी चीज को एकत्र करने मे ही तेली के वैल के समान जुता रहता हे। पिड लोभवश ही होता है, और लोभ परिग्रह को उत्तेजित करता है। इस कारण पिड को परिग्रह का जनक कहे तो कोई अत्युक्ति नही।

'दव्वसारो'—द्रव्य को ही ससार मे एकमात्र सारभूत वस्तु मानना द्रव्यसार

कहलाता है। यहा द्रव्य से धन का तात्पर्य है। कई लोग जो अत्यन्त लोभी होते है, वे द्रव्य को ही जीवन का सर्वस्व मानते है। द्रव्य के लिए नीति, न्याय, धर्म, भाई—बन्धुओ का स्नेह, पुत्रो के प्रति कर्त्तव्य, स्त्री के प्रति जिम्मेदारी, आदि सबको वे ताक मे रख देते हैं। ऐसे लोग धन के लिए ईमानदारी—बेईमानी का कोई विचार नहीं करते, भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय की भी परवाह नही करते और न लोकविरुद्ध व्यवसाय—मास की दूकान, मदिरालय, वेश्यालय, मुर्गी खाना आदि धधा को अपनाने से परहेज करते हैं। येन-केन-प्रकारेण धन उनके पास आना चाहिए। धन के लिए वे किसी का गला घोटने, किसी की हत्या करने या मारने-पीटने मे नही चूकते। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य धन कमाना होता है। क्योंकि वे धन को ही सुख का साधन, जीवन का निचोड समझते है। ऐसी द्रव्यसारता की वृत्ति परिग्रह-लालसा की द्योतक है। इसीलिए 'द्रव्यसार' को परिग्रह का पर्यायवाची ठीक ही कहा है।

'महिच्छा'—असीम इच्छाओ का कारण महेच्छा कहलाती है। मनुष्य की इच्छाओ की कोई सीमा नहीं होती। जब वह अनाप-सनाप इच्छाएँ मन मे उठाता रहता है तो दूसरे किसी भी अच्छे कार्य, अपने धर्म, नियम, कर्त्तव्य या उत्तरदायित्व की ओर उसका ध्यान नही जाता। इच्छाएँ परिग्रह को जन्म देती है। जो-जो इच्छा-रूपी तरगें मन मे उठती हैं, मनुष्य उन्हे पूरी करने के लिए हाथ-पैर मारता है, रात दिन इसी उधेड बुन मे रहता है। उसे जीवन मे अपनी कामनाओ को पूरा करने की धुन सवार होती है। कामनाएँ कभी पूरी होती नहीं। इस कारण वह अशान्त, हताश और निराश हो जाता है। इसलिए महेच्छा परिग्रह का कारण होने से एक तरह से परिग्रह की जननी है।

'पडिबधो'—किसी वस्तु के साथ बध जाना, जकडा जाना प्रतिबध कहलाता है। मनुष्य आसक्ति वश ही किसी चीज मे बधता है। जैसे भौरा सुगन्ध के लोभवश कमल को भेदन करने की शक्ति होने पर भी कमल के कोश मे बद हो जाता है, इसी प्रकार स्त्री, मकान, दूकान, धन या पदार्थ अथवा पद के मोह मे ऐसे जकड जाना कि उसे छोडने का सामर्थ्य होते हुए भी छोडना नही, उसके झूठे प्रेम मे बद हो जाना ही प्रतिबध है। ऐसा प्रतिबध मनुष्य की स्वतत्रता की शक्ति को कुठित कर देता है। जैसे तोता पीजरे मे बद होकर अच्छे-अच्छे पदार्थ पाने के लोभ से अपनी स्वतत्रता को भूल जाता है, वैसे ही किसी के प्रतिबन्ध मे पडा हुआ मनुष्य भी अपनी स्वतत्रता को भूल जाता है। इसलिए प्रतिबन्ध भी परिग्रह की तरह एक प्रकार का बन्धन है।

'लोहप्पा—लोभ का स्वभाव—लोभवृत्ति लोभात्मा है। लोभवश ही वस्तुओ का सग्रह करने की प्रवृत्ति होती है। लोभी वृत्ति वाला मनुष्य लोभ के वश दूसरो के

साथ झूठ बोलने, बेईमानी करने, दूसरों को धोखा देने, झूठा तौल—नाप करने, मिलावट करने, असली वस्तु दिखा कर नकली देने आदि अनीति के कार्य करने से नही हिचकिचाता। इस दृष्टि से लोभ परिग्रह का कारण है। इसलिए लोभात्मा (लोभस्वभाव) को परिग्रह का नाम कहें तो कोई अत्युक्ति नही होगी।

'महिड्ढिया' या 'महिद्दिया'—जिसमे बडी-बडी आकाक्षाएँ हो, उसे महर्द्धिका कहते है। मनुष्य अपने लिए बडी-बडी आकाक्षाएँ करता है। आकाक्षाएँ असीम होती है। उनकी पूर्ति न होने से मन मे सक्लेश होता है। परिग्रह भी इच्छाओ से होता है, इसलिए महर्द्धिका को परिग्रह की जननी समझा जाय तो कोई हर्ज नही। इसका दूसरा रूप महार्दिका बनता है, जिसका अर्थ होता है—महती याचना। जिसमे बडी-बडी मागे हो वह महार्दिका कहलाती है। जिसमे लोभवृत्ति होती है, वह बडी-बडी मागे रखता है, बार-बार याचना करता है। अत महार्दिका को भी परिग्रह से सम्बन्धित होने से परिग्रह का पर्यायवाची शब्द कहना ठीक ही है।

'उवकरण' उपधि या गृहोपयोगी साधन-सामग्री को उपकरण कहते हैं। मनुष्य कभी कभी आवश्यकता-अनावश्यकता का खयाल नही करता और अनाप-सनाप चीजे घर मे जमा करता रहता है, कई दफा तो सारा कमरा फर्नीचर (टेबल, कुर्सी, सोफा, अलमारी आदि) से खचाखच भर जाता है। कई लोग बिना जरूरत की कई चीजे बर्तन, फूलदान, झाडफानुस आदि सजावट या शोभा के लिए रखते है। यह सरासर परिग्रह है। परिग्रहरूप बनी हुई उपधि जीवन के लिए उपाधि बन जाती है। यह तो हुई बाह्य उपधि। आभ्यन्तर उपधि आत्मा से सम्बन्धित है। आत्मा या आत्म गुणो के अतिरिक्त जितने भी ज्ञानावरणीय आदि आठ द्रव्यकर्म हैं, और रागद्वेष, कषाय आदि भाव कर्म है, वे सब आभ्यन्तर उपधि हैं। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के समकक्ष होने से उपधि भी परिग्रह की सहोदर बहन है।

'भारो'—बोझ या भाररूप होने से परिग्रह को भार कहा जाता है। वास्तव मे जब प्राणी के जीवन मे बाह्य और आभ्यतर परिग्रह बढ जाता है, तब वह भारभूत हो जाता है। यो तो आत्मा का गुण अगुरु लघु है। वह न तो इतना हलका है कि रूई की तरह उड जाए और न लोहे के पिंड के समान भारी है कि जमीन मे धस जाए। किन्तु अनादिकाल से ज्ञानावरणीय आदि कर्मो का भार इस आत्मा के प्रत्येक प्रदेश (कण कण) के साथ चिपका हुआ है। ज्ञानावरणीयादि कर्म भी परिग्रह है। अत इस परिग्रह के बोझ से दबे होने के कारण आत्मा का ऊर्द्ध्वगमन का स्वभाव आवृत हो गया है और वह नाना गतियो मे चक्रवत् घूमता रहता है। अत अन्तरग भार ज्ञानावरणीयादि कर्म है और शरीर से सम्बन्धित स्त्री, पुत्र, मकान, धन आदि बाह्य भार है। उक्त दोनो भारो से दबा हुआ आत्मा अपनी अन्तिम मजिल (मुक्ति) तक नही पहुँच पाता। इसलिए भार को परिग्रह का पर्यायवाची कहना यथार्थ है।

'सपाय उप्पायको'—सपातो—सकल्प-विकल्पादि अनर्थो का या उपद्रवो का उत्पादक होने से यह सपातोत्पादक भी कहलाता है। वास्तव मे धनधान्यादि परिग्रह के अर्जन, रक्षण और वियोग के निमित्त से आत्मा मे अनेक सकल्प-विकल्प उठते रहते है, जो कर्मवन्ध या दुर्गतिगमन के कारण है। और परिग्रह भी इसी प्रकार नाना सकल्प-विकल्प—चिन्ता-दुश्चिन्ता का कारण है, इसलिए 'सपातोत्पादक' को उसका साथी कहा जाय तो अनुचित नही।

'कलिकरडो'—कलि यानी कलह का पिटारा होने से इसे कलिकरण्डो कहा है। वास्तव मे परिग्रह लडाई-झगड, युद्ध, वैर-विरोध, सघर्ष और मनमुटाव का खास कारण है। परिग्रह के कारण ससार मे अनेक लडाई-झगड, ओर वैर-विरोध हुए हैं। यहा तक कि सगे भाइयो मे, पिता-पुत्र मे और पति-पत्नी तक मे परिग्रह के कारण ठनी है। कहा भी है—

"पिता पुत्र पुत्र पितरमभिसधाय बहुधा।
विमोहाद् ईहेते सुखलवमवाप्तु नृपपदम्।
अहो मुग्धो लोको मृतिजननदष्ट्रान्तरगतो,
न पश्यत्यश्रान्त तनुमपहरन्त यमभमम् ॥"

अर्थात—'पिता पुत्र के साथ और पुत्र पिता के साथ मोह-मूढतावश वहुधा सुख का लेश प्राप्त करने के किए राजपद के लिए परस्पर लडते हे। यह कितने आश्चर्य को वात है कि मृत्यु की दाढो तले आये हुए मूढ लोग निरन्तर शरीर का सहार करते हुए यम की ओर नही देखते।'

भरतचक्रवर्ती ने राज्य के लिए अपने भाई वाहुवली के साथ युद्ध किया। यहाँ तक कि जव वह वाहुवली के साथ दृष्टियुद्ध आदि नियतयुद्धो मे हार गया, तव अन्त मे वाहुवली का प्राणघात करने की इच्छा से चक्र तक चलाने से नही हिचकिचाया। यह सव परिग्रह का ही तो कारण था।

अत 'कलिकरड' को परिग्रह का पर्यायवाची शब्द वताना सार्थक ही है।

'पवित्थरो'- धन, धान्य आदि पदार्थों के व्यवसाय को फैलाना—जगह-जगह व्यवसाय का वढावा करना—प्रविस्तर कहलाता है। प्रविस्तर भी परिग्रहवुद्धि—ममत्ववुद्धि के कारण हुआ करता है, इसलिए प्रविस्तर को परिग्रह का पुत्र कह दे, तो कोई अत्युक्ति नही।

'अणत्थो'--परिग्रह अनर्थ का कारण होने से इसका एक नाम अनर्थ भी है। शकराचार्य ने कहा है—'अर्थमनर्थ भावय नित्यम' अर्थ को सदा अनर्थ समझो। परिग्रह के कारण ही मनुष्य हिंसा, असत्य, चोरी, वेईमानी, कामभोगसेवन, स्वार्थ, लोभ आदि पापकर्म करता है। आभूपण एव धनादि परिग्रह के लिए हत्या, लूट, डकैती, मारपीट आदि अनेक

अनथ होते है । अपने प्रिय स प्रिय व्यक्ति के साथ सघर्ष और वैरविरोध परिग्रह को ले कर हुआ करता है । अनेक शारीरिक और मानसिक दु ख इसी के निमित्त से हुआ करते है ।

'वह-वधण-मारण-सेहणाउ काओ परिग्गहे नत्थि ।
त जइ परिग्गहुच्चिय जइधम्मो तो नणु पवचो ॥

अर्थात—मारना-पीटना, बाँधना, मार डालना, सजा देना इनमे से कौन-सी ऐसी पापक्रिया है,जो परिग्रह मे नही है ? यदि इन सबको उपचार से परिग्रह मान लिया जाय तो समझ लो, शेप यतिधर्म (क्षमा आदि) इसी परिग्रहत्याग का ही विस्तार है ।' दूसरी बात इससे आत्मा का कोई हित या अर्थ-प्रयोजन सिद्ध नही होता, उलटे यह आत्मगुणो का विघातक है, आत्मा के साथ पापकर्मो को चिपकाने वाला है और दुर्गति मे ले जाने वाला है । इसलिए परिग्रह अनर्थकर है । उपर्युक्त सभी कारणो से परिग्रह अनर्थो का मूल होने से, इसे 'अनथ' कहा है तो कोई अनुचित नही ।

'सथवो'—सस्तव का अर्थ होता है—परिचय । और बार-बार किसी चीज का परिचय या ससर्ग मोह-ममता का कारण बन जाता है । जितना अधिक धन, धान्य, सुख-साधन, स्त्री-पुत्र आदि के साथ सम्पर्क बढता जाता है, उतना ही अधिक आसक्ति, मोह, जडता, ममता या लोलुपता बढती जाती है । वस्तुत परिग्रह आसक्ति के कारण होता ह और सस्तव के कारण आसक्ति बढती ही है । इसलिए सस्तव को परिग्रह का पर्यायवाची कहना ठीक ही है ।

'अगुत्ती' या 'अकीत्ति'—इच्छाओ का गोपन न करना दबा कर न रखना, खुल्ली छोड देना, उन पर सयम या नियत्रण न करना, अगुप्ति कहलाती है । जब मनुष्य इच्छाओ को दबाता नही या उन पर कोई नियन्त्रण नही करता, तब इच्छाएँ उसे व्यथित, चिन्तित और उद्विग्न कर देती है । इच्छाएँ बढाने से सुख बढने की भ्रान्ति का शिकार होकर मनुष्य इच्छाओ को बढाता जाता है । आखिरकार उसे इच्छाओ, आशाओ या कामनाओ का दास-गुलाम बनना पडता है । वह अपने जीवन का बादशाह नही बन सकता, वह इच्छाओ—चाहो के इशारे पर नाचता रहता है । परिग्रह अपन आप मे इच्छाओ का अगोपन ही तो है । इसलिए अगुप्ति को परिग्रह की बहन कह दिया जाय तो कोई आपत्ति नही ।

इसका एक यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि परिग्रह के लिए मनुष्य शरीर, मन और इन्द्रियो की प्रवृत्ति को अधिकाधिक तेज करता जाता है, वह प्रवृत्ति की धुन म वह कर असयम के कार्यो मे भी प्रवृत्त हो जाता है । असयम की प्रवृत्ति से आत्मा, मन, शरीर और इन्द्रियो को न बचाना—गोपन न करना भी अगुप्ति है ।

परिग्रह मे प्रसक्त मनुष्य अपने मन, वाणी, शरीर और इन्द्रियो को उन्मुक्त छोड देता है, उन्हे अशुभत्व या असयम से वचाता नही। इसलिए अगुप्ति को परिग्रह की वहन कहे तो कोई अत्युक्ति नही।

'अगुत्ती' के वदले कही-कही 'अकित्ति' शब्द मिलता है, उसका अर्थ है—अपकीर्ति वदनामी का कारण। परिग्रह अधिकाधिक वढाने वाले प्राय अपने धर्म, कर्तव्य या दायित्व की ओर नही झाक सकते, न उन्हे समाजसेवा के सत्कार्यो मे सहयोग देने की स्फुरणा होती है और न ही परोपकार का चिन्तन होता हे। इसलिए केवल जोड-जोड कर धन इकट्ठा करने वालो की कीर्ति कभी नही वढती, वल्कि लोग उनकी अपकीर्ति ही अधिक करते हैं, उन्हे वदनाम करने से नही चूकते। अत अकीर्ति मे कारणभूत होने से इसे भी शास्त्रकार ने परिग्रह का पर्यायवाची शब्द कहा है।

'आयासो'—आयास का अर्थ हे—खेद। परिग्रह के जुटाने मे शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार का खेद होता है। अत्यधिक शारीरिक श्रम करने पर ही व्यक्ति परिग्रही वनता है। किन्तु इसके साथ मानसिक श्रम भी कम नही होता। धन आदि का अर्जन, रक्षण, व्यय और वियोग इन चारो मे कष्ट ही कष्ट है। इसलिए आयास का कारण होने से परिग्रह का आयास नाम भी दिया गया है।

'अविओगो'—धन, साधन घर का सामान आदि किसी भी चीज का त्याग न करना, अपने से वियुक्त न होने देना अवियोग कहलाता है। मनुष्य जव किसी भी चीज मे अत्यधिक आसक्त या मोहित हो जाता है, तव वह चीज चाहे सस्ती भी क्यो न हो, उसका अपने से वियोग नही होने देता अथवा वह अपनी अपेक्षा किसी अन्य अधिक जरूरतमद को भी नही देता या उसका त्याग नही करता। अवियोग एक प्रकार की गाढ आसक्ति के कारण होता है, इसलिए इसे भी परिग्रह का एक भाई कह दे तो असगत नही होगा। जिसे आसक्ति का रोग लग जाता है, वह व्यक्ति, किसी भी मनुष्य को—चाहे वह दुख मे ही क्यो न पडा हो, जरूरतमद ही क्यो न हो, दान देने या उसे थोडी देर के लिए इस्तेमाल करने हेतु भी अपनी चीज नही देता। वह यो सोचा करता है कि अगर मैं अमुक चीज या धन किसी को दान मे दे दूगा तो मेरे पास कम हो जायगा, मैं क्या करूँगा ? इस प्रकार अज्ञानता और मूढता के कारण विपरीत समझ वाला वह किसी भी वस्तु का दान नही करता। वह यह नही सोचता कि मेरे पास अमुक चीज पडी रहेगी, मेरे काम नही आएगी तो उससे मुझे क्या सुख मिलेगा ? वल्कि उसकी रक्षा-व्यवस्था की चिन्ता करनी पडेगी, जिससे दुख ही

होगा। परिग्रह पास मे होने पर भी कई लोग असातावेदनीय कर्म के उदय से दु खी दिखाई देते है और मुनि-श्रमण आदि के पास परिग्रह न होने पर भी वे वस्तुत सुखी दिखाई देते है। इसलिए धनादि के वियोग—त्याग को दु ख का हेतु नही समझना चाहिए।

'अमुत्ती'—मुक्ति का अर्थ यहा निर्लोभता है। इस दृष्टि से अमुक्ति का अर्थ है—सलोभता। लोभ से मुक्ति तभी होती है, जब व्यक्ति वस्तुओ का उपभोग करने के बदले उपयोग करना सीख ले, आवश्यकता से अधिक एक भी चीज का सग्रह न करे, आवश्यकताओ की भी सीमा बाधे। अत जब तक लोभ से मुक्ति-छुटकारा पाने का उपाय नही किया जाता, तब तक परिग्रह की वृत्ति मनुष्य को तग करती रहती है। इसलिए अमुक्ति को परिग्रह की सहचारिणी कहे तो अनुचित नही होगा।

'तण्हा'—धन, सुख के साधन या सासारिक पदार्थों की वाञ्छा या लालसा तृष्णा कहलाती है। तृष्णा मनुष्य को परिग्रह मे प्रवृत्त करती है। तृष्णा न होती तो मनुष्य को परिग्रह मे प्रवृत्त होने की आवश्यकता ही न रहती। तृष्णा-राक्षसी मनुष्य को प्रेरित करके धनादि पदार्थ जुटाने को विवश कर देती है। मनुष्य तृष्णा के पीछे बेतहाशा भागते-भागते बूढा हो जाता है, लेकिन तृष्णा बूढी नही होती, वह सदा जवान रहती है। तृष्णा से सतप्त प्राणी शान्ति पाने के लिए परिग्रह को शान्ति का कारण समझ कर उसमे प्रवृत्ति करता है। लेकिन इधन से अग्नि के भडकने के समान परिग्रहप्रवृत्ति से भी तृष्णा की आग और ज्यादा भडकती जाती है, मनुष्य शान्ति के बदले और अधिक सताप मे झुलस जाता है। किसी आचार्य ने ठीक ही कहा है—

> 'रे धनेन्धनसभार प्रक्षिप्याऽऽशाहुताशने।
> ज्वलन्त मन्यते भ्रान्त शान्त सन्धुक्षणे क्षणे।"

अर्थात्—'अरे भव्यजीवो! यह अज्ञानी मानव आशा-तृष्णा-रूपी आग मे धनरूपी-इन्धन का ढेर डाल कर उसे प्रतिक्षण अधिकाधिक प्रज्वलित करता है और उसमे जलता हुआ अपने-आपको भ्रान्तिवश शान्त हुआ समझता है।'

मतलब यह है कि तृष्णा—परिग्रह की वृद्धि होने पर बढते हुए सताप को यह पामर जीव शान्ति और सुख समझता है।

वास्तव मे तृष्णा ही परिग्रह की जननी है।

'अणत्थको'—परमार्थदृष्टि से जो निरर्थक-निष्प्रयोजन हो, उसे अनर्थक कहते है। धन-धान्यादि जितने भी पदार्थ है, वे कुछ समय के लिए भले ही काल्पनिक सुख के कारण बन जाँय, लेकिन वह सुख वास्तविक नही होता। परिग्रह आत्मा के लिए तो किसी भी काम का नही है। शरीर के लिए भी क्षणिक सुख का कारण होता है।

वह क्षण भर के लिए तो सुखकर लगता है, पर वाद मे वहुत समय तक दु खकारक वनता है। वह क्षणिक सुख भी अपथ्यसेवन करने वाले रोगी की तरह वास्तव मे दु खदायी हे। अत परिग्रह को परमार्थ दृष्टि से 'अनर्थक' भी कहा है।

'आसत्ती'—धन आदि मे ममता, मूर्च्छा या गृद्धि होना आसक्ति है। आसक्ति के कारण ही तो परिग्रह का पाप लगता है। अन्यथा सामने वस्तुओ का ढेर लगा हो, यदि उस पर जरा भी मन न डुलाए, या ममत्ववुद्धि न करे तो वे पदार्थ उसके लिए परिग्रहरूप न होगे। किसी के विशाल भवन मे एक त्यागी साधु भी रहता है, और उस भवन का मालिक भी रहता है। दोनो ही उसका समानरूप से पूरा-पूरा उपयोग करते है। मकान को न तो उसका मालिक उठा कर कही अन्यत्र ले जा सकता हे और न त्यागी साधु ही। परन्तु एक को मकान के खराब होने, नष्ट होने, दूमरा कोई उस पर कव्जा न जमा ले, इस वात की हर समय चिन्ता रहेगी, वह उस मकान को अपना मान कर अहकार और गर्व से फूल उठेगा। मकान को अधिक से अधिक किराये पर उठाने के लिए चिन्तित रहेगा, और मकान की गतिस्थिति पर दत्तचित्त रहेगा। मकान से सम्वन्धित इन सारी खुरापातो का मूल कारण आसक्ति है, उसी के कारण मकानमालिक परिग्रह से सम्वन्धित अशुभ कर्मों से लिप्त होता रहता है। जवकि त्यागी साधु उस मकान मे रहता हुआ भी और उसका पूर्णरूप से उपयोग करता हुआ भी मकान को अपना नही मानता, इस कारण उसे अहकार नही छूता, न वह लोभ से प्रेरित होता है कि मै इसे न्यून या अधिक किराये पर उठा दू। न उसे उसके लिए किसी कारणवश चिन्तित होना पडता है। दूसरो के द्वारा उस पर कव्जा जमाने का भी उसे कोई डर नही है। अत वह मकान की गतिस्थिति से चिन्तित या उसमे दत्तचित्त नही रहता। वह जव तक मकान मे रहना चाहता है, शान्ति से रहता है, वाद मे छोड जाता है। इस कारण न तो वह उस मकान मे आसक्ति रखता है और न परिग्रह से सम्वन्धित अशुभकर्मो से लिप्त होता है। यही आसक्ति और अनासक्ति मे अन्तर है। इसलिए आसक्ति को परिग्रह की दादी कहा जाय तो अत्युक्ति नही होगी।

'असतोसो'—असतोप का कारण होने से परिग्रह को असतोप भी कहा है। मनुष्य जहाँ तक सासारिक पदार्थों के प्रति सतोप धारण नही कर लेगा, वहाँ तक उसे उन पदार्थो के न मिलने पर या कम मात्रा मे मिलने पर असतोप होता ही रहेगा। उस असतोप के कारण धन-धान्यादि के सग्रह-परिग्रह मे वह अत्यधिक प्रवृत्त होता जायगा, लेकिन उसकी पूर्ति फिर भी नही होगी। असतोप उसके पीछे सदा भूत की तरह लगा रहेगा। असतोप की दवा परिग्रहवृद्धि नही, परिग्रह मे कमी करना

और सतोप-वृत्ति धारण करना है। चूँकि असतोप परिग्रह का कार्य है, इसलिए असतोप को भी परिग्रह का साथी कहना अनुचित नही होगा।

परिग्रहधारी कौन-कौन प्राणी है ?

नामद्वार के बाद अब शास्त्रकार कर्ताद्वार के माध्यम से परिग्रह को स्वीकार करने वाले प्राणियो का प्रतिपादन करते है—

मूलपाठ

त च पुण परिग्गह ममायति लोभघत्था भवणवर-विमाण-वासिणो परिग्गहरुई (ती) परिग्गहे विविहकरणबुद्धी देवनिकाया य, असुर-भुयग-सुवण्ण(गरुल)-विज्जु - जलण-दीव-उदहि-दिसि-पवण-थणिय-अणवनिय-पणवनिय-इसिवातिय- भूतवाइय - कदिय-महाकदिय - कुहड-पतगदेवा, पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस-किनर-किंपुरिस-महोरग-गधव्वा य, तिरियवासी, पचविहा जोइसिया य देवा वहस्सई (ती) चदसूरसुक्कसणिच्छरा राहुधूमकेउबुधा य अगारका य तत्ततवणिज्जकणयवण्णा जे य गहा जोइसम्मि चारं चरति केऊ य गतिरतीया अट्ठावीसतिविहा य नक्खत्तदेवगणा नाणासंठाणसठियाओ य तारगाओ ठियलेस्सा चारिणो य अविस्साममडलगती।

उवरिचरा उड्ढलोगवासी दुविहा वेमाणिया य देवा सोहम्मीसाण - सणकुमार - माहिंद - बंभलोग-लतक - महासुक्क-सहस्सार-आणय-पाणय-अच्चुया कप्पवर-विमाणवासिणो सुरगणा गेवेज्जा अणुत्तरा दुविहा कप्पातीया विमाणवासी महिड्ढिका उत्तमा सुरवरा एव च ते चउव्विहा सपरिसा वि देवा ममायति, भवण-वाहण-जाण-विमाण-सयणासणाणि य नाणाविहवत्थभूसणा पवरपहरणाणि य नाणामणिपचवण्णदिव्व च भायणविहिं नाणाविह-कामरूवे वेउव्विय(त)अच्छरगणसघाते दीवसमुद्दे दिसाओ विदिसाओ चेतियाणि वणसडे पव्वते य गामनगराणि य आरामुज्जाणकाणणाणि य, कूव-सर-तलाग-वावि-दीहिय-देव-

कुल-सभ-प्पव-वसहिमाइयाहिं बहुकाइ कित्तणाणि य परिगेण्हित्ता परिग्गहं विपुलदव्वसार देवावि सइदगा न तित्ति न तुट्ठि उवलभंति ।

अच्चतविपुललोभाभिभूतसन्ना वासहर-इक्खुगार-वट्ट-पव्वय-कु डल-रुचग-वरमाणुसोत्तर-कालोदधि - लवणसलिल - दहपति-रतिकर-अंजणकसेल-दहिमुह-ऽवपातुप्पाय-कचणक - चित्तविचित्त-जमक-वरसिहर-कूडवासी वक्खार-अकम्मभूमिसु सुविभत्तभाग-देसासु कम्मभूमिसु, जेऽवि य नरा चाउरतचक्कवट्टी वासु-देवा बलदेवा मडलीया इस्सरा तलवरा सेणावतो इब्भा सेट्ठी रट्ठिया पुरोहिया कुमारा दडणायगा गणनायगा माडबिया सत्थवाहा कोडु बिया अमच्चा एए अन्ने य एवमाती परिग्गह संचिणंति, अणत, असरण, दुरत, अधुवमणिच्च, असासय, पावकम्मनेम, अवकिरियव्व, विणासमूल, वहबधपरिकिलेस-बहुल, अणतसंकिलेसकारण । ते त धणकणगरयणनिचयं पिंडिता चेव लोभघत्था ससार अतिवयति सव्वदुक्खसनिलयण,परिग्गहस्स य अट्ठाए सिप्पसय सिक्खए बहुजणो कलाओ य बावत्तरिं सुनिपुणाओ लेहाइयाओ सउणरुयावसाणाओ गणियप्पहाणाओ चउसट्ठि च महिलागुणे रतिजणणे सिप्पसेव असि-मसि-किसि-वाणिज्ज, ववहार अत्थसत्थइसत्थच्छरुप्पगय विविहाओ य जोगजुंजणाओ अन्नेसु एवमादिएसु बहुसु कारणसएसु जावज्जीव नडिज्जए, सचिणति मदबुद्धी परिग्गहस्सेव य अट्ठाए करति पाणाण वहकरण, अलिय-नियडि-साइ-सपओगे परदव्व(व्वे) अभिज्जा, सपरदारअभिगमणासेवणाए आयासविसूरण कलह-भडणवेराणि य अवमाणणविमाणणाओ इच्छामहिच्छप्पिवास-सतततिसिया तण्हगेहि-लोभघत्था अत्ताणा अणिग्गहिया करेंति कोहमाणमायालोभे, अकित्तणिज्जे परिग्गहे चेव होंति नियमा

सल्ला दडा य गारवा य कसाया सन्ना य कामगुणअण्हगा य इदियलेसाओ सयणसपओगा सचित्ताचित्तमीसगाइ दव्वाइ अणतकाइ इच्छति परिघेत्तु सदेवमणुयासुरम्मि लोए लोभ-परिग्गहो जिणवरेहिं भणिओ नत्थि एरिसो पासा पडिवधो अत्थि सव्वजीवाण सव्वलोए ॥ (सू १६)

सस्कृतच्छाया

त च पुन· परिग्रह ममायन्ते लोभग्रस्ता भवनवरविमानवासिनः परिग्रहरुचयः परिग्रहे विविधकरणबुद्धयो देवनिकायाश्च असुरभुजगसुपर्ण-(गरुड) - विद्यु ज्ज्वलन-द्वीपोदधिदिक्पवनस्तनिताऽणपन्निकपणपन्निकऋषिवादिकभूतवादिकक्रन्दितमहाक्रन्दितकूष्माडपतगदेवा, पिशाच-भूत यक्ष-राक्षस-किन्नर-किम्पुरुष-महोरग गन्धर्वाश्च तिर्यग्वासिन. पचविधाः ज्योतिष्काश्च देवा बृहस्पति-चन्द्र-सूर्य-शुक्र-शनैश्चरा राहु-धूमकेतु-बुधाश्च अगारकाश्च तप्ततपनीयकनकवर्णा ये च ग्रहा ज्योतिषे चार चरन्ति, केतवश्च गतिरतिका अष्टाविशतिविधाश्च नक्षत्रदेवगणा नानासस्थानसस्थिताश्च तारका स्थितलेश्याश्च चारिण्यश्चाविश्राममण्डलगतय, उपरिचरा ऊर्द्ध्वलोकवासिनो द्विविधा वैमानिकाश्च देवा सौधर्मेशानसानत्कुमार-माहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारानतप्राणतारणाच्युता· कल्पवर-विमानवासिन सुरगणा ग्रैवेयका अनुत्तरा, द्विविधा कल्पातीता विमान-वासिनो महर्द्धिका उत्तमा सुरवरा, एव च ते चतुर्विधा सपरिषदोऽपि देवा ममायन्ते भवन-वाहन-यान-विमान-शयनासनानि च नानाविधवस्त्र-भूषणानि प्रवरप्रहरणानि च नानामणिपचवर्णदिव्य च भाजनविधि नानाविधकामरूपविकुर्विताप्सरोगणसघातान् द्वीपसमुद्रान् दिशो विदिशश्चैत्यानि वनषडान् पर्वताश्च ग्रामनगराणि च आरामोद्यानकाननानि च कूपसरस्तडागवापीदीर्धिकादेवकुलसभाप्रपावसत्यादिकानि बहुकानि कीर्तनानि च परिगृह्य परिग्रह विपुलद्रव्यसार देवा अपि सेन्द्रका न तृप्ति न तुष्टिमुपलभन्ते अत्यन्त-विपुललोभाभिभूतसज्ञा वर्षधरेषुकार-वृत्त पर्वत कु डल - रुचकवरमानुषोत्तरकालोदधिलवणसलिलह्रदपतिरतिकराजनक-शैलदधिमुखाऽवपातोत्पातकांचनकचित्रविचित्रयमकवरशिखरकूटवासिनो क्षस्काराकर्मभूमिषु सविभक्तभागदेशासु कर्मभूमिषु येऽपि च नराश्चतुरन्त-

चक्रवर्तिनो वासुदेवा वलदेवा माडलिका ईश्वरास्तलवरा सेनापतय इभ्या श्रेष्ठिनो राष्ट्रिका पुरोहिता कुमारा दडनायका गणनायका माडम्बिका: सार्थवाहा अमात्या, एतेऽन्ये चैवमादय परिग्रह सचिन्वन्ति अनन्तम्, अशरणम्, दुरन्तम्, अध्रुवम्, अनित्यम्, अशाश्वतम्,पापकर्मनेमम्, अपकर्त्तव्यम् (क्षेप्य), विनाशमूलम्, वधवन्धपरिक्लेशमूलम्, अनन्तसक्लेशकारणम्।

ते त धनकनकरत्ननिचय पिडयन्तश्चैव लोभग्रस्ता ससारमतिपतन्ति सर्वदु खसन्निलयनम् परिग्रहस्य चार्थाय शिल्पशत शिक्षते वहुजन: कलाश्च द्वासप्तति सुनिपुणा लेखादिका शकुनरुतावसाना गणितप्रधाना चतु षष्टि च महिलागुणान् रतिजननान्, शिल्पसेवाम् असि-मषि कृषि-वाणिज्य व्यवहारम्, अर्थशास्त्रेषुशास्त्रत्सरुप्रगतम्, विविधाश्च योगयोजनान् अन्येष्वेवमादिकेषु बहुषु कारणशतेषु यावज्जीव नट्यन्ते, सचिन्वन्ति मन्दवुद्धय परिग्रहस्यैव चार्थाय कुर्वन्ति प्राणाना वधकरणम् अलीकनिकृतिसातिसम्प्रयोगान् परद्रव्याभिध्या स्वपरदाराभिगमनासेवनायामायासविसूरण (मन खेद) कलहभडनवैराणि चावमाननविमानना इच्छामहेच्छापिपासासततत्तृषिता तृष्णागृद्धिलोभग्रस्ता आत्मनाऽनिगृहीता: कुर्वन्ति क्रोधमानमायालोभान् अकीर्त्त नीयान्, परिग्रहे चैव भवन्ति नियमात् शल्यानि,दण्डाश्च गौरवाणि च कषाया सज्ञाश्च कामगुणाश्रवाश्चन्द्रियलेश्या स्वजनसप्रयोगान् सचित्ताचित्तमिश्रकानि द्रव्याणि अनन्तकानि इच्छन्ति परिगृहीतुं सदेवमनुजासुरे लोके लोभपरिग्रहो जिनवरैर् भणितो, नास्तीदृश: पाश प्रतिवन्धोऽस्ति सर्वजीवाना सर्वलोके ।। (सू १९

पदार्थान्वय—(त च पुण) और उस (परिग्गह) परिग्रह के प्रति (लोभघत्था) लोभ-ममत्व मे फसे हुए, (परिग्गहरुई) परिग्रह मे रुचि रखने वाले, (भवणवरविमाणवासिणो) भवनवासी और श्रेष्ठ विमानवासी, (ममायति) ममत्व करते है। (य) और (परिग्गहे) परिग्रह के विषय मे (विविहकरणबुद्धी) नाना प्रकार से परिग्रह को अपनाने की बुद्धि वाले—अनेक तरह के अविद्यमान परिग्रह को बटोरना चाहने वाले (देवनिकाया) देवो के निकाय—समूह (असुरभुयगसुवण्णविज्जुजलणदीवउदहिदिसिपवणथणिय-अणवनियपणवनिय-इसिवातिय-भूतवाइय-कंदिय-महाकंदिय-कुहड-पतगदेवा) असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्ण—गरुडकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार,

उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार, स्तनितकुमार, ये दस भवनवासी देव हैं तथा अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माड और पतगदेव, ये व्यन्तरनिकाय के व्यन्तरविशेष हैं (य) तथा (पिसायभूय-जक्ख-रक्खस-किनर - किपुरिस - महोरग-गधव्वा) पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व ये ८ महर्द्धिक व्यन्तरदेव हैं। (तिरियवासी) तिर्यग्लोक मे निवास करने वाले, खासतौर से वन-वनान्तर मे निवास करने वाले वाणव्यन्तरदेव, (य) और (पचविहा) ५ प्रकार के (जोइसिया देवा) ज्योतिष्क देव (वहस्सती-चद-सूर-सुक्क-सनिच्छरा) वृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र और शनिश्चर (य) तथा (राहुधूम-केउबुधा) राहु, धूमकेतु और बुध (य) और (अगारका) मगल (तत्ततवणिज्जकणय-वण्णा) तपे हुए तपनीय—रक्तसोने के समान रग के (य) और (जे) जो अन्य, (गहा) ग्रह (जोइसम्मि) ज्योतिश्चक्र मे (चार चरति) सचार—गति – गमन करते हैं अथवा अपनी चाल से चलते हैं। (य) और (गतिरतीया) गति मे रति—प्रीति रखने वाले (केऊ) केतु (य) तथा (अट्ठावीसतिविहा) २८ प्रकार के (नक्खत्तदेवगणा) अभिजित् आदि नक्षत्र और ज्योतिषी देवगण हैं, (नाणासठाणसठियाओ) अनेक आकारो से युक्त (तारगाओ) तारागण, ये (ठियलेस्सा) स्थिरलेश्या—दीप्ति वाले—अर्थात् मनुष्यक्षेत्र के बाहर के ज्योतिषदेव गतिरहित होते हैं। (य) तथा (चारिणो) मनुष्यक्षेत्र के अन्दर गमन करने वाले, (अविस्साममडलगती) विश्रामरहित—निरन्तर अपने-अपने मडलो में गति करते है।

(य) और (उवरिचरा) तिर्यग्लोक के ऊपर के भाग मे रहने वाले (उड्ढ-लोकवासी) ऊर्ध्वलोक मे निवास करने वाले (वेमाणिया) वैमानिक (देवा) देव (दुविहा) दो प्रकार के होते हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत (सोहम्मीसाण-सणकुमार-माहिंद-बभलोग-लतक-महासुक्क-सहस्सार-आणय-पाणय - आरण - अच्चुया) सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लातक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत (कप्पवरविमाणवासिणो) उत्तम कल्पविमानो मे निवास करने वाले अर्थात् कल्पोपपन्न हैं। (गेवेज्जा) ग्रैवेयक और (अणुत्तरा) अनुत्तर (दुविहा) ये दोनो प्रकार के (सुरगणा) देवगण, (कप्पातीया) कल्पातीत हैं। (य) तथा (विमाण-वासी) ये विमानवासी (महिड्ढिया) महान् ऋद्धि वाले (उत्तमा) श्रेष्ठ (सुरवरा) सब देवो मे उत्तम देव हैं। (एव) इस प्रकार (ते) वे (चउव्विहा सपरिसावि देवा) चार प्रकार की परिषद के सहित देव भी, (ममायति) ममता—मूर्च्छा करते हैं। (य) तथा (भवण-वाहण-जाण-विमाण-सयणासणाणि) भवन, हाथी आदि वाहन,

रथ, आदि सुन्दर सवारिया, विमान, शय्याएँ (पलग, खाट आदि) और आसन, (य) और (नाणाविहवत्थभूसणा) अनेक प्रकार के वस्त्र एव आभूषण, (पवरपहरणाणि) उत्तमोत्तम अस्त्र-शस्त्र (य) और (नाणामणिपचवन्नदिव्व) नाना प्रकार की मणियो के पचरगे दिव्य (भायणविहिं) विविध प्रकार के भाजन—वर्तन, (नाणाविहकामरूव-वेउव्विय-अच्छरगण-सघाते) अपनी इच्छानुसार नाना प्रकार के रूप विक्रिया से वनाने वाली अप्सराओ के समूह को। (य) और (दीवसमुद्दे) असख्यात द्वीप-समुद्रो को,(दिसाओ) दिशाएँ (विदिसाओ) विदिशाएँ (चेतियाणि) चैत्यवृक्ष (वणसडे) वन-समूह (य) एव (पव्वते) पहाड (य) तथा (गामनगराणि य) गाँव और नगर, (आरामुज्जाणकाणणाणि) लोगो द्वारा बनाई हुई छोटी सी वाटिका, उद्यान—खेलने का वगीचा, घना जगल (य) और (कूव-सर-तलाग-वावि-दीहिय-देवकुल-सभ-प्पव-वसहिमाइयाइ) कुए, सरोवर, तालाव, वावडियाँ, वडी वावडियाँ, देवमन्दिर, सभाएँ प्याऊएँ, आश्रम आदि स्थानो (य) तथा (विपुलदव्वसार) वहुत अधिक सारभूत द्रव्यमय (परिग्गह) परिग्रह को, (परिगेण्हिता) स्वीकार करके, (सइदगा) इन्द्रो सहित (देवा वि) देवता भी (अच्चतविपुललोभाभि ूत्रा) जिनकी सज्ञाएँ-इच्छाएँ अत्यन्त भारी लोभ से प्रभावित हैं, (वासहरक्खुगारवट्टपव्वयकुडलरुचगवर-माणुसोत्तरकालोदधि - लवणसलिलदहपतिरतिकर - अजणकसेल - दहिमुहवप्पातुप्पाय-कचणक-चित्तविचित्त-यमकवरसिहरकूटवासो) वर्षधर पर्वत—कुलाचल पहाड, इषुकार पर्वत, वर्तु लाकार—गोलाकार विजयार्द्ध पर्वत, कुडलद्वीप के अन्तर्गत कुण्डलाकारपर्वत, रुचकवरद्वीप के अन्तर्गत मण्डलाकारपर्वत, मानुषोत्तर पर्वत, कालोदधि समुद्र, लवणोदधि, गगा आदि महानदियो, पद्म—महापद्म आदि वडे-वडे ह्रदो—झीलो, रतिकर पर्वतो, नन्दीश्वर द्वीप के अन्तर्गत अजनक नामक पर्वत, तथा दधिमुख नाम के पर्वतो, जहाँ पर वैमानिक देव मनुष्यक्षेत्र मे आते हैं उन पर्वतो, काचनमय पर्वतो, चित्रविचित्र कूटपर्वतो, यमकवर नामक पर्वतो,समुद्रमध्यवर्ती गोस्तूपादि पर्वतो, और नन्दनवन कूट आदि मे निवास करने वाले देव (न तित्ति) न तो तृप्ति और (न तुट्ठिं) न सतोष ही (उवलभति) पाते हैं। (वक्खार अकम्मभूमिसु) जिसमे वक्षार पर्वत विशेष है, ऐसी हैमवत आदि अकर्मभूमियो मे (य) तथा (सुविभत्तभागदेसासु) जिनमे देशो का अच्छी तरह विभाग किया हुआ है ऐसी (कम्मभूमिसु) भरत आदि आदि १५ कर्मभूमियो मे (जो वि) जो भी (चाउरतचक्कवट्टी) भरतक्षेत्र की चारो दिशाओ मे चक्र द्वारा विजयप्राप्त करने वाले चक्रवर्ती (वासुदेवा) वासुदेव-नारायण, (वलदेवा)वलभद्र (मडलीया)माडलिक राजा,(इस्सरा)युवराज आदि या जागीरदार लोग,

(तलवरा) राजा के द्वारा प्रसन्न हो कर दिये गये रत्नजटित स्वर्णपदक को मस्तक पर बाधने वाले, (सेणावती) सेनानायक, इब्भा) हस्तीप्रमाण स्वर्णराशि के स्वामी बडे सेठ, (सेट्ठी) सामान्य धनिक सेठ, (रट्ठिया) राष्ट्र की चिन्ता करने वाले—राजचिन्ता करने वाले राजनियुक्त बडे अधिकारी (पुरोहिया) शान्तिकर्म करने वाले पुरोहित (कुमारा) कुमार— राज्यासन के योग्य कुमार, (दडणायगा) दडनायक—तत्रपाल पुलिस-अधिकारी, (गणनायगा) गणनायक—मुखिया, (माडविया) ऐसे गावो के राजा, जिन गावो के चारो ओर योजन तक अन्य बस्ती न हो, (सत्थवाहा) सार्थवाहव--नजारे, (कोडु बिया) कुटुम्बो मे अगुआ या ग्राम का मुखिया (अमच्चा) अमात्य मत्री-राज्यहितैषी-दरबारी, (एए अन्ने य एवमाती) ये और इसी प्रकार के अन्य, (नरा) मनुष्य (परिग्गह सचिणति) पूर्वोक्त जो परिग्रह है, उसे इकटठा करते हैं, जो (अणत) अन्तरहित है, (असरण) शरण देने वाला नहीं हे, (दुरत) परिणाम मे दु खप्रद है, (अधुव) जो स्थिर रहने वाला नहीं है, (अणिच्च) जो अनित्य है—नाशवान है, (असासय) सदा रहने वाला नहीं हे (पावकम्मनेम) पापकर्मो का मूल है (अवकिरियव्व) त्याज्य है, (विणासमूल) ज्ञानादिगुणो के विनाश का कारण है। (बहुबधपरिकिलेसबहुल) वध—मारनेपीटने, वधन मे डालने तथा रातदिन परिक्लेश से प्रचुर है। (अणतसकिलेसकारण) अपार सक्लेशो—चित्तविकारो को पैदा करने वाला है। (च) और (ते) वे देव (त) उस (धणकणगरयणनिचय) धन-सम्पत्ति, सोना और रत्नो की राशि का (पिडिता एव) सचय करते हुए (सव्वदुक्खसनिलयण) समस्त दु खो के आश्रयभूत या घर (ससार) ससार मे—जन्ममरण के चक्र मे, (अतिवयति) पडते है, परिभ्रमण करते हैं। (परिग्गहस्स अट्ठाए) परिग्रह के लिए (सिप्पसय) सैकडो शिल्प या हुन्नर (य) और (बहुजणो) बहुत-से लोग, (बावत्तरिं सुनिपुणाओ लेहाइयाओ सउणरुयावसाणाओ गणियप्पहाओ कलाओ) भलीभाति निपुणता कराने वाली लेखन आदि से ले कर पक्षियो की बोली—शब्द के ज्ञान तक की गणित प्रधान ७२ कलाएँ (च) और (चउसट्ठि रतिजणणे महिलागुणे) रति उत्पन्न करने वाले ६४ महिलागुणो—स्त्रियो की ६४ कलाएँ (सिप्पसेव) शिल्प विविध प्रकार के हुन्नर तथा सेवा का कार्य (असिमसिकिसिवाणिज्ज) तलवार चलाने का अभ्यास युद्धविद्या, हिसाव व किताब या लेखादि लिखने का कार्य, खेतीवाडी एव व्यापार—वाणिज्य, (ववहार) विवाद मिटाने की विद्या—वकालात, (अत्थसत्थ-इसत्थच्छरुप्पगय) अर्थशास्त्र, राजनीति, धनुर्वेद आदि

युद्धशास्त्र, छुरी-तलवार आदि पकडने का शास्त्र (य) और (विविहाओ जोगजु जणाओ) अनेक प्रकार के योगवशीकरणादि तन्त्रप्रयोग, (सिक्खए) सीखते हैं। (अन्नेसु एवमादिएसु वहुसु कारणसएसु जावज्जीव नडिज्जए) और भी इस प्रकार के वहुत से परिग्रह को ग्रहण करने के सैकडो उपायो मे, प्रपचो मे या खटपटो मे आजीवन प्रवृत्ति करते हैं और विडम्वना पाते हैं। (य) और (मदवुद्धी) मन्द वुद्धि वाले अज्ञानी जीव (सचिणति) वहुत चीजो को इकट्ठा करते हैं। (य) तथा (परिग्गहस्सेव अट्ठाए) परिग्रह के लिए ही, (करति पाणाण वहकरण) जीवो की हत्या—हिंसा करते हैं। (अलियनियडिसाइसपओगे) झूठ-मृषाभाषण, अत्यन्त आदरपूर्वक वचना—निकृति, असली वस्तु मे रद्दी वस्तु मिला कर उत्तमवस्तु की भ्रान्ति—साति उत्पन्न करने के प्रयोगो को, (परदव्व अभिज्जा) पराये द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा, (सपरदार-अभिगमणासेवणाए आयासविसूरण) अपनी स्त्री या परस्त्री के साथ गमन करने से तथा पुत्रादि के उत्पन्न होने से खर्च वढेगा, इस भय से अपनी स्त्री और परस्त्री के सेवन से भी दूर रहते हैं। (कलहभडवेराणि) कलह—मु ह से विवाद—झगडा, शरीर से लडाई तथा वैरविरोध करते हैं। (अवमाणण-विमाणणाओ) अपमान तथा यातनाएँ—पीडाएँ (करेंति) करते हैं। (इच्छामहिच्छप्पिवाससततितिसिया) चक्रवर्ती आदि की तरह अभिलाषाओ और महेच्छा—वडी-वडी इच्छाओ रूपी पिपासा से निरन्तर प्यासे (तण्हगेहिलोभघत्था) अप्राप्त द्रव्य की प्राप्ति की तृष्णा—लालसा एव प्राप्त के प्रति आसक्ति या आकाक्षा और लोभ मे ग्रस्त,(अत्ताणा) रक्षाविहीन (अणिग्गहिया) इन्द्रियो और मन के निग्रह—सयम से रहित होकर (कोहमाणमायालोभे करेंति) क्रोध, मान, माया और लोभ करते हैं। (अकित्तणिज्जे) निन्दनीय (च) तथा (परिग्गहे) परिग्रह मे (एव) ही (नियमा) नियम से (सल्ला) मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शन—शल्य होते हैं, (दडा) इसी मे ही शारीरिक मानसिक वाचिक तीनो प्रकार के दण्ड—अपराध होते हैं, (गारवा) ऋद्धि,रस,और साता का अभिमान, (य) और (कसाया) क्रोध मान, माया और लोभरूप कषाय (य) तथा (सन्ना) आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये ४ सज्ञाएँ, (कामगुणअण्हगा) शव्दादि इन्द्रियविषयो तथा हिंसादि ५ आश्रवद्वारो, (य) एव (इदियलेसाओ) इन्द्रियविकार और कृष्ण नील, कापोत ये तीन अप्रशस्त लेश्याएँ (होति) होती हैं। (सयणम्पओगा) अपने कुटुम्बीजनो के साथ किनाराकसी—अलगाव करते है। (सचित्ताचित्तमीसगाइ अणतकाइ दव्वाइ परिघेत्तु इच्छति) और वे अनन्त असीम द्रव्यो को, चाहे वे सचित्त हो, अचित्त हो या मिश्र, ममत्वपूर्वक

ग्रहण करना चाहते है । (सदेवमणुयासुरम्मि लोए) देवो,मनुष्यो और असुरो के सहित स्थावरत्रसात्मक लोक मे (जिणवरेंहि, जिनेन्द्र भगवन्तो ने (लोभपरिग्गहो) लोभ रूप परिग्रह (भणिओ) कहा है । (एरिसो पासो नत्थि) इस परिग्रह के समान और कोई पाश—बधन नहीं है । (सव्वलोए) सम्पूर्ण ससार मे (सव्वजीवाण) समस्त जीवो के लिए यह परिग्रह (पडिवधो अत्थि) प्रतिवन्धक—राग, आसक्ति आदि का कारण है।

मूलार्थ—परिग्रह के लोभ मे फसे हुए, परिग्रह मे रुचि रखने वाले भवनवासी देव और श्रेष्ठ विमानवासी देव ममत्त्वभाव रखते हे। अविद्यमान परिग्रह को भी नाना प्रकार से अपनाने की बुद्धि वाले इन देवो के समूह-निकाय होते हे। असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्नि कुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार, स्तनितकुमार, ये दस भवनवासी देव है तथा अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माड, और पतगदेव ये व्यन्तरनिकाय के उच्चजाति के व्यन्तर देव है। तथा पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व, ये ८ महर्द्धिक एव तिर्यग्लोक के निवासी व खासतौर से वनवनान्तर मे निवास करने वाले वाणव्यन्तर देव है। इसी तरह तिर्यग्लोकवासी ५ प्रकार के ज्योतिपी देव है वृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र और शनिश्चर। इसी प्रकार राहु, धूम केतु, बुध और मगल है। जो तपे हुए सोने के समान लाल है। तथा अन्य व्यालक आदि ग्रह है, जो ज्योतिश्चक्र मे अपनी चाल से चलते है। गति मे प्रीति रखने वाले केतु तथा २८ प्रकार के अभिजित् आदि नक्षत्र और ज्योतिषी देवगण है, विविध आकारो से युक्त तारा गण है। ये सब ज्योतिषदेव स्थिरदीप्ति वाले है, यानी मनुष्यक्षेत्र (ढाई द्वीप और दो समुद्रो) से बाहर ज्योतिषदेव स्थिरलेश्या वाले—गतिरहित होते है और मनुष्यक्षेत्र के अन्दर के ज्योतिषदेव गतिसहित है निरन्तर अपने-अपने मडलो मे गति करते है। तथा तिर्यग्लोक के ऊपर के भाग मे रहने वाले ऊद्र्ध्वलोकनिवासी वैमानिक देव हे। वे दो प्रकार के है—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, ये उत्तम कल्पविमानो मे निवास करने वाले कल्पोपपन्न देव हे। नौ ग्रैवेयक तथा पच अनुत्तर (विमान वासी) ये दोनो प्रकार के देवगण कल्पातीत होते है। ये सब विमान वासी देव ; ९ नू ऋद्धि वाले और सब देवो मे श्रेष्ठ देव होते है।

इस तरह अपनी-अपनी परिषद् के सहित ये चारो निकायो के देव भी आत्मा से अतिरिक्त सासारिक पौद्गलिक पदार्थों पर ममता रखते है– 'ये मेरे है, इस प्रकार की ममत्त्वबुद्धि रखते है। तथा ये भवन, हाथी आदि वाहन, रथ आदि सवारियाँ, विमान शय्याएँ, आसन तथा अनेक प्रकार के वस्त्र एव आभूषण, उत्तमोत्तम अस्त्र-शस्त्र और नाना प्रकार की मणियो से बने हुए पचरगे दिव्य बर्तन भाजन, एव अपनी इच्छानुसार विक्रिया द्वारा नाना प्रकार के रूप बनाने वाली अनेक भूषणो से भूषित अप्सरागणो के समूह को और इसी प्रकार द्वीप, समुद्र, दिशाएँ, विदिशाएँ, चैत्य वृक्ष, वन समूह पर्वत, गाँव, नगर, वाटिकाएँ, बाग-बगीचे, घना जगल, कुँए सरोवर, तालाब, बावडी, देवालय, सभा, प्याऊ, आश्रम आदि स्थानो को स्वीकार करते है। तथा अत्यन्त अधिक सारभूत द्रव्य से विशिष्ट परिग्रह को स्वीकार करते है। इन्द्रो सहित इन देवो को सज्ञाएँ—इच्छाएँ अत्यन्त प्रचुर लोभ से अभिभूत होती है। वर्षधरपर्वतो, हिमवान् आदि कुलाचलपर्वतो, गोलाकार विजयार्द्ध पर्वतो, कुण्डलद्वीप के अन्तर्गत कुण्डलाकारपर्वत, रुचकवर द्वीप के अन्तर्गत मण्डलाकारपर्वत, मानुपोत्तरपर्वत, कालोदधि और लवण समुद्र, गगा आदि महानदियो, पद्म, महापदम आदि बडे-बडे ह्रदो—झीलो, नन्दीश्वर नामक आठवे द्वीप मे विदिशाओ मे स्थित झालर के आकार के चार रतिकर पर्वतो, नन्दीश्वरद्वीप के अन्तर्गत अजनपवतो, जिन पर वैमानिक देव ठहर कर मनुष्यक्षेत्र मे आते है, उन पर्वतो, उत्तरकुरु एव देवकुरुक्षेत्र के काचनमय पर्वतो, शीतोदा महानदी के तटवर्ती चित्र - विचित्र नाम के पर्वतो, शीता महानदी के तटवर्ती यमकवर नामक पवतो, समुद्र के मध्य मे स्थित गोस्तूपादि पर्वतशिखरो और नन्दनवन के कूटो आदि मे निवास करने वाले देव न तो तृप्ति पाते है और न सतोष ही पाते है। जिनमे वक्षार नामक पर्वत विशेष है, जो विजयो को पृथक्-पृथक् विभक्त करने वाले है और जिनमे हैमवत आदि अकर्मभूमियाँ है। इसी प्रकार भली-भाति विभक्त प्रदेश वाली कृषि आदि कर्म की केन्द्र भरत क्षेत्र आदि १५ कर्मभूमियाँ है। इन समस्त क्षेत्रो पर चारो दिशाओ मे दिग्विजय करने वाले चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, माडलिक—मुकुटबद्ध राजा, युवराज आदि ईश्वर अथवा जागीरदार—उमराव आदि लोग, तथा राजा के द्वारा प्रसन्न हो कर प्रदत्त रत्नभूपित स्वर्णपदक को मस्तक पर बाँधने वाले शासनसचालक, सेनापति, हस्तीप्रमाण स्वर्णराशि

के स्वामी—इभ्य सेठ, सामान्य श्रेष्ठी, राष्ट्ररक्षक, राज्य—नियुक्त पुरोहित, राजकुमार, दण्डनायक,गणनायक,जिन गांवो के चारो ओर निकट मे वस्ती न हो, ऐसे गाँवो के स्वामी—माडविक, सार्थवाह कुटुम्बी अथवा ग्राम के मुखिया और अमात्य इत्यादि ये और अन्य जो भी मनुष्य है, वे परिग्रह का सचय करते है। ऐसे परिग्रह का, जिसका कोई अन्त नही है, जो शरणदायक नही है, जिसका परिणाम दु खदायी है, जो स्थिर नही है, जो अनित्य है, अशाश्वत है, पापकर्म का मूल है, विवेकी जना द्वारा हेय है,विनाश का मूल है, वध, वध और क्लेश से परिपूर्ण है, और अत्यन्त सक्लिष्ट परिणाम—चित्तविकार का कारण है।

लोभग्रस्त हुए वे देव, चक्रवर्ती आदि धन, सुवर्ण और रत्नो को राशि का सचय करके लोभी होकर चार गतियो वाले समस्त दु खो के घर ससार मे भ्रमण करते है। बहुत-से लोग परिग्रह के लिए सैकडा शिल्प—हुन्नर तथा गणितप्रधान कला से लेकर पक्षियो की बोली के ज्ञान तक की लेखन आदि सुनिपुण ७२ कलाएँ सीखते है। तथा रति उत्पन्न करने वाली महिलाओ की ६४ कलाओ (गुणो) को कई सीखते है। शिल्प और बडे आदमियो की सेवा करना सीखते है,एव असि—तलवार चलाने आदि की शस्त्र विद्या मसि—लेखनकार्य तथा खेती एव वाणिज्य-व्यापार सीखते है। इसी प्रकार परस्पर विवाद—झगडे को मिटाने के रूप मे न्याय व्यवहार की शिक्षा प्राप्त करते है। धन-उपार्जन करने के उपायो को बताने वाले अर्थ शास्त्रो, राजनीति का ज्ञान कराने वाले नीतिशास्त्रो तथा धनुर्वेद आदि शास्त्रो को सीखते है और छुरी आदि शस्त्रो को पकडने और चलाने का अभ्यास करते है। तथा अनेक प्रकार के वशीकरण आदि तन्त्रप्रयोगो को सीखते है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से परिग्रहप्राप्ति के सैकडो कारणो—उपायो मे प्रवृत्त होकर वे आजीवन विडम्बना पाते है, परिग्रह के गुलाम बन कर नाचते है। वे मदबुद्धि अज्ञानी जीव परिग्रह के सचय करने मे लगे रहते है। परिग्रह के लिए वे प्राणियो का वध करते है। झूठ बोलते है, ठगी करते है, घटिया चीज मे थोडी-सी बढिया चीज मिला कर उसमे उत्तम व शुद्ध वस्तु का भ्रम पैदा करके धूर्तता का प्रयोग करते है। पराये द्रव्य को खीचने की उधेडबुन मे रहते है। अपनी स्त्री और परस्त्री दोनो का सेवन करने मे धन खर्च हो जायगा, तथा स्वस्त्रीसेवन करने से सतान होने पर उनके पालन-पोषण का भार वहन करना पडेगा, इस डर से स्वस्त्री और परस्त्री

दोनो का ही सेवन नही करते । इसी प्रकार परिग्रह के कारण वे वाचिक कलह, कायिक युद्ध और वैर-विरोध, अपमान एव अनेक यातनाओ का अनुभव करते है । साधारण इच्छाओ और वडी-वडी इच्छाओ की प्यास से निरन्तर प्यासे रहने वाले तृष्णा प्राप्त द्रव्य को खर्च न करने की इच्छा से और गृद्धि-अप्राप्त अर्थ की आकाक्षा एव लोभ से ग्रस्त हुए अपनी आत्मा की रक्षा से रहित, एव अपनी आत्मा पर किसी प्रकार का नियत्रण न करते हुए वे मनुष्य निन्दनीय क्रोध, मान, माया और लोभ मे रचेपचे रहते है ।

निन्द्य परिग्रह से ही माया,निदान और मिथ्यादर्शन रूप शल्य पैदा होते है। मन – वचन काया की दुष्ट प्रवृत्तिरूपी तीन दण्ड उत्पन्न होते है, धन सम्पत्ति आदि का गर्व—ऋद्धिगौरव, अनेक स्वादिष्ट गरिष्ठ पदार्थों के मिलने का अहकार रसगौरव और अनेक सुखप्रद वस्तुओ की प्राप्ति का घमड—सातगौरव पैदा होते है तथा क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार कपाय, आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा और परिग्रहसज्ञा ये चार सज्ञाएँ—वासनाएँ होती है । इसी तरह इन्द्रियो के शब्दादिविपय तथा हिंसा, असत्य आदि पाच आश्रवद्वार, असयमित इन्द्रियाँ, और कृष्ण, नील, कापोत रूप तीन अप्रशस्त लेश्याएँ होती हैं। वे अपने स्वजनो के साथ के सम्वन्ध को भी खत्म कर लेते है उनसे अलगाव या किनाराकसी कर लेते है। और सचित्त, अचित्त एव मिश्र रूप अनन्त द्रव्यो को ममतापूर्वक ग्रहण करना चाहते है । देवो, मनुष्यो और तिर्यंचो के सहित इस लोक मे जिनेन्द्रदेवो ने परिग्रह को लोभ-रूप कहा है । सम्पूर्ण लोक मे समस्त जीवो के लिए इसके सरीखा और कोई पाश—वन्धन व प्रतिवन्धस्थान-आसक्ति का आश्रय नही है ।

व्याख्या

इस विस्तृत सूत्रपाठ द्वारा शास्त्रकार ने परिग्रहकर्त्ताओ का तथा कहाँ-कहाँ, किस-किस रूप मे, किन-किन दुर्भावो से प्रेरित हो कर वे परिग्रह सेवन करते है ?, इसका भी सागोपाग निरूपण किया है । यद्यपि इस सूत्रपाठ का अर्थ मूलार्थ और पदार्थान्वय मे हम स्पष्ट कर आए है, फिर भी कुछ स्थलो पर विशेप विश्लेपण करना आवश्यक समझ कर नीचे उन स्थलो पर विश्लेपण प्रस्तुत करते है—

परिग्रह पर ममत्व का मूल कारण—इस ससार मे साधु-मुनि या वीतराग अपरिग्रही होते है । कुछ अणुव्रती गृहस्थ अल्पपरिग्रही होते है । वाकी के जितने भी प्राणी है, वे किसी न किसी रूप मे परिग्रहग्रस्त होते है । वे न तो ममत्व का

सर्वथा त्याग करते है और न ही परिग्रह की सीमा—मर्यादा करते है। प्रश्न यह होता है कि इन सब प्राणियो, खासतौर से मनुष्यो और देवो के परिग्रह सम्बन्धी ममत्व के पीछे किसकी प्रेरणा है ?

इसका उत्तर शास्त्रकार के ही शब्दो मे सुनिये—'त च पुण परिग्गह ममायति लोभघत्था।' अर्थात् ससार के समस्त प्राणी लोभ रूपी पिशाच से ग्रसित होकर 'ममेद ममेद'—'यह मेरा है, यह मेरा है' ऐसा कहते है और मानते है।

वास्तव मे लोभ ही ससार के समस्त पदार्थो को ग्रहण करने, अपनाने, उपभोग करने और इकट्ठ करने मे प्रबल प्रेरकतत्त्व है। लोभ के वशीभूत होकर मानव बडे-बडे युद्ध कर बैठता है, अपने भाई, पिता या पुत्र के साथ भी लडाई और वैर कर बैठता है, यहाँ तक कि अपने स्वजनो को भी लाभाविष्ट मनुष्य जान स मार डालता है। जैसे भूत या पिशाच से आविष्ट मनुष्य अपने आपे मे नही रहता, न करने योग्य कार्य भी कर बैठता है, वैसे ही लोभ का भूत जिस पर सवार हो जाता है या लोभ पिशाच से जो आविष्ट हो जाता है, उस मनुष्य को भी अपने आपे का भान नही रहता, चाहे जब चाहे जैसा भयकर अकार्य कर बैठता है। वह आत्मा को अपना मानना छोड कर हर मनचाही चीज को अपनी बनाने की फिराक मे रहता है।

लोभ पाप का बाप बखाना—यह कहावत यथार्थ है। जीवन मे जहाँ लोभ घुस जाता है, वहाँ अनेक पाप आकर अपना डेरा जमा लेते है। क्या हिंसा, क्या असत्य, क्या चोरी—जारी, बदमाशी या झूठफरेब, छल-कपट, धोखेबाजी, धूर्तता, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, वैरविरोध, कलह, सघर्ष, आसक्ति आदि जितने भी दोष है, पाप है, उन सब पापो का मूल जनक लोभ ही है। यह लोभ ही था, जिसके कारण सम्राट् कोणिक ने अपने पिता को लोहे के पीजरे (कैद) मे बद कर दिया था। लोभ के कारण ही उसने अपने भ्राता हल्लविहल्लकुमार से हार और हाथी छीनने के लिए अपने मातामह चेडानृप से भयकर युद्ध किया था। वह कौन-सा अनर्थ है, जो लोभ के कारण न हुआ हो। इसलिए लोभ को समस्त पापो का पिता कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नही होगी। इसीलिए शास्त्रकार ने इस पाठ के उपसहार मे कहा है—'लोभ-परिग्गहो जिणवरेहिं भणिओ।'

परिग्रहकर्ता कौन-कौन ?—यो तो परिग्रह के चक्कर मे समभावी मुनि को छोड कर सारा ससार ही है। परिग्रह की ससार मे इतनी बडी धूम है कि शायद कोई विरला ही इससे बचा हो। इसलिए शास्त्रकार ने 'भवणवरविमाणवासिणो' से ले कर 'ते चउव्विहा सपरिसा वि देवा ममायति' तक का पाठ एव उससे आगे 'अच्चत विपुल लोभाभिभूतसन्ना' से लेकर 'अमच्चा एए अन्ने य एवमातो परिग्गह

सचिणति ।' तक पाठ मे परिग्रहसेवनकर्ताओ की सूची देदी है। यो देखा जाय तो सारा ससार ही प्राय एक या दूसरी तरह से परिग्रहसेवनकर्ता है। परन्तु शास्त्रकार ने महापरिग्रहियो के ही खासतौर से नाम गिनाये हैं, और अन्त मे **'एए अन्ने य एवमाती परिग्गह सचिणति'** (ये और इनके अतिरिक्त दूसरे इसी प्रकार के लोग परिग्रह का सचय करते हैं) कह कर अन्य लोगो का भी समावेश कर लिया है।

परिग्रहसेवनकर्ताओ की सूची मे सर्वप्रथम शास्त्रकार ने भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिपी और वैमानिक देवो को गिनाया है। उसके वाद वर्षधर, इपुकार, वृत्त-पर्वत, कु डलाचल, रुचकाचल, मानुपोत्तरपर्वत, कालोदधि, लवण-समुद्र, गगादि महानदियो, पद्म-महापद्म नामक प्रधान द्रहो, रतिकरपर्वतो, अजनशैलो, दधिमुखपर्वतो, कचनकपर्वत, चित्रविचित्रकूटपर्वतो, यमकपर्वतो, गोस्तूपादिपर्वतो पर रहने वाले परिग्रही देवो का उल्लेख किया है। तदनन्तर कहा है कि अकमभूमियो तथा व्यवस्थित कर्मभूमियो मे रहने वाले जो भी मनुष्य हैं, चाहे वे यौगलिक हो या वडे से वडे विशाल साम्राज्य के धनी चक्रवर्ती हो, वासुदेव हो, वलदेव हो, माडलिक हो, युवराज आदि हो, अथवा भौगिक हो, जागीरदार हो, माडलिक हो, सेनापति हो, इभ्य सेठ हो, धनाढ्य हो, राष्ट्रहितैपी हो, पुरोहित हो, राजकुमार हो, दडनायक हो, गणनायक हो, माडविक हो, सार्थवाह हो, कौटुम्विक हो या अमात्य हो, सवके सव कम या ज्यादा परिग्रह का सेवन करने मे सलग्न रहते हैं।

देवो के पास अधिक परिग्रह क्यो?—शास्त्रकार ने देवो के परिग्रहो का सवप्रथम वर्णन किया है और उनके पास अत्यधिकमात्रा मे परिग्रह होने का उल्लेख किया है, प्रश्न होता है कि देवो के पास सवसे ज्यादा परिग्रह होने का क्या कारण है?

इसी के उत्तर मे शास्त्रकार कहते है— **"परिग्गहरुती परिग्गहे विविहकरणवुद्धी देवनिकाया विमाणवासी महिड्ढिका'** अर्थात् देवो की परिग्रह मे अत्यधिक रुचि होती है, परिग्रह को वढाने और विविध उपायो से परिग्रह का सचय करने मे उनकी वुद्धि व्यस्त रहती है। और विमानवासी देव तो पूर्वकृतपुण्य की प्रवलता के कारण महान् ऋद्धि-सम्पदा वाले होते ही हैं। वास्तव मे देखा जाय तो जिसे अधिक परिग्रह-सामग्री मिलती है, वह ममतावश और अधिक परिग्रह जुटाने के लिए तत्पर रहता है। ससार के समस्त जीवो मे देव अत्यधिक पुण्यशाली होते हैं। उन्हे उस पुण्य के फलस्वरूप सुखसामग्री भी उत्कृष्ट और अधिक मिलती है, और उनकी भी प्राय यह धारणा वन जाती है कि सुख परिग्रह के वढाने पर ही निर्भर है। जिसमे भवनवासी और विमानवासी इन दो प्रकार के देवो का प्रथम

उल्लेरा करने के पीछे शास्त्रकार का यह आशय है कि इन दोनो की परिग्रहविभूति अत्यधिक होती हे। अन्य देवो की विभूति इनके समान नही होती।

इनमे भी जो मिथ्यात्वी देव होते है, वे प्राय यह भूल जाते है कि हमने पूवभव मे जो सत्कम किये थे, दान-पुण्य आदि किये थे, अरिहन्तदेवो, निर्ग्रन्थ गुरुओ और केवली-प्ररूपित धम की आराधना की थी, गुरुओ के उपदेश से या स्वत प्रेरणा से परिग्रह को आत्महित मे बाधक समझ कर छोडा था, या उसका ममत्व त्याग कर योग्य दान दिया था, उसी के फलस्वरूप यह सुखसामग्री हमे मिली है। अत अब भी हमे प्राप्त सुखसाधना का उचित कार्या मे सदुपयोग करना चाहिए, ताकि भविष्य मे निराबाध सुख मिल सके। पर अपने सत्कर्मो की साधना को भूलकर भ्रान्तिवश वे बाह्य वस्तुओ मे सुख मानने लगते है। किन्तु जब उनकी मृत्यु के ६ महीने शेप रहते है, और उनके गले की माला मुर्झाने लगती हे, तब वे अत्यन्त दुख और शोक करते है।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिपी और वैमानिक, इन चारो प्रकार के देवो मे परिग्रह बुद्धि के कारण अपने से महर्द्धिक देवो को देख देख कर अल्प ऋद्धि वाले देव उनसे ईर्ष्या करते है, वैरविरोध और सघर्प भी करते है।

इन चारो निकायो के देवो का वर्णन हम पहले कर आए है। इनके नाम तथा गोत्र आदि भी स्पष्ट हैं। निष्कर्प यह है कि चारो[1] निकायो के देव परिग्रह के दास बने हुए रहते है। परिग्रह का अत्यधिक सम्पर्क होने के कारण उनका ममत्व अधिकाधिक बढता जाता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—'**एव च ते चउव्विहा सपरिसा वि देवा ममायति**' अर्थात्—उपर्युक्त चारो प्रकार के देव अपनी परिपद् (सभा के देवो) के साथ आत्मा से भिन्न पौद्गलिक और देवी आदि सचेतन परिग्रह मे मूर्च्छावश 'यह मेरा है' इस प्रकार से ममत्व करते रहते है।

यही कारण है कि देवो मे परिग्रह की अधिकता का उल्लेख शास्त्रकार ने किया हे।

यद्यपि यहा सामान्यरूप से चारो निकाय के देवो का ग्रहण शास्त्रकार ने किया है, तथापि पञ्चम स्वर्ग-ब्रह्मलोक के अन्त मे सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुपित, अव्याबाध और अरिष्ट, ये पूर्वोत्तर आदि आठ दिशाओ मे

---

१ इनका विशेप वर्णन जानने के लिए जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति इत्यादि शास्त्रो का अवलोकन करे।

—सम्पादक

निवास करने वाले लोकान्तिक देव प्राय एक भव-मनुष्यजन्म धारण करके मोक्ष पाते है, ये परिग्रह के प्रति अत्यल्प ममत्व रखते है। तीर्थंकर-प्रभु जव विरक्त होकर मुनिदीक्षा धारण करने के अभिमुख होते ह, तव ये लोकान्तिक देव उन्हे प्रतिवोधित करने आते हे। ये देवर्षि होते है, जिनवाणी के ज्ञाता और अध्येता होते है। ये अपनी समस्त आयु प्राय इसी प्रकार के उत्तम चिन्तन-मनन मे व्यतीत कर देते है। इसी प्रकार अनुत्तरविमानवासी देवो का भी मोह उपशान्त होता हे। इसलिए चारो निकाय के देवो मे इन्हे परिग्रह के वारे मे अपवाद समझना चाहिए।

देवो का निवास और सक्षिप्त स्वरूप—चारो ही प्रकार के देवो मे भवनवासी देवो का निवास अधोलोक मे है। अधोलोक मे भवनवासी देवो के भवन है। उन्ही मे वे रहते है, क्रीडा करते है और आमोद-प्रमोद मे अपना जीवन व्यतीत करते है। ये दस प्रकार के है—असुरकुमार, नागकुमार आदि। इनकी जाति की सज्ञा असुर है, इसलिए वे असुरकुमार आदि नाम से पहिचाने जाते हैं। इनके जातिवाचक नाम के आगे कुमारशव्द इसलिए लगाया गया है कि इनकी वेशभूपा कुमारो-किशोरो—वालको की-सी होती है और उन्ही की तरह ये द्वीप-समुद्र आदि मे जा कर क्रीडा करते है। नागकुमार से इन्हे सर्पजाति के तिर्यञ्च तथा अग्निकुमार आदि से अग्नि आदि नही समझना चाहिये। इनके मुकुट मे सर्प या अग्नि आदि का विशेप चिह्न अंकित होता है, तथा ये जव भी विक्रिया करते हैं तव सर्प, अग्नि, द्वीप, गरुड, विद्युत्, मेघगर्जन, पवन आदि के रूप मे करते ह, इसलिए इन्हे नागकुमार, अग्निकुमार आदि से सम्वोधित किया जाता है। इसके पश्चात् उच्च व्यन्तरजाति के अणपन्निक आदि ८ व्यन्तरविशेप के नाम गिनाए है। इन्हे वाणव्यन्तर भी कहते है। इन व्यन्तरो का निवास मध्यलोक मे है। जहाँ ये आमोद-प्रमोद से रहते ह। इसके वाद नीची जाति के व्यन्तरनिकाय के पिशाच, भूत आदि ८ भेद वताए हैं। ये देव विविध अन्तरो—अवकाश वाले स्थानो मे रहते है। यानी ये सूने मकान, तालाव कुआ, वावडी, वृक्ष आदि स्थानो मे रहते है। राक्षस आदि कुछ व्यन्तर भवनवासी देवो की तरह अधोलोक मे रहते है, जहाँ उनके भवन वने हुए होते ह।

इसके अनन्तर ज्योतिपदेवो का वर्णन है। ज्योतिपी देव मध्यलोक (तिर्यग्लोक) मे ही रहते ह। इस भूमि के समतलभाग से ७६० योजन ऊपर जा कर ज्योतिष्क देवो के विमान शुरू होते ह, जो ६०० योजन पर समाप्त होते ह। यानी ११० योजन आकाशक्षेत्र मे ज्योतिष्क देवो के विमान हैं, जहा वे निवास करते ह।

ज्योतिषी देवो के मुख्यतया ५ भेद है— सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। इनका वर्णन पहले आ चुका है, इसलिए यहा नही कर रहे है।

विशेष बात यह है कि ज्योतिष्को मे सूर्य, चन्द्र आदि के गमन करने के भिन्न-भिन्न मार्ग नियत है। इनके अलग-अलग मडल है, उन्ही मे वे घूमते रहते हैं। किन्तु ढाई द्वीप-समुद्र के आगे के यानी अगले पुष्करार्द्ध से ले कर आगे के असख्यात द्वीप-समुद्रो के सूयचन्द्रादि ज्योतिष्क स्थिर है। वे गमन नही करते, जहाँ हैं, वही स्थिर रहते है।

इसके आगे ऊर्द्ध्वलोकवासी वैमानिक देव है,जो ज्योतिषी देवो से ऊपर अर्थात् मेरुपवत की चूलिका से असख्यात योजन ऊपर-ऊर्द्ध्वलोक मे निवास करते है। इनके निवास के लिए आकाश मे अकृत्रिम विमान है, जो चारो ओर से घनवातवलय, तनुवातवलय और घनोदधिवातवलय, इन तीन वातवलयो के आधार पर अवस्थित है, इन्ही से घिरे हुए है। विमानो मे रहने के कारण इन्हे वैमानिक देव कहते हैं। इनके दो भेद है—कल्पविमानवासी (कल्पोपपन्न) और कल्पातीत। जिन विमानो मे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विष, इन दस कोटि के देवो की कल्पना होती है, उन्हे कल्पोपपन्न कहते है। जहाँ इन्द्र आदि का कोई भेद नही होता, सभी समानरूप से माने जाते हैं, सबकी अवस्था, विभूति एकसरीखी होती है, उन्हे कल्पातीत कहते हैं। बारह स्वर्गो (सौधम आदि) के निवासी वैमानिक देव कल्पोपपन्न कहलाते है, इन्ही मे इन्द्र आदि १० भेद होते है। इनसे ऊपर ९ ग्रैवेयक और ५ अनुत्तरविमानवासी देवो मे इन्द्र आदि १० भेदो की कोई कल्पना नही होती, वहाँ सब अहमिन्द्र होते है, समान होते है। सौधर्म और ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र, ब्रह्मलोक और लान्तक, महाशुक्र और सहस्रार, आणत और प्राणत, आरण और अच्युत इस प्रकार दो-दो स्वग एक-दूसरे के समीपतम है। दूसरा युगल - सानत्कुमार और माहेन्द्र प्रथम युगल-सौधम और ऐशान से असख्यात-योजन के फासले पर है।

कल्पातीत देवो के दो भेद है—ग्रैवेयक और अनुत्तर। जिनके स्वर्गों का आकार ग्रीवा-गर्दन सरीखा होता है, उन्हे ग्रैवेयक कहते है। यानी लोक का आकार जैन भौगोलिक मानचित्र के अनुसार पैर फैलाकर कमर पर हाथ रख कर खडे हुए पुरुष के आकार के सरीखा माना गया है। कमर से नीचे के भाग के समान अधोलोक का, कमर के समान मध्यलोक का, कमर से ऊपर कधो तक कल्पोपपन्न स्वर्गों का आकार माना गया है। इनसे ऊपर गर्दन आती है, इसलिए ग्रैवेयक देवो के निवासस्थान का आकार ग्रीवा (गर्दन) सरीखा माना गया है।

ग्रैवेयको से ऊपर पाँच अनुत्तरदेवो के विमान है। इनमे से विजय, वैजयन्त,जयन्त और अपराजित ये चार चारो दिशाओ मे से एक-एक दिशा मे हैं और मवार्थसिद्ध नामक अनुत्तरविमान इन चारो के मध्य मे है। सर्व अर्थो—प्रयोजनो की सिद्धि वाले जीव इसमे उत्पन्न होते है। यानी सर्वार्थसिद्ध विमान मे जन्म लेने वाले देव भविष्य मे सिर्फ एक ही भव—मनुष्यजन्म धारण करके सीधे मोक्ष मे जाने वाले होते है। इसलिए इस विमान का 'सर्वार्थसिद्ध' नाम सार्थक है।

विमानवासी देव दूसरे निकायो के देवो से अधिक ऋद्धि-सम्पन्न होते है। और पूर्व-पूर्व वैमानिक देवो से आगे-आगे के वैमानिक देव स्थिति (आयु), प्रभाव (शाप या अनुग्रह की शक्ति), सुख, द्युति (शरीर और आभूपणो की कान्ति), लेश्या (आत्मा की परिणति-भावना) की निर्मलता, इन्द्रियो की शक्ति एव अवधिज्ञान के के विपय मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रवल होते है। इसी वात को शास्त्रकार ध्वनित करते हैं—**'विमाणवासी महिड्ढिया उत्तमा सुरवरा।'**

देवो के परिग्रह के रूप—देव किन-किन रूपो मे परिग्रह स्वीकार करते है और उनका सेवन करते हे ? इसके लिए शास्त्रकार ने वताया है—**'भवण-वाहण-जाण भायणविहि नाणाविहकामरूवे दीवसमुद्दे वहुकाइ कित्तणाणि य परिगेण्हित्ता विपुल दव्वसार'**। इन पक्तियो का अर्थ पहले स्पप्ट किया जा चुका है। मतलव यह है कि देवो मे वैक्रिय-शक्ति जन्म से ही होती है। वे चाहे जैसा रूप वना सकते हैं। मनचाहे भवन, वाहन, सवारी, यान, आभूपण, विमान, शय्या, आसन, वस्त्र, शस्त्र-अस्त्र, पचरगे दिव्य भाजन, तथा वस्त्रालकारो से विभूपित अप्सराएँ आदि वना सकते हैं। इस कारण वे ममत्व से ग्रस्त हो कर विविध मनचाही सुखसामग्री वनाते हैं, अपनाते हैं और उन पर आसक्ति रखते हे।

इन मव परिग्रहयोग्य सामग्री का उपभोग करने के लिए वे अनेक द्वीपो, समुद्रो, पर्वतो, वनो, ह्रदो, वावडियो आदि मे अपनी अप्सराओ के साथ जाते ह, वहा जलविहार, विविध प्रकार की क्रीडा और आमोद-प्रमोद करते है।

अभीप्ट परिग्रहो से भी देवो को तृप्ति और सतोप कहा ?—परिग्रह के रूप मे नाना प्रकार की उत्तमोत्तम भोग्यसामग्री प्राप्त कर लेने के वाद क्या देवो को तृप्ति या सतुप्टि हो जाती है ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है—**'देवावि सइदगा न तित्ति न तुट्ठि उवलभति।'** अर्थात् इतनी सारी दौडधूप करने और विक्रिया द्वारा विविध सुखसाधन जुटाने के वावजूद भी इन्द्रो सहित वे देव न तो तृप्ति का अनुभव करते है, और न सतोप की सास लेते हैं। सचमुच परिग्रह मे तृप्ति और सतोप नही है। जितना

परिग्रह बढाया या सेवन किया जायगा, उतनी-उतनी असतुष्टि, अतृप्ति, बेचैनी, ऊब, अनिद्रा, अशान्ति, व्याकुलता, सुस्ती एव निरुत्साहिता बढेगी। ज्यो-ज्यो वस्तुओ का लाभ (प्राप्ति) बढता है, त्यो-त्यो लोभ का बढना स्वाभाविक है। अपनी इच्छा से ही उस लाभ पर कोई नियत्रण कर ले, अल्पसाधनो से ही सतोष मान ले, तभी उसे तृप्ति और सतुष्टि हो सकती है।

परिग्रह का स्वभाव—देव हो या मनुष्य, तिर्यञ्च हो या नारक, ऊपर-ऊपर से सबको परिग्रह-सुखसामग्री का ग्रहण अच्छा, रमणीय और आकर्षक लगता है। परन्तु पूर्वोक्त पाठानुसार परिग्रह अन्त मे असतुष्टि और अतृप्ति का कारण ही बनता है। इसीलिए शास्त्रकार परिग्रह के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहते है—परिग्गह **अणत, असरण, दुरत, अधुवमणिच्च, असासय, पावकम्मनेम, विणासमूल, वहबधपरिकिलेसबहुल अणतसकिलेसकारण स०वदुक्खसनिलयण।** अर्थात् परिग्रह रमणीय नही है, वह दु खद है, उसका अन्त नही, वह किसी को शरण देने वाला नही होता, उसका परिणाम सदा दु खद होता है, वह स्वय अस्थिर होता है, अनित्य और अशाश्वत होता है। परिग्रह पापकर्म का मूल है, विनाश की जड है, वध, वध और सक्लेश से भरा हुआ है, परिग्रह के पीछे अनन्त क्लेश लगे हुए है। इसलिए परिग्रह सभी दु खो का घर है। चक्रवर्ती, इन्द्र आदि भी परिग्रह का अन्त नही पा सके। वह समुद्र के समान अथाह है। वह अशाश्वत, अनित्य, अस्थिर या नाशवान इसलिए है कि जब तक आत्मा के कर्म भडार मे पुण्य-धन विद्यमान रहता है, तब तक उस पुण्यराशि से परिग्रह-योग्य पदार्थ प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु जब पुण्य का खजाना खाली हो जाता है, तब प्राप्त हुआ धन, स्त्री, पुत्र या विविध साधन वगैरह का भी वियोग होने लगता है। इसलिए परिग्रह को विनाशशील कहा है। इसी प्रकार परिग्रह अन्त मे दु खदायी इसलिए है कि परिग्रह उपार्जन करने मे प्राय हिंसा आदि पाप होते है। पाप तो परिणाम मे दु खद होता ही है। परिग्रह के वियोग मे भी दु ख होता है तथा परिग्रह परलोक मे भी नरकादि के भयकर दु खो को उत्पन्न करने वाला है।

ससार के विविध दु खो से घबराया हुआ आदमी अगर परिग्रह की शरण लेता है तो उसका हाल आग मे जलते हुए व्यक्ति का मिट्टी के तेल की नाद मे आश्रय लेने के समान हो जाता है। परिग्रह के कारण मारपीट, कैद, बधन, मानसिक और शारीरिक क्लेश आदि का होना तो रोजमर्रा के अनुभव से सिद्ध है। जहाँ परिग्रह ज्यादा होता है, वही चोर, डाकू और लुटेरे वध करने, रस्सी से या पेड आदि से बाधने के लिए तैयार होते है। इसलिए परिग्रह को अनन्त क्लेशो का कारण बताया है।

परिग्रह के लिए विविध उपाय और उनसे होने वाले अनर्थ—मोहग्रस्त अज्ञानी जीव उभयलोक मे दु खजनक परिग्रह के लिए क्या-क्या उपाय अजमाता है

और उन उपायो से क्या-क्या अनर्थ पैदा होते है ? तथा उन परिग्रहग्रस्त जीवो को क्या-क्या हानियाँ उठानी पडती हैं ? इसका सजीव वर्णन आगे के इस सूत्रपाठ से शास्त्रकार ने किया है—**परिग्गहस्स य अट्ठाए सिप्पसय सिक्खए करिति पाणाण वहकरण, अलियनियडिसाइसपओगे कोहमाणमायालोभे।'** इसका भावार्थ यह है कि परिग्रहलिप्सु लोग रातदिन नाना प्रकार की तरकीबे धन, साधन आदि को बटोरने के लिए सोचते रहते है और तदनुसार प्रवृत्ति करते रहते है। बहुत-से लोग शिल्पाचार्यों से कुभार का काम, बढई का काम, सुनार का काम आदि सैकडो शिल्प या हुन्नर सीखते है, अनेक प्रकार की दस्तकारी सीखते है। गृहस्थ अपनी आजीविका के लिए कोई भी शिल्प, दस्तकारी या हुन्नर 'सीखे, इसमे कोई बुराई नही है। परन्तु जव वह हुन्नर, शिल्प या दस्तकारी केवल धन बटोरने के लिए सीखे, लोगो से अपने परिश्रम का मूल्य अत्यधिक पाना चाहे या थोडा-सा काम करके ज्यादा से ज्यादा पैसा पाना चाहे तो वह शिल्प जनता की सेवा के बदले जनता का शोषणरूप वन जाता है। यही कारण है कि जनता का शोषण करने की नीयत से जब किसी भी श्रमकार्य को किया जाता है तो वह जीवन के लिए अनर्थकर हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति की दृष्टि अपने शिल्प से केवल पैसा कमाने की ही होगी, वह ऐसे ही शिल्पो को अपनाएगा, जो राष्ट्रघातक, समाजघातक या नीतिविरुद्ध होगे। जैसे कोई व्यक्ति ऐसे यत्र बना कर दे, जिनसे कामवासना उत्ते-जित हो, या ऐसे हुन्नर अपनाए , जिनसे लोग दुर्व्यसनो मे अधिकाधिक प्रवृत्त हो।

उदाहरण के तौर पर कोई व्यक्ति बीडी, सिगरेट बनाने का शिल्प सीखे और उसे अपनाए अथवा शराब बनाने की विधि सीखे और बना कर लोगो को मुहैया करे। इससे जनता का स्वास्थ्य, धन और धर्म तीनो का नाश होगा। ऐसे निकृष्ट शिल्प से शिल्पकार को तो बहुत पैसा मिलेगा, वह तो मालामाल हो जायगा, लेकिन समाज और राष्ट्र का नैतिक पतन होगा, और समाज मे अनेक अनर्थ फैलेंगे।

इसी प्रकार जो लोग शास्त्र मे वर्णित और लोकप्रसिद्ध पुरुषो की ७२ कलाएँ केवल परिग्रह के लिए ही सीखते हैं, उनका भी यही हाल है। गृहस्थ के लिये कलाएँ सीखना अपने आप मे बुरा नही है। लेकिन जब कोई सगीत, नृत्य, चित्र, लेखन आदि विविध कलाएँ केवल पैसा कमाने के लिए सीखेगा, तव वह उनका दुरुपयोग ही करेगा। वह ऐसे अश्लील सगीत का प्रयोग करेगा, जिससे कामवासना भडकती हो। वह ऐसे नग्न या अर्धनग्न सुन्दरियो के चित्र बनाएगा, जिन्हे देख कर नैतिक पतन होगा। वह अश्लील लेख, कहानी या उपन्यास लिखेगा, जिन्हे पढ कर मनुष्य का चरित्र विगड जाएगा। इसी प्रकार वह ऐसे अश्लील नृत्य दिखाएगा, जिससे मनुष्य कामविह्वल हो

जाय। तो ऐसी दशा मे वह कला सद्गुणघातक, चरित्र-विनाशक, नीति-धर्म विघातक और सुसस्कारलोपक बन जाएगी। ऐसी कलाओ से परिग्रहलिप्सु कलाकार तो धनवान बन जाएगा, लेकिन समाज और राष्ट्र का बहुत बडा नुकसान होगा।

इसी प्रकार कई परिग्रहग्रस्त लोग स्त्रियो के लिए उपयोगी ६४ कलाओ—गुणो का प्रशिक्षण लेते है, सिर्फ अधिकाधिक परिग्रह धन बटोरने के उद्देश्य से। वे भी समाज और राष्ट्र का पतन करते है। अव्वल तो ये ६४ कलाएँ केवल महिलाओ के सीखने लायक होती है, परन्तु जब उन्हे कोई पुरुष सीखता है, तो वह नीति-धर्म की मर्यादा का अतिक्रमण करता है। फिर उन महिलोपयोगी कलाओ को सीख कर भी उनसे कई अनर्थ पैदा करने का और राष्ट्र की सस्कृति को मटियामेट करने का प्रयत्न करता है तो वह और बडा अपराध करता है।

उदाहरणार्थ—कोई परिग्रहलिप्सु व्यक्ति वात्स्यायन के कामसूत्र मे उल्लिखित आलिगन, चुम्बन आदि कामोत्पादक—रतिजनक कलाओ का प्रशिक्षण लेता है और वर्तमान सिनेमा के अभिनेता या अभिनेत्री की तरह का पार्ट अदा करता है, अश्लील नृत्य, हावभाव, अभिनय आदि करता है तो उनसे उस कलाकार के यहाँ तो धन की वर्षा हो जाएगी, लेकिन समाज या राष्ट्र का कितना नैतिक पतन होगा? कितने युवक कामुक बन कर चरित्रभ्रष्ट होगे? बलात्कार या अपहरण के कितने दौर बढेगे? इसका अदाजा लगाना भी कठिन है। यह आकर्षणकारी कला लोकरजन के साथ-साथ मानवजीवन का सत्यानाश कर देगी। इसी दृष्टिकोण से शास्त्रकार ने परिग्रह-लिप्सुओ के द्वारा इन कलाओ के सीखने पर व्यग्य कसा है, इन्हे अधर्मजनक माना है।

गृहस्थो की आजीविका के लिए प्राचीनकाल के समाजशास्त्र या नीतिशास्त्र मे ६ कर्म बताए गए है—शिल्प, सेवा, असि, मसि, कृषि और वाणिज्य। इन ६ कर्मों के द्वारा गृहस्थ अपने परिवार का भी भरण-पोषण करता था, समाज और राष्ट्र की भी सेवा करता था। जिस देश मे शिल्प, विद्याएँ और कलाकौशल चढे बढे होते है, वह देश भौतिक दृष्टि से उन्नतिपथ पर अग्रसर होता है, वहाँ की जनता सुखपूर्वक अपनी जिंदगी बिताती है, दुष्काल के थपेडो और प्राकृतिक प्रकोपो का वह डट कर सामना कर सकती है। परन्तु जो लोग केवल धनोपार्जन को ही जीवन का एकमात्र

जाय। तो ऐसी दशा मे वह कला सद्‌गुणघातक, चरित्र-विनाशक, नीति-धर्म विघातक और सुसस्कारलोपक वन जाएगी। ऐसी कलाओ से परिग्रहलिप्सु कलाकार तो धनवान वन जाएगा, लेकिन समाज और राष्ट्र का वहुत वडा नुकसान होगा।

इसी प्रकार कई परिग्रहग्रस्त लोग स्त्रियो के लिए उपयोगी ६४ कलाओ—गुणो का प्रशिक्षण लेते है, सिर्फ अधिकाधिक परिग्रह धन वटोरने के उद्‌देश्य से। वे भी समाज और राष्ट्र का पतन करते है। अव्वल तो ये ६४ कलाएँ केवल महिलाओ के सीखने लायक होती है, परन्तु जब उन्हे कोई पुरुप सीखता है, तो वह नीति-धर्म की मर्यादा का अतिक्रमण करता है। फिर उन महिलोपयोगी कलाओ को सीख कर भी उनसे कई अनर्थ पैदा करने का और राष्ट्र की सस्कृति को मटियामेट करने का प्रयत्न करता है तो वह और वडा अपराध करता है।

उदाहरणार्थ—कोई परिग्रहलिप्सु व्यक्ति वात्स्यायन के कामसूत्र मे उल्लिखित आलिगन, चुम्वन आदि कामोत्पादक—रतिजनक कलाओ का प्रशिक्षण लेता है और वर्तमान सिनेमा के अभिनेता या अभिनेत्री की तरह का पार्ट अदा करता है, अश्लील नृत्य, हावभाव, अभिनय आदि करता है तो उनसे उस कलाकार के यहाँ तो धन की वर्पा हो जाएगी, लेकिन समाज या राष्ट्र का कितना नैतिक पतन होगा? कितने युवक कामुक वन कर चरित्रभ्रष्ट होगे? बलात्कार या अपहरण के कितने दौर वढेगे? इसका अदाजा लगाना भी कठिन है। यह आकर्पणकारी कला लोकरजन के साथ-साथ मानवजीवन का सत्यानाश कर देगी। इसी दृष्टिकोण से शास्त्रकार ने परिग्रह-लिप्सुओ के द्वारा इन कलाओ के सीखने पर व्यग्य कसा है, इन्हे अधर्मजनक माना है।

गृहस्थो की आजीविका के लिए प्राचीनकाल के समाजशास्त्र या नीतिशास्त्र मे ६ कर्म बताए गए है—शिल्प, सेवा, असि, मसि, कृपि और वाणिज्य। इन ६ कर्मों के द्वारा गृहस्थ अपने परिवार का भी भरण-पोपण करता था, समाज और राष्ट्र की भी सेवा करता था। जिस देश मे शिल्प, विद्याएँ और कलाकौशल चढे-वढे होते हे, वह देश भौतिक दृष्टि से उन्नतिपथ पर अग्रसर होता है, वहाँ की जनता सुखपूर्वक अपनी जिदगी विताती है, दुष्काल के थपेडो और प्राकृतिक प्रकोपो का वह डट कर सामना कर सकती है। परन्तु जो लोग केवल धनोपार्जन को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य वना कर इन पट्‌कर्मों को सीखते है, उनके सामने समाज या राष्ट्र की सेवा करने या अपने परिवार का ही पोपण करने का कोई लक्ष्य नही होता, उनका लक्ष्य खूव पैसा कमा कर मौजशौक करना ही होता है, दुनिया मरे चाहे जीए, समाज चाहे रसातल मे जाय, राष्ट्र का नैतिक जीवन चाहे खतरे मे पड जाय. उनकी वला से।

ले कर शास्त्रकार ने उक्त पट्कर्म का प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले परिग्रहवादियो की ओर सकेत किया है।

वास्तव मे जव मनुष्य परिग्रहलिप्सु—धनार्थी या सुलक्ष्यविहोन वन कर उक्त पट्कर्मो को सीखेगा तो वह इनसे समाज या देश की सेवा या उन्नतिकरने के वदले समाज या देशकी कुसेवा या अवनति ही अधिक करेगा। उससे समाज या देश का कोई भला नही होगा। शिल्प के दुरुपयोगके वारे मे हम पहले लिख आए है। राजाओ, वादशाहो या धनिको की सेवा मे रहना कोई वुरा नही, किन्तु अनाचारसेवन करने के लिए सुरा और सुन्दरियो को जुटाने, उनको अश्लील गीत, नृत्य आदि सिखाने, उन्हे दुर्व्यसन सिखाने जैसे कम वहुत जघन्य कर्म है। बुरे कार्यो के करने पर भी केवल उनकी हा मे हॉ मिलाना, जीहजूरी करने के लिए उनके यहॉ नौकरी करना और उनसे ऊँची तनख्वाहे प्राप्त करना, उनकी सेवा नही, कुसेवा होगी। इससे उनका जीवन तो दुराचार के गड्ढे मे पडेगा ही, उसका चेप उनके परिवार और समाज को भी लगेगा। यह भी कितना वडा पतन का कारण होगा ?

इसी तरह युद्धविद्या राष्ट्रसेवा की दृष्टि से सीखना कोई वुरा नही, लेकिन उसी युद्धविद्या (असि) का उपयोग जव सेनाएँ रख कर आपस मे लडाने-भिडाने और निर्दोप प्रजा का खून वहाने मे किया जाता है, तव कितना भयकर होता है ? इसी प्रकार लेखनविद्या (मसि) भी राप्ट्रसेवा की दृष्टि से उत्तम है, किन्तु उसी लेखनविद्या का प्रयोग जव अश्लील काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, लेख आदि लिखने मे या हिंसा भडकाने, परस्पर सघर्प कराने, मारकाट और विद्रोह मचाने के लिए उत्तेजित करने वाला साहित्य लिखने मे होता है, और वह होता है, सिर्फ झटपट मालामाल वनने के लिए, तव कितना अनर्थकर होता है ? कितने लोगो का जीवन उस साहित्य से वर्वाद हो जायगा ? कितने लोगो की जिंदगियाँ तहसनहस हो जाएँगी ? इसकी कोई हद नही। इसी तरह कृपिविद्या का हाल है। अपनी आजीविका और परिवार के भरणपोपण के लिए कोई गृहस्थ कृपि का धन्धा करे तो वह अल्पारम्भी है, जायज है तथा नैतिकदृप्टि से हेय नही है। किन्तु जव इस उद्देश्य को भूल कर कोई व्यक्ति मात्र अपनी भोगवासना की पूर्ति के लिए अनापसनाप व्यक्तिगत खेती करने लगे, वहुत वडे फार्म मे सभी प्रकार की वुरी से वुरी चीजे, यहाँ तक कि तम्वाकू, अफीम आदि भी वोने लगे और उसके द्वारा वहुत मुनाफा कमाने लगे तो कृपिविद्या का वह प्रयोग समाज का शोपण करने वाला वन जाएगा।

यही हाल वाणिज्य का है। व्यापार भी एक प्रकार से परिवारपोपण के साथ-साथ देशसेवा का साधन है। परन्तु व्यापारी जव इस लक्ष्य को भूल कर केवल अर्थोपार्जन का लक्ष्य रखता है, तव वह ज्यादा नफा कमाने, दर वढा कर लोगो का

शोपण करने, मिलावट करने, नापतौल मे गडवड करने तथा असली चीज दिखा कर नकली देने आदि के अनैतिक उपाय अपनाता है, तो समाज और राष्ट्र के लिए उसका वह व्यापार घातक और द्रोही सिद्ध होगा।

इसी प्रकार शास्त्रकार ने परिग्रहलिप्सु लोगो द्वारा सीखे जाने वाले व्यवहार-ज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धनुर्वेद आदि शस्त्र विद्याओ के ज्ञान तथा बहुत से यत्र-मत्र-तत्र आदि के प्रयोगो एव वशीकरण आदि योगो के ज्ञान का उल्लेख करके यह ध्वनित किया हे कि केवल धन वटोरने के लिए इन सव शास्त्रो का ज्ञान उन लोगो के जीवन को उन्नत वनाने के वजाय दुर्गति मे भटकाने वाला होता है।

व्यवहार का अर्थ है—विवाद मिटाना। विवादशमन करने के लिए प्राचीन-काल मे धाराशास्त्र का अध्ययन किया जाता था, इसे वर्तमान मे कानून-कायदो का अध्ययन कहते ह। इस प्रकार का अध्ययन करके वह वकील वनता हे और वकालत करता है। जहाँ तक विवादशमन का प्रश्न है, उसके लिए व्यवहारशास्त्र का अध्ययन करना और उचित पारिश्रमिक ले कर झगडे मिटाना ठीक है। परन्तु जव कोई केवल धनाजन करने के उद्देश्य से ही वकालत पढता हे और झूठे मुकद्दमे ले कर अपने मवक्किल से अधिकाधिक मेहनताना लेने की कोशिश करता है तो वहाँ समाजसेवा नही होती, न परिवारपोपण का ही उद्देश्य सिद्ध होता है।

इसी प्रकार अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धनुर्वेदशास्त्र आदि शास्त्रो को पढने का उद्देश्य भी जव एकमात्र पैसे कमाने का ही होता है, तव वह पेशा नीति-धर्म के वदले अनीति और अधर्म वन जाता हे।

इसी प्रकार यत्र, मत्र, तत्र आदि विद्याएँ, ज्योतिपशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, चिकित्साशास्त्र एव अनेक प्रकार के वशीकरण, मारण, सम्मोहन और उच्चाटन आदि का ज्ञान केवल अर्थप्राप्ति के लिए किया जाता है तो उनके प्रयोग मे पूर्वोक्त अनर्थ पैदा होते। भोलेभाले लोगो को अपने चगुल मे फसा कर वह मनमाना पैसा लूटता है और गुलछर्रे उडाता हे। इसलिए परिग्रहार्थी के हाथो मे पड कर सव शास्त्रो का दुरुपयोग होगा, उनसे अनेक अनर्थ पैदा होगे।

ये और इसी प्रकार के अन्य सैकडो उपाय परिग्रहार्थी अपनाते रहते है और आजीवन इसी मे ही रचेपचे रहते है।

परिग्रहलिप्सुओ का स्वभाव—शास्त्रकार आगे चल कर परिग्रहसेवनकर्ताओ के स्वभाव का निरूपण करते हुए कहते हैं—'**परदव्वे अभिज्जा करेंति कोहमाण-मायालोभे।**' जिनका उद्देश्य सिर्फ पैसे कमाना ही होता है, वे मदवुद्धि अज्ञजीव अपनी आत्मा के हानिलाभ, कर्तव्य-अकर्तव्य, नीति-अनीति, धर्माधर्म का विचार नही करते और जो भी अर्थोत्पादक व्यवसाय हाथ मे आता है, उसी मे प्रवृत्त हो जाते हैं। कभी

किसी तुच्छ आदमी द्वारा की हुई डाटडपट या विडम्वना को भी सह लेते है। ऐसे परिग्रहलिप्सु की इज्जत मिट्टी मे मिल जाती है, समाज मे ऐसे लोगो को कोई शरण नही देता, अथवा ऐसे लोगो के यहा कोई शरण-आश्रय नही लेता। वे अपनी इन्द्रियो, मन और आत्मा पर अकुश नही रख सकते, इसी कारण अहर्निश क्रोध, अभिमान, माया, और लोभ मे डूबे रहते है।

साराश यह है कि परिग्रहग्रस्त मानव १८ पापस्थानो मे से किसी भी पाप-कर्म को बाकी नही छोडते। परिग्रही मे समस्त पाप भरे रहते है।

परिग्रह के साथ दुर्गुणो का अवश्यम्भावी सम्बन्ध—इसलिए शास्त्रकार परिग्रह के साथ निम्नोक्त दुर्गुणो का अस्तित्व अवश्यम्भावी बताते हैं—**अकित्तणिज्जे परिग्गहे चेव होंति नियमा सल्ला इच्छंति परिघेत्तु**।' शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि परिग्रह अपने आप मे एक महान् निन्दनीय दुर्गुण है, इतना जबर्दस्त कि उसके होते ही मायाचार मे प्रवृत्ति होने लगती है, मिथ्याभावना—विपरीत श्रद्धा होने लगती है, भविष्य मे भोगो की आकाक्षारूप निदान के दुर्भाव भी पैदा हो जाते है। जहाँ परिग्रह होता है वहाँ प्राय अपनी धन-सम्पत्ति तथा तथा ऐश्वर्य का अभिमान पैदा हो जाता है सुन्दर, सुखद और स्वादिष्ट चीजो के उपभोग का अहकार उत्पन्न हो जाता है, अनेक प्रकार के मौजशौक, रागरग, विलास आदि इन्द्रियसुखो का गर्व घर कर लेता है। परिग्रह पास मे होते ही क्रोधादि चारो कषाय वहाँ अपना डेरा जमा लेते है, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की सज्ञाए - वासनाए परिगह के साथ ही आ धमकती है। परिग्रह के आते ही शब्द, गन्ध, रस, और स्पर्श इन पाचो इन्द्रियविषयो के सेवनरूप आश्रव का द्वार खुल जाता है। इन्द्रियाँ मतवाली और चचल हो जाती हैं। परिग्रह की झकार होते ही कृष्ण, नील और कापोत ये तीनो लेश्याए अपना अड्डा जमा लेती है।

परिग्रह के आते ही स्वजनो से अलगाव या किनाराकसी की भावना पैदा हो जाती है। उसके स्वजन तो परिग्रही के साथ सम्पर्क करना चाहते है, लेकिन वह धन-लोभ के कारण उनसे नफरत करने लगता है। इसके अतिरिक्त परिग्रही के मानस मे परिग्रह के सम्पर्क से सजीव, निर्जीव तथा मिश्र तीनो प्रकार के अनन्त द्रव्यो को ममत्व-पूर्वक ग्रहण करने की इच्छा अवश्य पैदा होती है, किन्तु वे उन्हे नही मिलते है तो मन खिन्न होता है।

परिग्रह एक बेजोड पाश-बन्धन—पूर्वोक्त सूत्रपाठ के अनुसार इस ससार मे साधु-मुनियो और वीतरागी पुरुषो के सिवाय ऐसा कोई प्राणी बचा नही है, जो परिग्रह की चपेट मे न आया हो। स्वर्ग के सर्वोच्च देव और देवेन्द्र, मनुष्यलोक के सर्वोच्च मानव चक्रवर्ती तथा विशेष विभूति वाले भवनवासी देव (असुर) भी जब इसके मायाजाल मे फसे है, तब साधारण प्राणियो का तो कहना ही क्या? सवाल होता है कि ऐसे शक्तिशाली और विवेकी प्राणी भी परिग्रह के

वशीभूत क्यो है ? इसके उत्तर मे ही शास्त्रकार कहते है—"**नत्थि एरिसो पासो पडिबधो अत्थि सव्वजीवाण सव्वलोए ।**" अर्थात् 'इस अखिल विश्व मे क्या देव, क्या मनुष्य, क्या तिर्यच और क्या नरक इन सभी गतियो मे सब जीवो को बाँधने मे समर्थ परिग्रह के सरीखा कोई भी अन्य पाश-जाल नही है, यही सासारिक प्राणियो के लिए प्रबल प्रतिबन्धरूप है ।' वास्तव मे देखा जाय तो परिग्रह ममता,मूर्च्छा से पैदा होता है और ममता मूर्च्छा मोहनीय कर्म की प्रबल परिणति है । इसलिए परिग्रह ने मोहविजेता वीतराग प्रभु के सिवाय सारे ससार को अपने मोहपाश मे बाध लिया है तो इसमे आश्चर्य ही क्या ?

मतलब यह है कि ससार के अधिकाश प्राणी पूर्णरूप से या मर्यादित रूप से परिग्रहवृत्ति से अविरत नही हुए है, यानी परिग्रह का त्रिकरण-त्रियोग से त्याग नही किया है अथवा परिग्रह का परिमाण नही किया है। इसलिए चाहे थोडे फसे हो या ज्यादा सबके सब परिग्रह के जाल मे फसे हुए है ।

परिग्रह का फलविपाक

पूर्वसूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने परिग्रह-सेवनकर्ताओ का परिचय दे कर, उसके पश्चात् परिग्रहसेवन के विविध उपायो तथा उनसे होने वाले अनर्थो का और अन्त मे परिग्रह के साथ अवश्यभावी दुर्गुणो का विशद निरूपण किया है । अब इस अन्तिम सूत्रपाठ मे परिग्रह के विशेप फल का निरूपण करते है—

मूलपाठ

परलोगम्मि य नट्ठा तम पविट्ठा महया मोहमोहियमती तिमिसधकारे तसथावरसुहमबादरेसु पज्जत्तमपज्जत्तग एव जाव परियट्ट ति दीहमद्ध जीवा लोभवससनिविट्ठा । एसो सो परिग्गहस्स फलविवाओ इहलोइओ, पारलोइओ, अप्पसुहो, बहुदुक्खो, महब्भओ, बहुरयप्पगाढो, दारुणो, कक्कसो, असाओ, वाससहस्सेहिं मुच्चइ, न अवेइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति, एवमाहसु नायकुलनदणो महप्पा जिणो उ वीरवरनामधेज्जो कहेसी य परिग्गहस्स फलविवाग । एसो सो परिग्गहो पचमा उ नियमा नाणामणिकणगरयणमहरिह एव जाव इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलिहभूयो चरिम अधम्मदार समत्त ॥सू० २०॥

संस्कृतच्छाया

परलोके च नष्टास्तमःप्रविष्टा महामोहमोहितमतयस्तमिस्रान्धकारे त्रसस्थावरसूक्ष्मबादरेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तक एव यावत् पर्यटन्ति दीर्घमध्वानं जीवा लोभवशसन्निविष्टा। एष स परिग्रहस्य फलविपाक इहलौकिकः पारलौकिकोऽल्पसुखो बहुदुःखो महाभयो बहुरजःप्रगाढो दारुणः कर्कशोऽसातो वर्षसहस्रैर्मुच्यते, नावेदयित्वाऽस्ति खलु मोक्ष, इत्येवमाख्यातवान् ज्ञातकुलनन्दनो महात्मा जिनस्तु वीरवर नामधेयोऽकथयत् च परिग्रहस्य फलविपाकम्। एष स परिग्रहः पंचमस्तु नियमान्नानामणिकनकरत्नमहार्घ्य एवं यावद् मोक्षवरमुक्तिमार्गस्य परिघभूतश्चरिममधर्मद्वारं समाप्तम् ॥सू० २०॥

पदार्थान्वय—परिग्रह मे आसक्त जीव (परलोगम्मि) परलोक मे (च) और इस लोक मे, (नट्ठा) सुगति से नष्ट एव सन्मार्गभ्रष्ट हुए (तम पविट्ठा) अज्ञानान्धकार मे मग्न, (तिमिसधकारे) अंधेरी रात के समान घोर अज्ञानान्धकार मे (महया मोह-मोहितमती) तीव्र उदय वाले मोहनीयकर्म से मोहित बुद्धि वाले (लोभवससनिविट्ठा) लोभ के वशीभूत (जीवा) जीव (तसथावरसुहुमवादरेसु) त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर पर्याय वाले तथा (पज्जत्तमपज्जत्तग एव जाव परियट्ट ति दीहमद्ध) पर्याप्तक, अपर्याप्तक से ले कर दीर्घमार्ग वाले चारगतिरूप ससारवन मे परिभ्रमण करते है।

(एसो) यह (सो) पूर्वोक्त (परिग्गहस्स) परिग्रह के (फलविवाओ) फल का अनुभव—भोग, (इहलोइओ) इस लोक सम्बन्धी (पारलोइओ) परलोकसम्बन्धी (अप्पसुहो) अल्पसुख वाला है, (बहुदुक्खो) बहुत दु ख वाला है। (महब्भओ) महा-भयजनक है, (बहुरयप्पगाढो) अत्यन्त मात्रा मे कर्मरूपी रज से गाढ बना हुआ, (दारुणो) घोर (कक्कसो) कठोर और (असाओ) असातारूप है। (वाससहस्सेहिं) हजारो वर्षो मे जा कर (मुच्चइ) इससे छुटकारा होता है।(अवेइत्ता मोक्खो हु नत्थि) फल भोगे विना छुटकारा नहीं होता। (एव) इस प्रकार (नायकुलनदणो) ज्ञातकुल के नन्दन (महप्पा) महात्मा (वीरवरनामधेज्जो) महावीर नामक (जिणो उ) जिनेश्वर भगवान् ने (आहसु) कहा है। (य) और मैंने—शास्त्रकार ने (परिग्गहस्स) परिग्रह के (फलविवाग) फल का विपाक (कहेसी) कहा है।

एसो (यह) (सो) पूर्वोक्त (पचमो उ) पाचवाँ (परिग्गहो) परिग्रह नामक आश्रवद्वार (नियमा) नियम से (नाणामणिकणगरयणमहरिह) अनेक प्रकार की चन्द्रकान्त आदि मणियाँ, सोना, कर्केतन आदि रत्न तथा बहुमूल्य सुगन्धित द्रव्य—

इत्र आदि, (एव जाव) इस प्रकार परिग्रह के स्वरूपद्वार मे जो पाठ आया है, वह सब यहाँ समझ लेना। अत (इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स) इस श्रेष्ठ मोक्ष—भाव मोक्ष के निर्लोभता-(मुक्ति) रूप मार्ग का (फलिहभूयो) यह परिग्रह आगल रूप है। इस प्रकार (चरिम) अन्तिम, (अधम्मदार) अधर्मद्वार (समत्त) समाप्त हुआ। ॥सूत्र० २०॥

मूलार्थ—धन-सम्पत्ति—स्त्री-पुत्रादि परिग्रह के पाश मे फसे हुए प्राणी परलोक मे और इस जन्म मे नष्ट—भ्रष्ट हो जाते है और अज्ञानरूपी अधेरे मे डूबे रहते है। भयानक अधेरी रात के समान अज्ञानरूप अन्धकार मे तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से उनकी बुद्धि मोहित—विवेकशून्य हो जाती है। त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर जीवो मे पर्याप्तक और अपर्याप्तक, साधारण और प्रत्येक शरीर मे अडज, पोतज, जरायुज, रसज, स्वेदज, सम्मूर्च्छिम उद्भिज्ज और औपपातिक जन्मो मे जन्म, मृत्यु, रोग और शोक से परिपूर्ण नारक, तिर्यञ्च,देव और मनुष्यो मे वे पल्यो और सागरो की आयु वाले जन्म पाते है। इस तरह अनादि—अनन्त, दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिमय ससाररूपी भयानक वन मे वे बार-बार परिभ्रमण करते रहते हैं।

यह पूर्वोक्त परिग्रह—आश्रव का फलविपाक—फल का अनुभव—भोग इस लोक मे और परलोक (भावी जन्म) मे अल्प सुख एव महादु ख देने वाला है। महाभय का उत्पादक है, अत्यन्त गाढ कर्मरूपी रज का सम्बन्ध कराने वाला है, अतिदारुण है, कठोर है और दु खमय है। यह हजारो वर्षों मे जा कर छूटता है। इस (फल) के भोगे बिना कदापि छुटकारा नही होता है। इस प्रकार ज्ञातकुलनन्दन महात्मा महावीर नाम के जिनेन्द्रप्रभु ने व्याख्यान किया है। तथा मैंने (शास्त्रकार ने) परिग्रह का (यह) फलविवाक कहा है।

यह पूर्वोक्त परिग्रह नामक पाचवा आश्रवद्वार निश्चय ही अनेक प्रकार की चन्द्रकान्त आदि मणियो, सोना, हीरा आदि रत्न, महामूल्य सुगन्धित इत्र आदि द्रव्य, पुत्र, स्त्री आदि स्वरूपद्वारोक्त परिग्रह इस भावमोक्ष—मोक्ष के निर्लोभता—मुक्ति रूप उपाय के लिए बाधक अर्गलारूप—प्रतिबन्धक है। इस प्रकार यह अन्तिम पाचवाँ आश्रवद्वार समाप्त हुआ ॥सू० २०॥

व्याख्या

शास्त्रकार अब क्रमप्राप्त फलद्वार के निरूपण के प्रसग मे परिग्रहसेवन से जीवो को क्या-क्या फल मिलते है ? इसका सक्षेप मे प्रतिपादन करते है। इस सूत्रपाठ का अर्थ मूलार्थ और पदार्थान्वय से काफी स्पष्ट है तथा इस प्रकार के समान सूत्र-पाठ की व्याख्या पहले के सूत्रपाठो मे काफी की जा चुकी है। फिर भी कई स्थलो पर आशय स्पष्ट करने की दृष्टि से कुछ विश्लेषण करना अप्रासगिक नही होगा।

परलोयम्मि य नट्ठा—जो व्यक्ति परिग्रह के वशीभूत हो कर नाना प्रकार के सासारिक पदार्थो को येन-केन—प्रकारेण अन्याय, अनीति या अधर्म से भी जुटाने मे तत्पर रहते है, उनकी हालत यह होती है कि वे अपने परलोक को नष्ट कर डालते है—बिगाड लेते है। यहाँ 'य' (च) शब्द पडा है, जो इस बात का द्योतक है कि जिसने परलोक को नष्ट कर डाला, उसका यह लोक (जन्म) भी अवश्य नष्ट होता है। उपनिषद् मे कहा है—**'इतो विनष्टिर्महती विनष्टिः'** यहाँ का जीवनविनाश महान् जीवनविनाश है। जो यहाँ अपने जन्म को बिगाड लेता है—चारित्र से भ्रष्ट, नैतिकता से पतित और अपने ध्येय से भ्रष्ट हो जाता है, वह अपने परलोक को तो अवश्य ही नष्ट कर लेता है। इसलिए 'य' शब्द 'इहलोक' का बोधक है।

इसका आशय यह है कि परजन्म को सुधारना या बिगाडना किसी और शक्ति, भगवान् या ईश्वर के हाथ मे नही, हमारे अपने हाथ मे है। हम चाहे तो इस जीवन को अत्यन्त उन्नत, महत्वपूर्ण और सर्वसुख-सम्पन्न मोक्ष के निकट पहुचा सकते है और चाहे तो बुरे आचरणो, दुर्व्यसनो, बुरे मार्ग या बुरे कार्यों मे लगा कर इसे नष्ट कर सकते है। इस जीवन का अपने हाथो से इस प्रकार विनाश एक तरह से अनन्त जन्मो का विनाश होगा। क्योकि पता नही, फिर मनुष्यजन्म कब मिले ? इसलिए इस जन्म मे जैसा भी मनुष्यजन्म मिला है, जैसी भी परिस्थिति, क्षेत्र, कुल, इन्द्रियो की पूर्णता-अपूर्णता, आयुष्य, शरीरसम्पत्ति आदि प्राप्त हुई है, उसे बदलना तो हमारे हाथ की बात नही है। किन्तु हमारा भविष्य हमारे हाथ मे है। अगर हम सन्मार्ग का आचरण करे और अशुभ पापमय कार्यो से अपने को बचाये रखे तो अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकते है।

प्रश्न होता है कि जब अपना जीवन बनाना-बिगाडना मनुष्य के अपने हाथ मे है तो वह जानबूझ कर क्यो अपने जीवन को पतन की आग मे धकेलता है ? क्यो नही, अपने इहलौकिक जीवन को सुधार लेता ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है—**'तम पविट्ठा महया मोहमोहियमती तिमिसधकारे'** अर्थात्—वे स्वय अज्ञान के गाढ अन्धेरे मे डूब रहते है। उनकी बुद्धि पर घनी काली अधेरी रात की तरह तीव्र

मोहनीय कर्म का पर्दा पडा रहता है, जिससे उनकी वुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है। उन्हे पशु की तरह पेट भरने, सतान पैदा करने एव पैसा, सुख-साधन इत्यादि के रूप मे परिग्रह इकट्ठा करने के सिवाय और. कुछ नही सूझता। वे जीवन के लक्ष्य से भटक जाते हैं और वाद मे भी कई जन्मो तक भटकते ही रहते हे।

परिग्रह के दलदल मे फसे हुए जीव अपने परलोक—आगामी जीवन को इस प्रकार अपने ही हाथो से विगाड लेते है। वे चाहते है सुख। लेकिन परिग्रह प्राप्त करने के लिए उलटे मार्गों का सहारा लेते है, जिससे वे उस सुख से दूरातिदूर होते जाते हैं। क्षणिक काल्पनिक सुख की आशा मे वे महापापजनक वाह्य पदार्थों मे ममत्व रखते हैं। आतमगुणो के अतिरिक्त जितनी भी वस्तुएँ है वे सव परभाव है, आत्मा परभावो मे जितनी-जितनी डूवती है, उतना-उतना अधिक दु.ख पाती है।

वास्तव मे तीव्र मोहनीयकर्म से परिग्रही की वुद्धि घिर जाती है तो उसका ज्ञान, दर्शन या चारित्र सव उलटा हो जाता है। विपरीत ज्ञान के प्रभाव से उसे सुख देने वाले देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा, सिद्धान्तज्ञान या शुद्धधर्माचरण वुरा मालूम होता है। अत परिग्रह सेवनकर्ता लोभ के वशीभूत हो कर अपने इस जीवन को विगाड डालते हैं, आगामी जीवन भी उन्हे वुरा ही मिलता है, वहाँ भी उनका जीवन भ्रष्ट और पतित होता है।

परिग्रह का फल दीर्घकाल तक ससार-परिभ्रमण—जिस प्रकार अव्रह्मचर्य-सेवन का फल अनन्तकाल तक एकेन्द्रिय से ले कर पचेन्द्रिय तक विविधगतियो और योनियो मे परिभ्रमण वताया गया था, उसी प्रकार परिग्रहसेवन का फल भी अनन्तकाल पर्यन्त एकेन्द्रिय से ले कर पचेन्द्रिय तक की नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति रूप विविध योनियो मे भटकना है।

इस पर विशद व्याख्या हम पहले के अध्ययनो मे कर आए है। अत पुन पिष्टपेपण करना ठीक नही होगा।

वास्तव मे परिग्रह का फल इस लोक मे तो प्रत्यक्ष है। शास्त्रकार ने भी १९ वें सूत्रपाठ मे परिग्रह से होने वाले अनर्थों का उल्लेख किया ही है। जिनके हृदय मे तृष्णा की आग जलती रहती है, आशारूपी हवा जिसे वार-वार भडकाती रहती है, और इच्छा एव परिग्रहसेवन - रूपी इन्धन भी जिसमे रात-दिन झोका जाता है, वहाँ भला शान्ति कैसे मिल सकती है? सन्मार्ग कैसे सूझ सकता है? यही कारण है कि परिग्रह का फलविपाक इस लोक और परलोक मे सर्वत्र अल्पसुख एव वहुदुखप्रदायक है। हजारो वर्षों तक भोगते रहने पर भी उस कटु फलभोग से छुटकारा नही होता। भोगना तो अवश्य ही पडता है। श्रमण भगवान्

महावीर ने इस प्रकार परिग्रह का फलविपाक बताया था, शास्त्रकार भी उसी को दोहरा कर अपनी नम्रता प्रगट करते है।

उपसंहार

शास्त्रकार पूर्वोक्त पॉच अध्ययनो मे पाच आश्रवो का निरूपण करने के बाद अब पाँच गाथाओ द्वारा उनका उपसहार करते है—

मू०—एएहिं पचहिं आसवेहि, रयमादिणित्तु अणुसमय।
चउव्विहगइ-पेरत, अणुपरियट्ट ति ससार ॥१॥

छाया—एतैः पचभिराश्रवै, रज आचित्याऽनुसमयम्।
चतुर्विधगति—पर्यन्तमनुपरिवर्तन्ते ससारम् ॥१॥

मू०—सव्वगई पक्खदे, काहेति अणतए अकयपुण्णा।
जे य ण सुणति धम्म, सोऊण य जे पमायति ॥२॥

छाया—सर्वगति प्रस्कन्दान्,करिष्यत्यनन्तान् अकृतपुण्या।
ये च न श्रृण्वन्ति धर्म, श्रुत्वा च ये प्रमाद्यन्ति ॥२॥

मू०—अणुसिट्ठ पि बहुविह, मिच्छादिट्ठीआ जे नरा।
बद्धनिकाइयकम्मा, सुणति धम्म न य करेति ॥३॥

छाया—अनुशिष्टमपि बहुविध, मिथ्यादृष्टिका ये नराः।
बद्धनिकाचितकर्माण, श्रृण्वन्ति धर्म न च कुर्वन्ति ॥३॥

मू०—कि सक्का काउ जे, ज णेच्छह ओसह मुहा पाउ।
जिणवयण गुणमहुर, विरेयण सव्वदुक्खाण ॥४॥

छाया—किं शक्य कर्त्तुं ये, यन् नेच्छथौषध मुधा पातुम्।
जिन वचन गुणमधुर, विरेचन सर्वदु.खानाम् ॥४॥

मू०—पचेव य उज्झिऊण, पचेव य रक्खिऊण भावेण।
कम्मरयविप्पमुक्का, सिद्धिवरमणुत्तर जति ॥५॥त्तिबेमि॥

छाया—पचैव चोज्झित्वा, पचैव च रक्षित्वा भावेन।
कमरजोविप्रमुक्ता सिद्धिवरमनुत्तर यान्ति ॥५॥इति ब्रवीमि॥

मूलार्थ—इन पाचो (प्राणातिपात आदि) आश्रवो से जीव प्रतिक्षण आत्म प्रदेशो के साथ कर्मरूपी रज का सचय करता हुआ गतिनाम कर्म के उदय से नरक, तिर्यंच, देव, मनुष्य—इस चारगतिरूप ससार मे परिभ्रमण करता रहता है ॥१॥

जिन्होने आश्रवो का निरोध नही किया है, वे पुण्यहीन प्राणी नरक देव आदि सर्वगतियो मे अनन्त (बार) गमनागमन करेंगे। कौन ? जो धर्म का श्रवण नही करते या धर्म श्रवण करके भी जो प्रमाद करते है ॥२॥

जो मनुष्य मिथ्यादृष्टि है तथा निकाचित रूप से कर्म बाधे हुए है, वे अधम गुरुजनो द्वारा अनेक प्रकार से उपदेश दिये जाने पर धर्म श्रवण तो करते है, लेकिन उसका आचरण नही करते ॥३॥

जिनवचन तो समस्त दु खो के नाश के हेतु गुणयुक्त मधुर विरेचन है, परन्तु नि स्वार्थ बुद्धि से दिए गये इस औपध को जो पीना नही चाहते, उनका वह क्या कर सकता है ? ॥४॥

अत जो हिंसा आदि पाच आश्रवो को छोड कर और प्राणातिपात-विरमण आदि पाच सवरो का भाव से पालन करके कर्मरज से सर्वथा मुक्त हो जाते है, वे सकलकर्मों के क्षय से प्राप्त होने वाली उत्तम और सर्वश्रेष्ठ भावसिद्धि यानी सर्वोत्तम सिद्धि को पाते है ॥५॥

इस प्रकार सुबोधिनी व्याख्यासहित पचम अध्ययन अर्थात् परिग्रह आश्रव के रूप मे पचम और अन्तिम अधर्मद्वार समाप्त हुआ।

आश्रवद्वार सम्पूर्ण

द्वितीय खण्ड : संवरद्वार

संवरद्वार-दिग्दर्शन

प्रथम श्रुतस्कन्ध मे शास्त्रकार ने आश्रवद्वार के अन्तर्गत पाच आश्रवो का विशद वर्णन किया है। आश्रव का प्रतिपक्षी सवर है। सवर का महत्त्व जाने विना आश्रवो से विरति नही हो सकती। इसलिए आश्रवो के निरूपण के वाद सवरो का निरूपण आवश्यक समझ कर शास्त्रकार सर्वप्रथम पाच सवरो का दिग्दर्शन निम्नोक्त पाठ द्वारा करा रहे है—

मूलपाठ

जम्बू ! एत्तो य सवरदाराइं पंच वोच्छामि आणुपुव्वीए।
जह भणियाणि भगवया सव्वदुहविमोक्खणट्ठाए ॥ १ ॥
पढम होइ अहिंसा, बितिय सच्चवयण ति पन्नत्तं।
दत्तमणुन्नाय सवरो य बभचेरमपरिग्गहत्त च ॥ २ ॥
तत्थ पढम अहिंसा तसथावरसव्वभूयखेमकरी।
तोसे मभावणाओ किंची वोच्छ गुणुद्देसं ॥ ३ ॥

ताणि उ इमाणि सुव्वय! महव्वयाइं[1] लोकहियसव्वयाइं सुयसागरदेसियाइ तवसजमव्वयाइ सीलगुणवरव्वयाइ सच्चज्जवव्वयाइ नरकतिरियमणुयदेवगति-विवज्जकाइ कम्म-रयविदारगाइ दुहसयविमोयणकाइ सुहसयपवत्तणकाइं कापुरिसदुरुत्तराइ[2] सप्पुरिसनिसेवियाइं निव्वाणगमणमग्ग-(सग्ग)-पणायकाइं सवरदाराइ पच कहियाणि य (उ) भगवया।

---

१ 'लोए धिइअव्वयाइ' पाठ कही कही है।

२ 'सप्पुरिसतीरियाइ' पाठ भी मिलता है। —सपादक

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! इतश्च सवरद्वाराणि पच वक्ष्याम्यानुपूर्व्या ।
यथा भणितानि भगवता सर्वदु खविमोक्षणार्थम् ॥ १ ॥
प्रथम भवत्यहिसा द्वितीय सत्यवचनमिति प्रज्ञप्तम् ।
दत्तमनुज्ञात सवरश्च ब्रह्मचर्यमपरिग्रहत्व च ॥ २ ॥
तत्र प्रथममहिसा त्रसस्थावरसर्वभूतक्षेमकरी ।
तस्या सभावनाया किंचिद् वक्ष्ये गुणोद्देशम् ॥ ३ ॥

तानि इमानि सुव्रत ! महाव्रतानि लोकहितसर्वदानि (लोके धृतिदव्रतानि) श्रुतसागरदेशितानि तप सयमव्रतानि शीलगुणवरव्रतानि सत्यार्जवाव्ययानि (व्रतानि) नरकतिर्यग्मनुजदेवगतिविवर्जकानि, सर्वजिनशासनकानि कर्मरजोविदारकाणि भवशतविनाशनकानि दु खशत विमोचनकानि सुखशतप्रवर्त्तकानि कापुरुषदुरुत्तराणि सत्पुरुषनिषेवितानि (सत्पुरुषतीरितानि) निर्वाणगमनमार्ग-(स्वर्ग)प्रणायकानि (प्रयाणकानि) सवरद्वाराणि पच कथितानि तु भगवता ।

पदार्थान्वय—(जबू !) गणधर सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—हे जम्बू ! (एत्तो) आश्रवद्वारो का कथन करने के पश्चात् (पच) पाँच (सवरदाराइ) सवरद्वार (जह) जिस प्रकार (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (सव्वदुहविमोक्खणट्ठाए) समस्त दु खो से छुटकारा दिलाने के लिए (भणियाणि) कहे हैं, वैसे ही, (आणुपुव्वीए) अनुक्रम से मै (वोच्छामि) कहूँगा । (पढम) पहला सवरद्वार, (अहिंसा) अहिंसा (होई) है, (बितिय) दूसरा सवरद्वार (सच्चवयण) सत्यवचन है, (इति पण्णत्त) ऐसा बताया है । (दत्त) दी हुई या स्वामी, गुरु, तीर्थंकर आदि के द्वारा जिसके सेवन की अनुमति प्राप्त हुई हो, उसी वस्तु के ग्रहणरूप अदत्त का विपक्षी 'दत्तानुज्ञात' नामक तीसरा सवरद्वार है, चौथा (बभचेर) ब्रह्मचर्यसवरद्वार है (च) और पाचवा (अपरिग्गहत्त) अपरिग्रहत्व—परिग्रह का त्याग नामक सवरद्वार है । (तत्थ) उन पाचो मे से (पढम) प्रथम सवर द्वार (अहिंसा) अहिंसा है, जो (तसथावरसव्वभूयखेमकरी) त्रस और स्थावर सभी जीवो का क्षेम—कल्याण करने वाली है । (सभावणाओ) पाच भावनाओ सहित,(तीसे) उस अहिंसा के (किंचि) कुछ थोडे-से (गुणुद्देस) गुणो का सक्षिप्त स्वरूप (वोच्छ) कहूगा । (सुव्वय !) हे उत्तमव्रत वाले जम्बू ! (ताणि उ) वे नाम मात्र से कहे गए (इमाणि) जिनका स्वरूप आगे बताया जायगा, ऐसे ये (महव्वयाइ) महाव्रत (लोकहियसव्वयाइ) लोक के

सम्पूर्ण हित को देने वाले हैं, अथवा (लोके धिइअव्वयाइ) जीव लोक मे धैर्य—चित्त को आश्वासन देने वाले व्रत हैं। (सुयसागरदेसियाइ) ये आगमरूपी समुद्र मे उपदिष्ट हैं (तवसजमव्वयाइ) ये तप और सयमरूप व्रत हैं अथवा इनमे तप और सयम का व्यय—क्षय—नहीं होता है, (सील गुणवरव्वयाइ) शील और विनयादि गुणो से श्रेष्ठ व्रत हैं अथवा इनमें शील और श्रेष्ठ गुणो का व्रज—समूह निहित है, (सच्चज्जवव्वयाइ) सत्य और आर्जव—इन व्रतो में प्रधान हैं, अथवा सत्य और आर्जव का इनमें व्यय - नाश नहीं होता, (नरगतिरियमणुयदेवगतिविवज्जकाइ) नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगति को दूर हटाने वाले हैं, (सव्वजिण-सासणगाइ) समस्त जिनेन्द्रो द्वारा शासित—प्रतिपादित हैं, (कम्मरयविदारगाइ) कर्मरूपी रज का विदारण—क्षय करने वाले हैं, (भवसयविणासणकाइ) सैकडो भवो—जन्मो का विनाश—अन्त करने वाले हैं, (दुहसयविमोयणकाइ) सैकडो दुखो से छुडाने वाले हैं, (सुहसयपवत्तणकाइ) सैकडो सुखो में प्रवृत्त करने वाले हैं, (कापुरिसदुत्तराइ) कायर पुरुपो के लिए दुस्तर हैं,भीरु लोग वडी मुश्किल से इन पर निप्ठा लाते हैं, (सप्पुरिसनिसेवियाइ) सत्पुरुषो ने इनका सेवन करके किनारा पा लिया है, (निव्वाणगमणमग्ग-(सग्ग) पणायकाइ) ये निर्वाणगमन के लिए मार्ग रूप हैं तथा प्राणियो को स्वर्ग पहुँचाने वाले हैं। (पच) ऐसे पाच (सवरदाराइ) सवर द्वार (भगवया) भगवान् महावीर ने (कहियाणि उ) कहे हैं।

मूलार्थ- श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है—हे आयुष्मन् जम्बू! पाचो ही आश्रवद्वारो का वर्णन करने के पश्चात् समस्त दु:खो से छुटकारा दिलाने के लिए पाच सवरद्वार जिस प्रकार भगवान् महावीर स्वामी ने कहे है, उसी प्रकार मैं तुम्हे अनुक्रम से कहूँगा ॥१॥

पहला सवरद्वार अहिंसा है। दूसरा सवरद्वार सत्यवचन है, तीसरा सवरद्वार दत्त और अनुज्ञात के ग्रहण रूप है,चौथा ब्रह्मचर्य नामक सवरद्वार है और पाचवा अपरिग्रहत्व—परिग्रहत्याग नामक सवरद्वार है ॥२॥

इन पाचो मे से पहला सवरद्वार अहिंसा है, जो त्रस-स्थावर सम्पूर्ण प्राणियो का क्षेम-कुशल करने वाली है। पाच भावनाओ सहित उस अहिंसा के थोडे-से गुणो का संक्षिप्त स्वरूप मै वताऊ गा ॥३॥

हे सुव्रत—उत्तम व्रताचरणशील! पहले जिनके नामो का ही केवल उल्लेख किया गया है,जिनका विशेप स्वरूप आगे वताया जायगा, वे ये अहिंसा आदि ५ महाव्रत लोगो के सम्पूर्ण हितो के प्रदाता है अथवा लोक मे दु:ख से

घबराए हुए जीवो को धैर्य देने वाले ये व्रत हे। ये व्रत तप—सयमरूप हे, अथवा इनमे तप और सयम का क्षय नही होता। ये शील और विनयादि गुणो के कारण श्रेष्ठ है अथवा उनमे शील और श्रेष्ठ गुणो का समूह रहता है। इनमे सत्य और आर्जव (सरलता) प्रधान हे। ये नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव-गति का निवारण करने वाले है। इनकी शिक्षा समस्त तीर्थंकरो ने दी है। ये कर्मरूपी रज का क्षय करने वाले हे। ये सैकडो भवो—जन्ममरणो का नाश करने वाले है। ये सैकडो दु खो से छुटकारा दिलाने वाले और सैकडो सुखो की प्राप्ति कराने वाले है। कायर पुरुपो के लिए इन पर अन्त तक निष्ठा-पूर्वक टिकना कठिन है। ये सत्पुरुषो के द्वारा सेवित है अथवा सत्पुरुप इनका सेवन करके पार उतर गए है। ये निर्वाणगमन के लिए मार्गरूप है, और स्वर्ग मे ले जाने वाले है। ऐसे पाच सवरद्वार का कथन भगवान महावीर स्वामी ने किया है।

व्याख्या

श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र का प्रथम खण्ड—आश्रवद्वार (अधर्मद्वार) समाप्त हो चुका। इसलिए अव आश्रव के प्रतिपक्षी सवरो का वर्णन करना जरूरी था। चू कि प्रश्नव्याकरणसूत्र विश्व के प्राणियो के जीवन से सम्बन्धित मूलभूत प्रश्नो की व्याख्या और विश्लेपण करने के लिए ही भगवान् महावीर स्वामी द्वारा प्ररूपित है। जीवन के मूलभूत और मुख्य प्रश्न यही है कि मनुष्य किन-किन कारणो से कैसे-कैसे दु ख पाता है। उसके लिए उसे कहाँ-कहाँ भटकना पडता है? उसके पश्चात् वह इन दु खो के कारणो से कैसे और किस उपाय से छुटकारा पा सकता है? उसके लिए उसे कौन-सी आराधना—साधना करना जरूरी है? अथवा किन-किन बातो को दृढता-पूर्वक अपनाना आवश्यक है? प्राणिजीवन के वन्धनसम्बन्धी पूर्व प्रश्नो के उत्तर मे आश्रवद्वार का वर्णन प्रस्तुत किया गया और अव मुक्तिसम्बन्धी प्रश्नो के उत्तर मे सवरद्वार प्रस्तुत कर रहे हैं।

इसी हेतु से पाचो आश्रवद्वारो—अधर्म द्वारो का निरूपण और विश्लेपण कर चुकने के पश्चात् श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रधान शिष्य श्री जम्बूस्वामी को सम्वोधित करके कह रहे है—'जम्बू! **एत्तो सवरदाराइ पच वोच्छामि आणुपुव्वीए।**' अर्थात् यहाँ से अव आश्रवो के प्रतिपक्षी पाच सवरद्वारो का मैं क्रमश तुम्हारे सामने निरू-पण करू गा।'

प्रश्न होता है कि इन सवरद्वारो का वर्णन पहले भी किसी ने किया है, या श्री

सुधर्मास्वामी स्वयमेव सर्वथा नये रूप मे उनका वर्णन कर रहे है ? इसके उत्तर मे शास्त्र- कार स्वय कहते है—'जह भणियाणि भगवया' ।

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि सुधर्मास्वामी स्वय ज्ञानी और दृढ चारित्रात्मा थे, वे चाहते तो स्वयमेव नये रूप मे सवरो का वर्णन कर सकते थे, लेकिन उन्होने उपर्युक्त वाक्य द्वारा विनयपूर्वक अपनी लघुता प्रगट की है । साथ ही वीतरागप्रभु के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति का परिचय दिया है । उनके प्रति कृतज्ञता भी प्रदर्शित की है कि 'जैसा भगवान् महावीर ने सवरद्वारों का वर्णन अपने श्रीमुख से फरमाया था, वैसे ही रूप मे मैं उनके आशयानुसार अपने शब्दो मे उनका वर्णन करू गा । मैं नये रूप मे अपनी ओर से इनका वर्णन नही कर रहा हू । भगवद्वाणी तो समस्त जीवो के सशयो के दूर करने वाली, और सबको हृदयगम हो सके, ऐसी सर्वभाषामयी थी, वैसी शक्ति तो मुझ मे नही है, किन्तु उन्ही भावो को विना विपर्यास किए, यथातथ्य रूप मे मैं कहूगा । इन शब्दो से श्री सुधर्मास्वामी ने इस शास्त्र की प्रामाणिकता भी व्यक्त कर दी है ।

सवरद्वारो का वर्णन क्यो और किसलिए ?—एक शका यह होती है कि इन सवरो का वर्णन भी क्यो और किसलिए किया गया है ? इसी के समाधानार्थ शास्त्रकार स्वय कह रहे हैं—'**सव्वदुहविमोक्खणट्ठाए**' अर्थात्—समस्त दु खो अथवा समस्त प्राणियो को दु खो से मुक्ति—छुटकारा दिलाने के लिए सवर का निरूपण किया ।

सवर का अर्थ—जैसे आश्रव जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है, वैसे ही सवर भी जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है । आश्रव का अर्थ हम आश्रवद्वार के प्रारम्भ मे कर आए है । अत उसका पिष्टपेषण करना अनावश्यक है । सवर का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार है—

'सव्रियन्ते प्रतिरुध्यन्ते आगन्तुककर्माणि येन स. सवर' 'सवरणमात्र—प्रतिरोधनमात्र वा सवर' ।

अर्थात्—'भविष्य मे आने वाले कर्म जिस शुद्ध भाव से रुकते है या रोके जाते हैं, उसे सवर—भावसवर कहते है और आने वाले पुद्गलरूप कर्मों का रुक जाना द्रव्यसवर है ।'

एक दृष्टान्त द्वारा इसे स्पष्टतया समझाना ठीक होगा—मान लो, समुद्र मे अगाध जल भरा है । उसमे एक नौका पडी है । परन्तु अधिक समय हो जाने [illegible] नौका मे छेद हो गए है । उन छेदो द्वारा जल द्रुतगति से नौका मे भर रहा है । [illegible] नौका के छिद्र किसी विवेकी नाविक ने बद कर दिये । अब नौका [illegible] खतरा नही । अब उसमे पानी घुस नही सकेगा । नौका अब [illegible] समुद्र [illegible] पार करके किनारे पहुच सकेगी ।

इसी प्रकार ससाररूप समुद्र है,उसमे कार्माणवर्गणा [illegible] अथाह

जल भरा है। आत्मारूपी नौका इस ससारसमुद्र मे अनादिकाल से पडी है। आत्मारूपी नौका मे विपरीत परिणति के कारण पाच आश्रवरूपी छेद हो रहे है,उन छेदो से कर्मरूपी जल द्रु तगति से सतत घुस रहा है। कुशल नाविक की तरह विवेकी आत्मा उन छिद्रो को अहिंसा-सत्य आदि पाच सवरो के उत्तम तथा पवित्र भावो से रोक देता है तो कर्मरूपी जल रुक जाता है। और तव आत्मारूपी नौका ससारसमुद्र को सुरक्षित रूप से पार करके किनारे लग सकेगी। यही सवर का स्वरूप है। सवर आश्रव का ठीक विरोधी है। आश्रवो के कारण तो आत्मारूपी नौका ससारसमुद्र मे ही अनन्त काल तक जन्म-मरण के गोते खाती रहती है, जवकि सवर के द्वारा उसे गोते खाने से बचाया जा सकता है।

सवर का माहात्म्य और उसकी उपयोगिता—ससार मे समस्त प्राणी शारीरिक और मानसिक दु खो से घवरा रहे हैं। वे उन दु खो से बचने के लिए इधर-उधर बहुत ही हाथ-पैर मारते है, लेकिन ज्यो-ज्यो वे प्रयत्न करते जाते है, त्यो-त्यो अधिकाधिक दु ख के जाल मे फसते जाते है। इसका कारण यह है कि वे दु खनिवारण एव सुखप्राप्ति के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, वेईमानी, अब्रह्मचर्यसेवन, परिग्रह आदि जिन-जिन चीजो को अपनाते हैं, वे उन्हे सुख के वदले और अधिक दु ख के गर्त मे पटक देती है। ससारी जीव इन दु खो से मुक्ति पाने के लिए छटपटा रहे है, लेकिन मोह,अज्ञान और मिथ्यात्त्व के कारण उन्हे कोई सच्ची राह नही सूझती। इसी कारण विश्ववत्सल, प्राणिमात्र के हितैपी एव परमकृपालु वीतराग तीर्थंकरो ने आश्रवो को छोड कर सवरो को अपनाने पर जोर दिया है।

इसी हेतु से इस सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने सवर का माहात्म्य बताया है—कि दु खसतप्त प्राणी सवरो का माहात्म्य समझ कर सवरो की साधना—आराधना के के सम्मुख हो और अणुव्रत या महाव्रत के रूप मे उसे जीवन मे उतार ले। यद्यपि शास्त्रकार ने यहाँ सवरद्वार मे महाव्रतो का ही निर्देश किया है, लेकिन **'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना'**—'हाथी के पैर मे सभी पैर आ जाते है', इस कहावत के अनुसार महाव्रत के अन्तर्गत अणुव्रत या मार्गानुसारी नैतिक व्रत भी समा जायेगे। इस दृष्टि से सवरो को केवल साधु-मुनियो के ही आराधन करने योग्य समझ कर किसी को निराश हो कर वैठने की जरूरत नही। हर व्यक्ति को यथाशक्ति सवरो का स्वरूप और माहात्म्य समझ कर उनकी आराधना मे तत्पर होना चाहिए। अव हम क्रमश सवरद्वारो के माहात्म्य पर शास्त्रकार के द्वारा उक्त पक्तियो पर प्रकाश डाल रहे है—

ताणि उ इमाणि सुव्वय ! महव्वयाइ – जिन्हे सवरशब्द से पुकारा जाता है, वे अहिंसा आदि पच-महाव्रतरूप है। गृहस्थ श्रावको के पालन करने योग्य व्रत अणुव्रत कहलाते ह। अणुव्रतो की अपेक्षा से ये महान् होने के कारण महाव्रत कहलाते

लोकहियत्व्वयाइ—ये सवर ससार मे समस्त हितो के प्रदाता है। ससारी जीव हित की प्राप्ति और अहित से निवृत्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते है। लेकिन विपरीत उपायो का सहारा लेने से विफलमनोरथ होकर वे हताश हो जाते है। परन्तु शास्त्रकार इन सवरद्वारो को एकान्त लोकहितप्रदायक बता कर सवर-ग्रहण की ओर अगुलिनिर्देश कर रहे है।

अथवा यदि 'लोए धिइअव्वयाइ' पाठ माने तो अर्थ होता है—ये सवरद्वार लोक मे शारीरिक और मानसिक दुखो से सन्तप्त जीवो को धैर्य बधाने और आश्वासन देने वाले व्रत है। वास्तव मे अहिसा आदि व्रतो के धारण करने से व्यक्ति को सुख-शान्ति की अनुभूति अवश्य ही होती है, व्याकुलता कम हो जाती है, आश्रवो से छुटकारा पाते ही मनुष्य निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व हो जाता है।

सुयसागरदेसियाइ—सासारिक प्राणी जब शारीरिक मानसिक पीडाओ से छटपटाते है, उस समय यदि कोई साधारण आदमी जाकर उन्हे किसी मामूली पुस्तक की बाते पढ कर सुना दे तो उससे उन्हे सतोष नही होता। परन्तु उस समय अगर उन्हे यह विश्वास दिलाया जाय कि ये बाते मैं अपने मन की कपोल कल्पित नही बता रहा हूं, अपितु आगमो के गहरे ज्ञान समुद्र मे उपदिष्ट ही यह सब बता रहा हूँ, तो उन्हे झट विश्वास जम जाता है और वे सवर को अपनाने के लिए तैयार हो जाते है। इसी दृष्टिकोण से कहा गया है कि ये सवरद्वार श्रुतसमुद्र—शास्त्रसागर मे सर्वज्ञ तीर्थकर भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट हैं।

तव-सजमव्वयाइ—ससार के अधिकाश प्राणी कर्मों के रोग से पीडित है। कर्मों के रोग को मिटाने के लिए रामबाण दवा तप और सयम है। तप और सयम की दिव्य-औषधि का सेवन करने से ही कर्मो का उच्छेद होगा। इसलिए सवर द्वारो को तप-सयमरूप व्रत बता कर उस सतापरूप रोग को मिटाने के लिए सकेत किया है, शान्ति प्राप्त करने का आश्वासन दिया है। अथवा इन सवरद्वारो मे तप

और सयम इन दोनो का क्षय नही होता। यानी सवर मे तप और सयम की धारा सतत प्रवाहित रहती है।

सीलगुणवरव्वयाइ सच्चज्जवव्वयाइ—ससारी प्राणी सुख-शान्ति के कारण समझ कर कामसेवन करते है और अनेक दुर्गुणो को अपनाते है, लेकिन ज्यो-ज्यो जीव कामवासना से प्रेरित होकर अब्रह्मसेवन करता है या दुर्गुणो को अपनाता है, त्यो-त्यो अनेक शारीरिक और मानसिक रोग उसे आ घेरते है, शरीर आधि-व्याधि-उपाधि से ग्रस्त हो जाता है, तब उसे यदि बताया जाए कि तुम सवरो को अपना लो तो वह 'दूध का जला छाछ को भी फूक-फूक कर पीता है, उक्त कहावत के अनुसार शका करने लगेगा कि कही इन सवर द्वारो मे भी वही मौजशौक, विपयवासनासेवन के खेल, रागरग,छलकपट,धोखे बाजी,झूठफरेब आदि तो नही हैं ? अत उसे शास्त्रकार विश्वास दिलाते हैं कि 'घबराओ मत! इन सवर द्वारो मे ये सब कामोत्तेजक या दुर्गुणवर्द्धक बाते नही है, इनमे तो शील (सदाचार) है, श्रेष्ठ गुण है, सत्यता है, सरलता है। इन सवरद्वारो के सेवन से सभी प्रकार के शारीरिक मानसिक रोग मिट जाएँगे। झूठफरेब, धोखेबाजी, ठगी या कपटव्यवहार जीवन मे फटकेंगे भी नही, जिनसे तुम्हे डरना पडे। बल्कि शील, सत्य और सरलता से जीवन चमक उठेगा, जीवन मे शान्ति और सुख का सागर लहराने लगेगा।

नरगतिरियमणुयदेवगतिविवज्जकाइ—प्राणी अनादिकाल से नरकादि चारो गतियो मे भ्रमण कर रहा है। बार-बार विभिन्न गतियो मे भटकते-भटकते और वहाँ जन्म,जरा, मृत्यु, व्याधि के तथा वध-बन्धन आदि के विविध कष्ट सहते-सहते ऊबा हुआ प्राणी कोई न कोई सहारा ढूढता है, या कोई निवारक उपाय खोजता है। ऐसे प्राणियो से शास्त्रकार कहते है कि सवरद्वार ऐसे है, जिन्हे अपना लेने पर और दृढता से इनकी आराधना—साधना करने पर इन चारो गतियो मे भ्रमण करने का कोई खतरा नही रहता। ये सवर ऐसे है कि इन्हे अपना लेने पर चारो गतियो मे भ्रमण का रास्ता बद हो जाता है।

सव्वि[illegible]णगाइ—जब कोई रोग दु साध्य हो जाता है तो रोगी घबरा कर अनेक वैद्यो और चिकित्सको के पास जाता है। यदि वे अपने चिकित्साशास्त्र के आचार्यों द्वारा बताए हुए नुस्खे लिख कर रोगी को देते है, तब तो रोगी को विश्वास बैठ जाता है। परन्तु अगर वैद्य अपना मनमाना नुस्खा लिख कर दे देता है या उटपटाग दवा लिख कर रोगी को टरका देता है तो उसे फायदा भी नही होता और रोगी का श्रद्धा उस वैद्य पर से हट जाती है। यही बात आध्यात्मिक रोगी—भवभ्रमण के रोगी के लिए है। जब कोई अप्रसिद्ध या मामूली साधु या आचाय उसे अमुक-अमुक नियम पालने की बाते करते है तो वह शकाशील हो कर पूछता है—"आत्मिक रोग का यह इलाज किसी प्राचीन महापुरुष

ने भी वताया है या आप अपने मन से हाक रहे है ?" यदि उस आत्मिक रोगी की शका का समाधान हो जाता हे, तो वह वेखटके उस इलाज को अपना कर शीघ्र स्वस्थ हो जाता ह । इमी दृष्टि से शास्त्रकार ने वताया है कि ये सवरद्वार कोरी गप्प नही है, या मै ही सिर्फ नही वता रहा हूँ, परन्तु इस अनादि-अनन्त ससार मे अनन्तकाल से प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल मे जो भी तीर्थंकर हुए है, उन सवने सासारिक प्राणियो के आत्मिक रोगो को मिटाने के लिए समानरूप से इन सवरो की ही शिक्षा दी है, इन्ही के सेवन का आदेश-निर्देश दिया ह ।

कम्मरयविदारगाइ—यह वात निश्चित है और विवेकी जीव अनुभव भी करते ह कि जो जैसा शुभाशुभ कर्म करेगा, उसे उसी रूप मे अपने उन कर्मा का फल भोगना पडेगा, भोगना पड रहा है और भूतकाल मे भी भोगना पडा था। इसलिए प्रत्येक मानव इन कर्मो से घवराता है और जो भी गुरु या उपदेशक उसके निकट-सम्पर्क मे होते है, उनसे कर्मनिवारण का उपाय पूछता फिरता हे । परन्तु वे खुद किसी न किसी दुर्गुण मे फसे होते हैं तो ऊटपटाग उपाय ही वताते है, उलटे लट-कने, चारो ओर आग जलाकर तपने आदि के उलटे माग वता देते हैं, तो उनसे उनके कर्म कटने के वजाय और नये वधते जाते है, वे वेचारे किंकर्तव्यविमूढ हो कर मन मसोस कर रह जाते है । उन्ही जीवो को लक्ष्य करके शास्त्रकार कहते है—ये सवर-द्वार नये कर्मो को वढाने के वजाय आते हुओ रोक देते है और पुराने कर्मो को क्षीण करने मे सहायक होते है ।

भवसयविणासणकाइ—ससार मे जन्ममरण का भय सवके पीछे लगा हुआ है । कठोर से कठोर हृदय वाले को भी जन्ममरण से डर लगता है। कई लोग मनुष्यजन्म पा कर भी पूर्वकृत अशुभकर्मवश अनेक कष्टो का सामना करने से ऊव जाते है और सोचते हैं—"जीवन का अन्त कर डाले ।" आत्महत्या करने से शान्ति और सुख हो जायगा , ऐसी भ्रान्ति के शिकार वन कर वे जन्म-मरण का चक्र घटाने के वजाय वढा लेते है । कई वार उन्हे झपापात (पर्वत से नीचे कूदना) और जलसमाधि ले लेने आदि के अनर्थक उपाय जन्ममरण के अन्त के लिए वता देते है , या 'शरीर के भस्म होते ही सव यही भस्म हो जायगा' इस प्रकार से विपरीत मार्गदर्शन दे कर गुमराह कर देते है । इन सवको लक्ष्य मे रख कर शास्त्रकार कहते हे—सवरद्वार ही एकमात्र सैकडो भवो (जन्ममरणो के चक्रो) को तोडने मे समर्थ है, अन्य कोई उपाय यथार्थ नही है, उलटे ऐसे उपायो से जन्ममरण का चक्र वढ जायगा ।

दुहसयविमोयणकाइ—ससार मे अधिकाश प्राणी अज्ञान, मोह, अविद्या और मिथ्यादर्शन के कारण नाना दु ख पाते है । वे मोहमूढ हो कर समझ ही नही पाते कि हमे ये दु ख क्यो भोगने पडते है और इन दु खो का अन्त भी हो सकता है या

नही ? कई बार तो उन्हे अपने जातीय, राष्ट्रीय, सामाजिक या पारिपार्श्विक सस्कार या वातावरण भी ऐसे गलत मिलते है, जिनसे उलटे उपाय अपना कर अपने दु खो मे वृद्धि कर लेते है । अत शास्त्रकार ऐसे दिङ्मूढ बने हुए लोगो को आश्वासन के स्वर मे कहते है कि 'ये सवरद्वार सैकडो दु खो से मुक्ति दिलाने वाले है । इन्हे अपनाओ ।'

सुहसयपवत्तणकाइ—ससारी जीव अज्ञान और मोह के वशीभूत हो कर वैपयिक सुखो को ही सुख मान कर विविध इन्द्रियविपयो तथा उनकी पुष्टि के लिए खाने-पीने-पहनने के साधनो, भौतिक पदार्था आदि को अपनाता है, परन्तु वे सब जरा-सी देर के लिए सुख की झलक दिखा कर नष्ट हो जाते है । तब फिर वही हायतोवा मचती है । खराब, अनचाहा पदार्थ मिला तो दु ख, इष्ट पदार्थ का वियोग हो गया तो दु ख,इष्ट पदार्थ को किसी दूसरे ने अपने कब्जे मे ले लिया तो उसकी चिन्ता और दु ख ! इसलिए उन सब सुखाभासो से दु ख पाते हुए लोगो से शास्त्रकार का सकेत है—'ये ५ सवरद्वार ही, एकमात्र ऐसे हैं, जो वस्तुनिष्ठ या विपयनिष्ठ दु खपरिणामी-सुखाभासो से छुटकारा दिला कर आत्मनिष्ठ स्वाधीन शाश्वत सुखो मे रमण करा देते है ।

कापुरिसदुरुत्तराइ—ससार मे बहुत-से लोग ऐसे है, जो सस्ता नुस्खा खोजते रहते है । जहाँ **'हींग लगे न फिटकरी रग चोखा हो जाय'** , इस मनोवृत्ति के लोग होते है, वहाँ कुछ धूर्त धर्मध्वजी भी उन्हे वैसे ही मिल जाते है,जो त्याग वैराग्य,सयम, तप और नियम को ढोग और दिखावा बता कर उन्हे इन्द्रियसुखो के दलदल मे फसा कर अपना उल्लू सीधा कर लेते है । वे उन्हे इन्द्रियो के वैपयिक सुख और ऐश आराम की जिदगी बिता कर स्वर्ग और मोक्ष मिल जाने या अमुक सम्प्रदाय, गुरु, या अवतार को मान लने या अमुक (भस्म रमाने, जटा बढाने आदि) क्रिया करने से भगवान् के दर्शन या मुक्ति की प्राप्ति के सब्जबाग दिखाते हैं । इस प्रकार तप, सयम, नियम, त्याग, वैराग्य आदि को कष्टकर समझ कर कायर बना हुआ और सस्ता नुस्खा खोजने वाला मनुष्य भोगपरायणता के ऐसे रास्ते को अपना लेता है । किन्तु आखिर वह धोखा खाता ह, फिर पछताता है । इसीलिए शास्त्रकार कहते है, कि इन्द्रियो के गुलाम कायर लोग इन सवरद्वारो के रहस्य को नही पा सकते । वे इन्हे ढोग समझ कर ठुकरा देते है और सच्चे सुख से वचित ही रहते हैं । मतलब यह है कि इन सवरद्वारो के आराधन मे कायर लोगो की गुजर नही होती ।

सप्पुरिसनिसेवियाइ—हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य, हानिलाभ और जडचेतन का जिनमे विवेक जागृत हो गया है और जो इन्द्रियदास और कष्टकातर न बन कर आत्मिक सुख को पाने के लिए कटिबद्ध है,ऐसे सत्पुरुप ही इन सवरद्वारो का सेवन-पालन करते है । दुराचारी, कायर, हिंसक आदि दुर्जन तो इन्हे छूते भी नही , सज्जन ही

इनका सेवन करते है। 'सप्पुरिसतीरियाइ' इस पाठ के अनुसार अर्थ होता है— सत्पुरुष ही इन सवरद्वारो का पूर्ण अवगाहन कर पाते हैं। जो व्यक्ति नदी के किनारे खडा रह कर नदी की लहरें गिनता रहता है या नदी मे तैरने के मनसूबे वाधता रहता है, वह नदी में तैरने का आनन्द नही पाता। इसी प्रकार जो इन सवरद्वारो का निरूपण सुन कर केवल विचार करता रहता है, इनके पालन के लिए तैयार नहीं होता, सिर्फ सवरो का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह सवरो से होने वाले आनन्द का लाभ नही ले पाता। अत उपर्युक्त विवेकी सत्पुरुष ही सवरद्वार का किनारा पाते है।

निव्वाणगमणमग्ग-पणायकाइ—आज धर्मों की हजारो दूकाने लगी हुई है। जहा भी जाओ, तपाक से कहा जायगा—'हमारे भगवान या गुरु की शरण मे आ जाओ या हमारा धर्म-सप्रदाय स्वीकार कर लो, तुम्हे मुक्ति मिल जायगी, ईश्वर के दर्शन हो जायेंगे या स्वर्ग मिल जायगा।' भोलाभाला मानव ऐसे ढोगियो के चक्कर मे फस कर आत्मसमर्पण कर देता है। वह निर्वाण या मोक्ष के या स्वर्ग के वास्तविक रहस्य को न पाने के कारण दम्भियो के जाल मे फस जाता है। इससे उसे न तो निर्वाण मिल पाता है और न स्वर्ग ही। ऐसे लोगो को लक्ष्य मे रख कर शास्त्रकार कहते है—'ये सवरद्वार निर्वाणगमन के लिए रास्ते है। स्वर्ग मे ले जाने वाले है।' रास्ता साफ बना हुआ हो तो यात्री को कही भटकने या लुटने का डर नही रहता। सवरद्वार ऐसे साफ रास्ते है, जिन पर चल कर हजारो महान् आत्माओ ने निर्वाण पाया है और पायेंगे। वास्तव मे, निर्वाण आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था का नाम है। जब आत्मा पर से समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं, कर्मबन्ध का कोई कारण भी नहीं रह पाता, आत्मा ज्ञानावरणीय आदि सभी प्रकार के कर्मों (चाहे वे द्रव्यकर्म हो, चाहे भावकर्म हो और चाहे नोकर्म) से सर्वथा रहित हो जाती है, तभी वह पूर्ण शुद्ध होती है। तब उसमे अनन्तज्ञान, अनन्तसुख आदि गुण स्वत प्रगट हो जाते है। जब तक समस्त कर्मो का क्षय नही हो जाता, तब तक ये सवर स्वर्ग दिलाने वाले है, यानी सवरो की आराधना से दुर्गति मे जाने का कोई खतरा नही है, और न ही कोई धोखेबाजी या झूठे सब्जबाग का दिखावा है। अथवा कही 'सग्गपयाणकाइ' पाठ भी मिलता है, उस दृष्टि से इसका अर्थ यह है कि ये सवरद्वार स्वर्ग मे पहुचाने वाले है अथवा स्वर्ग पहुचाने के लिए यान-जहाज के समान है।

इन्हे सवरद्वार क्यो कहा गया?—अब प्रश्न होता है कि इन अध्ययनो को केवल सवर कहने से ही काम चल जाता, 'द्वार' शब्द इनके आगे लगाने के पीछे क्या रहस्य है? इसका समाधान यह है कि अगर केवल 'सवर' ही कहा जाता तो पूर्णतया स्पष्ट अर्थबोध नही होता। केवल इतना ही बोध हो पाता कि, यह सवर का

लक्षण है और इतने उसके भेद हैं। लेकिन संवर किस तरीके से प्राप्त हो सकता है? जीवन में संवर को कैसे उतारा जा सकता है? संवर को जीवन में रमाने के लिए क्या-क्या उपाय हैं? इत्यादि बातों का समाधान नहीं हो पाता। इसलिए प्रत्येक संवर के आगे द्वारशब्द लगा कर यह द्योतित किया गया है कि मकान में प्रवेश करने के द्वार की तरह ये भी संवर के द्वार है—उपाय हैं। द्वार हो तो किसी भी भवन में प्रवेश करने में जैसे आसानी रहती है, वैसे ही पांचों संवरों के भव्य भवनों में सुगमता से प्रवेश करने के लिए ये अध्ययन द्वार के समान हैं।

संवर के भेद—शास्त्रकार की दृष्टि से संवर के यहाँ ५ भेद[1] बताए गए हैं। यह गाथा इसके लिए प्रस्तुत है—

"पढमं होइ अहिंसा, बितियं सच्चवयणंति पन्नत्तं।
दत्तमणुन्नाय संवरो य बंभचेरमपरिग्गहत्तं च॥"

अर्थात्—पहला संवर अहिंसा है, दूसरा सत्यवचन है, तीसरा अदत्त का विपक्षी दत्त—दी हुई तथा अनुज्ञात—उसके स्वामी, जीव, तीर्थंकर या गुरु द्वारा अनुमत वस्तु का ग्रहण करना, और चौथा ब्रह्मचर्य संवर है, तथा पांचवां संवर अपरिग्रहत्व—परिग्रहत्याग है।

इन सबका विशेष अर्थ तथा विस्तार से वर्णन आगे किया जाएगा।

सर्वप्रथम अहिंसा-संवर ही क्यों?—प्रश्न होता है कि इन ५ संवरों में सर्वप्रथम अहिंसा को ही क्यों माना गया? सत्य को क्यों नहीं? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—'**तत्थ पढमं अहिंसा तसथावरसव्वभूयखेमकरी**' यानी त्रस-स्थावर रूप समस्त प्राणियों का क्षेम-कुशल करने वाली होने से अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है।

दूसरी बात यह है समस्त प्राणी अपने पर होने वाले प्रहार, मारपीट या अन्य हिंसाजनक घटनाओं से तथा अपनी हत्या से घबराते हैं, इसलिए हिंसा का उन पर असर सीधा पड़ता है। असत्य, चोरी, परिग्रह या अब्रह्मसेवन का सीधा असर प्रायः नहीं पड़ता। इन चारों में से किसी का सीधा असर पड़ता है तो मनुष्य पर ही, तिर्यञ्चजाति पर तो कोई खास असर ही नहीं होता, इन सबका। इसलिए हिंसा की प्रतिपक्षी अहिंसा को विश्व में प्राणिमात्र चाहते हैं। हिंसा से संतप्त प्राणिगण मानो

---

१ तत्त्वार्थसूत्र और नवतत्त्व में संवर के ५७ भेद बताये हैं। वे इस प्रकार है—५ समिति, ३ गुप्ति, १० यतिधर्म, १२ अनुप्रेक्षा, २२ परिषहजय और ५ चारित्र। इनका विस्तृत वर्णन उन्हीं ग्रन्थों से जान लें। यहां संवर के ५ भेद ही विवक्षित हैं।
—सम्पादक

अहिंसा को वरदान समझ कर उसका स्वागत करने के लिए खडे रहते है। अत' अहिंसा का दायरा वहुत ही विस्तृत है, इस कारण अहिंसा को सवरो मे सर्वप्रथम स्थान दिया गया।

एक वात यह भी हे कि मनुष्य जव झूठ वोलता है, तव वह अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप की भावहिंसा कर लेता हे, चोरी करता है,तव भी भावहिंसा हो जाती हे,मैथुन-सेवन से भी और ममत्व से भी भावहिंसा का सम्वन्ध हे, शोपण, लूट, गवन आदि भी हिंसा के ही प्रकार हे।[1] अत अहिंसा के ग्रहण करने से सत्यादि चारो का उसी मे समावेश हो सकता है। इस दृष्टिकोण से भी अहिंसा को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। भगवती अहिंसा शेप समस्त सवरो की तथा व्रत, नियम,त्याग, प्रत्याख्यान, सयम और तप की जननी है। इसके होने पर ही इन सवका अस्तित्व रह सकता हे। यह न हो तो व्रत, नियम, सयम, त्याग, प्रत्याख्यान और तप आदि का कोई भी महत्व या अस्तित्व नहीं रह जाता। इसलिए शेप चारो सवर अहिंसा के ही विस्ताररूप है।

इसीलिए शास्त्रकार अहिंसा भगवती के गुणगान करने के लिए प्रेरित हो कर कहते है—'**तीसे सभावणाओ किंचि वोच्छ गुणुद्देस।**'

---

१ 'अहिंसाग्गहणे पचमहव्वयाणि गहियाणि भवति'—

—दशवैकालिक चूर्णि

—सम्पादक

छठा अध्ययन : अहिंसा-संवर

अहिसा के सार्थक नाम

प्रथम सवरद्वार का प्रारम्भ करने से पूर्व शास्त्रकार ने उसकी प्रस्तावना के रूप मे पाचो सवर द्वारो के निरूपण का उद्देश्य, उनका माहात्म्य, स्वरूप और गुणोत्कीर्तन करने के साथ ही उनकी उपयोगिता तथा उनमे अहिसा-सवर को सर्वोपरि स्थान देने का कारण बताया है। उसके वाद यहा से प्रथम सवरद्वार का निरूपण प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार अपनी पुरातन वर्णनशैली के अनुसार सर्वप्रथम अहिसा के पर्यायवाची गुणनिष्पन्न ६० नामो का उल्लेख करते है—

मूलपाठ

तत्थ पढम अहिसा जा सा सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स भवति दीवो ताण सरण गती पइट्ठा १ निव्वाण, २ निव्वुई, ३ समाही, ४ सत्ती, ५ कित्ती, ६ कती, ७ रती य, ८ विरती य, ९ सुयग, १० तित्ती, ११ दया, १२ विमुत्ती, १३ खती, १४ समत्ताराहणा, १५ महंती, १६ बोही, १७ बुद्धी, १८ धिती, १९ समिद्धी, २० रिद्धी, २१ विद्धी, २२ ठिती, २३ पुट्ठी, २४ नदा, २५ भद्दा, २६ विसुद्धी, २७ लद्धी, २८ विसिट्ठदिट्ठी, २९ कल्लाण, ३० मगल, ३१ पमाओ, ३२ विभूती, ३३ रक्खा, ३४ सिद्धावासो, ३५ अणासवो, ३६ केवलाण ठाण, ३७ सिव, ३८ समिई, ३९ सील, ४० संजमोत्ति य, ४१ सीलपरिघरो, ४२ सवरो य, ४३ गुत्ती, ४४ ववसाओ, ४५ उस्सओ, ४६ जन्नो, ४७ आयतण, ४८ जयण,–४९ मप्पमातो, ५० अस्सासो, ५१ वीसासो, ५२ अभओ, ५३ सव्वस्स वि अमाघाओ, ५४ चोक्ख ५५ पवित्ता, ५६ सूती, ५७ पूया, ५८ विमल, ५९ पभासा य,

६० निम्मलयरत्ति एवमादीणि नियगुणनिम्मियाइ पज्जव-नामाणि होंति अहिसाए भगवतीए ।। २१ ।।

संस्कृतच्छाया

तत्र प्रथममर्हिसा या सा सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य भवति द्वीप. (दीपः) त्राण शरण गति प्रतिष्ठा १ निर्वाणम्, २ निर्वृत्ति', ३ समाधि', ४ शक्ति., ५ कीर्ति, ६ कान्ति',७ रतिश्च, ८ विरति, ९ श्रुतागा, १० तृप्ति., ११ दया, १२ विमुक्ति, १३ क्षान्ति, १४ सम्यक्त्वाराधना, १५ महती, १६ बोधि', १७ बुद्धि, १८ धृति, १९ समृद्धि', २० ऋद्धि, २१ वृद्धि, २२ स्थिति, २३ पुष्टि', २४ नन्दा, २५ भद्रा, २६ विशुद्धि, २७ लब्धि, २८ विशिष्टदृष्टि, २९ कल्याणम्, ३० मगलम्, ३१ प्रमोद ३२ विभूति, ३३ रक्षा, ३४ सिद्धावास, ३५ अनाश्रव, ३६ केवलिना स्थानम्, ३७ शिवम्, ३८ समिति, ३९ शीलम्, ४० सयम इति च, ४१ शीलपरिगृहम् ४२ सव-रश्च, ४३ गुप्ति, ४४ व्यवसाय, ४५ उच्छ्रय, ४ यज्ञ, ४७ आयतनम्, ४८ यजनम् (यतनम्), ४ अप्रमाद, ५० आश्वास, ५१ विश्वास, ५२ अभ-यम्, ५३ सर्वस्यापि अमाघात, ५४ चोक्षा, ५५ पवित्रा, ५६ शुचि', ५७ पूजा (पूता), ५८ विमला, ५९ प्रभासा च, ६० निर्मलतरेति-एवमादीनि निजकगुण-निर्मितानि पर्यायनामानि भवन्त्यहिसाया भगवत्या. ।। सू० २७ ।।

पदार्थान्वय—(तत्थ) उन पाचो मे से, (पढम) पहला सवरद्वार (अहिंसा) अहिंसा है, (जा) यह (सा) वह पूर्वोक्त अहिंसा, (सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स) देवो, मनुष्यो और असुरो के सहित समग्र लोग जगत् के लिए (दीवो) शरणदायक द्वीप है अथवा दीपक सदृश प्रकाशकर्त्री, (भवति) है, (ताण) रक्षा करने वाली है, (सरण) शरण देने वाली है, (गती) श्रेयार्थियो के लिए गति—गम्य है, प्राप्त करने योग्य हैं, (पइट्ठा) समस्त गुणो या सुखो का प्रतिष्ठान—प्रतिष्ठा है, यह अहिंसा (निव्वाण) निर्वाण—मोक्ष का कारण है (निव्वुई) दुर्ध्यानरहित होने से मानसिक स्वस्थतारूप है, (समाही) समाधिरूप—समता का कारण है, (सत्ती) आत्मशक्ति का कारण है, अथवा (सती) परद्रोहविरतिरूप होने से शान्तिरूप है। (कित्ती) कीर्ति का कारण है, (कती) सुन्दरता का कारण है, (य) और (रती) सबसे अनुराग—रति-प्रीति का कारण, (य) और (विरती) पाप से निर्वृत्तिरूप है, (सुयग) श्रुतज्ञान ही इसका अग—कारण है, (तित्ती) तृप्ति—सतोप का कारण है (दया) दयारूप है

(विमुत्ती) समस्त बंधनो से छुड़ाने वाली है। (खंती) क्षमारूप, (समत्ताराहणा) सम्यक्त्व का आराधन सेवन मे कारण, (महती) सब व्रतो मे महान्-प्रधान, (बोही) बोधि—धर्मप्राप्ति का कारण, (बुद्धी) बुद्धि को सफल बनाने वाली, (धिती) धृति—चित्त की दृढ़तारूप, (समिद्धी) जीवन को समृद्ध—आनन्दित बनाने वाली—समृद्धि का कारण, (रिद्धी) ऋद्धि (भौतिक लक्ष्मी) का कारण, (विद्धी) वृद्धि—पुण्य-वृद्धि का कारण, (ठिती) मोक्ष मे स्थित कराने वाली, (पुट्ठी) पुण्यवृद्धि से जीवन को पुष्ट करने वाली अथवा पहले पाप का अपचय करके पुण्य के उपचय का कारण, (नंदा) स्वपर को आनन्दित करने वाली, (भद्दा) स्वपरकल्याणकारिणी, (विसुद्धी) पापक्षय के उपायरूप मे होने से जीवन की शुद्धि-निर्मलता का कारण, (लद्धी) केवलज्ञान आदि लब्धियां पैदा करने वाली, (विसिट्ठदिट्ठी) विशिष्ट दृष्टि-विचार और आचार मे अनेकान्त-प्रधान दर्शन वाली, (कल्लाण) कल्याण या आरोग्य का कारण, (मंगल) पापशमनकारिणी होने से मंगलमयी, (पमोओ) प्रमोद—हर्ष उत्पन्न करने वाली, (विभूती) ऐश्वर्य का कारण, (रक्खा) जीवरक्षारूप, (सिद्धावासो) सिद्धो—निरंजन-निराकार परमात्माओ मे निवास कराने वाली—मुक्ति प्राप्त कराने वाली, (अणासवो) अनाश्रवरूप—आते हुए कर्मबन्ध को रोकने वाली, (केवलीण ठाण) केवलियो के लिए स्थानरूप, (सिव) शिवरूप—निरुपद्रव सुखरूप, (समिई) सम्यक्प्रवृत्तिरूप, (सील) समाधानरूप (य) और (संजमोत्ति) संयमरूप है, (सील-परिघरो) सदाचार या ब्रह्मचर्य का घर—चारित्र का स्थान, (संवरो) संवररूप—आते हुए कर्मो को रोकने वाली, (य) और (गुत्ती) मन, वचन, और काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोकने वाली, (ववसाओ) विशिष्ट अध्यवसाय—निश्चयरूप, (उस्सओ) भावो की उन्नतिरूप, (जन्नो) यजन-भावदेवपूजारूप, अथवा यतना—प्राणिरक्षारूप, (अप्पमातो) प्रमादत्याग—अप्रमादरूप, (अस्सासो) प्राणियो के लिए आश्वासनरूप, (वीसासो) सब जीवो के विश्वास का कारण, (अभओ) अभयदानरूप या निर्भयता का कारण, (सव्वस्स वि अमाघाओ) सब जीवो की हत्या के निषेधरूप, अथवा अमारिघोषणारूप, (चोक्ख)—अच्छी, भली लगने वाली, (पवित्ता) पवित्र से भी पवित्र, अथवा पवि—वज्र की तरह त्राण—रक्षण करने वाली, (सूती) भावो की शुचि-निर्मलता रूप, (पूया) भावपूजारूप या पूत—शुद्ध, (विमल) निर्मलता का कारण, (पभासा) आत्मा का प्रकाश—दीप्ति (य) और (निम्मलयरा) अत्यन्त निर्मल अथवा जीव को कर्मरूपी रज से रहित—निर्मल करने वाली—निर्मलकरा है। (इति) इस प्रकार (एवमादीणि) ऐसे ही और भी (निययगुणनिम्मियाइं) अपने निजी गुणो से

निष्पन्न—यथार्थ, (भगवतीए अहिंसाए) भगवती अहिंसा के, (पज्जवनामाणि) पर्याय वाचक नाम (होति) हैं।

मूलार्थ—उन पाचो सवरो मे से प्रथम सवर अहिंसा है। यह पूर्वोक्त अहिंसा देवो, मनुष्यो और असुरो के सहित सम्पूर्ण लोक के लिए आश्रयदाता द्वीप की तरह है, अथवा अज्ञानान्धकार का नाश करने वाला दीपक है। यह सबकी रक्षा करने वाली, शरण देने वाली और कल्याणाभिलापियो के लिए प्राप्त करने योग्य है। यह सब गुणो और सुखो का प्रतिष्ठान है। यह निर्वाण का कारण है, आत्मिक स्वस्थता का कारण है, समाधि—समता की जननी है, आत्मिक शक्ति का कारण है, अथवा शान्तिरूप है यह कीर्ति का कारण है और आत्मिक व शारीरिक कान्ति बढाने वाली है। यह रति (प्रीति) का कारण है और पापो से विरति कराने वाली है। श्रुतज्ञान ही इसकी उत्पत्ति का कारण है। यह तृप्ति का कारण और जीवदयारूप है, यह बन्धनो से मुक्ति दिलाती है, क्षान्तिरूप है। यह सम्यग्-दर्शन की आराधनारूप है अथवा सम्यक् प्रतीति रूप है। यह सब व्रतो मे महान्—प्रधान है। यह केवलि प्ररूपित धर्म की प्राप्ति कराने वाली है, और बुद्धि को सफल बनाने वाली है। यह धृति—धैर्य पैदा करती है आत्मिक समृद्धि तथा ऋद्धि का कारण है, यह पुण्यवृद्धि का कारण है, पाप को घटा कर पुण्य को पुष्ट करने वाली है, और आनन्ददायिनी है। यह स्वपरकल्याणकारिणी है, पापक्षय करवा कर आत्मा की विशुद्धि करने वाली है, केवलज्ञानादि लब्धिया प्राप्त कराने वाली है, अनेकान्तवाद से विशिष्ट दृष्टिरूप है, कल्याण, मगल और प्रमोद का कारण है। यह ऐश्वर्यप्राप्ति मे निमित्त है, जीवो की रक्षा करन वाली तथा सिद्धो—परमात्माओ के पास निवास कराने वाली—मुक्ति प्राप्त कराने वाली है। यह कर्मबन्ध को रोकने वाली होने से अनाश्रवरूप है, केवलज्ञानियो का स्थान है, और शिव—निरुपद्रवरूप है। यह सम्यक्प्रवृत्ति (समिति)-रूप निराकुलता—समाधान—रूप और सयम रूप है। तथा शील—सदाचार का पीहर—पितृगृह है, सवरमयी है। यह मन—वचन काया की दुष्प्रवृत्तियो को रोकने वाली है विशिष्ट व्यवसाय - निश्चय का कारण है और भावो की उन्नतिरूप है। यह भाव यज्ञरूप या भावपूजारूप है, गुणो का आयतन—आश्रय है और यतनारूप है या अभयदानरूप है। यह अप्रमादरूप है, प्राणियो के लिए आश्वासनरूप, विश्वास का कारण और अभय पैदा करने वाली या

अभयदात्री है। यह समस्त प्राणियो के लिए अमारिघोपणारूप है। यह स्वच्छ है, पवित्र है, पवित्रता का कारण है, और भावो की निर्मलतारूप भाव पूजा का कारण है। यह आत्मा को विमल वनाने वाली, तेज से प्रकाशित करने वाली और जीवो को कर्मरजमल से रहित—अत्यन्त निर्मल करने वाली है।

इस भगवती अहिंसा के ये और ऐसे ही अन्य निजगुण से निष्पन्न—सार्थक पर्यायवाचक नाम है।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने अपनी पूर्वप्रतिज्ञानुसार पाच सवरो मे से सर्वप्रथम अहिंसासवर के गुणकीर्तनपूर्वक गुणनिष्पन्न ६० नामो का निरूपण किया है। प्रसगवश अहिंसा का लक्षण और उसके भेदो का विश्लेपण करके हम क्रमश इन सव नामो पर विवेचन करेंगे।

अहिंसा का लक्षण—सामान्यतया अहिंसा का अर्थ 'न हिंसा अहिंसा' या 'हिंसाविरोधिनी अहिंसा' यानी हिंसा न करना या हिंसा की विरोधिनी' अहिंसा होता है। इस दृष्टि से हिंसा का अर्थ पहले भलीभाति समझना आवश्यक है। हिंसा का स्पष्ट लक्षण है—'प्रमाद और कपाय के वश किसी भी प्राणी के प्राणो को मन, वचन, काया से वाधा-पीडा पहुचाना। इसलिए अहिंसा का लक्षण होगा प्रमाद और कपाय के वश प्राणी के १० प्राणो मे से किसी भी प्राण का वियोग न करना, वल्कि प्राण-रक्षा करना।

अहिंसा का केवल निपेधात्मक अर्थ यथार्थ नही है। क्योकि व्याकरणशास्त्र के अनुसार अहिंसा मे नञ् समास है और नञ् समास के दो रूप होते है--प्रसज्य और पर्युदास। प्रसज्य तद्‌भिन्न एकान्त निपेधरूप अर्थ का ग्राहक होता है, जवकि पर्युदास तत्सदृश अर्थ का। जैसे 'अब्राह्मण' कहने से ब्राह्मण से भिन्न किसी ठूठ या पत्थर आदि का ग्रहण न होकर ब्राह्मण के सदृश ब्राह्मणेतर मनुष्य का ग्रहण होता है, वैसे ही अहिंसा से हिंसा से भिन्न हिंसा के सदृश जीवरक्षा दया, करुणा, सेवा आदि किसी शुद्ध भाव का ग्रहण होता है। हिंसा अशुद्ध भाव है तो अहिंसा शुद्ध भाव है, पर भावत्व दोनो मे समान है, इसलिए अहिंसा का अर्थ, केवल हिंसा न करना—इस प्रकार का निपेधात्मक ही नही होता, जीवरक्षा, करुणा, दया या सेवा करना, इत्यादि रूप मे विधेयात्मक भी होता है। यही कारण है कि अहिंसा निवृत्ति-परक भी है और प्रवृत्तिपरक भी।

अहिंसा के मुख्य भेद—अहिंसा के इस लक्षण को दृष्टिगत रखते हुए उसके मुख्य दो भेद वताए जाते है—द्रव्यअहिंसा और भावअहिंसा। किसी भी प्राणी के

१० प्राणो[1] मे से किसी भी प्राण का प्रमाद या कषाय के वश होकर घात न करना और रक्षा, सेवा, दया या करुणा आदि करना द्रव्यअहिंसा है तथा आत्मा के परिणामो तथा गुणो का घात न करना, बल्कि शुद्ध परिणामो तथा गुणो मे वृद्धि करना भावअहिंसा है। इन दोनो के भी दो-दो भेद और होते है—स्वद्रव्य-अहिंसा, परद्रव्यअहिंसा, स्वभाव-अहिंसा और परभाव-अहिंसा। क्रोधादि के वशीभूत हो कर अपने शरीर, इन्द्रिय आदि का किसी प्रकार का घात न करना स्वद्रव्यअहिंसा है और क्रोधादिवश दूसरे के प्राणो का नाश न करना परद्रव्यअहिंसा है। इसी प्रकार अपने परिणामो को राग-द्वेष-क्रोधादि कषायवश मलिन न करना, विकार, वासना, अर्थात् आश्रव आदि मे या आर्त्तरौद्रध्यान मे न ले जाना तथा स्वभाव मे या निजगुणो मे ही रमण करना स्वभावअहिंसा है। तथा रागद्वेषादिवश दूसरे प्राणियो के आत्म-स्वभावो या शान्ति आदि निजगुणो को हानि न पहुंचाना, अपितु उनके शुभ परिणामो मे वृद्धि करना परभावअहिंसा है।

कोई भी साधु साध्वी या सद्गृहस्थ श्रावक-श्राविका जब आमरण अनशन (सथारा) या तप करते है, उस समय वे प्रमाद या क्रोधादिकषायवश नही करते, बल्कि शुद्ध भावो मे बहते हुए, चढते परिणामो से, स्वत प्रेरणा से करते है। इसलिए अनशन तप आदि से शरीर-इन्द्रियो को कष्ट देना, वास्तव मे कष्ट देना नही है। अत वहाँ द्रव्य और भाव दोनो प्रकार से अहिंसा है, हिंसा नही है। अनशनादि व्रत या तप करने वाले आत्मा मे शान्ति और सतोष-सुख का अनुभव करते है। अत उनके मन मे कोई डर या क्रोधादि के कोई चिह्न दृष्टिगोचर नही होते।

सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स दीवो—अहिंसा देवो, मनुष्यो और असुरो सहित समग्र लोक के लिए आश्रय देने वाला द्वीप है। जैसे द्वीप अगाध समुद्र मे डूबते हुए और मगरमच्छ, घडियाल आदि हिंसक जलचर जन्तुओ से पीडित, बडी-बडी लहरो के थपेडो से आहत व्यक्तियो को सुरक्षित स्थान दे देता है, वैसे ही ससारसमुद्र मे डूबते हुए, सैकडो प्रकार के दु खो से पीडित और सयोगवियोगरूपी लहरो के थपेडो से आहत प्राणियो के लिए सुरक्षित स्थान देने वाली एक मात्र अहिंसा ही है।

अथवा जैसे घोर अन्धकार मे मार्ग मे स्थित सर्प और चोर आदि को अपने प्रकाश से दिखा कर दीपक यात्री को सावधान कर देता है, वैसे ही अहिंसा दीपक की तरह अपने प्रकाश से अज्ञानान्धकार मे निमग्न जीवनयात्रियो को हेयोपादेय का ज्ञान करा कर सावधान-जागृत कर देती है। इसलिए अहिंसा दीप भी है। **'ताण सरण गती पइट्ठा'**—अहिंसा ससार के दु खो से प्राणियो की रक्षा करती है,

---

१ दश प्राणो का वर्णन प्रथम आश्रवद्वार मे किया जा चुका है।

—सपादक

इसलिए इसे 'त्राण' कहा है। ससारदु खरूपी दावाग्नि मे झुलसते हुए प्राणियो को यह आश्रय देने वाली हे,इसलिए इसे 'शरण' कहा है। कल्याणार्थी प्राणियो के लिए घूम-फिर कर अहिंसा के सिवाय और कही गति नही है। अन्तत उनको अहिंसा के पास ही पहुचना अनिवार्य हो जाता है। इसलिए अहिंसा को 'गति' कहा है। अहिंसा मे वात्सल्य, दया, सेवा, सहिष्णुता, धैर्य आदि अनेक गुण तथा अनेक सुख-सम्पदाएँ प्रतिष्ठित है, टिकी हुई है, इसलिए इसे 'प्रतिष्ठा' कहा है।

निव्वाण—समस्त रागद्वेष, कषाय, कर्म आदि विकारो का शान्त हो जाना, बुझ जाना निर्वाण कहलाता है, इसे मोक्ष भी कहते है। अहिंसा निर्वाण-मोक्ष का प्रधान हेतु है। अहिंसा को अपनाए बिना कोई भी व्यक्ति निर्वाण नही प्राप्त कर सकता। अत निर्वाण का प्रधान कारण होने से कारण मे कार्य का उपचार करके अहिंसा को निर्वाण कहा है। वास्तव मे, अहिंसा का पालन करने से साधक की आत्मा पर लगे हुए रागद्वेष व काम-क्रोधादि विकार शान्त हो जाते ह। इसलिए निर्वाण प्राप्त कराने मे प्रधान कारण अहिंसा का पर्यायवाची नाम 'निर्वाण' रखा हे।

निव्वुई—आत्मा की स्वस्थता निर्वृत्ति कहलाती है। विषय आदि रोगो से अस्वस्थ—अशान्त बनी हुई आत्मा को स्वस्थता और शान्ति अहिंसा से ही मिलती है। इसलिए अहिंसा का निर्वृत्ति नाम सार्थक है।

समाही—समताभाव को समाधि कहते है। लडाई-झगडो, मारपीट, वैरविरोध आदि द्वन्द्वो से जब आत्मा मे असमाधि-विषमता पैदा होती है, उस समय अहिंसा का अवलम्बन इन सबसे दूर हटा कर मन मे समताभाव पैदा कर देना हे। इसी कारण अहिंसा को 'समाधि' कहा है।

सत्ती—अहिंसा आत्मिक शक्तियो का कारण हे। अहिंसा के पालन से मनुष्य मे निर्भयता, वीरता, वत्सलता क्षमा, दया आदि आत्मिक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती है। आत्मिक-बल के सामने सभी पाशविक या आसुरीबल नतमस्तक हो जाते है। पूर्ण अहिंसक के पास सिंह और गाय, सर्प और नेवला आदि जन्मजात शत्रु और हिंस्र जीव भी अपना वैरविरोध भूल कर परस्पर प्रेम करने लग जाते है। इसलिए अहिंसा को आत्मशक्तिरूप होने से 'शक्ति' कहा है।

अथवा अहिंसा शान्ति प्राप्त कराने वाली या शान्तिदायिनी है। आत्मा मे अपूर्व शान्ति अहिंसा से ही प्राप्त होती है। मारकाट, युद्ध, द्वेष, झगडे या वैरविरोध से कभी शान्ति नही मिलती। अहिंसा ही वैरविरोधो से अशान्त विश्व को शान्ति देने वाली है। इसलिए इसका 'शान्ति' नाम भी सार्थक ही है।

कित्ती—यह कीर्ति का कारण है। अहिंसा पालन करने वाले की सब लोग प्रशसा करते है, उसका नाम चारो ओर फैल जाता है, लोग उसे प्रतिष्ठा देते है,

उसकी प्रसिद्धि जनता मे सब ओर हो जाती है। इसलिए कीर्ति का कारण होने से कारण मे कार्य का उपचार करके अहिंसा को 'कीर्ति' कहा है।

कती अद्‌भुत सौन्दर्य को कान्ति कहते है। क्रोधादिविकार आत्मिक सौन्दर्य को नष्ट कर देते है, जबकि अहिंसा सद्‌गुणो से आत्मिक सौन्दर्य को बढाती है। जब क्रोधादि आते है तो भौहे टेढी हो जाती है, ओठ कापने लगते है चेहरा लाल हो जाता है, साथ ही मन और बुद्धि मे विकृतभाव पैदा हो जाते हैं, विरोधी का अनिष्ट करने की सूझती है। इस तरह शरीर मे भी कुरूपता बढती है, मन और बुद्धि मे भी। यानी क्रोधादि से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, जब कि अहिंसा से चेहरे पर प्रसन्नता झलकती है, आँखे और मुँह भी प्रसन्न दीखते है, शरीर का तेज बढ जाता है, इसलिए शारीरिक और आत्मिक सौन्दर्य मे वृद्धि का कारण होने से अहिंसा का कान्ति नाम भी सार्थक है।

रती—जिसके जीवन मे अहिंसा होती है, उसके प्रति लोगो को सहज ही प्रीति उत्पन्न होती है। अहिंसा अपने आराधक को लोकप्रिय, जनवल्लभ बना देती है। इसलिए रति-प्रीति उत्पन्न करने का कारण होने से अहिंसा को 'रति' कहा है।

विरती—हिंसा आदि दुष्कृत्यो से निवृत्ति विरति कहलाती है। अहिंसा भी हिंसा आदि दुष्कृत्यो से निवृत्तिरूप है। इसलिए इसका 'विरति' नाम भी सार्थक है।

सुयग—अहिंसा की भावना सबसे पहले श्रुतज्ञान—आगमज्ञान से पैदा होती है। अर्थात्-आगम का अभ्यास-मनन आदि करने से अहिंसा उत्पन्न होती है। कहा भी है—**'पढम नाण तओ दया'**। इस शास्त्रवाक्य के अनुसार पहले ज्ञान होता है, तत्पश्चात् दया होती है। इसलिए अहिंसा की उत्पत्ति का एक कारण श्रुतज्ञान होने से इसे श्रुताग कहा है।

तित्ती—अहिंसा का पालन करने से आत्मा मे तृप्ति-सतुष्टि पैदा होती है। इसलिए तृप्ति का कारण होने से इसे 'तृप्ति' कहा है।

दया—कष्ट पाते हुए, मरते हुए या दुखित प्राणियो की रक्षा करना, उनके दुख दूर करना दया है। और अहिंसा भी प्राणियो की रक्षा करती है। इसलिए इसे दया कहना यथार्थ है।

विमुत्ती—समस्त बन्धनो से मुक्त होना विमुक्ति है। अहिंसा के पालन से प्राणी सभी बन्धनो से विमुक्त हो सकता है, जन्म-जन्मान्तर के बन्धनो से छूट सकता है। इसलिए अहिंसा को विमुक्ति कहना युक्तियुक्त है।

खती—क्रोध का निग्रह क्षान्ति-क्षमा है। अहिंसा भी क्रोध को वश मे करने मे उत्पन्न होती है। अथवा क्षान्ति का अर्थ सहन करना या सहिष्णुता भी है।

अहिंसा का पालक सबके अघातो को सहन करता है। इसलिए अहिंसा भी क्षान्ति-रूप है।

सम्मत्ताराहणा—प्रशम, सवेग, निर्वेद अनुकम्पा और आस्था, ये व्यवहार-सम्यक्त्व के पाच लक्षण है। जब किसी के जीवन मे देव, गुरु और धर्म के प्रति दृढ श्रद्धा होती ह तो ये पाचो वाते उसके जीवनव्यवहार मे दृष्टिगोचर हो जाती है। अहिंसापालक के जीवन मे भी उपर्युक्त प्रशमादि पाचो वाते होती है। यानी अहिंसक के जीवन मे शान्ति, मोक्ष के प्रति उत्साह, वैराग्य, अनुकम्पा तथा धर्म और धर्मगुरुओ के प्रति आस्था होती है। इसलिए अहिंसा एक तरह से सम्यक्त्व की आराधना ही है। अथवा सम्यक्प्रतीतिरूप होने से भी यह सम्यक्त्व की आराधना-रूप है।

महती—समस्त धर्मानुष्ठानो मे अहिंसा महान् है, इसी प्रकार सभी व्रतो मे अहिंसा वडा व्रत है, अथवा सभी सवरो मे अहिंसा प्रधान हे, इसलिए इसे 'महती' ठीक ही कहा है। अहिंसा इतनी विशाल है कि शेप सभी व्रत इसी मे समा जाते है। इसी वात को निर्युक्तिकार ने व्यक्त किया है—

'निदिट्ठ एत्थ वय इक्कचि य जिणवरेहि सव्वेहि।
पाणाइवायवेरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा ॥'

अर्थात्—'सभी जिनवरो ने ससार मे एक ही व्रत वताया है और वह है—प्राणातिपातविरमण—अहिंसा। शेप जो अचौर्य आदि व्रत है, वे सव इसी अहिंसा की रक्षा से लिए है।

वोही—सर्वज्ञकथित धर्म की प्राप्ति को वोधि कहते ह। अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप—रत्नत्रय को भी वोधि कहते है, और वह अपने आप मे अहिंसारूप हे। इसलिए अहिंसा को वोधि कहा गया है। अथवा अहिंसा का नाम अनुकम्पा भी है और वह (अनुकम्पा) वोधि का कारण है। जैसा कि आवश्यक निर्युक्तिकार ने कहा है—

'अणुकपऽकामणिज्जरवालतवे दाणविणयविब्भगे।
सजोगविप्पजोगे वसणूसवइड्ढिसक्कारे ॥

अर्थात् - अनुकम्पा, अकामनिर्जरा, वालतप, दान, विनय, विभग, सयोग, विप्रयोग, व्यसन, उत्सव, ऋद्धि और सत्कार ये वोधि प्राप्त होने मे निमित्त है।

इसलिए अनुकम्पा वोधि का कारण होने से अहिंसा को वोधि कहा है।

बुद्धी—बुद्धि की सफलता का कारण होने से अहिंसा को बुद्धि कहा है। बुद्धि की सफलता इसी म ह कि वह दुष्कृत्यो क चिन्तन को छोड कर सुकृत्यो और धमकार्यो क चिन्तन मे लगे। कहा भी है—

'बावत्तरिकलाकुसला पंडियपुरिसा अपंडिया चेव।
सव्वकलाण पवरं जे धम्मकलं न जाणंति॥'

जो पुरुष समस्त कलाओं में श्रेष्ठ धर्मकला को नहीं जानते, वे ७२ कलाओं में निपुण—विशेष पण्डित भी अपण्डित ही है।

अतः अहिंसा धर्म की कला यानी बुद्धिसाफल्य का कारण होने से अहिंसा को बुद्धि कहा है।

अथवा अहिंसा का यथाविधि दृढता से पालन करने से द्वादशांगी श्रुतज्ञान, देशावधिज्ञान, परमावधिज्ञान, सर्वावधिज्ञान, मनःपर्याय और केवलज्ञान आदि प्राप्त होते है। और ज्ञान बुद्धि का ही कार्य है। इसलिए पूर्वोक्त ज्ञानरूप बुद्धि का कारण होने से अहिंसा को बुद्धि कहना उचित ही है।

धिती—चित्त की दृढता को धृति कहते है। अहिंसा का पालन भी चित्त की दृढता के बिना हो नहीं सकता। इसलिए धृति अहिंसा का कारण होने से कारण में कार्य का उपचार करके धृति को अहिंसा का पर्यायवाची शब्द कहा है।

समिद्धी—मानसिक और आत्मिक आनन्द को समृद्धि कहते है। अहिंसा के पालन करने से मानसिक और आत्मिक दोनो प्रकार के आनन्द की उपलब्धि होती है। इसलिए समृद्धि-आनन्द का कारण होने से अहिंसा को समृद्धि कहा गया हैं। अथवा अहिंसाधर्म के पालन से आत्मिकसमृद्धि (आत्मा मे दृढता, क्षमता, तितिक्षा, सहिष्णुता, दया, सेवा, वत्सलता आदि सद्गुणो की समृद्धि-पूँजी) बढ जाती है। इसलिए समृद्धिवर्द्धिनी होने से अहिंसा को समृद्धि भी कहा गया है।

रिद्धी—ऋद्धि लक्ष्मी को कहते है। अहिंसा के पालन से आत्मिक और भौतिक दोनो प्रकार की ऋद्धि-सम्पदा बढ जाती है। अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान आदि आत्मिक लक्ष्मी और धनसम्पत्ति आदि भौतिक लक्ष्मी अहिंसा की दृढता से मिलती है। परिवार और समाज के सभी सदस्यो मे परस्पर मेलजोल और संप होता है तो वहाँ प्रेमपूर्वक दिलचस्पी से मिल जुल कर व्यवसाय आदि करने से लक्ष्मी बढती देखी गई है। कहावत भी है—**'जहां संप तहाँ संपत् नाना।'** और ऐसा प्रेमभाव या संप अहिंसा का ही एक अंग है। इस दृष्टि से अहिंसा ऋद्धि—लक्ष्मी का कारण होने से इसे ऋद्धि कहा गया है।

विद्धी—आत्मिक गुणो या पुण्यप्रकृतियो का बढना वृद्धि है। अहिंसा से तप, संयम, शील आदि आत्मगुण बढते ही है, शुभ परिणति से पुण्य भी बढता है। इसलिए वृद्धि का कारण होने से अहिंसा को वृद्धि कहा है।

ठिती—अहिंसा सादि और अन्तरहित मोक्ष मे आत्मा की स्थिति कराती है, इसलिए इसे स्थिति कहा है।

'पुट्ठी'—पुण्य वृद्धि के द्वारा आत्मा को पुष्ट करना पुष्टि है। अहिंसा के पालन से पुण्यवृद्धि होकर आत्मा की पुष्टि होती है। इस कारण कारण इसे 'पुष्टि' कहा गया है। जैसे रसायन का सेवन करने पर शरीर पुष्ट हो जाता है, वैसे ही अहिंसारूपी रसायन का सेवन करने पर आत्मा पुष्ट होती है, इस कारण भी इसे पुष्टि कहा गया है।

'नदा'—स्व-पर को आनन्दित करने वाली होने से अहिंसा को नन्दा कहा है। अहिंसक के सम्पर्क मे जो भी आता है, वह आनन्दित हो कर जाता है, प्रसन्नता से उसका चित्त भर जाता है। अहिंसक का प्राय कोई शत्रु नही होता, इसलिए उसके चित्त मे सदा प्रसन्नता रहती है। अत अहिंसा स्वपर-आनन्ददयिनी होने से उसे 'नन्दा' कहे तो कोई अत्युक्ति नही है।

'भद्दा'—भद्र कहते है—स्वपरकल्याण को। स्वपरकल्याणकारिणी होने से अहिंसा को 'भद्रा' कहना उचित है।

'विसुद्धी'—पापो का क्षय होने से आत्मा की विशुद्धि होती है। जीवन मे निर्मल भावना होने पर ही अहिंसा फलित होती है। साथ ही अहिंसा के पालन से कलुषित विचारो और कषायो का क्षय होने से आत्मशुद्धि स्वाभाविक हो जाती है। अत आत्मविशुद्धि का कारण होने से अहिंसा को 'विशुद्धि' कहा है।

'लद्धी'—केवलज्ञान आदि क्षायिक लब्धियाँ अहिंसा का पूर्ण पालन करने से प्राप्त होती है। अहिंसा का पालन करने वाले मुनिवरो को अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा आदि अनेक सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। अत अहिंसा विविध लब्धियो और सिद्धियो का कारण होने से अहिंसा को 'लब्धि' कहा गया है।

'विसिट्ठदिट्ठी'—आध्यात्मिक जीवन की सफलता शुद्ध दृष्टि पर निर्भर है। दृष्टि विपरीत हो तो कोई भी धर्माचरण मोक्ष का कारण नही बनता। विविध धर्मों और दर्शनो मे निहित सत्यो को मनुष्य खण्डनात्मक एकान्तदृष्टि से नही पा सकता, अपितु अनेकान्तदृष्टि से ही पा सकता है। और अनेकान्तदृष्टि वस्तुत वैचारिक अहिंसा का ही एक अग है। इसलिए अहिंसा विशिष्ट-अनेकान्तदृष्टि रूप होने से इसे विशिष्टदृष्टि कहना युक्तिसगत है। अथवा जीवन मे अहिंसा का दर्शन विशिष्ट दर्शन है, अन्य सब बातो का दर्शन गौण है। एक आचार्य ने व्यग्य करते हुए कहा है—

> किं तीए पढियाए पयकोडीए पलालभूयाए।
> जत्थेत्तिय न नाय, परस्स पीडा न कायव्वा ॥'

अर्थात्—"भूसे के ढेर के समान उन करोडो पदो के पढने से क्या लाभ, जिनसे इतना भी ज्ञात नहीं हुआ कि दूसरो को पीडा नही देनी चाहिए ?"

वास्तव मे, जिसे स्पष्ट अहिंसादर्शन नही हुआ, वह दूसरे प्राणियो के प्रति

ममत्वदृष्टि नही रख सकता। इसलिए अहिंसा विशिष्टदर्शनरूप होने से उसका विशिष्टदृष्टि नाम सार्थक है।

'कल्लाण'—कल्य-आरोग्य की प्राप्ति कराने वाली होने से इसे कल्याण कहा है। जो व्यक्ति जीवन मे हर कदम पर अहिंसा का पालन करता है,वह रात्रिभोजन का त्याग करेगा ही , अभक्ष्य एव अपेय तामसिक खानपान से वह दूर रहेगा, भोजन का भी परिमाण करेगा, इसलिए स्वत ही उसका जीवन स्वस्थ रहेगा ही। जिसके जीवन मे अहिंसा होती है, उसको चिन्ता,द्वेष, घृणा, असूया ईर्ष्या, भय,उद्वेग आदि मानसिक रोग प्राय नही होते। इसलिए अहिंसा शारीरिक और मानसिक आरोग्य—कल्याण का कारण होने से कल्याणरूप है।

'मगल'—मगल का अर्थ है—**'म पाप गालयति भवादपनयतीति मगलम्** अथवा **मग सुख लातीति मगलम्'** जो पाप का नाश करने वाला है, जन्म-मरण-रूप चक्र का निवारण करता है अथवा सुख का देने वाला है वह मगल है। अहिंसा मे ये सब गुण हे। इसलिए इसे मगल कहा है।

'पमोओ'—अहिंसा स्वय प्रमोद का कारण है। अहिंसा का आराधक सदा प्रमोद-हर्प मे मग्न रहता हे, तथा उससे अन्य सासारिक जीव भो अभयदान पाकर प्रमुदित रहते हैं। इसलिए प्रमोद-हर्प का कारण होने से अहिंसा को प्रमोद कहा गया है।

विभूती—अहिसा समग्र ऐश्वर्य का कारण हे। अहिंसा का पूर्णरूप से पालन करने वाले तीर्थंकर अहिसा के प्रभाव से विभूतिमान—ऐश्वर्यशाली (छत्र-चामर आदि बाह्य ऐश्वर्य और केवलज्ञान, अनन्तसुख आदि आभ्यन्तर ऐश्वर्य से सम्पन्न) बनते है। इसलिए अहिंसा विभूति का कारण होने से इसे 'विभूति' कहा गया है।

'रक्खा'— अहिसा का विधेयात्मक रूप रक्षा है। जीवो की रक्षा करने वाले साधु और गृहस्थ ही अहिंसा के आराधक हो सकते हे। अत अहिसा को 'रक्षा' कहा है।

सिद्धावासो—अहिंसा अपने आराधक को सिद्धगति (मोक्ष) मे सदा के लिए आवास करा देती है। आत्मा अहिंसा का पालन करके कर्मक्षय करता है और समस्त कर्मों का क्षय होने पर सिद्धो—परमात्माओ के निकट या सिद्धगति मे निवास हो जाता है। इसलिए अहिंसा को सिद्धावास कहा गया है।

अणासवो—कर्मबन्धो को रोकना अनाश्रव है। अहिंसा कर्मबन्धो को रोकती है, जबकि हिंसा कर्मबन्ध का कारण हे। अत कर्मबन्ध के निरोध—अनाश्रव का कारण होने से इसे 'अनाश्रव' कहा गया हे।

केवलीण ठाण—केवलज्ञानी सदा अहिसा भाव मे ही स्थित रहते है। उनकी

आत्मा मे पूर्ण अहिंसा की स्थिति रहती है। इसलिए अहिंसा को केवलियो का स्थान कहा है।

'सिव'—अहिसा मे निरुपद्रवत्व-शिवत्व रहता है, वह निराबाध सुख का कारण है, इसलिए इसे शिव कहा है।

'समिई'—सम्यक्प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है। अहिंसा भी निर्दोप प्रवृत्तिरूप है। इसलिए अहिंसा को समिति कहा गया है।

'सील सजमोत्ति य'—शील का अर्थ यहाँ ममाधान—निराकुलता है। अहिंसा के पालन से व्यक्ति का मन समाधान हो जाता है। उसके मन मे क्षोभ, आकुलता चचलता या व्यग्रता नही रहती। इसलिए निराकुलतारूप होने से इसे 'शील' कहा है। हिंसा से विरत होना सयम है और अहिंसा भी प्राणि-हिंसा से निवृत्तिरूप हे। इसलिए अहिंसा को 'सयम' भी कहा है।

'सीलपरिघरो' - यह शील—सदाचार—चारित्र या ब्रह्मचर्य का घर ही नही, परिघर—पीहर है। समस्त चारित्रो का घर अहिंसा है, ब्रह्मचर्य के लिए भी अहिंसा का आधार जरूरी हे। इसलिए अहिंसा को शील का परिगृह कहा हे।

'सवरो'— अहिंसा आते हुए कर्मों को रोकने वाली है। इसलिए सवररूप होने से इसे 'सवर' कहा है।

'गुत्ती'—अशुभ मन, अशुभ वचन और अशुभ शरीर की क्रियाओ का रोकना गुप्ति है और अहिंसा से भी दुष्ट मन, वचन एव काया का निरोध हो जाता है। इसलिए अहिंसा को गुप्ति भो कहा है।

'ववसाओ'— व्यवसाय दृढनिश्चय या मजबूत सकल्प को कहते हैं। अहिंसा आत्मा का दृढनिश्चय है। विना दृढ निश्चय के अहिंसा का पालन नही हो सकता। इसलिए अहिंसा का पर्यायवाची नाम 'व्यवसाय' भी सगत है।

'उस्सओ'—आत्मा के भावो की उन्नति का नाम उच्छ्रय है। अहिंसा का पालन भी आत्मा के परिणामो की उच्चता से किया जाता है। इसलिए आत्मा का सर्वोच्च परिणामरूप होने से अहिंसा को उच्छ्रय भी बताया है। अथवा उत्सव मे जैसे मनुष्य खुशियाँ मनाता है, आमोदप्रमोद करता है, वैसे ही अहिंसा के सान्निध्य मे आत्मा हर्पित और प्रमुदित होता है। इसलिए इसे 'उत्सव' भी कहा जा सकता ह।

'जन्नो'—अहिंसा एक यज्ञ है। दान देना, परोपकार करना, देवपूजा करना और सगति करना यज्ञ कहलाता हे। अहिंसा के जरिये प्राणियो को अभयदान दिया जाता है, अहिंसा की सहचरी सेवाशुश्रूपा, दया आदि के द्वारा परोपकार के काम भी किये जाते है, आत्मदेवता की भावपूजा भी अहिंसा के द्वारा होती ह और अहिंसा के मुख्य अग शुद्धप्रेम द्वारा नि स्वार्थ सत्सग भी होता है। इन सब कारणो से अहिंसा महायज्ञरूप है। इसलिए इसे यज्ञ कहा है।

'आयतण'—गुणो का आश्रय होने से अहिंसा आयतन भी है। क्षमा, दया, सरलता, सेवा, करुणा आदि आत्मा के सब गुण अहिसा के आधार पर है। अहिंसा के विना उक्त गुण टिक नही सकते। इसलिए अहिंसा का आयतन भी कहा गया है।

'जयण'—प्राणियो की रक्षा का प्रयत्न यतन है। अहिंसा भी यतनारूप है। इसलिए यतन भी अहिंसा का पर्यायवाचक गुणनिष्पन्न नाम है। अथवा 'जयण' का यजन रूप भी होता है। यजन दान को कहते हैं। अहिंसा मे सर्वप्रधान अभय का दान दिया जाता है। इसलिए अहिंसा को यजन भी कहे तो कोई अनुचित नही।

'अप्पमातो'— अप्रमाद का अर्थ है—मद्य, विषय, कषाय, निन्दा (या निद्रा) और विकथारूप पाच प्रमादो का त्याग। अहिंसा भी उक्त पाचो प्रमादो का त्याग करने से ही निष्पन्न होती है। प्रमादो के रहते अहिंसा हो नही सकती। प्रमादी से अहिसा का पालन नही हो सकता। अतएव अहिसा का 'अप्रमाद' नाम यथार्थ है।

'अस्सासो'—किसी दुख और सकट से पीडित व्यक्ति को तसल्ली देना आश्वास या आश्वासन कहलाता है। अहिसा भी भयभीत दुखित, पीडित, पददलित, शोषित और व्यथित जीवो को आश्वासन देती है। इसलिए अहिंसा का आश्वास नाम भी सार्थक ही है।

'वीसासो'—अहिंसा समस्त प्राणियो को विश्वास-भरोसा देने वाली है। घबराते हुए, दुख से सतप्त प्राणियो के दिलो मे अहिंसा से बहुत बडा विश्वास बैठ जाता है। अहिंसा के भरोसे पर ही सारा ससार टिका है। अन्यथा, हिंसा से तो सारा ससार मरघट बन जाता। अत अहिंसा का विश्वास नाम बिलकुल यथार्थ है।

अभओ—दुनिया मे अधिकतर प्राणी विविध प्रकार के भयो और आशकाओ स त्रस्त है। हिंसा के व्यवहार से सारा ससार भयभीत है। अत अहिंसा की गोद मे आ कर ही सारा विश्व निर्भय, नि शक और निराकुल बन सकता है। अहिंसा प्राणियो को भयमुक्त बनाती है, अथवा यो भी कह सकते हैं कि अहिसा के पालन करने वालो से सभी प्राणी निर्भय रहते है। इसलिए अभय का कारण होने से अहिंसा को अभय बताया गया है।

सव्वस्स वि अमाघाओ—अहिंसा सर्वप्राणियो का घात नही करने वाली, उन्हे मृत्यु से बचाने वाली एक तरह से अमारिघोषणा है। सभी प्राणी मृत्यु से डरते हैं। अहिंसा प्राणियो के लिए अघातरूप है। इसलिए इस 'अमाघात' कहा जाय तो अनुचित नही है।

'चोक्ख पवित्ता सूती पूया'—वैसे तो ये चारो शब्द एकार्थक प्रतीत होते है। लेकिन थोडा-बहुत अन्तर इन सबमे है। चोक्ख शब्द देश्य है,उसका अर्थ गुजराती और

मारवाडी मे चोखा होता है। चोखा का मतलव है—सर्वोत्तम। अहिंसा सर्वोत्तम गुण ह। अथवा चोक्ख शव्द पवित्र स्वच्छ का भी द्योतक है। जहाँ वे एक सरीखे अर्थ वाले है, वहाँ एक शब्द का उत्कृष्ट अर्थ ग्रहण कर लेना चाहिए। एक दृष्टि से देखा जाय तो अहिंसा उत्कृष्ट पवित्रता है। अहिंसा अपने आप मे पवित्र होने से इसे पवित्र कहा गया है। अथवा पवि-वज्र की तरह जो त्राण देता है—रक्षा करता है, उमे पवित्र कहते हैं। अहिंसा को भी इसीलिए पवित्रा कहा गया हे। फिर अहिंसा को शुचि भी कहते है। शुचि का अर्थ ह—भावो की निर्मलता। अथवा शुचि का अर्थ निर्लोभता हे। परप्राणो को हरण करने का लोभ अहिंसा से नप्ट हो जाता हे। इसलिए इसे 'शुचि' कहा जाता है। शुचि के और भी कई अर्थ होते हे, जो निम्नोक्त श्लोक से प्रगट है—

"सत्य शौच तप शौचम् शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
सर्वभूतदया शौच जलशौच तु पचमम् ॥"

अर्थात्—'सत्य, तप, इन्द्रियनिग्रह, सर्वभूतदया और जलशौच ये पाच शौच हैं।'

इससे आगे अहिंसा को पूया' कहा ह, जिसका अर्थ होता है—पूता। अहिंसा पूत—पवित्र है अथवा पूजा रूप भी इसका वनता है, जिसका अर्थ होता है—प्रशस्त भावपूजा। अहिंसा आत्मा को निर्मल वनाने वाली और आत्मदेव की पूजारूप है, अत इसका पूया नाम सार्थक है।

'विमल-पभासो'—आत्मा मे से क्रोधादिमलो के निकलने पर ही अहिंसा सम्पन्न होती है। क्रोधादिमलो का निकल जाना ही विमलता हे। इसलिए अहिंसा को विमल कहना भी न्यायसगत है। प्रभास का अर्थ प्रकाश हे। अहिंसा आत्मा का उत्कृष्ट प्रकाश है। अहिंसा अज्ञान, मिथ्यात्व, हिंसा, राग-द्वेप, कपाय आदि अनिष्टअन्धकारो को निकाल फैंकती हे। इसी से सम्पूर्ण गुण प्रकाशमान होते है। इसीलिए अहिंसा को प्रभास कहा है, वह उचित ही है।

निम्मलयरत्ति—अहिंसा जीव को कर्मरज के मल से रहित करती है। इसलिए यह निर्मलकर है। अथवा यह निर्मलतर है।

गुणनिष्पन्न नाम—अहिंसा के उपर्युक्त ६० नाम गुणनिष्पन्न है। अहिंसा के निजीगुणो से ये नाम निष्पन्न हुए हैं, इसलिए शास्त्रकार कहते हे—**"एवमादीणि निययगुण-निम्मियाइ पज्जवनामाणि होंति"** इसका अर्थ स्पष्ट ह।

अहिंसा ए भगवईए—अहिंसा को भगवती वताया गया है। तीर्थंकर भगवान् की तरह अहिंसा मे असख्य दिव्य गुण पाये जाते है, इसलिए तथा भग-ऐश्वर्य से

युक्त होने से इसे भगवती कहा गया है। भग का अर्थ ज्ञान भी होता है, अहिंसा प्रशस्त ज्ञान वाली है। यह ससार के सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का निधान भी है। इन सब कारणो को ले कर अहिंसा को भगवती कहा गया है, यह उचित ही है।

भगवती अहिंसा की विविध उपमाएँ

पूर्वोक्त सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने अहिंसा के गुणनिष्पन्न ६० नाम बता कर उसकी व्यापकता और विविधरूपधारकता का निरूपण किया है। अब इस सूत्रपाठ मे अहिंसा भगवती को अनेक लोकप्रसिद्ध उपमाएँ दे कर उसकी विशेपता बताई गई है।

मूलपाठ

एसा सा भगवती अहिंसा जा सा भीयाण विव सरण, पक्खीण पिव गमण, तिसियाण पिव सलिल, खुहियाण पिव असण, समुद्दमज्झे व पोतवहण, चउप्पयाण व आसमपय, दुह-ट्ठियाण च ओसहिबल, अडवीमज्झे व सत्थगमण, एत्तो विसिट्ठ-तरिका अहिंसा जा सा पुढवि-जल-अगणि-मारुय-वणस्सइ-बीज-हरित-जलयर-थलचर-खहचर-तस-थावर-सव्वभूयखेमकरी।

सस्कृतच्छाया

एषा सा भगवतीअहिंसा या सा भीतानामिव शरणम्, पक्षिणामिव गमनम्, तृषितानामिव सलिलम्, क्षुधितानामिवाशनम्, समुद्रमध्ये इव पोतवहनम्, चतुष्पदानामिव आश्रमपदम्, दु खार्तिकानामिव औषधिबलम्, अटवीमध्ये इव सार्थगमनम्, एतेभ्यो विशिष्टतरिकाऽहिंसा या सा पृथिवी-जलाग्नि-मारुत-वनस्पति-बीजहरितजलचरस्थलचर-खेचरत्रसस्थावरसर्वभूत-क्षेमकरी।

पदार्थान्वय—(एसा) यह (सा) पूर्वोक्त (भगवती) पूज्या (अहिंसा) अहिंसा, (जा) जो है (सा) वह (भीयाण) भयभीत प्राणियो के लिए (सरण विव) शरण के समान है। (पक्खीण) पक्षियो के लिए (गमण पिव) आकाश मे गमन के तुल्य है। (तिसियाण) प्यासो के लिए (सलिल पिव) पानी के समान है। (खुहियाण) भूखो के

---

१ 'अडवीमज्झे विसत्थगमण' पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है।

—सपादक

लिए (असण पिव) भोजन के सदृश है। (समुद्दमज्झे) समुद्र के बीच मे, (पोतवहण व) जहाज की सवारी के समान है। (चउप्पयाण) चौपाये जानवरो के लिए (आसमपय) आश्रमपद-आश्रमरूप स्थान के (व) तुल्य है। (दुहट्टियाण) दु ख से पीडितो के लिए (ओसहिवल) औपधि के वल के (व) समान है। (अडवीमज्झे) जगल के बीच मे, (सत्थगमण) सघ या सार्थवाह के साथ गमन करने के (वि) समान है। (एत्तो) इन सबसे (विसिट्ठतरिका) अधिक श्रेष्ठ (जा) जो (अहिंसा) अहिंसा है, (सा) वह (पुढवि-जल-अगणिमारुय-वणस्सइ-बीज- हरित-जलयर-थलचर-खहचर-त्रस-स्थावरसव्व-भूयखेमकरी। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, बीज, हरितकाय, जलचर, स्थलचर, खेचर, त्रस-स्थावर सभी प्राणियो का क्षेम—कल्याण करने वाली है।

मूलार्थ—यह वही भगवती अहिंसा है, जो भयातुर जीवो के लिए शरणदाता के समान है, पक्षियो के लिए आकाश मे गमन करने-उडने के समान है, यह प्यास से व्याकुल प्राणियो के लिए जल के समान है, भूख से पीडितो के लिए भोजन के सदृश है, समुद्र के बीच मे डूबते हुए लोगो के लिए जहाज के समान है, पशुओ के लिए आश्रयस्थान के समान है, दु ख और पीडा से आर्त्त-रोगियो के लिए औपधिवल के समान है। यह भयानक अटवी मे सार्थ—सघ के साथ गमन करने के समान है।

इन सभी से श्रेष्ठ यह अहिंसा है, वह पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, बीज, हरितकाय, जलचर, स्थलचर, खेचर (पक्षी), त्रस और स्थावर इन सभी प्राणियो का क्षेम-कुशल-कल्याण करने वाली है।

व्याख्या

इस सूत्रपाठ मे भगवती अहिंसा को लोकप्रसिद्ध उपमाएँ दे कर उसकी महिमा का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। वास्तव मे अहिंसा जीवन के लिए अमृत है, वह परमब्रह्मरूपा है, सर्वव्यापक है, क्षेममयी, क्षमामयी और मगलमयी है। अनेकगुण-सम्पन्न भगवती अहिंसा कैसे पूज्या है ? इसके लिए शास्त्रकार स्वय अनेको उपमाएँ दे कर समझाते है।

'भीयाण विव सरण'— मनुष्य जव चारो ओर के प्रहारो से भयभीत हो जाता है, तव घवडा कर इधर-उधर कोई शरण ढूढता है। उस समय यदि कोई उसे शरण-आश्रय दे दे तो वह हजारो दुआएँ देता है, उसे वह शरण अमृतदायी लगता है, वैसे ही अहिंसा भी भयभीत और दु खो से त्रस्त प्राणियो को शरण—आश्रय देती है।

'पक्खीण पिव गमण'—पक्षियो को उडते समय जैसे आकाश का ही आधार होता है। आकाश के बिना कोई भी पक्षी अधर मे टिक नही सकता। वैसे ही आध्यात्मिक गगन मे उडने के लिए अहिंसा आधाररूप है। अहिंसा के आधार के बिना कोई भी अध्यात्मसाधक अध्यात्म मे टिक नही सकता। अथवा जैसे पक्षियो के लिए आकाश मे स्वतन्त्रतापूर्वक गमन हितकर है, उन्हे पीजरे आदि की परतन्त्रता दु खदायिनी मालूम होती है, वैसे ही अध्यात्मसाधक के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक अहिंसा के आध्यात्मिक गगन मे विचरण करना हितकर होता है, वह मोहमाया की परतन्त्रता मे सुखपूर्वक नही जी सकता।

'तिसियाण पिव सलिल'— जैसे प्यास से छटपटाते हुए जीवो को पानी जीवन-दान और शान्तिप्रदान करता है, वैसे ही अहिंसा आशातृष्णा की प्यास से व्याकुल जीवो को अपूर्व शान्तिप्रदान करती है।

'खुहियाण पिव असण'—जैसे क्षुधा से पीडित प्राणियो को भोजन सुख और वल देता है, वैसे ही अहिंसा पीडित प्राणियो को सुख और बल प्रदान करतो है।

'समुद्दमज्झे व पोतवहण'—समुद्र के बीच मे डूबते हुए मनुष्य को जैसे जहाज उबारने वाला होता है, वैसे ही अहिंसा ससारसमुद्र मे डूबते हुए प्राणियो को उबारने वाली है।

'चउप्पयाण व आसमपय'—चौपाये जानवरो को जैसे पशुशाला (गोष्ठ) सुरक्षितरूप से आश्रय देती है, वैसे ही अहिंसा भी चारो गतियो के प्राणियो को सुरक्षित स्थान देने वाली है।

'दुहट्टियाण व ओसहिवल'—जैसे औपधि भयकर रोग की पीडा से आर्त्तनाद करने वाले प्राणियो को उनकी पीडा मिटा कर स्वास्थ्य और बल प्रदान करती है, वैसे ही अहिंसा द्वेप, वैर आदि भावरोगो से अशान्त जीवो के रोग मिटाकर उन्हे आत्मिक स्वास्थ्य और बल प्रदान करती है।

'अडवीमज्झे वि सत्थगमण'—भयकर अटवी मे सुरक्षा के साधनो से युक्त सार्थवाहो का सार्थ (सघ) जैसे हिंसक प्राणियो और लुटेरो से जानमाल की रक्षा करता है, वैसे ही भयानक ससार-वन मे भटकते हुए प्राणियो की मिथ्यात्व, अव्रत, कपाय, प्रमाद आदि आत्मधन के लुटेरो तथा आत्मगुणो के विध्वसको से यह अहिंसा भगवती रक्षा करती है।

एत्तो विसिट्ठतरिका अहिंसा पुढविजल सव्वभूयखेमकरी'— उपर्युक्त पक्ति मे शास्त्रकार ने अहिंसा की विशेपता वताई है। तीर्थंकरो ने अहिंसा को केवल मनुष्यो और आखो से दिखाई देने वले द्वीन्द्रिय से ले कर पचेन्द्रिय जीवो तक ही नही,

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय जीवो तक सर्वप्राणिव्यापी वताया है। यही जैनदर्शन की विशेषता है कि उसमे एकेन्द्रिय से ले कर पचेन्द्रिय तक समस्त प्राणियो को न्याय दिया गया है और उनकी सुरक्षा के लिए अहिंसा का उपदेश है। दूसरे दर्शनो और धर्मो मे इतनी सूक्ष्मता से अहिंसा का विचार और प्रयोग नही किया गया है। यही कारण है कि अहिंसा को केवल स्थूलजीवो के लिए ही क्षेमकरी न बता कर सर्वजनक्षेमकारी बनाया है। अहिंसा के लिए दी गई पूर्वोक्त सभी उपमाएँ प्राय पञ्चेन्द्रिय स्थूलप्राणियो के लिए प्रतीत होती है। इसीलिए यहा कहा गया कि अहिंसा केवल पञ्चेन्द्रिय स्थूलप्राणियो की ही क्षेमकुशल करने वाली नही, अपितु इससे भी विशिष्टतर है, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, तथा बीज, हरितकाय, जलचर, स्थलचर खेचर, त्रस (द्वीन्द्रिय से ले कर पचेन्द्रिय तक) और स्थावर (पूर्वोक्त एकेन्द्रिय) आदि समस्त प्राणियो का क्षेम करने वाली है।

यद्यपि वनस्पतिकाय के अन्तर्गत वीज और हरितकाय का समावेश हो जाता है, तथापि इन दो शब्दो को अलग से बताने का शास्त्रकार का यही प्रयोजन मालूम होता है कि कई लोग बीज मे जीव नही मानते, इसी प्रकार कई लोग हरे पत्तो, घास आदि हरियाली मे जीव नहीं मानते, उन्हे इन दोनो की सजीवता का स्पष्ट वोध हो जाय कि इन दोनो मे भी जीव है। अहिंसापालक को इन दोनो प्रकार के जीवो की अहिंसा का पालन करना आवश्यक है। 'वीज' शब्द से यहा पर केवल गेहू, चना, ज्वार, वाजरा आदि अनाजो का ही नहीं, अपितु जिनके वोने पर अकुर उत्पन्न होता है, उन सव (मूल आदि) का ग्रहण किया जाता है। वीज के विषय मे निम्नोक्त गाथा प्रस्तुत है—

> 'मूलग्गपोरवीजा कदा, तह खदवीजवीजरुहा।
> सम्मुच्छिमा य भणिया, पत्तेयाऽणतकाया य॥

अर्थात्—जिसका मूल (जड) ही वीज होता है, उसे मूलवीज कहते है। जैसे—हल्दी, अदरक आदि। जो वनस्पति अग्रभाग के वोने से ऊगती है, यानी अग्रभाग ही जिसका वीज है, उसे अग्रवीज कहते है। जैसे गुलाव, चमेली आदि। जो वनस्पति पर्व (पौर) वोने से ऊगती है, उसे पर्ववीज कहते हैं। जैसे ईख, वेत आदि। जो वनस्पति कद से उत्पन्न होती है, उसे कन्दवीज कहते है। जैसे—सूरण, रतालू आदि। जो स्कन्ध काट कर लगाने से ऊगती है, उसे स्कन्धवीज कहते है। जैसे ढाक आदि। जो अपने-अपने वीज से ऊगती है, उसे वीज-वीज कहते है। जैसे गेहू, चना आदि। जो कुछ वोए विना मिट्टी और जल आदि के सयोग से ही ऊग जाती है, उन्हे सम्मूर्च्छिम वनस्पति कहते हैं। जैसे—घास, दूव आदि।

अत सूत्रपाठोक्त 'वीज' शव्द से उपर्युक्त गाथा मे वताये गये सभी प्रकार के वीजो का ग्रहण किया गया है। फलत अहिसा वीज,हरित आदि सभी जीवो का क्षेम करने वाली है।

अहिसा के आराधक कौन-कौन ?

पिछले सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने अहिंसा की विशेपता वता दी। अव वे उसकी महत्ता बता रहे है कि अहिंसा का आचरण किन-किन विशिष्टपुरुपो ने किया है और किस-किस रूप मे किया है ? तथा अहिंसा के शुद्ध आचरण से उन्हे कौन-कौन-सी लब्धिया, और सिद्धिया प्राप्त होती है ? तात्पर्य यह है कि शास्त्रकार अव भगवती अहिंसा की विविध रूप मे आराधना करने वालो का वर्णन निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा कर रहे है—

मूलपाठ

एसा भगवती अहिंसा जा सा अपरिमियनाणदसणधरेहिं सोलगुणविणयतवसजमनायकेहिं तित्थकरेहि सव्वजगजीववच्छलेहि तिलोगमहिएहि जिणचंदेहिं सुट्ठु दिट्ठा, ओहिजिणेहिं विण्णाया, उज्जुमतीहिं विदिट्ठा,विपुलमतीहि विदिता, पुव्वधरेहिं अधीता, वेउव्वीहिं पतिन्ना, आभिणिबोहियनाणीहिं सुयनाणीहिं, ओहिनाणीहिं मणपज्जवनाणीहिं, केवलनाणीहिं, आमोसहिपत्तेहि, खेलोसहिपत्तेहिं,विप्पोसहिपत्तेहि, जल्लोसहिपत्तेहि, सव्वोसहिपत्तेहिं, बीजबुद्धीहिं,कुट्ठबुद्धीहि, पदाणुसारीहि, सभिन्नसोतेहिं, सुयधरेहि, मणबलिएहि,वयबलिएहि,कायबलिएहिं,नाणबलिएहिं,दसणबलिएहिं, चरित्तवलिएहिं,खीरासवेहिं,मधुआसवेहि, सप्पियासवेहिं, अक्खीणमहाणसिएहिं, चारणेहिं, विज्जाहरेहिं, चउत्थभत्तिएहिं, एव जाव छम्मासभत्तिएहिं, उखित्तचरएहि, निखित्तचरएहिं,अतचरएहि, पतचरएहिं, लूहचरएहिं, अन्नइलाएहि, समुदाणचरएहिं, मोणचरएहिं,ससट्ठकप्पिएहिं, तज्जायससट्ठकप्पिएहिं, उवनिहिएहिं, सुद्धेसणिएहिं, सखादत्तिएहिं, दिट्ठलाभिएहिं,अदिट्ठलाभिएहिं, पुट्ठलाभिएहि, आयविलिएहिं, पुरिमड्ढिएहिं, एक्कासणिएहिं,

निव्वितिएहिं, भिन्नपिडवाइएहिं, परिमियपिडवाइएहिं, अनाहारेहिं, पताहारेहि, अरसाहारेहि, विरसाहारेहिं, लूहाहारेहि, तुच्छाहारेहि, अंतजीविहि, पतजीविहि, लूहजीविहि, तुच्छजीविहिं, उवसतजीविहि, पसतजीविहि, विवित्तजीविहि, अखीरमहुसप्पिएहि, अमज्जमसासिएहिं, ठाणाइएहिं, पडिमट्ठाइहि, ठाणुक्कडिएहिं, वीरासणिएहि, णेसज्जिएहि, डडाइएहि, लगडसाईहि, एगपासगेहि, आयावएहि, अप्पावएहि, अणिट्ठुभएहि, अकडुयएहि, धुतकेसमंसुलोमनखेहिं, सव्वगायपडिकम्मविमुक्केहि समणुचिन्ना, सुयधरविदितत्थकायबुद्धीहि धीरमतिबुद्धीणो य, जे ते आसीविसउग्गतेयकप्पा, निच्छयववसाय (विणीय) पज्जत्तकयमतीया, णिच्च सज्झायज्झाणअणुबद्धधम्मज्झाणा, पचमहव्वयचरित्तजुत्ता, समिता समितिसु, समितपावा, छव्विहजगवच्छला, निच्चमप्पमत्ता, एएहि अन्नेहि य जा सा अणुपालिया भगवती ।

संस्कृतच्छाया

एषा भगवती अहिंसा या सा अपरिमितज्ञानदर्शनधरैः शीलगुणविनयतप सयमनायकैस्तीर्थङ्करैः सर्वजगद्वत्सलैस्त्रिलोकमहितैर्जिनचन्द्रैः सुष्ठु दृष्टा, अवधिजिनैर्विज्ञाता, ऋजुमतिभिर्विदृष्टा, विपुलमतिभिर्विदिता, पूर्वधरैरधीता, विकुर्विभिः प्रतीर्णा, आभिनिबोधिकज्ञानिभिः श्रुतज्ञानिभिः अवधिज्ञानिभिर्मनःपर्ययज्ञानिभिः केवलज्ञानिभिः, आमर्शौषधिप्राप्तैः श्लेष्मौषधिप्राप्तैर्जल्लौषधिप्राप्तैर्विप्रुडौषधिप्राप्तैः,सर्वौषधिप्राप्तैः,बीजबुद्धिभिः कोष्ठबुद्धिभिः, पदानुसारिभिः, सभिन्नश्रोतृभिः, श्रुतधरैर्मनोबलिकैर् वचोबलिकैः, कायबलिकैः, ज्ञानबलिकैः, दर्शनबलिकैः, चारित्रबलिकैः क्षीरास्रवैर्मध्वास्रवैः सर्पिरास्रवैरक्षीणमहानसिकैः, चारणैः,विद्याधरैः, चतुर्थभक्तिकैरेव यावत् षण्मासभक्तिकैः, उत्क्षिप्तचरकैः, निक्षिप्तचरकैः, अन्तचरकैः, प्रान्तचरकैः, रूक्षचरकैः,समुदानचरकैः, अन्नग्लायकैः, मौनचरकैः,

ससृष्टकल्पिकै, तज्जातससृष्टकल्पिकैः, उपनिधिकै, शुद्धैषणिकै, सख्यादत्तिकै, दृष्टलाभिकै, अदृष्टलाभिकै, पृष्टलाभिकैराचाम्लकै, पुरिमार्धिकै, एकाशनिकै, निर्विकृतिकै, भिन्नपिडपातिकै, परिमितपिंडपातिकैरन्ताहारै, प्रान्ताहारै, अरसाहारै, विरसाहारै, रूक्षाहारैस्तुच्छाहारैरन्तजीविभिः, प्रान्तजीविभि, रूक्षजीविभि-स्तुच्छजीविभिरुपशान्तजीविभिः, प्रशान्तजीविभि, विविक्तजीविभिः, अक्षीरमधुसर्पिष्कै, अमद्यमासाशिकैः, स्थानादिकैः, प्रतिमास्थायिभिः, स्थानोत्कटिकै, वीरासनिकै, नैषद्यिकै, दण्डायतिकै, लगण्डशायिकै, एकपार्श्वकैरातापकैरपाव्रतैरनिष्ठीवकैरकण्डूयकै, धूतकेशश्मश्रुलोमनखै, सर्वगात्रपरिकर्मविमुक्तै, समनुचीर्णा, श्रुतधरविदितार्थकायबुद्धिभिः धीरमतिबुद्धयश्च ये ते आशीर्विषोग्रतेजकल्पा निश्चयव्यवसायपर्याप्तकृतमतिकाः नित्यं स्वाध्यायध्यानानुबद्धधर्मध्याना पचमहाव्रतचारित्रयुक्ताः समिताः समितिषु, शमितपापा षड्विधजगद्वत्सला नित्यमप्रमत्ता एतैरन्यैश्च या साऽनुपालिता भगवती।

पदार्थान्वय—(एसा) यह (सा) वह (भगवती अहिंसा) भगवती अहिंसा है, (जा) जो (अपरिमियनाणदसणधरेहिं) अपरिमित-अनन्तज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले (सीलगुणविणय-तवसजमनायकेहिं) शीलगुण, विनय, तप और सयम के नायक, (सव्वजगवच्छलेहिं) समस्त जगत् के जीवो के प्रति वत्सल, (तिलोयमहिएहिं) तीनो लोको मे पूज्य, (तित्थकरेहिं) तीर्थंकर, (जिणचदेहिं) जिनचन्द्रो द्वारा (सुदिट्ठा) भलीभाति देखी गई—अवलोकित है। (ओहिजिणेहिं) विशिष्ट अवधिज्ञानियो द्वारा (विण्णाया) विशेषरूप से ज्ञात-जानी गई है। (उज्जुमतीहिं) ऋजुमतिमन पर्यायज्ञानियो द्वारा विदिट्ठा) विशेषरूप से देख—परख ली गई है। (विपुलमतीहिं) विपुलमतिमन पर्यायज्ञानियो से (विदिता) विशेषरूप से जान ली गई है। (पुव्वधरेहिं) चतुर्दशपूर्वधारियो ने (अधीता) इसका अध्ययन कर लिया है। (वेउव्वीहिं) वैक्रियलब्धिधारको ने (पतिन्ना) इसका आजीवन पालन किया है। (आभिणिवोहियनाणीहिं) मतिज्ञानियो ने, (सुयनाणीहिं) श्रुतज्ञानियो ने, (ओहिनाणीहिं) अवधिज्ञानियो ने, (मणपज्जवनाणीहि) मन पर्यायज्ञान वालो ने, (केवलनाणीहिं) केवल ज्ञानियो ने, (आमोसहिपत्तेहिं) हाथ आदि के स्पर्शमात्र से औषधि रूप वन जाने की रोग-निवारक लब्धि प्राप्त करने वालो ने, (खेलोसहिपत्तेहिं) थूक के औषधिरूप वन जाने की लब्धि पाये हुए पुरुषो ने (जल्लोसहिपत्तेहि) जिनके शरीर का मैल ही औषधि का काम करता है, ऐसी लब्धि पाये हुए पुरुषो ने, (विप्पोसहिपत्तेहिं) विष्टा और मूत्र के औषधिरूप वन जाने की लब्धि पाने वालो ने

(सव्वोसहिपत्तेहिं) ऊपर बताई हुई तथा अन्य समस्त औषधिरूप लब्धि पाये हुए महापुरुषो ने,(बीजबुद्धीहिं) बीजरूप मूल अर्थ जान कर समस्त विशेष अर्थ जान लेने की बुद्धि वालो ने, (कुट्ठबुद्धीहिं) एक बार जान लेने से कभी न भूलने वाली बुद्धि वालो ने अथवा हृदय की सूझ बूझ वाली बुद्धिप्राप्त करने वालो ने, (पदाणुसारीहिं) एक पद से अन्य सैकडो पदो को जान लेने की बुद्धिवालो ने,(संभिन्नसोतेहि) शरीर के प्रत्येक अवयव से चारो तरफ के शब्दो को सुनने की शक्ति वालो ने अथवा शब्द, रस आदि प्रत्येक विषय को एक साथ ग्रहण करने वाली इन्द्रियो की शक्ति रखने वालो ने अथवा एक साथ उच्चारण किये गए अनेक शब्दो को भिन्न-भिन्न रूप से जानने की शक्ति वालो ने, (सुयधरेहि) श्रुतधरो ने, (मणबलिएहिं) दुर्द्धर्ष कार्यो मे अक्षुब्ध—अविचल मन वालो ने, (वयबलिएहिं) छह महीने तक प्रतिवादी को अक्षुब्ध होकर प्रत्युत्तर देने मे समर्थ वचन बलधारियो ने, (कायबलिएहिं) भयकर परिषह आदि आ पडने पर भी अडोल रह सकने मे समर्थ शरीरबलधारियो ने, (नाणबलिएहिं) मतिज्ञान आदि के बल वालो ने, दसणबलिएहिं) नि शकित सुदृढ तत्त्वार्थ श्रद्धा रूप दर्शन के बल वालो ने (चरित्तबलिएहिं) दृढचारित्रबली पुरुषो ने, (खीरासवेहिं) दूध के समान मधुर भाषण की लब्धि वालो ने, (मधुआसवेहिं) मधु के समान मधुर उच्चारण की लब्धि वालो ने, (सप्पियासवेहि) घृत के समान स्निग्ध—स्नेहसिक्त वाक्य बोलने की लब्धि वालो ने, (अक्खीणमहाणसिएहिं) जिस लब्धि के प्रभाव से भोजनसामग्री क्षीण न हो—घटे नहीं, इस प्रकार की लब्धि के धारको ने, (चारणेहि) आकाश मे गमन करने—उडने की लब्धि वालो ने,(विज्जाहरेहिं) अगुष्ठादि से प्रश्नो का उत्तर दे सकने की विद्या प्राप्त करने वाले विद्याधरो ने, (चउत्थभत्तिएहिं एव जाव छम्मासभत्तिएहिं) एक-एक उपवास से लेकर दो, तीन चार, पाच, आठ, पन्द्रह, मास, दो मास,तीन मास,चार मास, पाच मास और यावत् छह मास तक का तप करने वालो ने,(उक्खित्तचरएहिं) भोजन बनाने के बर्तन से निकाले हुए भोजन को ही लेने के अभिग्रह-धारको ने, (निक्खित्तचरएहिं) भोजन पात्र से निकाल कर दूसरे पात्र मे रखे हुए भोजन को ही ग्रहण करने का अभिग्रह धारण करने वालो ने, अतचरएहिं) गृहस्थ के भोजन कर लेने के बाद बचे हुए भोजन को ही ग्रहण करने के अभिग्रह वालो ने, (पतचरएहिं) तुच्छ आहार को ही ग्रहण करने के अभिग्रह वालो ने, (लूहचरएहि) रूखा-सूखा आहार ही ग्रहण करने का अभिग्रह धारण करने वालो ने, (अन्नइलाएहि) रूखासूखा, ठडा, तुच्छ, बचाखुचा जैसा-तैसा आहार प्राप्त हो जाय, उसे ही बिना दीनता (ग्लानि) के ग्रहण करने के अभिग्रह वालो ने अथवा आहार के बिना जिस समय ग्लानि होने लगे—मन उचटने

लगे, तभी आहार ग्रहण करने के अभिग्रहधारको ने, (मोणचरएहिं) मौन धारण करके भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेने वालो ने अथवा किसी से किसी भी चीज की याचना न करते हुए मौन रह कर विचरण करने वालो ने, (समुदाणचरएहिं) बिना किसी भेदभाव के उच्च, नीच, मध्यम (छोटे या बडे) सभी घरो से भिक्षाचरी करने वालो ने, (ससट्ठकप्पिएहिं) आटे आदि से लिप्त हाथ या बर्तन से आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा वालो ने, (तज्जायससट्टकप्पिएहिं) जिस प्रकार का भोजनादि देय द्रव्य है, उसी प्रकार के द्रव्य से लिप्त हाथ या वर्तन से आहार लेने की प्रतिज्ञा वालो ने, (उवनिहिएहिं) दाता के पास मे जो आहार रखा हुआ हे, केवल उसी को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा वालो ने, (सुद्धेसणिएहिं) शकित आदि भिक्षा के ४२ दोषो से रहित शुद्ध आहारादि को लेने की प्रतिज्ञा वालो ने, (सखादत्तिएहिं) दत्तियो की सख्या निश्चित करके ही आहारादि वस्तु लेने के अभिग्रह वालो ने (दिट्ठलाभिएहिं) सामने दिखाई देने वाले स्थान से लाई हुई या दृष्ट—सामने दिखाई देने वाली वस्तु को ही लेने के अभिग्रह वालो ने, (अदिट्ठलाभिएहिं) जो पहले नहीं देखी गई, ऐसी दी जाने वाली अदृष्ट वस्तु को ही लेने के अभिग्रह वालो ने,(पुट्ठलाभिएहि) आपको क्या चहिए ? इस प्रकार पूछे जाने पर ही, अथवा 'महात्मन्! यह वस्तु साधुओ के लिए कल्पनीय है या नहीं ? इस प्रकार के पूछने पर ही उपलब्ध वस्तु ग्रहण करने के अभिग्रह वालो ने (आयबिलिएहि) आजीवन आयबिल तप धारण करने वालो ने, (पुरिमड्ढिएहिं) उपवासो के सिवाय दिन के दोपहर के वाद ही आहार लेने का यावज्जीव प्रत्याख्यान करने वालो ने, (एक्कासणिएहि) प्रतिदिन एकाशन—एक बार भोजन करने वालो ने, (निव्वितिएहिं) प्रतिदिन घी, दूध, दही, तेल और मिठाई आदि विकृति से रहित आहार यावज्जीवन ग्रहण करने वालो ने, (भिन्नपिडवाइएहि) दाता के हाथ से पात्र मे डाली गई खडित या अलग-अलग वस्तु की सख्या निश्चित करके ग्रहण करने वालो ने, (परिमियपिडवाइएहि) परिमित मात्रा मे आहार लेने को प्रतिज्ञा वालो ने, (अताहारेहिं) गृहस्थ के भोजन करने के वाद वचे हुए आहार को ग्रहण करने की प्रतिज्ञावालो ने, (पताहारेहिं) ठडे, वासी, तुच्छ, वचेखुचे आहार की प्रतिज्ञा धारण करने वालो ने, (अरसाहारेहि) हीग आदि से असस्कृत (विना छोक का) आहार करने वालो ने, (विरसाहारेहि) रसरहित—स्वादरहित पुरानी वस्तु का आहार लेने वालो ने, (लूहाहारेहि) रूखासूखा आहार करने की प्रतिज्ञा वालो ने, (तुच्छाहारेहिं) सारहीन—तुच्छ वस्तु का आ[illegible] करने की अथवा अल्प आहार करने की प्रतिज्ञा वालो ने, (अतजीविहि)

भोजन करने से बचे हुए भोजन से ही सदा निर्वाह करने वालो ने, (पतजीविहिं) ठडे वासी भोजन से सदा निर्वाह करने वालो ने, (लूहजीविहि) जीवनभर रूखे भोजन पर ही जीने वालो ने, (तुच्छजीविहि) सारहीन या तुच्छ अल्प आहार पर ही जिंदगी वसर करने वालो ने, (उवसतजीविहि) आहार प्राप्त हो या न हो, तब भी चारो कषायो की उपशान्तिपूर्वक जीवन विताने वालो ने, (पसतजीविहि), अन्तर्मन मे भी क्रोधादि न करके हर हाल मे शान्त जीवन विताने वालो ने, विवित्तजीविहि) दोषरहित आहार आदि से जीवन यात्रा चलाने वालो ने, (अखीरमधुसप्पिएहि) दूध, मधु और घी का यावज्जीवन त्याग करने वालो ने, (अमज्जमसासिएहि) किसी भी हालत मे मद्य और मास से रहित आहार करने वालो ने, (ठाणाइएहि) कायोत्सर्ग मे एक स्थान पर स्थित रहने के अभिग्रह वालो ने, अथवा एक ही वार मे एक ही स्थान पर बैठ कर भोजन और पानी ग्रहण करने वालो ने अथवा अमुक स्थान पर ही स्थित रहने या बैठे रहने का अभिग्रह-विशेष धारण करने वालो ने,(पडिमट्ठाइहि) एक मास आदि की भिक्षु-प्रतिमा धारण करके स्थिर रहने वालोने, (ठाणुक्कडिएहि) उत्कटिका (उत्कटुक-उकडू) आसन धारण करने वालो ने,(वीरासणिएहि) वीरासन धारण करने वालो ने, (णेसज्जिएहि) निषद्या-आसन लगाने वालो ने, (डडाइएहि) दड की तरह लवे पड कर आसन दण्डासन लगाने वालो ने, (लगडसाइहि) सिर तथा पैर की एडी जमीन पर टिका कर एव शेष भाग को ऊपर उठा कर टेढेमेढे लक्कड की तरह शयन करने वालो ने, (एगपासगेहि एक ही पार्श्व (वगल) से शयन करने वालो ने, (आयावएहि) धूप मे आतापना लेने वालो ने, (अप्पावएहि) वस्त्र ओढे विना खुले वदन रहने वालो ने, (अणिट्ठुभएहि) थूक, कफ आदि को भूमि पर नहीं डालने वालो ने, (अकडुएहि) खाज नहीं खुजलाने वालो ने, (धुतकेसमसुलोमनखेहि) सिर के वाल, दाढी-मू छ के वाल और नखो का सस्कार करने का त्याग करने वालो ने, (सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्केहि) शरीर के तैलमर्दन, प्रक्षालन आदि सभी सस्कार का त्याग करने वालो ने, (सुयधरविदितत्थकायबुद्धीहि) शास्त्रो के ज्ञाताओ द्वारा तत्त्वार्थो को अवगत करने वाली बुद्धि के धारक महात्माओ ने, इस अहिसा का (समणुचिन्ना) सम्यक् प्रकार से आचरण किया है। (य) और (जे) जो (धीरमतिवुद्धिणो) धीर-स्थिर—क्षोभरहित अवग्रहादि मतिज्ञान एव औत्पातिकी आदि वुद्धि से सम्पन्न हैं, (ते) उन्होने, तथा (आसीविसउग्गतेयकप्पा) दाढ मे जहर वाले साप के समान अपनी तपस्या से उग्रविषतुल्य तेज वाले ऋषियो ने, (निच्छय-ववसायपज्जत्तकयमतीया) वस्तुतत्त्व के निश्चय और पुरुषार्थ

दोनो मे जिनकी बुद्धि परिपूर्ण कार्य करती है, उन्होने, (णिच्च सज्झाय-ज्झाण-अणु-बद्ध धम्मज्झाणा) नित्य स्वाध्याय और चित्तनिरोधरूप---ध्यान करने वलो तथा धर्मध्यान मे निरन्तर चित्त को अनुबद्ध—जोडे रखने वालो ने, (पचमहव्वयचरित्त-जुत्ता) पाच-महाव्रतरूप चारित्र से युक्त, (समितिसु समिता) पाच समितियो मे सम्यक् प्रवृत्ति करने वालो ने, (समितपावा) पापो का शमन करने वालो ने (छव्विह-जगवच्छला) षड्जीवनिकायरूप विश्व के प्राणिमात्र के वत्सल, (णिच्च अप्पमत्ता) सदा अप्रमत्त---प्रमादरहित, इन पूर्वोक्त गुणयुक्त पुरुषो (य) तथा (अन्नेहि) दूसरे गुणवान व्यक्तियो ने (जा सा भगवती) इस पूर्वोक्त भगवती अहिसा का (अणु-पालिया) सतत पालन किया है।

मूलार्थ—यह वह भगवती अहिंसा है, जिसे असीम (अनन्त) ज्ञान और दर्शनके धारक, शील गुण,विनय,तप औरसयम के नायक-मार्ग दर्शक,सारे विश्व के प्राणियो के प्रति वत्सल, तीनो लोको मे पूज्य जिनचन्द्र तीर्थंकरो ने (अनन्त ज्ञान दर्शन द्वारा) भलीभाति देखा है। विशिष्ट अवधिज्ञानियो ने इसे विशेष रूप से जाना है, ऋजुमति-मन पर्यायज्ञानियो ने इसे विशेष रूप से देख-परख लिया हैं, विपुलमतिमन पर्यायज्ञानियो ने इसे विशेष रूप से जान लिया है। चतुर्दशपूर्वधारियो ने इसका अध्ययन कर लिया है, वैक्रियलब्धि धारको ने इसका आजीवन पालन किया है। इसी प्रकार मतिज्ञानियो, श्रुतज्ञानियो, अवधिज्ञानियो,मन पर्यायज्ञानियो और केवलज्ञानियो ने इसकी आराधना की है। विशिष्ट तप के द्वारा हाथ आदि से छूलेने मात्र से औपधि रूप बन जाने की आमर्शौपधिलब्धि पाये हुए ऋषियो ने, थूक के औषधिरूप बन जाने की खेलौषधि लब्धि पाये हुए मुनियो ने, जिनके शरीर का पसीना, मैल आदि ही औपधि रूप हो गया है, ऐसी जल्लौपधि-लब्धिधारियो ने, जिनका मलमूत्र ही औषध रूप बन गया है, ऐसी विप्रुपौपधि नामक लब्धिप्राप्त मुनियो ने, शरीर के समस्त अवयव ही जिनके औपधिरूप बने गए हे, ऐसी सर्वौपधि-लब्धि पाये हुए महापुरुपो ने इसकी साधना की है। मूल अर्थ को जान कर सारा का सारा विशेप अर्थ जान लेने वाली बीजबुद्धिरूप लब्धि के धारका न, एक वार जान लेने पर सदा याद रखने वाली कोष्ठबुद्धि नामक लब्धि से युक्त मुनियो ने, एक पद से सैकडो पदो को जान लेने वाली पदानुसारिणी-लब्धि सम्पन्न पुरुपो ने, शरीर के प्रत्येक अवयव से चारो तरफ के शब्दो को सुनने को शक्ति अथवा शब्द, रस आदि विपयो को एक साथ ग्रहण करने की इन्द्रियो की शक्ति, या एक साथ उच्चारण किये हुए अनेक प्रकार के शब्दा को भिन्न-भिन्न रूप स जानन की शक्ति वाली सभिन्न-स्रोत लब्धि स युक्त पुरुपो

ने इसका पालन किया है। श्रुतज्ञान के धारकों ने, मनोबलियों ने, वचनबलियों ने, कायबल से युक्त पुरुषों ने, ज्ञानबलियों ने,दर्शनबलसम्पन्न पुरुषों ने, दृढचारित्रबल से युक्त पुरुषों ने, इसका भली भांति आचरण किया है। दूध के समान मधुर वचनवर्षा करने वाली क्षीरस्रावी लब्धि के धारकों ने, मधु के समान मधुर वचनश्रवितरूप मधुस्रावी लब्धि से युक्त पुरुषों ने, घृत के समान स्निग्ध वाक्य बोलने वाली सर्पिस्रावी लब्धि पाये हुए मुनियों ने, जिस लब्धि के प्रभाव से भोजन की सामग्री कम न हो, ऐसी 'अक्षीणमहानस' नामक लब्धि के धनी मुनियों ने, इसका सम्यक् अनुष्ठान किया है। आकाश में गमन करने की विद्याचरण लब्धि के धारक चारण मुनियों ने, अथवा जंघाचरणलब्धि वाले मुनियों ने हर तरह के प्रश्नों का उत्तर दे सकने की अंगुष्ठादि विद्या सिद्ध किये हुए विद्याधर मुनियों ने, एक उपवास से लेकर ६ महीने तक की तपस्या करने वाले तपस्वियों ने इसकी साधना की है। भोजन बनाने के बर्तन से निकाले हुए भोजन को ही ग्रहण करने के नियम वालों ने, भोजन पकाने के पात्र से दूसरे पात्र में निकाल कर रखे हुए भोजन को ही ग्रहण करने के अभिग्रह वालों ने, गृहस्थ के भोजन कर लेने के बाद शेष रहे भोजन को ही लेने के अभिग्रह वालों ने, बचे हुए तुच्छ आहार को ही लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, रूखा-सूखा आहार ही ग्रहण करने के संकल्प-धारियों ने, रूखा-सूखा, ठंडा, बासी, बचाखुचा जैसा भी आहार मिल जाय उसे अग्लान—दीनतारहित भाव से ग्रहण करने के अभिग्रह वालों ने, अथवा जब आहार किये बिना ग्लानि होने लगे, तभी आहार लेने के अभिग्रहधारियों ने, मौन धारण करके भिक्षा लेने के संकल्प कर्ताओं ने, बिना किसी भेद भाव से उच्च, नीच, मध्यम सभी घरों से भिक्षा ग्रहण करने की चर्या वालों ने, आटे आदि से लिप्त हाथ या बर्तन से ही आहार लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, जो भोजनादि देय द्रव्य है, उसी से हाथ या पात्र भरे हों तो आहार लेने के नियम वालों ने, दाता के निकटवर्ती आहारादि को ही ग्रहण करने के अभिग्रह वालों ने, शंका आदि भिक्षा के ४२ दोषों से रहित आहार आदि को ही लेने की प्रतिज्ञा वालों ने,आहारादि वस्तुओं की दत्ति की संख्या निश्चित करके आहार लेने वालों ने, अपने पास के दृश्यमान स्थान से लाई हुई वस्तु को ही ग्रहण करने के संकल्प वालों ने, पहले न देखी हुई—अदृष्ट वस्तु को ही लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, 'हे स्वामिन्! अमुक पदार्थ आपके लिए कल्पनीय - ग्राह्य है ?' इस प्रकार पूछ कर आहारादि देने वाले से ही आहारादि लेने के नियम वालों ने, सदा आयंबिल तप करने वालों ने,

प्रतिदिन सूर्योदय से दोपहर तक आहार लेने का त्याग करने वालो ने, प्रतिदिन एकाशन करने वालो ने, घी दूध वगैरह विकृतिजनक (विग्गइ) पदार्थों के त्याग करने वालो ने, खण्डित हुए मोदक आदि का ही ग्रहण करने की प्रतिज्ञा वालो ने, परिमित भोजन ही ग्रहण करने की प्रतिज्ञा वाला ने गृहस्थ के खाने के बाद बचे हुए भोजन को ही सेवन करने के नियम वालो ने, तुच्छ, वासी व ठडा भोजन ही सेवन करने के नियम वालो ने, हीग आदि से छौका हुआ न हो, ऐसे असम्कृत भोजन का ही सेवन करने वालो ने रसहीन वासी आहार को ही लेने के नियम वालो ने, रूखा-सूखा आहार ही कर लेने की प्रतिज्ञा वालो ने, सारहीन या अत्यल्प आहार करने को ही प्रतिज्ञा वालो ने, गृहस्थ के भोजन से बचे हुए भोजन पर ही जीवनभर निर्वाहकर लेने के अभिग्रह वालो ने, बासी भोजन से हो सदा जीवन बसर कर लेने वालो ने, रूखे आहार पर ही सारा जीवन गुजार देने वालो ने, सारहीन या तुच्छ स्वल्प आहार मे ही आजीवन सतुष्ट रहने के नियम वालो ने, आहार मिले या न मिले हर स्थिति मे क्रोधादि कपायो से दूर रह कर शान्तभाव से जीने वालो ने,हर हाल मे अन्तर से भी शान्त रहकर जीवन बसर करने वालो ने, निर्दोप (४२ दोषरहित) आहार आदि से ही जीवननिर्वाह करने वालो ने, दूध, शहद या मीठा और घृत आदि का आजीवन त्याग करने वालो ने, किसी भी हालत मे मद्य, और मास का सेवन न करने वालो ने, इसका भलीभाति आचरण किया हे। कायोत्सर्ग मे एक स्थान पर स्थित रहने के अभिग्रह वालो ने, एक मास आदि की भिक्षुप्रतिमा धारण करके स्थिर रहने वालो ने, एक स्थान पर उत्कटिकासन धारण करके रहने वालो ने, वीरासन धारण करने वालो ने, निपद्यासन लगाने वालो ने, दण्डासन लगाने वालो ने, टेढमढे लक्कड की तरह सिर और पैर की ऐडी जमीन पर टिका कर शेप भाग ऊपर उठाए रख कर शयन करने वाला ने, धूप मे आतापना लेने वाला ने, वस्त्र न ओढ कर शरीर को खुल्ला रखने वालो ने, थूक एव कफ आदि को भूमि पर नही गिराने वालो ने, खाज न खुजलाने वालो ने, सिर तथा दाढी-मूछ के बाल, रोम और नखो के सस्कार के प्रति उपेक्षाभाव रखने वालो ने, शरीर पर तेल की मालिश, प्रक्षालन आदि सभी प्रकार के सस्कारो से विरक्त महापुरुपो ने, शास्त्रज्ञ पुरुपो के द्वारा विस्तृत तत्त्वज्ञान को जानने वाली बुद्धि के धनी पुरुषो ने इसका समीचीनरूप से पालन किया है। इसके अतिरिक्त जो

क्षोभरहित, स्थिर, अवग्रहादि मतिज्ञान तथा औत्पातिकी आदि बुद्धियों से युक्त एवं दाढ में विष वाले सर्प के उग्र विष के समान अपने तप से उग्र तेज वाले ऋषियों ने, वस्तुतत्त्व के निश्चय और पुरुषार्थ दोनों में जिनकी बुद्धि पूरा काम करती है, उन्होंने एवं नित्य स्वाध्याय तथा चित्तनिरोधरूप ध्यान में रत एवं धर्मध्यान में निरन्तर चित्त को अनुबद्ध—संलग्न रखने वालों ने, पांच महाव्रतरूप चारित्र से युक्त तथा पाँच समितियों में सम्यक् प्रवृत्ति करने वालों ने, पापों को शान्त करने वालों ने, छहकाया रूप सारे जगत् के वत्सल एवं सदा प्रमादरहित इन पूर्वोक्त गुणयुक्त पुरुषों ने तथा दूसरे गुणों से भी युक्त महात्माओं ने इस पूर्वोक्त भगवती अहिंसा का सतत पालन किया है।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ में अहिंसा की सुदृढरूप से आराधना करने वाले पुरुषों का—खासतौर से मुनियों का निरूपण किया गया है। साथ ही यह भी ध्वनित किया है कि अहिंसा के विशिष्ट आचरण करने वाले इन महान् आत्माओं के द्वारा किस-किस रूप में आचरण करने से उन्हें क्या-क्या विशिष्ट लब्धियाँ प्राप्त हुई हैं? वैसे तो मूलार्थ और पदार्थान्वय में इन सभी पदों का अर्थ स्पष्ट किया है, तथापि कुछ स्थलों पर इनका विशेष रहस्य प्रगट करना और विश्लेषण करना आवश्यक समझ कर नीचे उन पर विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं—

एसा भगवती अहिंसा अपरिमियनाणदंसणधरेहिं सुट्ठु दिट्ठा—इस पंक्ति का आशय यह है कि अनन्त (केवल) ज्ञान और अनन्त (केवल) दर्शन के धनी, शीलगुण, विनय, तप और संयम पर पूर्ण आधिपत्य रखने वाले, मार्गदर्शक, विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति वात्सल्यमूर्ति, त्रिलोकपूज्य, जिनचन्द्र तीर्थंकरों ने इस भगवती अहिंसा के स्वरूप और कार्य—प्रयोग को अपने केवलज्ञान और केवलदर्शन में भलीभांति देखा और जाना है। जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन्होंने राग और द्वेष का निवारण किया है, क्रोधादि चारों कषायों एवं काम, मोह, ममत्व आदि से रहित हुए हैं, विश्व के सभी प्राणियों के एकान्तहितकर्ता—वत्सल बने हैं, शील, विनय, तप और संयम की आराधना की है। अहिंसा की साधना करने से ही उनकी ये सब साधनाएँ सफल हुई हैं। अहिंसा की पूर्ण साधना के लिए इन सबकी साधना उन्हें अनिवार्य रूप से करनी पड़ी है। क्योंकि राग, द्वेष, कषाय, असंयम, काम, मोह, ममत्व आदि को छोड़े बिना अहिंसा की सम्यक्रूप से साधना नहीं हो सकती और अहिंसा की साधना हुए बिना उन्हें अनन्तज्ञान-दर्शन, तीर्थंकरत्व

एव वीतरागत्व प्राप्त नही हो सकते। तात्पर्य यह है कि तीर्थंकरो ने स्वय अहिंसा भगवती के प्रत्येक अगोपागो का सूक्ष्मतया विश्लेपण करके मन-वचन-काया से उसकी आराधना की है और अन्य अनेक भव्य जीवो को अहिंसा की आराधना करने के लिए प्रेरित किया है, अपने जीवनकाल मे भी उन्होने अहिंसा और उसके पालन करने वालो की अनुमोदना की है। इसी अहिसा की पूर्ण आराधना करने के फलस्वरूप उन्होने केवलज्ञान, केवलदर्शन, जिनत्व और तीर्थंकरत्व प्राप्त किया है, तथा त्रिलोकपूज्य, विश्ववत्सल और शीलगुण—विनय—तप एव सयम आदि के नायक—मार्गदर्शक बने है। अहिंसा की सम्यक् आराधना के द्वारा कितनी बडी उपलब्धि होती है यह !

ओहिजिणेहि विण्णाया—इसका तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञान भी एक ऐसा ज्ञान है जो इन्द्रियो की सहायता के बिना केवल आत्मा द्वारा ही होता है, और वह होता है—अमुक-अमुक अवधि अर्थात् सीमा तक ही। इसलिए अवधिज्ञान के मुख्यतया तीन भेद बताए हैं—देशावधि, सर्वावधि और परमावधि। जघन्य देशावधि देवो और नारको को तो जन्म से (भवप्रत्यय) होता है, जबकि उत्कृष्ट देशावधि, सर्वावधि तथा परमावधिज्ञान मनुष्यो को अहिंसा आदि की विशिष्ट साधना से प्राप्त होता है। छद्मस्थ तीर्थङ्करो को परमावधिज्ञान होता है। अहिंसा की सम्यक् आराधना भी उक्त ज्ञान का एक कारण है। जब वे अहिंसा के स्वरूप और कार्यो को ज्ञपरिज्ञा से जान लेते है और प्रत्याख्यान परिज्ञा से हिंसा का सर्वथा त्याग करके अहिंसा का आचरण करते है, तभी उन्हे उस अहिंसा की आराधना के फलस्वरूप विशिष्ट अवधिज्ञान प्राप्त होता है, जिसके प्रकाश मे वे अहिंसा का प्रयोगसहित ज्ञान करते है। इसी दृष्टि से विशिष्ट अवधिज्ञानियो ने इस अहिसा को विशदरूप से—प्रयोगसहित जान लिया है।

उज्जुमतीहि विदिट्ठा, विपुलमतीहि विदिता—ऋजुमति और विपुलमति ये दोनो मन पर्यायज्ञान के भेद है। मन पर्यायज्ञान द्वारा भी इन्द्रियो को सहायता के बिना मन के भावो को जाना और देखा जा सकता है। परन्तु मन पर्यायज्ञान की प्राप्ति उत्कृष्ट सयमी या चतुर्दशपूर्वधारक महामुनियो को ही होती है। और इस सयम की साधना मे अहिंसा की साधना सर्वप्रथम आती ही है। क्योकि एक तरह से देखा जाय तो सयम, तप, विनय, सत्य आदि तो अहिंसा की ही पूर्ति के लिए है। फलितार्थ यह हुआ कि ऋजुमति और विपुलमति इन दोनो प्रकार के मन पर्यायज्ञानियो को अहिंसा की उत्कृष्ट साधना के फलस्वरूप ही ये दोनो ज्ञान उपलब्ध होते है। इन दोनो कोटि के ज्ञानियो ने अहिसा को स्वरूपत और कार्यत दोनो प्रकार से देखा-परखा है इसका जीवन मे प्रयोग किया है और इसे भलीभाति जाना है। तभी अहिसा भगवती की कृपा से उन्हे इन विशिष्ट ज्ञानो की उपलब्धि हुई है।

पुव्वधरेहि अधीता—उत्पाद नामक प्रथम पूर्व (श्रुतज्ञान) से ले कर चौदहवे पूर्व तक के अध्ययन से श्रुतज्ञान की पूर्ण उपलब्धि होती हे। उत्पाद, अग्रायणीय आदि १४ पूर्वो के अध्ययन करने वाले का अधिकार महाव्रती मुनि के सिवाय किसी को नहीं है। अत फलित हुआ कि अहिंसा महाव्रत की उत्कृष्ट और पूर्ण साधना करने के लिए पूर्वो के अध्येता महामुनि पूर्वश्रुतो मे यत्रतत्र वर्णित अहिंसा के स्वरूप और कार्य का यथातथ्य ज्ञान प्राप्त कर लेते है। तभी वे अहिंसा की साधना यथार्थरूप से कर सकते हैं।

वेउव्वीहिं पतिन्ना आभिणिवोहियनाणीहिं ··चारणेहिं विज्जाहरेहि—उपर्युक्त सूत्रपाठ मे वैक्रियलब्धि से लेकर विद्यालब्धि तक के धारको द्वारा अहिंसा का आजन्म पालन करने का उल्लेख है। इसका आशय यह हे कि इन विभिन्न लब्धि-धारियो के द्वारा अहिंसा की यथार्थ साधना तभी फलित होती है, जब वे स्वरूपत और कार्यत अहिंसा का मन-वचन-काय से शुद्ध आचरण करते है। और तभी वे अहिंसा की उस साधना के फलस्वरूप उक्त लब्धिया—शक्तियाँ, ऋद्धियाँ या सिद्धिया प्राप्त करते है।

विभिन्न लब्धियो का सक्षिप्त स्वरूप—प्रसगवश अहिंसा की उत्कृष्ट साधना से प्राप्त लब्धियो के वर्णन के लिए पूर्वाचार्यप्रणीत गाथाएँ प्रस्तुत करते हे—

सम्माणु - सव्वविरई - मल-विप्पाऽमोस-खेल-सव्वोसही ।
विउव्वी- आसीविस - ओही - रिउ - विउल- केवलय ॥१॥
सभिन्न-चक्की-जिण-हरि-वल-चारण-पुव्व-गणहर-पुलाए ।
आहारग-महुघयखीरआसवो कुट्ठवुद्धी य ॥२॥
वीयमई - पयाणुसारी - अक्खीणग - तेय - सीयलेसाइ ।
इय सयल लद्धिसखा भवियमणुयाणमिह सव्वा ॥३॥

अर्थात्—१ सम्यक्त्वलब्धि, २ अणुव्रतलब्धि, ३ सर्वविरतिलब्धि, ४ मललब्धि, ५ विप्रुपलब्धि, ६ आमर्शलब्धि, ७ खेललब्धि, ८ सर्वौषधिलब्धि, ९ वैक्रियलब्धि, १० आशीविष लब्धि, ११ अवधिलब्धि, १२ ऋजुमतिलब्धि, १३ विपुलमतिलब्धि, १४ केवललब्धि, १५ सभिन्नश्रोतोलब्धि, १६ चक्रवर्तित्वलब्धि, १७ अर्हत्त्वलब्धि, १८ वसुदेवत्त्वलब्धि १९ वलदेवत्वलब्धि, २० चारणलब्धि, २१ पूर्वलब्धि, २२ गणधरलब्धि, २३ पुलाकलब्धि, २४ आहारकलब्धि, २५ मधुघृतक्षीरास्रवा लब्धि, २६ कोष्ठबुद्धिलब्धि, २७ बीजबुद्धिलब्धि, २८ पदानुसारीलब्धि, २९ अक्षीणकलब्धि, ३० तेजोलेश्यालब्धि, ३१ शीतलेश्यालब्धि, इस प्रकार समस्त लब्धियो की सख्या है। ये सब लब्धिया इस ससार मे भव्य मनुष्यो को प्राप्त होती हैं।

तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा होना सम्यक्त्व है, जो क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक तीन प्रकार का है। इस प्रकार के सम्यक्त्व की प्राप्ति होना सम्यक्त्वलब्धि

तीर्थंकर के शासन को चलाने का अधिकार एव गणधर पद जिसके प्रभाव से प्राप्त हो, उसे गणधरलब्धि कहते है। इसी प्रकार पुलाकचारित्र से प्राप्त होने वाली लब्धि पुलाकलब्धि कहलाती हे। पुलाकलब्धि से युक्त मुनि कुपित होने पर चक्रवर्ती की सेना तक को चूर-चूर कर सकता है।

चतुर्दशपूर्वधारी मुनिराज जिस लब्धि के प्राप्त होने पर निगोद आदि के सम्बन्ध मे अपने सशय को दूर करने के लिए तथा जिनभगवान् की ऋद्धि के दर्शन के लिए अपने शरीर से मुड हाथ का अत्यन्त देदीप्यमान पुतला विक्रिया से वना कर महाविदेह आदि क्षेत्र मे विराजित तीर्थंकर के पास भेजते है, उस लब्धि को आहारकलब्धि कहते है।

जिस लब्धि के प्रभाव से मधु, घृत और दूध के अतिशय रस के समान रसपूर्ण मधुर आकर्पक वचन निकलते हो, अथवा साधक के वचन ही शरीरादि दु ख से सतप्त जीवो को मधु-घृत दुग्ध की तरह तृप्त करने वाले हो, या जिसके पात्र मे पडा हुआ तुच्छ अन्न भी मधु-दुग्ध-घृत की तरह वलप्रदायी हो, उसे मधु-सर्पि क्षीरास्रवलब्धि कहते है। जैसे कोठार मे भरे हुए अनाज वर्पो तक अलग-अलग रूप मे वहुत सुरक्षितरूप से पडे रहते है, वैसे ही जिस लब्धि के प्रभाव से भिन्न-भिन्न पदार्थ जैसे सुने या जिस प्रकार से एक वार जाने गए है उसी रूप मे वर्पों तक दिमाग मे अविस्मृत भाव से स्थिर रखने की वुद्धि कोष्ठवुद्धिलब्धि कहलाती है। जोते हुए खेत मे वोया हुआ और जमीन, पानो आदि अनेक पदार्थों के सयोग से नष्ट न हुआ, जसे अखड एक वीज अनेक वीजो को पैदा करता है, वैसे ही जिस लब्धि के प्रभाव से ज्ञानावरणीयादि

के खा लेने पर भी कम नही होता है, अथवा लाई हुई भिक्षा जब तक वह स्वय भोजन न कर ले तब तक लाखो आदमियो को उसमे से खिला देने पर भी क्षीण—कम न हो , उसे अक्षीणमहानसलब्धि कहते हैं। इसी प्रकार सीमित जगह मे भी तीर्थंकरो के समवसरण मे असख्य देव आदि जनो की तरह जहाँ निर्बाधरूप से असख्य व्यक्ति क्रमश बैठ जाय—समा जाय उसे अक्षीण-महालयलब्धि कहते हैं। इन दोनो को मिलाकर अक्षीणकलब्धि कहलाते है।

क्रोधादिवश अनेक योजन क्षेत्र मे स्थित वस्तु या व्यक्ति को जलाने मे समर्थ तीव्रतेज अपने शरीर से निकालने की शक्ति को तेजोलेश्यालब्धि कहते हैं। [illegible]-करुणावश तेजोलेश्या के शान्त करने मे समर्थ शीतलतेजविशेष की शक्ति को [illegible]-लब्धि कहते है।

ये सब लब्धिया भगवती अहिंसा की विशिष्ट आराधना से [illegible] सकती हैं।

निष्कर्ष यह है कि यह अहिंसा भगवती की ही [illegible] आराधना से आराधक के गदे से गदे पदार्थ भी [illegible] हैं, मदबुद्धि भी तीव्रबुद्धि हो जाता है, पुण्यहीन भी [illegible], मामूली-सा आदमी भी विशिष्ट व्यक्ति बन जाता है, [illegible] और पूजनीय बन जाता है, नीच से नीच भी [illegible] जाता है। [illegible], यह अहिंसा का ही चमत्कार है।

चउत्थभत्तिएहि उक्खित्तचरएहिं [illegible] ... कम्मविप्पमुक्केहि [illegible]-चिन्ना—इस लम्बे सूत्रपाठ मे अहिंसा के [illegible] का सकेत किया है, जो विविध प्रकार के तप करते है, भिन्न-भिन्न [illegible] के नियम ग्रहण करते है, अलग-अलग तरह के अभिग्रह धारण करके जीवन बिताते हैं, विभिन्न प्रकार के त्याग, सयम और प्रत्याख्यान के सकल्प ले कर आजीवन निभाते है , कई अपने शरीर की विभूषा और सुसस्कारो के प्रति उपेक्षाभाव धारण करके एकमात्र आत्मा की ही उपासना मे सलग्न रहते है , अपने क्लिष्ट कर्मों को काटने के लिए कई रूखे-सूखे, तुच्छ, बासी और जैसे-तैसे अत्यल्प भोजन पर ही आजन्म निर्वाह करते है।

साराश यह है कि आहारग्रहण के सम्बन्ध मे विविध तप, त्याग, प्रत्याख्यान, नियम और अभिग्रह ले कर अपनी आत्मा को तप और सयम से भावित बनाते हैं।

ऐसे महाव्रती महामुनियो के लिए अहिंसा की साधना अनिवार्य होती है। अहिंसा के विना वे एक कदम भी आगे नही चल सकते। फलत अहिंसा की दीर्घकालिक साधना के बाद उनमें इतनी शक्ति आ जाती है कि वे चाहे जैसी परिस्थिति मे अपने आपको सुदृढ रख सकते है।

उनमे सबसे पहले वे तपस्वी आते है, जो तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग करके एक उपवास से ले कर एकमास, दोमास, तीनमास यावत् छहमास तक के उपवास करते है। ऐसे तपस्वियो के द्वारा सूक्ष्मता से निरन्तर आराधित अहिंसा अत्यन्त तेजस्वी बन जाती है।

उत्क्षिप्तचर, निक्षिप्तचर, अन्तचर, प्रान्तचर, रूक्षचर, अग्लायक, समुदानभिक्षाचर, मौनचर आदि का अर्थ स्पष्ट है।

ससट्ठकप्पिएहिं—जिनका आचार ससृष्ट नामक अभिग्रहरूप होता है, वे ससृष्टकल्पिक कहलाते है। अर्थात्—दाता का हाथ या पात्र लिप्त हो, या हाथ लिप्त न हो, पात्र लिप्त हो, अथवा पात्र लिप्त न हो, हाथ लिप्त हो, तथा देय पदार्थ सावशेष (कुछ बचा हो) या निरवशेष (देने के बाद कुछ न बचा) हो, तभी भिक्षा ग्रहण करेंगे, इस प्रकार के अभिग्रहधारी[1] ससृष्टकल्पिक कहलाते है। इस दृष्टि से ससृष्टकल्पिक के ८ भग बनते है—(१) हाथ और पात्र दोनो ससृष्ट (देय वस्तु से लिप्त) हो, देय द्रव्य बचा हो, (२) हाथ और पात्र दोनो लिप्त हो, द्रव्य बचा न हो, (३) हाथ लिप्त हो, किन्तु पात्र लिप्त न हो और द्रव्य बचा हो, (४) हाथ लिप्त हो, किन्तु पात्र लिप्त न हो और द्रव्य न बचा हो, (५) हाथ लिप्त न हो, पात्र लिप्त हो, किन्तु द्रव्य बचा हो, (६) हाथ लिप्त न हो,पात्र लिप्त हो, किन्तु द्रव्य बचा न हो, (७) हाथ और पात्र लिप्त न हो, किन्तु द्रव्य बचा हो, (७) हाथ और पात्र लिप्त न हो, किन्तु द्रव्य बचा न हो।

उपनिधिक, शुद्धैपणिक, आचाम्लिक, पुरिमार्द्धिक, एकाशनिक, निर्विकृतिक आदि के अर्थ पदार्थान्वय मे स्पष्ट है।

सखादत्तिएहिं—जो भिक्षाजीवी साधु दत्तियो की सख्या निश्चित करके भिक्षा ग्रहण करता है, वह सख्यादत्तिक कहलाता है। दाता गृहस्थ के हाथ से एक बार मे जितना आहार भिक्षापात्र मे पड जाय, उसे एक दत्ति कहते है। इसी प्रकार दो, तीन, चार या पाच दत्ति का अर्थ समझना चाहिए।

दिट्ठलाभिएहिं अदिट्ठलाभिएहिं पुट्ठलाभिएहिं—दिखाई देने वाले स्थान से लाए हुआ भोजन को ही जो ग्रहण करते है, वे दृष्टलाभिक होते है। अदृष्ट (पहले

---

१ इन सबका विशेष वर्णन पिंडनिर्युक्ति, यतिदिनचर्या आदि ग्रन्थो मे देखें।

—सपादक

न देखी हुई) वस्तु को ही जो ग्रहण करते है,वे अदृष्टलाभिक होते है। और 'महात्मन्! यह पदार्थ साधु के लिए कल्पनीय—ग्राह्य है ?', इस प्रकार पूछे जाने पर जो उपलब्ध हो, उसे ही जो ग्रहण करते हैं, वे पृष्टलाभिक होते है।

भिन्नपिंडवाइएहिं परिमियपिंडवाइएहिं—मोदक आदि भोज्य पदार्थ खड-खड करके पात्र मे डालने पर ही लेने वाले भिन्नपिंडपातिक कहलाते है और परिमित घरो मे ही प्रवेश करके और परिमित मात्रा मे ही भोज्य वस्तुओ की सख्या निश्चित करके लेने की प्रतिज्ञा वाले परिमित पिंडपातिक कहलाते है।

अन्तचर-प्रान्तचर, अन्ताहारी-प्रान्ताहारी और अन्तजीवी-प्रान्तजीवी मे अन्तर—उपर्युक्त तीनो शब्दयुगल ऊपर-ऊपर से देखने पर समानार्थक दिखाई देते है, लेकिन इन तीनो मे थोडा-थोडा अन्तर है। अन्तचर और प्रान्तचर भिक्षाजीवी वे होते है, जो भिक्षा की गवेपणा करते समय ही तुच्छ (अत) और भुक्तावशेप (प्रान्त) आहार लेने का अभिग्रह करते है, परन्तु अन्ताहारी-प्रान्ताहारी को भिक्षा की गवेपणा करते समय अन्त-प्रान्त आहार लेने का अभिग्रह नही होता, किन्तु भोजन करते समय ही अन्त-प्रान्त आहारसेवन करने का अभिग्रह होता है। और अन्तजीवी-प्रान्तजीवी साधुओ के तो जीवनभर वैसा ही आहार करने का नियम होता है, जबकि अन्ताहारी-प्रान्ताहारी साधुओ के परिमित समय तक का नियम होता है। यही अन्तर रूक्षचर, रूक्षाहारी और रूक्षजीवी इन तीनो मे तथा तुच्छाहारी और तुच्छजीवी मे समझना चाहिए।

उपशान्तजीवी और प्रशान्तजीवी मे अन्तर—भिक्षा प्राप्त हो या न हो, जिनकी वाह्यवृत्तियाँ उपशान्त रहती हो, यानी जिनके चेहरे और आँखो मे भी क्रोधादि की झलक न दिखाई देती हो, वे उपशान्तजीवी कहलाते है, और जो बाह्यवृत्ति से ही नही, अन्तर्वृत्ति से भी क्षुब्ध न होते हो, यानी जिनके चेहरे पर क्रोधादि आना तो दूर रहा, मन मे भी क्रोधादि का भाव पैदा नही होता, वे प्रशान्त-जीवी कहलाते हैं।

अमज्जमसासिएहिं जो मद्य, मास का सेवन कदापि नही करते, वे अमद्यमासाशिक कहलाते है। प्रश्न होता है, साधु तो क्या, गृहस्थश्रावक भी, और सप्तकुव्यसनो का त्यागी मार्गानुसारी भी इन दोनो का सेवन नही करता, तब पूर्ण अहिंसक साधुओ के लिए तो मद्य-मास-सेवन का सवाल ही नही उठता, फिर इनके लिए इस विशेपण का प्रयोग क्यो किया गया ? इसका समाधान यह है कि मद्य और मास दोनो को अचित्त समझकर भी मुनि कभी इनका सेवन नही करता है,यह वताने के लिए ही उक्त पाठ दिया है। मद्य अनेक कीटाणुओ के मरने से सडा कर वनाया जाता है तथा पीने के बाद नशीला, उत्तजक और भान भुला देने वाला है, इसलिए सर्वथा वर्जनीय

एक अहोरात्रि से अधिक न ठहरे, अज्ञातस्थल मे अधिक से अधिक दो रात ठहर सकता है। दुष्ट व्याघ्र, सिंह, हाथी आदि हिंस्रपशुओ के डर से या मृत्यु के भय से वह एक कदम भी इधर-उधर आगे-पीछे नही खिसकेगा। इत्यादि नियमो का पालक मुनि शरीर पर ममत्व करके छाया से धूप मे या धूप से छाया मे गमन नही करेगा। वह एक महीने तक लगातार ग्रामानुग्राम विचरण करेगा। वह और भी बहुत-से नियमो का पालन करेगा जैसे—पैर मे काटा लग जाने पर या आँख मे रजकण, तिनका या मैल पड जाने पर वह निकालेगा नही। शयन और निवास के लिए तृणसस्तारक व उपाश्रय आदि की याचना भी वह दो बार से अधिक नही करेगा, प्रतिमा पूर्ण होने की अवधि तक किसी के पूछने पर या शास्त्रीय प्रश्न करने पर भी वह दो बार से अधिक नही बोलेगा। वह ऐसे स्थान मे ठहरेगा, जो आगन्तुकागार हो, यानी जहाँ कार्पटिक आदि आ कर रहते हो, अथवा दीवारे न होने से ऊपर से जो घर छाया हुआ न हो, या अनाच्छादित वृक्ष का मूल हो। निवासस्थान (उपाश्रय) मे आग लग जाने पर भी वहाँ से हटेगा नही। कदाचित् कोई व्यक्ति बाहे आदि पकड कर खीचे तो उस की रक्षा के लिए वहा से निकल भी जायेगा। हाथ, पैर, मु ह, शरीर आदि का प्रासुक पानी से भी प्रक्षालन नही करेगा। अपवादवश कोई अन्य साधु उसके पैर आदि धो दे तो उसे क्षम्य समझेगा।

ये और इस प्रकार के अनेक अभिग्रहो व क्रियाओ से युक्त साधु का एक महीना पूरा होने पर साधुसमुदाय अभिनन्दन करता है। आचार्य आदि निकटवर्ती गाव मे आ कर प्रवृत्ति का अन्वेपण करते है। फिर वे राजा आदि को सूचित करते है कि मासिकभिक्षुप्रतिमा का पालन करके महातपस्वी साधु यहाँ आए है। इसके बाद राजा आदि समस्त प्रतिष्ठित लोगो द्वारा सत्कारित-सम्मानित हो कर वह वहाँ प्रवेश करता है। वहाँ उसका बहुत अभिनन्दन किया जाता है। इस प्रकार प्रथम भिक्षुप्रतिमा का स्वरूप है।

जो वज्रऋषभनाराच, नाराच और अर्धनाराच इन तीनो सहननो मे से किसी एक सहनन से युक्त हो, परिपहसहन करने मे दृढ सामर्थ्यवान् हो धृति — चित्तस्वस्थता से युक्त हो, महासत्त्व हो, अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गो मे हर्षविषाद न करता हो, सद्-भावनाओ से भावित अन्त करणवाला भावितात्मा हो, गुरु अथवा आचार्य के द्वारा उसे भलीभाति आज्ञा मिल गई हो, गच्छाचार्य द्वारा उसे अनुमति प्राप्त हो गई हो, साधुसमुदाय मे रहते हुए आहारादि के सम्बन्ध मे प्रतिमा के योग्य परिकर्म मे परि-निष्ठित हो गया हो वही इन्हे ग्रहण करने योग्य होता है। यानी मासिकी आदि सातो भिक्षुप्रतिमाओ का जो परिमाण बताया गया है, तदनुसार ही परिकम का परिमाण है। वर्षावास मे इन प्रतिमाओ को स्वीकार नहीं किया जाता और न ही इनका परिकर्म किया जाता है। प्रारम्भ की दो प्रतिमाओ का एकसाथ एक ही वर्ष मे, तीसरी-चौथी का भी एक-एक वर्ष मे, बाकी की तीन प्रतिमाओ का भी वर्ष मे इकट्ठा ही परिकर्म होता है।

प्रतिमासाधक को श्रुतज्ञान भी उत्कृष्टत दश पूर्वो से कुछ कम और जघन्यत प्रत्याख्यान नामक नौवे पूर्व की तीसरी आचारवस्तु तक का होना ही चाहिए। अन्यथा इतने श्रुतज्ञान से रहित मुनि काल आदि को सम्यक् नही जान सकेगा, फलत विराधना कर बैठेगा। वह अपने शरीर का ममत्त्व छोड कर देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यचकृत उपद्रव को सहन करने मे समर्थ हो, जिनकल्पी की तरह परिषह-सहन करने मे सक्षम हो। आहारैषणा, पानैषणा, वस्त्रैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा इन पाचो प्रकार से शास्त्रविधि के अनुसार एषणा-पिंडादि ग्रहण मे उसे भी पारगत होना चाहिए। इस प्रकार परिकर्म करने के बाद गच्छ से निकल कर यदि आचार्यादि से अनुज्ञा प्राप्त हुई हो तो कुछ समय के लिए अन्य साधुओ मे पदार्पण करके शरद्काल मे समस्त साधुओ को आमत्रण दे और उनसे क्षमा-याचना करके नि शल्य और निष्कपाय हो कर मासिकी प्रतिमा का स्वीकार करे। मासिकी भिक्षुप्रतिमा के दौरान वह कुछ नियमो को स्वीकार करे। जैसे मासिकी प्रतिमा मे भिक्षा भी दत्तिपूर्वक ग्रहण करे। यानी एक ही अन्न की, एक बार मे ही अखण्ड रूप मे, वह भी अज्ञात और उ छरूप अन्न की दत्ति हो। उसमे भी कृपणादि द्वारा भी फैक देने योग्य, एक ही स्वामी का, दानदाता का एक पैर देहली के अन्दर हो, दूसरा बाहर हो, उसके द्वारा दिये जाने वाले आहार-पानी का ग्रहण करे। यदि वह किसी जलाशय या किसी स्थल या दुर्ग आदि पर स्थित हो तो जहाँ सूर्य अस्त हो जाय, वहा से सूर्योदय तक जल या आग का उपद्रव होने पर भी एक कदम क्षेत्र आगे न बढे। प्रतिमास्वीकृत मुनि ग्राम आदि ज्ञात स्थल मे

एक अहोरात्रि से अधिक न ठहरे, अज्ञातस्थल मे अधिक से अधिक दो रात ठहर सकता है। दुष्ट व्याघ्र, सिंह, हाथी आदि हिंस्रपशुओ के डर से या मृत्यु के भय से वह एक कदम भी इधर-उधर आगे-पीछे नही खिसकेगा। इत्यादि नियमो का पालक मुनि शरीर पर ममत्व करके छाया से धूप मे या धूप से छाया मे गमन नही करेगा। वह एक महीने तक लगातार ग्रामानुग्राम विचरण करेगा। वह और भी बहुत-से नियमो का पालन करेगा जैसे—पैर मे काटा लग जाने पर या आँख मे रजकण, तिनका या मैल पड जाने पर वह निकालेगा नही। शयन और निवास के लिए तृणसस्तारक व उपाश्रय आदि की याचना भी वह दो वार से अधिक नही करेगा, प्रतिमा पूर्ण होने की अवधि तक किसी के पूछने पर या शास्त्रीय प्रश्न करने पर भी वह दो बार से अधिक नही वोलेगा। वह ऐसे स्थान मे ठहरेगा, जो आगन्तुकागार हो, यानी जहाँ कार्पटिक आदि आ कर रहते हो, अथवा दीवारें न होने से ऊपर से जो घर छाया हुआ न हो, या अनाच्छादित वृक्ष का मूल हो। निवासस्थान (उपाश्रय) मे आग लग जाने पर भी वहाँ से हटेगा नही। कदाचित् कोई व्यक्ति बाहे आदि पकड कर खीचे तो उस की रक्षा के लिए वहा से निकल भी जायेगा। हाथ, पैर, मुह, शरीर आदि का प्रासुक पानी से भी प्रक्षालन नही करेगा। अपवादवश कोई अन्य साधु उसके पैर आदि धो दे तो उसे क्षम्य समझेगा।

ये और इस प्रकार के अनेक अभिग्रहो व क्रियाओ से युक्त साधु का एक महीना पूरा होने पर साधुसमुदाय अभिनन्दन करता है। आचार्य आदि निकटवर्ती गाव मे आ कर प्रवृत्ति का अन्वेपण करते हैं। फिर वे राजा आदि को सूचित करते है कि मासिकभिक्षुप्रतिमा का पालन करके महातपस्वी साधु यहाँ आए है। इसके बाद राजा आदि समस्त प्रतिष्ठित लोगो द्वारा सत्कारित-सम्मानित हो कर वह वहाँ प्रवेश करता है। वहाँ उसका बहुत अभिनन्दन किया जाता है। इस प्रकार प्रथम भिक्षुप्रतिमा का स्वरूप है।

इसी क्रम से दूसरी से लेकर सातवी भिक्षुप्रतिमा तक का पालन किया जाता है। पहली से इनमे अन्तर इतना ही है कि पहली प्रतिमा मे एक दत्ति आहार-पानी ग्रहण करना होता है, जबकि दूसरी, तीसरी से ले कर सातवी तक क्रमश दो, तीन से ले कर सात दत्ति तक आहार-पानी लिया जाता है।

इसके वाद आठवी प्रथम सप्तरात्रिदिन की प्रतिमा मे चौविहार एकान्तर उपवास करना होता है, पारणे मे आयविल करना होता है, इसलिए इसमे दत्ति का नियम नही होता। इस प्रतिमा मे उत्तान या एक पार्श्व से शयन करना होता है। वैठना हो तो समआसन से वैठ सकता है। शरीर की चेष्टाओ से निवृत्त हो कर पूर्वोक्त स्थान निश्चित करके गाँव के वाहर ठहरना होता है। जहाँ देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यंचकृत ...र उपसर्गो को शरीर से अडोल और मन से अकम्पित हो कर सहन करता है।

नौवी द्वितीय सप्तरात्रिदिन की प्रतिमा मे भी सभी क्रियाए इसी के जैसी होती है। विशेष बात यही है कि इस प्रतिमा म उत्काटिकासन (ऊकडू आसन) से वैठना, लगुडासन से तथा दण्डायतासन से सोना होता है और दिन-रात देवादिकृत उपसर्गों को सहना पडता है।

दसवी तृतीय सप्तरात्रि दिन की प्रतिमा मे भी पूर्वोक्त बाते समझनी चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमे गोदुहासन से तथा वीरासन (सिंहासनतुल्य आसन) अथवा आम्रकुब्जासन से रहना पडता है। बाकी की क्रियाए पूववत् ही है।

इसके पश्चात ग्यारहवी प्रतिमा भी पूववत् एक अहोरात्रि की होती है। विशेपता केवल इतनी ही है कि इसे शुरू करने से पहले एकाशन, बीच म पष्ठभक्त यानी दो चौविहार उपवास (वेला) और पारणे के दिन भी एकाशन करना होता है। गाँव या नगर के बाहर जा कर खडे हो कर भुजाएं नीचे लटका कर एक अहोरात्र तक स्थित रहना होता होता है।

इसके अनन्तर वारहवी प्रतिमा ग्यारहवी अहोरत्र की प्रतिमा के समान एक रात्रि की होती है। इसमे चौविहार अप्टमभक्त (तेला) करके, एक रात्रि के लिए गाव के बाहर जा कर कायोत्सर्ग मे खडे होकर, थोडा-सा आगे को झुके हुए किसी एक निश्चित पुद्गल पर एकटक दृष्टि लगा कर, शरीर को अडोल करके, इन्द्रियो को निश्चेष्ट कर, दोनो पैरो को समेट कर और जिनमुद्रा की तरह वाहे लटका कर स्थिर रहना पडता है। इस प्रकार की वारहवी भिक्षुप्रतिमा का सम्यक्रूप से पालन करने पर या तो अवधिज्ञान प्राप्त होता है, या मन पर्यायज्ञान अथवा अभूतपूर्व केवलज्ञान उत्पन्न होता है। यदि इसकी विराधना हो जाय तो उन्माद (पागलपन) हो जाता है, या दीर्घकालिक रोगान्तक पैदा हो जाता है और केवलिप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

आयावएहिं—धूप मे खडे हो कर आतापना लेने वाले मुनियो ने भी अहिंसा का आचरण किया है। आतापना तीन प्रकार की होती है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। स्थिरादि आसन के द्वारा की जाने वाली आतापना जघन्य कहलाती है, उत्कटासन आदि आसन से की जाने वाली मध्यम और दण्डासन आदि से की जाने वाली आतापना उत्कृष्ट कहलाती है।

सुयधरविदितत्थकायबुद्धीहिं—इसका तात्पय यह है, जिन मुनियो को सूत्ररूप

---

१ इन प्रतिमाओ का विशेप वर्णन जानने के लिए दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि-वृत्ति, प्रवचनसारोद्धार, आवश्यकनिर्युक्ति तथा पचाशक आदि का अवलोकन करे।

—सपादक

से और अर्थरूप से शास्त्र कण्ठस्थ होते है, उन्हे श्रुतधर कहते है तथा जिनकी अर्थसमूह को जानने मे पारगत है, उन्हे विदितार्थकायबुद्धि कहते है। इन द कोटि के मुनिवरो को भी अपने ज्ञान की निर्मलता इस अहिंसा की आराधन। ही प्राप्त होती है।

धीरमतिबुद्धिणो 'बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया, मतिरागामिगोचरा' इसके अनुसार प्रश्न के साथ ही तत्काल जिसमे उत्तर की स्फुरणा होती है,उसे बुद्धि समझ चाहिए और भविष्य की बात को पहले से ताडने वाली ज्ञानशक्ति को मति जान चाहिए। इस दृष्टि से इस पद का अर्थ होता है—जिन साधुओ का मतिज्ञान (अवग्र, ईहा, अवाय और धारणारूप) स्थिर होता है, क्षोभरहित होता है, वे स्थितप्रज्ञ मुनि धीरमति है तथा जिनकी बुद्धि औत्पातिकी (तत्काल सूझ वाली) होती है, वे धीरबुद्धि कहलाते है। इन दोनो प्रकार के महामुनियो को श्रेष्ठमति और श्रेष्ठबुद्धि की उपलब्धि अहिंसा के आचरण से होती है।

आसीविसउग्गतेयकप्पा—इसका आशय यह है कि तपस्या के प्रभाव से मुनियो के वचन मे विषैले साप के समान इतनी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि वे क्रुद्ध हो कर जिसको शाप आदि देते है, उसके शरीर मे विषैले सर्प से डसे हुए के समान तत्काल विष फैल जाता है। अथवा भयकर जहरीले साप से डसा हुआ व्यक्ति भी जिनके अनुग्रह से विषमुक्त हो जाता है। इस लब्धि के धारक मुनि भी तप के साथ अहिंसा का आचरण करते है, तभी उन्हे ऐसी लब्धि प्राप्त होती है।

निच्छयववसायपज्जत्तकयमतीया छव्विहजगवच्छला निच्चमप्पमत्ता—ये सब विशेषण महाव्रती मुनिवरो के है, जो अहिंसा का पालन अप्रमत्त एव दत्तचित्त हो कर करते है। वे अहिंसा के किसी अग या रूप को छोड कर नही चलते। वे निश्चय और व्यवसाय-पुरुषार्थ दोनो मे समानरूप से कृतसकल्प होते है,सदा स्वाध्याय, ध्यान और साधना मे लीन रहते है, पाच महाव्रतरूप चारित्र से सम्पन्न होते है, समितियो मे प्रवृत्त रहते है,पापो से निवृत्त हो कर के ससार के समस्त प्राणियो के एकात हितैषी विश्ववत्सल हो कर सदा अप्रमत्त रहते है। इन और इस प्रकार के अन्य महामुनियो ने भी अहिंसा का निरन्तर पालन किया है और अपना आत्मकल्याण करने के साथ जगत् का भी कल्याण किया है तथा उच्च पद पर पहुचे है।

निष्कर्ष—अहिंसा के खास-खास आचरणकर्ताओ के जितने भी नाम गिनाये है, वे सब अपने अपने नियमो, तपस्याओ, प्रतिज्ञाओ, अभिग्रहो, व्रतो और शीलगुणो को पालन करते समय अहिंसा को केन्द्र मे रख कर चलते है। अहिंसापालन मे जरा-सी असावधानी मे उनके व्रत, नियम, तपश्चरण, प्रतिज्ञा और अभिग्रह खण्डित हो

जाते है और उन्हे जिन शक्तियो, लब्धियो, ऋद्धि-सिद्धियो, विभूतियो और वलो की उपलब्धि होनी चाहिए, वह भी नहीं हो सकती ।

अहिंसा के पूर्ण उपासको की भिक्षाविधि

पिछले सूत्रपाठ मे अहिंसा के विशिष्ट आचरणकर्ताओ की सूची दी गई है। अव आगे के सूत्रपाठ मे शास्त्रकार अहिंसा के पूर्ण उपासको की भिक्षाचर्या कैसी होनी चाहिए ? इसका निरूपण करते है—

मूलपाठ

इमं च पुढवि-अगणि-मारुय-तरुगण-तस-थावर सव्वभूयसयम-दयट्ठयाते सुद्ध उछ गवेसियव्व अकतमकारियमणाहूयमणुदिट्ठ अकीयकड, नवहि य कोडिहि सुपरिसुद्ध, दसहि य दोसेहि विप्प-मुक्क,उग्गमउप्पायणेसणासुद्ध,ववगयचुयचावियचत्तदेह च, फासुय च,न निसज्जकहापओयणक्खासुओवणीयंति,न तिगिच्छा-मत-मूल-भेसज्जकज्जहेउ , न लक्खणुप्पायसुमिणजाइसनिमित्तकहकप्पउत्त । नवि डभणाए,नवि रक्खणाते, नवि सासणाते,नवि दभण-रक्खण-सासणाते भिक्ख गवेसियव्व । नवि वदणाते,नवि माणणाते, नवि पूयणाते,नवि वदणमाणणपूयणाते भिक्ख गवेसियव्व । नवि हील-णाते, नवि निंदणाते, नवि गरहणाते, नवि हीलणनिंदणगरहणाते भिक्ख गवेसियव्व । नवि भेसणाते,नवि तज्जणाते, नवि तालणाते, नवि भेसणतज्जणतालणाते भिक्ख गवेसियव्व । नवि गारवेण,नवि कुहणयाते, नवि वणिमयाते, नवि गारवकुहणवणीमयाए भिक्ख गवेसियव्व । नवि मित्तयाए, नवि पत्थणाए, नवि सेवणाए, नवि मित्तपत्थणसेवणाते भिक्ख गवेसियव्व । अन्नाए, अगढिए, अदुट्ठे, अदीणे, अविमणे, अकलुणे, अविसाती, अपरितंतजोगी, जयण-घडणकरणचरियविणयगुणजोगसपउत्ते भिक्खू भिक्खासणाते निरते ।

इम च ण सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठाते पावयण भगवया

सुकहिय अत्तहिय पेच्चाभाविय आगमेसिभद्द सुद्ध नेयाउय अकुडिल अणुत्तर सव्वदुक्खपावाण विउसमणं ।। (सू० २२)

संस्कृतच्छाया

अय च पृथिव्युदकाग्निमारुततरुगणत्रसस्थावरसर्वभूतसयमदयार्थं शुद्ध उञ्छो गवेषयितव्यः, अकृतोऽकारितोऽनाहूतोऽनुद्दिष्टोऽक्रीतकृतो नवभिश्च कोटिभि सुपरिशुद्धो, दशभिर्दोषैर्विप्रमुक्त ,उद्गमोत्पादनैषणा शुद्धो, व्यपगतच्युतच्यावितत्यक्तदेहश्च प्रासुकश्च। न निषद्यकथाप्रयोजनाख्याश्रुतोपनीतमिति, न चिकित्सामन्त्रमूलभैषज्यकार्यहेतु , न लक्षणोत्पातस्वप्नज्योतिषनिमित्तककथाकुहकप्रयुक्त। नापि दम्भनया, नापि रक्षणया, नापि शासनया, नाऽपि दम्भनरक्षणशासनया भैक्ष गवेषयितव्यम् । नापि वन्दनया, नापि माननया, नापि पूजनया,नापि वन्दनमाननपूजनया भैक्ष गवेषयितव्यम्। नाऽपि हीलनया, नाऽपि निन्दनया, नापि गर्हणया, नापि हीलननिन्दनगर्हणया भैक्ष गवेषयितव्यम्।नापि भेषणया,नापि तर्जनया,नापि ताडनया,नापि भेषणतर्जनताडनया भैक्ष गवेषयितव्यम् । नापि गौरवेण, नापि कुधनतया (क्रोधनतया), नापि वनीपकतया , नापि गौरवकुधनना (क्रोधना)वनीपकतया भैक्ष गवेषयितव्यम् । नापि मित्रतया, नापि प्रार्थनया, नापि सेवनया,नापि मित्रत्वप्रार्थनसेवनया भैक्ष गवेषयितव्यम् । अज्ञातोऽग्रथितो (अगृद्धो) ऽद्विष्टो (अदुष्टो) ऽदीनोऽविमना, अकरुणोऽविषादी, अपरितान्तयोगी, यतनघटनकरणचरितविनयगुणयोगसम्प्रयुक्तो भिक्षुर्भिक्षैषणाया निरत ।

इद च सर्वजगज्जीवरक्षणदयार्थं प्रावचन भगवता सुकथितमात्महितम् प्रेत्यभाविकम्,आगमिष्यद्भद्रम्, शुद्धम्, नैयायिकम्,अकुटिलम्,अनुत्तरम्,सर्वदु खपापाना व्युपशमनम् ।।सू० २२।।

पदान्वयार्थ—(इम) यह, (अकतमकारियमणाहूयमणुदिट्ठ) साधु के लिए नहीं किया गया, दूसरो से नहीं बनवाया हुआ, गृहस्थ द्वारा निमन्त्रण दे कर या पुन· बुला कर नहीं दिया हुआ, साधु को लक्ष्य करके नहीं बनाया हुआ, (अकीयकड) साधु के निमित्त खरीद करके नहीं दिया हुआ, (य) और (नवहि कोडिहि सुपरिसुद्ध) नौ—तीन करण-कृतकारितअनुमोदनरूप और तीन योग—मनवचनकायारूप से प्रत्याख्यान के नौ भेदो—कोटियो से अच्छी तरह शुद्ध, (य) और (दसहि दोसेहि विप्पमुक्क) शकित आदि दस दोपो से सर्वथा रहित, (उग्गमउप्पायणेसणासुद्ध)

१६ उद्गम के, १६ उत्पादना के और दस एषणा के दोषो से रहित शुद्ध (ववगय-चुय-चाविय-चत्तदेह) दाता के द्वारा देय (दी जाने वाली) वस्तु स्वय ही अचित्त हो या दूसरे के द्वारा अचित्त की गई हो, अथवा दाता द्वारा देय द्रव्य से जन्तु पृथक् किए हो या कराये गए हो तथा जिस देय वस्तु से स्वयमेव जीव पृथक् हो गए हो, ऐसे (च) और (फासुय) प्रासुक अचित्त, (सुद्ध) भिक्षा के दोषो से रहित शुद्ध, (उछ) भिक्षान्न की (गवेसियव्व) गवेषणा—शोध करनी चाहिए। यानी ऐसा एषणाशुद्ध आहार ग्रहण करने योग्य है। किन्तु (निसज्जकहा—पओयणक्खा-सुओवणीयति) गृहस्थ के घर आसन पर बैठ कर धर्मकथा के प्रयोजनरूप आख्याओ—कहानियो के सुनाने से गृहस्थ द्वारा दिया गया अन्न (न) न हो। (तिगिच्छामत-मूलभेसज्जकज्जहेउ) चिकित्सा, मत्र, जडीबूटी, ओषध आदि के कार्य के हेतु (न) न हो, (लक्खणुप्पायसुमिण-जोइस-निमित्त-कहकुहकप्पउत्त) स्त्रीपुरुष आदि के शुभा-शुभसूचक लक्षण—चिह्न, उत्पात—भूकम्प, अतिवृष्टि, दुष्काल आदि प्रकृतिविकार, स्वप्न, ज्योतिष—ग्रहविचार, मुहूर्त, फलित आदि शुभाशुभनिमित्तसूचक शास्त्र, तथा विस्मय उत्पन्न करने वाले चामत्कारिक प्रयोग या जादू के प्रयोग के कारण दिया गया (न) न हो। (डभणाए वि) दम्भ से लिया हुआ भी (न) न हो, (रक्खणा-ए वि) दाता के पुत्र आदि को रखने या उसकी रक्षा करने के निमित्त से प्राप्त भी (न) न हो। (सासणाए वि) पुत्र आदि को शिक्षा देने या पढ़ाने के निमित्त से भी (न) न हो, (दभरक्खणसासणाए) दम्भ, रक्षा और शिक्षा इन तीनो निमित्तो से प्राप्त (भिक्ख) भिक्षा का (न वि गवेसियव्व) गवेषण—ग्रहण नहीं करना चाहिए। (वदणाते वि) गृहस्थ का अभिवादन या उसकी स्तुति करने से प्राप्त भी (न) नहीं, (माणणाते वि) गृहस्थ का सत्कार-सम्मान करके भी (न) नहीं, (पूयणाए वि) पूजा—सेवा करके भी (न) नहीं, (वदणमाणणपूयणाते वि) स्तुति-अभिवादन, सत्कारसम्मान और पूजा—सेवा करके भी (भिक्ख न गवेसियव्व) भिक्षा की गवेषणा नहीं करना चाहिये। (हीलणाते वि) जाति आदि की अपकीर्ति—बदनामी करके भी (न) नहीं, (निंदणाते वि) दाता के सामने उसकी निन्दा करके भी (न) नहीं, (गरहणाते वि) लोगो के सामने दाता के अवगुण प्रकट करके भी (न) नहीं, (हीलणनिंदणगरहणा-तेवि) हीलना, निन्दा और गर्हणा—भर्त्सना करके भी, (भिक्ख न गवेसियव्व) भिक्षा की गवेषणा नहीं करनी चाहिये। (भेसणाते वि) दाता को डरा कर—भय दिखा कर

भी (न) नहीं, (तज्जणाते वि) डाटडपट कर या धमकी दे कर भी (न, नहीं (ताडणाते वि) थप्पड, मुक्के, लाठी आदि से पीट कर भी (न) नहीं, (भेसणतज्जणतालणाते वि) भय दिखा कर, तर्जन और ताडन करके भी (भिक्ख न गवेसियव्व) भिक्षा की गवेषणा न करनी चाहिए। (गारवेण वि) ऋद्धि, रस और साता के गौरव-अभिमान से भी (न) नही, (कुहणयाए वि) दरिद्रता प्रकट करके या मायाचार करके भी अथवा क्रोध प्रगट करके भी (न) नही, (वणीमयाते वि) भिखारी या याचक की तरह दीनता प्रकट करके भी (न) नही, (गारवकुहणवणीमयाए वि) गौरव-घमड, दारिद्रच या दम्भाचार और दीनता इन तीनो को दिखा कर भी (भिक्ख न गवेसियव्व) भिक्षा की गवेषणा नहीं करनी चाहिये, (मित्तयाएवि) मित्रता द्वारा भी (न) नहीं, (पत्थणाएवि) प्रार्थना—अनुनयविनय करके भी (न) नहीं, (सेवणाएवि) सेवा करके भी (न) नहीं (मित्तपत्थणसेवणयाएवि) मित्रता, प्रार्थना और सेवा इन तीनो द्वारा भी, (भिक्ख न गवेसियव्व) भिक्षा की गवेषणा नही करनी चाहिए। (अन्नाए) स्वजनादि सम्बन्धो का परिचय न दे करके अज्ञात रूप से, (अगढिए) सम्बन्ध ज्ञात हो जाने पर भी आहारादि मे अप्रतिबद्ध या मूर्च्छारहित, (अदुट्ठे) आहार या दाता पर द्वेषभाव से या दुष्टभाव से रहित, (अदीणे) दैन्य-क्षोभ से रहित, (अविमणे) भोजनादि न पाने पर मन मे अविकृत—या ग्लानिरहित, (अकलुणे) अपने मे हीन-भाव ला कर दयनीयता से रहित, (अविसाती) विषादयुक्त वचन से मुक्त, (अपरितत-जोगी) निरन्तर मन, वचन और काया को शुभ अनुष्ठान मे लगाता हुआ, (जयण-धडण-करण-चरिय-विणयगुणजोगसपउत्ते) यत्न—प्राप्त सयमयोग मे उद्यम, अप्राप्त योगो की प्राप्ति के लिए चेष्टा, विनय के आचरण और क्षमादि गुणो के योग से युक्त (भिक्खू) भिक्षाजीवी साधु (भिक्खेसणाते) भिक्षा की शुद्ध एषणा मे (निरते) निरत-तत्पर हो।

(इम च ण) और यह शुद्ध भिक्षा आदि गुणो के प्रतिपादनरूप पूर्वोक्त (पावयण) प्रवचन—सत्यसिद्धान्त (भगवया) श्रमण भगवान् महावीर ने (सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठाते) सारे जगत् के जीवो की रक्षारूप दया के लिए (सुकहिय) भलीभाति कहा है, जो (अत्तहिय) आत्मा के लिए हितकर हे, (पेच्चाभाविय) जन्मान्तर—दूसरे जन्मो में शुद्ध फल के रूप में परिणत होने से भाविक ह, (आगमेसिभद्द) आगामीकाल में कल्याणकारी ह, (सुद्ध) निर्दोष है, (नेयाउय) न्याययुक्त है, (अकुडिल) मोक्ष के लिए सरल है, (अनुत्तर) सबसे उत्कृष्ट हे, (सव्वदुक्खपावाण विउसमण) समस्त दु खो और पापो का उपशम करने वाला है।

मूलार्थ—जो आहार साधु के लिए नही बनाया गया हो, दूसरो से बनवाया हुआ न हो, गृहस्थ द्वारा पहले निमत्रण दे कर फिर बुला कर दिया हुआ न हो, साधु को लक्ष्य करके बनाया हुआ न हो, साधु के निमित्त खरीद कर लाया हुआ न हो, तथा तीन करण और तीन योग से प्रत्याख्यान की नौ कोटियो से अच्छी तरह शुद्ध हो, शकित आदि १० दोषो से रहित हो, उद्गम, उत्पादना और एषणा के दोपो से रहित हो, तथा दाता द्वारा देय वस्तु स्वय अचित्त हो गई हो, या दूसरे से अचित्त कराई गई हो, या आगामी उत्पन्न होने वाले कृमियो से रहित हो, दाता ने देय वस्तु के जन्तु स्वय पृथक् किये हो, दाता ने देय वस्तु के जीव दूसरो से पृथक् कराये हो, तथा जिस देय वस्तु के जीव स्वयमेव पृथक् हो, ऐसा प्रासुक—अचित्त भिक्षा के दोपो से रहित सर्वथा शुद्ध भिक्षान्न ही गवेपणा—ग्रहण करने योग्य है। किन्तु गृहस्थ के घर मे भिक्षा के समय आसन पर बैठ कर धर्मकथा के प्रयोजनरूप किस्से—कहानियाँ सुनाने से प्राप्त भिक्षा ग्रहण करने योग्य नही है। इसी प्रकार चिकित्सा, मन्त्रप्रयोग, जडीबूटी, औषधि आदि बता कर उसके निमित्त से प्राप्त भिक्षा भी ग्राह्य नही है। स्त्री-पुरुप आदि के शुभाशुभसूचक लक्षण, हस्तरेखा, भूकम्प आदि उत्पात, स्वप्नफल, ज्योतिपविद्या, शुभाशुभ-सूचक निमित्तशास्त्र तथा कथा पुराणादि से या विस्मय पैदा करने वाले जादू आदि के प्रयोग से प्राप्त भिक्षा भी ग्रहण करने योग्य नही है। दम्भ से प्राप्त भिक्षा भी न हो, दाता के पुत्र या पशु आदि की रखवाली करने से प्राप्त भी न हो, शिक्षा देने के निमित्त से भी प्राप्त होने वाला भिक्षान्न न हो, तथा दम्भ से, रक्षा से और शिक्षा से इन तीनो से प्राप्त भिक्षा की भी गवेपणा नही करनी चाहिए। गृहस्थ को वन्दना या स्तुति करके भी भिक्षा न ले, सत्कार-सम्मान करके भी भिक्षा न ले, एव उसकी पूजा—सेवा करके भी भिक्षा न ले, तथा गृहस्थ की स्तुति, सत्कार और पूजा इन तीनो से उपलब्ध भिक्षा भी ग्रहण नही करनी चाहिये। जाति आदि की बदनामी करके भी भिक्षा न ले, दाता की निन्दा करके भी आहार न ले, लोगो के सामने दाता के अवगुण प्रगट करके भी आहार न ले, तथा दाता की होलना, निन्दा और गर्हा इन तीनो को एक साथ करके भी भिक्षा ग्रहण नही करनी चाहिए। दाता को डरा कर भिक्षा लेना ठीक नही, न उसे धमका कर या डाट कर भिक्षा लेना उचित है, और न ही उसे मारपीट करके भिक्षा मागना उचित है। भयभीत, डाटडपट

और मारपीट तीनो एक साथ करके भी भिक्षा नही मागना चाहिये । अपनी ऋद्धि आदि का गौरव—घमड बता कर भिक्षा लेना ठीक नही, न दरिद्रता प्रगट करके या धूर्तता करके भिक्षा मागना उचित है और न ही याचक या भिखारी की तरह दीनता प्रगट करके भिक्षा लेना अच्छा है, तथा घमड, दरिद्रता या धूर्तता और भिखारी तरह चापलूसी करके भी भिक्षा न मागना चाहिए । अपनी मैत्री बता कर भी भिक्षा लेना ठीक नही, न किसी से प्रार्थना करके भिक्षा ग्रहण करना उचित है,और न ही गृहस्थकी सेवा - पगचपी आदि करके ही भिक्षा लेना ठीक है तथा मित्रताप्रदर्शन, प्रार्थना और सेवा तीनो एक साथ करके भी भिक्षा ग्रहण नही करनी चाहिये । किन्तु स्वजनादि सम्बन्धो का, अपना परिचय न देते हुए अज्ञातरूप हो कर,सम्बन्ध ज्ञात हो जाने पर भी अप्रतिबद्ध—लाग लपेट से रहित या मूर्च्छारहित, आहार या दाता के प्रति द्वेपभाव या दुष्ट भाव से रहित, दैन्यरहित, भोजनादि न मिलने पर मन मे भी विकारभाव से रहित, अकरुण, विपादरहित तथा प्राप्त सयम योग मे प्रयत्न से और अप्राप्त योगो को प्राप्ति के लिए चेष्टा से, विनय के आचरण से एव क्षमादि गुणो के योग से युक्त होकर भिक्षु भिक्षाचर्या की शुद्ध एपणा मे रत रहे ।

यह प्रवचन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सारे जगत् के जीवो की रक्षारूप दया के लिए भलीभाति कहा है , जो आत्मा के लिए हितकर है, जन्मान्तर मे शुद्ध फलदायक है, भविष्य मे कल्याणकारी है, निर्दोप है, न्याययुक्त है, मोक्ष के लिए सरल है, सबसे उत्कृष्ट है और सभी दु खो और पापो को उपशान्त करने वाला है ।

व्याख्या

अहिंसा के विशिष्ट आचरणकर्ताओ का पिछले सूत्रपाठ मे उल्लेख करने के वाद शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ मे अहिंसा की उच्च साधना करने वाले मुनियो की भिक्षाविधि का स्पष्ट निरूपण किया है । यद्यपि सूत्रपाठ का अर्थ मूलार्थ एव पदान्वयार्थ से बहुत कुछ स्पप्ट है, तथापि कई शब्दो पर विवेचन करना आवश्यक है । इसलिए नीचे उन पर विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

अहिंसा के वर्णन के साथ भिक्षाचर्या की विध का निर्देश क्यो ?—इस सूत्रपाठ को देख कर सवप्रथम ये प्रश्न उठते है कि अहिंसा के वर्णन के साथ भिक्षाविधि के निर्देश का क्या मेल है ? क्या भिक्षाविधि के विना अहिंसा का पालन नहीं

हो सकता ? क्या अहिंसा के आचरण के लिए अमुक प्रकार की भिक्षाविधि अनिवार्य है ? इन सव प्रश्नो का समाधान यह है कि अहिंसा की पूर्णता मन-वचन-काया से कृत,कारित और अनुमोदन रूप हिंसा का सर्वथा त्याग करने और इन्ही नौ कोटियो से शुद्ध अहिंसा का पालन करने मे है। इस प्रकार की पूर्ण अहिंसा का पालन घर वार व कुटुम्वकवीलो का ममत्व छोड कर, पचन-पाचन, क्रयविक्रय, घर, मकान या सामान का परिग्रह (ममत्व) छोड कर, पचमहाव्रतधारी साधु या साध्वी वने विना नही हो सकता। अगर अहिंसा का पूर्ण उपासक घर मे ही रहेगा, गृहस्थ वना रह कर ही अपने परिवार, जाति, जमीनजायदाद आदि से लगाव रखेगा तो उसे पचन-पाचन, क्रयविक्रय या आजीविका के लिए आरम्भसमारम्भपूर्ण श्रम, मकानादि वनाने के लिए आरम्भसमारम्भ आदि करना पडेगा या इन कार्यों को कराना पडेगा। और भोजन वनाने, कृपि करने, या जीविकार्थ अन्य आरम्भपूर्ण श्रम करने मे हिंसा होना अनिवार्य है। हालाकि वह हिंसा सकल्पजा नही होती,आरम्भजा ही होती है,मगर आरम्भजा हिंसा भी तो हिंसा ही है। वह अणुव्रती गृहस्थ श्रावक के लिए तो सर्वथा वर्ज्य नही है। उस (श्रावक) अवस्था मे भी मर्यादित अहिंसा का तो पालन किया जा सकता है , लेकिन गृहस्थ जीवन मे कतिपय अनिवार्य हिंसाओ के रहते पूर्ण अहिंसा पालने का दावा नही किया जा सकता। यही कारण है कि अहिंसा का सागोपाग पूर्णरूप से पालन करने के लिए महाव्रत-धारण करना आवश्यक है। महाव्रतो मे सर्वप्रथम अहिंसामहाव्रत आता है। महाव्रत धारण कर के मुनि वन जाने के वाद भी जीवननिर्वाह की समस्या तो उसके सामने भी रहती है। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओ को तो वह भी नही ठुकरा सकता। जीवननिर्वाह के लिए सर्वप्रथम भोजन आवश्यक है। भोजन के विना शरीर टिक नही सकता। और धर्म पालन करने के लिए शरीर को टिकाना आवश्यक है। भोजन के अलावा भी साधु को अपनी जीवनयात्रा के लिए वस्त्र, पात्र, ग्रन्थ-शास्त्र आदि की आवश्यकना रहती है। इन सव मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पूर्ण अहिंसक वना हुआ महाव्रती अपरिग्रही साधु न तो कोई चीज खरीद सकता है, न खरीदवा सकता है और न ही जमीनजायदाद आदि रख कर या धधा अथवा नौकरी करके वदले मे भोजनादि पाने का आरम्भजन्य श्रम कर सकता है। इसी प्रकार भोजनादि पाने के लिए वह खेती भी कर या करवा नही सकता है और न स्वय भोजन पका सकता है, न अपने लिए पकाने का कह सकता है और न पकाने वाले का समर्थन ही कर सकता है।

ऐसी हालत मे अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए गृहस्थो के यहाँ से भिक्षा के रूप मे थोडा-थोडा भोजनवस्त्रादि ग्रहण करने के सिवाय साधुवर्ग के सामने और कोई रास्ता नही रह जाता। भिक्षु वन जाने पर उसे भिक्षा का

अधिकार भी मिल जाता है। इसी उद्देश्य को ले कर महाव्रती पूर्ण अहिंसक साधु के लिए भिक्षाचर्या का अनिवार्य विधान किया गया है। इसी कारण अहिंसा का पूर्णरूप से पालन करने के हेतु भिक्षाजीविता अनिवार्य है। क्योकि तभी वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के हेतु होने वाली पूर्वोक्त आरम्भजन्य हिंसा से वच सकता है, अपने शरीर को भी टिकाए सकता है तथा उससे धर्मपालन भी कर सकता है।

जव साधु के लिए भिक्षाचरी अनिवार्य है, तव उसे यह भी देखना आवश्यक होगा कि हिंसा के जिन (पूर्वोक्त) दोषो से बचने के लिए उसने भिक्षावृत्ति स्वीकार की है, वे ही दोप भिक्षाचरी मे पुन न आ धमकें। अन्यथा, निकालने गए बिल्ली को, घुस गया ऊट वाली कहावत चरितार्थ होगी। जिस आरम्भजन्य हिंसा के डर से भिक्षावृत्ति का सहारा लिया, उसमे और अधिक आरम्भजन्य हिंसा होने लगेगी। क्योकि गृहस्थजीवन मे रहते हुए तो एक ही घर से सीमितमात्रा मे आरम्भजन्य हिंसा से काम चल जाता, परन्तु साधु तो विश्वकुटुम्बी वन जाता है और उसके प्रति लोकश्रद्धा भी उमडने लगती है। साधु अपनी भिक्षाचरी मे अगर पूर्वोक्त आरम्भजन्य हिंसा से बचने का ध्यान नही रखेगा तो साधु कहे, चाहे न कहे, उसे जरूरत हो, चाहे न हो, अपनी श्रद्धाभक्तिवश कई श्रद्धालु गृहस्थ अपने-अपने घरो मे उसके लिए स्वादिष्ट और बढिया भोजन तैयार करने लगेगे, उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वे आरम्भजन्य हिंसा की परवाह नही करेगे। फिर कई श्रद्धालु या भावुक गृहस्थो को चमत्कार वता कर यत्र, मत्र, तत्र, ज्योतिप आदि के सहारे गृहस्थो का सासारिक कार्य करके या दुनियादारी के चक्कर मे फस कर साधुवर्ग उनसे अपनी मनचाही आवश्यकताओ की पूर्ति करने लगेगा। ऐसी दशा मे गृहस्थजीवन मे होने वाले आरम्भ से भी कई गुना अधिक आरम्भ साधु की भिक्षाचरी के साथ वढ जायगा।

इसी दूरगामी परिणाम को दृष्टिगत रख कर शास्त्रकार ने अहिंसा के निरूपण के साथ भिक्षाचरी की विधि और भिक्षाचरी मे होने वाले दोषो से वचने का निर्देश किया है, जो समुचित जान पडता है, जिससे कि पूर्ण अहिंसामहाव्रती साधु भिक्षाचरी मे सभावित उक्त हिंसाजनक दोपो से वच सके और अहिंसा का पूर्णत पालन करने मे सफल हो सकें।

इन सव कारणो से अहिंसा के निरूपण के साथ शास्त्रकार ने भिक्षाविधि के विपय मे अगुलिनिर्देश किया है—'**इम च पुढविदगअगणिमारुयतरुगणतसथावरसव्वभूयसजमदयट्ठाते सुद्ध उछ गवेसियव्व।**' इसका आशय यह है कि साधु पृथ्वीकाय आदि पाच स्थावरो और द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीवो—यानी छही काय के जीवो की हिंसा का नवकोटि (तीन करण और तीन योग) से त्याग करते है। वे विश्व के प्राणिमात्र के रक्षक

साधु मन-वचन-काया से न तो किसी जीव को स्वय पीडा पहुचाते है, न किसी जीव को पीडा पहुचाने की दूसरो को प्रेरणा करते है,और न ही किसी जीव को पीडा पहुचाने की अनुमोदना करते है। इसलिए शास्त्रकार कहते है कि द्रव्य और भाव से अहिंसा का पूर्णरूप से पालन करने की दृष्टि से साधुओ को आहार-पानी या धर्मपालन के लिए शरीर-धारणार्थ अन्य उपयोगी वस्तु शुद्धरूप से भिक्षाविधि के अनुसार ग्रहण करना चाहिए। उन्हे यह अन्वेपणा-गवेपणा करनी चाहिए कि भिक्षा के रूप मे प्राप्त होने वाली इन चीजो के पीछे कही हमारे निमित्त से किसी प्रकार की हिसा तो नही हुई है ? क्योकि गृहस्थ लोगो द्वारा श्रद्धाभक्तिवश साधु को भोजनादि द्रव्य देने के हेतु पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीवो की विराधना सभव है, कही द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीवो को भी पीडा पहुचनी सभव है। इसलिए साधु गवेपणा करके निर्दोप भिक्षा ही ग्रहण करे।

निर्दोप भिक्षा कैसी होती है ?, इसके लिए शास्त्रकार स्वय कहते है— ' **मकारियमणाहूयमणुद्दिट्ठ अकीयकड नवहि य कोडिहि सुपरिसुद्ध ।**' इसका आशय यह है कि भिक्षाप्राप्त भोजनादि पदार्थ भिक्षु ने स्वय न वनाया हो, न साधु के द्वारा दूसरो को प्रेरणा दे कर वनवाया हो, न वह पदार्थ साधु को पहले आमत्रण दे कर तैयार किया गया हो, और न ही किसी साधु को लक्ष्य करके वनाया गया हो। इसी प्रकार वह भोजनादि पदार्थ साधु के लिए ही खरीद कर तैयार किया हुआ भी न हो। साराश यह है कि जो भोजनादि पदार्थ साधु को भिक्षा के रूप मे ग्रहण करना है, वह निम्नोक्त नवकोटि से विशुद्ध होना चाहिए—१ साधु न स्वय जीव का घात करते हैं, २ न दूसरो से घात करवाते है, और ३ न घात करने वाले का अनुमोदन करते है , ४ वे न स्वय पकाते है, ५ न दूसरो से पकवाते है, और ६ न पकाने वाले की अनुमोदना करते है, ७ वे न स्वय खरीदते हैं, ८ न दूसरो से खरीद-वाते है, और ९ न ही खरीदने वाले की अनुमोदना करते है। क्योकि वे मन,वचन और काया से कृत, कारित और अनुमोदन के रूप मे हिंसा के त्यागी होते है। भिक्षा के रूप मे प्राप्त वह पदार्थ उपर्युक्त नौ कोटियो मे से किसी भी कोटि द्वारा दूपित न हो, तभी नवकोटिपरिशुद्ध आहार कहलाता है। इस तरह से नवकोटिपरिशुद्ध भिक्षा प्राप्त पदार्थ ग्रहण करने का ध्यान नही रखा जायगा तो साधु हिंसा के दोप से वच नही सकेगा, न पूर्ण अहिंसापालन का दावा कर सकेगा।

भिक्षा के समय लगने वाले १० एषणा के दोष—भिक्षा लेते समय निम्नोक्त दस एपणा के दोपो के लगने की सभावना है। इसके लिए यह गाथा प्रस्तुत है—

'सकियमक्खियनिक्खित्तपिहिय-साहरियदायगुम्मोसे ।
अपरिणयलित्तछड्डिय-एसणदोसा दस हवंति ॥'

अर्थात्—'१ शकित, २ म्रक्षित, ३ निक्षिप्त, ४ पिहित, ५ सहृत, ६ दायकदुष्ट, ७ उन्मिश्र, ८ अपरिणत, ६ लिप्त और १० छर्दित (त्यक्त), ये दस एपणा के दोप है।'

शकित दोप वहाँ होता है, जहाँ दाल, चावल आदि अशन, दूध आदि पान, मोदक आदि खादिम और इलायची, सुपारी आदि स्वादिम, इन चारो प्रकार के आहारो मे से दाता द्वारा दिये जाने वाले किसी भी भोज्य पदार्थ मे शका हो जाय कि आगमानुसार यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है या नही ? और ऐसा सदेह हो जाने पर भी उस वस्तु को ग्रहण कर लिया जाय।

जल आदि सचित्त पदार्थों से म्रक्षित—स्निग्ध हाथ, वर्तन या कडछी आदि द्वारा आहारादि ले लेना म्रक्षित दोप है।

सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि, हरितकाय, बीज या द्वीन्द्रियादि त्रस जीवो पर रखा हुआ आहारादि ग्रहण कर लेना निक्षिप्त दोप है।

सचित्त जल या हरे पत्ते आदि वनस्पति से ढका हुआ आहारादि पदार्थ ग्रहण कर लेना पिहित दोप है।

दाता द्वारा बिना देखे-भाले शीघ्रता से वर्तन आदि उघाड कर दिया हुआ आहार आदि ले लेना सहृत दोप है।

दाता यदि अत्यन्त नन्हा वालक हो, अत्यन्त अशक्त या वृद्ध हो, जिसके हाथ-पैर काँप रहे हो, भोजन करते-करते वीच मे ही कच्चे पानी से हाथ धो कर देने को उद्यत हो, आसन्न प्रसवा गर्भवती हो, अन्धा या अन्धी हो, ऊँचे विपम स्थान पर बैठी हो, मुह से फूक मार कर आग सुलगा रही हो, लकडियाँ डाल कर आग जला रही हो, लकडी जलाने के लिए चूल्हे मे सरका रही हो, राख से आग को ढक रही हो, जल आदि से आग बुझा रही हो, या अन्य कोई अग्नि से सम्बन्धित कार्य कर रही हो, स्नान कर रही हो, या सचित्त वस्तु से सम्बन्धित कोई भी कार्य कर रही हो, तो उस दात्री या ऐसे दाता के द्वारा दिया हुआ आहारादि पदार्थ ले लेना दायकदोप कहलाता है। सचित्त जल, पत्ते, फल, फूल आदि हरितकाय, गेहू, चने आदि बीज तथा द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव इन पाचो मे से किसी भी किस्म के जीवो से मिश्रित आहार दाता से ले लेना उन्मिश्र दोप है।

तिल, चावल आदि के धोवन का जल, उष्णजल, चने, तुप आदि का धोया हुआ जल, हरडे आदि के चूर्ण से मिश्रित जल या और भी किसी चीज का जल, जो अच्छी तरह वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श से परिणत न हुआ हो, उस अप्रासुक जल को ग्रहण करने से अपरिणत दोप लगता है। गेरू, हडताल, खडिया, मैंनसिल, विना छडे चावल और पत्ते आदि के हरे शाक से लिप्त हाथ या वर्तन या सचित्त जल से भीगे हुए हाथ या वतन द्वारा आहारादि देने पर लेने से लिप्त दोप लगता है।

दाता के हाथ से जमीन पर नीचे टपकती हुई या गिरती हुई भोजनादि वस्तु को लेना छर्दित दोप है।

ये दस एपणा के दोप है, इनसे भिक्षाजीवी साधु को वचना चाहिए। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—'**दसहि य दोसेहिं विप्पमुक्के उग्गम-उप्पायणेसणासुद्ध**'—इसका आशय यह है कि साधु के द्वारा भिक्षा के रूप मे लिया जाने वाला आहारादि पदार्थ एपणा के दस दोपो से मुक्त होना चाहिए। इस प्रकार उद्‌गम के सोलह और उत्पादना के सोलह, इन वत्तीस दोपो से भी रहित शुद्ध होना चाहिए, तभी वह साधु अहिंसा का शुद्ध आचरण कर सकेगा। अव क्रमश हम इन ३२ दोपो के नाम और सक्षेप मे उनका लक्षण वताए गे।

उद्‌गमदोष और उनका स्वरूप—इनका उद्‌गम नाम इसलिए रखा गया है कि आहार की उत्पत्ति के समय गृहस्थ दाता द्वारा ये दोप सेवन किये जाते हैं, साधु विना गवेपणा—छान वीन किए ही अगर आहार ले लेता है तो उसे ये दोप लगते है और उसकी वह भिक्षा अशुद्ध हो जाती है।

१६ उद्‌गमदोपो को वताने के लिए निम्नोक्त गाथाएँ प्रस्तुत है—

आहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयरकीयप्पामिच्चे ॥१॥
परियट्टिए अभिहडेऽब्भिन्ने मालाहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसट्ठे अज्झोयरए सोलस पिंडुग्गमे दोसा ॥२॥

अर्थात्—१ आधाकर्मिक, २ औद्देशिक, ३ पूतिकर्म, ४ मिश्रजात, ५ स्थापना, ६ प्राभृतिक, ७ प्रादुष्करण, ८ क्रीत, ९ प्रामित्य, १० परिवर्तित, ११ अभिहृत, १२ उद्‌भिन्न, १३ मालाहृत, १४ आच्छिद्य, १५ अनिसृष्ट और १६ अध्यवपूरक, ये १६ उद्‌गमदोप है, जो पिंड -आहार की उत्पत्ति से सम्वद्ध है और दाता से होते हैं।

आधाकर्मिक—साधु के निमित्त गृहस्थ द्वारा मन मे आधान—धारणा वना लेना कि आज मुझे अमुक साधु के लिए भोजनादि वनाना है, इस प्रकार मन मे तय कर लेना और फिर तदनुसार क्रिया करना, आधा कर्म है और आधाकर्मनिष्पन्न उक्त आहार को ग्रहण कर लेना आधाकर्मिक दोप कहलाता हैं। इसे अध कर्म भी कहते है, उसका अर्थ होता है—सयम से अध पतन कराने वाला आहारग्रहणदोप।

औद्देशिक—गृहस्थ द्वारा अपने लिए वनाए हुए आहार आदि के साथ पहले या वाद मे साधुओ के उद्देश्य से अधिक तैयार किये गए आहारादि ग्रहण करना औद्देशिक दोप है। औद्देशिक दोप दो प्रकार से होता है—ओघरूप से और विभाग-रूप से। वहुत से भिक्षाजीवियो को देख कर 'भिक्षाचर तो वहुत हैं, कितनो को देगे,—इस प्रकार मन मे सोच कर जिस वर्तन मे चावल पक रहे हो, उसमे अपने और दूसरे के उचित अश का विभाग किए विना ही कुछ अधिक चावल डाल देना और साधु द्वारा

उसमे से कुछ ले लेना, ओघरूप से—सामान्यरूप से औद्देशिक है। किन्तु जहा अपने लिए इतना, साधु, बाबा, परिव्राजक या तापस के लिए इतना, इस प्रकार ठीक विभाग करके गृहस्थ द्वारा बनाया गया भोजन विभागरूप से औद्देशिक है। बाबाओ के लिए, भिखारियो या कगलो के लिए उनके नाम से अलग निकाल कर किया गया भोजन भी औद्देशिक कहलाता है। सक्षेप मे औद्देशिक के ४ भेद है—उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश। जितने भी भिक्षाचर है, उन सबको उद्देश्य करके गृहस्थ द्वारा बनाया गया भोजन उद्देश है, केवल अन्य वेप धारी बाबाओ को उद्देश्य करके बनाया गया भोजन समुद्देश है, जो भोजन बौद्ध भिक्षुओ, तापसो या परिव्राजको के लिए सोच कर बनाया गया हो, वह आदेश है और जो केवल उच्च कोटि के निर्ग्रन्थ साधुओ को देने का सकल्प करके बनाया गया हो, वह आहार समादेश है। ये चार औद्देशिक दोप हैं।

पूतिकर्म—उद्गमादि दोषो से रहित अपने आप मे शुद्ध आहारादि मे अशुद्ध आधाकर्मादिदोपयुक्त आहारादि मिला कर गृहस्थ द्वारा साधु को देने पर वह आहार ले लेना पूतिकर्मदोप है।

मिश्रजात—अपने परिवार और साधु दोनो के लिए एक बर्तन मे ही मिला कर बनाना और वह साधु को देना मिश्रजात दोप है। १—जितने भी याचक हैं, उनके लिए, २—पाखडियो के लिए, ३—साधुओ के लिए, इस प्रकार क्रमश यावदर्थिक-मिश्र, पाखडिमिश्र और साधुमिश्र के रूप मे यह दोप भी तीन प्रकार का है।

स्थापना—'साधु को देने से पहले दूसरे को नही दूगा', इस अभिप्राय से गृहस्थ द्वारा अपने यहा बना हुआ भोजन अलग ही स्थापित करके रख देना स्थापनादोप है। ऐसी स्थापना दो तरह से होती है—१-अपने स्थान पर चूल्हे या पतीली मे स्थापित करना और दूसरे के स्थान पर अच्छे वर्तन आदि मे स्थापित करना। यह द्विविध स्थापना दोप भी चिरकालिकी और इत्वरकालिकी के भेद से दो प्रकार का है।

प्राभृतकदोष—साधुओ को गाव मे आये जान कर मेहमान को आगे-पीछे करके दिए जाने वाले आहारादि के ग्रहण से प्राभृतकदोप होता है। यह दोप भी उत्कर्पण और अपकर्पण के भेद से दो प्रकार का है। जहाँ लग्न, उत्सव या पाहुने के आगमन का दिन साधु के आने पर आगे बढा दिया जाय, वहाँ उत्कर्पणप्राभृतक है और जहा इनका दिन घटा दिया जाय यानी साधु के आने से पहले ही पूर्वोक्त उत्सवादि का दिन पहले की किसी तिथि को निश्चित कर लिया जाय, वहा अपकर्पण प्राभृतकदोप है।

प्रादुष्करण—अधेरी जगह मे उजाला करके गृहस्थ द्वारा दिये जाने वाले आहार आदि के लेने मे प्रादुष्करण दोप लगता है। यह भी दो तरह का है—सक्रमण और प्रकाशन। साधु के घर पर आने पर गृहिणी द्वारा भोजन या वर्तन आदि

अधेरे से उजाले मे लाना सकमण दोप है, जबकि साधु के आते ही दीपक सजो कर प्रकाश करना प्रकाशनदोप है।

क्रीतदोष—गृहस्थ द्वारा साधु के लिए खरीदे गए वस्त्र, पात्र, भोजन आदि लेने से क्रीत दोप लगता है। क्रीत दोप के भी चार भेद है— आत्मद्रव्यक्रीत, परद्रव्यक्रीत, आत्मभावक्रीत और परभावक्रीत। भिक्षा के लिए सयमी के प्रवेश करने पर गाय आदि देकर वदले मे लिया भोजन साधु को देना स्वद्रव्यकीत दोप है, दूसरो को साधु की महिमा वताकर उससे आहारादि कोई वस्तु खरीदवा कर साधु को देना परद्रव्यक्रीतदोप है। इसी तरह प्रज्ञप्ति आदि विद्या और चेटकादि मत्रो के वदले मे आहार स्वय खरीद कर साधु को देना आत्मभावक्रीतदोप है, और उपर्युक्त विद्या और मत्रो के वदले मे दूसरो से आहारादि खरीदवा कर साधु को देना परभावक्रीतदोप है।

प्रामित्यदोष—साधु के लिए कोई वस्तु उधार ले कर गहस्थ द्वारा देने से साधु को प्रामित्य दोष लगता है। इसके भी दो भेद हैं—सवृद्धिक और अवृद्धिक। कर्ज से अधिक देना सवृद्धिक है और जितना कर्ज लिया, उतना ही देना अवृद्धिक है।

परिवर्तितदोप—एक गृहस्थ से दूसरे गृहस्थ ने साधु के लिए एक वस्तु के वदले भोजनादि दूसरी वस्तु ली हो, उस वस्तु के लेने मे साधु को परिवर्तितदोप लगता है।

अभ्याहृतदोप—साधु के लिए गृहस्थ द्वारा सम्मुख लाए हुए आहारादि के लेने से साधु को अभ्याहृत दोप लगता है। इसके दो भेद है—आचीर्ण और अनाचीर्ण। कल्पनीय घरो से ला कर दिया हुआ आहार आचीर्ण है और अकल्पनीय घरो से ला कर दिया हुआ अनाचीर्ण है। इन दोनो के भी प्रच्छन्न और प्रकट तथा स्वग्राम और परग्राम के भेद से ४ भेद होते है। इनके अर्थ स्पष्ट हे।

उद्भिन्नदोष—मिट्टी, लाख आदि से लीपा हुआ या मुहर लगा कर अकित किया हुआ औपध, घी, तेल, आदि द्रव्यो के वर्तन का लेप या मुखवध आदि साधु के लिए तोड कर दिये जाने वाले पदार्थो के लेने से साधु को उद्भिन्न दोप लगता है। इसके भी दो भेद है—पिहितोद्भिन्न और कपाटोद्भिन्न। पिहितोद्भिन्न तो कुप्पी आदि का मुखवध खोल कर या टीन आदि की सील तोडकर साधु को देने से लगता है, तथा कपाटोद्भिन्न वह दोप है, जहाँ वर्षो से वद कपाट को खोल कर साधु को कोई पदार्थ देने से लगता है।

मालापहृत-मालारोहणदोष—दाता यदि टेढीमेढी सीढी या निश्रेणी पर चढ कर अथवा ऊँचे ऊवड-खावड—विपम स्थान पर चढ कर या नीचे तलघर मे उतर कर आहारादि देने लगे तो उसके ग्रहण करने से साधु को यह दोप लगता है, क्योकि ऊपर चढने या नीचे उतरने आदि से दाता के गिर पडने, चोट लगने या प्राणहानि होने की सभावना है, इसलिए यह दोप माना गया है।

आच्छेद्यदोष—राजा, चोर, गाँव का मुखिया या अन्य कोई बलवान् व्यक्ति

उसमे से कुछ ले लेना, ओघरूप से—सामान्यरूप से औद्देशिक है। किन्तु जहा अपने लिए इतना, साधु, बाबा, परिव्राजक या तापस के लिए इतना, इस प्रकार ठीक विभाग करके गृहस्थ द्वारा बनाया गया भोजन विभागरूप से औद्देशिक है। बाबाओ के लिए, भिखारियो या कगलो के लिए उनके नाम से अलग निकाल कर किया गया भोजन भी औद्देशिक कहलाता है। सक्षेप मे औद्देशिक के ४ भेद है—उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश। जितने भी भिक्षाचर है, उन सबको उद्देश्य करके गृहस्थ द्वारा बनाया गया भोजन उद्देश है, केवल अन्य वेष धारी बाबाओ को उद्देश्य करके बनाया गया भोजन समुद्देश है, जो भोजन बौद्ध भिक्षुओ, तापसो या परिव्राजको के लिए सोच कर बनाया गया हो, वह आदेश है और जो केवल उच्च कोटि के निर्ग्रन्थ साधुओ को देने का सकल्प करके बनाया गया हो, वह आहार समादेश है। ये चार औद्देशिक दोष है।

पूतिकर्म—उद्गमादि दोषो से रहित अपने आप मे शुद्ध आहारादि मे अशुद्ध आधाकर्मादिदोषयुक्त आहारादि मिला कर गृहस्थ द्वारा साधु को देने पर वह आहार ले लेना पूतिकर्मदोष है।

मिश्रजात—अपने परिवार और साधु दोनो के लिए एक बर्तन मे ही मिला कर बनाना और वह साधु को देना मिश्रजात दोष है। १—जितने भी याचक है, उनके लिए, २—पाखडियो के लिए, ३—साधुओ के लिए, इस प्रकार क्रमश यावदर्थिक-मिश्र, पाखडिमिश्र और साधुमिश्र के रूप मे यह दोष भी तीन प्रकार का है।

स्थापना—'साधु को देने से पहले दूसरे को नही दू गा', इस अभिप्राय से गृहस्थ द्वारा अपने यहा बना हुआ भोजन अलग ही स्थापित करके रख देना स्थापनादोष है। ऐसी स्थापना दो तरह से होती है—१—अपने स्थान पर चूल्हे या पतीली मे स्थापित करना और दूसरे के स्थान पर अच्छे बर्तन आदि मे स्थापित करना। यह द्विविध स्थापना दोष भी चिरकालिकी और इत्वरकालिकी के भेद से दो प्रकार का है।

प्राभृतकदोष—साधुओ को गाव मे आये जान कर मेहमान को आगे-पीछे करके दिए जाने वाले आहारादि के ग्रहण से प्राभृतकदोष होता है। यह दोष भी उत्कर्षण और अपकर्षण के भेद से दो प्रकार का है। जहाँ लग्न, उत्सव या पाहुने के आगमन का दिन साधु के आने पर आगे बढा दिया जाय, वहाँ उत्कर्षणप्राभृतक है और जहा इनका दिन घटा दिया जाय यानी साधु के आने से पहले ही पूर्वोक्त उत्सवादि का दिन पहले की किसी तिथि को निश्चित कर लिया जाय, वहा अपकर्षण प्राभृतकदोष है।

प्रादुष्करण—अधेरी जगह मे उजाला करके गृहस्थ द्वारा दिये जाने वाले आहार आदि के लेने मे प्रादुष्करण दोष लगता है। यह भी दो तरह का है—सक्रमण और प्रकाशन। साधु के घर पर आने पर गृहिणी द्वारा भोजन या बर्तन आदि

अधेरे से उजाले मे लाना सकमण दोप है, जवकि साधु के आते ही दीपक सजो कर प्रकाश करना प्रकाशनदोप है।

क्रीतदोष—गृहस्थ द्वारा साधु के लिए खरीदे गए वस्त्र,पात्र,भोजन आदि लेने से क्रीत दोप लगता है। क्रीत दोप के भी चार भेद है— आत्मद्रव्यक्रीत, परद्रव्यक्रीत, आत्मभावक्रीत और परभावक्रीत। भिक्षा के लिए सयमी के प्रवेश करने पर गाय आदि देकर वदले मे लिया भोजन साधु को देना स्वद्रव्यकीत दोप है, दूसरो को साधु की महिमा वताकर उससे आहारादि कोई वस्तु खरीदवा कर साधु को देना परद्रव्यक्रीतदोप है। इसी तरह प्रज्ञप्ति आदि विद्या और चेटकादि मत्रो के वदले मे आहार स्वय खरीद कर साधु को देना आत्मभावक्रीतदोप है, और उपर्युक्त विद्या और मत्रो के वदले मे दूसरो से आहारादि खरीदवा कर साधु को देना परभावक्रीतदोप है।

प्रामित्यदोष—साधु के लिए कोई वस्तु उधार ले कर गहस्थ द्वारा देने से साधु को प्रामित्य दोप लगता है। इसके भी दो भेद है—सवृद्धिक और अवृद्धिक। कर्ज से अधिक देना सवृद्धिक है और जितना कर्ज लिया, उतना ही देना अवृद्धिक है।

परिवर्तितदोष— एक गृहस्थ से दूसरे गृहस्थ ने साधु के लिए एक वस्तु के वदले भोजनादि दूसरी वस्तु ली हो , उस वस्तु के लेने मे साधु को परिवर्तितदोप लगता है।

अभ्याहृतदोष—साधु के लिए गृहस्थ द्वारा सम्मुख लाए हुए आहारादि के लेने से साधु को अभ्याहृत दोप लगता है। इसके दो भेद है—आचीर्ण और अनाचीर्ण। कल्पनीय घरो से ला कर दिया हुआ आहार आचीर्ण है और अकल्पनीय घरो से ला कर दिया हुआ अनाचीर्ण है। इन दोनो के भी प्रच्छन्न और प्रकट तथा स्वग्राम और परग्राम के भेद से ४ भेद होते है। इनके अर्थ स्पष्ट है।

उद्भिन्नदोष—मिट्टी, लाख आदि से लीपा हुआ या मुहर लगा कर अकित किया हुआ औपध,घी,तेल,आदि द्रव्यो के वर्तन का लेप या मुखवध आदि साधु के लिए तोड कर दिये जाने वाले पदार्थो के लेने से साधु को उद्भिन्न दोप लगता है। इसके भी दो भेद है—पिहितोद्भिन्न और कपाटोद्भिन्न। पिहितोद्भिन्न तो कुप्पी आदि का मुखवध खोल कर या टीन आदि की सील तोड कर साधु को देने से लगता है, तथा कपाटोद्भिन्न वह दोप है, जहाँ वर्पो से वद कपाट को खोल कर साधु को कोई पदार्थ देने से लगता है।

मालापहृत-मालारोहणदोष—दाता यदि टेढीमेढी सीढी या निश्रेणी पर चढ कर अथवा ऊँचे ऊवड-खावड—विपम स्थान पर चढ कर या नीचे तलघर मे उतर कर आहारादि देने लगे तो उसके ग्रहण करने से साधु को यह दोप लगता है, क्योकि ऊपर चढने या नीचे उतरने आदि से दाता के गिर पडने, चोट लगने या प्राणहानि होने की सभावना है, इसलिए यह दोप माना गया है।

आच्छेद्यदोष—राजा, चोर, गाँव का मुखिया या अन्य कोई वलवान् व्यक्ति

किसी निर्बलव्यक्ति या अपने नौकर आदि को उसकी दान देने की अनिच्छा होने पर भी डरा, धमका कर उससे जबर्दस्ती साधु को दिलावे या स्वय छीन कर साधु को दे दे तो उसके लेने से साधु को आच्छेद्यदोप लगता है।

अनिसृष्टदोष—भोजनादि किसी पदार्थ के मालिक द्वारा अपने अधीन नौकर, पुत्र, गुमाश्ते आदि को साधु को देने की मनाही होने पर भी यदि कोई भक्तिवश साधु को देने लगे तो वहाँ साधु द्वारा उस वस्तु को लेने पर अनिसृष्ट दोप लगता है। अनिसृष्ट के दो भेद है—ईश्वर और अनीश्वर। देयपदार्थ का मालिक देने की इच्छा करे, लेकिन मत्री, गुमाश्ते आदि अपने मातहत नौकरो को मना करे तो उनसे लिया हुआ भोजन ईश्वर—अनिसृष्ट कहलाता है। स्वामी द्वारा निपिद्ध किया हुआ भोजनादि पदार्थ अन्य जनो द्वारा दिया जाय और उसे साधु ग्रहण कर ले तो अनीश्वर-अनिसृष्ट कहलाता है। इसी प्रकार साझी वस्तु उसके सब मालिको की अनुमति के बिना लेना भी, अनिसृष्ट दोप है।

अध्यवपूरक—सयमी साधुओ को गाँव की ओर आते देख कर उनको देने के लिए अपने निमित्त तैयार किये जाने वाले भात आदि मे वैसी ही वस्तु और अधिक मिला कर उसकी वृद्धि किये गए अशनादि के लेने से साधु को यह दोप लगता है।

इस प्रकार उद्‌गम के पूर्वोक्त १६ दोपो से मुक्त, गवेपणा से परिशुद्ध आहार आदि साधु को लेना चाहिए।

उत्पादना के सोलह दोष और उनके लक्षण—उत्पादना के १६ दोप दाता-गृहस्थ के निमित्त से नही लगते। जिह्वालोलुपता, शरीरशुश्रूपा, सुकुमारता आदि कारणो से साधु के निमित्त से ही ये दोप पैदा होते हैं। उन १६ दोपो के लिए निम्नोक्त गाथाएँ प्रस्तुत है—

धाईदूइणिमित्ते आजीववणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया-लोभे य हवति दस एए ॥१॥
पुव्विपच्छासथव विज्जा-मते य चुन्न-जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥२॥

अर्थात्—धात्री, दूती, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, ये दश तथा पूर्व—पश्चात्-सस्तव, विद्या, मत्र, चूर्ण, योग और मूलकर्म ये ६ मिलाकर कुल १६ दोप उत्पादना के होते है।

धात्रीदोष—साधु या साध्वी यदि किसी गृहस्थ के बालक या बालिका की धात्री (धाय) का काम करके आहार पानी, वस्त्र आदि गृहस्थ से ग्रहण करे तो वहाँ धात्रीदोप लगता है। धात्री पाच प्रकार की होती है—क्षीरधात्री (बालक को दूध पिलाने वाली), मज्जनधात्री (स्नान कराने वाली), मडनधात्री (बालक को कपडे, गहने आदि पहनाने [illegible]ली), क्रीडनधात्री (बालक को खेलाने वाली) और उत्सगधात्री (गोद मे

लिए-लिए फिरने वाली)। इसका एक अर्थ यह भी होता है कि किसी धनाढ्य भक्त के यहाँ रखी हुई किसी धात्री को, उसकी स्वामिनी से उसके अवगुणवर्णन करके निकलवा देना और उसके बदले दूसरी अपनी परिचित नई धात्री को रखवा कर उस धात्री द्वारा प्रदत्त स्वादिष्ट और स्निग्ध भोजनादि ग्रहण करना, धात्रीपिंडदोष है।

दूतीदोष—एक स्थान से दूसरे स्थान पर, एक गाँव से दूसरे गाँव, गृहस्थों का संदेश कहते या कहलाते फिरना तथा दूतीपन के काम को करके गृहस्थ भक्त-भक्ताओं की भावना बढ़ा कर आहारादि ग्रहण करना दूतीदोष है।

निमित्तदोष—भूत, भविष्य और वर्तमानकाल के लाभालाभ, सुख-दुःख, जीवित-मरण आदि के सम्बन्ध में निमित्तज्ञान गृहस्थ के पूछे जाने या न पूछे जाने पर बताना। फिर वह निमित्त हस्तरेखादि देख कर बताया जाय या शुभाशुभचेष्टा देख कर बताया जाय या ज्योतिषशास्त्र द्वारा बताया जाय, वह निमित्त है। निमित्त बता कर विशिष्ट भोजन आदि पदार्थ ग्रहण करना निमित्तपिंडदोष कहलाता है।

आजीवदोष—आजीव वृत्ति या आजीविका को कहते हैं। गृहस्थ की आजीविका के सम्बन्ध में कुछ बतला कर आहारादि लेने से आजीवदोष लगता है। यह ५ प्रकार का है—जातिविषयक, कुलविषयक, गणविषयक, कर्मविषयक और शिल्पविषयक। ब्राह्मण-पुत्र को देख कर यह कहना कि 'मैं भी ब्राह्मण था, यज्ञ, होम आदि क्रियाएँ इस-इस तरह से करता था, तुम भी करो', यह जातिविषयक आजीवदोष है। इसी प्रकार अपना कुल प्रगट करके उसे कुलाचार बताना कुलविषयक आजीवदोष है। इसी तरह गृहस्थजीवन के खेती आदि कर्मों का अनुभव बता कर अपना पूर्वकर्म प्रगट करना कर्मविषयक आजीवदोष है। तथा चित्रकला आदि शिल्प बता कर अपने को गृहस्थ-जीवन में उक्त शिल्पकलादि से सम्बन्धित बताना शिल्पविषयक आजीव दोष है। और अपने आप को अमुक गण का बता कर उस गण का आचार बताना गणविषयक आजीवदोष है। इनसे हानि यह है कि अगर जाति आदि बताने से कोई प्रसन्न हो गया, तब तो आधाकर्मादि दोष लगा कर आहारादि देगा, और यदि कोई नाराज हो गया तो यह कह कर घर से निकाल देगा कि 'नालायक ! तू हमारी जाति, कुल, गण कर्म या शिल्प से भ्रष्ट हो गया !'

वनीपकदोष—रंक, भिखारी, याचक आदि की तरह दीनता दिखा कर, गिड़गिड़ा कर, दाता की या दाता जिस गुरु, विप्र आदि का भक्त हो, उसके सामने उस आराध्य गुरु आदि की प्रशंसा करके गृहस्थ से आहार-पानी, वस्त्र, पात्र आदि लेने से वनीपकदोष लगता है। दाता के प्रिय कुत्ता, अश्व, शुक आदि की प्रशंसा से भी यह दोष होता है।

चिकित्सादोष—रोगों का प्रतीकार करना चिकित्सा है। चिकित्साशास्त्र के ८ भेद हैं—बालचिकित्सा, शरीरचिकित्सा, रसायन, विषतंत्र, भूततंत्र, शलाका-

क्रिया और शल्यचिकित्सा। इन आठो तरह की चिकित्सा स्वय वैद्य वन कर या दूसरो को दवा या इलाज वता कर या वैद्य आदि से करवा कर उस गृहस्थ से आहारादि लेना चिकित्सादोप कहलाता है।

क्रोध-मान-माया-लोभपिण्डदोष—कोप करके गृहस्थ से आहार आदि लेना क्रोधपिण्ड है। उदाहरणार्थ—किसी साधु के मारण, मोहन, उच्चाटन, शाप आदि के प्रभाव को, तप के प्रभाव या कोपकाण्ड को प्रत्यक्ष देख कर भय से कोई गृहस्थ आहारादि दे तो वह क्रोधपिड कहलाता है। अथवा ब्राह्मण आदि दूसरे याचको को अपने सामने देते देख कर स्वय को न देने पर दाता गृहस्थ पर कोप करने पर वह इस डर से आहारादि देता है कि साधु को नाराज और क्रोधित करना अच्छा नही, इस प्रकार जिसमे क्रोध ही पिंडोत्पादन का मुख्य कारण हो,उस पिंड को ले लेना क्रोधदोप है। किन्ही साधुओ द्वारा साधु की इस प्रकार से प्रशसा की जाती है कि 'यदि आज हम सवको वढिया भोजन खिला दोगे तो तुम अतिशय लब्धि वाले समझे जाओगे।' इस पर वह प्रशसा से गर्व मे फूल कर किसी गृहस्थ के यहाँ जा कर उसे दानवीर, धर्मात्मा आदि प्रशसात्मक वचनो से चढा कर उसके परिवार वालो की इच्छा न होते हुए भी उस अभिमानी गृहस्थ से आहारवस्त्रादि ले लेता है तो वह मानपिंडदोप है। कोई साधु मत्रादिवल से रूप वदल कर, गृहस्थ को धोखे मे डाल कर वढिया आहार आदि ग्रहण करता है तो वह मायापिंडदोप होता है। लोभवश रसलोलुप वन कर सामान्य घरो मे भिक्षा के लिए न जा कर या चना आदि तुच्छ चीजे न ले कर जहाँ लड्डू-पेडे आदि वढिया पदार्थ मिले, वही पहुचे और वढिया वस्तुएँ देख कर पात्र भर ले तो वह लोभपिंडदोप होता है।

पूर्वपश्चात्सस्तवदोष—साधु जहाँ भिक्षा लेने से पहले और वाद मे दाता की प्रशसा करके आहारादि ले, वहाँ पूर्वपश्चात्सस्तवदोप होता है। यह भी दो प्रकार का होता है—वचनसस्तव, सम्वन्धसस्तव। वचनसस्तव दोप इस प्रकार से होता है—किसी धनाढ्य के यहाँ भिक्षा के लिए पहुच कर भिक्षा लेने से पहले ही उसकी झूठी प्रशसा करना कि 'आप के दानवीरता आदि गुणो की जैसी प्रशसा सुनी थी, वैसे ही गुण मैं आप मे देख रहा हू।' अथवा वह दान करने से आनाकानी करे या भूल जाय तो कहना कि 'पहले तो आप वडे दानी थे, अव दान देना कैसे भूल गए?' अथवा किसी युवक को देख कर कहना—'तुम्हारे पिता या वावा वडे दानी थे, तुम भी उन्ही दानवीरो के पुत्र या पौत्र हो, तुम भी दानवीर वनोगे, इस प्रकार की झूठी प्रशसा भिक्षाग्रहण से पूव करना पूर्वसस्तव है। भिक्षा ग्रहण के वाद दाता का पश्चात्सस्तव इस प्रकार किया जाता है कि "आप वडे दानी है, यशस्वी हैं, आप के दान की कीर्ति सर्वत्र विख्यात है,आदि।" अथवा यो कहना कि "आपके दर्शन से हमारी आँखे ठडी

हो गई, हमारा मन प्रफुल्लित हुआ।" कोई सम्बन्ध न होने पर भी साधु द्वारा इस प्रकार जोडा जाता है—"जैसी तुम्हारी गुणवती माता है, वैसी मेरी भी है, इसे देख-देख कर मेरी आँखो मे हर्षाश्रु बरस पडते है।" अथवा "तुम्हारी सुशील पत्नी के समान मेरी भी सुशील पत्नी है, जिसे मै छोड कर दीक्षित हुआ हूँ।" अथवा "जैसे तुम्हारे पुत्र है, वैसे ससार मे मेरे भी है।" या वह सम्बन्धो की कल्पना प्रगट करता है—"तुम तो मेरी माता हो या मातृतुल्य ही हो, सहोदर बहन के समान हो या पुत्री ही हो।"

विद्यादोष, मत्रदोष—जिन मत्रो की अधिष्ठात्री देवी हो, उन मत्रो को जप, होम, यत्र-लेखन आदि विशिष्ट पद्धति के द्वारा सिद्ध कर लेना विद्यासिद्धि है। इस प्रकार से किसी भी विद्या को सिद्ध करके गृहस्थो के विविध प्रयोजनो के लिए उसका प्रयोग करके अथवा अमुक विद्या गृहस्थो को सिखा कर या सिखा देने का आश्वासन दे कर उनसे भोजनादि वस्तुएँ ग्रहण करना विद्यापिडदोष है। मत्रो के अधिष्ठाता देव होते है। विविध मत्रो को जप, पाठ आदि द्वारा सिद्ध करके गृहस्थो के विविध प्रयोजन सिद्ध करने के लिए उनका प्रयोग करके या उन्हे मत्र बता कर भोजनादि पदार्थ प्राप्त करना मत्रपिडदोष है।

चूर्णदोष, योगदोष—चूर्ण और योग ये दो दोष है। आँखो मे ऐसा मत्रित अजन या अन्य चूर्ण डाल ले, या डाल दे, जिससे सब वश मे हो जाय, वह चूर्ण कहलाता है तथा एकदम अदृश्य कर देने वाले सौभाग्यदौर्भाग्यकारक पादलेप आदि योग कहलाते है। एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु मिलाने से अनेक प्रकार के अदृष्टकारक अजन आदि बना कर गृहस्थो को दे कर या उनके लिए प्रयोग करके बदले मे उनसे आहारादि लेना चूर्णदोष है। तथा पादलेपन आदि योग स्वय करके या गृहस्थो को बतला कर बदले मे उनसे आहारादि लेना योगदोष है।

मूलकर्मदोष गर्भस्तभन गर्भाधान, गर्भपात, वशीकरण, वन्ध्याकरण आदि के लिए मत्र, तत्र, यत्र या औषध—जडीबूटी आदि बतला कर गृहस्थो से आहारादि लेना मूलकर्मदोष है।

इन उत्पादना के १६ दोषो से रहित शुद्ध आहार आदि ही साधु को ग्रहण करना चाहिए।

पहले बताए हुए शकित आदि १० एषणा के दोष, १६ उद्गमदोष एव १६ उत्पादनादोष, ये सब मिला कर आहारादि भिक्षा ग्रहण करने के ४२ दोष[1] होते हैं, इनसे बच कर ही साधु अपने सयम एव अहिंसापालन को शुद्ध रख सकेगा।

१—आहार के ये ४२ दोष सामान्य या जघन्य है, इसके मध्यम भेद १०६ है, और उत्कृष्ट भेद २०४ हैं। इसकी विस्तृत जानकारी के लिए पिंडनिर्युक्ति आदि ग्रन्थ पढें।

—सपादक

कर, परिचय हो जाने पर भी आहारादि मे अप्रतिबद्ध हो कर किसी पर भी द्वेषभाव न रख कर,मन मे अदैन्य, अहीनभाव,अविषाद,आदि की शुद्ध भावना ही लेकर जाएगा। वह विना थके शुद्ध भिक्षा की खोज मे घूमेगा, किन्तु न मिलने पर अपने भाग्य,व्यक्ति या गाव को नही कोसेगा। वह अप्राप्त के लिए उद्यम और प्राप्त पर सयम करेगा और विनय, नि स्पृहता, अनासक्ति, क्षमा,त्याग, वैराग्य आदि अपने सहज गुणो से ही सबको प्रभावित करेगा, अपने मन वचन और काया को सतत स्वाध्याय, ध्यान आदि उत्तम धर्माचरण मे लगाए रखेगा।

भिक्षा मे शुद्धता का उपदेश किसने और क्यो दिया ?—साधु की भिक्षा-विधि मे शुद्धता और निर्दोपता के लिए शास्त्रकार ने जो निरूपण किया है, वह सारा का सारा उपदेशात्मक और अनुशासनात्मक प्रतीत होता है। इसे पढने से ऐसा मालूम होता है, मानो एक पिता अपने अर्धविदग्ध या मदमति पुत्र को एक ही वात को जोर दे कर वार-वार कह रहा हो। सचमुच, पुत्र के प्रति असीम वात्सल्य ही पिता से वार-वार उसी वात को कहलाता है, इसमे पुनरुक्ति दोप नही माना जाता।

भिक्षाविधि-सम्वन्धी पूर्वोक्त प्रवचन भी अपने ज्येष्ठ पुत्रो—मुनियो के प्रति विश्ववत्सल, परमपिता भगवान् महावीर ने सम्यक् प्रकार से दिया है, और वह दिया है सम्पूर्ण विश्व के जीवो की रक्षारूप दया से प्रेरित हो कर। अपने ज्येष्ठ पुत्रो के लिए उनका भिक्षाविधि का यह उपदेश आत्महितकर है,भविष्य मे कल्याणकर है, जन्म-जन्मान्तर को सफल वनाने वाला है, यह न्याययुक्त है, लागलपेट वाला नही, अपितु शुद्ध है, मोक्षप्राप्ति के लिए भी आसान है, श्रेष्ठ है, समस्त दु खो और पापो को शान्त करने वाला है। सचमुच साधुवर्ग के लिए निर्दोप भिक्षावृत्ति का आविष्कार करके तीर्थंकरो ने साधु की जीवनयात्रा सुखद, सरल, भारहीन और तेजस्वी वना दी है।

अहिंसापालन के लिए पांच भावनाएँ

शास्त्रकार ने पूर्व सूत्रपाठ मे पूर्णरूप से अहिंसा के पालन के लिए भिक्षाविधि तथा भिक्षा मे निर्दोपता की सावधानी के लिए उपदेश दिया है, अब अहिंसा के पूर्णत पालन के लिए रुचि, जिज्ञासा, श्रद्धा, उत्साह, धृति, प्रेरणा, दृढता और तीव्रता की जननी के तुल्य जिन-जिन मुख्य पाच भावनाओ की साधक के जीवन मे आवश्यकता है, उनका निर्देश वे निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा करते है—

मूलपाठ

तस्स इमा पच भावणातो पढमस्स वयस्स होति—पाणाति-

वायवेरमणपरिरक्खणट्ठाए(१)पढम ठाणगमणगुणजोगजुंजणजुगतरनिवातियाए दिट्ठीए ईरियव्व कीडपयगतसथावरदयापरेण निच्च पुप्फफलतयपवालकदमूलदगमट्टियबीजहरियपरिवज्जिएण सम्म, एव खलु सव्वपाणा न हीलियव्वा,न निंदियव्वा, न गरहियव्वा, न हिंसियव्वा, न छिंदियव्वा, न भिंदियव्वा, न वहेयव्वा, न भय दुक्ख च किंचि लब्भा पावेउं जे, एव ईरियासमितिजोगेण भावितो भवति अतरप्पा असबलमसकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए सजए सुसाहू। (२) बितीय च मणेण पावएण पावक अहम्मिय दारुण निस्सस वहबधपरिकिलेसबहुल भयमरण[१]-परिकिलेससकिलिट्ठ न कयावि मणेण पावतेण पावग किंचि वि झायव्व, एवं मरणसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा असबलमसकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए सजए सुसाहू। (३) ततिय च वतीते पावियाते पावक[२] न किंचि वि भासियव्व एव वय(ति)समितिजोगेण भावितो भवति अतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए सजए सुसाहू। (४) चउत्थ आहार-एसणाए सुद्ध उंछं गवेसियव्व, अन्नाए अकहिए अगढिते अदुट्ठे अदीरणे अकलुणे अविसादी अपरिततजोगी जयणघडणकरणचरियविणयगुणजोगसपओगजुत्ते(त्तो)भिक्खू,भिक्खेसणाते जुत्ते,सामुदाणेऊण भिक्खाचरिय उछ घेत्तूण आगतो गुरुजणस्स पास गमणागमणातिचारे पडिक्कमण(म्मे) - पडिक्कते, आलोयणदायण च दाऊण गुरुजणस्स (गुरुसदिट्ठस्स वा) जहोवएस निरइयार च अप्पमत्तो,

१ कही कही 'भयमरण' के वदले 'मरणभय' पाठ मिलता है।

२ 'अहम्मिय दारुण निसस वहवधपरिकिलेसवहुल जरामरणपरिकिलेससकिलिट्ठ न कयावि तीए पावियाए पावक।' इतना अधिक पाठ किसी किसी प्रति मे है।

—सपादक

पुणरवि अणेसणातो पयतो, पडिक्कमित्ता पसते आसीणसुहनिसन्ने मुहुत्तमेत्त च झाणसुहजोगनाणसज्झायगोवियमणे. धम्ममणे, अविमणे, सुहमणे, अविग्गहमणे, समाहियमणे,सद्धासवेगनिज्जरमणे, पवयणवच्छलभावियमणे उट्ठेऊण य पहट्ठतुट्ठे जहारायणिय निमतइत्ता य साहवे भावओ य विइण्णे य गुरुजणेण उपविट्ठे सपमज्जिऊण ससीस कायं तहा करतल अमुच्छिते, अगिद्धे, अगढिए, अगरहिते, अणज्झोववण्णे, अलुद्धे, अणुतट्ठिते, असुरसुर अचवचव अदुतमविलबियं अपरिसाडि आलोयभायणे जय पयत्तेण ववगयसजोगमणिगाल च विगयधूमं अक्खोवंजणवणाणुलेवणभूय संजमजायामायानिमित्त सजमभारवहणट्ठयाए भुजेज्जा पाणधारणट्ठयाए संजएण (ण) समिय एव आहारसमितिजोगेण भाविओ भवति अतरप्पा असबलमसकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए सजए सुसाहू। (५) पचम आदाननिक्खेवणसमिई पीढफलगसिज्जासथारगवत्थपत्तकबलदंडगरयहरणचोलपट्टगमुह - पोत्तिगपायपुंछणादी (वा) एय पि सजमस्स उववूहणट्ठयाए, वातातवदसमसगसीयपरिरक्खणट्टयाए उवगरणं रागदोसरहित परिहरितव्व, सजएण निच्च पडिलेहणपप्फोडणपमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सययं, निक्खियव्वं च गिण्हियव्व च भायणभडोवहिउवगरणं, एव आयाणभडनिक्खेवणासमितिजोगेण भाविओ भवति अतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए सजए सुसाहू।

एवमिण सवरस्स दार सम्म सवरिय होति सुप्पणिहिय, इमेहि पचहि वि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं, णिच्च आमरणत च एस जोगो णेयव्वो धितिमया मतिमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुन्नातो, एव पढम सवरदार फासिय पालियं सोहिय तीरिय किट्टिय

आराहियं आणाते अणुपालिय भवति, एव(य) नायमुणिणा भगवया पन्नविय, परूविय, पसिद्ध , सिद्ध, सिद्धवरसासणमिण, आघवित, सुदेसित, पसत्थ पढम सवरदार समत्त ति बेमि ॥१॥ (सू० २३)

संस्कृतच्छाया

तस्येमाः पचभावना प्रथमस्य व्रतस्य भवन्ति प्राणातिपातविरमण-परिरक्षणार्थम् (१)प्रथम स्थानगमनगुणयोगयोजनयुगान्तरनिपातिकया दृष्ट्या ईरितव्यम्, कीटपतगत्रसस्थावरदयापरेण नित्य पुष्पफलत्वक्प्रवालकन्दमूल-दकमृत्तिकाबीजहरितपरिवर्जकेन सम्यक्,एव खलु सर्वप्राणा न हीलयितव्या, न निन्दितव्या, न गर्हितव्या., न हिंसितव्या , न छेत्तव्या', न भेत्तव्या , न व्यथितव्या , न भय दु ख च किंचिद् लभ्या , प्रापयितु ये (इति), एवमीर्या-समितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा अशबलासक्लिष्टनिर्व्रणचारित्र भाव-नया (भावनाक) अहिंसक सयत सुसाधु । (२) द्वितीय च मनसा पापकेन पापकमधार्मिक दारुण नृशस वधबन्धपरिक्लेशबहुल भयमरणपरिक्लेशसक्लि-ष्टम्, न कदाचिन्मनसा पापकेन पापक किंचिदपि ध्यातव्यम् । एव मन समितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा अशबलासक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभाव-नया (भावनाक) अहिंसक. सयत सुसाधु. । (३) तृतीय च वाचा (अधार्मिक दारुण नृशस वधबन्धपरिक्लेशबहुल जरामरणपरिक्लेशसक्लिष्ट न कदा-चिदपि तया) पापिकया पापक न किंचिदपि भाषितव्यम् । एव वाक्समिति-योगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा अशबलासक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनया (भावनाक) अहिंसक सयत सुसाधु । (४) चतुर्थमाहारैषणाया शुद्ध उछो गवेषयितव्य , अज्ञात , अकथित , अग्रथित , अदुष्ट ,अदीन (अक्षीण), अक-रुण , अविषादी, अपरितान्तयोगी यत्नघटनकरणचरितविनयगुणयोगसप्र-योगयुक्तो भिक्षुर्भिक्षैषणाया युक्त सामुदायिक अटित्वा भिक्षाचर्यामुञ्छ गृहीत्वाऽऽगतो गुरुजनस्य पार्श्वं गमनागमनातिचारान् प्रतिक्रमण (मे)-प्रति-क्रान्त , आलोचनादान च दत्त्वा गुरुजनस्य (गुरुसदिष्टस्य वा) यथोपदेश निरतिचार चाप्रमत्त ,पुनरप्यनेषणायाः प्रयत प्रतिक्रम्य प्रशान्त आसीनसुख-निषण्णो मुहूर्त्तमात्र च ध्यानशुभयोगज्ञानस्वाध्यायगोपितमना धर्ममना अविमना शुभमना अविग्रहमना (अभ्युदग्रहमना वा) समाहितमना ।समा-

धिकमना वा) श्रद्धासंवेगनिर्जरमना प्रवचनवात्सल्यभावितमना उत्थाय च प्रहृष्टतुष्टो यथारात्निक निमन्त्र्य च साधून् भावतश्च वितीर्णे च गुरुजनेनोपविष्टे सप्रमृज्य सशीर्ष काय तथा करतल अमूच्छित, अगृद्धः अग्रथित, अगर्हित अनध्युपपन्न, अलुब्ध, अनात्मिकार्थं, असुरसुरमचवचवमद्रुतमविलम्बितमपरिशाटिम्, आलोकभाजने यत प्रयत्नेन व्यपगतसयोगम्, अनगार च विगतधूम, अक्षोपाजनव्रणानुलेपनभूत, सयमयात्रामात्रानिमित्त सयमभारवहनार्थतया भुंजीत प्राणधारणार्थतया सयतेन समितमेवमाहारसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा अशबलाऽसक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनया (भावनाक) अहिंसक सयत सुसाधु । (५) पचममादाननिक्षेपणसमिति: पीठफलकशय्यासस्तारकवस्त्रपात्रकम्बलदण्डकरजोहरणचोलपट्टकमुखपोत्तिकापादप्रोञ्छनादि (वा) एतदपि सयमस्योपबृंहणार्थतया वातातपदशमशकशीतपरिरक्षणार्थतया उपकरण रागद्वेषरहित परिधर्त्तव्यम् । सयतेन नित्य प्रतिलेखनप्रस्फोटनाप्रमार्जनया अह्नि च रात्रौ चाप्रमत्तेन भवति सतत निक्षेप्तव्य च गृहीतव्य च भाजन-भाण्डोपध्युपकरणम् । एवमादानभाण्डनिक्षेपणासमितियोगेन भावितो भवति अन्तरात्मा अशबलासक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनया (भावनाक) अहिंसक सयत सुसाधु । एवमिद सवरस्य द्वार सम्यक् सवृत भवति सुप्रणिहितमेभि पचभिरपि कारणैर्मनोवचनकायपरिरक्षितैर् नित्यमामरणान्त च एष योगो नेतव्यो धृतिमता मतिमता अनाश्रवः, अकलुष, अच्छिद्र, अपरिस्रावी असक्लिष्ट, शुद्ध, सर्वजिनानुज्ञात, एव प्रथम सवरद्वार स्पृष्ट, पालित, शोभित, तीरित, कीर्तित, आराधितमाज्ञयाऽनुपालित भवति, एव ज्ञातमुनिना भगवता प्रज्ञापित, प्ररूपित, प्रसिद्ध, सिद्ध, सिद्धवरशासनमिदम् अर्घापित सुदेशित प्रशस्त, प्रथम सवरद्वार समाप्तमिति ब्रवीमि ॥१॥ (सू० २३)

पदान्वयार्थ—(तस्य पढमस्स वयस्स) उस प्रथम अहिंसा-व्रत की (इमा) ये (पचभावणातो) पाच भावनाएं है, जो (पाणाइवायवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए) प्राणातिपात—हिंसा से विरमण—विरतिरूप अहिंसा की रक्षा के लिए हैं । (पढम) प्रथम ईर्यासिमिति भावना का स्वरूप है—(ठाण-गमण-गुण-जोग-जुंजण-जुगतर-निवातियाए-दिट्ठीए) स्थान—ठहरने व गमन करने मे गुण—प्रवचनोपघातरहितगुण के योग से जुडी हुई तथा युगान्तर—गाडी के जुए के प्रमाण चार हाथ आगे की भूमि पर

पडने वाली दृष्टि से (कीडपयगतसथावरदयावरेण) कीडे,पतगे तथा त्रस-स्थावर जीवो की दया मे तत्पर (निच्च) सदा (पुप्फफलतयपवालकदमूलदगमट्टियबीजहरियपरि-वज्जिएण) फूल, फल, छाल, प्रवाल—पत्ते, कद, मूल, जल, मिट्टी, बीज और हरितकाय का वर्जन करते हुए, (सम्म) सम्यक् प्रकार से, (ईरियव्व) गमन करना चाहिये। (एव) इस प्रकार ईर्यासमिति से चलते हुए साधु को (खलु) निश्चय ही (सव्वपाणा) समस्त जीवो का (न हीलियव्वा) तिरस्कार या उपेक्षा भाव नहीं करना चाहिए, (न निंदियव्वा) न निन्दा करनी चाहिए, (न गरहियव्वा) न दूसरो के सामने बुराई—गर्हा करनी चाहिए, (न हिंसियव्वा) न उनकी हिंसा करनी चाहिए, (न छिंदियव्वा) न उनका छेदन—टुकडे करना चाहिए, (न भिंदियव्वा) न भेदन करना—फोडना चाहिए, (न वहेयव्वा) न उन्हे व्यथित—हैरान करना चाहिये, (जे भय दुक्ख च न किंचि पावेउ लब्भा) इन जीवो को जरा भी भय और दु ख नहीं पहुचाना चाहिये। (एव) इस प्रकार (ईरियासमितिजोगेण) ईर्यासमिति मे मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से (भावितो) भावित (भवति) होता है। तथा (असबलम-सकिलिट्ठ-निव्वणचरित्तभावणाए) इक्कीस दोषो से रहित, सक्लिष्ट परिणामो से रहित, अक्षत—अखण्ड चारित्र की भावना से युक्त या भावनापरायण (सजए) सयमशील—मृषावाद आदि से विरत, (अहिसए) अहिंसक, (सुसाहू) मोक्ष का उत्कृष्ट साधक होता है। (च) और (बितीय) द्वितीय मन समिति भावना का रूप यह है—(पावएण) पापरूप—दुष्ट (मणेण) मन से (पावक) पापकारी, (अहम्मिय) अधार्मिक धर्मभावना से रहित, (दारुण) कठोर, (निसस) नृशस—निर्दय, (वहवधपरिकिलेसबहुल) वध, बधन और से भरा हुआ, (भयमरणपरिकिलेस-सकिलिट्ठ) भय, मृत्यु और क्लेश से कलुषित—मलिन, (पावग) पापकर्म का (पावएण मणेण) पापी—दुष्ट मन से (कयावि) कदापि (किंचि वि) जरा-सा भी (न झायव्व) चिन्तन नहीं करना चाहिये। (एव) इस प्रकार (मणसमितिजोगेण) चित्त के सत्प्रवृत्तिरूप व्यापार से (भावितो) भावित-सुवासित (अतरप्पा) अन्तरात्मा साधक (असवलमसक्लिट्ठ-निव्वणचरित्तभावणाए) शवलदोषो से रहित, असक्लिष्ट-शुद्धपरिणामी, अक्षतचारित्र की भावना से युक्त, (अहिंसए) अहिंसक, (सजए) सयमी-इन्द्रियनिग्रही (सुसाहू) शान्त अन्त करण वाला सुसाधु (भवति) होता है (च) और (ततिय) तीसरी वचनसमितिभावना का स्वरूप यह है (पावियातेवतीते) पापरूप ाणी द्वारा (पावक) पापरूप—सावद्यवचन,(अहम्मिय) अधर्म से युक्त,(दारुण) कठोर

(निसस) घातक (वहबधपरिकिलेसबहुल, बध,बध और क्लेश से भरपूर, (जरामरण-परिकिलेससकिलिट्ठ) बुढापा, मृत्यु आदि के क्लेशो से क्लिष्ट वचन (कयावि) कदापि (किंचिवि) जरा-सा भी (न भासियव्व) नहीं बोलना चाहिए। (एव) इस प्रकार, (वयसमितिजोगेण) बचन की सम्यक्प्रवृत्तिरूप योग से (भावितो) भावित (अतरप्पा) अन्तरात्मा, (असबलमसकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए) शबलदोषरहित, असक्लिष्ट, अखडचारित्र की भावना से ओतप्रोत (सजओ) सयत (अहिंसओ) अहिंसक (सुसाहू) उत्तम स्वपरकल्याणसाधक (भवति) होता है। इसके बाद (चउत्थ) चौथी एषणासमितिभावना का स्वरूप इस प्रकार है--(आहार-एसणाए) अशनादि चतुर्विध आहार की एषणा से (सुद्ध) एषणादोषो से रहित–शुद्ध (उछ) भ्रमरवृत्ति से अनेक घरो से थोडी-थोडी भिक्षा (गवेसियव्व) गवेषणापूर्वक ग्रहण करनी चाहिए। भिक्षाकर्ता साधु (अन्नाए) दाताओ से अज्ञात हो—धनाढ्य घर का प्रव्रजित है, ऐसा मालूम न हो, (अकहिए) स्वय के द्वारा भी यह न कहा जाय कि मै पहले श्रीमान् था, (अगढिए) अपने परिचितो या सम्बन्धियो के मोह मे ग्रस्त न हो, (अदुट्ठे) न देने वालो पर द्वेषी न हो—समचित्त हो,(अदीणे) भिक्षा न मिलने पर भी दीन न हो, (अकलुणे) दयनीय न हो, (अविसादी) विषादरहित हो, (अपरितंतजोगी) मन, वचन-काया की सम्यक्प्रवृत्ति से अथक पुरुषार्थी हो, (जयणघडणकरणचरियविणय-गुणजोगसपओगजुत्ते) प्राप्त सयमयोगो की स्थिरता के लिए प्रयत्नशील, अप्राप्त की प्राप्ति के लिए उद्यमवान्, विनय का आचरण करने वाला व क्षमा आदि गुणो की प्रवृत्ति के प्रयोग मे जुटा हुआ (भिक्खू) भिक्षाजीवी साधु (भिक्खेसणाते) शुद्ध भिक्षा की अन्वेषणा करने मे (जुत्ते) जुटा हुआ (भिक्खचरिय) भिक्षाचर्या के लिए, (सामुदाणेऊण) धनी-निर्धन, ऊँच-नीच-मध्यम सभी घरो मे घूमकर (उछ) अनेक घरो से थोडा-थोडा आहार, (घेत्तूण) ले कर (गुरुजणस्स) गुरुजन के (पास) पास (आगतो) आ कर (गमणागमणातिचारे पडिक्कमणपडिकते) भिक्षा के लिए जाने-आने मे लगे हुए दोषो का प्रतिक्रमण करके (च) और (आलोयणदायण दाऊण) आलोचना—गुरु के समक्ष दोषो को प्रकट करके (गुरुजणस्स) गुरुजनो के (गुरुसदिट्ठस्स वा) अथवा गुरु के द्वारा निर्दिष्ट अग्रगण्य साधुवृषभ के (जहोवएस) उपदेश के अनुसार (निरइयार) अतिचारो—दोषो का त्याग करके (अप्पमत्तो) अप्रमत्त—सावधान—प्रमादरहित हो, (पुणरवि) और पुन (अनेसणाते) अपरिज्ञात या गुरुसमक्ष अब तक जिनकी आलोचना न की हो, ऐसे अनालोचित दोषरूप अनेषणा के बारे मे (पयतो) प्रयत्नवान् होकर (पडिक्कमित्ता) प्रतिक्रमण करके (पसतो)

प्रशान्त हो (च) और (आसीणसुहनिसण्णे) सुखपूर्वक बैठा-बैठा (मुहुत्तमेत्तं) एक मुहूर्तभर (झाणसुहजोगनाणसज्झायगोवियमणे) धर्मध्यान, शुभयोग, ज्ञान और स्वाध्याय मे अपने मन को सुरक्षित करने वाला हो, (धम्ममणे) श्रुत चारित्ररूप धर्म मे जिसका मन सलग्न है, (अविमणे) चित्तशून्यता से रहित, (सुहमणे) सक्लेशो से रहित—शुभ मनवाला, (अविग्गहमणे) जिसके चित्त मे कोई कलह की बात नहीं है अथवा कदाग्रह से जिसका मन दूर है, (समाहियमणे) जिसका रागद्वेष से रहित सम मन आत्मा मे निहित है, अथवा जिसका मन समाधियुक्त है, अथवा जिसने अपना मन उपशम में स्थापित कर लिया है, और (सद्धा-सवेग-निज्जरमणे) जिसने अपना मन तत्त्वो पर श्रद्धा, सवेग—मोक्ष मार्ग की अभिलाषा और कर्मों की निर्जरा में लगा दिया है, (पवयणवच्छलभावियमणे) जिसका मन प्रवचनो-आगमो के प्रति वात्सल्य से ओतप्रोत है, वह (उट्ठेऊण) ध्यानादि के बाद अपने आसन से उठ कर (य) तथा (पहट्ठतुट्ठे) अत्यन्त हृष्टतुष्ट हो कर, (जहारायणिय) साधुओ की दीक्षा के क्रम से बडे छोटे के क्रमानुसार (साहवे) साधुओ को (भावओ) भाव से (निमतइत्ता) निमन्त्रित करके (च) और (गुरुजणेण) गुरुजनो द्वारा (विइण्णे) लाये हुए आहार का वितरण किये जाने पर (उपविट्ठे) उचित आसन पर बैठ कर, (ससीस) सिर के सहित (काय) शरीर को (तहा) तथा (करतल) हथेली को, (सपमज्जिऊण) पूजनी से अच्छी तरह प्रमार्जन करके (अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए) गुरुजन द्वारा दिये हुए सरस आहार में अनासक्त, अप्राप्त स्वादिष्ट भोजन की लालसा से रहित, रसो में अनुरागरहित होकर (अगरहिए) दाता आदि की निन्दा न करता हुआ, (अणज्झोववण्णे) स्वादिष्ट वस्तुओ मे लीन न हो कर, (अणाइले) कलुषित भावो से दूर होकर, (अलुद्धे) लोलुपता से रहित (अणतट्ठिते) केवल शरीरपोषक ही नहीं, किन्तु परमार्थकारी साधु (असुरसुर) सुर् सुर् आवाज न करता हुआ (अचवचव) चपचप न करता हुआ (अदुत) न तो जल्दी-जल्दी हो, और (अविलबिय) न ज्यादा देर से ही (अपरिसाडि) भोजन जमीन पर न गिराते हुए, (आलोयभाजणे) चौडे प्रकाशयुक्त पात्र मे (जय) मन-वचन-काया की यतनापूर्वक (पयत्तेण) आदरपूर्वक (ववगयजोग) सयोजनादोष से रहित, (अणिगाल) अगार—रागभाव के दोष से रहित, (विगयधूम) धूम—द्वेषभाव के दोष से रहित, (अक्खोवजणवणाणुलेवणभूय) गाडी की धुरी मे तेल देने या घाव पर मरहम लगाने के समान (सजमजायामायानिमित्त) केवल सयमयात्रा के निर्वाह के लिए (सजमभारवहणट्ठयाए) सयम के भार को वहन करने के लिए (पाणधारणट्ठयाए) प्राणो को धारण करने के लिए (सजए)

साधु (समिय) सम्यक् प्रकार से अथवा यतनापूर्वक (भु जेज्जा) भोजन करे। (एव) उक्त प्रकार से (आहारसमितिजोगेण) आहार मे सम्यक्प्रवृत्ति के योग से (भावितो) भावित—भावनायुक्त, (अतरप्पा) अन्तरात्मा (असवलमसकिलिट्ठनिव्वणचरित्त-भावणाए) शवलदोषरहित, असक्लिष्ट परिणामी, अखडचारित्र की भावना से युक्त (सजए) सयम मे प्रयत्नशील (सुसाहू) सुसाधु ही (अहिंसए) अहिंसक (भवति) होता है। (पचम) पाचवीं भावना (आदाणनिक्खेवणसमिई) वस्तु के उठाने और रखने मे सम्यकप्रवृत्तिरूप आदानिक्षेपणसमिति है। उसमे (पीढफलगसिज्जासथारग-वत्थपत्तकवलदडगरयहरणचोलपट्टगमुहपोत्तिगपायपु छणादी) पीठ—चौकी, फलक—पट्टा, शय्या—शयन करने का आसन, सस्तारक—घास या दर्भ का विछौना, वस्त्र, पात्र, कवल, दड, रजोहरण, चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका, पैर पोछने का कपडा आदि (व) अथवा (एव) ये तथा (अपि) और भी (उवगरण) उपकरण (सजमस्स उववूहण-ट्ठयाए) सयम की वृद्धि पुष्टि के लिए (वातातवदसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए) हवा, धूप, डास, मच्छर और ठड आदि से शरीर की भलीभाति रक्षा के लिए (परिहरितव्व) रखने चाहिए। (सजएण) सयमी साधु को (निच्च) सदा (पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणाए) इन उपकरणो के प्रतिलेखन, प्रस्फोटन—यत्नपूर्वक झटकने, तथा प्रमार्जन करने मे (अहो य राओ य) दिन और रात मे(सयय अप्पमत्तेण) सतत प्रमाद रहित (होई) होकर (भायणभडोवहिउवगरण) भाजन-काष्ठ पात्र आदि,मिट्टी के पात्र आदि तथा वस्त्र आदि उपकरण (निक्खियव्व) नीचे रखने चाहिए (च) और (गिण्हियव्व) ग्रहण करने या उठाने चाहिए। (एव) उक्त प्रकार से (आयाणभडनिक्खेवणासमिति-जोगेण) आदानभाडनिक्षेपणसमिति के योग से (भाविओ) भावित—भावनाओ से युक्त (अतरप्पा) अन्तरात्मा, (असवलमसकिलिट्ठ-निव्वणचरित्तभावणाए) शवलदोष-रहित, शुद्ध परिणामी, अखड चारित्र की भावनाओ से युक्त (सजए) सयत (सुसाहू) सुसाधु ही (अहिंसए) अहिंसक (भवति) होता है।

(एव) इस प्रकार (इण) यह (सवरस्स दार) अहिंसारूप सवर का द्वार—उपाय है, (मणवयणकायपरिरक्खिएहिं) मन, वचन और काया के द्वारा सब तरह से रक्षित, (इमेहिं पचहि वि कारणेहि) भावनारूप इन पाचो कारणो से (णिच्च) सदा (आमरण त) मरणपर्यन्त (सम्म सवरिय होइ सुप्पणिहिय) जो सम्यक्रूप से आसे-वित—आचरित होने पर मन मे जम जाता है, (य) तथा (धितिमता) धैर्यवान् यानी स्वस्थचित्त वाले, (मतिमता) बुद्धिमान साधु को (अणासवो) नये कर्मा के

आश्रव—आगमन से रहित, (अकलुणो) दयनीयता से रहित (अकलुसो) कलुषता से रहित (अच्छिद्दो) छिद्ररहित-अनाश्रव (अपरिस्सावी) पापरूप जल के परिस्राव—झरने से दूर, (असंकिलिट्ठो) मानसिक क्लेश से रहित, (सुद्धो) शुद्ध और (सव्वजिणमणुन्नातो) सभी जिनवरो द्वारा अनुज्ञात—अनुमत, (एस) यह (जोगो) योग—पंचभावनारूप व्यापार (णेयव्वो) धारण करना चाहिए। (एव) इस प्रकार (फासियं) विधिपूर्वक समय पर स्वीकृत किया हुआ, (पालिय) पालन किया गया, (सोहिय) अतिचार से रहित होने से शोधित, अथवा शोभनीय सुहावना (तीरिय) भलीभांति अन्त तक पार लगाया हुआ (किट्टिय) कीर्तित—प्रशसित या दूसरो को भी कहा गया (आराहिय) आराधित, (पढम सवरदार) पहला सवरद्वार (आणाते अणुपालिय भवति) वीतराग की आज्ञा से—उपदेश से अनुपालित (भवति) होता है। (एव) इस प्रकार (नायमुणिणा) ज्ञातकुल मे उत्पन्न हुए मुनि (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (सिद्धवरसासण) सिद्धो की प्रधान आज्ञारूप (इण) इस सवरद्वार को (पन्नविय) सामान्यरूप से बताया है, (परूविय) विविध नयो की अपेक्षा से भेद-प्रभेदो द्वारा इसका वर्णन किया है। यह (पसिद्ध) प्रसिद्ध है (सिद्ध) प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध है, (आघवित) जनता में इसकी अच्छी प्रतिष्ठा है, अथवा जनता के सामने इसे बारबार कहा है, इसके सम्बन्ध में देव, मनुष्य और असुरो के परिषद् में अच्छे ढग से उपदेश दिया है यह (पसत्थ) मगलरूप, (पढमसवरदार) पहला सवरद्वार (समत्त) समाप्त हुआ। (ति बेमि) ऐसा मैं—सुधर्मा स्वामी कहता हूँ।

मूलार्थ—प्रथम अहिंसाव्रत की ये निम्नोक्त पाँच भावनाएँ है, जो हिंसा से विरमणरूप अहिंसा की सब ओर से सुरक्षा के लिए है। पहली ईर्यासमिति भावना है, जो इस प्रकार है—स्थान—ठहरने, व गमन करने मे प्रवचनाराधनारूप गुण के योग से सलग्न तथा गाडी के जूवे के प्रमाण चार हाथ आगे की भूमि पर पडने वाली दृष्टि से कीट, पतग, त्रस और स्थावर प्राणियो की दया मे तत्पर हमेशा फूल, फल, छाल, पत्ते, कद, मूल, पानी, मिट्टी, बीज और हरितकाय का बचाव करते हुए सम्यक् प्रकार से गमन-विचरण करना चाहिए। इस प्रकार ईर्यासमिति से चर्या करने वाले साधु को सचमुच किसी भी प्राणी की अवहेलना—उपेक्षा नही करनी चाहिए, न निन्दा करनी चाहिए, न दूसरो के सामने गर्हा बुराई करनी चाहिए, न उनकी हिंसा करनी चाहिए, न उनके टुकडे करने चाहिए

और न ही अडे आदि को फोडना चाहिए, न जीवो को हैरान—तग करना चाहिए। ये जीव जरा भी भय और दु ख पहुँचाने लायक नही है। इस प्रकार ईर्यासमिति मे मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से जो अन्तरात्मा भावित होता है, वह शवलदोपो से रहित, असक्लिष्ट परिणामी तथा अक्षतचारित्र की भावना से ओतप्रोत, मृपावाद आदि से विरत सयमशील मोक्ष का उत्तम साधक और अहिंसक होता है। दूसरी भावना मन समिति है, जो इस प्रकार है—पापरूप दुष्ट मन से पापकारी, अधर्मयुक्त, दारुण, निर्दय, वध, वधन और सताप से भरपूर एव भय, मृत्यु और क्लेश से कलुषित—मलिन पाप मे डूवे हुए धृष्ट मन से कदापि जरा-सा भी पापयुक्त चिन्तन नही करना चाहिए। इस प्रकार चित्त के सत्प्रवृत्तिरूप व्यापार से भावित अन्तरात्मा ही अशवल, असक्लिष्ट तथा अखंड चारित्र की भावना से युक्त सयमी स्वपरकल्याणसाधक सुसाधु ही अहिंसक होता है। तृतीय भावना वचनसमितिरूप है, जो इस प्रकार है—पापरूप वाणी के द्वारा सावद्य, अधर्मयुक्त, कठोर, घातक, वध, वध और क्लेश से परिपूर्ण, बुढापा, मृत्यु आदि के क्लेशो से क्लिष्ट वचन कदापि जरा-सा भी नही वोलना चाहिए। इस प्रकार वचनसमिति के सम्यक् प्रवृत्ति रूप योग से भावित अन्तरात्मा शवलदोषरहित, सक्लेश से दूर तथा अखडचारित्र की भावना से ओतप्रोत, सयमी, सुसाधु शान्त अन्त करण वाला मुनि ही अहिंसक होता है।

चौथी भावना एपणासमिति है, जो इस प्रकार है—अशनादि चतुर्विध आहार की एपणा से शुद्ध अनेक घरो से भ्रमरवृत्ति की तरह थोडी-थोडी भिक्षा गवेपणापूर्वक ग्रहण करनी चाहिए। भिक्षाकर्ता अज्ञात हो यानी वह धनाढ्य घर का दीक्षित है, ऐसा दाता को मालूम न हो स्वय भी लोगो के सामने ऐसा कुछ प्रकाशित न करे, अपने परिचितो या सम्बन्धियो के मोहजाल मे न फंसा हो, भिक्षा न देने वालो पर द्वेप युक्त भी न हो, भिक्षा प्राप्त न होने पर दीन न हो, दयनीय भी न हो, विपाद से रहित हो, मन वचन-काया की सम्यक् प्रवृत्ति मे वह विना थके लगा हुआ हो, प्राप्त सयमयोगो की स्थिरता के लिए प्रयत्न, अप्राप्त की प्राप्ति के लिए उद्यम, विनय के आचरण तथा क्षमा आदि गुणो की प्रवृत्ति के प्रयोग मे जुटा हुआ साधु भिक्षाचरी के ऊँच-नीच मध्यम स्थिति के घरो मे समभावपूर्वक घूम कर अनेक घरो से थोडा-थोडा आहार ले कर गुरुजन के पास आए। और भिक्षा के लिए जाने-आने मे जो

दोष लगे हो, उनका प्रतिक्रमण करके निवृत्त हो जाय और तव गुरु के समक्ष अपने दोषो की प्रगट आलोचना करके गुरु अथवा गुरु के द्वारा निर्दिष्ट वडे साधु के उपदेश के अनुसार अतिचारो से रहित होकर अप्रमत्त रहे। और पुन अज्ञात या आलोचना से शेष रहे हुए अनेषणादोषो के बारे मे प्रयत्नवान् हो कर प्रतिक्रमण करके प्रशान्त हो जाय और तदनन्तर एक मुहूर्तभर सुखपूर्वक बैठा- बैठा धर्मध्यान, शुभयोग, ज्ञान और स्वाध्याय मे अपना मन लगाए। श्रुतचारित्र रूप धर्म मे उसका मन सलग्न हो, चित्त शून्यता से रहित हो, वह सक्लेशो से रहित, शुभ मन वाला हो, लडाई-झगडो से दूर रहने वाले शान्त मन का धनी हो अथवा कदाग्रहरहित मन का स्वामी हो, समाहित मन वाला हो, तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सवेग और निर्जरा मे मन लगा हो, अन्त करण तीर्थंकर के प्रवचनो के प्रति वात्सल्य से ओतप्रोत हो, ऐसा साधु अपने स्थान से उठ कर अत्यन्त हृष्टतुष्ट होता हुआ दीक्षाक्रम से बडे-छोटे साधुओ को भाव-पूर्वक निमत्रित करके तथा गुरुजनो द्वारा आहार का वितरण किये जाने पर उचित आसन पर बैठ कर सिरसहित शरीर और हथेली को भली-भाति प्रमार्जित करके गुरु द्वारा दिये हुए सरस आहार मे अनासक्त, अप्राप्त स्वादिष्ट भोजन की लालसा से रहित, दाता आदि की निंदा न करता हुआ, स्वादिष्ट वस्तुओ मे लीनता न रखता हुआ,कलुषित भावो से मुक्त,लोलुपता से रहित और लोभरहित हो कर, केवल शरीरपोषक ही नही, अपितु, परमार्थ-कारी साधु सुरसुर न करते हुए व चप-चप न करते हुए न तो जल्दी-जल्दी खाए और न ही बहुत देर लगाए तथा जमीन पर न गिराते हुए प्रकाशयुक्त चौडे पात्र मे यतना से आदरपूर्वक भोजन करे तथा भोजन करते समय भी सयोजन, अगार, धूम आदि ग्रासैषणा के ५ दोषो से दूर रहे और गाडी की धुरी मे तेल देने या घाव पर मरहम लगाने के समान केवल सयमयात्रा को सुख पूर्वक चलाने मात्र के लिए, सयम का भार वहन करने के लिए और प्राणो को धारण करने के लिए साधु सम्यक् प्रकार से यतनापूर्वक भोजन करे। उक्त प्रकार से आहार मे सम्यक् प्रवृत्ति के योग से भावित अन्तरात्मा शवलदोष से रहित, असक्लिष्ट चित्तवृत्ति वाला, अखड चारित्र की भावना से युक्त सयमी सुसाधु ही अहिंसक होता है। पाचवी भावना आदाननिक्षेप-समिति है, जो इस प्रकार है। साधु को पीठ—चौकी, पट्टा, शय्या, दर्भ या

घास का बिछौना, वस्त्र, पात्र, कवल, दड, रजोहरण, चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका और पैर पौछने का कपडा आदि अथवा ये तथा और भी दूसरे उपकरण सयम की वृद्धि-पुष्टि के लिए रखने चाहिएँ। सयमी साधु को उनका सदा प्रतिलेखन, प्रस्फोटन—झटकने और प्रमार्जन करने मे दिन और रात मे सतत अप्रमादी हो कर भाजन-काष्ठ पात्र आदि, भाण्ड-मिट्टी के घडे आदि उपधि एव वस्त्रादि उपकरण रखने और ग्रहण करने चाहिएँ।

इस प्रकार आदानभाडनिक्षेपणसमिति के योग से भावित अन्तरात्मा शवलदोपो से रहित, असक्लिष्ट परिणामो और अखड चारित्र की भावनाओ से युक्त सयमी सुसाधु ही अहिंसक होता है।

इस प्रकार यह अहिंसारूप सवरद्वार मन-वचन-काया द्वारा भावना-रूप पाचो कारणो से सदा आमरणान्त सुरक्षित है, वह सम्यक्रूप से आचरित होने पर हृदय मे अच्छी तरह जम जाता है। तथा यह पाच भावनारूप व्यापार धृतिमान् और बुद्धिमान् साधु के लिए अनाश्रवरूप—नये कर्मो के आगमन से रहित है, यह दयनीयता से रहित है, या कालुष्य से रहित है, कर्म-जल के प्रवेश से रहित अच्छिद्र है, शुद्ध है तथा सभी जिनवरो द्वारा अनुज्ञात है। अत पचभावनारूप इस प्रवृत्ति को धारण करना चाहिए। इस प्रकार विधिपूर्वक समय पर स्वीकृत किया हुआ, पालन किया हुआ, सुशोभित या शोधित, अच्छी तरह से अन्त तक पार लगाया हुआ, कीर्तित और आराधित यह प्रथम सवरद्वार वीतराग की आज्ञा से अनुपालित होता है। इस प्रकार ज्ञातकुल मे उत्पन्न भगवान् महावीर स्वामी ने सिद्धो की प्रधान आज्ञारूप यह सवरद्वार सामान्यरूप से बताया है, विविध नयो की अपेक्षा से भेद-प्रभेदो द्वारा इसका वर्णन किया है, यह प्रसिद्ध है, प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध है, जनता मे इसकी अच्छी प्रतिष्ठा जमी हुई है, अथवा जनता के सामने भगवान् ने इसे बार-बार कहा है, इसके सम्बन्ध मे प्रभु ने देवो, मनुष्यो और असुरो की परिषद् मे अच्छे ढग से उपदेश दिया है। यह प्रशस्त मगलरूप प्रथम सवरद्वार समाप्त हुआ। ऐसा मै (सुधर्मास्वामी) कहता हू।

व्याख्या

पूर्वसूत्रपाठ मे पूर्णरूप से अहिंसा के आराधक महाव्रती साधु के जीवन की आहार-वस्त्र-पात्रादि मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति मे सभावित आरम्भ-समारम्भ-जन्य हिंसा से बच कर अहिंसा का पूर्णतया पालन करने हेतु शास्त्रकार भिक्षाचरी

करने और भिक्षाचर्या मे सम्भावित दोषो से बचने की विधि का विशदरूप से निर्देश कर चुके। लेकिन जहा तक शरीर है, वहा तक शरीर से सम्बन्धित खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, मलमूत्रादि का उत्सर्ग करना, सोना-जागना, बोलना, सोचना-विचारना आदि विभिन्न प्रवृत्तियो का जमघट लगा रहेगा। इन प्रवृत्तियो को सर्वथा ठुकरा कर निश्चेष्ट हो कर एक जगह बैठना भी सम्भव नही है। अत इन और ऐसी ही शरीरसम्बद्ध अन्यान्य प्रवृत्तियो को करते समय हिंसा हो जाना स्वाभाविक है। अत भोजनादि आवश्यकताओ की पूर्ति की समस्या को हल करने के बाद इस सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने बताया है कि शरीर से सम्बन्धित अन्यान्य प्रवृत्तियो मे होने वाली हिंसा से साधु कैसे बचे और अहिंसा का ठीक ढग से कैसे पालन करे? इसके लिए शास्त्रकार ने सवरद्वार की प्रस्तावना मे प्रतिज्ञा की थी **'तीसे सभावणाए उ किचि वोच्छ गुणुद्देस'** अर्थात्—भावनाओ सहित उस अहिंसा के कुछ गुणो का वर्णन करूगा।' तदनुसार उन्होने प्रथमसवर अहिंसाव्रत की मुख्य पाच भावनाएँ बताई है, ताकि इन भावनाओ के सहारे साधुजीवन अन्त तक टिका रह सके और इनके अनुसार चल कर अहिंसा भगवती की पूर्णरूप से उपासना कर सके, साथ ही अहिंसापालन मे उसकी रुचि, श्रद्धा, स्फूर्ति, सवेग, उत्साह, धृति, शक्ति, दृढता और तीव्रता मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे।

पाच भावनाओ की उपयोगिता—चूकि साधु एक ओर से जीवनपर्यंत छोटे से छोटे और बडे से बडे प्रत्येक प्राणो की मन-वचन-काया से सर्वथा हिंसा करने का त्याग करता है, और दूसरी ओर से जीवनपर्यन्त समस्त प्राणियो की सब प्रकार से रक्षा करने की प्रतिज्ञा लेता है। यही उसके अहिंसामहाव्रत का स्पष्ट रूप है। मानव-जीवन मे विभिन्न प्रवृत्तियो के स्रोत तीन है- मन, वचन और काया। इन्ही से अहिंसा का पालन हो सकता है। पूर्ण अहिंसक मुनि तभी अहिंसा का ठीक ढग से पालन कर सकता है, जब वह आत्मचिन्तन आदि शुद्धोपयोग मे सतत लीन रहने के लिए अपने मन को धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे लगाए रखे। मगर उत्तम सहनन वाले महामुनि भी अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा इन दोनो शुभ ध्यानो मे टिके नही रह सकते, और मन, वचन और काया के योगो की प्रवृत्ति भी सर्वथा तो तभी रुकती है, जब साधक १४वे सर्वोच्च गुणस्थान की भूमिका पर पहुच जाता है। इसलिए मध्यम मार्ग यही फलित होता है कि मन, वचन और काया से होने वाली विभिन्न प्रवृत्तियाँ सर्वथा रोकी न जाय, साथ ही लक्ष्य से विपरीत जाती हुई मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियो से साधक को बचाया भी जाय। अगर इन तीनो प्रवृत्तिस्रोतो की प्रवृत्तियो को खुल कर खेलने दिया जायगा तो इनसे निश्चित ही हिंसा होगी। मन बुरे विचारो मे प्रवृत्त हो कर भाव हिंसा करेगा, वाणी कटु, कठोर, घातक और दुष्ट

वचनो का उच्चारण करके तथा शरीर असावधानी से गमनागमन आदि विभिन्न चेष्टाएँ करके द्रव्यहिंसा करेगा। अत इन तीनो प्रवृत्तिस्रोतो से होने वाली दुष्प्रवृत्तियो पर रोक लगाना अहिंसा के पूर्ण आराधक के लिए बहुत जरूरी है। प्रश्न होता है कि इन तीनो की दुष्प्रवृत्तियो को रोकने के लिए कौन-सा उपाय सर्वोत्तम रहेगा? इसके समाधानहेतु शास्त्रकार अहिंसामहाव्रत की पूर्वोक्त पाच भावनाएँ प्रस्तुत करते है। ये पाचो भावनाएं मिल कर साधक को हिंसा मे प्रवृत्त होने का खतरा उपस्थित होते ही तुरत सावधान कर देती हैं उसे आगे बढने से रोक देती हैं। जिस प्रकार माता अपने बालक को अच्छे रास्ते पर चलने की हिदायत देती है, स्वय उसकी उ गली पकड कर चलना सिखाती है और सकट से बचाती है, साथ ही बुरे रास्ते पर जाने से रोकती है, पहले से ही वह बुरे रास्ते पर जाने के खतरो से उसे सावधान कर देती है, उसी प्रकार ये पाचो भावनाएँ भी साधक के लिए माताओ की तरह है। ये भी साधक को अच्छे रास्ते पर प्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करती है, सयम रूप सन्मार्ग पर चलना सिखाती है, साधक को सकटो से भी से बचाती है और बुरे रास्ते की ओर प्रवृत्ति करने से रोकती है। तमाम प्रवृत्तियो को बद करवा कर ये साधक के जीवन का सर्वाङ्गीण विकास भी नही रोकती और उसे विकास-घातक दुष्प्रवृत्तियो मे भी प्रवृत्त नही होने देती।

जीवन के हर मोड पर प्रहरी बन कर ये साधक को अपनी प्रवृत्तियो मे सावधान रहने का सकेत देती है। अगर साधक अपनी प्रवृत्तियो को खुला मैदान दे देता है तो उसकी अहिंसा की साधना खटाई मे पड जाती है। ये पाचो भावनाए अहिंसा के साधक मे अहिंसा के सस्कार इतने मजबूत कर देती है कि समय आने पर वह हिंसाजन्य प्रवृत्ति की ओर से तुरत मु ह मोड लेता है। सस्कार बार-बार के अभ्यास से ही सुदृढ होते है। अहिंसा का साधक जब अपने मन, वचन, काया को इन भावनाओ का आश्रय ले कर शुभ प्रवृत्तियो की ओर मोड लेता है तो उसे अशुभ प्रवृत्तियो की ओर झाँकने का मौका ही नही मिलता। आखिरकार माता भी तो अपनी सतान मे उच्च भावनाएँ भर कर सुसस्कार जगाती है। कहा भी है—'भावणाजोगसुद्धप्पा जले नावा व आहिया' यानी भावना के प्रयोग से शुद्धात्मा उसी प्रकार है, जिस प्रकार जल पर नौका पडी रहती है, फिर भी डूबती नही है।

अत यह नि सदेह कहा जा सकता है कि ये पाचो भावनाएँ अहिंसा के साधक की रक्षा करने के लिए बाड के समान है। जैसे बाड से अनाज के लहलहाते खेत की रक्षा हो जाती है, वैसे ही भावनारूपी बाड से अहिंसामहाव्रती साधक की और उसके अहिंसा व्रत की रक्षा हो जाती है। शास्त्रकार स्वय इस बात की पुष्टि करते है—'तस्स इमा पच भावणातो पढमस्स वयस्स होंति पाणातिपातवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए।

अर्थात्—प्रथम व्रत की ये पाँच भावनाए प्राणातिपात-हिंसा से विरतिरूप अहिंसा की सब ओर से रक्षा के लिए है। यही इन भावनाओ की वास्तविक उपयोगिता है। अगर ये भावनाएँ न होती तो साधक न जाने कहाँ से कहाँ जा कर पतन के गड्ढे मे गिरता। अहिंसामहाव्रत की प्रतिज्ञा ले लेने मात्र से ही तो अहिंसा का पालन नही हो जाता। जीवन के हर मोड पर साधक के सामने अहिंसा रहे, हर प्रवृत्ति मे वह अहिंसा को अनुप्राणित देखे, तभी अहिसा का पालन हो सकता है। और यह सब भावनाओ से जनित सस्कारो की दृढता पर निर्भर है। इससे यह अदाजा लगाया जा सकता है कि अहिंसा के साधक के लिए इन भावनाओ का जीवन मे कितना महत्व और स्थान है। स्पष्ट शब्दो मे कहे तो जब तक इन पाचो भावनाओ के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान और तदनुसार विशुद्ध चिन्तन नही हो सकेगा, तब तक प्राणातिपातविरमणरूप अहिसामहाव्रत का पालन यथार्थरूप मे नही होगा। अब सवाल यह होता है कि मनुष्य के जीवन मे तो असख्य प्रवृत्तियाँ होती है, फिर इन पाच ही भावनाओ से कैसे काम चलेगा ? असख्य भावनाओ की जरूरत रहेगी ? इसके उत्तर मे इतना ही निवेदन है कि प्रवृत्तियाँ असख्य होते हुए भी उनका वर्गीकरण करके मुख्य ५ भागो मे उन्हे बाट दिया गया है,अत उन सब पर ये पाच भावनाएँ ही पूरा पूरा नियत्रण रख सकेगी। सघ मे अनेको साधु होते हुए भी उन पर नियत्रण साधुओ के नायक आचाय के हाथ मे होता है, वैसे ही प्रवृत्तिया अनेको होते हुए भी उनको पाच वर्गो मे बाँट कर जिस वर्ग की जो प्रवृत्ति होगी, उस पर उस वर्ग की भावना नियत्रण कर सकेगी। वैसे भी साधुओ के जीवन मे सीमित और आवश्यक प्रवृत्तियाँ ही होती है। अनावश्यक प्रवृत्तियो को तो वहा स्थान ही नही है। इसलिए साधुजीवन मे सम्भावित हिंसा की प्रवृत्तियो पर इन पाचो भावनाओ का पहरा रहने से द्रव्य और भाव दोनो प्रकार से हिंसा को प्रवेश का मौका नही मिलेगा।

साधुजीवन मे जो सबसे बडी प्रवृत्ति है, वह इन्द्रियो की है। इन मे से वाणी और हाथ की प्रवृत्तियो को छोड कर बाकी इन्द्रियो की प्रवृत्तियो को अशुभ से रोकने और शुभ मे प्रवृत्त करने वाली अहिंसामहाव्रत की प्रथम भावना—ईर्या समिति है। ईर्या का वास्तविक अर्थ चर्या है और चर्या मे केवल गमनागमन ही नही आता, अपितु सोना, बैठना, जागना, हाथ-पर हिलाना, आखो से देखना, कानो से सुनना आदि प्रवृत्तिया भी आ जाती है। इसका सबूत यह है कि शास्त्रकार ने इसी सूत्रपाठ मे प्रथम भावना के वर्णन मे आगे चल कर कहा है—**सव्वपाणा न हीलियव्वा न छिदियव्वा न भिदियव्वा न वहेयव्वा, न भय दुक्ख च किंचि लब्भा पावेउ जे।'** इसमे प्राणियो की अवहेलना, निन्दा, गर्हा, हिंसा, छेदन, भेदन, वध, भयोत्पादन, दु खोत्पादन आदि प्रवृत्तियो का निषेध किया है। पैरो से तो गमना-

गमन को या किसी को ठोकर या लात मारने की प्रवृत्ति हो सकती है, बाकी की वध-छेदन-भेदन आदि प्रवृत्तियाँ प्राय हाथो से होती हैं, कान, आँख, जीभ आदि इन्द्रियाँ उन प्रवृत्तियो मे सहायक बनती हैं। इसलिए फलितार्थ यह हुआ कि चर्या मे उन तमाम प्रवृत्तियो का समाविष्ट किया जा सकता है, जिनमे बाह्यचेष्टा या हरकत होती हो। तभी पूर्वोक्त पक्ति के साथ इसकी सगति बैठेगी।

साधुजीवन मे दूसरी प्रवृत्ति है—**मन** की। मन के अन्तर्गत जितनी भी वैचारिक प्रवृत्तियाँ है, उन सबका जन्म मन मे ही होता है। इसलिए मन समिति अहिंसा की दूसरी भावना है, जो मन से सम्बन्धित तमाम प्रवृत्तियो पर नियत्रण करती है।

साधुजीवन की तीसरी प्रवृत्ति वाणी से सम्बन्धित है। वचन-प्रवृत्ति से सम्बन्धित जितनी भी प्रवृत्तियाँ है—जैसे गाली देना, भाषण देना, बकना, निन्दा करना, आक्षेप करना, भय पैदा करना, धमकी देना आदि, उन सबका समावेश वचनप्रवृत्ति मे हो जाता है। इसलिए वाणी से सम्बन्धित तमाम प्रवृत्तियो पर नियत्रण करने वाली अहिंसा की तृतीय भावना वचनसमिति है।

अब दो प्रवृत्तियाँ और है, जो साधु-जीवन मे खास है—(१) भोजन-वस्त्रादि लाने और उनका उपयोग करने की तथा (२) वस्त्र-पात्रादि को उठाने-रखने की एव मलमूत्र, पसीना, लीट, कफ आदि शरीर के विकारो को डालने की। साधु-जीवन की इन दोनो आवश्यक प्रवृत्तियो के लिए अहिंसामहाव्रत की क्रमश चौथी—एषणासमितिभावना एव पाँचवी आदाननिक्षेपणसमितिभावना है।

इनके सिवाय साधुजीवन के लिए और कोई खास प्रवृत्ति बची नही है। बीमार पडने पर इलाज या औषधादि प्रयोग जैसी कोई साधुजीवन मे आवश्यक प्रवृत्ति बचती भी है, तो उसका समावेश ईर्यासमिति मे हो जाता है।

पाच भावनाओ का स्वरूप—अब हम क्रमश इन पाचो भावनाओ के स्वरूप पर प्रकाश डालेंगे—

(१) **ईर्यासमितिभावना**—साधु की गमनागमन आदि जितनी भी चर्याएँ है, उन सब मे प्रवृत्त होने से पहले साधु आखो से खूब अच्छी तरह सावधानी से देख ले। उतावली से कोई भी चर्या न करे। रास्ते मे चलते समय या स्थान पर भी उठने-बैठने, सोने आदि की चर्या करते समय छोटा या बडा, स्थावर या त्रस कोई भी जीव मरे नही, डरे नही, कुचला न जाय, तकलीफ न पाए, उसे मारा-पीटा या सताया न जाय, बल्कि यहा तक कि वह रास्ते मे पडा कराह रहा हो, छटपटा रहा हो या तकलीफ पा रहा हो तो उसकी उपेक्षा न करे, न उसके तुच्छ जीवन की बुराई या निन्दा करे, अपितु उसे निर्भय और दु खमुक्त करने का यथोचित प्रयत्न किया जाय। समस्त प्राणियो

का रक्षक और माता-पिता होने के नाते साधु को छोटे-बडे सभी प्राणियो के प्रति दया-परायण हो कर रहना चाहिए ।

(२)मन समिति भावना—मन मे जो भी विचार या भाव उठे, उसे पहले जाँचे-परखे कि यह धर्मयुक्त हे या अधर्मयुक्त ? पापकारी है या पुण्यकारी ? दूसरो को हानि, वध, बधन, पीडा, मृत्यु, भय क्लेश आदि पहुचाने वाला तो नही है ? यदि कोई भी हानिकर,पापवर्द्धक या अशुभ विचार मन मे आने लगे तो तुरत उसे रोक देना चाहिए। जरा-सा भी खराव विचार कभी मन मे न घुसने पाए, और न ही इष्ट-वियोग और अनिष्टसयोग के समय मन मे आर्तध्यान—चिन्ता-शोक ही आना चाहिए । मन को अच्छे विचारो, शुद्धभावो, शुभध्यानो या शुद्ध आत्मचिन्तन की ओर लगाए रखना, यही मन समिति भावना है ।

(३) वचनसमितिभावना—वाणी से कर्कश, कठोर, हिंसाकारक, छेदनभेदन-कारक, सावद्य—पापमय प्रवृत्ति मे डालने वाला, असत्य, किसी भी प्राणी के लिए वध, बधन, क्लेश, भय, मृत्यु आदि का जनक, तीखा, कटाक्ष, दिल को चुभने वाला वचन साधु न बोले, वाणी पर सयम रखे । जव भी वोलना हो, तो हित, परिमित, पथ्य, सत्य और मधुर वचन वोले । यही वचनसमितिभावना है ।

(४) एषणासमिति भावना—भोजन,वस्त्र, पात्र आदि जीवन की कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ है । जव तक शरीर रहता है, तव तक उनकी पूर्ति करना जरूरी है, क्योकि शरीर के टिके बिना धर्मपालन भी कैसे होगा ? स्वाध्याय, ध्यान, सेवा या स्वपरकल्याण के कार्यो मे प्रवृत्ति भी स्वस्थ और सशक्त शरीर के बिना कैसे होगी ? अत साधुजीवन के लिए शास्त्रविहित उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषो से रहित शुद्ध भिक्षाचर्या बताई है। उसके जरिये ही भोजनवस्त्रादि आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करे । किन्तु भोजन भी गाडी की धुरी मे तेल डालने या घाव पर मरहम लगाने के समान केवल सयमी जीवनयात्रा को चलाने के लिए ही करे, मौज मजा के लिए नही । भोजन करते समय भी सयोजन, अगार, धूम आदि ग्रासैषणा के दोषो से वचे । भोजनादि का ग्रहण भी केवल सयमयात्रा एव प्राणधारण करने के हेतु से अत्यन्त शान्तभाव से अदीनतापूर्वक करे । यह एषणासमितिभावना है ।

(५) आदाननिक्षेपणसमितिभावना—साधु की अपनी दैनिक आवश्यकताओ के लिए कुछ धर्मोपकरणो का शास्त्र मे विधान है । किन्तु उन उपकरणो का इस्तेमाल करने के साथ ही यदि उन्हे ठीकतौर से देखे-भाले नही तो उनमे अनेक जीव आ कर वसेरा कर लेते हैं । यदि उन्हे वाद मे हटाया जाय तो उनमे से कई मर जाते है। मरे नही,तो भी उन्हे उस जगह को छोडने मे वडी तकलीफ महसूस होती है । इसलिए उन सब उपकरणो का, जिन्हे साधु इस्तेमाल करता ह, रोजाना आखो से प्रतिलेखन

के सस्कार बद्धमूल हो जायेंगे और २१ शवलदोपो[1] से रहित, शुभपरिणामयुक्त अखड चारित्र की भावना से वह पूर्ण अहिंसक और सुसयमी बन कर मोक्षपक्ष का उत्तम साधक बन जायगा।

मन समिति भावना का विशिष्ट चिन्तन, प्रयोग और फल—अहिंसा महाव्रत की सुरक्षा के लिए मन के द्वारा होने वाली तमाम प्रवृत्तियो पर नियत्रण होना आवश्यक है। यह नियन्त्रण करती है—मन समिति भावना। प्राणी सवसे अधिक पापवन्ध मन के द्वारा करता है, सर्वप्रथम हिंसा का जन्म मन मे ही होता है, बाह्यहिंसा तो बाद मे होती है। मन इतना जवर्दस्त है कि अगर उसे साधा न जाय तो वह बेकाबू हो कर बडे-बडे साधको को चारो खाने चित्त कर देता है। इसीलिए शास्त्रकार मन की प्रवृत्तियो पर अकुश रखने के लिए मन समितिभावना के चिन्तन और प्रयोग की ओर इशारा करते है—'**मणेण पावएण पावक अहम्मिय न कयावि किंचिवि झायव्व**। इसका तात्पर्य यह है कि मन बडा चचल होता है, वह पापकार्य की ओर झुकते देर नही लगाता। इसलिए मन को पापी कह कर यह सकेत किया है कि 'मन पर कभी भरोसा मत करो। इसकी मलिनता ही सब पापो का उद्गम स्थान है।' इसलिए मन पर कडा पहरा रखो। ज्यो ही यह अधर्मयुक्त विचारो की ओर झुकने लगे, त्यो ही इसे रोको। क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य, असयम आदि तथा मिथ्या दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-आचरण ये अधर्म है। इन अधर्मो की ओर मन को जाने दिया तो यह क्रूर और कठोर हो जायगा, वध, वध, क्लेश-मरण भय आदि के विचार करके पापी बन जायगा। इसलिए इसमे कभी भी जरा-सा भी क्रूर, कठोर और भयकर विचार मत आने दो न दूसरे प्राणियो को पीटने, सताने, बाधने और हैरान करने का विकल्प पैदा होने दो। क्योकि ऐसे कुविचारो और दु सकल्पो से भयकर अशुभ ज्ञानावरणीय, असातावेदनीय आदि कर्मो का तीव्र वन्ध हो जाता है, जिसका फल नरक आदि दुर्गति का भयानक दु ख है। इसलिए मन को स्वाध्याय, उत्तम ध्यान, परोपकार-चिन्तन या क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दस उत्तम धर्मों के चिन्तन मे लगाए रखो। उसे कभी बुरे विचारो के करने का मौका ही न दो। यही मन समितिभावना का चिन्तन और प्रयोग है।

ऐसे उत्तम चिन्तन और प्रयोग के फलस्वरूप मन मे बुरे विचार जड से उखड कर शुद्ध शुभ विचारो के सस्कार जड जमा लेंगे और ऐसे साधु की अन्तरात्मा शुद्ध, अखडचारित्र की भावना से पूर्ण अहिंसक सयमी बन जायगी, वही सुसाधु उत्तम

---

१ शवलदोपो की विशेप जानकारी के लिए देखो, दशाश्रुतस्कन्धसूत्र।

—सपादक

मोक्ष को उपलब्ध कर लेगा। इसी की ओर शास्त्रकार इंगित कर रहे है—**'मण-समितिजोगेण भावितो अहिंसओ संजओ सुसाहू।'**

वचनसमिति भावना का विशिष्ट चिन्तन, प्रयोग और फल—अहिंसा महाव्रत को सुरक्षित रखने के लिए वचन के द्वारा होने वाली तमाम प्रवृत्तियो पर अंकुश रखने के लिए तीसरी वचनसमितिभावना है, जिसके चिन्तन और प्रयोग की ओर शास्त्रकार संकेत करते हैं—**'वतीते पावियाते पावकं न किंचि वि भासियव्वं'**। इसका आशय यह है कि प्रवृत्ति के लिए मन के बाद वचन दूसरा साधन है। साधु को अहिंसा का पूर्णरूप से पालन करने के लिए वचन पर नियंत्रण रखना अनिवार्य है। उसे किसी अनिवार्य कारण के बिना तो बोलना ही नही चाहिए। अगर किसी को उपदेश, प्रेरणा, आदेश—निर्देश देना ही पडे तो बडी सावधानी से हित, मित, पथ्य, सत्य और मृदु वचन बोले। परन्तु कई साधको को अभिमानवश अपनी प्रशंसा और दूसरो की निन्दा अथवा दूसरो को नीचा दिखाने या बदनाम करने के लिए उनके दोष प्रगट करने की या कटु आलोचना या साम्प्रदायिक विद्वेषवश दूसरे सम्प्रदाय या सम्प्रदायभक्तो का खण्डन करने की आदत हो जाती है। बोलते समय जबान पर नियंत्रण न होने के कारण वे अपशब्द, गाली, कर्कश शब्द और तानो का भी प्रयोग कर बैठते है। कई बार वे अविवेकवश प्राणिघातजनक, पीडाजनक सावद्य वचन कह डालते है, जो सीधे हिंसाजनक होते है, स्वपर के लिए अकल्याणकारी होते है। अधिक डीगे हाकने वालो, व्यर्थ की उलजलूल बातें कह कर गाल बजाने वालो या वाचालो की वाणी की कोई कद्र नही होती, न किसी को उनके कथन पर प्रतीति होती है। इसी प्रकार मुंह से जो वचन कहा जाता है, उस पर अमल न करने पर भी लोगो को उस पर अविश्वास हो जाता है। असत्यवचन भी एक तरह से भावहिंसा-जनक होता है। इसीलिए शास्त्रकार ऐसे अधर्मयुक्त, कर्कश, भयंकर तथा वध, बंध और संक्लेश पैदा करने वाले पापकारी वचन बोलने से सावधान रहने का निर्देश करते है कि जिन वचनो से धर्ममर्यादा नष्ट होती हो, जो परपीडाजनक हो, ऐसे पापमय वचनो का कदापि जरा-सा भी उच्चारण नही करना चाहिए।

इस प्रकार वचनसमितिभावना के अनुसार चिन्तन और प्रयोग करने के फलस्वरूप साधक को क्या लाभ होता है? इसी बात को शास्त्रकार ध्वनित करते है—**'वयसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा अहिंसओ संजओ सुसाहू।'** तात्पर्य यह है कि वचनसमिति भावना के पूर्वोक्त चिन्तन और अभ्यास से साधक की अन्तरात्मा मे शुद्ध सुसंस्कार जड जमा लेते है, जिसके कारण अहिंसा की यथार्थ आराधना करके वह संयमी सुसाधु मोक्ष सिद्धि पा लेता है।

एषणासमितिभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—अहिंसामहाव्रत की

सुरक्षा के लिए साधक मे स्फूर्ति और उत्साह बढाने वाली चौथी एषणासमिति भावना है। इस पर चिन्तन का सकेत शास्त्रकार ने विशदरूप से किया है— **आहारएसणाए सुद्ध उछ गवेसियव्व, अन्नाए भिक्खू भिक्खेसणाते जुत्ते, सामुदाणेऊण भिक्खायरिय उछ घेत्त ण सजमजायामायानिमित्त भु जेज्जा सजमभारवहणट्ठयाए पाण-धारणट्ठयाए समिय।** इस समिति के चिन्तनहेतु शास्त्रकार ने तीन बातो की ओर सकेत किया है—(१) भिक्षु शुद्धभिक्षा किस तरीके से लाए ? (२) भिक्षाप्राप्त आहार का सेवन किस प्रकार करे ? (३) आहार क्यो और किसलिए किया जाय ? इसका तात्पर्य यह है कि पचमहाव्रती पूर्ण अहिंसक साधु को अपने सयम का और साधुधर्म का भलीभाति पालन करना है। और शरीर सयम एव धर्म के पालन का मुख्य साधन है। शरीर को टिकाए बिना सयम और धर्म का पालन नही हो सकता। शरीरधारण के लिए भोजन-पानी लेना आवश्यक है। अगर आहार-पानी लेना सदा के लिए बद कर दिया जाय तो शरीर चल नही सकेगा। उधर अहिंसा का भी उसे पूर्णरूप से पालन करना है। भोजन बनाने-बनवाने मे हिंसा होती है, अत पट्काय के जीवो का रक्षक और पीहर बना हुआ साधु जीवहिंसा के पथ पर कदम नही बढा सकता। इसी उद्देश्य से पिछले सूत्र के उत्तरार्द्ध मे भिक्षाविधि का निरूपण शास्त्रकार ने किया है। यहाँ भी एषणासमिति के प्रारम्भ मे एक वाक्य मे वही बात दुहरा दी है कि आहार का इच्छुक भिक्षु भिक्षाचर्या द्वारा कई घरो से थोडा-थोडा ले कर शुद्ध आहार ग्रहण करे। शुद्धशब्द यहाँ पिछले सूत्र मे बताए हुए ४२ दोषो से रहित आहार को ध्वनित करता है और उञ्छशब्द ध्वनित करता है—माधुकरी और गोचरी को। इसका आशय यह है कि जैसे गाय मूल से पौधे को उखाडे बिना ऊपर-ऊपर से घास आदि को चरती-चरती चली जाती है, इससे गाय की भी तृप्ति हो जाती है और पौधा भी जडमूल से नही उखडता, वैसे ही साधु भी अनेक घरो से गृहस्थो के यहाँ उनके अपने लिए बने हुए भोजन मे से थोडा-थोडा ले कर अपनी पूर्ति और तृप्ति कर ले। और गृहस्थो को भी इससे कोई कष्ट नही होता। यह गोचरी कहलाती है। इसी प्रकार जैसे भौरा फूलो का रस लेने के लिए अनेक फूलो पर बैठ कर थोडा-थोडा रस लेता है, जिससे फूलो को भी कोई कष्ट नही होता और भौरा भी अपनी तृप्ति कर लेता है, वैसे ही साधु भी आहार लेने के लिए अनेक घरो मे जाकर थोडा-थोडा भोजन ले, जिससे गृहस्थो को भी कोई कष्ट न हो और साधु की भी तृप्ति हो जाय, इसे माधुकरी कहते है।

भिक्षाचर्या मे शुद्धि के लिए पूर्वसूत्र मे शास्त्रकार बहुत कुछ निर्देश कर चुके है, यहा दूसरे पहलू से भिक्षा-शुद्धि का निर्देश कर रहे है। उनका कहना है कि भिक्षाटन करने वाला साधु दाता के सामने अपना पूर्व परिचय न दे।

साधु का वर्तमान रूप ही उसका परिचय है। इससे अधिक प्रशंसात्मक परिचय तो वह देता है, जिसे बढ़िया पौष्टिक और स्वादिष्ट भोजन या कीमती वस्त्रादि की आकांक्षा हो। साधु को तो शरीर की गाड़ी चलाने के लिए यथालाभ भोजन लेना है। जैसे गाड़ी को ठीक ढंग से चलाने के लिए उसकी धुरी में तेल दिया जाता है,शरीर के घाव पर जैसे मरहम लगा दिया जाता है,वैसे साधु को भी शरीर चलाने के लिए थोड़ा-सा भोजन लेना है। उसे गृहस्थ से यह कहने की क्या जरूरत है कि 'मैं धनाढ्य घर का दीक्षित हुआ हूँ।' कदाचित् गृहस्थ साधु के गृहस्थाश्रमपक्षीय सम्बन्ध को जान भी जाए तो भी उस साधु को अनासक्तभाव धारण करना चाहिए। दाता यदि देने में प्रतिकूलता दिखाए, आनाकानी करे, अथवा अस्वादु आहार साधु को दे तो वह अपने चित्त में उसके प्रति द्वेष या दुर्भाव न आने दे। कदाचित् बहुत जगह घूमने पर भी नियमानुसार आहार न मिले, तो भी साधु मन में दीनता या हीनभावना न आने दे और न ऐसा मुर्झाया चेहरा बना ले, जिससे लोगों को उसे देख कर करुणा पैदा हो। एक दिन भोजन न मिला तो क्या हुआ ? साधु उपवास भी तो करता है। कदाचित् भिक्षाटन के समय कोई साधु का अपमान कर बैठे या अपशब्द कह दे तो भी मन में विषाद न आने दे। घूमते-घूमते काफी देर हो जाने पर भी पर्याप्त आहार न मिले या निर्दोष आहार जरा भी नहीं मिले तो साधु उसके कारण झुंझला कर हारे-थके निराश व्यक्ति की तरह न बैठ जाय, किन्तु उत्साहपूर्वक मन में थकान महसूस किए बिना पुरुषार्थ करता रहे। इतने पर भी न मिले या पर्याप्त आहार न मिले तो साधु की हानि नहीं। वह यही सोचे कि चलो आज अनायास ही उपवास करके कर्मनिर्जरा करने का मौका मिल गया। अथवा यों सोचे कि आत्मा तो निराहारी है। आहार तो शरीर को चाहिए। और यह शरीर तो आहार करते हुए भी क्षीण हो जाता है। यह तो केवल संयम में सहायक है। इसलिए एक दिन इसे आहार न दिया जायगा तो इसका कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं। ऐसा समझ कर निर्दोष आहार की ही गवेषणा करे। भिक्षाचरी करते समय साधु के सामने यह लक्ष्य चमकता रहना चाहिए कि "मुझे बड़ी कठिनता से प्राप्त संयम के योगों को स्थिर रखने के लिए पुरुषार्थ करना है, अप्राप्त संयमधन की प्राप्ति के लिए उद्यम करना है, विनय तथा क्षमा आदि आत्मिक गुणों की प्रवृत्ति में जुटे रहना है।" इस प्रकार भिक्षाचरी करते समय साधु ऊँच, नीच मध्यम सभी स्थिति के लोगों के यहाँ समभावपूर्वक जाय और कल्पनीय-एषणीय आहार समभाव से भिक्षा के रूप में ले कर अपने उपाश्रय (धर्मस्थान) में आ जाय।

यहाँ तक शास्त्रकार ने शुद्ध भिक्षाचरी का तरीका बतलाया, अब आगे भिक्षा-प्राप्त आहार के सेवन का तरीका बताया गया है। क्योंकि कई बार भिक्षा निर्दोष

होने पर भी मनोज्ञ या अमनोज्ञ आहार मिलने पर साधु के मन मे गर्व या दैन्य, हर्ष या अफसोस होता है। कई बार तो वह भाव साधु की चेष्टाओ मे भी उतर आता है। उन भावो से जनता मे अनादर तो होता ही है,भावहिंसा भी हो जाती है। अत उस भाव-हिंसा से वचने के लिए भिक्षाप्राप्त आहार के सेवन की विधि शास्त्रकार ने वताई है। वह भिक्षाप्राप्त आहार ले कर साधु अपने गुरु के पास आए और भिक्षाटन के समय जो भी गमनागमनसम्वन्धी दोप लगे हो, उनका प्रतिक्रमण करे। तत्पश्चात् गुरुचरणो मे जा कर आलोचना करे और उनके उपदेशानुसार प्रायश्चित ले कर शुद्ध हो। फिर सुखपूर्वक आसन पर बैठ कर मुहूर्त्तभर धर्मध्यान, शुभयोग, ज्ञान, स्वाध्याय मे अपने अन्त करण को लीन करे,अन्य सव अशुभ विकल्पो को मन से निकाल दे। उस समय मन को एकाग्रता से धर्मचिन्तन मे लगाए। सूने मन से गुमसुम हो कर न बैठे,अपितु मन को शुभ परिणामो मे जोड दे, उसे क्लेश या कदाग्रह से दूर रखे, आत्मचिन्तन मे एकाग्र हो कर मन को समाधिस्थ कर ले, तथा श्रद्धा,सवेग और निर्जरा की त्रिवेणी मे स्नान कराए। फिर प्रवचन आगम या सघ के प्रति वात्सल्यभावना से मन को ओतप्रोत करके वहाँ से हृष्ट-तुष्ट हो कर उठे और वडे-छोटे के क्रम से भावनापूर्वक सभी उपस्थित साधुओ को बुलाए। गुरुजन आ कर जव सबको आहार वितरित कर दें तो मस्तकसहित अपने सारे शरीर का रजोहरण से प्रमार्जन करे, वस्त्रखण्ड से हाथ पोछे और फिर भोजन करना शुरू करे। भोजन करते समय सरस आहार के प्रति आसक्ति न लाए। जो चीज नही मिली हो, उसकी आकाक्षा न करे,सरस चीज के मोह मे भी न फसे,नीरस भोजन या उसके दाता की निन्दा न करे, न स्वादिष्ट पदार्थों मे अपने मन को लीन करे। भोजनभट्ट बनकर लोभवश अधिक न खाए। भोजन को शरीर के लिए नही, अपितु परमार्थ साधना के लिए समझे। तरल पदार्थ का सेवन करते समय मुह से सुर-सुर या चप-चप आवाज न करे, भोजन भी वहुत जल्दी जल्दी उतावला हो कर न करे, और न ही बहुत धीरे-धीरे करे। भोजन करते समय दाल, साग, रोटी आदि जमीन पर न गिरने दे,अन्यथा चीटी आदि जतुओ के इकट्ठे हो जाने से उनकी विराधना होगी। भोजन भी प्रकाशयुक्त स्थान मे और चौडे प्रकाशयुक्त पात्र मे यतनापूर्वक करे। भोजन करते समय भी ग्रासैषणा के पाच दोनो से वचे। वे पाच दोष इस प्रकार है—सयोगदोष, प्रमाणदोष, धूमदोष, अगारदोप, और कारणदोप, भोजन के एक पदार्थ को स्वादिष्ट और सरस बनाने के लिए उसमे दूसरी चीज का रसलोलुपतावश सयोग करना, सयोजनादोप या सयोगदोष है। दूसरा प्रमाण दोप है। पिंडनिर्युक्ति आदि ग्रन्थो मे साधुसाध्वी के लिए आहार के कौरो (ग्रासो) की सख्या वताई है। स्वादिष्ट लगने पर उस प्रमाण से अधिक भोजन करे या अपने भोजन की निर्धारित मात्रा से अधिक ठूस-ठूस कर भोजन करे तो वह प्रमाणदोप होता है। अमनोज्ञ आहार मिलने पर दाता या उस वस्तु की द्वेषवश निन्दा करने

लगे तो धूमदोप लगता है। इस प्रकार द्वेपवश निन्दा करने वाले साधु का चरित्र धुएं की तरह कलुषित हो जाता है, इसलिए इसे धूमदोप कहा गया है। सरस और निर्दोप आहार के प्रति आसक्ति हो जाने से उसके दाता की या उस भोज्य पदार्थ की तारीफ करते हुए खाना अगारदोप है। यह दोप साधु के चारित्रसाधना को अगारें की तरह जलाने वाला होता है, अत इसे अगार कहा है। कारणदोप उसे कहते हैं, जहाँ साधु शास्त्र मे वताए गए ६ कारणो के विना ही आहार करे या ६ कारणो के विना ही आहार का त्याग कर दे। साधु को आहार करने के लिए उत्तराध्ययनसूत्र मे ६ कारण वताए है—

'वेयण-वेयावच्चे इरियट्ठाए य सजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए पुण धम्मचिंताए' ॥[1]

अर्थात्—इन ६ कारणो से साधु आहार करे—(१) भूख की वेदना—वेचैनी सहन न हो सके तो, (२) वैयावृत्य (गुरु आदि की सेवा) करने के लिए, (३) ईर्यासमिति के पालन करने के लिए, (४) सयम की क्रियाओ को ठीक तरह से पालन करने के लिए, (५) प्राणधारण करने के लिए, और (६) धर्म चिन्तन के लिए।

भूख से वेचैन साधु न तो सेवा कर सकेगा, न ईर्यासमिति का पालन कर सकेगा। भूख के मारे उसकी आखो के सामने अधेरा छा जायगा, और वह सयम की क्रियाएँ नही कर सकेगा।

साधु को आहार न करने के लिए भी ६ कारण वताए है—

आयके उवसग्गे वभगुत्ती य पाणरक्खट्ठा।
तवसलेहणमेवमभोजण छसु कुविज्जा॥

अर्थात्- इन ६ कारणो से साधु आहार का त्याग करे—(१) कोई आतक उपस्थित होने पर, (२) अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग (देव-मनुष्य-तिर्यंचकृत) आ पडने पर, (३) ब्रह्मचर्य यानी-कामोत्तेजना के शमन के लिए, (४) वर्पा, कुहरा आदि पड रहे हो, उस समय उन जीवो की रक्षा के लिए, (५) सलेखना - आमरण अनशन कर दिया हो तो, और (६) उपवास आदि तपश्चर्या के समय।

आहार करने के कारण शास्त्रकार स्वय वताते है—'सजमजायामायानिमित्त

---

१ निम्नलिखित गाथा भी आहार करने के ६ कारणो के सम्बन्ध मे मिलती है—

छुहवेयण-वेयावच्चे सजमसुहज्झाणपाणरक्खट्ठा।
पाणिदया तवहेउ छट्ठ पुण धम्मचिंताए॥१॥

—प्रवचनसारोद्धार

—सम्पादक

संजमभारवहणट्ठयाए पाणधारणट्ठयाए भुंजेज्जा ।' इसका भावार्थ यह है कि सयम की प्रवृत्तियो को करने के लिए, सयम के भार को वहन करने के लिए तथा जिंदगी टिकाए रखने के लिए साधु भोजन करे ।

इस प्रकार एषणासमिति के पूर्वोक्त तीनो पहलुओ पर साधु चिन्तन करे और तदनुसार उसे क्रियान्वित करे । इस प्रकार आहारैषणासमितिभावना का सम्यक्रूप से चिन्तन और प्रयोग करने पर आत्मा मे इस समिति के सस्कार सुदृढ हो जाते है, उसका चारित्र निर्मल, शुभ परिणाम से युक्त एव अखण्ड हो जाता है । ऐसा पूर्ण अहिंसा का उपासक सुसाधु ही मोक्षसाधना मे अग्रेसर होता है ।

आदाननिक्षेपसमितिभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—अहिंसामहाव्रत की सुरक्षा के लिए साधु को धर्मोपकरणो (सामान) को रखने—उठाने, या मलमूत्रोत्सर्ग आदि प्रवृत्तियो पर नियत्रण रखने हेतु आदाननिक्षेपसमिति भावना वताई गई है । जिसके चिन्तन और प्रयोग के लिए शास्त्रकार स्वय अगुलिनिर्देश करते हे—**'पचम आदाननिक्खेवणसमिई उवगरण रागदोसरहिय परिहरितव्व निक्खियव्व गिण्हियव्व च भायणभडोवहिउवगरण ।'** इसका तात्पय यही है कि साधु को सयमयात्रा के लिए आहार की तरह वस्त्र, पात्र, कवल, रजोहरण, पादप्रोछन तथा सोने के लिए पट्टा,चौकी, विछौना (सस्तारक),दण्ड,चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका आदि भिक्षा द्वारा प्राप्त किये हुए होने पर भी यदि उनके रखने-उठाने आदि का विवेक नही है तो ये उपकरण भी हिंसा के कारण वन जाते ह । इसलिए आदाननिक्षेपणसमितिभावना मे शास्त्रकार ने कुछ उपकरणो के नाम गिनाए है । साथ ही उन उपकरणो के रखने का प्रयोजन, उन्हे रखने के पीछे के भाव एव उनकी देखभाल तथा रखने—उठाने मे विवेक आदि वातो का निरूपण किया है । अत साधु सर्वप्रथम यह चिन्तन करे कि महापुरुषो ने ये धर्मोपकरण कितने, क्यो और किसलिए रखने और किस तरीके से उनका उपयोग करने का विधान किया है ? साधु को उक्त वारह तथा आदि शब्द से और भी धर्मोपकरण शरीर को सुकुमार वनाने या मोटा ताजा वनाने के लिए नही, अपितु सयम के पोषण—वृद्धि के लिए रखने है । और रखने है—सयमयात्रा के लिए अनिवार्य साधनभूत शरीर की प्रतिकूल हवा, सर्दी, गर्मी, दश, मच्छर आदि से रक्षा – वचाव के लिए । फिर भी इन उपकरणो को राग (मोह,लोभ आदि) तथा द्वेष (घृणा आदि) से रहित हो कर ही रखना है । साथ ही इन उपकरणो का इस्तेमाल करने के दौरान प्रतिदिन प्रात और साय दोनो समय प्रमादरहित हो कर प्रमार्जन और प्रतिलेखन करे । उन्हे उठाते और रखते समय वडी सावधानी से जीवजन्तुओ को देख कर उठाए और रखे । इस प्रकार यहाँ जो भी उपकरण वताए गए है, वे साधु के सयम के लिए उपयोगी, ब्रह्मचर्य को रक्षा

और ममत्वत्याग की दृष्टि से सीधे-सादे हो। वे टीपटाप, फैशन और आडवर से रहित हो। अहिंसा की रक्षा की दृष्टि से इन सव पहलुओ से धर्मोपकरणो को रखने व इस्तेमाल करने की प्रवृत्तियो पर नियत्रण के हेतु आदाननिक्षेपसमितिभावना वताई गई है। इस भावना के अनुरूप चिन्तन और सम्यक् परिपालन करने पर साधु के जीवन मे इस समिति के सस्कार सुदृढ हो जाते है। उसका चरित्र निर्मल, विशुद्ध परिणामो से युक्त तथा अखण्ड रहता है। और तव वह पूर्ण अहिंसा का उपासक सयमी, स्वपरकल्याणसाधक—मोक्ष का साधक वन जाता है।

पचभावनायोग की महिमा – शास्त्रकार इस सूत्रपाठ के अन्त मे अहिंसारूप प्रथम सवरद्वार की रक्षा के लिए निर्देश करते है कि इन पूर्वोक्त पाच भावनाओ का सहारा लेकर बुद्धिमान् और धैर्यवान् साधक को मन-वचन-काया की सुरक्षापूर्वक जिंदगी के अन्त तक सतत दृढता से इस अहिंसारूप सवरद्वार का सेवन करना चाहिए। यह पचभावनायोग नये कर्मो को रोकने वाला, पापरहित, कर्मजलप्रवेश का रोधक, पापनिषेधक, असक्लिष्ट, निर्दोष एव सभी तीर्थंकरो द्वारा अनुमत है।

उपसहार—इस अध्ययन के अन्त मे शास्त्रकार प्रथम सवरद्वार की महिमा अनेक विशेषणो द्वारा व्यक्त करते है। इन सवका अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है।

इस प्रकार श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र की सुवोधिनी व्याख्यासहित अहिंसा नामक छठे अध्ययन के रूप मे प्रथम सवरद्वार समाप्त हुआ।

सातवां अध्ययन : सत्यसंवर

सत्य की महिमा और उसका स्वरूप

प्रथम सवरद्वार मे प्राणातिपातविरमणरूप अहिंसा के सम्बन्ध मे शास्त्रकार ने विशद निरूपण किया हे। अहिंसा का पूर्ण रूप से सागोपाग पालन सत्यव्रत के धारण करने वालो द्वारा ही हो सकता है। अत प्रसगवश शास्त्रकार 'सत्यवचन' के रूप मे द्वितीय सवरद्वार प्रारम्भ कर रहे है। सर्वप्रथम वे सत्य की महिमा और उसके स्वरूप का निरूपण निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा कर रहे ह—

मूलपाठ

जवू ! बितिय च सच्चवयण सुद्ध, सुचिय, सिव, सुजाय, सुभासिय, सुव्वय, सुकहिय, सुदिट्ठ, सुपतिट्ठिय, सुपइट्ठियजस, सुसजमियवयणवुइय, सुरवरनरवसभपवरबलवगसुविहियजणबहु-मय, परमसाहुधम्मचरण, तवनियमपरिग्गहिय, सुगतिपहदेसग च लोगुत्तम वयमिण। विज्जाहरगगणगमण विज्जाण साहक सग्गमग्ग-सिद्धिपहदेसक अवितह त सच्च उज्जुय अकुडिल भूयत्थ अत्थतो विसुद्ध उज्जोयकर पभासक भवति सव्वभावाण जीवलोगे अवि-सवादि। जहत्थमहुर पच्चक्ख दयिवय व ज त अच्छेरकारकं अवत्थत-रेसु वहु एसु माणुसाण। सच्चेण महासमुद्दमज्झे(वि)चिट्ठति, न निमज्जति मूढाणिया वि पोया। सच्चेण य उदगसभममि वि न वुज्झइ, न य मरति, थाह ते लभति। सच्चेण य अगणिसभममि वि न डज्झति उज्जुगा मणूसा। सच्चण य तत्ततेल्लतउलोह-सीसकाइ छिवति, धरेति, न य डज्झति मणूसा। पव्वयकडकाहि मुच्चते, न य मरति सच्चेण य परिग्गहिया। असिपजरगया

समराओ वि णिइंति अणहा य सच्चवादी । वहवधऽभियोगवेरघोरेहिं पमुच्चति य अमित्तमज्झाहिं निइति अणहा य सच्चवादी। सादेव्वाणि य देवयाओ करेंति सच्चवयणे रताणं । त सच्च भगव तित्थकरसुभासिय दसविह, चोद्दसपुव्वीहि पाहुडत्थ-विदित, [1]महरिसीण य समयप्पदिन्न, देविंदनरिंदभासियत्थ, वेमाणियसाहिय, महत्थ,मतोसहिविज्जासाहणत्थ,चारणगणसमण-सिद्धविज्ज, मणुयगणाण वदणिज्ज, अमरगणणाण अच्चणिज्ज, असुरगणाण च पूयणिज्ज, अणेगपास(ख)डिपरिग्गहित, ज त लोकमि सारभूय, गभीरतर महासमुद्दाओ, थिरतरग मेरुपव्वयाओ, सोमतरग चदमडलाओ, दित्ततर सूरमडलाओ, विमलतर सरयनहयलाओ, सुरभितर गधमादणाओ, जे वि य लोगमि अपरिसेसा मतजोगा जवा य विज्जा य जभका य अत्थाणि य सत्थाणि य सिक्खाओ य आगमा य सव्वाणि वि ताइ सच्चे पइट्ठियाइं । सच्च पि य संजमस्स उवरोहकारक किंचि न वत्तव्व हिसासावज्जसपउत्त, भेयविकहाकारक, अणत्थवायकलह-कारक, अणज्ज, अववायविवायसपउत्त, वेलब, ओजधेज्जबहुल, निल्लज्ज, लोयगरहणिज्ज, दुदिट्ठ, दुस्सुय, अमुणिय । अप्पणो थवणा परेसु निंदा——न तसि मेहावी, ण तसि धन्नो, न तसि पियधम्मो, न तंसि कुलीणो, न तसि दाणपती, न तसि सूरो, न तसि पडिरूवो, न तसि लट्ठो, न पडिओ, न बहुस्सुओ, न वि य त (सि) तवस्सी, ण यावि परलोगणिच्छियमतोऽसि, सव्वकाल जातिकुलरूववाहिरोगेण वावि ज होइ(वि)वज्जणिज्ज, दुहओ उवयारमतिक्कत एवविह सच्चपि न वत्तव्व । अह केरिसक

---

[1] 'महरिसिसमयपइन्नचिन्न' पाठ भी कही-कही मिलता है ।

—सम्पादक

पुणाइ सच्च तु भासियव्व ? ज त दव्वेहि पज्जवेहि य गुणेहि कम्मेहि वहुविहेहि सिप्पेहि आगमेहि य नामक्खायनिवाउवसग्ग-तद्धियसमाससधिपदहेउजोगियउणादिकिरियाविहाणधातुसर-विभत्तिवन्नजुत्त तिकल्ल दसविह पि सच्च जह भणिय तह य कम्मुणा होई दुवालसविहा होइ भासा, वयण पि य होइ सोलस-विह, एव अरहतमणुन्नाय समिक्खिय सजएण कालमि य वत्तव्व । (सू० २४)

सस्कृतच्छाया

जम्बू ! द्वितीय च सत्यवचन शुद्ध , शुचिक, शिव, सुजात, सुभाषित, सुव्रत, सुकथित, सुदृष्ट, सुप्रतिष्ठित, सुप्रतिष्ठितयश , सुसयमितवचनोक्त , सुरवर-नरवृषभ-प्रवरवलवत्सुविहितजनवहुमत, परमसाधुधर्मचरण, तव-नियमपरिगृहीत सुगतिपथदेशक च लोकोत्तम व्रतमिदम् । विद्याधरगगन-गमनविद्याना साधक, स्वर्गमार्गसिद्धिपथदेशकमवितथ तत् सत्यम्, ऋजुकम्, अकुटिलम्, भूतार्थम्, अर्थतो विशुद्धम्, उद्योतकरम्, प्रभाव(स)कम् भवति सर्वजीवाना जीवलोके अविसवादि । यथार्थमधुर प्रत्यक्ष दैवतमिव यत् तदाश्चर्यकारकम्, अवस्थान्तरेषु वहुकेपु मनुष्याणाम् । सत्येन महासमुद्रमध्ये(अपि) तिष्ठन्ति,न निमज्जन्ति मूढानीका अपि पोता , सत्येन चोदकसम्भ्रमेऽपि नोह्यन्ते, न च म्रियन्ते, स्ताघ च ते लभन्ते । सत्येन चाग्निसम्भ्रमेऽपि न दह्यन्ते ऋजुका मनुष्या । सत्येन च तप्ततैलत्रपुलोह-सीसकानि छुपन्ति, धारयन्ति, न च दह्यन्ते मनुष्या. । पर्वतकटकाद् मुच्यन्ते, न च म्रियन्ते सत्येन च परिगृहीता । असिपजरगता समरादपि निर्यान्ति अनघाश्च सत्यवादिन । वधवन्धाभियोगवैरघोरेभ्य प्रमुच्यन्ते चामित्र-मध्यान्निर्यान्ति अनघाश्च सत्यवादिन । सादैव्यानि च देवता कुर्वन्ति सत्यवचने रतानाम् । तत् सत्य भगवत्,तीर्थकर सुभाषितम् दशविधम्, चतु-र्दशपूर्विभि प्राभृतार्थविदितम्, महर्षीणा च समयप्रदत्तम्, देवेन्द्र नरेन्द्र-भाषितार्थम्, वैमानिकसाधितम्, महार्थम्, मन्त्रौषधिविद्यासाधनार्थम्, चारणगणश्रमणसिद्धविद्यम्, मनुजगणाना वन्दनीयम्, अमरगणानामर्च-नीयम्, असुरगणाना च पूजनीयम्,अनेकपाप(ख)डिपरिगृहीतम्, यत् तल्लोके सारतरम्, गम्भीरतर महासमुद्रात्, स्थिरतरक मेरुपर्वतात्, सोमतरक

चन्द्रमडलात्, दीप्ततर सूर्यमंडलात्, विमलतर शरन्नभस्तलात्, सुरभितर गधमादनात्, येऽपि च लोकेऽपरिशेषा मन्त्रयोगाः जपाश्च विद्याश्च जृम्भकाश्चास्त्राणि च शस्त्राणि (शास्त्राणि) च शिक्षाश्चागमाश्च सर्वाण्यपि तानि सत्ये प्रतिष्ठितानि । सत्यमपि च सयमस्योपरोधकारक किंचिन्न वक्तव्य हिसासावद्यबहुलम्, भेदविकथाकारकम्, अनर्थवादकलहकारकम्, अनार्यम् (अन्याय्य), अपवादविवादसम्प्रयुक्तम्, वेलम्वम्, ओजोधैर्यवहुलम्, निर्लज्जम्, लोकगर्हणीयम्, दुर्दृष्ट, दु श्रुतम्, अज्ञातम् । आत्मन. स्तवना परेषा निन्दा—न त्वमसि मेधावी, न त्वमसि धन्यो, न त्वमसि प्रियधर्मा, न त्वमसि कुलीनो, न त्वमसि दानपति., न त्वमसि शूरो, न त्वमसि प्रतिरूपो, न त्वमसि लष्टो, न पण्डितो, न बहुश्रुतो, न चापि त्वमसि तपस्वी, न चापि परलोकनिश्चितमतिरसि, सर्वकाल जातिकुलरूपव्याधिरोगेण चापि (वाऽपि) यद् भवति वर्जनीयम् । द्रोधा उपचारमतिक्रान्तमेवविधं सत्यमपि न वक्तव्यम् । अथ कीदृशक पुनः सत्य तु भाषितव्यम् ? यत् तद्द्रव्यै पर्यायैश्च गुणैः कर्मभिर्बहुविधै शिल्पैरागमैर् नामाख्यातनिपातोपसर्गतद्धितसमाससधिपदहेतुयौगिकोणादिक्रियाविधानधातुस्वरविभक्तिवर्णयुक्त त्रैकाल्य दशविधमपि सत्य यथा भणित तथा च कर्मणा भवति द्वादश विधा भवति भाषा, वचनमपि भवति षोडशविधम्, एवमर्हदनुज्ञात समीक्षित संयतेन काले च वक्तव्यम् । (सू० २४)

पदार्थान्वय—श्री गणधर सुधर्मास्वामी अपने प्रधानशिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं (जबू !) हे जम्बू ! (बितिय च) दूसरा सवरद्वार (सच्चवयण) सत्य वचन—सत्पुरुषो मुनियो, गुणियो या प्राणियो के लिए हितकर वचन है, जो (सुद्ध) निर्दोष है, (सुचिय) पवित्र है, (सिव) मोक्ष या सुख का कारण है, (सुजाय) शुभ विवक्षा से उत्पन्न हुआ है, (सुभासिय) सुन्दर स्पष्टवचनरूप है, अथवा सुभाषित है, (सुव्वय) सुन्दर व्रत-नियम - रूप है, (सुकहिय) मध्यस्थ—रागद्वेष से तटस्थ हो कर सुन्दर कथन करने वाला है, (सुदिट्ठ) सर्वज्ञो द्वारा अच्छी तरह देखा गया है, (सुपतिट्ठिय) समस्त प्रमाणो से सिद्ध किया हुआ है, (सुपइट्ठियजस) जिसका यश अबाधित—बद्धमूल है, (सुसजमियवयणवुइय) वाक्सयमियो द्वारा सुसयत वचनो से बोला गया है, (सुरवर-नरवसभ-पवरबलवग-सुविहितजणबहुमय) इन्द्रो को, नरश्रेष्ठ चक्रवर्तियो को, श्रेष्ठ बलधारी बलदेव-वासुदेवो को, सुविहित—सुसाधुजनो को बहुमान्य है, (परमसाहुधम्मचरण) उत्कृष्ट साधुओ का धर्माचरण है, (तवनियमपरिग्गहिय) तप और नियम से स्वीकृत किया जाता है, (सुगतिपहदेसक) सद्गति का

पथप्रदर्शक है (च) और (लोगुत्तम) लोक मे श्रेष्ठ (इण) यह (वय) व्रत है। यह (विज्जाहरगगणगमणविज्जाण साहक) विद्याधरो की आकाशगामिनी विद्याओ का सिद्ध करने वाला है, (सग्गमग्गसिद्धिपहदेसक) स्वर्ग के मार्ग—अनुत्तर देवलोक तक तथा सिद्धिपथ का प्रवर्तक है, (त) वह (सच्च) सत्य (अवितह) यथातथ्य—मिथ्याभाव से रहित है, (उज्जुय) सरल भाव वाला है, (अकुडिल) कुटिलता से रहित है, (भूयत्थ अत्थतो) सद्भूत—विद्यमान पदार्थ का ही प्रयोजनवश कथन करने वाला है, (विसुद्ध) विलकुल शुद्ध है—मिलावट से दूर है, अथवा प्रयोजन से निर्दोष है, (उज्जोयकर) सत्य ज्ञान का प्रकाश करने वाला है, (जीवलोके) जीवो के आधारभूत लोक मे, (सव्वभावाण) समस्त पदार्थो का (अविसवादि) अव्यभिचारी—यथार्थ (पभासक) प्रभापक—प्रतिपादन करने वाला (भवति) है। (जहत्थमहुर) यथार्थ होने के कारण मधुर—कोमल है, (ज) जो सत्य (माणुसाण) मनुष्यो को (वहुएसु अवत्थतरेसु) वहुत-सी विभिन्न अवस्थाओ मे (अच्छेरकारक) आश्चर्यजनक कार्य करने वाला है, इसलिए (त) वह (पच्चक्ख दयिवय व) साक्षात् देव की तरह है। (महासमुद्दमज्झे) महासागर के वीच मे (मूढाणिया वि पोया) जिस पर वैठी हुई सेना दिग्भ्रान्त हो गई है—दिशा भूल गई है, वे जहाज भी (सच्चेण) सत्य के प्रभाव से (चिट्ठति) ठहर जाते हैं, (न निमज्जति) डूवते नहीं हैं, (य) और (सच्चेण) सत्य के प्रभाव से (उदगसभमम्मि वि) भवर वाले वाह मे भी, (न वुज्झइ) वहते नहीं, (य) और (न मरति) न मरते हैं, किन्तु (थाह लभति) थाह पा लेते हैं (य) और (सच्चेण) सत्य से (अगणिसभमम्मि वि) जलती अग्नि के भयकर चक्र मे भी (न डज्झति) जलते नहीं (उज्जुगा मणूसा) सरलस्वभाव के मनुष्य (सच्चेण य) सत्य के कारण (तत्ततेल्लतउलोहसीसकाइ) उफलते हुए तेल, रागे, लोहे और सीसे को (छिवति) छू लेते हैं, (य) और (घरेंति) हाथ मे रख लेते हैं, (न डज्झति) किन्तु जलते नहीं (मणूसा) मनुष्य (पव्वयकडकाहि) पर्वत की चोटी से (मुच्चति) नीचे गिरा दिये जाते हैं, किन्तु (न य मरति) मरते नहीं है। (य) तथा (सच्चेण परिग्गहिया) सत्य को धारण किये हुए—सत्य से युक्त व्यक्ति, (असिपजरगया) चारो ओर तलवारो के पींजरे मे—अर्थात् खड्गधारियो से घिरे हुए मनुष्य (समराओ वि) सग्राम से (अणहा) अक्षत शरीर सहित—घायल हुए विना (णिइति) निकल जाते हैं। (य) तथा (सच्चवादी) सत्यवादी मनुष्य (वह-वध-भियोग-वेरघोरेहि) वध, वन्धन तथा वल प्रयोगपूर्वक प्रहार और घोर वैरविरोधियो

के बीच भी (पमुच्चति) छोड दिये जाते हैं (य) एव (अमित्तमज्झाहिं) दुश्मनो के बीच से (सच्चवादी) सत्यवादी (अणहा) निर्दोष—सही सलामत (निइंति) निकल जाते हैं (य) और (देवयाओ) देवता (सच्चवयणे रताण) सत्य वचन मे तत्पर लोगो का (सादेव्वाणि करेंति) सान्निध्य करते हैं—पास चले आते हैं। (त) वह (तित्थ-करसुभासिय) तीर्थंकरो द्वारा भलीभाति प्रतिपादित—कथित (सच्च भगव) सत्य भगवान् (दसविह) दस प्रकार का है। (चोद्दसपुव्वीहिं) चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाताओ ने (पाहुडत्थविदित) प्राभृतो—पूर्वगत भाग विशेषो से जाना है। (य) और (महरिसीण) महर्षियो के (समयप्पदिन्न) सिद्धान्तो से प्रदत्त या प्रज्ञप्त—दिया या जाना गया हे अथवा (महरिसिसमयपइन्नचिन्न) महर्षियो ने इसे सिद्धान्तरूप से जाना है और इसका आचरण किया है। (देविंदनरिंदभासियत्थ) देवेन्द्रो और नरेन्द्रो ने जिन वचनो के रूप मे जीवादि अर्थो—तत्वो को बताया है। (वेमाणियसाहिय) वैमानिक देवो के लिए जिनेन्द्रादि द्वारा इसका उपादेय रूप से निरूपण किया गया है अथवा वैमानिक देवो ने इसकी साधना की है या इसे सिद्ध किया है। (महत्थ) यह महान् गम्भीर अर्थ वाला हे अथवा विशाल प्रयोजन वाला है, (मतोसहिविज्जासाहणत्थ) मत्रो, औषधियो और विद्याओ की साधना करना - इन्हे सिद्ध करना ही जिसका प्रयोजन है, (चारणगणसमणसिद्धविज्ज) जिससे चारणलब्धिधारको की आकाशचारिणी विद्या तथा श्रमणो की विद्या सिद्ध होती है, (मणुयगणाण वदणिज्ज) यह मानवगणो से वन्दनीय-स्तुत्य है, (च) और (अमरगणाण अच्चणिज्ज) व्यन्तर-ज्योतिष्क देवगणो द्वारा अर्चनीय है, (असुरगणाण पूयणिज्ज) भवनपति आदि असुरगणो द्वारा पूजनीय ह, (अणेगपासडिपरिग्गहित) अनेक प्रकार के व्रत या वेष धारण करने वाले साधुओ ने इसे अगीकार किया है। (ज) ऐसा जो सत्य है, (त) वही (लोगम्मि सारभूय) लोक मे सारभूत है। यह (महासमुद्दाओ) महासमुद्रो से भी (गभीरतर) बढ कर गभीर है, (मेरुपव्वयाओ) मेरुपर्वत से भी (थिरतरग) अधिक स्थिर—अचल है, (चदमडलाओ) चन्द्रमडल से भी (सोमतरग) बढकर सौम्य-शान्तिदायक है, (सूरमडलाओ) सूर्यमण्डल से भी (दित्ततर) अधिक दीप्त है—प्रकाशमान - तेजस्वी हे, (सरयन-हयलाओ) शरदृऋतु के गगनतल से भी (विमलतर) बढकर निर्मल है, (गधमाद-णाओ) गधमादनपर्वत—गजदन्तपर्वत विशेष से भी (सुरभितर) अधिक सुगन्धयुक्त है, (च) और, (जे वि) जो भी (लोगमि) लोक मे (अपरिसेसा) समस्त (मतजोगा) मत्र और वशीकरणादि प्रयोग है, (य) तथा (जवा) जप हैं, (य) और (विज्जा) विद्याएँ हैं, (जभका य) तिर्यग्लोकवासी दस प्रकार के जृम्भक देव विशेष है, (य) और

(अत्थाणि) वाण आदि फेंके जाने वाले अस्त्र हैं, (य) तथा (सत्थाणि) प्रहार किये जाने वाले तलवार आदि शस्त्र हैं अथवा जितने भी लौकिक शास्त्र हैं, (य) तथा (सिक्खाओ) कलाओ आदि की शिक्षाएँ हैं, (य) तथा (आगमा) सिद्धान्तशास्त्र हैं, (ताइ सव्वाणि वि) वे सभी (सच्चे) सत्य पर (पइट्ठियाइ) प्रतिष्ठित- स्थित हैं। (सच्च वि) और सत्य भी जो (सजमस्स उवरोहकारक) सयम का वाधक हो, वैसा (किंचि न वत्तव्व) जरा-सा भी नहीं वोलना चाहिये। (हिंसासावज्जसपउत्त) जो हिंसा और पाप से युक्त हो, (भेयविकहाकारक) फूट डालने वाला, झूठी वात उडाने वाला या चारित्रनाशक स्त्री आदि से सम्वन्धित विकथाकारक, (अणत्थवायकलहकारक) निष्प्रयोजन व्यर्थ का वादविवाद—वकवास और कलह पैदा करने वाला, (अणज्ज) अनार्य—अनाड़ी आदमियो से वोला जाने वाला वचन या अन्याययुक्त वचन, (अववायनिवायसपउत्त) दूसरो के दोषकथन एव विवाद से सयुक्त (वेलव) दूसरो की विडम्वना-फजीहत करने वाला, (ओजवेज्जवहुल) विवेकरहित पूरे जोश और धृष्टता से भरा हुआ, (निल्लज्ज) लज्जारहित, (लोकगरहणिज्ज) लोक—ससार मे या सज्जन लोगो मे निन्दनीय (दुदिट्ठ) जो वात भलीभाति न देख ली हो, उसे, (दुस्सुय) जो वात अच्छी तरह सुनी न हो, उसे तथा (अमुणिय) जो वात अच्छी तरह जान न ली हो, उसे नहीं वोलना चाहिए। इसी प्रकार (अप्पणो थवणा, परेसु निंदा) अपनी स्तुति और दूसरो की निन्दा, जैसे—(न तसि मेहावी) तू वुद्धिमान नहीं है, (ण तसि धन्नो) तू धन्य धनवान् नहीं, है, (न तसि पियधम्मो) तू धर्मप्रेमी नहीं है, (न तसि कुलीणो) तू कुलीन नहीं हे, (न तसि दाणपती) तू दानेश्वरी नहीं है, (न तसि सूरो) न तू शूरवीर हैं, (न तसि पडिरूवो) तू सुन्दर नहीं ह, (न तसि लट्ठो) न तू भाग्यशाली है,(न पडिओ,न वहुस्सुओ) न तू पडित है,न तू वहुश्रुत—अनेक शास्त्रो का जानकार है, (य) और (न वि तसि तवस्सी) तू तपस्वी भी नहीं है, (ण यावि परलोगणिच्छियमतोऽसि) तुझमे परलोक का निश्चय करने की वुद्धि भी नहीं है, ऐसा वचन, (वा) अथवा (ज) जो सत्य (सव्वकाल) आजीवन—सदा सवदा, (जातिकुलरूववाहिरोगेण) जाति—मातृपक्ष, कुल—पितृपक्ष, रूप—सौन्दर्य, व्याधि—कोढ़ आदि वीमारी, रोग—ज्वरादि रोग, इनसे सम्वन्धित (वज्जणिज्ज) पीडाकारी निन्दनीय या वर्जनीय वचन हो, (वि) पुन (दुहओ) द्रोहकारी अथवा द्रव्य-भाव से द्विधा मे डालने वाला, (उपयारमतिक्कत) औपचारिकता—व्यावहारिकता—व्यवहार से शिष्टाचार अथवा उपकार का भी उल्लघन करने वाला हो, (एवविह) इस प्रकार का (सच्चपि) यथार्थ—सद्भूतार्थ सत्य भी

(नवत्तव्वा) नहीं कहना चाहिए। (अथ) प्रश्न होता है,(तु पुणाइ) तो फिर (केरिसक) कैसा (सच्च) सत्य (भासियव्व) बोलना चाहिये ? (त) वह सत्य बोलने योग्य है, (ज) जो (दव्वेहिं) त्रिकालवर्ती पुद्‌गलादि द्रव्यो से, (पज्जवेहि) नये-पुराने आदि वस्तु के क्रमवर्ती पर्यायो से (य) तथा (गुणेहिं) वर्णादि सहभावी गुणो से (कम्मेहिं) कृषि आदि कर्मों से अथवा उठाने-रखने आदि कर्मो से (बहुविहेहिं सिप्पेहिं) अनेक प्रकार के चित्रकला, वस्तुकला आदि शिल्पों से (य) तथा (आगमेहि) सिद्धान्त—सम्मत अर्थो से युक्त हो, (नामक्खायनिवाउवसग्गतद्धियसमाससंधिपदहेउजोगिय-उणादिकिरियाविहाणधातुसरविभत्तिवन्नजुत्त) व्युत्पन्न या अव्युत्पन्न नाम-सज्ञापद, आख्यात—त्रिकालात्मक क्रियापद, निपात—अव्यय, प्र परा आदि उपसर्ग, तद्धितपद-अर्थाभिधायक प्रत्यय, समासपद, सन्धिपद, सुबन्ततिङ्न्त विभक्त्यन्तपद, हेतु, यौगिकपद, उणादि—प्रत्ययान्तपद, क्रियाविधान—सिद्धक्रियापद, भू आदि धातु, अकारादि स्वर, अथवा षड्ज इत्यादि गीतस्वर, अथवा ह्रस्वदीर्घप्लुतरूप मात्रोच्चारणकालसूचक स्वर, कहीं 'रस' पाठ है, वहाँ शृ गार आदि ६ रस, प्रथमा आदि विभक्ति, स्वरव्यजनात्मक वर्णमाला, इन सबसे युक्त हो, वह सत्य है। (तिकल्ल) त्रिकालविषयक (सच्च) सत्य (दसविहपि) दस प्रकार का भी होता है। वह सत्य (जह) जैसे (भणिय) मु ह से कहा जाता है, (तह) वैसे ही (कम्मुणा) कर्म—लेखन, हाथ पैर और आँख की चेष्टा, इ गित, आकृति आदि क्रिया से भी अथवा जैसा बोला है, वैसा ही करके बताने से, वचन के अनुसार अमल करने से ही सत्य, (होइ) होता है। (य) तथा (दुवालसविहा) बारह प्रकार की (भासा होइ) भाषा होती है, (य, और (वयणवि सोलसविह होइ) वचन भी १६ प्रकार का होता है। (एव) अरहतमणुन्नाय) अर्हन्त भगवान द्वारा अनुज्ञात—आदिष्ट (य) तथा (सम्मिक्खिय) भलीभाति सोचा विचारा हुआ सत्यवचन (कालमि) अवसर आने पर (सजएण) सयमी साधु को (वत्तव्वा) बोलना चाहिए।

मूलार्थ—श्री गणधर सुधर्मास्वामी अपने प्रधान शिष्य श्री जम्बूस्वामी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं जम्बू ! यह सत्य नाम का दूसरा सवरद्वार है, जो सत्पुरुषो, या गुणिजनो मुनिजनो के लिए हितकर है, निर्दोष है, पवित्र है, मोक्ष तथा सुख का कारण है शुभ बोलने की इच्छा से उत्पन्न होता है, सुन्दर सुस्पष्ट वचनरूप है, सुन्दर व्रतरूप है, इससे पदार्थ का भलीभाति कथन किया जाता है, सर्वज्ञ देवो द्वारा यह भलीभाति देखा परखा हुआ है, यह सब प्रमाणो से सिद्ध है, इसका यश भी निराबाध है, तथा उत्तम देवो,

चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ मनुष्यो, उत्कृष्ट शक्ति के धारक वासुदेव-वलदेव आदि पुरुषो तथा शास्त्र विहित आचरण करने वाले महापुरुषो के द्वारा यह वहुमान्य है, यह उत्कृष्टसाधुओ का धर्माचरण है तथा तप और नियमसे अगीकार किया जाता है, अर्थात् सत्यवादी के ही सच्चे माने मे तप और नियम होते है। यह सद्गति का पथ निर्देशक है तथा लोक मे उत्तम व्रत माना गया है। यह सत्य विद्याधरो की आकाशगामिनी विद्याओ का साधक है तथा स्वर्गमार्ग और मोक्षमार्ग का प्रवर्तक है, यह मिथ्याभाव से रहित है। यह सरलभावो से युक्त, कुटिलता से रहित है, यह विद्यमान सद्भूत अर्थ को ही विषय करता है, विशुद्ध अर्थ वाला है, वस्तुतत्त्व का प्रकाशक है, जीवलोक मे समस्त पदार्थों का अविसवादी-पूर्वापरसगत रूप से प्रतिपादक है। पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कहने वाला होने से मधुर है। मनुष्यो की भिन्न-भिन्न अनेक कष्टकर अवस्थाओ मे वह साक्षात् देवता के समान आश्चर्यजनक कार्य करने वाला है। सत्य के कारण महासागर के वीच दिग्भ्रान्त वने हुए नाविक सैनिको की नौकाएँ स्थिर रहती हैं, डूवती नही हैं। सत्य के प्रभाव से चक्करदार जल-प्रवाह मे भी मनुष्य वहते नही, न मरते है, किन्तु वे थाह पा लेते है। अर्थात् किनारे लग जाते है। सत्य के प्रभाव से चारो ओर आग की लपटो से घिर जाने पर भी जलते नही। सरलस्वभावी मनुष्य सत्य के प्रताप से खौलते हुए गर्मागर्म तेल, रागे, लोहे और सीसे को भी छू लेते है हथेली पर रख लेते है, लेकिन जलते नहीं। सत्य को धारण किये हुए मनुष्य पर्वतशिखरो से गिरा दिये जाने पर भी मरते नहीं है, और नगी तलवारो के घेरे मे घिरे हुए सत्य-वादी मनुष्य समरागण मे से घायल हुए विना निकल आते है, वालवाल वच जाते है। सत्यवादी मनुष्य लाठियो का मार, रस्सी आदि के वन्धन, वलात्कार और घोर वैरविरोध से छूट जाते है, और शत्रुओ के वीच से वे निर्दोष निकल जाते है। देवता भी सत्यवचन मे तत्पर मनुष्यो के सान्निध्य मे आते है अथवा देवता भी सत्यप्रतिज्ञ पुरुषो के दुर्घट कार्यों मे सहायक वनते है। भगवान् तीर्थंकरो द्वारा भलीभाति वर्णित वह सत्य भगवान् दस प्रकार का है।

चतुर्दशपूर्वधारको ने इसे पूर्वगत अशो—प्राभृतो से विशेषरूप से जाना है, तथा यह महर्षियो के सिद्धान्तो द्वारा प्रदत्त है या प्रज्ञप्त है—वर्णित है, अथवा महर्षियो ने इसे सिद्धान्त रूप मे जाना है और इसका आचरण

किया है। देवेन्द्रो और नरेन्द्रो ने इसका प्रयोजन समझ लिया है, अथवा इसके द्वारा ही देवेन्द्रो और नरेन्द्रो को जीवादि पदार्थों का सत्य—तत्त्व बताया गया है, अथवा देवेन्द्रो और नरेन्द्रो ने मनुष्यो को इस सत्य का साध्य अर्थ बतलाया है। वैमानिक देवो को भी तीर्थंकर आदि ने उपादेय के रूप मे इसे प्रतिपादन किया है, अथवा वैमानिको ने इसी सत्य की साधना की है—इसका सेवन किया है। यह महाप्रयोजन वाला अथवा गम्भीर अर्थ वाला है। मत्रो, औषधियो और विद्याओ के सिद्ध करने मे इसका प्रयोजन—इसका सार्थकत्व रहता है। चारणगणो और श्रमणो की विद्या इसी से सिद्ध होती है,यह मानव-गणो का वन्दनीय स्तुत्यहै,व्यतर— ज्योतिष्क आदि देवगणो का यह अर्चनीय है तथा भवनपति आदि असुरगणो का यह पूजनीय है, नाना प्रकार के व्रत या वेश धारण करने वाले साधुओ ने इसे अङ्गीकार किया है। ऐसा वह सत्य लोक मे सारभूत है, यानी ससार के समस्त पदार्थों मे प्रधान है, क्षोभरहित होने से यह महासमुद्र से भी गभीरता मे बढाचढा है। प्रण पर अटल होने से यह मेरुपर्वत से भी बढकर स्थिर है। सताप को शान्त करने मे बेजोड होने से यह चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है। वस्तु के कण-कण को यथार्थ रूप से प्रकाशित करने वाला होने से यह सूर्य मण्डल से भी बढकर प्रकाशमान है अथवा कोई भी तेजस्वी इसका तिरस्कार नही कर सकता, इसलिए शूर-समूह से भी यह अधिक तेजस्वी है। निर्दोष होने से यह शरत्कालीन गगनतल से भी अधिक निर्मल है। सहृदय लोगो के हृदय को प्रफुल्लित करने वाला होने से यह गन्धमादन (चन्दनवृक्षो के वन वाले गजदन्त) पर्वत से भी अधिक सुगन्धित है। ससार मे जितने भी हरिणगमेषी-आवाहन आदि मत्र है, वशीकरण आदि मत्र है वशीकरण आदि प्रयोजनो के लिए योग है, मन्त्र तथा विद्या के जप है, प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ है, तिर्यग्लोकवासी जृम्भक जाति के देव है, फेंक कर चलाए जाने वाले बाण आदि के अस्त्र है, सीधे प्रहार किए जाने वाले शस्त्र है अथवा अर्थनीति आदि लौकिक शास्त्र है, चित्र आदि कलाओ की शिक्षाएँ है, सिद्धान्त आगम-धर्म-शास्त्र है, वे सब के सब सत्य से प्रतिष्ठत हैं—अर्थात् ये सब सत्य से ही उपलब्ध या सिद्ध होते है।

वस्तु को यथार्थरूप से प्रगट करने वाला वह सत्य भी यदि सयम का या बाधक हो तो उसे जरा-सा भी नही कहना चाहिए, जो हिंसा और पाप

से मिश्रित हो, चारित्रनाशक तथा स्त्री आदि विकथाओ को प्रगट करने वाला हो अथवा फूट डालने वाला तथा व्यर्थ की डीगे हाकने वाला हो जो बिना मतलब की बकवास और कलह पैदा करने वाला हो, जो अनार्यों— पापकर्म मे प्रवृत्त म्लेच्छो द्वारा बोलने योग्य वचन हो, अथवा अन्याय का पोपक हो, दूसरो पर मिथ्या दोपारोपण करने वाला तथा विवाद पैदा करने करने वाला हो, दूसरो की बिडम्बना—झूठी आलोचना करके फजीहत करने वाला हो, अनुचित जोश और धृष्टता से भरा हुआ हो, लज्जारहित— अपशब्द हो, लोकनिन्दनीय हो, तथा जिसे अच्छी तरह न देखा हो, अच्छी तरह न सुना हो व अच्छी तरह न जाना हो अथवा जो हकीकत के विपरीत रूप मे देखा हो, सुना हो या जाना हो, उस विषय मे किञ्चित् मात्र भी नही कहना चाहिए। अपनी प्रशसा और दूसरो की निन्दा करना भी असत्य है। जैसे किसी से कहना कि 'तू उत्ताम स्मरणशक्ति वाला—मेधावी नही है, भुलक्कड है, तू धनिक नही है, दरिद्र है, धर्मप्रेमी नही है,अधर्मी है, तू कुलीन नही है, अकुलीन है, तू दाता नही है, कजूस है, तू शूरवीर नही, डरपोक है, तू सुन्दर नही, कुरूप है, तू भाग्यशाली नही, भाग्यहीन है, तू पडित नही, मूर्ख है, तू बहुश्रुत नही,अल्पज्ञ है, तू तपस्वी नही है, भोजन-भट्ट है, परलोक के विपय मे तेरी बुद्धि सशयरहित नही है, अर्थात् तू सशयग्रस्त-नास्तिक है, अथवा जाति (मातृपक्ष), कुल (पितृपक्ष), रूप, व्याधि (कोढ आदि दु साध्य रोग) तथा रोग (बुखार आदि रोग) के निमित्त से भी परपीडाकारी निन्द-नीय वचन यदि सत्य हो तो भी असत्य होने से सदा के लिए वर्जनीय समझने चाहिएँ। तथा जो वचन द्रोहयुक्त है, अथवा द्विधा से भरे हैं,अथवा द्रव्य और भाव दोनो प्रकार से दूसरे से शिष्टाचार अथवा उपकार का उल्लघन करने वाले है, वे सत्य हो तो भी नही बोलने चाहिएँ। प्रश्न होता है कि तब फिर किस प्रकार का सत्य बोलना चाहिए ? (उत्तर मे कहते है) 'जो त्रिकालवर्ती पुद्गलादि द्रव्यो से, द्रव्य की नई-पुरानी क्रमवर्ती पर्यायो से, उनके सहभावी वर्ण आदि गुणो से, कृपि आदि कर्मों से या उठाने रखने आदि चेष्टाओ से, चित्रकला आदि अनेक शिल्पो से तथा आगमो के सैद्धान्तिक अर्थों से युक्त हो, तथा व्युत्पन्न या अव्युत्पन्न नाम, तीनो काल के वाचक क्रियापदो, अव्यय, प्र, परा आदि (जिनके जुड जाने पर धात्वर्थ बदल जाता है) उपसर्गों, प्रत्यय लगाने पर नये अर्थ के बोधक तद्धितपद समासपद,

सुबन्त—तिगन्त विभक्त्यन्त पद, हेतु, यौगिकपद, उणादि प्रत्ययान्त पद सिद्ध क्रिया बताने वाले पद, भू आदि धातु, अकारादि स्वर या षड्ज आदि सगीत स्वर अथवा ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतरूप मात्रोच्चारणकालसूचक स्वर अथवा कही स्वर के बदले 'रस' शब्द मिलता है, वहा अर्थ होगा—शृ गार आदि नौरस, प्रथमा आदि विभक्ति, स्वरव्यजनात्मक वर्ण, इन सबसे युक्त हो वह सत्य है। ऐसा त्रिकालविषयक सत्य दस प्रकार का होता है। वह सत्य जैसे मुंह से कहा जाता है, वैसे ही कर्म— लेखन, हाथ-पैर, आँख आदि की चेष्टा, इगित, आकृति आदि क्रिया से भी होता है अथवा जैसा बोला है, वैसा ही करके बताने से यानी कथन के अनुसार अमल करने से ही सत्य होता है। सस्कृत प्राकृत आदि भेद से बारह प्रकार की भाषा होती है तथा एकवचन द्विवचन आदि भेद से सोलह प्रकार का वचन होता है। इन नाम आदि से सगत वचन ही बोलने योग्य होता है। वही सत्य कहलाता है।

इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् द्वारा अनुज्ञात—आदिष्ट तथा भलीभाति सोचा-विचारा हुआ सत्यवचन समय—अवसर आने पर सयमी साधु को बोलना चाहिए।

व्याख्या

प्रथम अहिंसा सवरद्वार का वर्णन कर चुकने के पश्चात् शास्त्रकार द्वितीय सवरद्वार का वर्णन करते है। इस विस्तृत सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने सत्य की महिमा वताई है उसके पश्चात् सत्यपालन से होने वाले आश्चर्यजनक चमत्कारो का निरूपण किया है। उसके बाद सत्य के दस प्रकार वता कर उस सत्य को जानने वालो, सत्य के द्वारा अपनी विद्या, मत्र, योग, औपधि आदि सिद्ध करने वालो तथा सत्य की वन्दना अर्चा—पूजा करने वालो का उल्लेख किया है, इसके अनन्तर सत्य की गरिमा वताने के लिए कतिपय उपमाएँ दी है। उसके वाद यह वताया गया है कि कौन-कौन से वचन सत्य होते हुए भी नही बोलने चाहिए ? और सत्य वचन कौन-सा होता है और किस प्रकार से वोला जाना चाहिए ? इस विपय पर प्रकाश डाला गया है।

यद्यपि इस सूत्रपाठ का अर्थ पदान्वयार्थ एव मूलार्थ मे काफी स्पष्ट है, फिर भी कुछ स्थलो पर व्याख्या करना आवश्यक समझ कर नीचे हम कुछ स्थलो पर व्याख्या प्रस्तुत करते है—

सत्य का अर्थ—सत्य के अर्थों पर विचार करते समय हमे उसके प्रचलित,

प्रयोग को ध्यान मे रखना होगा। इस दृष्टि से देखने पर 'सत्य' मुख्यतया तीन अर्थों मे व्यवहृत होता है—(१) तत्त्व अर्थ मे, (२) तथ्य अर्थ मे और (३) वृत्ति-प्रवृत्ति-व्यवहार अर्थ मे। किसी वस्तु का निष्कर्ष, निचोड, साराश या तत्त्व पा लेना भी सत्य कहलाता है। जैसे—अग्नि मे सत्य उष्णता है,पानी मे सत्य शीतलता है,घी मे सत्य स्निग्धता है। इसप्रकार वस्तु के असाधारण धर्म को भी सत्य कहा जाता है। स्वय शास्त्रकार कहते है—**'ज त लोग मि सारभूय'** जगत् मे जितने भी पदार्थ है, उन सब मे जो सारभूत वस्तु है, वह सत्य है। इसी प्रकार वर्तमान दार्शनिक भाषा मे कहा जाता है—इसने सत्य पा लिया। इससे यही अर्थ सूचित होता है कि अमुक व्यक्ति ने वस्तु तत्त्व का ज्ञान कर लिया, रहस्य पा लिया। जैसे शास्त्रकार ने भी कहा है—**'चोद्दस्सपुव्वीहिं पाहुडत्थविदित, महरिसिसमयपइन्नचिन्न देविंदनरिंदभासियत्थ।'** आशय यह है कि चतुर्दशपूर्वधारियो ने प्राभृतो के द्वारा सत्य का अर्थ—रहस्य पा लिया है, महर्षियो ने सत्य (सिद्धान्त) को जान लिया है और आचरण किया है,देवेन्द्रो को सत्य का प्रयोजन प्रतिभासित हो गया अथवा जीवादि ९ तत्वो का अर्थ सत्य रूप मे प्रतिभासित होने लगा है। इससे यह भी फलित होता है कि जीवादि तत्वो का ज्ञान प्राप्त कर लेना भी सत्य-सम्यक्त्व पा लेना है। इसीलिए किसी ने लक्षण किया है—**'कालत्रये तिष्ठतीति सत् तदेव सत्यम्'** तीनो कालो मे जो रहता है, वह सत् है, वही सत्य है। यही वात शास्त्रकार ने आगे चल कर कही है—**"पभासक भवति सव्वभावाण जीवलोके।"** अर्थात् सत्य जीवलोक मे सभी पदार्थो के वस्तुतत्त्व का कथन कर देता है—प्रतिभासित कर देता है।

सत्य जहाँ तथ्य अर्थ मे प्रयुक्त होता है, वहाँ यथार्थ बोलने के रूप मे होता है।[1] जो वस्तु जैसी देखी है सुनी है, सोची है, समझी है, जैसा उसके बारे मे अनुमान किया है, प्राणियो के हित के अनुरूप वैसा ही वचन द्वारा प्रगट करना सत्य है।

इसके लिए शास्त्रकार ने कुछ शब्द दिये है—**'भूयत्थ अत्थतो अविसवादि जहत्थमधुर'** अर्थात् वह सत्य है,जो अर्थ से भूतार्थ—सद्‌भूत अर्थ वाला हो और अवि सवादी हो,यथार्थ हो,मधुर हो। इसके साथ ही उस सत्य–यथातथ्य अर्थ को प्रगट करने पर भी जिसके पीछे दुष्ट आशय हो,जो प्राणिघात का कारण हो या जिसके पीछे अन्य

१ सत्य का यही लक्षण योगदर्शन व्यासभाष्य मे किया है—**'सत्य, यथार्थं, वाड्-मनसी यथादृष्ट यथाश्रुत तथैव परत्र क्रान्तये भवति।**

—सम्पादक

किसी प्रकार का छल, द्रोह, दम्भ आदि सयमविघातक कारण हो, वह सत्य वचन असत्य ही समझा जायगा। जैसे कि कहा है—"**सच्च पि य सजमस्स उवरोहकारक न किंचि वत्तव्व एवविह सच्चपि न वत्तव्व।**

जहाँ वृत्ति-प्रवृत्ति या सद्व्यहार अर्थ मे सत्य प्रयुक्त होता है, वहा सत्य वचन के साथ-साथ तदनुसार आचरण होना चाहिए। जैसे कोई वचन देता है कि तुम्हारा अमुक कार्य कर दूगा या अमुक प्रतिज्ञा या नियम लेता हू, तो तदनुसार प्रवृत्ति, चेष्टा या आचरण भी होना चाहिए तभी वह सत्य कहलाएगा। सत्यहरिश्चन्द्र का सत्य इसी अर्थ मे था कि उन्होने जो वचन मुँह से कहा था, उसका तदनुसार पालन किया। इसी प्रकार जहा वचन के अलावा स्वर, आकृति, कृति, चेष्टा लेखन आदि से भी वह सत्य वैसा ही प्रगट हो,तो वहा सत्य वृत्ति-प्रवृत्ति अर्थ मे समझना चाहिए। मुह से यथार्थ बोलने पर भी यदि चेष्टा, कृति, आकृति, लेखन या स्वर और तरह का हो तो वह बोला हुआ सत्य भी असत्य ही समझा जाएगा।

जैसे कि शास्त्रकार ने कहा है—**सच्च जह भणिय तह य कम्मुणा होइ दुहओ उवयारमतिक्कत एवविह सच्चपिनवत्तव्व'**—इसका तात्पर्य यह है कि जैसा कहा है,तदनुसार कर्म-क्रिया वगैरह से भी वह प्रगट हो, वह सत्य तभी सत्य है। जहाँ द्वयर्थक शब्द का प्रयोग हो या उपकार एव सत्कार आदि का भी द्रव्य-भाव दोनो मे से किसी भी एक से उल्लघन हो, तो वहाँ वह असत्य है।

इन तीनो अर्थों मे जो सत्य वताया गया है उसके पीछे मूल आशय प्राणिहित होना चाहिए। जैसा कि महाभारतकार ने कहा है—**यद्भूतहितमत्यन्त तद्धि सत्य मत मम।'** अर्थात्—जिस वोलने, लिखने, सोचने, या किसी भी प्रकार की चेष्टा आदि करने मे एकान्त प्राणिहित हो, वही सत्य माना गया है। सत्य का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी यही होता है—'**सद्भ्यो हितम्**' जो प्राणिमात्र के लिए हितकर हो, वह सत्य है। इसी का स्पष्टीकरण अर्धगाथा मे इस प्रकार प्रगट किया गया है—

'**सच्च हिय सयामिह सतो मुणओ गुणा पयत्था वा**' अर्थात्—'जो प्राणियो लिए हितकारक हो, वह सत्य है। इसी सत्शब्द मे ये तीन अर्थ और फलित होते है—मुनि—सत, गुण और पदार्थ। जिससे उक्त तीनो का हित प्रगट होता हो,वही सत्य है।'

तीनो की एकरूपता हो, वहीं सत्य है—सत्य के पूर्वोक्त अर्थों को देखते हुए निष्कर्ष यह निकलता है कि केवल वाणी से उच्चारण किया हुआ सत्य ही सत्य नही होता। वचन के साथ मन और काया की एकरूपता होनी चाहिए। मन से भी सत्य सोचे, वचन से भी सत्य बोले और काया से भी सत्य चेष्टा प्रगट करे, तभी सच्चे

माने मे सत्य होता है।[1] यही कारण है कि सत्य महाव्रती साधु मन,वचन, काया तीनो योगो से मत्य का आचरण करने की प्रतिज्ञा लेता है। वह वचन से तो ठीक कहता हो, पर मन मे कुछ और वात हो, शरीर से आचरण और ही तरह का हो,वहाँ दम्भ, छल या असत्य है, मत्य नही। साधु के गुणो मे इसीलिए तीन विशेषण प्रयुक्त किये जाते है—**'भावसच्चे, करणच्चे,जोगसच्चे'**—यानी वह भावो से भी सत्य का आराधक हो,कृतादि करण से भी और मन-वचन-काय की प्रवृत्तिरूप योग से भी सत्याचरणी हो। अगर ऐमा न होता तो शास्त्रकार इस सूत्र पाठ मे केवल वाणी से प्रगट किये हुए तथ्य को ही 'मत्य' कह देते, सत्य के स्वरूप पर इतना स्पप्ट व विस्तृत निरूपण नही करते। किन्तु उन्होने पूर्वोक्त तीनो अर्थों मे तथा मन-वचन-काय की एकरूपता के रूप मे घटित होने वाले सत्य को ही सत्य कहा है और उसी को वोल कर प्रगट करने का निर्देश किया ह।

यद्यपि सत्य का प्रकटीकरण खासतौर से वाणी से ही होता है, वोल कर ही होता है। वोल कर ही मनुष्य अपनी वात या अपने भावो को प्रगट करता है। परन्तु यह नही भूल जाना चाहिए कि वाणी तो भावो को परोसने या प्रगट करने का एक साधन है, पर वही सव कुछ नही है। अगर वचन का सत्य ही एकान्तरूप से सत्य समझा जाय, तव तो अव्यक्त भापा वोलने वाले द्वीन्द्रिय से ले कर पञ्चेन्द्रिय तक के तिर्यञ्च प्राणी भी महासत्यवादी कहलाएँगे, अथवा एकेन्द्रिय स्थावरजीव, जिनके रसनेन्द्रिय नही होती, वे भी सत्यवादी ही कहलाएँगे। लेकिन शास्त्रकार ने उन्हे मत्याचरणी या मत्यपालक नही वताया है। छोटा वच्चा, जो अभी वोलना भी नही सीखा है वह भी मत्यवादी की कोटि मे आजाएगा। अथवा कोई मन्दमति मनुष्य आजीवन मौन धारण कर ले, वह भी सत्यवादी की कोटि मे माना जाएगा। मगर ये मत्यवादी की कोटि मे नही माने जाते, क्योकि इनके भावो मे अभी तक समझवूझपूर्वक मत्यता नही आई है।[2] ओघसज्ञा से कोई मिथ्यात्वी या अव्रती सत्य वोलता है तो उसका वह वचन भी सत्यव्रताचरणी की कोटि मे नही माना जाता। सत्य के उच्चारण—वचन पर जो जोर दिया गया है, उमका भी रहस्य यही है कि

---

१ स्थानाग सूत्र मे वताया है 'कायुज्जुयए, भासुज्जुयए भावुज्जुयए अविसवायणाजोगे' काया की सरलता, भापा की सरलता, भावो की सरलता और मन-वचन कायरूप योग की अविसवादिता—एकरूपता ही सत्य ह।

२ तत्त्वार्थसूत्र मे यही वात प्रगट की गई है—'सदसतोरविशेषाद् यहच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।'

—सपादक

स्थूलदृष्टि वाले लोग सत्य को उसकी अभिव्यक्ति से ही पकड पाते है, भावो और चेष्टाओ (लेखन, इशारा, आकृति, स्वर आदि) से सत्य को पकडना हर एक मनुष्य के वश की वात नही। मनुष्य के बाह्यव्यवहार से भी सत्य को पकडना आसान नही होता। इसलिए सत्य की अधिकाश अभिव्यक्ति वचन के द्वारा होने से सत्यभापण पर ही शास्त्रकारो या आचार्यों ने जोर दिया है। किन्तु यह कथन वहुलता की अपेक्षा से समझना चाहिए। सत्यवचन से उपलक्षणतया सवत्र सत्य-आचरण ही समझना चाहिए।

सत्य की इतनी महिमा क्यो ?—प्रश्न यह होता है कि अगर सत्य न वोला जाय तो क्या हो जायगा ? इसका इतना माहात्म्यवर्णन शास्त्रकार क्यो करते है ? इसका समाधान यह है कि सारा ससार सत्य के आधार पर चलता है। सूर्य, चन्द्र, ऋतु, ग्रह, नक्षत्र, तारे, समुद्र हवा आदि सब सत्य के आधार पर चलते है। सूर्य चन्द्र अपने नियमानुसार समय पर उदित होते है, ऋतुएँ अपने-अपने समय पर आती है, हवा बहती रहती है, समुद्र अपनी मर्यादा मे रहता है, आकाश सवको अवकाश देता है, अग्नि जलाती है। ये सब पदार्थ अगर अपना-अपना कार्य न करते तो ससार मे प्रलय हो जाता। इसी प्रकार जितने भी व्यवहार है, वे सव सत्य के आधार पर चलते हैं। अगर दुनिया मे सत्य का व्यवहार न हो तो सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच जाय। जहाँ सत्य के व्यवहार मे गडवड होती है, वही अशान्ति, अव्यवस्था या विपमता फैलती है। सत्य के आधार पर सभी काम सतुलितरूप से होते जाते है। इसलिए शास्त्रकार क्या, दुनिया के तमाम बुद्धिमान मनुष्य, सत्य को मानवजीवन के लिए ही नही, प्राणि मात्र के जीवन के लिए आवश्यक मानते है। कहा भी है—

'सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रवि।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥'

अर्थात्—सत्य के आधार पर ही पृथ्वी ठहरी हुई है, सत्य के कारण ही सूर्य तपता है, सत्य के कारण ही हवा चलती है। ससार मे सभी कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है।

इसी वात की साक्षी शास्त्रकार निम्नोक्त शव्दो से देते है—

'जे वि य लोग मि अपरिसेसा मतजोगा सव्वाणि वि ताइ सच्चे पइट्ठियाइ' इस पक्ति का अर्थ मूलार्थ मे हम स्पप्ट कर चुके हैं।

सारा समार या ससार के सभी शुभभाव या पदार्थ आदि जिसके आधार पर टिके हो, भला उस सत्य की महिमा का वर्णन कौन नही करेगा ?

सत्य क्या है ?—सत्य को 'शुद्ध' कहा गया है। जिसका अर्थ है—अविकारी। जिसमे मिलावट, वनावट, दिखावट या सजावट होगी, वह विकारी होगा। सत्य मे मिलावट, वनावट, दिखावट, या सजावट नही होती और न उसमे इसकी जरूरत ही

होती है। महाभारत मे कहा गया हे—"**निर्विकारितम सत्य सर्ववर्णेषु भारत**!" "हे अर्जुन! ब्राह्मण आदि सभी वर्णो मे सत्य को अतिशय निर्विकारी माना गया है।" सत्य की पैरवी के लिए किसी वकील की जरूरत नही होती। इसलिए इस 'सुद्ध' कहा है। सत्य की अभिव्यक्ति भी शुद्ध-सरल मन,शुद्ध-सरल वचन,और शुद्ध-सरलकम से होती हे। इसी प्रकार इसे '**सुचिय**' भी कहा ह। शुचि का अथ होता है—पवित्र। सत्य मे किसी प्रकार की गदगी, मन की मलिनता, कुटिलता आदि दोपो की गुजाइश नही ह। वह स्वय पवित्र होता हे। पवित्र आत्मा ही इसका आचरण करता ह।

सुभासिय—सत्य का उच्चारण स्पप्ट और सुन्दर हाता ह, इससे इसे सुभापित कहा ह। वास्तव मे सत्य कहने वाले का उच्चारण अस्पष्ट नही होता। अस्पष्ट उच्चारण तो उस व्यक्ति का होता है, जो किसी न किसी दोप से युक्त होता है, वह कहने से हिचकिचाता हे। मगर सत्यवादी वेखटके साफ-साफ और प्रिय व सुन्दर-सुहावन शब्दो मे अपनी वात को कहता हे।

सुव्वय—सुव्रत का मतलव ह—उत्तम व्रत। सत्य अपने आप म एक व्रत ह—प्रतिज्ञारूप है। व्रत तप को भी कहते है,नियम को भी। कहा भी है—'**सत्य चेत्तपसा च किम्?**'—यदि किसी के पास सत्य ह तो उसे तपस्या से क्या मतलव है? सत्य अपने आपमे एक महान् तप है। किसी कवि ने कहा ह—

'साच वरावर तप नहीं, झूठ बरावर पाप।
जाके हिरदे साच है, ताके हिरदे आप॥'

मतलव यह कि जहाँ सत्य नही, वहा तप, नियम, व्रत आदि सब निष्फल हो जात है। नियम या प्रतिज्ञा भी सत्य के ही अग ह।

सुकहिय—राग और द्वेप दोनो से रहित जो न्याययुक्त उचित सतुलित कथन होता है, उसे सुकथित कहते है। सत्य भी ऐसा होने से सुकथित ह।

सुदिट्ठ सुपतिट्ठिय—जो वात अच्छी तरह से सोच विचार कर कही हुई अच्छी तरह देखी-सुनी हुई होती है या दिलदिमाग मे भलीभाति जमी हुई होती है, वही सुकथित, सुदृप्ट एव सुप्रतिष्ठित होनी है, वही सत्य है। विना विचारे सहसा किसी के लिए कही गई वात झूठ हाती ह। कई वार आखो से स्पष्ट देखी हुई वात भी सही नही हाती, जैसे धुधले प्रकाश मे रस्सी भी साप जैसी दिखती हे, रेगिस्तान मे रेतीली जमीन मे पानी भरा हुआ दिखाई देता है, इसी प्रकार कई वार ऊपर-ऊपर से देखी हुई वात म भी सत्य का अश कम होता ह। इसी प्रकार कानो मे सुनी हुई वात भी झूठी निकल जाती हे। उस पर सहसा विश्वास या निणय करने मे धोखा खाना पडता है। इसी प्रकार कोई वात दिलदिमाग मे जब तक भलीभाति जमी नहीं ह, तव तक उस [illegible] सही मान लेने से भी पछताना पडता ह। इसलिए शास्त्रकार इन तीन

शब्दो द्वारा ध्वनित करते है, जो बात विना सोचे-विचारे सहसा उतावलेपन मे कह दी गई हो, जो भलीभाति देखी-सुनी न हो, और जो बात दिलदिमाग मे अच्छी तरह जम न गई हो उसे कहना 'असत्य' है। इसीलिए शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ के अन्त मे कहा हे— **'समिक्खिय सजएण कालमि य वत्तव्व'**—अर्थात्—भलीभाति सोचविचार करके सयमी पुरुष को अवसर पर ही बोलना चाहिए। वृत्तिकार भी कहते है —

बुद्धीए निएउण भासेज्जा उभयलोयपरिसुद्ध ।
सपरोभयाण ज खलु न सव्वहा पीडजणग तु ॥'

'बुद्धि से भलीभाति विचार कर जो स्व, पर और दोनो के लिए सर्वथा पीडा-जनक न हो, दोनो लोको मे शुद्ध हो, वही वचन बोलना चाहिए।'

सुपइट्ठियजस—इसका अर्थ यही है कि सत्य को जीवन मे निष्ठापूर्वक स्थान देने वालो का यश स्वत ही फैल जाता है। असत्यवादी की तो पद-पद पर अप्रतिष्ठा-अपकीर्ति होती हे। अत निष्कर्ष यह निकला कि सत्य अपने पालन करने वालो का यश ससार मे फैला देता है। सत्यवादी सत्य के प्रभाव से उत्कृष्ट पद पर पहुचता देखा गया है।

विभिन्न कोटि के सत्य के उपासक - विभिन्न कोटि के महान् सत्योपासक व्यक्ति सत्य को अपने मन, वचन, साधना एव जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियो मे स्थान देते है, उसको आदर देते है, उसका आचरण करते है, तपस्या और नियमो मे उस सत्य को केन्द्र मे रख कर चलते है, विद्याओ और कलाओ मे पारगत होने वाले भी उसी सत्य की साधना करते है, शास्त्रीय सिद्धान्तो का गहन अध्ययन करके वे सत्य का रहस्य पा लेते है सत्य की महिमा और सत्य सिद्धान्तो को भलीभाति जानकर जनता को उसकी गरिमा से अवगत कराते ह, सत्य के जिज्ञासु जीवादितत्वो का ज्ञान करके सत्य की साधना करते है, सत्य की सार्थकता और उपयोगिता को हृदयगम कर लेते हैं, सत्य के द्वारा अपनी विद्या सिद्ध करते है और सत्य की स्तुति, अर्चा एव पूजा करते है। शास्त्रकार की दृष्टि मे वे क्रमश ये है—सुसयमी पुरुष, उत्तम देव, उत्तम मनुष्य, बलशाली मनुष्य, शास्त्रोक्त विधि से आचरण करने वाले सुविहित साधुजन, उत्कृष्ट साधुजन, तपस्वी, नियमधारी, विद्याधर, चतुर्दशपूर्वधर, महर्षिगण, देवेन्द्र, नरेन्द्र, वैमानिक देव, चारणमुनि सत्य की अर्चा और पूजा करने वाले देव और असुरगण।

सुगतिपहदेसक सग्गमग्गसिद्धिपहदेसक—इन दोनो पदो का आशय यह है कि सत्य मनुष्यगति और देवगति इन दोनो सुगतियो का पथप्रदर्शक, तथा अनुत्तर-विमानस्वर्ग तक के मार्ग का तथा सिद्धिमार्ग का प्रवर्त्तक है। क्योंकि तत्वार्थसूत्र के 'अल्पारम्भपरिग्रहत्व च मानुषस्य' 'सरागसयमसयमासयमाकामनिर्जराबालतपासि

देवस्य, इन दो सूत्रो के अनुमार अल्पारम्भ और अल्प-परिग्रह मनुष्यगति के तथा सरागसयम, सयमासयम, अकामनिजरा तथा वालतप, ये देवगति के कारण है। इसलिए सत्य का पालन मनुष्यगति एव देवगति का कारण तो ह ही, स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग का भी प्रवर्त्तक है।

उज्जुय अकुडिल—इन दोनो पदा का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋजु कहते है, सरल को। मरल मन से जो वोला जाता ह,वह ऋजुक होता ह, वही सत्य होता ह। जो मायाचारपूर्वक वोला जाता है,वह वचन असत्य होता है। सरलचित्त से उच्चारण किया हुआ वचन कुटिल नही होता है, वही सत्य है। सरलमन की मरलता को पहिचानने मे अकुटिल वचन हेतु वनता है। जिसके वचन मे सरलता नही होती, वह सीधी-सादी या सरल-सी लगती वात को भी घुमाफिरा कर कहता ह। समझना चाहिए उसके मन मे कलुपितता है। इसलिए इन दोनो पदो को साध्य-साधनभाव म परस्पर सम्वन्धित वताने के लिए साथ-साथ रखा है।

भूयत्य अत्थतो विसुद्ध—जो चाज हे ही नही, उसके विपय मे कल्पना करना सद्भूताथ कथन नही होता। वास्तविक (विद्यमान या घटित) अथ को कहने वाला वचन ही सत्य है।

परन्तु कई दृष्टान्त या कथाएँ काल्पनिक होती है, वे वर्तमान म या भूतकाल म भी हूवहू घटित नही होती, फिर भी वक्ता का आशय लोगा को किसी सत्य (तत्त्व या सिद्धान्त) को समझाना है या हृदय मे उतारना हे तो उसे असत्य नही समझना चाहिए, क्योकि उसके पीछे प्रयोजन (अर्थ) विशुद्ध हे।

इसलिए विशुद्ध प्रयोजन से वोला गया वचन अथत विशुद्ध होन के कारण सत्य है। अथवा किसी वक्ता का प्रयोजन लोगो को धोखा दन का नही था, किन्तु वाणीस्खलना के कारण एक शब्द के वजाय दूसरा शब्द मुह से निकल गया। चूकि वह अथत शुद्ध ह, इसलिए सत्य माना जाता ह। उत्तम प्रयोजन (आशय या अथ) को ले कर कही जाने वाली वात अथत विशुद्ध—सत्य ह।

जहत्यमधुर—कई लोग वाते वडी मीठी-मीठी करते ह, लेकिन व यथाथ नही होती, वे कानो को प्रिय लगती ह, परन्तु वक्ता के मन मे चापलूमी या मायाचार का भाव होन क कारण उनका परिणाम स्वार्थसिद्धि या धोखेवाजी होन के कारण वे यथाथ—मधुर नही होती। इसलिए शास्त्रकार ने वताया कि कवल मधुरवचन पूर्वोक्त प्रकार के स्वाथ या माया म लिपटा हुआ हो तो वह असत्य ह, किन्तु मधुरता के साथ जिस वचन म यथाथता हो, वह वचन सत्य ह।

सत्य के चमत्कार—शास्त्रकार ने इस मूलपाठ मे सत्य क प्रभाव से होन वाले प्रत्यक्ष और परोक्ष चमत्कारो का वणन किया ह। सत्य की आराधना का अनेक

विपद्ग्रस्त अवस्थाओं मे देवता की तरह प्रत्यक्ष आश्चर्यजनक चमत्कार दिखाता है। यह बात तो अनुभव सिद्ध है कि सत्य से असभव दिखाई देने वाले काम सभव हो जाते है। कई बार तो मनुष्य कल्पना भी नही कर सकता, इस प्रकार से सकटापन्न दशा मे पड़ हुए सत्यवादी को सहसा कोई न कोई सहायता मिल जाती है। नीतिकार कहते है—

'सत्येनाग्निर्भवेच्छीतोऽगाधाम्बुधिरपि स्थलम् ।
नासिश्छिनत्ति सत्येन, सत्याद्रज्जूयते फणी ॥'

'सत्य के प्रभाव से अग्नि ठडी हो जाती है, अगाध समुद्र जल के बदले स्थल बन जाता है। सत्य के प्रभाव से तलवार काट नही सकती, और फणधारी साप सत्य के कारण रस्सी बन जाता है।' सत्य हरिश्चन्द्र और महासती सीता आदि के उदाहरण तो प्रसिद्ध हैं ही। आधुनिक उदाहरणो की भी कमी नही है। सत्यवादी के वचन मे सिद्धि होती है। देव उसके वचन को सफल बनाने के लिए तत्पर रहते है। उसके मुख से निकले हुए वाक्य मत्र का-सा चमत्कार दिखलाते है। दैवयोग से प्राप्त आपत्ति सत्य के प्रभाव से दूर हो जाती है। देव उसकी सेवा मे तैनात रहते है। इसीलिए इस सूत्र पाठ मे बताया है कि महासमुद्र मे दिशामूढ बने हुए सैनिक नाविको की नौकाएँ सत्य के प्रताप से समुद्र मे स्थिर हो जाती है,डूबती नही। बडे-बडे तूफानो के बीच भी समुद्र-यात्री सत्य के प्रभाव से बहते नही, मरते भी नही, अपितु किनारा पा लेते है, आग की लपलपाती भयकर लपटो मे भी सत्याराधक जलते नही, खौलता हुआ गर्मागर्म तेल, रागा, लोहा और सीसा भी सत्यवादी को सत्य के प्रभाव से कुछ आच नही आने देता, वे गर्मागम पदार्थ को हाथ मे पकड लेते है, लेकिन जलते नही। ऊँचे से ऊँचे पर्वत की चोटी से गिरा देने पर भी सत्यधारी व्यक्ति का बाल भी बाका नही होता। बडे-बडे भयकर युद्धो मे चारो ओर नगी तलवारो से घिरे हुए सत्यवादी का कुछ भी नही बिगडता, वे उसमे से सहीसलामत निकल जाते है। लाठियो आदि की मारो, रस्सी आदि के बधनो, बलपूर्वक जबर्दस्त प्रहारो और घोर वैरविरोधो के बीच भी सत्यवादी बाल-बाल बच जाते है, शत्रुओं के बीच मे भी वे निर्दोष निकल जाते है, क्योकि सत्यवादी के आत्मबल के सामने पाशविकबल निस्तेज और परास्त हो जाता है। यही कारण है कि सत्य के प्रभाव से मारने-पीटने और बदला लेने को उद्यत भयकर शत्रुओं के भी परिणाम बदल जाते है। जिस सत्यवादी को पहले वे अपना अहितकर शत्रु समझते थे, उसे ही देख कर वे स्नेहार्द्र हो जाते है और उसे मित्रवत् समझने लगते है। जो सत्यवादी नरपुगव सत्य मे ही रमण करते है, मरणान्त कष्ट आ पडने पर भी असत्य का आश्रय नही लेते, लेने का विचार तक नही करते है, ऐसे

मनुष्यो के चरणो मे देवता उपस्थित होते ह। और उन्हे अभीष्ट फल प्रदान करते हैं। कहा भी हे—

'प्रिय सत्य वाक्य हरति हृदय कस्य न भुवि ?
गिर सत्या लोक प्रतिपदमिमामर्थयति च।
सुरा सत्याद् वाक्याद् ददति मुदिता कामितफलम्,
अत सत्याद् वाक्याद् व्रतमभिमत नास्ति भुवने ॥'

अर्थात्—'इस पृथ्वी पर कौन-सा ऐसा मनुष्य है, जिसके हृदय को प्रिय सत्यवचन नही हर लेता ? अर्थात् यह सबके चित्त को आकर्पित करने वाला मत्र हे। ससार का प्रत्येक प्राणी पद-पद पर (प्रतिक्षण) इस सत्यवचन की आकाक्षा करता रहता है। देवता भी सत्यवचन से प्रसन्न हो कर अभीष्ट फल प्रदान करते है। अत तीनो लोको मे सत्य से वढकर कोई भी व्रत नही माना गया हे।'

इसी का शास्त्रकार ने मूलपाठ मे निरूपण किया है—

' **पच्चक्ख दयिवय व करेंति सच्चवयणे रताण।'**

सत्य की महिमा - आगे चल कर शास्त्रकार ने सत्य की महिमा पर विशद निरूपण किया हे—वह सत्य भगवान् है।' वास्तव मे सत्य मे असीम गुणो का समावेश होने से उसे भगवान् की कोटि मे माना जा सकता है, देवगण सत्य को भगवान् की तरह अर्चनीय मानते ह, असुरगुण उसे भगवान् की तरह पूजते है, मानवगण उसकी स्तुति करते हे। भगवान् तीर्थंकर आदि तक सत्य के सर्वागीण आचरण से भगवान् वने हैं। 'भग' शब्द ऐश्वर्य के अतिरिक्त धर्म, यश, श्री, वैराग्य मोक्ष, आदि अनेक अर्थो मे भी प्रयुक्त होता है। इसलिए सत्य परम धर्म है,वैराग्य का कारण है, मोक्ष का साधन है, परम्परा से यश, ऐश्वर्य और श्री का भी दिलाने वाला है। इसलिए इसे भगवान् कहना अनुचित नही। महात्मा गाँधीजी ने भी सत्य को भगवान् कहा है। उपनिपदो मे वताया हे -

'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म'

अर्थात्—'सत्य ज्ञानरूप और अनन्त ब्रह्मस्वरूप है।'

इसी प्रकार यह सत्य महासमुद्र से भी वढ कर गभीर है। समुद्र मे अथाह जल होता है। उसकी थाह पाना दुष्कर होता है। तथापि देव चाहे तो, समुद्र की थाह पा सकते है, किन्तु सत्य की असीम शक्ति की थाह पाना उनके भी वश की वात नही। केवलज्ञानी के सिवाय और कोई भी व्यक्ति सत्य का पूर्ण स्वरूप स्पष्ट नही जान सकता।

चतुदशपूर्वधारियो[1] के पास श्रुतज्ञान की अगाधराशि होती है, मगर वे भी इसका रहस्य सत्यप्रवाद प्राभृत नामक छठे पूर्व से जान पाते है। दूसरे महर्षिगण भी दशवैकालिक आदि शास्त्रो से इस सत्य को जान कर आचरण करते है। देवेन्द्रो, नरेन्द्रो, वैमानिक देवो, मत्रविदो औषधिविशारदो, विद्यासाधको और चारणमुनियो ने तथा श्रमणो ने सत्य के माध्यम से अपनी-अपनी इष्ट साधनाएँ की हैं। जो मनुष्य अज्ञान या कषाय के वश सासारिक सिद्धि या इन्द्रियविषयो के पोषण मे ही सुख और कतव्य समझते हे, वे वास्तविक धर्म से विमुख विविध वेषधारी मतावलवी भी आखिर सत्य की ही साधना करते है। ऐसे अनेक पाषडियो ने भी सत्य की साधना द्वारा अभीष्ट फल प्राप्त किया है। सत्य की पूर्ण सीमा प्राप्त करना तो इन सब की शक्ति से परे की बात है। इसलिए सत्य को महासमुद्र से भी बढकर गम्भीर बताया गया है।

दूसरे पहलू से देखे तो महासमुद्र प्रलयकाल की वायु से क्षुब्ध हो जाता है, अपनी मर्यादा को लाघ देता है, लेकिन सत्य और दृढ सत्यवादी को क्षुब्ध करने मे ससार की कोई भी वस्तु समर्थ नही है। इसलिए यह महासागर से भी अत्यधिक गभीर हे। मेरुपवत की जड एक हजार योजन गहरी है, प्रलयकालिक वायु भी उसे कम्पायमान नही कर सकती। इतना अडोल मेरुपर्वत है। फिर भी इन्द्र मे इतनी शक्ति है कि वह चाहे तो जम्बूद्वीप को पलट सकता है, तो मेरुपर्वत को हिलाना उसके लिए क्या बडी बात हे? लेकिन वही इन्द्र सत्य और सत्यवादी के सामने नतमस्तक हो जाता है, उसके स्थैर्यगुण की स्तुति करता हे।

देवता या इन्द्र सत्यमहाव्रत को स्वीकार नही कर सकते, क्योंकि उनके शरीर और बाह्य निमित्त इसके लिए अनुकूल नही होते। इसलिए वे उस सत्य गुण और सत्यधारी महापुरुषो की वन्दना, पूजा, अर्चा, हार्दिक सत्कार, सम्मान और शारीरिक सेवा करके ही भविष्य के लिए अपनी आत्मा को उस गुण के योग्य बनाते हैं।

चन्द्रमण्डल मे तीन गुण हैं— शान्ति करना, आह्लाद पैदा करना और अन्ध-कार मिटाना। चन्द्रमण्डल का उदय होने स उसकी चादनी से सारे ससार का शान्ति

---

१ चादह पूव ये हैं—१ उत्पाद, २ आग्रायणी, ३ वीर्यप्रवाद, ४ अस्ति-नास्तिप्रवाद, ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद, ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद ९ प्रत्याख्यान, १० वीर्यानुवाद, ११ कल्याण, १२ प्राणवाद, १३ क्रियाविशाल और १४ लोकबिन्दुसार। इनके सागोपाग अध्येता चतुदश पूवधारी कहलात ह।

—सपादक

मिलती हे, आनन्द की अनुभूति होती है। परन्तु यह शान्ति क्षणिक, परिमित, वाह्य और पौद्गलिक है। सत्य चन्द्रमण्डल से अनेक गुनी अधिक आत्मिक शान्ति जीवो को प्रदान करता है तथा नित्य (अनन्तकाल) आत्मा के साथ रहने वाला है। इस लिए चन्द्रमडल की सौम्यता सत्य के सामने तुच्छ हे।

सूर्यमण्डल से भी सत्य की दीप्ति अत्यधिक है। इसका आशय यह है कि सूर्य की दीप्ति (प्रकाश) तो वाह्य अन्धकार का ही नाश करती है, साथ मे सताप भी देती ह। लेकिन सत्य की दीप्ति अन्तरग के मिथ्यात्वरूप सघन अन्धकार को छिन्न भिन्न कर देती है और जीवो के सासारिक सताप को शान्त करती हे। इसलिए सूर्यमडल से सत्य की दीप्ति (प्रकाश या तेजस्विता) कही अधिक हे।

शरत्काल का आकाशतल स्वच्छ और निर्मल होता ह, लेकिन सत्य उससे भी वढकर निर्मल हे। क्योकि शरत्काल मे मेघ तथा रज आदि के न होने से गगनतल साफ प्रतीत होता है, लेकिन उसकी वह स्वच्छता कुछ समय के लिए रहती है। कभी-कभी उस पर कोहरा धु ध छा जाता हे, वादल भी उमड कर आ जाते हैं, जवकि सत्य सम्पूर्ण दोपो तथा मिथ्यात्व, अज्ञान आदि के कोहरे से रहित होने के कारण अत्यन्त स्वच्छ रहता है। और शुद्ध आत्मा का गुण होने से यह अविनाशी भी है। इसलिए इसकी निर्मलता शरत्कालीन गगनतल से कही अधिक है।

गन्धमादनपर्वत चन्दन के वृक्षो के कारण सदा सुगन्धित रहता है मगर सत्य तो उससे भी वढ कर सुरभित होता है, क्योंकि यह सहृदय मनुष्यो के हृदय को अपने गुणो के आकर्पण से खीच लेता है, उनके मन को आह्लादित कर देता है।

सत्य मे आश्चर्योत्पादक शक्ति निहित है। जितने भी मत्र, तत्र, विद्या आदि के चमत्कार हैं, वे सव सत्य से अनुप्राणित होते ह। सत्य के विना वे सव पक्षहीन पक्षी की तरह निरर्थक ह। जगत् मे हम जितने भी मत्रादिप्रयोगो के चमत्कार देखते ह, जप से अनिष्टादिनिवारण देखते ह, अनेक विद्याओ की सिद्धि का अनुभव करते है अस्त्र-शस्त्र के चमत्कार सुनते ह, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि का अद्वितीय वस्तुविवेचन पढते है, अत्यन्त मनोरजक ललित कलाओ, शिल्पो आदि का कौशल देखते हैं, ये सव सत्य पर आश्रित ह। सत्यवादी मनुप्य इन्हे अतिशीघ्र प्राप्त कर लेता हे, इनकी पराकाष्ठा तक पहुच जाना हे। लेकिन असत्यवादी को मत्र विद्या आदि सिद्ध नही होती। उसे कला आदि का ज्ञान भलीभाति नही हो पाता। कदाचित् गुरुकृपा से हो भी जाय तो वह अधूरा ही रहता ह या विजली के समान अपनी क्षणिक चमक दिखा कर अस्त हो जाता ह। सत्यवादी को पा कर ये सव दिनोंदिन वढते जाते ह,स्वपर-उपकारक भी वनत है। मूलहीन वृक्ष की तरह सत्यहीन मत्रादि या विद्याकलादि टिक नही सकते। अत ये सव सत्य पर अवलम्बित हैं। सत्य की इसी गरिमा एव महिमा को स्पप्ट करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—

'त सच्च भगव 'ज त लोकमि सारभूय, गभीरतर महासमुद्दाओ ' सव्वाणि वि ताइ सच्चे पइट्ठियाइ ।'

सत्य के दस भेद—शास्त्रकार ने मूलपाठ मे कहा है—'त सच्च दसविह' अर्थात् वह सत्य दस प्रकार का है। दशवैकालिक सूत्र की हारिभद्रीवृत्ति मे उल्लिखित गाथा इसके लिए प्रस्तुत है—

"जणवय-सम्मय-ठवणा नाम-रूवे पडुच्चसच्चे य ।
ववहार-भाव-जोगे दसमे उवम्मसच्चे य ॥"[1]

अर्थात्—'(१) जनपदसत्य, (२) सम्मतसत्य, (३) स्थापनासत्य, (४) नामसत्य, (५) रूपसत्य, (६) प्रतीत्यसत्य, (७) व्यवहारसत्य, (८) भावसत्य, (९) योगसत्य और (१०) उपमासत्य, ये दस सत्य के भेद है।'

जनपदसत्य—जिस देश के लिए जो शब्द जिस अर्थ मे रूढ होता है, उस देश मे उस अर्थ के लिए उसी शब्द का प्रयोग करना जनपदसत्य कहलाता है। जैसे दक्षिण देश मे चावल को भात या कुलु कहते है,अत वहाँ उन शब्दों का प्रयोग जनपद सत्य है। पजावप्रान्त मे नाई को राजा कहते है, जबकि अन्य प्रान्तो मे नृप को राजा कहा जाता है। अत पजाव मे नाई के लिए राजा शब्द का प्रयोग जनपदसत्य है।

सम्मतसत्य—बहुत-से मनुष्यो की सम्मति से जो शब्द जिस अर्थ का वाचक मान लिया जाता है, उसे सम्मतसत्य कहते है। जैसे 'देवी' शब्द का पटरानी अर्थ बहुजनसम्मत है। वैसे देवी देवागना के अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

स्थापनासत्य—किसी मूर्ति आदि मे किसी व्यक्ति विशेष की, सिक्के, नोट आदि मे रुपयो की या एक आदि अक के आगे एक बिन्दु होने पर दस की, दो बिन्दु होने पर सौ की कल्पना कर ली जाती है, या शतरज के पासो मे हाथी-घोडा आदि की कल्पना कर ली जाती है, इसे स्थापनासत्य कहते है।

नामसत्य—गुण हो चाहे न हो, किसी व्यक्ति या पदार्थ का कोई नाम रख लेना नामसत्य है। जैसे कुल की वृद्धि न करने पर भी लडके का नाम रख दिया जाता है—कुलवर्द्धन।

रूपसत्य पुद्गल के रूप आदि अनेक गुणो मे से रूप की प्रधानता से जो वचन कहा जाय, उसे रूपसत्य कहते है। जैसे किसी आदमी को गोरा (श्वेत) कहना। उस मनुष्य मे रूप के अलावा रस, गन्ध आदि अनेक गुण है, तथापि रूप की अपेक्षा से

---

१ निम्नोक्त गाथा भी सत्य के १० भेदो के सम्बन्ध मे मिलती है—
'जणपदसम्मतिठवणा णामे रूवे पडुच्च-ववहारे ।
सभावणे य भावे उवमाए दसविह सच्च ॥'
—सम्पादक

उसका नाम गोरा रखा गया। अथवा दम्भ से व्रत ग्रहण करने पर भी केवल साधु का रूप—वेप देख कर उसे 'साधु' कहना।

प्रतीत्य सत्य—किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा से किसी दूसरे पदार्थ का स्वरूप वताना प्रतीत्यसत्य है। जैसे किसी व्यक्ति को 'लम्वा' या स्थूल' कहना। वह अपने से ठिगने या पतले की अपेक्षा से तो लम्वा या स्थूल है, परन्तु अपने से लम्वे या मोटे की अपेक्षा से नही।

व्यवहारसत्य—नैगमनय या व्यवहार मे प्रचलित अर्थ की अपेक्षा से जो वचन वोला जाय, वह व्यवहारसत्य है। जैसे रसोई की तैयारी करते हुए किसी ने कहा—'मै रसोई वना रहा हू, भात वना रहा हू।' यद्यपि वह अभी पानी, लकडी आदि सामग्री इकट्ठी कर रहा है,रसोई वनानी शुरू भी नही की है। अथवा लोकव्यवहार मे प्रचलित अर्थ की अपेक्षा से जो वाक्य वोला जाय वह भी व्यवहारसत्य माना जाता है। जैसे—गॉव के कही न जाने-आने पर भी कहा जाता है—गॉव आ गया। घडे से पानी के चूने पर भी कहना कि घडा चूता है इत्यादि।

भावसत्य—किसी मे कोई वर्ण आदि उत्कट मात्रा मे हो, उस अपेक्षा से जो सत्य माना जाय, उसे भावसत्य कहते है। जैसे तोते मे अन्य रग होते हुए भी तोते को हरा कहना, यह भावसत्य है। अथवा आगमोक्त विधि - निपेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थो मे माने गए परिणामो को भाव कहते है। उस भाव का कथन करने वाला वचन भावसत्य है। जैसे सूखे,पके या अग्नि मे तपाए हुए या नमक,मिर्च आदि से मिश्रित किये हुए वीजरहित फल आदि द्रव्य प्रासुक कहलाते है। यद्यपि इन फलादि के सूक्ष्म जीवो को चक्षुरिन्द्रिय से नही देखा जा सकता,तथापि आगम मे पूर्वोक्त प्रकार से परिणत को प्रासुक मानने का उल्लेख होने से प्रासुक मानना, भावसत्य हे।

योगसत्य—किसी वस्तु के सयोग सम्वन्ध से उसका नाम रख देना, योग सत्य है। जैसे दण्ड के योग से किसी व्यक्ति को दडी कहना योग्यसत्य है।

उपमासत्य—जहॉ किसी प्रसिद्ध पदार्थ की सदृशता से किसी पदाथ के वारे मे कथन मिया जाय अथवा किसी पदार्थ की सिद्धि की जाय वहॉ उपमासत्य होता है। जैसे यह तालाव समुद्र की तरह है, मुख चन्द्रमा के समान है,आदि। पल्योपमकाल मे पल्य शब्द गड्ढे का वाचक है काल को गड्ढे की उपमा देकर वताया गया कि एक योजन लवे-चौडे यौगलिको के वालो से ठसाठस भरे हुए गड्ढे के समान काल **पल्योपम** है।

सम्भावनासत्य—कही-कही योगसत्य के वदले सम्भावनासत्य मिलता है। सम्भावनासत्य का अर्थ है—जहा असभवता का परिहार करते हुए वस्तु के किसी एक धर्म का निरूपण करने वाला वचन वोला जाय, वहा सम्भावनासत्य है। जैसे—इन्द्र मे जम्वूद्वीप को उथल देने की शक्ति है।

असत्यभाषा के दस प्रकार—प्रसगवश असत्यभाषा के भी दश भेदो के लिए दशवैकालिक की हारिभद्रीवृत्ति की एक गाथा उद्धृत करते है—

कोहे माणे माया लोभे, पेज्जे तहेव दोसे य।
हास-भय-अक्खाइय-उवग्घाइय-णिस्सिहा दसहा ॥

क्रोध के वश निकली हुई भाषा **क्रोधनिःसृता** कहलाती है। मान के वश अपनी बडाई करने के हेतु से निःसृतभाषा—माननिःसृता, माया के वश दूसरो को धोखा देने के अभिप्राय से निकली हुई भाषा **मायानिःसृता**, और लोभ के वशीभूत हो कर झूठी कसमे खाकर या झूठा नापतौल करके धोखा देने वाला वचन बोलना, लोभनिःसृता भाषा है। राग के वशीभूत हो कर बोलना प्रेमनिःसृता भाषा कहलाती है, जैसे—मैं तो आपका दास हू, आप तो मेरे पिता हो। द्वेष से आविष्ट होकर किसी के लिए कोई अवर्णवाद बोलना द्वेषनिःसृता भाषा कहलाती है। जैसे तीर्थंकरो मे क्या रखा है? इस प्रकार का कथन द्वेषनिःसृता भाषा का है। हास्यरस या क्रीडारस के वशीभूत होकर कोई उद्गार निकालना हास्यनिःसृता भाषा है। कथाओ मे असभव कपोलकल्पित नाम आदि रख लेना, आख्यायिकानिःसृता भाषा कहलाती है, जैसे—धूर्ताख्यान, आदि। तू चोर है, तू लुच्चा है, इस प्रकार के दिल को चोट पहुचाने वाले वचन बोलना उपघात-निःसृता भाषा है। उक्त दसो प्रकार की भाषाओ मे कुछ भाषाए सत्य या तथ्य होने पर भी असत्य ही कहलाती है। क्योकि इनके पीछे आशय गलत—दुष्ट होता है।

सत्यामृषा भाषा के दस भेद—इसी प्रकार सत्यामृषा भाषा भी दश प्रकार की होती है। निम्नोक्त गाथा प्रस्तुत है—

'उप्पन्नमिस्सिया १ विगय २ तदुभय ३ जीवा ४ ऽजीव ५ उभयमिस्सा ६।
अणत ७ परित्ता ८ अद्धा ९ अद्धद्धामिस्सिया १० दसमा ॥'

अर्थात्—१ उत्पन्नमिश्रिता, २ विगतमिश्रिता, ३ उत्पन्नविगतमिश्रिता, ४ जीवमिश्रिता, ५ अजीवमिश्रिता, ६ जीवाजीवमिश्रिता, ७ अनन्तमिश्रिता, ८ प्रत्येक-मिश्रिता, ९ अद्धामिश्रिता, १० अद्धाद्धामिश्रिता, इस प्रकार सत्यामृषा भाषा के १० भेद है।

किसी नगर मे कम या ज्यादा बालक पैदा हुए, लेकिन अदाजे से कह दिया कि आज इस नगर मे १० बालक पैदा हुए है, यह उत्पन्नमिश्रिता भाषा है। इसी प्रकार मरे हुए बालको की सख्या १० बता दी तो वहा विगतमिश्रिता भाषा है। जन्मे हुए या मरे हुए दोनो प्रकार के बालको की सख्या अनुमान से बता दी तो वहाँ उत्पन्न-विगतमिश्रिता भाषा है। बहुत से जीवो को इकट्ठ देख कर कह देना—'अहो! कितनी बडी जीवराशि है!' यह जीवमिश्रिता भाषा है। मृत जीवो के ढेर को देख कर

भी कह देना—'कितनी वडी जीवराशि मर गई, अजीवमिश्रिता है। मृत और जीवित दोनो के ढेर को देख कर अन्दा जिया एक साथ कह देना—इन जीवो के ढेर मे इतने मरे ह, इतने जिंदा है,यह जीवाजीवमिश्रिता भापा है। हरे पत्ते या प्रत्येक वनस्पति के माथ अनन्तकाय का अधिक पिंड देख कर कहना—'सभी अनन्तकायिक हे,यह अनन्तमिश्रिता भापा है। तथा अनन्त काय के साथ प्रत्येक वनस्पतियो को अधिक मिश्रित देख कर कहना—ये सभी प्रत्येक वनस्पतिकायिक है, यह प्रत्येकमिश्रिता भापा है। इसी प्रकार जहा कोई किसी को जल्दी-जल्दी काम करने के लिए प्रेरित करने हेतु दिन रहते—सूर्य चमकते हुए भी कहता है—उठ जल्दी, रात हो गई है, अथवा रात रहते भी कहे,—उठ, सूरज निकल आया। यह अद्धामिश्रिता भापा है। दिन का एक भाग अभी वीता नही है, फिर भी जल्दी मचाता है—उठ, चल जल्दी, दोपहर हो गया है, यह अद्धाद्धामिश्रिता भापा है।

असत्यामृपा के वारह भेद—वारह प्रकार की भापा ऐसी होती है, जो न तो सत्य कही जा सकती है, न असत्य ही। इसलिए उसे असत्यामृषा भापा कहते है। उसके वारह भेद यो है—(१) **आमत्रणी**—हे देवदत्त !' इस प्रकार सम्बोधित करके वुलाने वाली, (२) **आज्ञापनिकी**—'यह करो' इस प्रकार दूसरो को कार्य मे प्रवृत्त करने के लिए आज्ञारूप भापा, (३) **याचनी**—किसी वस्तु की याचनारूप भापा जैसे—'दस रुपये दो।' (४) **पृच्छनी**—किसी विपय मे पूछने के लिए प्रयुक्त की जाने वाली भापा, जैसे—'राम कहा है ?' इस प्रकार पूछना, (५) **प्रज्ञापनी**—विनीत शिप्य को उपदेश देना। जैसे—'प्राणिवध से निवृत्त जीव आगामी भव मे दीर्घायु होते है।' (६) **प्रत्याख्यानी**—याचना करने वाले को इन्कार करने के रूप मे या प्रत्याख्यान कराने के रूप मे प्रयुक्त भापा। जैसे—'तुम्हे हम नही देते।' अथवा 'शराव पीने का त्याग करो' इस प्रकार की भापा प्रत्याख्यानी भापा है। (७) **इच्छानुलोमा**—कोई किसी कार्य को शुरू करने से पहले किसी से पूछे तव यह कहना कि 'आप इसे करिए, मुझे भी यही पसन्द है' यह इच्छानुलोमा भापा है। (८) **अनभिगृहीता**—एक साथ अनेक कार्य उपस्थित होने पर कोई किसी से पूछे कि—'इस समय कौन-सा काम करूँ ?' तव वह कहे कि 'जो तुम्हे सुन्दर मालूम हो,उसे करो', यह अनभिगृहीता भापा है। (९) **अभिगृहीता**—'इस समय इसे करो इसे मत करो,इस प्रकार की भापा अभिगृहीता है, (१०) **सशयकरणी**—अनेक अर्थो को प्रगट करने वाला एक शब्द कह देना सशयकरणी ह, जैसे कोई कहे कि सैन्धव ले आओ। सैन्धव शब्द नमक, घोडा, वस्त्र आदि अनेक अर्थो मे प्रयुक्त होता है, इसलिए ऐसी अनिर्धारित वाणी सशयकरणी है। (११) **व्याकृता**—जिसका अथ स्पप्ट हो, ऐसी भापा, (१२) **अव्याकृता**—जिसका अथ अतिगम्भीर हो, ऐसी गूढ या अव्यक्त भापा।

---

१ भापा के विपय मे विशेप जानकारी के लिए प्रज्ञापनासूत्रके भापापद का अवलोकन करे।
—सपादक

बारह भाषाएँ—बोलियो की दृष्टि से उस समय भारत मे प्रचलित भाषाए १२ मानी जाती थी। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—**दुवालसविहा होइ भासा**—अर्थात्—भाषा १२ प्रकार की है। वे इस प्रकार है—(१) प्राकृत, (२) सस्कृत, (३) मागधी, (४) पैशाची, (५) शौरसेनी, और (६) अपभ्र श, ये ६ भाषाएँ। गद्य और पद्यभेद से कुल मिला कर १२ होती है। इनमे छठी जो अपभ्र श भाषा है, भिन्न-भिन्न देशो की अपेक्षा से उसके अनेक भेद हो जाते है।

सोलह वचन—बोलते समय एकवचन आदि वचनो, स्त्री-पुरुष आदि तीन लिंगो, प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि तीनो कालो का तथा अपनीतवचन और अध्यात्मवचन आदि का विवेक सत्यवादी को होना चाहिए। इसी हेतु से १६ प्रकार के वचनो का उल्लेख शास्त्रकार ने किया है—**'वयण पि य होइ सोलसविह'** अर्थात्—वचन भी १६ प्रकार का होता है। निम्नोक्त गाथा इस सम्वन्ध मे प्रस्तुत की जा रही है—

> **"वयणतिय लिगतिय कालतिय तह परोक्ख-पच्चक्ख।**
> **अवणीयाइ चउक्क अज्झत्थ चेव सोलसम॥"**

अर्थात्—'एकवचन, द्विवचन और बहुवचन, ये तीन वचन, स्त्रीलिंग, पुल्लिग और नपु सकलिंग, ये तीन लिंग, भूत भविष्य और वर्तमान, ये तीन काल, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष वचन,अपनीतादि वचनचतुष्टय, जैसे—(१) किसी मे एकाध कोई गुण होने पर भी ज्यादा तादाद मे अमुक दुर्गुण होने से कहना—यह दु शील है,यह दुर्भाषी है, इस प्रकार का कथन अपनीत वचन है,(२) एकाध गुण बता कर बाद मे दुर्गुणो का उल्लेख करना,जैसे—यह रूपवान तो है,किन्तु दु शील है, इस प्रकार का कथन उपनीत-अपनीत वचन है,(३) इसके ठीक विपरीत पहले दुर्गुण बता कर बाद मे एकाध गुण बताना,जैसे—'यह दु शील है,परन्तु है रूपवान,ऐसा कथन अपनीत-उपनीत वचन है,(४) केवल गुण ही गुण का कथन करना, दुर्गुण का नही,जैसे—यह रूपवान और बुद्धिमान है,इस प्रकार का वचन उपनीतवचन है। तथा अभीष्ट अर्थ को छिपाना चाहने वाले व्यक्ति के मुख से सहसा वही सत्य निकल जाने वाला वचन अध्यात्मवचन ह जैसे—'मैं दु खित हू', अथवा आत्मा को लेकर अध्यात्मभावना से वचनयोजना करना, अध्यात्मवचन है। ये सब मिलकर १६ प्रकार के वचन है।

सत्यादि के स्वरूप को जान कर भाषावचनादि के विचार के साथ इन सब वचनो को बोलने की भगवान की आज्ञा है।

---

१ भाषा के सम्बन्ध मे देखिए यह श्लोक—

प्राकृतसस्कृत भाषा मागधपैशाचशौरसेनी च।
षाठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रश ॥

—सपादक

किस प्रकार का सत्य बोला जाय ?—सत्य के विपय मे पूर्वोक्त सव झमेलो को देख कर साधक सशय मे पड जाता है कि वास्तव मे सत्य क्या है ? कौनसा सत्य बोलना चाहिए ? पूर्वोक्त सूत्रपाठ के विवेचन से इतना तो स्पप्ट हो ही जाता है कि दस प्रकार की असत्याभापा और दस प्रकार की सत्यामृपा भापा को छोडकर १२ प्रकार की असत्यामृपा और १२ ही प्रकार की प्राकृत आदि भापाओ एव १६ वचनभेदो का विवेक करके दश प्रकार का सत्य बोला जाय तो वह वचन सत्यवचन कहलाएगा। इतने पर भी और स्पप्ट करने के लिए शास्त्रकार कहते है—**ज त दव्वेहि विभत्ति वन्नजुत्त**' इसका आशय यह है कि जो वचन[1] द्रव्यो से सगत हो, [2]गुणो से सम्वन्धित हो,[3] पर्यायो से सम्वद्ध हो, कर्म (असिमसिकृपि आदि कर्म या उठाना रखना आदि कर्म) से,तथा विविध कलाओ से जिसका सम्वन्ध हो,जो सिद्धान्तो से सगत हो,वह सव सत्यवचन है। तथा नाम, आख्यात, निपात, तद्धितपद, समासपद, सन्धिपद, हेतु, यौगिक, उणादिपद, क्रियाविधान,धातु, स्वर या रस,विभक्ति और वर्ण, इन सवसे युक्त पूर्वापर सगत वचन भी सत्यवचन है।

नाम आदि पदो का सक्षेप मे स्पप्टीकरण करना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

नामपद—किसी वस्तु को पहिचानने के लिए व्यवहार मे कोई नाम दे दिया जाता है, या सज्ञा दे दी जाती है, उसे नाम कहते है। नाम दो प्रकार का होता है—व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न। राम, देवदत्त आदि प्रकृति और प्रत्यय से सिद्ध व्युत्पन्न नाम है, और डित्थ, डवित्य आदि प्रकृति प्रत्यय मे असिद्ध अव्युत्पन्न नाम है।

१—द्रव्य का लक्षण है—'उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्त सत्, सद् द्रव्यस्य लक्षणम्' (जो उत्पत्ति, नाश और स्थिरता से युक्त हो, वह सत् है। और यह सत् द्रव्य का लक्षण है) अथवा 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' (गुण और पर्याय वाला द्रव्य है) २ गुण का लक्षण द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा' (जो द्रव्य के आश्रित रहते हो और निर्गुण हो, वे गुण है) अथवा 'सहभाविनो गुणा' (द्रव्य के साथ सदा रहने वाले गुण होते है ३ पर्याय का लक्षण— क्रमभाविन पर्याया' (जो द्रव्य के साथ क्रम से होते है, एक साथ नही रहते है, वे पर्याय कहलाते है। जीव, पुद्गल, धर्माधर्मादि ६ द्रव्य है, इनके अलग-अलग गुण है, जैसे जीव के ज्ञानादि गुण है, पुद्गल के रूपादि गुण है, तथा रूपादि गुण के काला, पीला,नीला आदि पर्याय ह। इन सवके विपय मे पच्चीस वोल का थोकडा, वृहद्द्रव्यसग्रह, पचाध्यायी आदि ग्रन्थो से जान लेना चाहिए।

—सपादक

आख्यातपद—आत्मने पद, परस्मैपद, और उभयपदरूप तथा भूत—भविष्य-वर्तमानकालात्मक आदि अर्थविशेष को प्रगट करने के लिए जो साध्य क्रियापद होता है, उसे आख्यातपद कहते है । जैसे भवति, भविष्यति, अभवत् इत्यादि क्रियापद ।

निपातपद— अमुक-अमुक अर्थो को व्यक्त करने के लिए जो सिद्ध पद स्वीकार कर लिए जाते है, जिनके साथ विभक्ति-प्रत्यय नही लगते, जिनके रूप नही वनते, ऐसे अव्यय निपातपद कहलाते है । जैसे च, वा, ह अह, खलु आदि ।

उपसर्गपद—धातुओ के समीप (पहले) जिन्हे जोडा जाता है तथा जिनके लगाने से धातु का अर्थ वलात् वदल जाता है, उसे उपसर्ग कहते हैं । ऐसे प्र, परा अप, सम आदि उपसर्ग होते है ।

तद्धितपद—उन-उन अर्थो के हित—प्रयोजन के लिए सुवन्तपद के आगे प्रत्यय लग कर जिनका निर्माण होता है वे तद्धितपद कहलाते है । जैसे नाभि महाराजा के पुत्र, इस अथ मे नाभि शव्द के आगे 'एय्' प्रत्यय लग कर 'नाभय' (ऋषभदेव) शव्द वना है ।

समासपद—अनेक पद मिल कर जो एक पद वन जाता है उसे समास कहते है । समासपद तत्पुरुप, कर्मधारय, द्वन्द्व, द्विगु, वहुव्रीहि इत्यादि रूप होता हे ।=जैसे—राजा का पुरुप = राजपुरुप, यह तत्पुरुपसमासान्त पद हुआ ।

सन्धिपद—वर्णो की अत्यन्त निकटता होना सन्धि है, जैसे दधि+इद यहाँ दोनो 'इ' कारो के स्थान मे एक दीर्घ 'ई' कार हो कर दधीदम् शव्द वनता है ।

हेतु—जो साध्य के साथ अविनाभाव से रहता हो उसे हेतु कहते है । जैसे किसी ने कहा—"पर्वत अग्नि वाला है, धूआ होने से ।' यहाँ साध्यरूप अग्नि की अनुमिति मे अविनाभावसम्वन्ध होने से धुआ हेतु है ।

यौगिक पद—दो या तीन आदि पदो से योग से जो वनता है, उसे यौगिक पद कहते है । जैसे उप+करोति, इन दोनो पदो से उपकरोति यौगिक शव्द वन जाता है ।

उणादिपद उण् आदि प्रन्यय जिसके अन्त मे होते है, उसे उणादिपद कहते हैं । जैसे आशु स्वादु आदि शव्द ।

क्रियाविधान—कृत्प्रत्यय जिसके अन्त मे हो, वे कृदन्त क्रिया विधान कहलाते हैं । जैसे—कुम्भ करोति इति कुम्भकार, पचति इति पाक, करोति इति कारक आदि ।

धातु—क्रियावाचक शव्द धातु कहलाते है । जैसे भू, अस्, कृ इत्यादि ।

स्वर—अ आ इ ई आदि स्वर कहलाते है । अथवा षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पचम, धैवत और निषाद, ये सगीत के स्वर भी स्वर कहलाते है । अथवा उच्चारणकालन्यूनाधिकता ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भी स्वर कहलाते हैं । कही पर 'रस' पाठ

भी मिलता है, वहाँ श्रृगार, रौद्र, वीभत्स, वीर, करुणा, हास्य, भयानक, अद्भुत और शान्त, ये साहित्यशास्त्रप्रसिद्ध नौ रस समझने चाहिए।

विभक्ति— प्रथमा, द्वितीया,आदि व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध सात विभक्तियाँहै,जो कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदाय, अपादान, सम्वन्ध और अधिकरण के नाम से प्रसिद्ध है।

वर्ण क, ख आदि तैंतीस व्यञ्जन तथा अयोगवाह अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वा-मूलीय और उपध्मानीय आदि वर्ण कहलाते हैं।

नाम से ले कर वर्ण पर्यन्त यथाप्रसग विवेकयुक्त वचन सत्यवचन है।

सत्यवचन भी सयमघातक हो तो वह असत्य है—शास्त्रकार ने सत्यवादियो को सावधान करते हुए कहा है कि जो सत्यवचन सयमघातक हो, पीडाजनक हो, भेद- विकथाकारक हो निरर्थक विवादयुक्त हो,कलह पैदा करने वाला हो, असभ्यो—अनार्यो द्वारा वोला जाने वाला अपशव्द हो, अन्यायपोपक हो, अवर्णवाद या विवाद से युक्त हो, दूसरो की विडम्वना करने वाला हो, झूठे जोश और धृष्टता से भरा हो, लज्जाहीन हो, लोकनिन्द्य हो, अथवा जो वात खूव अच्छी तरह देखी, सुनी या जानी हुई न हो, जिस वचन मे अपनी प्रशसा और दूसरो की निंदा की झलक हो, ऐसे वचन सच्चे होते हुए भी दुष्ट आशय—खोटे इरादे से कहे जाने के कारण सयम घातक होने से असत्य मे ही शुमार है। ऐसे वचनो का जरा-भी प्रयोग नही करना चाहिए।

इस प्रकार शास्त्रकार ने सत्य का विविध पहलुओ से माहात्म्य और स्वरूप समझाया है और सत्य के आराधक को सावधानीपूर्वक उसका आचरण करने का निर्देश किया है।

सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ

जव साधक के सामने सत्य सवर का महाव्रत के रूप मे पालन करने का सवाल आता है तो उसके मन मे सतत दृढता, उत्साह, तीव्रता, स्फूर्ति और श्रद्धा वनी रहे, इसके लिए प्रेरणा देने वाली भावनाएँ होनी चाहिएँ। अत अहिंसामहाव्रत की तरह सत्यमहाव्रत के लिए भी शास्त्रकार पाच भावनाएँ तथा उनके चिन्तन और प्रयोग का तरीका अव आगे के सूत्रपाठ मे वतलाते है—

मूलपाठ

इम च अलिय-पिसुण-फरुस-कडुय-चवलवयणपरिरक्खण-ट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय, अत्तहिय, पेच्चाभाविक, आगमेसिभद्द, सुद्ध, नेयाउय, अकुडिल अणुत्तर, सव्वदुक्ख-पावाणं विओसमणं। तस्स इमा पच भावणाओ वितियस्स वयस्स

अलियवयणस्स वेरमणपरिरक्खणट्ठयाए—(१) पढम सोऊण संवरट्ठ परमट्ठ सुद्ध जाणिऊण न वेगिय, न तुरिय, न चवल, न कडुय, न फरुस, न साहस, न य परस्स पीलाकर, सावज्जं सच्च च हिय च मिय च, गाहग च सुद्ध सगयमकाहल च समिक्खित सजतेण कालमि य वत्तव्व। एव अणुवीइ (ति)-समितिजोगेण भाविओ भवति अतरप्पा सजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसपन्नो। (२) बितिय कोहो ण सेवियव्वो, कुद्धो चंडिक्किओ मणूसो अलिय भणेज्ज, पिसुण भणेज्ज, फरुस भणेज्ज, अलिय पिसुण फरुस भणेज्ज, कलह करेज्जा, वेर करेज्जा, विकह करेज्जा, कलह वेर विकह करेज्जा, सच्च हणेज्ज, सील हणेज्ज, विणय हणेज्ज, सच्च सील विणय हणेज्ज, वेसो हवेज्ज, वत्थु भवेज्ज, गम्मो भवेज्ज, वेसो वत्थु गम्मो भवेज्ज, एय अन्न च एव-मादिय भणेज्ज कोहग्गिसपलित्तो, तम्हा कोहो न सेवियव्वो। एव खतीइ भाविओ भवति अतरप्पा सजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसपन्नो। (३) ततिय लोहो न सेवियव्वो, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय खेत्तस्स व वत्थुस्स व कतेण १, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय कित्तीए लोभस्स व कएण २, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय रिद्धीए[1] (य) व सोक्खस्स व कएण ३, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय भत्तस्स व पाणस्स व कएण ४, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय, पीढस्स व फलगस्स व कएण ५, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय, सेज्जाए व सथारकस्स व कएण ६, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय वत्थस्स व पत्तस्स व कएण ७, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय कम्बलस्स व पायपुछणस्स व कएण ८, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय सीसस्स व सिस्सीणीए व कएण ९, लुद्धो

---

१ कही कही 'इड्ढीए' पाठ भी मिलता है।

—सपादक

लोलो भणेज्ज अलिय, अन्नेसु य एवमादिसु बहुसु कारणसतेसु लुद्धो लोला भणेज्ज अलिय । तम्हा लोभो न सेवियव्वो । एव मुत्तोए (य) भाविओ भवति अतरप्पा सजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसपन्नो । (४) चउत्थ न भाइयव्व । भीत खु भया अइति लहुय, भीतो अवितिज्जओ मणूसो, भीतो भूतेहि घिप्पइ, भीतो अन्नपि हु भेसेज्जा, भीनो तवसजमपि हु मुएज्जा, भीतो य भर न नित्थरेज्जा, सप्पुरिसनिसेविय च मग्ग भीतो न समत्थो अणुचरिउ, तम्हा न भाइ(ति)यव्वं, भयस्स वा वाहिस्स वा रोगस्स वा जराए वा मच्चुस्स वा अन्नस्स वा एवमादियस्स एव धेज्जेण भाविओ भवति अतरप्पा सजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसपन्नो । (५) पचमक हास न सेवियव्व, अलियाइ असंतकाइ जपति हासइत्ता, परपरिभवकारण च हास पर-परिवार्यप्पिय च हास, परपोलाकारग च हास, भेदविमुत्तिकारक च हास, अन्नोन्नजणिय च होज्ज हास, अन्नान्नगमण च होज्ज मम्म, अन्नोन्नगमण च होज्ज कम्म, कदप्पाभियोगगमण च होज्ज हास, आसुरिय किव्विसत्तण च जणेज्ज हास । तम्हा हास न सेवियव्व । एव मोणेण भाविओ भवइ अतरप्पा सजय-करचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसपन्नो ।

एवमिण सवरस्स दार सम्म सवरिय होइ सुपणिहिय इमेहि पचहि वि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिऐहि, निच्च आमरणत च एस जोगो णेयव्वो धितिमया मतिमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असकिलिट्ठो सव्वजिणमणुन्नाओ ।

एव बितिय सवरदार फासिय पालिय सोहिय तीरिय किट्टिय अणुपालिय आणाए आराहिय भवति । एव नायमुणिणा भगवया पन्नविय परूविय पसिद्ध सिद्धवरसासणमिण आघ-

विता सुदेसिया पसत्थ बितिया संवरदार समत्त ति बेमि ॥२॥ (सू० २५)।

संस्कृतच्छाया

इमं च अलीक-पिशुन-परुष-कटुक-चपल-वचनपरिरक्षणार्थताये प्रवचनं भगवता सुकथितमात्महितं प्रेत्यभाविकमागमिष्यद्भद्रं शुद्धं नैयायिकमकुटिलमनुत्तरं सर्वदुःखपापानां व्युपशमनम्। तस्येमाः पञ्चभावना द्वितीयस्य व्रतस्यालीकवचनस्य विरमणपरिरक्षणार्थाय (१) प्रथमं श्रुत्वा संवरार्थं परमार्थं सुष्ठु ज्ञात्वा न वेगितं, न त्वरितं, न चपलं, न कटुकं, न परुषं, न साहसं, न च परस्य पीडाकरं, सावद्यं, सत्यं च हितं च मितं च ग्राहकं च शुद्धं संगतमकाहलं च समीक्षितं संयतेन काले च वक्तव्यमेव अनुवीचि-(अनुचिन्त्य) समितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा संयतकरचरणनयनवदनः शूरः सत्यार्जवसम्पन्नः (२) द्वितीयं क्रोधो न सेवितव्यः, क्रुद्धश्चाण्डिक्यितो मनुष्योऽलीकं भणेत्, पिशुनं भणेत्, परुषं भणेत्, अलीकं पिशुनं परुषं भणेत्, कलहं कुर्यात्, वैरं कुर्यात्, विकथां कुर्यात्, कलहं वैरं विकथां कुर्यात्, सत्यं हन्यात्, शीलं हन्यात्, विनयं हन्यात्, सत्यं शीलं विनयं हन्यात्, द्वेष्यो भवेत्, वस्तु भवेत्, गम्यो भवेत्, द्वेष्यो वस्तु गम्यो भवेत्, एतद् अन्यं चैवमादिकं भणेत् क्रोधाग्निसंप्रदीप्तः, तस्मात् क्रोधो न सेवितव्यः, एवं क्षान्त्या भावितो भवत्यन्तरात्मा संयतकरचरणनयनवदनः शूरः सत्यार्जवसम्पन्नः। (३) तृतीयं लोभो न सेवितव्यः, लुब्धो लोलो भणेदलीकं क्षेत्रस्य वा वस्तुनो वा कृते १, लुब्धो लोलो भणेदलीकं कीर्तेर् लोभस्य वा कृते २, लुब्धो लोलो भणेदलीकं ऋद्धेर्वा सौख्यस्य वा कृते ३, लुब्धो लोलो भणेदलीकं भक्तस्य वा पानस्य वा कृते ४, लुब्धो लोलो भणेदलीकं पीठस्य वा फलकस्य वा कृते ५, लुब्धो लोलो भणेदलीकं शय्याया वा संस्तारकस्य वा कृते ६, लुब्धो लोलो भणेदलीकं वस्त्रस्य वा पात्रस्य वा कृते ७, लुब्धो लोलो भणेदलीकं कम्बलस्य वा पादप्रोञ्छनस्य वा कृते ८, लुब्धो लोलो भणेदलीकं शिष्यस्य वा शिष्याया वा कृते ९, लुब्धो लोलो भणेदलीकमन्येषु चैवमादिकेषु बहुषु कारणशतेषु, लुब्धो लोलो भणेदलीकं तस्मात् लोभो न सेवितव्यः। एवं मुक्त्या भावितो भवत्यन्तरात्मा संयतकरचरणनयनवदनः शूरः सत्यार्जवसम्पन्नः। (४) चतुर्थं न भेतव्यम्। भीतं नु भयानि आयान्ति लघुकं, भीतोऽद्वितीयो मनुष्यो, भीतो भूतैर्गृह्यते,

भीतोऽन्यमपि खलु भेषयेत्, भीतस्तप सयममपि खलु मुञ्चेत्,भीतश्च भर न निस्तरेत,सत्पुरुषनिषेविता च मार्ग भीतो न समर्थोऽनुचरितुम्,तस्माद् न भेतव्यम् भयाद्वा व्याधेर्वा रोगाद् वा जराया वा मृत्योर्वाऽन्यस्माद् वा एवमादिकात् । एव धैर्येण भावितो भवत्यन्तरात्मा सयतकरचरणनयनवदन शूर. सत्यार्जवसम्पन्न । (५) पञ्चमक हास्य न सेवितव्यम् । अलीकानि असत्कानि (अशान्तकानि) जल्पन्ति हासवन्त । परपरिभवकारण च हास्यम्, परपरिवादप्रिय च हास्यम्, परपीडाकारक च हास्यम्, भेद वमूर्ति (विमुक्ति) कारक च हास्यम्, अन्योऽन्यजनित च भवेद् हास्यम्, अन्योऽन्यगमन च भवेद् मर्म, अन्योऽन्यगमन च भवेत् कर्म, कन्दर्पाभियोगगमन च भवेद् हास्यम्, आसुरिक किल्विषत्व च जनयेद् हास्यम् । तस्माद् हास्य न सेवितव्यम् । एव मौनेन भावितो भवत्यन्तरात्मा सयनकरचरणनयनवदन शूर सत्यार्जवसम्पन्न । एवमिद सवरस्य द्वार सम्यक् सवृत भवति सुप्रणिहित एभि पञ्चभि कारणैर्मनोवचनकायपरिरक्षितै नित्यमामरणान्त च एष योगो नेतव्यो धृतिमता मतिमता अनाश्रवोऽकलुषोऽच्छिद्रोऽपरिस्रावी असक्लिष्ट सर्वजिनानुज्ञात ।

एव द्वितीय सवरद्वार स्पृष्ट पालित शोधित (शोभित) तीरित कीर्तितमनुपालितमाज्ञयाऽऽराधित भवति । एव ज्ञातमुनिना भगवता प्रज्ञापित प्ररूपित प्रसिद्ध सिद्धवरशासनमिदमाख्यात सुदेशित प्रशस्त द्वितीय सवरद्वार समाप्तम्, इति ब्रवीमि ॥२॥ (सू० २५)

पदान्वयार्थ—(भगवया) भगवान् ने (इम) इस (पावयण) प्रवचन—सत्य-सिद्धान्त को, (अलिय-पिसुण-फरुस-कडुय चवल-वयणपरिरक्खणट्ठयाए) मिथ्यावचन, पैशुन्य—चुगली,कठोर वचन, कटुवचन,चचल वचन—विना सोचे-समझे चपलतापूर्वक सहसा कहे हुए वचन से आत्मा की रक्षा के लिए (सुकहिय) अच्छी तरह से कहा है, जो कि (अत्तहिय) आत्मा के हित के लिए है, (पेच्चाभाविय) जन्मान्तर मे शुभ-भावना से युक्त है, (आगमेसिभद्द) भविष्य के लिए श्रेयस्कर है,(सुद्ध) शुद्ध—निर्दोष है, (नेयाउय) न्यायसगत है, (अकुडिल) मोक्ष के लिए सीधा-सरल मार्ग है, (अणुत्तर) सर्वोत्कृष्ट है, अतएव (सव्वदुक्खपावाण) सब दुखो और पापो का विशेष रूप से उपशमन करने वाला है । (तस्स) उस (वितियस्स वयस्स) द्वितीय व्रत—सत्यमहाव्रत की (इमा पच भावणाओ) आगे कही जाने वाली ये पाच भावनाएँ, (अलिय-

वयणस्स वेरमण-परिरक्खणट्ठयाए) मिथ्यावचन से विरति की पूर्ण सुरक्षा के लिए हैं, इन पर चिन्तन करना चाहिए । (१) (पढम) प्रथम भावना अनुचिन्त्यसमितिरूप है, जिसे (सवरट्ठ) सद्गुरु से मृषावादविरमण—सत्यवचन प्रवृत्तिरूप सवर के प्रयोजन को (सोऊण) सुन कर, उसके (परमट्ठ) उत्कृष्ट परम अर्थ को (सुट्ठु) भलीभांति (सुद्ध) निर्दोषरूप से (जाणिऊण) जानकर, (न वेगिय वत्तव्व) वेग—विकल की तरह सशययुक्त या हडबडा कर न बोले, (न तुरिय) जल्दी-जल्दी उतावली मे सोचे विचारे विना न बोले, (न कडुय) कडवा वचन न बोले, (न चवल) क्षणभर पहले कुछ और एक क्षण वाद कुछ और, इस प्रकार सनक मे आ कर चचलता से न बोले, (न फरुस) कठोर वचन न बोले, (न साहस) बिना विचारे सहसा न बोले (य) और (न परस्स पीलाकर सावज्ज) दूसरो को पीडा पहुँचाने वाला, पाप से युक्त वचन न बोले । किन्तु (सच्च) सत्य (च) और (हिय) हितकर (मिय च) तथा परिमित-थोडा (गाहग) विवक्षित अर्थ का ग्राहक—प्रतीति कराने वाला, (सुद्ध) वचन के दोषो से रहित, (सगय) युक्तिसगत—पूर्वापर अबाधित (च) और (अकाहल) स्पष्ट (च) तथा (समिक्खित) पहले बुद्धि से सम्यक् प्रकार से पर्यालोचित—सोचाविचारा हुआ वचन, (कालमि) अवसर आने पर, (सजतेण) सयमी पुरुष को (वत्तव्व) बोलना चाहिए । (एव) इस प्रकार (अणुवीइसमितिजोगेण) पूर्वापर सोच कर बोलने की समिति—सम्यक् प्रवृत्ति के योग से (भावितो) सस्कारयुक्त हुआ (अतरप्पा) अन्तरात्मा जीव, (सजयकरचरणनयणवयणो) हाथ, पैर, नेत्र और मुख पर सयम करने वाला हो कर (सूरो) पराक्रमी तथा (सच्चज्जवसपन्नो) सत्य और आर्जव—सरलता से सम्पन्न—परिपूर्ण (भवति) हो जाता हे । (२) (बितिय) द्वितीया भावना—क्रोधनिग्रह—क्षान्तिरूप है । वह इस प्रकार है (कोहो ण सेवियव्वो) क्रोध का सेवन नहीं करना चाहिए । (कुद्धो मणूसो) क्रोधी मनुष्य (चडिक्किओ) रौद्ररूप हो कर या रौद्रपरिणाम से युक्त होकर (अलिय) मिथ्या, (भणेज्ज) बोलता है, (पिसुणभणेज्ज) चुगली के वचन बोलता है, (फरुस) कठोर वचन बोलता है, तथा (अलिय पिसुण फरुस भणेज्ज) झूठ, चुगली के वचन व कठोरवचन (तीनो एक साथ) बोलता है, (कलह करेज्जा) लडाई कर बैठता है, (वेर करेज्जा) वैरविरोध कर लेता है (विकह करेज्जा) विकथा—अटसट—बकवास करता है, (कलह वेर विकह करेज्जा) तथा कलह, वैर और विकथा तीनो एक साथ कर बैठता है, (सच्च हणेज्ज) सत्य का गला घोट देता है, (सील हणेज्ज) शील सदाचार का नाश कर देता है, (विणय हणेज्ज) विनय—नम्रता का सत्यानाश कर देता है, (सच्चसीलविणय हणेज्ज) सत्य, शील

और विनय का एक साथ घात कर देता है, क्रोधी मनुष्य (वेसो हुवेज्ज) अप्रिय—द्वेष का भाजन बन जाता है, (वत्थु भवेज्ज) दोषों का घर बन जाता है, (गम्मो हुवेज्ज) तिरस्कार का पात्र बन जाता है, तथा (वेस वत्थु गम्मो भवेज्ज) द्वेष का कारण—अप्रिय, दोषों का आधार तथा परिभव का पात्र बन जाता है। (एय) इन मिथ्या आदि को (च) तथा (एवमादिय) इत्यादि प्रकार के (अन्न) अन्य असत्य को (कोहग्गिसपलित्तो) क्रोधाग्नि से प्रज्वलित व्यक्ति (भणेज्जा) बोलता है। (तम्हा) इसलिए (कोहो न सेवियव्वो) क्रोध का सेवन नहीं करना चाहिए। (एव) इस प्रकार (खतीए) क्रोध-निग्रहरूप क्षमाभाव से, (भावितो) सुसस्कृत हुआ (अतरप्पा) अन्तरात्मा (सजयकर-चरणनयणवयणो) अपने हाथ, पैर, आख और मुह को सयमित—नियन्त्रित करने वाला, (सूरो) पराक्रमी तथा (सच्चज्जवसपन्नो) सत्य और सरलता से सम्पन्न (भवति) हो जाता है। (३) (ततिय) तृतीय भावना लोभ-सयमरूप निर्लोभतायुक्त है, वह इस प्रकार है—(लोभो न सेवियव्वो) लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए। लुद्धो लोलो) लोभी मनुष्य व्रत से चलायमान—सत्य से डावाडोल हो कर (खेत्तस्स वा) या तो खेत के—खुली जमीन के लिए, (वत्थुस्स वा कतेण) अथवा वस्तु-मकान—दुकान, घर, हवेली आदि—के लिए (अलिय भणेज्ज) झूठ बोलता है, (लुद्धो लोलो) लुब्ध व्रत से डिग कर (कित्तीए) कीर्ति—प्रतिष्ठा के लिए, (लोभस्स वा कएण) या लोभ—धन के लोभ के निमित्त से (अलिय भणेज्ज) मिथ्या बोलता है, (लुद्धो) लालची आदमी (लोलो) सत्यव्रत से विचलित हो कर (रिद्धीए व) या तो ऋद्धि—सम्पत्ति के लिए (सोक्खस्स व कएण) अथवा ऐश-आराम आदि के रूप मे इन्द्रिय-सुख के लिए (अलिय भणेज्ज) मृषावचन बोलता है, (लुद्धो) लोभग्रस्त मनुष्य (लोलो) सत्यव्रत मे अस्थिर हो कर (भत्तस्स व पाणस्स व कएण) या तो भोजन के लिए या पेय वस्तु के लिए (अलिय भणेज्ज) असत्य बोलता है, (लुद्धो) लोभी पुरुष (लोलो) व्रत से डगमगा कर (पीढस्स व फलगस्स व कएण) या तो पीठ-आसन-चौकी के अथवा पट्टे के हेतु (अलिय भणेज्ज) असत्य बोलता है, (लुद्धो लोलो) लोभ के वशीभूत व्रत से चचल हुआ मनुष्य (सेज्जाए व) या तो शय्या—वसति के लिए (सथारगस्स वा कएण) अथवा साढे तीन हाथ लवे बिछौने के लिए (अलिय भणेज्ज) झूठ बोलता है, (लुद्धो लोलो) लोभी मनुष्य व्रत से डिगकर (वत्थस्स व पत्तस्स व कएण) या तो कपडे के लिए या पात्र-वर्तन के लिए (अलिय भणेज्ज) मिथ्यावचन कहता है, (लुद्धो लोलो) लोभी नर व्रत से चलायमान हो कर (कवलस्स व पायपुछणस्स व कएण) या तो कम्बल के

लिए या पैर पोछने के काम मे आने वाले वस्त्रखण्ड के निमित्त से, (अलिय
मिथ्या बोल देता है,(लुद्धो) लोभग्रस्त (लोलो) व्रत मे अस्थिर हुआ साधक,(
या तो शिष्य के लिए, (सिस्सणीए व कएण) अथवा शिष्या के निमित्त (अ
(भणेज्ज) बोल उठता है, (लुद्धो) लोभी (लोलो) सत्यव्रत से विचलित हो क
और (एवमादिसु बहुसु कारणसतेसु) इस प्रकार के बहुत-से सैकडो कारणो
(अलिय भणेज्ज) मिथ्या बोल देता है, क्योकि (लुद्धो) लोभ के विकार से
साधक (लोलो) सत्यव्रत से डगमगा कर (अलिय भणेज्ज) झूठ बोलता ही है ।
इस कारण (लोभो न सेवियव्वो) लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए । (
प्रकार के चिन्तन से (मुत्तीए) निर्लोभता से (भावितो) सस्कारित (
अन्तरात्मा (सजयकरचरणनयणवयणो) अपने हाथ, पैर, आख और मु
अकुश रखने वाला इन्हे वश मे करने वाला, (सूर) धर्मवीर साधक (सच
सपन्नो) सत्यता और सरलता से परिपूर्ण (भवति) हो जाता है । (४) (
चतुर्थभावना भयविजय—धैर्यप्रवृत्तिरूप है, वह इस प्रकार है—(न भाइयव
नही करना चाहिए । (भीत) भयभीत मनुष्य पर (खु) अवश्य ही, (भया)
भय (लहुय) शीघ्र (अइ ति) आ कर हमला कर देते हैं । (भीतो) डरपोक (
आदमी सदा (अवितिज्जओ) अद्वितीय—अकेला—असहाय होता है । (भीत
भीत मनुष्य (भूतेहिं) भूत-प्रेतो से (घिप्पइ) पकड लिया जाता है । (भीतो)
आदमी (हु) निश्चय ही, (अन्न पि) दूसरे को भी (भेसेज्जा) डरा देता है,
करता है, (भीतो) डरने वाला साधक (तवसजमपि) तप और सयम क
अवश्य (मुएज्जा) छोड बैठता है, (य) तथा (भीतो) भय करने वाला सा
महत्वपूर्ण काय का भार—उत्तरदायित्व, अथवा सयम के भार को (न
नही निभा सकता, अन्त तक पार नही लगा सकता, (च) और (भीतो)
(सप्पुरिसनिसेविय) सत्पुरुषो के द्वारा सेवन किए हुए—आचरित (मग
(अणुचरिउ) अनुसरण – अनुगमन करने मे (न समत्थो) समर्थ नहीं होता
इसलिए (भयस्स) दुष्ट मनुष्य, दुष्ट तिर्यञ्च तथा दुष्टदेव के निमित्त से
बाह्यभय से एव आत्मा मे उत्पन्न हुए अन्तरगभय से (वा) अथवा (वा
घातक कुष्ट, क्षय आदि बीमारो से (वा, या (रोगस्स) ज्वर आदि रो
अथवा (जराए) बुढापे से (वा) या (मच्चुस्स) मृत्यु से (वा) अथवा (
मादियस्स) इसी प्रकार के इष्टवियोग—अनिष्टसयोग आदि भय के अन्य
से (न भाइयव्व) डरना नहीं चाहिए । (एव) इस प्रकार का चिन्तन करके

धैर्य—चित्त मे स्थिरता से (भावितो) सस्कारदृढ (अतरप्पा) अन्तरात्मा (सजयकर-चरणनयणवयणो) हाथ, पैर, आख और मुह पर सयम करने वाला सुसयमी साधु (सूर) सत्यव्रत पालन मे बहादुर तथा (सच्चज्जवसपन्नो) सत्यता और निष्कपटता से युक्त (भवति) हो जाता है। (५) (पचमक) पाचवी हास्यसयम वचनसयमरूप भावना इस प्रकार है (हास न सेवियव्व) हास्य का सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि (हासइत्ता) हसी या ठट्ठामश्करी करने वाले लोग (अलियाइ दूसरे मे विद्यमान सद्गुणो को छिपाने के रूप मे झूठ तथा (असतकाइ) अविद्यमान या असत् वस्तु को प्रकट करने वाले वचन अथवा अशोभनीय या अशान्ति पैदा करने वाले वचन (जपति) बोल देते है, (च) तथा (हास) हसी-मजाक (परपरिभवकारण) दूसरो के तिरस्कार का कारण बन जाती है, (च) और (हास) हसी को (परपरिवायप्पिय) दूसरो की निन्दा ही प्यारी लगती है। (च) तथा (हास) मजाक (परपीलाकारग) दूसरो को तकलीफ पहुँचाने वाली होती है, (च, और (हास) हसी (भेदविमुत्तिकारक) चारित्रनाश या मोक्षमार्ग का उच्छेद तथा शरीर की आकृति विकृत कर देने वाली है, अथवा फूट डलवाने वाली तथा विमुक्ति—प्रियजनो से अलगाव पैदा कराने वाली है। (च) तथा (हास) हसीमजाक (अन्नोन्नजणिय होज्ज) परस्पर एक दूसरे से होता है। (च) और (मम्म) हसी मे बोला गया मर्मकारी वचन— ताना (अन्नोन्नगमण होज्ज) परस्पर एक दूसरे को चुभने वाला होता है। (च) और हसी (अन्नोन्नगमण होज्ज कम्म) पारस्परिक कुचेष्टा या गुप्त परदारादि के रहस्य को खोलने वाला कर्म हो जाता है, (च) तथा (हास) हास्य (कदप्पाभियोगगमण) हसाने वाले विदूषको या भाडो तथा तमाशे दिखाने वालो के निर्देशकर्ताओ के निकट पहुचने की बुद्धि पैदा करता है, अथवा हास्यकारी कार्दर्पिक देवो तथा आभियोग्य जाति के देवो मे गमन का कारण है, (च) तथा (हास) हास्य (आसुरिय) असुरजाति के देवपर्याय को (च) और (किव्विसत्तण) किल्वषदेवपर्याय को (जणेज्जा) प्राप्त कराता है। (तम्हा) इसलिए (हास) हास्य का (न सेवियव्व) सेवन नहीं करना चाहिए। (एव) इस प्रकार के चिन्तन से (मोणेण) वचनसयम—मौन द्वारा (भावित) भावनायुक्त बना हुआ (अतरप्पा) अन्तरात्मा साधक (सजयकरचरणनयणवयणो) अपने हाथ, पैर, नेत्र और मुख पर नियत्रण करने वाला सयमी (सूरो, दृढ पराक्रमी तथा (सच्चज्जव-सपन्नो) सत्य और अमायिकभाव से सपन्न (भवति) हो जाता है।

(एव) इस प्रकार (इण) यह (सवरस्स दार) सवर का सत्यरूप द्वार—उपाय, (मणवयणकायपरिरक्खिएहिं), मन, वचन और काया तीनो की सब प्रकार से रक्षा करने वाली (इमेहिं पचहिं वि कारणेहिं) इन पाच कारणरूप भावनाओ से (सम्म)

सम्यक् प्रकार से (सवरिय) सवृत-सुरक्षित अथवा (सचरिय) भलीभाति आचरित (सुप्पणिहिय) अच्छी तरह दिलदिमाग मे स्थापित (होइ) हो जाता है। (धितिमया) धैर्य धारण करने वाले (मतिमया) बुद्धिमान् साधक को (अणासवो) कर्मा को आने से रोकने वाला सवररूप, (अकलुसो) दोपरहित, (अच्छिद्दो) कर्मजल के प्रवाह के प्रवेश को रोकने मे निश्छिद्र, (अपरिस्सावी) कर्मबन्ध के प्रवाह से रहित (असकिलिट्ठो) सक्लिष्टपरिणामो से रहित, (सव्वजिणमणुन्नाओ) समस्त तीर्थंकरो के द्वारा आज्ञापित (एस) यह (जोगो) – प्रशान्त योग अथवा चिन्तन के साथ प्रयोग, (निच्च) सदा (आमरणत) मृत्युपर्यन्त (णेयव्वो) अमल मे लाना चाहिए।

(एव) इस प्रकार (वितिय) द्वितीय (सवरदार) सत्यरूप सवरद्वार (फासिय) उचित समय पर स्वीकार किया हुआ, (पालिय) पालन किया गया, (सोहिय) अतिचाररहित आचरण किया गया अथवा जीवन के लिए शोभादायक, (तीरिय) अन्त तक पार लगाया गया, (किट्टिय) दूसरे लोगो के सामने आदरपूर्वक कहा गया, (अणुपालिय) लगातार पालन किया गया, (आणाए आराहिय) भगवान की आज्ञापूर्वक आराधित-सेवित (भवति) है। (एव) इस प्रकार (नायमुणिणा) ज्ञातवश मे उत्पन्न हुए मुनीश्वर (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (इण) इस (सिद्धवरसासण) सिद्धो के श्रेष्ठ शासन का (पन्नविय) सामान्यरूप से कथन किया है, (परूविय) विशेष रूप से विवेचन किया है, (पसिद्ध) प्रमाणो और नयो से सिद्ध (आघविय) सर्वत्र प्रतिष्ठित किया गया, (सुदेसिय) भव्यजीवो को अच्छी तरह से उपदिष्ट (पसत्थ) श्रेष्ठ—मगलमय यह (वितिय) दूसरा (सवरदार) सवरद्वार (समत्त) समाप्त हुआ, (ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—भगवान् महावीर ने इस प्रवचन—सत्य सिद्धान्त को मिथ्यावचन, चुगलखोरी, कठोर शब्द, कटुवाणी एव बिना सोचे-विचारे उतावली मे कहे हुए वचन से आत्मा की सुरक्षा के लिए अच्छी तरह कहा है, जो आत्मा के हित के लिए है, जन्मान्तर मे शुभभावना से युक्त है, भविष्य के लिए कल्याणकारी है, निर्दोष है, न्यायसगत है, मोक्ष के लिए सीधा—सरल मार्ग है, सर्वोत्कृष्ट है, अतएव समस्त दु खो और पापो को विशेषरूप से उपशान्त करने वाला है। उस द्वितीय महाव्रत—सत्यसवर की आगे कही जाने वाली ये पाच भावनाएँ है, जो असत्यवचन से विरति की पूर्ण सुरक्षा के लिए है, इनका चिन्तन और प्रयोग करना चाहिए।

पहली अनुचिन्त्यसमिति रूप भावना है। सद्गुरु से मृपावाद विरमण

सत्यवचनप्रवृत्तिरूप उस सवर के प्रयोजन को सुन कर तथा उसके परम अर्थ रहस्य को जान कर विकल्प की तरह सशययुक्त या हडबडा कर न बोले, उतावली मे जल्दी-जल्दी न बोले, कडवा वचन न बोले, एक क्षण पहले कुछ कहना, क्षणभर बाद कुछ और ही कह देना, इस प्रकार सनक मे आकर चचलता से न बोले,तथा दूसरो को पीडा पहुँचाने वाले सावद्यवचन न कहे, किन्तु सत्य तथा हितकर एव युक्तिसगत—पूर्वापर-अबाधित और स्पष्ट तथा पहले से भलीभाति सोचा-विचारा हुआ वचन अवसर आने पर सयमी पुरुप को बोलना चाहिए। इस प्रकार पूर्वापर सोच कर बोलने की समिति—सम्यक् प्रवृत्ति के योग से सस्कारित अन्तरात्मा साधक हाथ, पैर, नेत्र और मुह पर सयम करने वाला हो कर पराक्रमी तथा सत्य और सरलता से सम्पन्न—परिपूर्ण हो जाता है। दूसरी भावना क्रोधनिग्रह क्षान्तिरूप है, वह इस प्रकार है- क्रोध का सेवन न करे, क्योकि क्रोधी मनुष्य रौद्रपरिणामो के वशीभूत हो कर मिथ्या बोलता है,चुगलखोरी के वचन बोलता है,कठोर वचन कहता है, एक साथ मिथ्यावचन,चुगली और कठोरता से युक्त वचन कह डालता है। वह बात बात मे झगडा कर बैठता है,वैरविरोध पैदा कर लेता है,और अटसट बकवास करने लगता है, एकसाथ कलह,वैर और उटपटाग बकवास करता है। वह सत्य का गला घोट देता है, शील-सदाचार का नाश कर देता है, विनय—नम्रता की भी हत्या कर बैठता है, वह सत्य, शील और विनय तीनो का एक साथ घात कर बैठता है। क्रोधी मनुष्य अप्रिय—द्वेपभाजन बन जाता है, दोपो का घर वन जाता है, तिरस्कार का पात्र बन जाता है, वह एक साथ अप्रिय, दोपो का आधार और तिरस्कार का पात्र बन जाता है। वह इस मिथ्यावचन आदि को एव इसी प्रकार के अन्य असत्य को क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हो कर बोलता है। इसलिए क्रोध का सेवन नही करना चाहिए। इस तरह क्रोधनिग्रहरूप क्षमाभाव से सुसस्कृत हुआ अन्तरात्मा अपने हाथ, पैर, नेत्र और मुख को नियन्त्रित करने वाला, शूरवीर और सत्यता तथा सरलता के गुणो से परिपूर्ण हो जाता है।

तीसरी भावना लोभसयम—निर्लोभता से युक्त है। वह इस प्रकार है—लोभ का सेवन नही करना चाहिए। क्योकि लोभी मनुष्य व्रत से चलायमान हो कर या तो खेत के लिए झूठ बोलेगा या मकान के लिए। लोभी व्रत से डिग कर या तो कीर्ति के लिए असत्य बोलेगा या लोभवश परिवार आदि के पोपण के लिए। लुब्ध मनुष्य सत्यव्रत से विचलित हो कर या तो सम्पत्ति

के लिए मिथ्या बोलेगा या फिर इन्द्रियसुखो की प्राप्ति के लिए झूठ बोलेगा। लोभग्रस्त मानव सत्य से डगमगा कर या तो भोजन के लिए असत्य बात कहेगा या पेयपदार्थ के लिए असत्यभाषण करेगा। लोभी साधक सत्यव्रत मे अस्थिर हो कर या तो पीठ—चौकी के लिए असत्य बोलेगा, अथवा पट्टे के लिए झूठी बात कहेगा। लोभ के वशीभूत साधक व्रत से चलित हो कर या तो शय्या (शयनस्थान) के लिए के लिए झूठ बोलेगा या फिर सस्तारक—बिछौने के लिए झूठ बोलेगा। लुब्ध साधक व्रत से डावाडोल हो कर या तो वस्त्र के लिए मिथ्या बोलेगा या पात्र-बर्तन के लिए। लोभग्रस्त साधक सत्य से डिग कर या तो कबल के लिए झूठ बोलने को उद्यत होगा या पैर पोंछने के कपडे के लिए। लोभी साधक सत्यव्रत से विचलित हो कर या तो शिष्य के लिए झूठी बात कहेगा या शिष्या के लिए। लोभी मानव झूठ बोलता ही है। और भी इस प्रकार के अनेको सैकडो कारणो से लोभग्रस्त मानव सत्यव्रत से डावाडोल हो कर झूठ बोलता है। इसलिए लोभ का हर्गिज सेवन नही करना चाहिए।

इस प्रकार लोभसयमरूप निर्लोभता की भावना से भावित अन्तरात्मा अपने हाथ, पैर, आँख और मुह पर सयमशील बन कर धर्मवीर तथा सत्यता और सरलता से सम्पन्न हो जाता है।

चौथी भयमुक्ति—धैर्यप्रवृत्तिरूप भावना है। वह इस प्रकार है—भय नही करना चाहिए। भयभीत मनुष्य पर अनेको भय आ कर झटपट हमला कर देते है। डरपोक आदमी सदा अद्वितीय—असहाय (अकेला) होता है। भयभीत मनुष्य ही भूत-प्रेतो ग्रस्त होते है। डरने वाला अवश्य ही दूसरे को डराता है, भय मे डालता है। भयभीत साधक तप और सयम अथवा तपस्याप्रधान सयम को भी तिलाजलि दे देता है। भयभीत मनुष्य किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के दायित्व को निभा नही पाता अथवा सयम का भार नही निभा सकता। और न ही डरपोक साधक सत्पुरुषो द्वारा आचरित मार्ग पर ही चलने मे समर्थ होता है। इसलिए दुष्ट देव, दुष्ट मनुष्य या दुष्ट तिर्यञ्च के निमित्त से पैदा हुए बाह्य भय से एव आत्मा मे उत्पन्न हुए आन्तरिक भय से अथवा किसी प्राणघातक कुष्ट आदि व्याधि से या ज्वर आदि रोग से अथवा बुढापे मे या मौत से अथवा इसी प्रकार के इष्टवियोग-अनिष्टसयोगरूप वगैरह भय के अन्यान्य कारणो से नही डरना चाहिए।

इस प्रकार का चिन्तन करके चित्त मे स्थिरता—धीरता से सस्कार-दृढ हुआ अन्तरात्मा हाथ, पैर, आँख एव मुख पर सयमशील साधु सत्यव्रत पालन मे वहादुर तथा सत्य और आर्जव से सम्पन्न हो जाता है।

पाचवी हास्यसयम—वचनसयमरूप भावना इस प्रकार है- हास्य का सेवन नही करना चाहिए। क्योकि हसी करने वाले लोग वास्तविक वात को छिपाने वाले मिथ्यावचन तथा अविद्यमान वातो को प्रगट करने वाले असद्वचन या अशोभनीय वचन बोल देते है। तथा हसी-मजाक दूसरो के तिरस्कार का कारण वन जाती है, हसी को दूसरो की निन्दा ही प्यारी लगती है। हसी दूसरो को पीडा पहुँचाने वाली है। हसी-मश्करी चारित्र का नाश या मोक्षमार्ग का उच्छेद और शरीर की आकृति को विकृत कर देती है। अथवा हमी परस्पर भेद-फूट डाल देती है और प्रियजनो मे अलगाव पैदा कर देती है। हमी-मजाक हमेशा परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क से होती है। हमी-मजाक मे बोला गया मर्मकारी वचन एक दूसरे को परस्पर चुभने वाला होता है। हास्य पारस्परिक कुचेष्टा को या परदारादि के गुप्त रहस्य को खोलने वाला कर्म है। हास्य विदूपको, भाडो तथा तमाशो के निर्देश करने वालो के पाम पहुचाने का कारण है अथवा हास्य हसी-मजाक करने वाले कान्दर्पिक देवो तथा भार ढोने वाले आभियोग्य देवो मे—निकृष्ट देवयोनियो मे ले जाने वाला हे। हास्य असुरजाति के भवनवामी देवो को पर्याय मे तथा किल्विप देवो की पर्याय मे उत्पन्न कराता है। इसलिए हास्य कदापि न करना चाहिए। इस प्रकार हास्यसयम—वचनसयमरूप मौनभावना द्वारा सस्कारप्राप्त अन्तरात्मा हाथ, पैर, आँख और मुह को अपने काबू मे रखता है, वह सयम मे पराक्रमी वोर अन्त मे सत्य और निष्कपटभाव से सम्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार मन, वचन और काया को चारो ओर से सुरक्षित रखने मे कारणभूत इन पाचो भावनाओ के चिन्तन और प्रयोग से साधु-जीवन मे सम्यक् प्रकार से आचरित सत्यमहाव्रतरूप सवर का यह द्वार अच्छी तरह परिनिष्ठित—सस्कारो मे वद्ध हो जाता है।

धैर्यवान् तथा बुद्धिमान साधक को कर्मों के आगमन के विरोधी, कलुपता से रहित, कर्मजलप्रवाह के निरोध के लिए छिद्ररहित, कर्मवन्धन के प्रवाह से रहित, सक्लिष्ट परिणामो से दूर, समस्त देवाधिदेव तीर्थंकरो द्वारा

अनुज्ञात—अनुमत इस प्रशान्तयोग—भावनाओ के प्रयोग को जीवन के अन्त तक नित्य आचरण मे लाना चाहिए।

इस प्रकार यह द्वितीय सत्यमहाव्रतरूप उचित समय पर स्वीकृत, सामान्यरूप से पालित, अतिचाररहित शुद्धरूप मे आचरित, जीवन के अन्त तक पार लगाया हुआ, महापुरुषो द्वारा कथित और लगातार अनुपालित वीतराग की आज्ञा से आराधित होता है।

इस प्रकार सिद्धो के प्रधान शासनरूप इस द्वितीय संवरद्वार का ज्ञातवंश मे उत्पन्न हुए भगवान् महावीर स्वामी ने सामान्यरूप से निरूपण किया है, विशेषरूप से भेद प्रभेदसहित विश्लेपण किया है, प्रमाणो और नयो से इसे सिद्ध किया है, प्रतिष्ठित किया है, भव्यजीवो को इसका उपदेश दिया है, यह प्रशस्त—मगलमय है। ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने अहिंसा-सवर की तरह सत्य-सवर की भी सर्वतोमुखी सुरक्षा के लिए चिन्तनात्मक तथा प्रयोगात्मक पाच भावनाएँ बताई है। यह निर्विवाद है कि ये भावनाएँ साधक की आत्मा मे इतने मजबूत सस्कार जमा सकती है, जिन्हे फिर कोई हिला नही सकता।

सत्यमहाव्रती साधक यदि इन्हे अपने साधनाकाल के प्रारम्भ से ही अपना लेता है तो उसके जीवन के अन्तिम क्षणो तक वे सस्कार अमिट हो जाते है।

इन पाच शत्रुओ से बचने का निर्देश—लोकव्यवहार मे हम यह अनुभव करते है कि जो जिस सस्था की स्थापना करता है, या व्रत आदि नई चीज का आविष्कार करता है, वह पद-पद पर उसकी सुरक्षा का स्वय ध्यान रखता है, अपने अनुगामियो को भी सुरक्षा का ध्यान दिलाता है। भ० महावीर ने भी इसी दृष्टि से सत्य की सैद्धान्तिक पहलू से विवेचना की और यह स्पष्ट निर्देश भी किया कि साधक को किन-किन विनाशक और विस्फोटक क्रिया कलापो से बचाना चाहिए?

पाठ के प्रारम्भ मे शास्त्रकार ने इसी बात को स्पष्ट किया है—'**इम च अलिय-पिसुणफरुस वयणपरिरक्खणट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय।**' शास्त्रकार का इस कथन के पीछे आशय यह है कि भगवान् महावीर ने सत्यसिद्धान्तरूप प्रवचन का भलीभाति निरूपण किया है, वह इसलिए कि सत्यार्थी साधक अपने सत्यमहाव्रत की अलीकवचन आदि शत्रुओ से रक्षा कर सके। वे शत्रु इस प्रकार है—सत्य महाव्रत का प्रथम शत्रु—अलीकवचन है, जो अविद्यमान असद्भूत बात का प्रतिपादन करता है, वह हर चीज को बढाचढा कर कहने का आदी होता है। ऐसा मिथ्यावचन सत्यार्थी

साधक को सत्य से पतित कर देता है और मायाचार से दूपित कर देता है। दूसरा शत्रु है—**पिशुन**। पिशुन का अर्थ है—चुगलखोरी। चुगली खाने की आदन जिस साधक मे हो जाती है, वह इधर की वात उधर भिडाता रहता है। वह लोगो के परस्पर सिर फुडवा देता हे। चुगलखोरी भी साधक को सत्यमहाव्रत से नीचे गिरा देती है। चुगलखोरी अविश्वास, अनादर, और अध पतन का कारण है। इसलिए इस शत्रु से भी वचना जरूरी है। तीसरा शत्रु **कठोरवचन** है। कठोर वचन बोलने वाले का अन्त -करण भी कठोर हो जाता है। कठोरभापी स्वपर के भावप्राणो की हिंसा कर वैठता है। वह अकारण ही लोगो मे अप्रिय,अनादरणीय और शत्रु वन जाता है। कठोर वचन वोलने वाले के यहा आपत्ति के समय कोई भी पास नही फटकता। कठोरभापण मर्मघातक होने से कई वार इसे सुनने वाले आतमहत्या तक कर वैठते है। अतएव सत्य के इस शत्रु से भी वचना आवश्यक है। इसके बाद चौथा शत्रु है—**कटुवचन**। हितकर वचन भी यदि कडवे हो तो वे सुनने वाले के दिल मे तीखे काट की तरह चुभ जाते है। तलवार का घाव फिर भी भर जाता है, लेकिन कटुवचनो का घाव जिंदगी भर नही भरता। कटुवचन मनुष्य को अकारण शत्रु वना देता है। कटुवचन यथार्थ हो तो भी परपीडाजनक होने से वह असत्य की कोटि मे ही आता है। साधक कई वार इस भुलावे मे रहता है कि कटुवचन कहने से मेरा प्रभाव श्रोता पर जल्दी और अचूक होगा। लेकिन होता इससे उलटा है। कटुवाक्य क्षणिक प्रभाव चाहे डाल दे, मगर वह स्थायी और शुभपरिणामी नही होता। सत्य महाव्रत का इससे नाश हो जाता है। इसलिए सत्यार्थी साधक को इस शत्रु से भी वचते रहना चाहिए। पाचवा शत्रु है—**चपल वचन**। मन की व्याकुलता या व्यग्रता के कारण सत्यार्थी साधक भी उतावल मे आ कर कुछ का कुछ बोल जाता है। उसे उतावली मे अपने कहे हुए वचनो का भान भी नही रहता है। चचलवचन वाला साधक कुछ ही देर पहले एक वात की हाँ भर लेता है और कुछ ही मिनटो के बाद एकदम वदल जाता है , उसके वचनो का कोई मूल्य नही होता। कोई उसके वचनो पर विश्वास करके उसे किसी जिम्मेदारी का काम नही सौंप सकता। इसलिए चचलवचन भी सत्य का सर्वथा विरोधी है। इससे भी वचना चाहिए।

सत्यसिद्धान्त का प्रयोजन और महत्त्व—पूर्वोक्त सूत्रपक्ति मे भगवान् महावीर द्वारा भलीभाति निरूपित सत्यसिद्धान्तरूप प्रवचन का मुख्य प्रयोजन वताया गया है, इसके वाद आगे की पक्तियो मे वताए गए इसके प्रयोजन और स्वरूप पर क्रमश विश्लेपण करते है—

अत्तहिय—सत्य सैद्धान्तिक दृष्टि से आत्मा का स्वभाव है। इसलिए स्वाभा-

विकतया वह आत्मा का हितकर्ता है। सत्य से आत्मा मे मायाचार आदि नही पनप पाते। विकारो के अभाव मे आत्मा मे शान्ति और परमानन्द की लहरे उठा करती हैं और आत्मा उनमे मग्न हो कर अद्वितीय आनन्दरूप शुद्धस्वरूप का अनुभव करता है। इसलिए यह आत्मा के लिए हितकर है।

पेच्चाभाविय—सत्य परभव मे आत्मा का सहायक होता है। चूकि सत्यप्रतिज्ञ साधक माया, कपट से रहित होता है। माया के अभाव के कारण वह नरकगति और तिर्यचगति तथा नरकायु और तिर्यंचायु का बन्ध नही करता। यदि सत्यवादी सम्यक्त्व प्राप्त होने के पहले मिथ्यात्वअवस्था मे ही गति और आयु का बन्ध करता है तो मनुष्यगति और मनुष्यायु का बन्ध करता है और अगर सम्यक्त्व-अवस्था मे उसने बन्ध किया तो वह देवगति और देवायु का बन्ध करता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह बात निश्चित है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सत्य आगामी जन्मो मे भी सद्गति दिलाने मे सहायक होता है।

आगमेसिभद्द—सत्य भविष्य मे कल्याण का कारण होता है। इसका आशय यह है कि यदि सत्यवादी मनुष्य-जन्मग्रहण करता है तो वहाँ भी उसे उत्तमधर्म और उत्कृष्टगुरु का सयोग मिलता है और वह उचित समय मे ही सद्गुरु की कृपा से सयम का आराधन करके आत्मकल्याण कर लेता है। यदि उस सत्यार्थी मानव ने दर्शन-विशुद्धि आदि तीर्थकरत्व के कारणरूप भावनाओ की सम्यक् आराधना कर ली तो वह तीर्थंकर नामगोत्र का बन्ध कर लेता है और तीसरे भव मे तीर्थंकर होता है। और उसके जन्म, गर्भ, तप, ज्ञान और मोक्ष ये पाच कल्याण होते है। यदि महाविदेह क्षेत्र से कोई मनुष्य इन भावनाओ का आराधन करता है तो वह उसी भव मे तप, ज्ञान और मोक्ष, इन तीन कल्याणो को प्राप्त कर सकता है। इसीलिए यह ठीक ही कहा है कि सत्य आत्मा का भविष्य मे कल्याण करने वाला है।

सुद्ध—सत्य निर्दोप है, विकाररहित है। सत्य आत्मा का निजी स्वभाव है। यह कर्म के निमित्त से प्राप्त नही होता, बल्कि कर्मो या कर्मजनक कपायो के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के होने से प्रकट होता है। आत्मा का शुद्धस्वरूप होने से यह शुद्ध है। सत्यवादी का अन्तःकरण भी पवित्र होता है। उसके अन्तःकरण मे निकले हुए विकल्प-प्रवाह भी पवित्र होते है। इसलिए सत्य पवित्रता का कारण होने से पवित्र है।

नेयाउय – सत्य न्याय की प्रवृत्ति करने वाला और अन्याय का विरोधी है। सत्यवादी प्राणो की आहुति दे कर भी न्याय की रक्षा करता है। बल्कि सामाजिक सत्य न्याय के रूप मे ही व्यक्त होता है, सम्पूर्ण न्याय सत्य पर ही अवलम्बित है।

जिसके हृदय मे जितने अश मे सत्य रहता है, वह न्यायाधीश उतने ही अशो मे न्याय पर आरूढ रहता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि न्याय का पिता और माता सत्य ही है। सत्य की भूमि पर ही न्याय का वृक्ष पैदा होता है, फलता-फूलता है। असत्य की जरा-सी आच भी उसे भस्म कर देती है। इसलिए सत्य को न्याययुक्त कहना ठीक है।

अकुडिल—सरलचित्त व्यक्ति के हृदय मे सत्य का निवास होता है। टेढी म्यान मे जैसे सीधी तलवार प्रवेश नही कर सकती, वैसे ही कुटिल हृदय मे सत्य नही ठहर सकता। कुटिलता और सत्यता का परस्पर विरोध है। कुटिल या मायाचारी व्यक्ति सत्य से दूर रहता है। इसलिए सत्य को अकुटिल कहा है।

अणुत्तर- सत्य सब गुणो मे श्रेष्ठ है। सत्य अनेक गुणो का आधार है। अहिंसा, अचौर्य आदि भी सत्य पर निर्भर है। सत्य ससार मे शान्ति का साम्राज्य स्थापित करता है। सत्यगुण से भ्रष्ट व्यक्ति सभी गुणो से भ्रष्ट माना जाता है। तप, त्याग, प्रत्याख्यान, नियम, सयम आदि सब साधनाएँ सत्य पर ही प्रतिष्ठित है। इसलिए सत्य को सर्वोत्कृष्ट गुण कहा है।

सव्वदुक्खपावाण विउसमण—सत्य ऐसी अग्नि है, जिसमे सभी पाप और दुःख स्वाहा हो जाते है। जिस आत्मा मे सत्य की ज्योति एव ज्वाला जग उठती है, वह अपने पिछले पापो का भी प्रायश्चित्त और तप के द्वारा क्षय कर देता है, नये पाप उसके जीवन मे रुक जाते है। जब पाप नही होगे तो दुःख कहा से होगे ? **'दुःख हय जस्स न होइ मोहो'**—इस सूत्रवाक्य के अनुसार जिसके मोह नही होता, उसका दुःख नष्ट हो जाता है। सत्यार्थी साधक मोह के मल को साफ कर डालता है, सम्यक्त्व की गगा मे वह स्नान करता है, तब मोह उसे कहा रहेगा ? जब आदमी सचाई समझ लेता है तो उसे मानसिक और कायिक क्लेश होते ही नही। पूर्वकर्मवश कायिक क्लेश आते भी है तो वह प्रसन्नता से उन्हे सह लेता है। इसलिए सत्य समस्त दुःखो और पापो को शान्त करने वाला है।

पाच भावनाएँ और उनका उद्देश्य—पहले कहा जा चुका है कि सत्य की सुरक्षा के लिए भगवान् ने अलीक आदि से बचने का निर्देश किया है। परन्तु सत्य की सुरक्षा के सस्कार जब तक साधक के मन मे दृढीभूत नही हो जायेगे, तब तक वह किसी भी निमित्त के मिलते ही सत्य से डावाडोल हो उठेगा। इसीलिए साधक को दृढसस्कारो से ओतप्रोत करने हेतु शास्त्रकार ने मिथ्यावचन से विरतिरूप सत्य महाव्रत की रक्षा के लिए पाँच भावनाएँ बताई है। वे इस प्रकार है—(१) अनुचिन्त्य-समितिभावना, (२) क्रोधनिग्रहरूप क्षमाभावना, (३) लोभविजयरूप निर्लोभता-

भावना, ४ भयमुक्तिरूप निर्भयताभावना या धैर्यभावना, और ५ हास्यत्यागरूप वचनसयम-मौनभावना ।

उक्त पाच भावनाओ का उद्देश्य सत्यव्रत की पूर्णरूपेण रक्षा करना है, जिसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'**तस्स इमा पचभावणाओ परिरक्खणट्ठयाए**'। इसका आशय यह है कि सत्यमहाव्रती साधु सव प्रकार से असत्य का त्यागी होता है, वारह-व्रत या पाच अणुव्रत धारण करने वाला देशविरतिश्रावक स्थूल-असत्य का आशिक त्यागी होता है तथा व्रतहीन सम्यक्त्वी या मार्गानुसारी भी नैतिकरूप से स्थूल असत्य का त्याग करते है। इन सव कोटि के असत्यत्यागियो के असत्यत्यागरूप व्रत और नियम की रक्षा के लिए ये ५ भावनाएँ वताई है। लेकिन इन भावनाओं का उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकता है, जव इनका वार-वार मनोयोगपूर्वक चिन्तन और जीवन मे प्रयोग किया जाय। क्योकि भावना का अर्थ ही प्रत्येक अवस्था मे निरन्तर पुन पुन चिन्तन करना है। मनोयोगपूवक जीवनपर्यन्त और निरन्तर इनका चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करने पर तथा तदनुसार प्रयोग—अमल करने पर आत्मा मे पवित्र और उत्तम सस्कार वद्धमूल हो जाते है। सुदृढ सस्कारी साधक इतना वीर और पराक्रमी हो जाता है कि असत्य के वडे से वडे भय और लोभ के झझावात से वह डिगता नही, कष्टो के दल के आगे वह झुकता नही, उपसर्गो और परिषहो की सेना के खिलाफ जूझता रहता है। देव मानव या तिर्यञ्च कोई भी उसे सत्यव्रत से विचलित नही कर सकता। उसके सामने सत्य ध्रुवतारे की तरह चमकता रहता है, वह कदापि कैसी भी स्थिति मे सत्य को अपने मन-मस्तिष्क से ओझल नहीं होने देता। इसलिए सत्यता और सरलता उस साधक के जीवन के अग वन जाते हैं। वह सत्य मे परिपक्व हो जाता है। उसके हाथ, पैर, आँख और मुख सत्य से इतने सध जाते हैं, कि उससे असत्य-आचरण की चेष्टा स्वप्न मे भी नही हो सकती। हाथ-पैर ही क्या, शरीर के सभी अगोपाग, मन और वाणी, वुद्धि और हृदय उसके आज्ञाधीन सेवक-से वन जाते हैं। वे सत्य के विरुद्ध जरा भी प्रवृत्ति नही कर सकते। इसी वात को शास्त्रकार मूलपाठ मे द्योतित करते है—'**भाविओ भवति अतरप्पा सजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसपन्नो, इमेहिं पचहिवि कारणेहि मण-वयणकायपरिरक्खिएहिं निच्च आमरणत च एस जोगो णेयव्वो।**'

अनुचिन्त्यसमितिभावना का चिन्तन और प्रयोग—सत्यव्रत की इन पाच भावनाओ म मे सवप्रथम अनुचिन्त्यसमितिभावना है। इसका अर्थ है– सत्य पर वार-वार चिन्तन करके भाषण मे सम्यक् प्रवृत्ति करना। सत्यमहाव्रत ग्रहण कर लेने मात्र से जीवन मे सत्य नही आ जाता। उसके पालन के लिए वार-वार सत्य के पहलुओ पर चिन्तन करना चाहिए, यह विश्लेपण करना चाहिए कि असत्य कहाँ-

कहाँ से किस-किस रूप म आ सकता है ? उससे कैसे बचना चाहिए ? कदाचित् पूर्व-संस्कारवश आने लगे तो उसे कैसे दूर भगाना चाहिए ? सत्यसवर को रखने का उद्देश्य क्या है ? सत्य का रहस्य क्या है ? मगर इस प्रकार का सूक्ष्मविश्लेपण प्रत्येक साधु कर नही सकता। इसलिए शास्त्रकार इस भावना पर चिन्तन से पहले पूर्व तैयारी के रूप मे निर्देश करते है—' **सोऊण सवरट्ठ परमट्ठ सुद्ध जाणिऊण** ' इसका आशय यह है कि सत्यार्थी साधक को सर्वप्रथम सद्गुरु के मुख से आगम के माध्यम से यह भलीभाति श्रवण करना चाहिए कि सत्यसवर का पालन भगवान् ने क्यो और किसलिए आवश्यक बताया है ? इसका वास्तविक प्रयोजन क्या है ? साधक-जीवन के साथ इसका क्या सम्बन्ध है ? आदि। उसके पश्चात् यदि जैन सिद्धान्तो के रहस्य को ग्रहण करने की प्रतिभा हो जो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है, तो उसके बल पर उसे स्वय सत्यसिद्धान्तप्रतिपादक शास्त्रो और ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिए और उसके द्वारा विविध पहलुओ से सत्य को जानना चाहिए, विभिन्न तर्कवितर्कों द्वारा उसके रहस्य को हृदयगम कर लेना चाहिए।

उसके पश्चात् उसे सत्यमहाव्रत की प्रथम भावना का चिन्तन-मनन और तदनुसार उसी का रटन करना चाहिए, ताकि वह उसके सस्कारो मे जम जाय और उसकी समग्र प्रवृत्ति सत्यमय हो जाय। इसी बात को शास्त्रकार कहते है '**न वेगिय, न तुरिय सजतेण कालम्मि य वत्तव्व**।' इसका आशय यह है कि सयमी साधक बोलने से पहले अपने हृदय मे इस बात को दृढ कर ले कि 'मुझे हडबडा कर व्यग्रता से कभी नही बोलना है, उतावली मे जल्दी-जल्दी भी नही बोलना है, न चचलता से बोलना है न कडवा बोलना है, न कठोर बोलना है, न सहसा किसी पर दोपारोपण करना है, न परपीडाकारी सावद्यवचन बोलना है। मुझे जब भी बोलना है, तब सत्य हित, मित, शुद्ध, ग्रहणीय, सगत, स्पष्ट और सोच-विचार कर बोलना है।'

सत्यार्थी साधक यदि मन की व्याकुल और व्यग्र अवस्था मे बोलेगा तो, उससे वह अपनी अभीष्ट बात को व्यक्त करने मे असफल होगा। चित्त मे जब एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार लगातार अनेक विकल्प उठते रहते है, तब मनुष्य अपने सिद्धान्त को स्थिर नही कर पाता। उस समय वह झुझला कर, हडबडा कर या व्यग्रतापूर्वक जो कुछ भी कहेगा उससे सुनने वाले को विपरीत अर्थ का भान होना सभव है। इसलिए सत्य के पुजारी को मन की व्याकुल अवस्था मे वेग से कोई वचन व्यक्त नही करना चाहिए। उसे अपने मन को विकल्पजालो से मुक्त कर, अव्याकुल स्थिति मे ही अपनी बात प्रगट करनी चाहिए।

कई लोगो को यह आदत होती है कि वे बहुत जल्दी-जल्दी बोलते है। जल्दी मे बोलते समय अपने वचनो पर काबू नही रहता। वे अपने सिद्धान्त से विपरीत बाते

भी उतावली मे आ कर कह देते है। जिसका परिणाम कभी-कभी भयकर होता है, अथवा कई बार सुनने वाले को उसकी बाते पूरी तरह से समझ मे नही आती। कई लोग अपनी विद्वत्ता की छाप दूसरो के हृदय पर अकित करने के हेतु से भी ऐसा करते है, लेकिन परिणाम उलटा ही आता है। कई दफा उतावल मे विना विचारे बोलने के बाद उसका परिणाम अहितकर निकलता है और उससे बोलने वाले को बाद मे पछताना पडता है। इसलिए सत्यवादी को शीघ्रता से बोलने का परित्याग करना चाहिए।

साथ ही चपलतापूर्वक बोलना भी हितावह नही है। चचलता मे कोई भी व्यक्ति अपनी बात पर स्थिर नही रह सकता। वह कभी कुछ कहेगा, कभी कुछ, अत उसकी बातो पर किसी को भरोसा नही होगा। वाणीचपल मनुष्य किसी को वचन देकर वदलते देर नही लगाएगा। इसलिए चपलतापूर्वक बोलने से सत्य को खतरा पहुचेगा। कडवी और कठोर वाणी भी साधक के जीवन को कटु और कठोर बना देती है। उसका हृदय कटु व कठोर हो जाने से उसमे सबके प्रति घृणा, द्वेष, निर्दयता और क्रूरता भर जाती है। सबसे नफरत करने वाला व्यक्ति सबमे दोषदर्शन करेगा, ईर्ष्या, करेगा, वैमनस्य करेगा। इस तरह कडवी और कठोर वाणी मनुष्य को सत्य से विचलित कर देती है। उसके मुह से निकले हुए यथार्थवचन भी दूसरो को चुभते है, मर्मस्पर्शी होने से पीडा पहुचाते है, इसलिए शास्त्रज्ञो की दृष्टि मे वे असत्य ही हैं। उनका परित्याग करना चाहिए। कई साधक अपना रौब या प्रभाव दूसरो पर जमाने के लिए कटु या कठोर शब्दो का प्रयोग करते है, लेकिन कटु या कठोर शब्दो का प्रभाव प्राय उलटा पडता है। यदि कभी अनुकूल भी पडता है तो वह स्थायी नही रहता। यथार्थ बात भी मृदु एव प्रिय शब्दो मे कहने पर ही अधिक प्रभावशाली बनती है।

साहसपूर्वक बोला गया वचन भी सहसा विना विचारे बोला जाता है, वह भी स्वपरकल्याण का विरोधी है। दु साहसपूर्वक बोले गए वचनो के पीछे धृष्टता, बडप्पन का गर्व, उद्धतता, अपनी ही हाके जाने का अविवेक, व्यर्थ गाल बजाने की और अपने मुह मियामिट्ठू बनने को आदत होती है। ऐसे वचनो मे असत्याश अधिक होता है, इसलिए त्याज्य समझना चाहिए। परपीडाकारी वचन तथ्यपूर्ण होते हुए भी हिंसाजनक होने से असत्य की कोटि मे आते हैं। काने को काना, अधे को अधा कहना यद्यपि तथ्ययुक्त है, तथापि उसके पीछे बोलने वाले को भावना उसे पीडा पहुँचाने की या चिढाने की होने से ऐसे वचन सत्य भी असत्य हो जाते हैं। किसी को मर्मस्पर्शी वचन कहना, ताने मारना, अथवा इसे मारो, पीटो, इसे कत्ल करो, इत्यादि वचन परपीडाकारी होने से त्याज्य समझने चाहिएँ।

सावद्य—पापयुक्तवचन भी सत्यार्थी के जीवन के लिए हानिकारक है। जिन

वचनो मे पापकार्यां का पोपण होता हो, ऐसे वचन सावद्य कहलाते ह। जैसे किसी को चोरी, जारी, वेश्यागमन मद्यपान आदि निन्द्यकर्मो की सलाह देना, उनमे प्रोत्साहित करना सावद्य है।

मावद्यवचन तो हर्गिज भी नही वोलना चाहिए। पूर्वोक्त दोपो से रहित शुद्ध-निर्दोप, सत्य, हितकर, परिमित, ग्रहणीय, स्पप्ट पूर्वापरसगत एव वोलने से पहले भलीभाति सोचा-विचारा हुआ वचन अवमर पर वोलना चाहिए।

यह अनुचिन्त्यभापासमितिभावना का आशय है। इसे भलीभाति हृदयगम करके चिन्तन-मननपूर्वक वाणीप्रयोग करना ही सत्यार्थी के लिए प्रथम भावना का उद्देश्य है।

क्रोधनिग्रहरूप क्षमाभावना का चिन्तन और प्रयोग—पहली भावना मे वार-वार चिन्तन और पर्यालोचन करने के वाद अमुक प्रकार से वोलने और अमुक प्रकार से न वोलने का निर्देश किया, इसी पर से यह प्रश्न उठता हे कि मनुष्य जव वोलता है तो उतावल मे झुझला कर, चपलता से, कठोर, कटु, परपीडाकारी सावद्य वचन सहसा क्यो वोल देता है ? वह उस समय अपनी जवान पर लगाम क्यो नही रख पाता ? इसा के उत्तर मे शास्त्रकार दूसरी भावना का चिन्तन और प्रयोग वताते है। उनका आशय यह है कि सहसा विना-विचारे वोलने के पीछे क्रोध भी एक जवदस्त कारण है। जव मनुष्य पर क्रोध का भूत सवार होता है तो उसे अपने आपे का भान नही रहता। वह क्या वोल रहा है ?, क्या चेप्टा कर रहा हे ? किससे क्या कहना चाहिए,और क्या नही ? इसका ज्ञान उसे क्रोधावेश मे नही रहता। क्रोध के वश मनुप्य झुझला कर वोलता है, जल्दी जल्दी भी वोलता है चचलतापूर्वक वात कहता है, कडवा और कठोर वचन भी कह डालता है, विना विचारे किमी पर सहसा दोपारोपण भी कर डालता है, परपीडाकारी वचन और मारो-पीटो आदि सावद्य वचन तो कोपकाड के समय प्रगट होते ही है। क्रोधी मनुप्य परनिन्दा, गालीगलोज, मारपीट, हाथापाई और मुकद्दमेवाजी पर भी उतर आता है। क्रोधी मनुप्य अपने माता-पिता व गुरुजनो का विनय करना भूल जाता हे, अपनी मा-वहनो की इज्जत का भी उसे भान नही रहता। क्रोध के वशीभूत हुआ मनुप्य अपनी आत्मा मे तो अशान्ति उत्पन्न करता ही है, अपनी समाधि (शील) का भग तो कर ही वैठता है, अपने परिवार,समाज और देश मे भी वह भयकर अशान्ति मचा देता हे। कई वार क्रोधी नेता अपने क्रोधावेश मे आ कर ऐसे वचन वोल देता है, जिससे सारा समाज या देश विनाश के मुह मे चला जाता ह, उसके क्रोध का शिकार सारे देश या समाज को होना पडता ह। इसलिए क्रोधी मनुप्य सव का अकारण शत्रु वन जाता ह, झूठ धोखा, हिंसा, अन्याय, अन्याचार आदि कई दोपो का घर वन जाता है, पद पद पर अप-

मानित होता है, उसके साथ लोगो का वैरविरोध बढता जाता है। इसलिए क्रोध हर्गिज नही करना चाहिए। इस प्रकार दूसरी भावना मे क्रोधनिग्रह करके क्षमाभाव—क्षान्ति—सहिष्णुता रखने का निर्देश किया है। क्रोध से सर्वतोमुखी हानि और क्षमा-सहिष्णुता से सत्य के पालक उत्तम लाभ का चित्र सत्यार्थी साधक के मनमस्तिष्क मे अकित हो जाना चाहिए। इसी बात को शास्त्रकार स्पष्ट द्योतित करते है—'कोहो न सेवियव्वो एव खतीए भाविओ भवति।' इसी का भावार्थ ऊपर स्पष्ट किया गया है।

लोभविजयरूप निर्लोभतासमिति का चिन्तन और प्रयोग—क्रोध के बाद सत्यमहाव्रत के पालन मे बाधक लोभ है। लोभवृत्ति से मनुष्य का चित्त चचल हो उठता है। किसी भी पदार्थ का लोभ दिमाग मे सवार होते ही वह येन-केन-प्रकारेण उसकी पूर्ति के लिए उतारू हो जाता है। उस समय वह सत्य को भी ताक मे रख देता है, अपने श्रावकत्व और साधुत्व की मर्यादाओ को भी भूल जाता है, परिग्रह की सीमा और अपरिग्रहवृत्ति को भी ओझल कर देता है। उसका चित्त लोभवृत्ति के कारण सत्यव्रत से विचलित हो जाता है, उसकी वाणी लुब्धता के कारण सत्यवचन से हट जाती है,उसकी शारीरिक चेष्टाएँ भी लोभ सवार होने पर सत्यप्रवृत्ति से डगमगा जाती है। और वह चाहे सीमितपरिग्रही गृहस्थ श्रावक हो या अपरिग्रहवृत्ति महाव्रती साधु हो, लोभग्रस्त होने पर खेत, जमीन, मकान, सुख के साधन, खानपान, चौकी, पट्टा, शय्या-निवास योग्य वस्ती, बिछौना, कपडे, पात्र, कवल या पैर पोछने के कपडे, शिष्य या शिष्या, ये और इस प्रकार की हजारो चीजो के निमित्त मन, वचन और काया से असत्य का सहारा लेता है, दूसरो से असत्य आचरण कराता है और असत्याचरण करके इन सब साधनो को जुटाने वाले लोगो का अनुमोदन भी करता है। जब सत्यव्रती साधक इस प्रकार करता है तो उसकी सत्य की साधना धूल मे मिल जाती है। इसलिए असत्य मे बलात् प्रवृत्त करने और अन्तर् वृत्ति को लुभायमान करके असत्य वचन की ओर मोडने वाले लोभ से सत्यमहाव्रत या सत्य-अणुव्रत की रक्षा के लिए शास्त्रकार ने इस भावना के चिन्तन-मनन और तदनुसार मनोयोगपूर्वक प्रवृत्त होने का निर्देश निम्नोक्त सूत्रपक्तियो द्वारा किया है—'**लोभो न सेवियव्वो, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय व कएण न सेवियव्वो।**' इसका आशय यह है कि पूर्णसत्य की प्रतिज्ञा वाले महाव्रती और स्थूलसत्यव्रत धारण करने वाले अणुव्रती श्रावक लोभ के वशीभूत हो कर अपनी सत्यप्रतिज्ञा से गिर जाते है। गृहस्थ श्रावक पर जब लोभ सवार होता है तो वह खेत, बाग,जमीन, मकान, सोना, चादी, धन, धान्य, दासी-दास, लोहा, तावा आदि अन्य (कुप्य) धातु, और बर्तन आदि घर का सामान ज्यादा से ज्यादा बढाने पर आमादा हो जाता है। वह क्षेत्रादि दस प्रकार के परिग्रह की की हुई

अपनी मर्यादा की प्रतिज्ञा को ताक मे रख देता है और लोभ पिशाच की प्रेरणा के अनुसार झटपट असत्य के सगी-साथी छल, कपट, झूठ, फरेब, वेईमानी, अन्याय, अत्याचार आदि का सहारा ले कर उन क्षेत्रादि को प्राप्त करने या प्राप्त क्षेत्रादि की वृद्धि करने मे जुट जाता है। कई वार वह अपने नाम से उनकी प्राप्ति और वृद्धि मे न लग कर अपने लडके, दामाद, भानजे और भतीजे आदि के नाम से उक्त परिग्रह जुटाता हे। इस प्रकार वह स्व-पर-वचना करता है, जो असत्य की ही वहिन है। क्षेत्र और वास्तु इन दो पदो के द्वारा शास्त्रकार ने शेप आठ प्रकार के परिग्रहो (जो गृहस्थ के परिग्रहपरिमाण के अन्तर्गत हैं) को भी उपलक्षण से सूचित कर दिया है।

कीर्ति का लोभ तथा परिवार के पोपण का लोभ गृहस्थो को तो क्या, वडे-वडे साधुओ को भी हैरान कर डालता है। गृहस्थ का अपना परिवार होता है,वैसे ही साधु का भी अपना शिष्य-शिष्याओ का परिवार होता है, और वह भी अपने शिष्य-शिष्या-परिवार के पोपण के लिए नानाविध वस्तुओ को जुटाने के लोभ मे असत्य का सेवन कर लेता है। अपनी कीर्ति के लोभ मे आकर भरतचक्रवर्ती ने जैसे अपने प्रियभ्राता वाहुवलि को मारने के लिए चक्र चलाया था, वैसे ही गृहस्थ अपनी कीर्ति वढाने के लोभ मे झूठफरेव का सहारा ले कर मत्री आदि पद, सत्ता या अन्य कोई ओहदा प्राप्त करता है। कीर्ति का चस्का लगने पर वे साधु भी सत्ताधारियो और धनाढ्यो से मिलने और अपने नाम का प्रचार करने के लिए तिकडमवाजी करते है। इसी प्रकार ऋद्धि-वैभव या सत्ता की प्राप्ति के या सुख-साधनो के लोभ के वशीभूत हो कर भी साधक सत्य से डिग जाता है। इसलिए सत्यार्थी साधक के लिए शास्त्रकार का दिशानिर्देश है कि जव भी क्षेत्र, मकान, कीर्ति, परिवारपोपण, ऋद्धि, सत्ता, इन्द्रिय सुख या वस्त्र पात्र, शिष्य-शिष्या आदि का लोभ सताने लगे, तव वह इस भावना के प्रकाश मे चिन्तन करे कि जिन पर मैं लुब्ध हो रहा हू, या जिनके लोभ का ज्वार मेरे मे उमड रहा है, ये सव वस्तुएँ क्षणिक हैं, नाशवान है, सत्य से डिगाने वाली ह, मनुष्य को अपने सयम के रास्ते से भटकाने वाली है, चिंता के चक्कर मे डाल कर तग करने वाली ह। आत्मसम्पत्ति ही वास्तविक सम्पत्ति है, आत्मा मे रमण करने मे ही वास्तविक सुख है, सत्य का आचरण करने मे ही जीवन की सफलता है। जव आत्मा मे सत्य का सागर उमडने लगेगा, सत्य पालन की तीव्रता जागेगी, तव पदार्थों के प्रति स्वयमेव विरक्ति हो जायगी, लोभ कपूर के समान उड जायगा। वस्त्र, पात्र, औपधि, शिष्य, शिष्या, दड, कवल, उपाश्रय, शय्या, सस्तारक आदि अन्त तक उपकारक नही हैं, ये तो सिर्फ औपधि के समान है।

मनुष्य औषधि का सहारा तभी तक लेता है, जब तक उसके शरीर मे रोग रहता है। ये सब उपकरण वास्तव मे अशक्त आत्मा को सयम-पालन करने मे सहायता देने वाले है। जब आत्मा जिनकल्पी के समान सबल हो जाती है, तब इन उपकरणो का भी त्याग करके पूर्ण शान्ति का अनुभव करती है। इसलिए इनका लोभ न करना ही सत्यव्रती के लिए श्रेयस्कर है।

इसी प्रकार की निर्लोभता-भावना का पुन पुन चिन्तन-मनन करने से और तदनुसार लोभवृत्ति को कम करते रहने से आत्मा मे निर्लोभवृत्ति के सस्कार सुदृढ हो जायेगे और तब ऐसे सयमी अन्तरात्मा के हाथ लुभायमान करने वाली वस्तुओ को लेने के लिए नही बढेगे, पैर उन मनोज्ञ पदार्थों को ग्रहण करने के लिए चचल व गतिशील नही बनेगे, आँखे उन पदार्थों को देखने के लिए उत्सुकतापूर्वक ऊपर नही उठेगी, और न मुह ही उन पदार्थों की माग के लिए खुलेगा। वह सत्यवीर सुसाधु सत्य का पूर्ण उपासक हो कर मोक्षनिधि को प्राप्त कर लेता है।

भयमुक्तिरूप धैर्ययुक्तनिर्भयताभावना का चिन्तन और प्रयोग—सत्य की पूर्ण उपलब्धि या साधना के लिए लोभ के बाद भय बहुत बडा बाधक तत्त्व है। लोभ साधक के जीवन मे मीठा ठग बन कर आता है, और चुपके-चुपके साधक के जीवन मे घुस जाता है, जबकि भय कडवा बन कर साधक को आतकित करता हुआ, तथा उसके प्राण, प्रतिष्ठा और परिगृहीत वस्तुओ के अस्तित्व को चुनौती देता हुआ आता है। इसलिए लोभ मधुर शत्रु है और भय कठोर शत्रु है। परन्तु साधक के लिए क्या कोमल,क्या कठोर दोनो प्रकार के शत्रुओ से जूझना है। जीवन मे कभी-कभी ऐसे क्षण आते है और साधक के सामने ऐसा इहलौकिक भय उपस्थित हो जाता है कि इस ससार मे मेरा कौन है ? अथवा मेरा क्या होगा ? मेरे पास कौन होगा ? मेरे पास साधन नही होगे तो क्या करूँगा ? कभी अपनी साधना पर अविश्वास के कारण या शास्त्रो की आध्यात्मिक बातो पर शका के कारण यह पारलौकिक भय उसके सामने आकर खडा होता है कि इतनी कष्टकर साधना के बाद भी परलोक मे कुछ भी सुख न मिला तो ? ये स्वर्ग-मोक्ष की बातें कोरी गप्पे निकली तो मेरा वहाँ क्या होगा ? मरने के बाद पता नही मुझे सुख मिलेगा या दुख ? इसी प्रकार कभी-कभी उसके मन मे अपनो या अपनी माने जाने वाली वस्तु की सुरक्षा का भय सवार हो जाता है। उसी भय के मारे व्याकुल हो कर वह सयम छोडने को तैयार हो जाता है। कभी-कभी उसके मन मे काल्पनिक भीति पैदा हो जाती है कि मुझ पर अकस्मात् यह वृक्ष टूट पडा तो ? यह मकान ढह पडा तो ? मेरी टाग टूट गई तो ? अचानक कोई दुर्घटना हो गई और अगभग हो गया तो ? ये आकस्मिक भय भी साधक को बहुत सताते है। किसी समय अपनी जीविका—भोजन,

वस्त्रादि जीवन चलाने योग्य चीजो की प्राप्ति का भय साधक के मन को कुरेदता है। साधक इस भय की कल्पना के कारण सिहर उठता है। जरा-सी शारीरिक पीडा या बीमारी होते ही इस भय के मारे अधीर हो जाता है। अपकीर्ति का भय तो साधक की नस-नस मे घुस जाता है। कोई क्रिया-काण्ड चाहे निष्प्राण ही हो गया हो सयम का पोषक न रहा हो, विकासघातक एव युगबाह्य हो गया हो, केवल दम्भवर्द्धक रह गया हो, लेकिन समाज मे अपकीर्ति हो जाने के डर से उस बदलने या उसमे सशोधन करने से वह हिचकिचाता है। अपयश के डर के मारे साधु सत्य को ठुकराते सकोच नही करता। मृत्यु का भय तो क्या श्रावक, क्या साधु सबके पीछे लगा हुआ है। वह मृत्यु की कल्पना से ही काप उठता है। मृत्यु की छाया पडते ही भयभीत हो उठता है। और मौत का खतरा उपस्थित होने पर सत्य को छोड कर असत्य को भी सलाम कर लेता है। इसीलिए शास्त्रकार सत्य की सुरक्षा के लिए साधको से स्पष्ट निर्देश करते है—'**न भाइयव्व भीतो भयस्स वा एव धेज्जेण भाविओ भवति अतरप्पा सूरो सच्चज्जवसपन्नो।**' इसका आशय यह है कि सत्यार्थी साधक को किसी भी प्रकार के भय से विचलित नही होना चाहिए। भय तो उसको लगता है, जिसके जीवन मे कुछ दुर्बलताएँ हो, किसी वस्तु का ममत्व और मोह घेरा डाले बैठे हो, किसी का कर्ज चुकाना हो, या किसी से किसी वस्तु को पाने की आशा या लालसा हो। जब साधक इन सब बातो से परे है तो उसे भय किस बात का ? साथ ही भय आत्मा को तभी तक ज्यादा सताता है, जब तक उसे स्वपर का भेदविज्ञान नहीं हो जाता, स्वपर के स्वरूप को हृदयगम नही कर लेता। जब साधक के दिल मे यह बात जम जाती है कि मैं अपने आप मे आत्मा हू, शरीर नही, शरीर मेरा स्वरूप नही है। वह प्रतिक्षण विनाशशील और अनित्य है, जब कि आत्मा अविनाशी है, नित्य है। अग्नि शरीर को ही जला सकती है, आत्मा को नही, पानी शरीर को ही गला सकता है, आत्मा को नही, शस्त्र शरीर को ही काट सकते है, आत्मा को नही, हवा शरीर को ही सूखा सकती है, आत्मा को नही, भूत-प्रेतादि की बाधा इस शरीर को ही हो सकती है, आत्मा तक उनकी पहुँच नही है, रोग-व्याधियां शरीर को ही हानि पहुचा सकती हैं, आत्मा को नही, बुढापा शरीर को ही जीर्ण-शीर्ण कर सकता है, आत्मा को नही, आहार-पानी आदि पुद्गलो की अप्राप्ति शरीर को ही कमजोर कर सकती है, आत्मा को नही। मौत शरीर का वियोग कर सकती है, आत्मा का नहीं। मेरी आत्मा तो स्वय मेरे पास ही है। फिर मुझे डर किस बात

का ? कोई भी बाह्य पदार्थ मेरा जरा भी नुकसान नही कर सकते, तब मैं किस से भय करू ? यदि मै अकारण ही मन मे काल्पनिक भय पैदा करके डरता रहू तो मिथ्यादृष्टि मे और मुझ मे क्या अन्तर रहा ? मैंने जैनशास्त्रो का अध्ययन-मनन किया, वह सब व्यर्थ हुआ ! भय के कारण मैं अपनी मानसिक—भावहिंसा क्यो करू ? यदि मै भय करूगा तो मुझे असत्य का सहारा लेना पडेगा, आत्मिक दुर्बलता के कारण पदार्थों के मालिको की गुलामी करनी पडेगी या उनसे आशा या अपेक्षा रखनी पडेगी। अत हिंसा, असत्य आदि पापो के परिणामो से बचना हो तो मुझे निर्भयता धारण करनी चाहिए। जो भयभीत होता है, उस पर अनेको भय आ कर सवार हो जाते है। यदि मै किसी से भय करूगा तो चारो ओर से दबाया, सताया जाऊगा। ज्ञानादि मित्र मेरी कोई सहायता नही करेंगे, मेरा सयमरत्न लुट जायगा। क्योकि जो भयभीत या डरपोक होता है, वह तप और सयम को भी भय से घबरा कर छोड देता है। भीरु साधक सयम के या महान् कार्य के भार को वहन नही कर सकता। वह सत्पुरुषो द्वारा आचरित मार्ग का अन्त तक अनुसरण नही करता। अत मुझे पापकम के सिवा और किसी का भी भय नही करना चाहिए। इस प्रकार भयमुक्तिरूप निर्भयताभावना का धैर्यपूर्वक चिन्तन-मनन एव ध्यान करने से और तदनुसार दृढतापूर्वक आचरण से अन्तरात्मा निर्भयता के सस्कारो से ओतप्रोत हो जाती है। फिर तो उस सुसाधु का सयम इतना बढ जाता है कि स्वप्न मे उसके हाथपैर भय से नही कापते, उसकी आँखे भय के मारे चौधियाती नही, न बद होती है, और न उसका मुह भय के मारे असत्य बोलने के लिए खुलता है। और तब यह सत्यवीर सत्यता और सरलता की पराकाष्ठा पर पहुच जाता है।

हास्यमुक्ति वचनसयमरूप भावना का चिन्तन और प्रयोग—सत्यमहाव्रत और सत्य-अणुव्रत दोनो के लिए हास्य बाधक है। हास्य के वशीभूत हो कर साधक कई बार मजाक मे, बात-बात मे झूठ बोल देता है, अतिशयोक्ति कर बैठता है। हसी-मजाक में कई बार वह यह भूल जाता है कि इससे दूसरो को—जिनकी हसी उडा रहा हू, उनको—कितनी पीडा होगी ? कई बार वह विदूषक की तरह भाड-कुचेष्टा भी कर बैठता है उस समय वह यही सोचता है कि 'इससे लोग मेरी ओर ज्यादा आकर्षित होगे, लोग मुझे चाहेगे और मैं उनसे कुछ मनोज्ञ पदार्थों को भी प्राप्त कर लूगा।' पर इसकी यह धारणा भ्रान्तिजनक सिद्ध होती है, वह हास्य के आवेश मे अपनी मर्यादाओ को भी ताक मे रख देता है, कामचेष्टादि भी कर बैठता है, जो कि सयम के विपरीत है। मन-वचन-काया से असयम का आचरण करना भी भगवदाज्ञा के विपरीत होने से असत्याचरण के समान है। इसलिए परस्पर हास्य

होता है, तब वह इस प्रकार के सत्याचरण को भी ताक मे रख देता है। इसलिए शास्त्रकार कहते—' अलियाइ असतकाइ जपति हासइत्ता तम्हा हास न सेवियव्व।' इसका आशय यह है कि वह हास्य, जिससे रागद्वेप पैदा होता है, वह परपीडाजनक होता है, दूसरो की मजाक करते रहने से लोग उस साधक से खीज जाते है और उसका भी अपमान कर बैठते हैं। कभी-कभी तो हसी-मजाक से भयकर लडाई हो जाती है, क्षणभर मे पुरानी गाढ मैत्री खत्म हो जाती है। एक दूसरे के खून के प्यासे वन जाते है। कभी-कभी साधक मजाक-मजाक मे ही आपस मे फूट डाल देता है उसके साधु-समुदाय के स्वजन भी उसके मजाकिये स्वभाव के कारण असतुप्ट हो कर उससे किनाराकसी करने लगते है। कभी-कभी हास्य मर्मोद्घाटन करने वाला होने के कारण परस्पर वैरविरोध पैदा कर देता है। ऐसे हास्य के कारण असत्याचरण को बढावा मिलता है। तथा इस प्रकार के हास्य का कटुफल भी उसे भोगना पडता है। यद्यपि सयम साधना के कारण वह देवगति का अधिकारी हो जाता है, लेकिन सयमी साधना मे हास्यविकार के कारण उसे नीच देवयोनि मिलती है। यानी निरतर हसी-मजाक करने वाले भाडसरीखे साधु उस अनर्थ के कारण कादर्पिकदेवो एव आभियोग्य देवो मे उत्पन्न होते है, अथवा ये असुरजाति के व किल्विपिक देवो मे पैदा होते है, वहाँ उन्हे नीच काम करना पडता है। वे वहाँ तिरस्कार के पात्र वनते है। कहा भी है—

> 'जो सजओ वि एयासु अप्पसत्थासु वट्टइ कहिंचि।
> सो तव्विहेसु गच्छइ नियमा भइओ चरणविहीणो ॥'

भावार्थ—"जो साधु हो कर अनर्थकारक, लोकनिन्द्य एव चारित्र मे वाधक हसी-मजाक आदि क्रियाओ मे जरा-सी भी प्रवृत्ति करता है, वह चारित्र से भ्रष्ट हो कर आभियोग्य, कान्दर्पिक या आसुर-किल्विप आदि नीच देवो मे निश्चय ही जन्म लेता है। यदि उस समय आयुवन्ध करता है तो भाड आदि अधम मनुष्यो मे भी उत्पन्न होता है।"

इन सब दुष्परिणामो एव अनिप्ट कारणो को देखते हुए सत्यमहाव्रती या सत्याणुव्रती साधक को हास्य का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

साधु को इस प्रकार का चिन्तन करना चाहिए कि "हास्य ससारवर्द्धक और चारित्रनाशक चेप्टा है। इसमे मेरी आत्मा को कोई लाभ नही है वल्कि इतने शुद्ध सयमपालन के साथ-साथ हास्यक्रिया करना दूध के लोटे मे एक बूद जहर डालने के समान है। मै हास्य के वश हो कर क्यो अपने सत्य और सयम को दूषित करू! यह तो घाटे का सौदा होगा कि मैं इतना कठोर चारित्रपालन करके भी हास्यक्रिया करके उसे सस्ती प्रतिष्ठा या प्रशसा के भ्रम से खो दू।' इस प्रकार

हास्यमुक्ति और वचनसयमरूप चिन्तन के सस्कार जब अन्तरात्मा मे बद्धमूल हो जायेगे तो उस सयमी आत्मा के हाथ-पैर हास्य के लिए कोई चेष्टा नही करेंगे, उसके नेत्र हास्यवर्द्धक क्रिया नही करेंगे, उसका मु ह हास्यकारक वचन के लिए नही खुलेगा। वह सत्यवीर साधक सत्यता और सरलता से सम्पन्न हो कर अपने साधु जीवन को सार्थक कर लेगा।

पचभावनाओ से आत्मा को सुसस्कृत करने का निर्देश—शास्त्रकार सत्य के पूर्ण परिपालन के लिए पूर्वोक्त पाचो भावनाओ के प्रकाश मे अपने मन, वचन और काया को चारो ओर से सुरक्षित रखने पर जोर दे रहे हैं। उनका कहना है कि इन पाचो भावनाओ के प्रकाश मे मन-वचन-काया को सुरक्षित रखने से यह सत्यसवरद्वार सम्यक्रूप से सस्कारो मे परिनिष्ठित और आचरित हो जाता है। सत्यार्थी धृतिमान् व बुद्धिमान् साधक को इन पाचभावनाओ का चिन्तनपूर्वक प्रयोग, जो कि कर्म के आगमन को रोकने वाला, कर्मप्रवाह के प्रवेश के लिए निश्छिद्र, पवित्र, असक्लिष्ट, और समस्त जिनवरो द्वारा अनुज्ञात है, जीवन के अन्त तक सतत करना चाहिए। ऐसा करने से ही सत्यसवर का भलीभाँति आचरण, पालन, शोधन, पारण, कीर्तन, अनुपालन और आज्ञाराधन होता है।

उपसहार—यह सारा वक्तव्य शास्त्रकार ने अपनी बुद्धि से कल्पना करके नही दिया है, चौबीसवे तीर्थंकर भगवान् महावीर ने इसका सामान्य-विशेपरूप से निरूपण किया है, इसे सर्वप्रमाणो से सिद्ध किया है, सिद्ध भगवन्तो के शासनरूप इस प्रवचन का उन्होने भलीभाँति उपदेश दिया है, इसे मगलमय बताया है। इसका सम्यक् पालन करने से मोक्षपद प्राप्त होता है।

इस प्रकार सुबोधिनी व्याख्यासहित श्रीप्रश्नव्याकरणसूत्र के सप्तम अध्ययन के रूप मे द्वितीय सवरद्वार समाप्त हुआ।

●●

आठवां अध्ययन : अचौर्यसंवर

अचौर्यसवर का स्वरूप

सत्यसवरद्वार के विविध पहलुओ पर निरूपण करने के वाद अव शास्त्रकार अचौर्यसवरद्वार पर निरूपण करते है, क्योकि असत्य का त्याग चोरी (अदत्तादान) का त्याग करने पर ही सम्यक् प्रकार से हो सकता है । शास्त्रकार सर्वप्रथम सूत्रपाठ द्वारा अचौर्य का स्वरूप वताते है—

मूलपाठ

जबू ! दत्तमणुण्णायसंवरो नाम होति ततिय सुव्वता ! महव्वत गुणव्वत परदव्वहरणपडिविरइकरणजुत्त अपरिमियमणंत-तण्हाणुगयमहिच्छमणवयणकलुसआयाणसुनिग्गहिय, सुसजमियमण-हत्थपायनिभि(हु)य, निग्गथ, णेट्ठिक, निरुत्त, निरासव, निब्भय, विमुत्त, उत्तमनरवसभ-पवरबलवग-सुविहितजणसमत, परमसाहु-धम्मचरण, जत्थ य गामागर-नगर-निगम-खेड-कव्वड-मडब-दोणमुह-सवाह-पट्टणासमगयं च किंचि दव्व मणिमुत्तसिलप्पवाल-कसदूसरययवरकणगरयणमादिं पडियं पम्हुट्ठं विप्पणट्ठ न कप्पति कस्सइ (ति)कहेउं वा गेण्हिउं वा अहिरन्नसुवन्निकेण समलेट्ठुकचणेण अपरिग्गहसवुडेण लोगमि विरहियव्व, जपि य होज्जाहि दव्वजात खलगत खेत्तगत रन्नमतरगत वा किंचि पुप्फ-फल-तयप्पवाल-कद-मूल-तण-कट्ठ-सक्करादि अप्प च बहु च अणु च थूलग वा न कप्पति उग्गहमि अदिण्णमि गिण्हिउ जे, हणिहणि उग्गह अणुन्नविय गेण्हियव्व, वज्जेयव्वो सव्वकाल

अचियत्तघरपवेसो, अचियत्तभत्तपाणं, अचियत्त - पीढ - फलग-सेज्जा- संथारग- वत्थ- पत्त - कंबल- दंडग- रयहरण- निसेज्ज - चोलपट्टग - मुहपोत्तिय-पायपुंछणाइभायणभंडोवहि - उवकरणं, परपरिवाओ, परस्स दोसो परववएसेण जं च गेण्हइ, परस्स नासेइ जं च सुकयं, दाणस्स य अंतराइ(ति)य दाणविप्प-णासो, पेसुन्नं चेव मच्छरित्तं च, जेवि य पीढ-फलग-सेज्जा-संथारग- वत्थ- पाय कंबल- मुहपोत्तिय-पायपुंछणादि(इ)-भायण-भंडोवहिउवकरणं असंविभागी असंगहरुई(ती) तवतेणे य वइ-तेणे य रूवतेणे य आयारे चेव भावतेणे य, सद्दकरे, झंझकरे, कलहकरे, वेरकरे,विकहकरे,असमाहिकरे सया अप्पमाणभोई(ती) सततं अणुबद्धवेरे य निच्चरोसी से तारिसए नाराहए वयमिणं।

अह केरिसए पुणाइ आराहए वयमिणं ? जे से उवहिभत्त-पाणसंगहणदाणकुसले, अच्चंतबालदुब्बलगिलाणवुड्ढखमके, (खवग)-पवत्ति-आयरिय-उवज्झाए, सेहे, साहम्मिके, तवस्सी-कुलगणसंघचेइयट्ठे निज्जरट्ठी वेयावच्चं अणिस्सियं बहुविहं दसविहं करेति, न य अचियत्तस्स गिहं पविसइ, न य अचिय-त्तस्स गेण्हइ भत्तपाणं, न य अचियत्तस्स सेवइ पीढफलगसेज्जा-संथारगवत्थपायकंबलडंडगरयहरण- निस्सेज्जचोलपट्टयमुहपोत्तिय-पायपुंछणाइ-भायणभंडोवहि-उवगरणं, न य परिवायं परस्स जंपति, ण यावि दोसे परस्स गेण्हति, परववएसेण वि न किंचि गेण्हति, न य विपरिणामेति किंचि जणं न यावि णासेति, दिन्न-सुकयं दाऊण य न होइ पच्छाताविए संविभागसीले संगहोव-ग्गहकुसले से तारिसए(ते) आराहेति वयमिणं ।

महेच्छमनोवचनकलुषादानसुनिगृहीत, सुसयमितमनोहस्तपादनिभृत, निर्ग्रन्थं, नैष्ठिक, निरुक्तं, निराश्रव, निर्भय, विमुक्त, उत्तमनरवृषभ-प्रवरबलवत्-सुविहितजनसम्मत, प्रवरसाधुधर्मचरण ; यत्र च ग्रामाकरनगर-निगम-खेट कर्बट-मडम्ब-द्रोणमुख-सवाह-पत्तनाश्रमगत च किंचिद् द्रव्य मणिमुक्ताशिला-प्रवालकास्यदूष्यरजतवरकनकरत्नादि पतित विस्मृत विप्रणष्ट न कल्पते कस्यचित् कथयितुं वा गृहीतु वाऽहिरण्यसुवर्णिकेन समलेष्टुकाचनेन अपरिग्रहसवृतेन लोके विहर्त्तव्यम् । यदपि च भवेद् द्रव्यजात खलगतं क्षेत्रगत अरण्यान्तरगत वा किंचित् पुष्प-फल-त्वक्-प्रवाल-कन्द-मूल-तृण-काष्ठ-शर्करादि, अल्प च बहु चाणु च स्थूलक वा न कल्पतेऽवग्रहेऽदत्ते गृहीतु यत्किञ्चित ; अहन्यहनि अवग्रहमनुज्ञाप्य गृहीतव्यम् । वर्जयितव्यः सर्वकालमप्रीतगृहप्रवेशोऽप्रीतभक्तपानमप्रीतपीठ - फलक - शय्या - संस्तारक-वस्त्र-पात्र-कवल-दडक-रजोहरण-निषद्या - चोलपट्ट- मुखपोतिका-पादप्रोछ-नादि भाजनभाडोपध्युपकरण, परपरिवादो, परस्य दोष , परव्यपदेशेन यच्च गृह्णाति परस्य नाशयति, यच्च सुकृत दानस्य चान्तरायिक दानविप्रणाशः, पैशुन्य चैव मात्सरिक च, योऽपि च पीठ- फलक- शय्या- सस्तारक- वस्त्र-पात्र - कम्बल - नुखपोतिका - पादप्रोछनादि भाजनभाण्डोपध्युकरण असविभागी, असग्रहरुचिस्तपस्तेनश्च वाक्स्तेनश्च रूपस्तेनश्चाचारे चैव भावस्तेनश्च शब्दकर झझाकर कलहकरो वैरकरो विकथाकरोऽसमाधिकरः सदाऽप्रमाणभोजी सततमनुबद्धवैरश्च नित्यरोषी स तादृशो नाराधयति व्रतमिदम् । अथ कीदृशः पुनराधयति व्रतमिदम् ? यः स उपधिभक्तपानसग्र-हणदानकुशल , अत्यन्तबालदुर्बलग्लानवृद्धक्षपके प्रवर्त्याचार्योपाध्याये शैक्षे साधर्मिके तपस्विकुलगणसघचैत्यार्थे च निजरार्थी वैयावृत्यमनिश्रित बहुविध दशविध करोति, न चाप्रीतस्य गृह प्रविशति, न चाप्रीतस्य गृह्णाति भक्तपान, न चाप्रीतस्य सेवते पीठफलकशय्यासस्तारकवस्त्रपात्रकम्बलदण्डकरजोहरण-निषद्याचोलपट्ट - मुखपोतिकापादप्रोञ्छनादि - भाजनभाण्डोपध्युपकरणम्, न च परिवाद परस्य जल्पति, न चापि दोषान् परस्य गृह्णाति परव्यप-देशेनापि न किञ्चिद् गृह्णाति, न च विपरिणमयति कञ्चिज्जनम्, न चापि नाशयति दत्तसुकृतम्, दत्त्वा च न भवति पश्चात्तापिक , सविभागशील: सग्रहोपग्रहकुशल स तादृश आराधयति व्रतमिदम् ।

पयान्नयाग (सुव्वता !) सुन्दर व्रत वाले ! (जबू) हे जम्बू ! तीसरा (दत्तमणण्णायसवरो नाम) दत्त-दिये हुए अन्नादि तथा अनुज्ञात-आज्ञा पीठ-फलकादि इस प्रकार 'दत्तानुज्ञात' नामक सवरद्वार (होति) है, यह, महान व्रत है (गुणव्वत) गुणा-इहलौकिक पारलौकिक उपकारो-का कारणभू (परदव्वहरणपडिविरइकरणजुत्त) जो पराये द्रव्य-पदार्थ के हरण से निवृत्ति से युक्त है, (अपरिमियमणततण्हाणुगयमहिच्छमणवयणकलुस-आयाणसु जिसमे असीम, अनन्त तृष्णा से युक्त तथा बडी-बडी इच्छाओ वाले मन अ से पापजनक परद्रव्य के ग्रहण का भलीभाति निग्रह किया गया है। (सुसं हृतय पायनिभिय) जिसमे सयमित मन द्वारा परद्रव्य ग्रहण करने मे प्रवृत्त पैर को रोक लिया गया है। (निग्गथ) जो बाह्य और आभ्यतर परिग्रह से (णेट्ठिक) समस्त धर्मो की चरमसीमा तक पहुचा दिया है, (निरुत्त) त वर्णित, (निरासव) कर्मागमनरहित, (निब्भय) निर्भय (विमुत्त) ल

वहुत, (च) अथवा, (अणु) छोटी, (वा) अथवा, (थूलग) मोटी हो, (उग्गहंमि अदिण्णमि) यथोचित आज्ञा के लिए बिना, (गिण्हिउ) ग्रहण करना, (जे) थोडा-सा भी (न कप्पइ) योग्य नहीं है। (हणिहणि) प्रतिदिन साधु को (उग्गह) उपाश्रय मे रहने वाली वस्तु (अणुन्नविय) आज्ञा प्राप्त करके, (गेण्हियव्व) ग्रहण करना चाहिए। सव्वकाल) सदा, (अचियत्तघरप्पवेसो) अप्रीति रखने वाले के घर मे प्रवेश, (अचियत भत्तपाण) अप्रीति रखने वाले का अन्नपानी (अचियत्तपीठफलग-सेज्जासथारकवत्थपत्तकवल-दडग-रयहरण-निसेज्ज-चीलपट्टगमुहपोत्तियपायपु छणाइ - भायणभडोवहिउवकरण) अप्रीति रखने वाले के वस्त्र, चौकी, पट्टा, शय्या, सस्तारक-विछौना, वस्त्र, पात्र, कवल, दड, रजोहरण, आसन, चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका, पैर पोछने का वस्त्रखण्ड आदि धर्मोपकरणरूप सामग्री (परपरिवाओ) दूसरे की निन्दा (परस्स दोसो) दूसरो के दोषो का प्रकट करना, (परववएसेण) आचार्य रोगी आदि के वहाने से, (ज) जो वस्तु (गेण्हइ) ग्रहण की जाती है, (च) तथा (परस्स) दूसरे की (ज) जो वस्तु का (सुकय) सुकृत्य या उपकार का काम, (नासेइ) नाश करता है, (य) तथा (दाणस्स) दान मे, (अतराइय) विघ्न डालना, (दाणविप्पणासो) दान का अपलाप करना (च) तथा (पेसुन्न चेव) चुगली करना और (मच्छरित्त) मात्सर्य-डाह-ईर्ष्या इन सवका (वज्जेयव्वो) त्याग करना—छोडना चाहिए। (जे वि य) जो भी (पीठफलगसेज्जा - सथारगवत्थपायकवलमुहपोत्तिय - पायपोछणादि भायण-भडोवहिउवकरण) चौकी, पट्टा, शय्या, विछौना, वस्त्र, पात्र, मुखवस्त्रिका और पैर पोछने का टुकडा आदि पात्र, वर्तन, कवल तथा वस्त्रादि सामग्री और आहार मे (असविभागी) ठीक वितरण न करने वाला (असगहरुई) गच्छ की उपकारक प्राप्त वस्तुओ का सग्रह नहीं करने वाला, (तवतेणे) तप का चोर, (य) तथा, (वइतेणे) वाणी का चोर, (रूवतेणे) रूप का चोर (चेव) और (आयारे) आचार और (भावतेणे य) भावो का चोर है। (सद्दकरे) रात्रि को उच्चस्वर से स्वाध्याय, आदि करने वाला, (झझकरे) फूट डालने वाला, (कलहकरे) झगडा करने वाला, (वेरकरे) वैरभाव वढाने वाला, (विकहकरे) विकथा करने वाला, (असमाहिकरे) अशान्ति पैदा करने वाला, (सया अप्पमाणभोई) हमेशा प्रमाण से अधिक भोजन करने वाला, (सतत अणुवद्धवेरे) लगातार निरन्तर वैर वाधे रखने वाला, (य) और (तिव्वरोसी) तीव्र क्रोध करने वाला, (तारिसए) इस प्रकार का, (से) वह मनुष्य (इण) इस, (वय) व्रत की (नाराहए) आराधना नहीं कर सकता।

(अह पुणाइ) तो फिर, (केरिसए) कौन-सा मनुष्य, (इण) इस, (वय) व्रत की, (आराहए ?) आराधना-साधना कर सकता है ? (से) वह मनुष्य, (जे) जो, (उवहि-

भत्तपाणसगहणदाणकुसले) वस्त्रपात्र आदि धर्मोपकरण, भोजन व पेय पदार्थ आदि का सग्रह करने और परस्पर बाटने मे कुशल है , और (अच्चतबाल-दुब्बल-गिलाण-वुड्ढ-खमके) अत्यन्त बालक, दुबल, चिरकाल के रोगी, वृद्ध तथा मासक्षपण-मासिक उपवास आदि विकट तप करने वाले तपस्वी साधु की तथा (पवत्ति-आयरिय उवज्झाए) प्रवर्त्तक, आचार्य और उपाध्याय की (सेहे) नवदीक्षित साधु की,(य)तथा(साहम्मिके) साधर्मी साधु की, (तवस्सी-कुल-गण-सघ-चेइयट्ठे) तपस्वी, आचार्यकुल—आचार्य के शिष्य-प्रशिष्य का समुदाय, गण-गच्छ एव सघ—चतुर्विध सघ का चैत्यार्थी – चित्त की प्रसन्नता के प्रयोजन से सेवा करने वाला,(निजरट्ठी) कर्मक्षय करने का अभिलाषी,(अणिस्सिय) यश कीर्ति,सत्ता,धन आदि किसी वस्तु की कामना किये बिना किसी पर निर्भर रहे बिना (दसविह) दस प्रकार की,(वेयावच्च) सेवा-वैयावृत्य, बहुविह) अनेक प्रकार से, (करेइ) करता है,(य) तथा (अचियत्तस्स) अप्रीति रखने वाले के,(गिह) घर मे,(न पविसइ) प्रवेश नहीं करता (य) और (न) नहीं,(अचियत्तस्स) अप्रीति रखने वाले का,(भत्तपाण) आहार-पानी, (गेण्हइ) ग्रहण करता है, (य) तथा, (अचियत्तस्स) अप्रीति रखने वाले गृहस्थ के, (पीढ-फलग-सेज्जा-सथारग-वत्थ-पाय-कबल-डडग-रयहरण-निसेज्ज-चोलपट्टय-मुहपोत्तिय-पादपु छणाइ-भायण-भडोवहि-उवगरण) चौकी, पट्टा, शय्या-मकान, तृणादि का बिछौना, वस्त्र, पात्र, कबल दड, रजोहरण, आसन, चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका, और पैर पोछने के कपडे आदि सामग्री, मिट्टी आदि के भाजन, पात्रादि भाड, वस्त्र मकान आदि उपधिरूप धर्मोपकरणो का (न सेवइ)सेवन नहीं करता। (य) इसी प्रकार (परस्स) दूसरे की (परिवाय) निन्दा रूप-अवगुणरूप वचन या चापलूसी के वचन (न जपति) नहीं बोलता। (य) और (परस्स दोसे वि) दूसरो के दोषो को भी (न गेण्हइ) ग्रहण नहीं करता—देखता-ढूढता नही फिरता। (परववएसेण वि) वृद्ध, रोगी, चिररोगी, आचार्य आदि के बहाने से—दूसरो का नाम लेकर या दूसरो की ओट मे, (न किंचि गेण्हइ) कोई भी पदार्थ ग्रहण नहीं करता—नहीं लेता। (न य) और न ही (किंचि-जण) किसी व्यक्ति का चित्त (विपरिणामेति) दानादि धर्म से विमुख करता है—यानी धर्माचरण के परिणामो से डिगाता है, (य) तथा (न वि) न ही (दिन्नसुकय) किसी के द्वारा दिये गए दान या किये गए सुकृत-पुण्यकार्य का (णासेति) अपलाप-खण्डन करके नाश नही करता। (य) एव (दाऊण) वैयावृत्यादि द्वारा योगदान करके भी (पच्छाताविए) पश्चात्ताप करने वाला (न होइ) नहीं होता। और (सविभागसीले) उपधि आदि १२ प्रकार की सामग्री का साधर्मियो को यथोचित सम्यक् विभाजन करने के स्वभाव वाला, (सगहोवग्गहकुसले) गच्छ के लिए वस्तुओ या शिष्यादि का

सग्रह करने मे तथा भोजन-अध्ययन आदि अवलम्बनो से उनका उपकार करने मे कुशल (तारिसए) इसी प्रकार का (से) वह योग्य साधक (इण वय) इस व्रत का (आराहते) आराधन-सेवन कर सकता हे।

मूलार्थ—श्री गणधर सुधर्मास्वामी अपने प्रधान शिष्य श्री जम्बू स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहते है—'हे उत्तमव्रत के धारक जम्बू! तीसरा दत्तानुज्ञात नामक सवरद्वार है। यह महाव्रतरूप है, अनेक गुणो का कारणभूत व्रत है, दूसरो के द्रव्य-पदार्थ का हरण विना दिये ग्रहण करने – उडा लेने के त्यागरूप क्रिया से युक्त है, असीम तथा अनन्त तृष्णा के पीछे-पीछे चलने वाली मन की वडी-वडी इच्छाओ से कलुपित-दूपित मन और वचन से दूसरो की चीज को बुरे इरादे से ग्रहण करने का इससे भलीभाति निग्रह-नियत्रण हो जाता है। इस सवर द्वारा मन को भलीभाति काबू मे—अकुश मे किए जाने से हाथ-पैर परधनहरण करने, हडपने आदि अकार्यो से रुक कर निश्चल हो जाते हे। यह सवर धनादि वाह्य परिग्रह एव ममत्त्व कपाय आदि अन्तरग परिग्रह की गाठ से रहित है। यह समस्त धर्मों की पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ है अथवा अहिसादि सव धर्मों मे निष्ठा जमाने वाला है, सर्वज्ञदेव ने उपादेयरूप से इसका निरूपण किया है। यह आते हुए कर्मों को रोकने वाला है, राजादि का भय इसमे नही होता, यह लोभ-दोप से मुक्त है। सर्वोत्तम मनुष्यो, अत्यन्त वलशाली पुरुपो एव शास्त्रोक्त विधिपूर्वक आचरण करने वाले साधुओ द्वारा यह सम्मत है, या सम्मानित है, उत्कृष्ट मुनिजनो का यह धर्माचरण है।

इस (अचौर्य सवरव्रत) मे गाव, खान, शहर, व्यापारी मडी, धूल के कोटवाली वस्तो, कस्वे, चारो ओर ढाई-ढाई कोस तक बस्ती से शून्य नगर या गाव, वदरगाह, दुर्ग महानगर (पट्टन) और आश्रम मे पडी हुई मणि, मोती, शिला, मूगा, कासा, वस्त्र, चादी, सोना और रत्न आदि कोई वस्तु गिरी हुई, भूली हुई या खोई गई हो, उसे किसी असयमी को वताना या विना दी हुई वस्तु ग्रहण करना चोरी है, इस लिहाज से उस स्वय उठा लेना साधु के तृतीय महाव्रत की दृष्टि से उचित नही है। सयमी साधु के पास सोना-चादी नही होता है, इसलिए वह पत्थर और सोने को समान समझते हुए तथा अपरिग्रही होने से अपनी इन्द्रियो को नियत्रण मे रखते हुए लोक मे विचरण करे। सयमी के लिए खलिहान मे पडे हुए, खेत मे

पडे हुए किसी द्रव्य का तथा जगल मे रहे हुए फूल, फल, छाल, कोमल पत्ते, कद, मूल, तिनका, लकडी तथा ककर-पत्थर आदि किसी भी वस्तु का चाहे वह थोडी हो या ज्यादा, छोटी हो या बडी, किसी भी स्थान पर हो बिना दिये या उसके स्वामी की आज्ञा लिये बिना ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है।

अचौर्य महाव्रती साधु को उपाश्रय—धर्मस्थान मे रही हुई वस्तु का ग्रहण या उपयोग भी वहा के स्वामी या अधिकारी की प्रतिदिन आज्ञा लिए बिना नही करना चाहिए। साधुओ के प्रति अप्रीति रखने वाले घर मे कदापि प्रवेश नही करना चाहिए। अप्रीति रखने वाले के यहा से आहार-पानी या अप्रीतिकारी की चौकी, पट्टा, शय्या-उपाश्रय या धर्मस्थान, तृणादि का बिछौना, वस्त्र पात्र, कबल, दड, रजोहरण, आसन, चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका, पैर पाछने का कपडा आदि भाजन-भाड-उपधिरूप धर्मोपकरण-सामग्री लेना भी योग्य नही है। जो साधु दूसरो की निन्दा करता है या दूसरो के सामने मिथ्या डीगे हाकता है, दूसरे के दोप देखता है या दोपो की चर्चा करता रहता है, आचार्य, चिररोगी, वृद्ध आदि दूसरे साधुओ के बहाने से या दूसरे साधुओ की ओट मे जो साधु मनोज्ञ वस्तु खुद ले लेता है, या परस्पर सम्बन्ध का नाश करा देता है, कोई सुकृत दूसरे ने किया है, उसका अपलाप करके जो साधु उसे नष्ट करा देता है, दान देने मे अन्तराय डालता है तथा दान का अपलाप करके या उसका निपेध करके उसका लोप करता है, दूसरे की चुगली खाता है, डाह से जलता रहता है और जो चौकी, पट्टा, शय्या, बिछौना, वस्त्र, पात्र, कबल, मुखवस्त्रिका, पादप्रोछन आदि धर्मोपकरण सामग्री का साधुओ को यथोचित विभाजन नही करता है, जो गच्छ के लिए उपकारक के रूप मे प्राप्त वस्तुओ का

स्वय कर लेता है, जो मदा प्रमाण से अधिक भोजन करता है, जो परम्परागत वैरभाव निरन्तर वनाये रखता है, तीव्र क्रोधी हे, ऐसा जो माधु है, वह इस अचौर्यव्रत का आराधक नही हे। यानी ऐसा साधक इस अचौर्यव्रत का आराधन-पालन नही कर सकता।

तव फिर कौन-सा साधक इस व्रत की आराधना कर सकता हे? वही साधु, इस व्रत की आराधना कर सकता है, जो वस्त्र-पात्र आदि उपकरण और भोजन-पान आदि का सग्रह करने और उन्हे यथोचितरूप से साधुओ को वाटने मे कुशल है। अत्यन्त वालक, दुर्वल, चिररोगी, वृद्ध एव मासक्षपण आदि घोर तपश्चरण करने वाले तपस्वी की, प्रवर्त्तक, आचार्य और उपाध्याय की, नवदीक्षित साधु की, साधर्मी साधुओ की तथा तपस्वी, आचार्यकुल, वृद्ध साधु की शिष्य परम्परा के साधु-साध्वीगण, सघ (साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध सघ) की चित्त की प्रसन्नता के लिए कर्मों की निर्जरा का अभिलापी जो माधु यश आदि की कामना से रहित होकर दस प्रकार की सेवा-वैयावृत्य अनेक प्रकार से करता है, तथा अप्रीति रखने वाले घर मे प्रवेश नही करता, तथा अप्रीति रखने वाले की चौकी, पट्टा मकान, तृणादि का विछौना, वस्त्र, पात्र, कवल, दड रजो-हरण, आसन, चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका, पैर पोछने का कपडा आदि विविध उपकरण सामग्री का सेवन-उपभोग नही करता, जो दूसर की निन्दा के वचन या अपनी मिथ्या प्रशसा के वचन नही वोलता, जो दूसरे के दोप नही देखता या नही प्रगट करता, जो आचार्य, रोगी, वृद्ध आदि दूसरे साधुओ के वहाने से (नाम ले कर) कोई वस्तु ग्रहण नही करता, किसी को धर्मभावना से विमुख नही करता, किसी के द्वारा दिये गये दान या किये गए सुकृत का अपलाप करके जो उसका नाश नही करता, वल्कि दूसरे के गुणो को तथा दान-धर्म आदि सुकृत्य के गुणो को प्रगट करता है, अपने द्वारा किये गए उपकार-सेवा आदि के रूप मे दिये गए योगदान का पश्चात्ताप नही करता, तथा जो साधुओ को आहारादि वस्तुओ का यथोचित सविभाग करने के स्वभाव का हे, जो गच्छ के लिए उपकारी वस्तुओ का या शिष्यो का सग्रह करने तथा उन्हे भोजन-वस्त्र या अध्ययन आदि उपकार मे सतुष्ट करने मे दक्ष है ऐसा साधु ही इस अचार्य महाव्रत का आराधक हो सकता हे।

व्याख्या

सातवे अध्ययन मे सत्यसवरद्वार का वर्णन कर चुकने के पश्चात् अब आठवे अध्ययन के प्रारम्भ मे अचौर्यसवरद्वार का स्वरूप, अचौर्य के पालनकर्ताओ एव पूर्ण आराधको को मन, वचन और काया से भी चौर्यवृत्ति से कैसे निवृत्त होना चाहिए ? अचौर्यसवर के पूर्ण साधक को मौका आने पर किसी भी वस्तु के लेने की इच्छा होने पर हाथ और पैरो का कैसे सयम मे रखना चाहिए ? इन और ऐसे ही विभिन्न पहलुओ से अचौर्यसवर पर विशद वर्णन शास्त्रकार ने किया है। यद्यपि मूलार्थ और पदान्वयार्थ से इस सूत्रपाठ का अथ तो स्पष्ट हो जाता है, लेकिन कतिपय स्थलो पर शास्त्रकार का आशय स्पष्ट करना आवश्यक समझ कर नीचे उन स्थलो पर हम विवेचन प्रस्तुत करते है—

अचौर्य के विभिन्न पर्यायवाची शब्द और उनके अर्थ—अचौर्य शब्द के इसके अलावा तीन और पर्यायवाचक नाम मिलते है—(१) अदत्तादानविरमण, (२) अस्तेय या अस्तेनक (३) दत्तानुज्ञात।

अचौर्य—का अर्थ सामान्यतया चोरी न करना ही होता है, परन्तु यह तो इसका स्थूलरूप से अर्थ है। क्योकि ऐसी चोरी, जिसमे पकडे जाने पर चोरी करने वाला सरकार द्वारा दण्डित होता है, जनता मे निन्दित होता है, उसका त्याग तो गृहस्थ श्रावक क्या, मार्गानुसारी भी करता है। सात कुव्यसनो के त्याग मे चोरी करने का त्याग तो आ ही जाता है। इसलिए पचमहाव्रती साधु के लिए जब अचौर्य-महाव्रत का विधान है तो वहा प्रसगवशात् उसका अर्थ इस प्रकार हो जाता है—मन, वचन, काया से चोरी करना नही, चोरी कराना नही और चोरी करने वाले का अनुमोदन न करना। मन से चोरी तब होती है, जब साधक अपने मन के भावो को छिपाता है, अथवा दूसरे के विचारो पर अपनी छाप लगा देता है कि ये विचार सर्वप्रथम मेरे मन मे स्फुरित हुए थे। अथवा मन मे भी वीतराग देवाधिदेव शासन-पति तीर्थकर महावीर या गुरुदेव की सर्वहितकारी आज्ञा के विपरीत चलने की भावना प्रस्फुटित हुई हो या मन मे किसी वस्तु को अपनी बनाने की भावना पैदा हुई हो। मन से कृत की तरह कारित और अनुमोदित चोरी का अथ भी समझ लेना चाहिए। वचन से चोरी तब होती है—जब वचन से किसी भाव को प्रगट न करके छिपाया जाता है, या दूसरो के गुणो या अच्छाइयो को छिपाया जाता है, केवल दूसरो के दोष ही प्रगट किये जाते है, अथवा किसी से पूछने पर वचन से घुमा-फिरा कर इस प्रकार बोलना, जिससे असत्य भी न प्रगट हो और असली बात को भी छिपा लिया जाय। जैसे किसी के यह पूछने पर कि 'क्या आप ही मासक्षपणक तपस्वी

है ?' चट से उत्तर मे इस प्रकार कहे कि 'साधु तो क्षपणक तपस्वी ही होते है ।' इसी प्रकार वचन से उच्च आचारी या क्रियारुचि होने के बारे मे किसी से पूछे जाने पर गोलमोल जवाब दे,जिससे असत्य भी साबित न हो और असली बात भी छिपा ली जाय , तो वह भी वचनचौर्य है । इसी प्रकार वचन से दान, शील, तप आदि धर्मो या सुकृत्यो के बारे मे निषेध कर, खण्डन करे, या 'इनमे क्या रखा है ?' इस प्रकार से उपेक्षापूर्वक बोले, या सिद्धान्त के विपरीत जानबूझ कर किसी बात की प्ररूपणा करे । यह सब शासनाधीश भगवान महावीर के सिद्धान्तो का अपलाप होने से वाक्-चोरी माना जाता है । कृत और कारित वाक्चोरी तो स्पष्ट ही है । कायिक चोरी तो ससार मे प्रसिद्ध है । किसी की गिरी हुई, विस्मृत या खोई हुई या कही रखी हुई वस्तु को अपने कब्जे मे करना अपने अधिकार की बताना, या अपने उपयोग मे ले लेना, दूसरो के लिखे हुए लेख-कविता या ग्रन्थ आदि तथा दूसरो के किये हुए कार्य या उपकार पर अपने नाम की छाप लगाना, किसी के द्वारा किये गए उपकार को भूल जाना, उसका नाम छिपाना भी कायिक चोरी ही है ।

इस प्रकार मन, वचन और काया से चोरी का सर्वथा त्याग करना अचौर्य है ।

अदत्तादान विरमण का अर्थ भी यही है कि किसी के अधिकार या स्वामित्व की चीज को उसके द्वारा स्वय दिये विना, स्वीकृति या अनुमति दिये विना ग्रहण कर लेना या अपने उपयोग मे ले लेना, अथवा अपने अधिकार या कब्जे मे कर लेना , अदत्तादान है और ऐसे अदत्तादान से मन, वचन, काया से विरत होना अदत्तादान विरमण है । शास्त्र मे ऐसे अदत्त मुख्यतया ५ (पाँच) बताए हैं—देव-अदत्त, गुरु-अदत्त, राज-अदत्त, गृहपति-अदत्त, और सहधर्मी-अदत्त । देव से यहाँ देवाधिदेव अर्थ विवक्षित है । देवाधिदेव तीर्थंकरो की ओर से साधु के लिए ऐसा विधान है कि मिट्टी, ककर, पत्थर, तिनका आदि चीजे जगल मे पडी हो, शौच या पेशाब-परिष्ठापन के लिए किसी की मालिकी से अज्ञात भूमि हो , उक्त चीजो की साधुसाध्वी को जरूरत हो तो वहाँ शक्रेन्द्र देव की आज्ञा लेकर उसका ग्रहण या उपयोग करना चाहिए । किसी के मकान मे साधु को निवास करना हो या कही बैठ कर उस जगह का, या उस जगह मे पडे हुए पट्टे, चौकी आदि साधु के योग्य चीजो का उसे उपयोग करना हो तो उसके मालिक की या मालिक ने जिसे वह जगह सभालने या देख रेख करने के लिए सौप रखी हो, उसकी आज्ञा लेनी चाहिए । इसके विपरीत आचरण देवअदत्त है ।

गुरु-अदत्त से मतलब है, गुरु के दिये विना या गुरु ने जिस चीज की मनाही

कर रखी हो, उसके बारे मे उनकी अनुमति लिए बिना उस चीज का ग्रहण या सेवन करना।

जिस राष्ट्र मे साधु विचरण कर रहा है, या वहाँ से नये किसी राष्ट्र मे विचरण करना चाहता है, तो वहाँ की सरकार या शासक की सहमति के वगैर विचरण करना राजा-अदत्त है। गृहपति-अदत्त का अर्थ तो स्पष्ट ही है। सहधर्मी अदत्त भी स्पष्ट हे कि जो अपने समानधर्मी साधु हो, उनकी भी किसी चीज को अपने उपयोग या सेवन के लिए अनुमति के वगैर ले लेना या सेवन करना। किसी साधु के शिष्य को बहका कर उसकी अनुमति या सहमति के वगैर अपना शिष्य बना लेना भी सहधर्मी अदत्त है।

मतलव यह है कि इन सब प्रकार के अदत्तो से मन-वचन-काया से कृत, कारित अनुमोदनरूप से सर्वथा विरत होना अदत्ता-दान विरमण है।

यद्यपि दत्तानुज्ञात मे,अदत्तादान विरमण के सभी अर्थ समाविष्ट हो जाते है। तथापि यहाँ मलपाठ मे 'दत्तानुज्ञात' शब्द ही प्रयुक्त किया है, इसलिए इसमे कुछ विशेप अर्थ शास्त्रकार ने ध्वनित किया है। इसमे दो शब्द है—दत्त और अनुज्ञात। दत्त शब्द मे गृहस्थ के द्वारा भक्तिभावपूर्वक दिये गए उन पदार्थो का समावेश हो जाता है, जिनका सेवन या उपभोग एक ही वार किया जा सके , जैसे—रोटी, साग, मिठाई, दूध-दही,घी आदि। और अनुज्ञात शब्द उन पदार्थो के लिए ग्रहण किया गया है, जिनका उपयोग वार-वार किया जा सकता है, ऐसी चीजो के उपयोग करने की गृहस्थ द्वारा भक्तिपूर्वक अनुज्ञा या अनुमति दी गई हो, जैसे—पट्टा, चौकी, मकान आदि। मतलव यह है कि दाता के द्वारा दत्त और अनुज्ञात साधु जीवन के योग्य पदार्थों का ग्रहण या सेवन करना दत्तानुज्ञात सवर कहा जाता है। इसी अर्थ को शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है—'जत्थ य गामागरनगर पडिय पम्हुट्ठ विप्पणट्ठ न कप्पति कस्सइ कहेउ वा जपि य दव्वजात न कप्पति उग्गहमि अदिण्णमि गिण्हिउ जे अणुन्नविय गेण्हियव्व।' इन सब पक्तियो का अर्थ पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

अस्तेय और अस्तेनक के अर्थ भी अचौर्य के समान ही हैं।

अप्रीति-रखने वाले से ग्रहण का निषेध क्यो ?—पहले यह वताया गया है कि साधु दत्त और अनुज्ञात वस्तुओ का ही ग्रहण या सेवन करे , लेकिन आगे शास्त्रकार कहते हैं कि अप्रीति रखने वाले से तो दत्त और अनुज्ञात पदार्थ भी न ले और न उपभोग करे। प्रश्न होता है, ऐसा विधान क्यो ? इसका समाधान यह है कि साधु प्रीति और श्रद्धा से दिये हुए रूखे-सूखे आहारादि को ही सर्वोत्तम मानते हैं। अवज्ञा और अप्रीति-पूवक दिये गए मिष्टान्न, दुग्धादि को तुच्छातितुच्छ समझते हैं।

इसलिए अप्रीतिपूर्वक देना वास्तव मे देना नही है, फैंकना है। अगर अप्रीतिवाला दाता शर्माशर्मी या किसी के दवाव से दे भी दे, पर वाद मे निन्दा करने या कभी कोई झूठा इलजाम किमी साधु पर लगा देने अथवा साम्प्रदायिक द्वेपवश श्रमणो को जहर मिलाकर भोजन देने आदि की भी सभावना है। इससे धर्म की अपभ्राजना होने या साधु के पथभ्रष्ट होने की भी सभावना है। चौकी, पट्टे, मकान आदि किसी गाँव मे प्रेमपूर्वक किसी के द्वारा न मिलने पर साधु को कुछ शारीरिक कष्ट जरूर सहना पडेगा, लेकिन अप्रीति रखने वाले गृहस्थ के पास जाकर याचना करने से तो साधु की खुद की आत्मा मे ग्लानि पैदा होगी, दीनभावना पैदा होगी। आत्मा का भी पतन होने की सभावना है। इसी उद्देश्य को लेकर शास्त्रकार स्पष्ट कहते है—**'वज्जेयव्वो सव्वकाल अचियत्तघरपवेसो अचियत्तभत्तपाण न य अचियत्तस्स गिह पविसइ, न य अचियत्तस्स गेण्हई न य अचियत्तस्स सेवई उवगरण।'** इसका अर्थ पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

अचौर्यव्रत का माहात्म्य—अचौर्यव्रत इतना महान् है कि इसे जीवनव्यवहार मे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। इसका प्रभाव साधक जीवन के सभी व्यवहारो, आदतो, वृत्तियो और सस्कारो पर पडे विना नही रहता। साथ ही मानव जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सास्कृतिक, धार्मिक एव आध्यात्मिक आदि सभी क्षेत्रो पर भी इस व्रत का प्रभाव पडता है। सर्वक्षेत्र-स्पर्शी होने के अतिरिक्त यह सर्वप्राणिव्यापी और सार्वभौम होने से वहुत ही व्यापक है। इसी कारण इसे **'महाव्रत'** कहा है। साथ ही इहलौकिक और पारलौकिक गुणो मे कारणभूत होने से इसे गुणव्रत भी वताया गया है। साथ ही यह व्रत सभी धर्मो के साथ सम्वद्ध होने से उनकी पराकाष्ठा तक को यह स्पर्श करता है। क्योकि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का भी तभी भलीभाँति पालन होगा, जव साधु के जीवन मे मन-वचन-काया से अचौर्यवृत्ति आ जाएगी, इसलिए इसे 'नैष्ठिकव्रत' भी कहा है। निराश्रव तो इसलिए है, कि जव अचौर्य का पालन होगा तो कर्मों के आगमन के मूल कारण अवरुद्ध हो जायेगे। निर्ग्रन्थता का यह साकाररूप है। क्योकि साधक के मन मे उठने वाली असीम इच्छाए और अनन्त तृष्णाएँ मन और वचन दोनो को कलुपित वना देती है, और हाथ पैरो को भी मनोवाछित पदार्थ को लेने के लिए विक्षुब्ध वना देती है। परन्तु जव साधु के जीवन मे अचौर्य महाव्रत आ जाता है, तो उसकी असीम तृष्णाओ के पीछे-पीछ चलने वाली इच्छाओ का निग्रह हो जाता है, हाथ-पैर भी नियन्त्रित और शान्त हो जाते है, मन और वचन भी शान्त होकर एकमात्र आत्मशान्ति और सतोष के साम्राज्य मे तल्लीन हो जाता है। मनुष्य की इच्छाएँ जव वढ जाती हैं और वे तृष्णा का रूप ले लेती है तो उसका चित्त चचल हो जाता है और हाथ-पैर उस चीज को पाने के लिए सचेष्ट हो

उठते है। जब न्याय-नीतियुक्त तरीके मे गजेज्ञ पदार्थ नही मिलता तो वह अनैतिक उपाय अपनाता हे उसी का नाम चोरी है। इसलिए इस महाव्रत को धारण करने पर तृष्णाओ और इच्छाओ पर रोक लग जाती है, मन, वचन,हाथ,पैर आदि सब नियन्त्रित हो जाते है। तव स्वाभाविक है कि साधक वाह्य और आभ्यन्तर रूप से निर्ग्रन्थ वन जाता है। आत्मा जब परिग्रह के बोझ से हलका हो जाता है, तव वह अपने चारित्र धर्म की चरमसीमा मे स्थित हो जाता है। तब वह साधक परद्रव्यग्रहण से विमुख हो जाने से लोभमुक्त और राजा आदि के भय से भी मुक्त वन जाता है। इसी वात की साक्षी शास्त्रकार देते हैं—"**महव्वता गुणव्वता परदव्व विमुत्त ।**"

कुछ शकाएँ और उनका समाधान—यह ठीक है कि विना दिया हुआ या दूसरे के स्वामित्व का पदार्थ उसकी इच्छा, अनुमति या आज्ञा के विना लेने या उसका उपभोग करने से चोरी का दोप लगता है, किन्तु दूसरो की निन्दा करने से, दूसरो के दोप प्रगट करने से, चुगली खाने से, ईर्ष्या करने से या दान मे अन्तराय डालने या दान या सुकृत का अपलाप करने से कैसे चोरी का दोप लग जाता है ?

इन सबका समाधान वृत्तिकार निम्नोक्त गाथा द्वारा करते है—

"**सामी जीवादत्त तित्थयरेण तहेव य गुरुहिंति**"

अर्थात्—'जो वस्तु उसके स्वामी से प्राप्त नही हुई है तथा जिसकी आज्ञा तीर्थकरो ने और गुरुओ ने नही दी है, उसका उपयोग करना चोरी है।'

किसी की निन्दा करना, किसी के दोप देखना या प्रगट करना, चुगली खाना, ईर्ष्या-डाह करना या दान मे अन्तराय डालना या भगवत्प्ररूपित सिद्धान्तो का अपलाप करना तथा तीर्थंकर भगवान् गुरु आदि की आज्ञा या अनुमति के विपरीत आचरण करना, इन सबको चोरी कहा है। यह द्रव्यचोरी नही, भावचोरी है।

एक और पहलू से इस पर सोचा जाय तो यह प्रतीत हो जायगा कि वास्तव मे ये वातें चोरी के अन्तर्गत है। चोरी का एक अर्थ दूसरे के अधिकारो का अपहरण करना भी होता है। यद्यपि दान मे अन्तराय डालने वाले ने वर्तमान मे किसी प्रकार का अपहरण नही किया, लेकिन भविष्य मे जिसे वह वस्तु मिलने वाली थी, उसके अधिकार का अपहरण तो करता ही है। चूँकि साधु चोरी करने, कराने तथा अनुमोदन करने का सर्वथा त्याग करता है। इस दृष्टि से दान देते हुए को वहकाकर रोकने वाला साधु, भविष्य मे जिसे दान मिलने वाला था, उसके अधिकार का अपहरण करने वाला होने से चोरी का भागी माना जाता है। अथवा दाता सुपात्र को दान देकर स्वर्गादि के कारणभूत, जिस अपूर्व पुण्य को प्राप्त करने वाला था, उसके

अपहरण का कारण होने से चोरी का भागी होता है। इसी प्रकार दान का अपलाप करने वाला भी इस दान से दाता को प्राप्त होने वाले यश का अपहरण करता है।

नि स्वार्थ सेवा से अनायास अचौर्य की आराधना अचौर्यव्रत की आराधना करने वाले को अपनी उद्दाम इच्छाओ, आशाओ, स्पृहाओ या वदले मे कुछ चाहने की वृत्ति को तिलाञ्जलि देनी पडती है। इस प्रकार की अचौर्य की आराधना सहज, सरल और आनन्दपूर्वक हो जाती है। शास्त्रकार ने अचौर्य-आराधना को सरलतम वनाने के लिए वैयावृत्य—सेवा करने का उल्लेख किया है—**"अच्चत वाल-दुब्बल-गिलाण-वुड्ढ निज्जरट्ठी वेयावच्च अणिस्सिय बहुविह दसविह करेति।"** इसका अर्थ स्पष्ट है। केवल कुछ पदो का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

प्रवृत्ति या प्रवर्ती—प्रवर्त्तक[1] उसे कहते हैं—जो सघ का हितैपी अनुभवी साधु हो। प्रवर्त्तक साधु साधुओ की योग्यता देखकर उन्हे तप, सयम और योग मे प्रवृत्त करता है, और अयोग्य जान कर कुछ को तप आदि से निवृत्त करता है।

जो स्वय व्रताचरण करते है, दूसरो से व्रत का आचरण करवाते हैं, सघ का सचालन, रक्षण आदि करने मे जो समर्थ है तथा आगम के रहस्यज्ञ होते हैं, वे साधु-श्रेष्ठ आचार्य कहलाते है।

आगम के अर्थ का जो गुरुमुख से अध्ययन करते है, उसके असली रहस्य को समझते है, दूसरो को अध्ययन करवाते है, वे समाहितचित्त साधुरत्न उपाध्याय कहलाते है।

नवदीक्षित को शैक्ष, समान वेप और समान धर्मानुयायी को साधर्मी, वेला-तेला आदि तथा आतापन योग आदि तप करने वाले को तपस्वी कहते है। गच्छ के समुदाय को या एक आचार्य की शिष्य परम्परा को कुल कहते हैं। कुलसमूह को या वृद्ध साधुओ की शिष्य परम्परा को गण कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि निर्जरा—कर्मक्षय का कारण एव अपना कर्तव्य समझकर वदले मे कीर्ति,पद या किसी वस्तु की आकाक्षा न रखकर आहार-पानी,वस्त्र-पात्र आदि तथा अन्य अनेक तरह से इन अलग-अलग कोटि के साधुओ की अम्लान भाव से सेवा करने वाला साधु अनायास ही अचौर्यव्रत की आराधना कर लेता है। क्योकि अहर्निश सेवा मे रत रहने वाले साधु की अपनी ख्वाहिशे या इच्छाएँ स्वत ही कम हो जाती है।

१. 'तव सजमजोगेसु जो जोगो तत्थ त पवत्तेइ।
असह च निवत्तेइ गणतत्तिलोपवित्ती उ ॥१॥'
प्रवर्ती या प्रवत्तक का लक्षण इस गाथा से स्पष्ट है।

—सपादक

अचौर्य संवर का अनाराधक कौन व आराधक कौन ?—शास्त्रकार ने एक बात का स्पष्ट निर्देश किया है कि किस प्रकार का साधु अचौर्य का सम्यक् आराधक हो सकता है ? और कौन इसका विराधक बनता है। वास्तव मे आराधना-विराधना का दारोमदार वस्तु के ग्रहण करने या न करने पर निर्भर नही है। जहाँ साधक की दृष्टि और वृत्ति निर्लोभी और परोपकारी, पर-हितैपिणी, नि स्वार्थ सेवा एव दूसरो को दान देने की बन जाती है, वहाँ व्यक्ति को अपने लिए नही, अपितु साधु-समूह के लिए सग्रह करना और साधुओ को यथोचित व भली-भाँति वितरित करना, दोप नही, गुण बन जाता है। वही अचौर्य की आराधकता है। अचौर्य वृत्ति वाला साधु अपने आपको सघ और गुरु के चरणो मे जब समर्पण कर देता है तो उसे अपने लिए खाने, पीने तथा वस्त्र-पात्र आदि चीजो की कोई चिन्ता नही करनी पडती। वह आत्म-सतुप्ट, आत्मतृप्त और अलमस्त बन जाता है। और किसी प्रशसा आदि के बदले की भावना के बिना नि स्वार्थ भाव से रोगी, वृद्ध, आचार्य आदि की विविध प्रकार से सेवा करता है। कोई वस्तु न मिले तो उसे प्राप्त करने की चिन्ता नही होती और मिल जाय तो उसे अधिकाधिक सग्रह की भी इच्छा नही होती। उसका जीवन सहज-भाव मे चलता रहता है। वह किसी चीज के न मिलने पर किसी दाता या अन्य साधक की निन्दा नही करता और मनोज्ञ वस्तु के मिल जाने पर अपने भाग्य का बखान नही करता। साथ ही उसकी निर्लोभता इतनी बढ जाती है कि वह अपने लिए किसी अप्रीतिकर घर से या व्यक्ति से आहार, पानी या वस्त्रपात्रादि उपकरणो की याचना करने नही जाता, न कभी आचार्य, उपाध्याय, ग्लान, चिररोगी आदि के नाम से या इनके बहाने से कोई भी वस्तु ग्रहण ही करता है, न किसी को दानादि धर्म के आचरण से विमुख करता है,दान और सुकृत का अपलाप भी नही करता। न ही अपने सार्धमियो की सेवा आदि करने के बाद उसे कोई पश्चात्ताप होता है। उसे कभी अकेले अपने लिए किसी चीज को अलग रखने का कोई मोह नही होता। वह किसी भी चीज पर आसक्ति रख कर अपने लिए सग्रह नही करता। वह तो साधुओ मे से जिस साधु को भी साधु-योग्य किसी चीज की जरूरत हो,उस साधु को उदारता पूर्वक दे देता है। उसके स्वभाव मे ही अपने लिए सग्रह करना नही होता। वह यथोचित वस्तुओ का सग्रह करने एव उपकार करने मे कुशल होता है। यही अचौय व्रत के आराधक की निशानी है। अचौर्य व्रत की मस्ती उसके मन,चेहरे और शरीर पर झलकती रहती है।

परन्तु अचौय के अनाराधक मे ठीक इससे उलटी वृत्ति और चेष्टा मिलती है। वह किसी साधु की सेवा किये बिना ही, आचार का सम्यक् पालन किये बिना ही, दीघ तपस्या किये बिना ही नाम लूटना चाहता है। उसके मन मे यही भावना बनी रहती है कि आज कहा से कौन-सी चीज लाऊँ ? वह तपस्या, आचार, वचन, रूप

और भाव का चोर वन जाता है। वेश वदल कर या अच्छे कपडे पहिन कर, वन ठन कर तथा वचन से लोगो को चकमे मे डाल देता है। लोगो को त्रियाकाण्ड बता कर धूर्तता करता रहता है। जो लोग क्रिया-पूजक या वेपपूजक होते है, वे प्रभावित होकर उसे अच्छी-अच्छी खाने-पीने की चीजें दे देते हैं। वह अपने लिए तो अच्छी-अच्छी चीजें खूब वटार कर ले आता है, लेकिन सघ के साधुओ के लिए जरूरत के अनुसार सग्रह करने और उन्हे वांटने की उसकी रुचि नही होती। सविभाग भी वह ठीक से नही करता। वह अपना वडप्पन जमाने के लिए दूसरे साधुओ की अथवा दाताओ की निन्दा करता है। दूसरे साधुओ के दोप गृहस्थो के सामने प्रगट करके वह अपनी उत्कृष्टता का सिक्का जमा कर लोगो से अच्छी-अच्छी वस्तुएँ प्राप्त करना चाहता है। और जव इस प्रकार से अच्छी वस्तुएँ ज्यादा तादाद मे नही मिलती तो वह रोगी, वृद्ध आचार्य, गुरु या उपाध्याय आदि के नाम से अच्छी-अच्छी चीजें लाकर स्वय उनका उपभोग या सेवन करता है। वल्कि कभी-कभी लोगो को वह दूसरो को दान देते देखता है, या किसी सत्कार्य या धर्म कार्य को करते देखता है तो ईर्ष्या या द्वेप के मारे दान की निन्दा करने लगता है, न देने को कहता है, दूसरो को दान देने मे विघ्न डालता है। साथ ही वह ईर्ष्या से जल-भुन कर साधुओ की चुगली खाता है,डाह करता है, परनिन्दा का प्रकरण छेड देता है, अथवा दूसरे के गुणो को, उपकारो को ढक कर चुन-चुन कर उनके दोपो को ही प्रगट करता है। वह भी इसलिए कि मुझे ही गृहस्थो से बढिया चीजे मिला करें। इस प्रकार वह चिल्लाता वहुत है, अपनी डीग हाँक कर शोर वहुत मचाता है, आपस मे लडाने और फूट डालने का प्रयत्न करता है, ताकि दोनो मे से किसी से तो कुछ मिल ही जाय! न देने पर झगडा कर बैठता है, गृहस्थो से वैर वाध लेता है, उन्हे स्त्री आदि की चटपटी वातें सुना कर विकथा किया करता है। ऐसे साधक का चित्त सदा असमाधि मे रहता है। सग्रह वृत्ति या लोभ वृत्ति होने के कारण वह सदा प्रमाण से रहित भोजन करता है, लगातार दूसरो के साथ वैर बांधे रहता है। तीव्र रोप मे आग ववूला वन जाता है। ऐसे साधक मे कोई सतोप, शान्ति, मस्ती या अलोभवृत्ति नही होती। इसी वात को शास्त्रकार मूलपाठ द्वारा सूचित करते हैं—"परिपरिवाओ तिव्वरोसी, से तारिसए नाराहए वयमिण जे से उवहिभत्त से तारिसते आराहते वयमिण।" इनका अर्थ स्पष्ट कर चुके है।

अचौर्य संवर को पॉच भावनाएँ

पूर्व सूत्रपाठ मे शास्त्रकार अचौर्य व्रत का माहात्म्य, उसका स्वरूप एव अचौर्य के विराधक-आराधक के सम्बन्ध मे स्पष्ट निरूपण कर चुके है। अव अचौर्य सवर की चारो ओर से सुरक्षा के लिए साधक के मन-वचन-काया मे वमे सस्कारो को वद्धमूल करने हेतु पाच भावनाओ का निरूपण निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा करते हैं—

मूलपाठ

इम च परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्द सुद्धं नेयाउय अकुडिल अणुत्तर सव्वदुक्खपावाण विओवसमण ।

तस्स इमा पंच भावणाओ ततियस्स होंति, परदव्वहरण-वेरमणपरिरक्खणट्ठयाए । (१) पढम देवकुल-सभप्पवा-ऽऽवसह-रुक्खमूल-आराम- कदरागर-गिरिगुहा - कम्मउज्जाण-जाणसाला-कुवितसाला-मडव-सुन्नघर-सुसाण-लेण-आवणे अन्नमि य एव-मादियमि दग-मट्टिय- बीज- हरित-तस- पाण- असंसत्ते अहाकडे फासुए विवित्ते पसत्थे उवस्सए होइ विहरियव्व आहाकम्मबहुले य जे से आसित्त-संमज्जिओवलित्त - सोहिय-छायण-दूमण-लिंपण-अणुलिंपण-जलण-भडचालणं अतो बहिं च असजमो जत्थ वट्टई (वड्ढती) सजयाण अट्ठा वज्जेयव्वो हु उवस्सओ से तारिसए सुत्तपडि(रि) कुट्ठे । एव विवित्तवासवसहिसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा निच्च अहिकरणकरण-कारावण (कारणा)-पाव-कम्मविरतो दत्तमणुन्नायओग्गहरुई । (२) बितीय आरामुज्जाण-काणण-वणप्पदेसभागे ज किंचि इक्कड व कठिणग च जतुग (जवग) च परामेरकुच्चकुसडब्भपलालमूयगवल्लय-पुप्फफलतय-प्पवालकदमूलतणकट्ठसक्करादी गेण्हइ सेज्जोवहिस्स अट्ठा न कप्पए उग्गहे अदिन्नमि गिण्हेउ जे हणि हणि उग्गह अणुन्नविय गेण्हि-यव्व । एव उग्गहसमितिजोगेण भावितो भवति अन्तरप्पा निच्च अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुन्नायओग्गहरुई ।
(३) ततीय पीढफलगसेज्जासंथारगट्ठयाए रुक्खा न छिंदियव्वा, न छेदणेण भेदणेण सेज्जा कारेयव्वा, जस्सेव उवस्सए वसेज्ज सेज्ज तत्थेव गवेसेज्जा, न य विसम सम करेज्जा, न निवाय-

पवाय उस्सुगत्त, न डसमसगेसु खुभियव्वं, अग्गो धूमो य न कायव्वो, एव संजमबहुले सवरबहुले सवुडबहुले समाहिबहुले धीरे काएण फासयतो सयय अज्झप्पज्झाणजुत्ते समिए एगे चरेज्ज धम्म, एव सेज्जासमितिजोगेण भावितो भवति अतरप्पा निच्च अहिकरणकरणकारावण - पावकम्मविरते दत्तमणुन्नायउग्गहरुई । (४) चउत्थ साहारणपिंडपातलाभे भोत्तव्व सजएण समिय न साय-सूपाहिक, न खद्ध, ण वेगिय, न तुरिय, न चवलं, न साहस, न य परस्स पीलाकरसावज्ज तह भोत्तव्व जह से ततियवय न सीदति साहारणपिंडपायलाभे सुहुम अदिन्नादाणवयनियमवेरमण । एव साहारणपिंडवायलाभे समितिजोगेण भावितो भवति अतरप्पा निच्च अहिकरणकरणकारावण (कारणा) पावकम्मविरते दत्तमणुन्नायउग्गहरुई । (५) पचमग साहम्मिएसु विणओ पउजियव्वो, उवगरणपारणासु विणओ पउंजियव्वो, वायणपरियट्टणासु विणओ पउंजियव्वो, दाणगहणपुच्छणासु विणओ पउजियव्वो, निक्खमणपवेसणासु विणओ पउजियव्वो, अन्नेसु य एवमादिसु बहुसु कारणसएसु विणओ पउजियव्वो, विणओवि तवो, तवोवि धम्मो, तम्हा विणओ पउजियव्वो, गुरुसु साहूसु तवस्सीसु य विणओ पउ-जियव्वो । एव विणएण भाविओ भवइ अतरप्पा णिच्च अहिकरण-करणकारावण (कारणा) पावकम्मविरते दत्तमणुन्नायउग्गहरुई ।

एवमिण सवरस्स दारं सम्म सच (व) रियं हाइ सुपणि-हिय एव जाव आघविय सुदेसित पसत्थ ।। (सू० २६) ततिय सवरदार समत्त निवेमि ।।३।।

सस्कृतच्छाया

इद च परद्रव्यहरणविरमणपरिरक्षणार्थताये प्रावचनं भगवता-सुकथितम्, आत्महितम्, प्रेत्याभाविकम्, आगमिष्यद्भद्रम्, शुद्धम्, नैयायि-कम्, अकुटिलम्, अनुत्तरम्, सर्वदुःखपापाना व्युपशमनम् ।

र्योविनय प्रयोक्तव्य, अन्येषु चैवमादिषु बहुषु कारणशतेषु विनयः प्रयो-क्तव्य.। विनयोऽपि तपस्तपोऽपि धर्मस्तस्माद् विनय प्रयोक्तव्यो गुरुषु साधुषु तपस्विषु च। एव विनयेन भावितो भवत्यन्तरात्मा नित्यमधिकरणकरण-कारापण (कारणा) पापकर्मविरतो दत्तानुज्ञातावग्रहरुचि.।

एवमिद सवरस्य द्वारं सम्यक् सवृत भवति सुप्रणिहितमेवं यावद् आख्यात सुदेशित प्रशस्तम्॥ (सू० २६) तृतीय सवरद्वार समाप्तमिति ब्रवीमि।

पदान्वयार्थ—(च) और (इम) यह (पावयण) अचौर्यव्रत के सिद्धान्तरूप प्रवचन (भगवया) भगवान् ने (परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए) पराये द्रव्य की चोरी के त्याग रूप व्रत की रक्षा के लिए (सुकहिय) अच्छी तरह कहा है,जोकि (अत्त-हिय) आत्मा के लिए हितकर है, (पेच्चाभाविय) जन्मान्तर मे सहायक है, (आग-मेसिभद्द) आगामीकाल मे कल्याणकारी है, (सुद्ध) शुद्ध है – निर्दोष है, (नेआउय) न्यायसगत है, (अकुडिल) कुटिलता से रहित है और (अणुत्तर) सर्वोत्कृष्ट है, (सव्व-दुक्खपावाणविओवसमण) समस्त दु खो और पापो का क्षय करने वाला है, (तस्स ततीयस्स) उस तीसरे दत्तानुज्ञातव्रत की (इमा) ये निम्नोक्त (पच भावणाओ) पाच भावनाएँ (परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए) परद्रव्यहरण से विरति की सुरक्षा के लिए (होंति) हैं। (पढम) पहली विविक्तवासवसतिसमिति भावना का स्वरूप इस प्रकार है—(देवकुल-सभ-प्पवा-वसह-रुक्खमूल-आराम-कदरा-गर-गिरिगुहा-कम्मउज्जाण-जाणसाला-कुवितसाला-मडव,सुन्नघर सुसाण-लेण-आवणे) देवालय सभा, प्याऊ, सन्या-सियो का मठ, वृक्ष का मूल, वाटिकाएँ, कन्दराएँ, लोहे आदि की खानें, पर्वत की गुफाएँ, चूने आदि के पीसने के घर, बागबगीचे, रथ आदि रखने की वाहनशालाएँ, घर की सामग्री रखने के भडार, यज्ञादि के मडप, सूने घर, श्मशान, पर्वतीय गृह और दूकानें (य) तथा (एवमादियंमि) इसी प्रकार के (अन्नंमि) अन्य (दग-मट्टिय-बीज हरित-तस-पाण-असंसत्ते) पानी, मिट्टी, बीज, हरी वनस्पति और त्रसजीवो से असयुक्त-रहित, (अहाकडे) गृहस्थ द्वारा अपने लिए बनाए हुए (फासुए) जीवजन्तु-रहित, (विवित्ते) स्त्री आदि के रात्रिनिवास से रहित, अतएव (पसत्थे) प्रशस्त योग्य, (उवस्सए) उपाश्रय—स्थान मे (विहरियव्व होइ) निवास करना योग्य है, (य) और (जे) जो (आहाकम्मबहुले) आधाकर्म दोष से परिपूर्ण है, (से) वह तथा (आसित-समज्जि-ओवलित्त-सोहिय-छायण-दूमण - लिपण-अणुलिपण-जलण-भडचालण) जलका छिडकाव किया हुआ, कुडाकर्कट निकालकर झाडबुहार कर साफ किया हुआ,

जल से सींचा हुआ, वदनवार लगा,चौक पूरकर इत्यादि प्रकार से सजाया हुआ, दर्भ-घास आदि से छाया हुआ, खडिया मिट्टी आदि से सफेद पोता हुआ, गोबर आदि से लीपा हुआ, बार-बार लीपा हुआ, ठड मिटाने के लिए प्रज्वलित अग्नि से युक्त, प्रकाश आदि के लिए वर्तन-भाड आदि साधु के निमित्त इधर-उधर लाये-लेजाये जाते हो (च) तथा (जत्थ) जहाँ, (अतोबहिं च) अन्दर और बाहर (असजओ) जीवविराधना (सजयाण अट्ठा) सयमी साधुओ के प्रयोजन-निमित्त से होती हो, (से तारिसए) ऐसा वह (सुत्तपडिकुट्ठे) शास्त्र मे निषिद्ध (उवस्सओ, उपाश्रय – स्थान (हु) अवश्य (वज्जेयव्वो) छोड देना चाहिए अथवा ऐसा उपाश्रय त्याज्य समझना चाहिए। (एव) इस प्रकार (विवित्तवासवसहिसमितिजोगेण) एकान्त निर्दोष स्थान मे निवास रूप विविक्तवासवसति समिति भावना के योग से (भावितो) भावनायुक्त-सस्कारित (अतरप्पा) अन्तरात्मा, (निच्च) नित्य (अहिकरण-करण-कारावणपावकम्मविरतो) दोषयुक्त आचरण करने और करवाने रूप पापकर्म से विरक्त हुआ साधु (दत्तमणुन्नाय ओग्गहरुई) वस्तु के स्वामी आदि द्वारा दत्त —दिया हुआ तथा अनुज्ञात—आज्ञाप्राप्त पदार्थ ग्रहण करने की रुचि वाला (भवति) होता है।

(वितीय) दूसरी अवग्रह समिति भावना इस प्रकार है—(आरामुज्जाण-काणणवणप्पदेसभागे) वाटिका, बाग, बगीचे, नगर के निकटवर्ती जगल, वन के एक प्रदेश भाग मे (ज) जो कुछ (इक्कड) तृणविशेष, (व) अथवा (कठिणक) हरी खड-घास (जतुग) तालाब आदि मे पैदा होने वाली घास, (परा-मेर-कुच्च-कुस-डब्भ-पलाल-मूयग-वल्लय-पुप्फ-फल-तय-प्पवाल-कद-मूल-तण-कट्ठ-सक्करादी) परा नामक तृण, मज का तृण, ऐसा घास जिससे जुलाहे कूचियाँ बनाते हैं, कुश, दर्भ, भूसा, मेवाड देश मे होने वाला तृण विशेष, पर्वतीय तृण विशेष, पुष्प, फल, छाल, नये पत्ते, कद, मूल, घास, लकडी और ककड आदि (सेज्जोवहिस्स अट्ठा) शय्यासस्ता-रक-बिछौनेरूप उपधि—सामग्री के लिए (गेण्हइ) ग्रहण करना तथा (उग्गहे) उपाश्रय मे रही हुई वस्तु को (अदिन्न मि गिण्हउ) बिना दिये—या आज्ञा दिये बिना लेना (न कप्पए) योग्य नहीं है। उपाश्रय की आज्ञा उसके मालिक द्वारा दे दिये जाने पर भी (हणि हणि) प्रतिदिन (उग्गह) उपाश्रय मे स्थित ग्रहण करने योग्य वस्तु के लेने व सेवन करने की (अणुन्नविय) आज्ञा मिलने पर ही (गेण्हियव्व) ग्रहण करना चाहिए। (एव) इस प्रकार (उग्गहसमितिजोगेण) अवग्रहसमिति के योग से (भावितो) सस्कार-युक्त (अतरप्पा) साधु की अन्तरात्मा (निच्च) सदा (अहिकरण-करण-कारावण-पाव-

कम्म-विरते) दोपयुक्त आचरण के करने तथा कराने की पाव क्रियाओ से विरक्त (दत्तमणुन्नायओग्गहरुई) दत्तानुज्ञात वस्तु को ग्रहण करना ही पसद करती है ।

(ततीय) तीसरी शय्यापरिकर्मवर्जनासमितिभावना इस प्रकार है—(पीढ फलग'सेज्जासथारगट्ठयाए) चौकी, पट्टे, शय्या-मकान और तृणादि के विछौने—सस्तारक के निमित्त से (रुक्खा) वृक्ष (न छिंदियव्वा) नहीं काटने चाहिए, (छेदणेण भेदणेण सेज्जा न कारेयव्वा) वृक्षो का छेदन भेदन करके शय्या नहीं वनवानी चाहिए । (जस्सेव उवस्सए वसेज्ज) जिस गृहस्थ के उपाश्रय—धर्मस्थान मे ठहरे निवास करे, (तत्थेव सेज्ज गवेसेज्जा) वहीं शय्या की गवेपणा करे—विधिपूर्वक याचना करे (च) और (विसम) विपम—ऊवडखावड शयनीय स्थान या तख्त वगैरह को (सम न करेज्जा) सम-एक सरीखा न करे (न निवायपवायउस्सुगत्त) हवा के न आने के लिए वद द्वार की या वायु को आने के लिए खिडकी या वारी की उत्सुकता न करे (डसमसगेसु) डास और मच्छरो के होने पर (न खुभियव्व) क्षुब्ध न हो, झुझलाए नहीं, (अग्गी धूमो न कायव्वो) मच्छर आदि भगाने के लिए आग या धुआ नहीं करना चाहिए ।

(एव) इस प्रकार (सजमवहुले) पृथ्वीकायिक आदि जीवो की यतनारूप सयम मे प्रवीण, (सवरवहुले) प्राणातिपात आदि आश्रवो के निरोधरूप सवर मे प्रवर (सवुडवहुले) कषाय एव इन्द्रियो को सवृत्त करने वाला (समाहिवहुले) चित्त की शान्ति-समाधि से युक्त, (धीरे) परिषहो से विचलित न होने वाला धैर्यशाली साधक (काएण फासयतो) केवल मन मे विचार करके ही नहीं, अपितु काया से भी तृतीय सवर का आचरण करता हुआ (सयय) निरन्तर (अज्झप्पज्झाणजुत्ते) आत्मावलम्वी - अध्यात्म ध्यान मे तल्लीन हुआ (समिए) सम्यक् प्रवृत्ति से युक्त साधु (एगे धम्म चरेज्ज) अकेला ही सूत्रचारित्रधर्म का आचरण करे । (एव) इस प्रकार (सेज्जा समितिजोगेण) शय्या के विषय मे निर्दोष सम्यक् प्रवृत्तिरूप योग - चिन्तनयुक्त प्रयोग से (भावितो) सस्कारित (अतरप्पा) साधु की अन्तरात्मा (निच्च) नित्य (अहिकरण-करण-कारावण-पावकम्म विरतो) दोषयुक्त प्रपच करने-कराने के पापकर्म से विरक्त होकर (दत्तमणुन्नाय उग्गहरुई भवइ) दत्तानुज्ञात वस्तु को ग्रहण करना ही पसद करती है । (चउत्थ) चौथी अनुज्ञातभक्तादि भोजन लक्षण। साधारण पिंडपात्रलाभसमिति भावना इस प्रकार है (साहारण पिंडपातलाभ सति) सघ के सर्वसाधारण साधुओ के लिए— सामूहिकरूप से—पिण्डपात भोजन प्राप्त होने पर या भोजन-पात्रादि वस्तु मिलने पर,(सजएण) साधु को(समिय)

सम्यक् प्रकार—या समिति से युक्त (भोतव्व) उसका उपभोग करना चाहिए, (न सायसूपाहिक) साग, दाल अधिक न खाए, (न खद्ध) अच्छे-अच्छे खाद्य पदार्थो को पहले न खाए, (ण वेगिय) कौर को जल्दी-जल्दी न निगले, (न तुरिय) ग्रास को झटपट मुँह मे न डाले, (न चपल) हाथ, गर्दन आदि बहुत हिला-डुलाकर भोजन न करे, (न साहस) विना विचारे सहसा एकदम भोजन पर टूट न पडे, (परस्स य) और दूसरे को (पीलाकर सावज्ज) पीडा करने वाला तथा सावद्य-पापयुक्त (न) भोजनादि न करे। (तह भोतव्व जह से ततियवय) उस प्रकार से भोजनादि करे, जिससे उस साधु का तृतीयव्रत (साधारणपिडपायलाभे) साधारण —सर्वसामान्यरूप मे साघाटिक—सवका इकट्ठा आहार पानी उपधिवस्त्रादि का लाभ—प्राप्त होने पर जो साधु का (सुहुम) सूक्ष्म (अदिन्नादाणवेरमण) अदत्तादानविरमण रूप महाव्रत है वह (न सीदति) जरा भी भग न हो। (एव) इस प्रकार (साहारण पिंडवायलाभे समितिजोगेण) सव साधारण रूप से साघाटिक भोजनपात्रादि का लाभ होने पर इस सम्यक् प्रवृत्ति—समिति के योग-प्रयोग से (भावितो) सस्कारयुक्त (अतरप्पा) साधु का अन्तरात्मा (निच्च) सदा (अहिकरण-करण-कारावणपावकम्मविरते) दूषित आचरण करने-करवाने की पापक्रिया से विरक्त सयमी (दत्तमणुन्नायउग्गहरुई) दत्तानुज्ञात वस्तु के ग्रहण करने की रुचिवाला (भवइ) होता है।

(पचमग) पाचवीं साधर्मिक विनयकरण भावना का स्वरूप इस प्रकार है—(साहम्मिएसु विणओ पउ जियव्वो) साधर्मी साधुओ के प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए। (उवकरण पारणासु) रुग्ण, अशक्त, वृद्ध आदि अवस्थाओ मे दूसरे साधर्मिक-साधुओ का उपकार-वैयावृत्यव्यवहार मे तथा तपस्या के पारणा मे (विणओ) इच्छाकारादिरूप मे विनय का (पउ जियव्वो) व्यवहार करना चाहिए। (वायणा-परियट्टणासु) सूत्र आदि का पाठ पढ़ने मे तथा पढे हुए पाठ की आवृत्ति करने के सम्बन्ध मे (विणओ) वन्दनादि के रूप मे विनय का (पउ जियव्वो) प्रयोग करना चाहिये। (दाण-गहण-पुच्छणासु) भिक्षा मे प्राप्त आहारादि का ग्लान आदि साधुओ को वितरण करने, दूसरे साधुओ द्वारा दिये हुए पदार्थ का ग्रहण करने तथा भूले हुए सूत्रार्थ के विषय मे पूछने के समय (विणओ पउ जियव्वो) विनय-प्रयोग करना चाहिए। (य) और (एवमादिसु) ये और इत्यादि प्रकार के (अन्नेसु कारणसतेसु) दूसरे सैकडो कारणो को लेकर (विणओ पउ जियव्वो) विनय का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि (विणओवि) विनय भी (तवो) तप है, और (तवोवि धम्मो) तप भी धर्म है, धर्म का

एक अग हे। (तम्हा) इसलिए (गुरुसु) गुरुओ का, (साहुसु) साधुओ का (य, एव (तवस्सीसु) तपस्वियो का (विणओ पउ जियव्वो) विनय-व्यवहार करना चाहिए। (एव) इस प्रकार (विणएण) विनय भावना से (भाविओ) भावित—सस्कारित (अतरप्पा) अन्तरात्मा (निच्च) हमेशा (अहिकरण करण-कारावणपावकम्मविरते) दोपयुक्त आचरण करने-कराने के पापकर्म से विरत साधु (दत्तमणुन्नाय उग्गहरुइ) दत्तानुज्ञात पदार्थ को ग्रहण करने मे रुचिवाला (भवइ) हो जाता हे।

(एवमिण) इस प्रकार यह (सवरस्स दार) दत्तानुज्ञातरूप तीसरे सवर का द्वार (सम्म) सम्यक् प्रकार से (सचरिय) आचरित (होइ) हो जाता हे, (सुपणिहिय) भलीभाँति दिल-दिमाग मे स्थिर हो जाता हे। (एव) इस प्रकार पूर्वोक्त पाच भावनाओ से मनवचन काया की सुरक्षा कर लेने पर इस तीसरे सवरद्वार—अचौर्य महाव्रत का भलीभाँति पालन हो जाता हे। (जाव) यावत् (आघविय) भगवान् महावीर द्वारा कथित ह, (यहा तक पूर्वसूत्रोक्त पाठ की तरह समझ लेना चाहिए) तथा यह तृतीय सवरद्वार (सुदेसिय) भगवान् द्वारा समुपदिष्ट हे, (पसत्थ) प्रशस्त - उत्तम है (ततिय) तीसरा (सवरदार) सवर द्वार (समत्त) समाप्त हुआ। (तिवेमि) इस प्रकार मै (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

मूलार्थ—इस अचौर्यव्रत पर सिद्धान्त-प्रवचन भगवान् महावीर ने परद्रव्यहरण से विरतिरूप व्रत की रक्षा के हेतु भलीभाँति फरमाया है, जो कि आत्मा के लिए हितकारी है, जन्मान्तर मे सहायक है, भविष्य मे आत्मा के लिए कल्याणकर है, निर्दोप और न्यायसगत हे। यह कुटिलता से रहित है, सर्वश्रेष्ठ है और सम्पूर्ण दु खो और पापो को विशेप रूप से शान्त करने वाला है।

इस तीसरे दत्तानुज्ञात नामक सवरद्वार की पाच भावनाएँ परद्रव्यहरण से विरतिरूप अचौर्यव्रत की चारो ओर से रक्षा के लिए ह।

पहली विविक्तवासवसतिसमिति भावना है, जो इस प्रकार है—साधु को देवालय, सभा, प्याऊ, सन्यासियो के मठ, वृक्ष के मूलप्रदेश, वाटिका, कन्दराएँ, लोह आदि की खानें, पर्वत की गुफाएँ, लुहार, वढई आदि के काम करने के स्थान या चूना आदि पीसने के घर, वाग-वगीचे, रथ आदि सवारियाँ रखने की यानशालाएँ, घर का सामान रखने के भडार आदि गृह, यज्ञादि के मडप, सूने घर, श्मशान, पर्वतीय गृह, दूकानो या इसी प्रकार के अन्य स्थान, जो पृथ्वी, जल, वीज, हरी दूव, घास आदि वनस्पति

त्रसजीवो से रहित हो, जिन्हे गृहस्थ ने अपने लिए वनवाया हो, ऐसे प्रासुक (जोवजन्तुरहित), स्त्री आदि के निवास से रहित, एकान्त शान्त प्रशस्त उपाश्रय- स्थान मे निवास करना ही योग्य है। जो स्थान आधाकर्मदोप से परिपूर्ण हो, जहाँ पानी छीटा गया हो हरी घास आदि उखाड़ कर झाड-बुहार कर साफ किया गया हो, वदनवार, चौक-पूरण आदि से सजाया गया हो, दर्भ आदि से ऊपर छाया गया हो, खडिया से पोता गया हो, गोवर आदि से लीपा गया हो, एक बार लीपी हुई भूमि को बार-बार लीपा गया हो, ठड मिटाने के लिए आग जलाई गई हो, रोशनो के लिए वर्तन भाडे व घर का सामान एक जगह से उठाकर दूसरो जगह जमाये गए हो, तथा जहाँ पर अदर और बाहर जोवा की असयमरूप विराधना साधुओ के निमित्त हो, ऐसे शास्त्रनिपिद्ध उपाश्रय को साधु वर्जनीय समझे। यानो ऐसे आरम्भदोप से निर्मित स्थान मे साधु न ठहरे। इस प्रकार विविक्तवासवसति (निर्दोप-स्थान मे निवास) रूप समिति (सम्यक् प्रवृत्ति) के योग—चिन्तनयुक्त प्रयोग से सस्कारित साधु का अन्तरात्मा सदा दोपयुक्त आचरण स्वय करने-कराने के पापजनक कर्मों से विरक्त हो जाता हे। और वह दत्तानुज्ञात वस्तु का ग्रहण करना ही पसद करता है।

दूसरी अनुज्ञातसस्तारकग्रहणरूप अवग्रहसमिति भावना है। वह इस प्रकार है—साधु को फूलवाडी, बागबगीचे, नगर के निकटवर्ती जगल या वनप्रदेश मे इक्कड (तृणविशेप), कठिनक (विशेप प्रकार का तृण), जन्तुक (जलाशय मे पैदा होने वाला घास), परा (तृण विशेप), मूज का तृण, जिसकी कूचियाँ वनाई जाती हे—ऐसा तृण विशेप, कुश, दूब, चावलो का पलाल, मेवाडप्रदेश मे पैदा होने वाला तृण विशेप, पर्वज तृणविशेष, फूल, फल, छाल, कोमल पत्ते, कद, मूल, घास, लकडी और ककड आदि वस्तुएँ शय्या या अन्य उपधि वनाने के लिए ग्रहण करना योग्य नही है, उपाश्रय मे भी साधु के ग्रहण करने योग्य कोई चीजे पहले से भी पडी हो, तो भी मालिक के विना दिये या आज्ञा लिय विना ग्रहण करना उचित नही। उपाश्रय—स्थान की आज्ञा उसके मालिक द्वारा दे देने पर भी वहाँ मौजूद अन्य वस्तुओ मे से ग्रहण करने योग्य वस्तु प्रतिदिन उसके मालिक की आज्ञा लेकर ही ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार अवग्रह समिति के योग से यानी ग्रहण करने योग्य वस्तु के सम्बन्ध मे शास्त्रविहितप्रवृत्ति करने से सस्कारित हुई साधु की आत्मा

सर्वदा पापानुष्ठान स्वय करने और दूसरो से करवाने की पापक्रियाओ से निवृत्त होकर दत्तानुज्ञान वस्तु को ग्रहण करना ही पसद करती है।

तीसरी शय्यापरिकर्मवर्जनरूप शय्यासमितिभावना है, जो इस प्रकार है—साधु को चौकी, पट्टे, शय्या-मकान और तृणादि के बिछौने के निमित्त स्वय वृक्ष नही काटने चाहिए और न वृक्षो का छेदन-भेदन करवा कर शय्या मकान तैयार करवाना चाहिए। साधु जिस गृहस्थ के उपाश्रय—स्थान मे निवास करे, वही पर शय्या की गवेपणा करे। शय्या के लिए ऊबडखावड विपम जगह को समतल न करे। हवा को बद करने और उसके आने के लिए उत्सुकता न बताए, न डास और मच्छरो के उपद्रव से घबराए, डास, मच्छर आदि को भगाने के लिए आग न जलाए, न धुँआ करे। इस प्रकार पृथ्वीकायादि जीवो की यतना करने मे प्रवीण, प्राणतिपात आदि आश्रवद्वारो के निरोधरूप सवर मे प्रवर, कपायो पर विजय और इन्द्रियो के दमन से सम्पन्न, चित्त मे स्वस्थता—समाधि से युक्त एव परिपह, उपसर्ग आदि के सहन करने मे धीर साधु केवल मन मे मनोरथ करके ही नही, अपितु काया से भी इस समिति का स्पर्श—आचरण करता हुआ सतत आत्मावलम्बी-अध्यात्म-ध्यान मे तल्लीन व समितियुक्त होकर अकेला चारित्रधर्म का आचरण करे। इस प्रकार शय्यासमिति के योग से अर्थात् शय्या के बारे मे निर्दोप प्रवृत्ति करने से सस्कारसम्पन्न हुई साधु की अन्तरातमा नित्य दोषदुष्ट आचरण के स्वय करने-कराने से जनित पापकर्म से मुक्त होकर दत्तानुज्ञात वस्तु को ग्रहण करने की रुचि वाली होती है।

चौथी भावना अनुज्ञातभक्तादि भोजन लक्षणा साधारणपिंडपात(त्र)लाभ-समिति भावना है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—सघ के सर्वसाधारण साधुओ के लिए साघाटिक—सामूहिक भोजन-वस्त्र-पात्र आदि वस्तुएँ विधिपूर्वक प्राप्त होने पर साधु को उनका उपभोग सम्यक्विधिपूर्वक करना चाहिए। प्राप्त सामूहिक भोजन मे से साग और दाल ही अधिक न खाए, बढिया स्वादिष्ट चीज भी पहले न खाए,कौर आदि को जल्दी-जल्दी न निगले और न कौर को जल्दी-जल्दी मुँह मे डाले,चचलतापूर्वक शरीर के अवयवो को हिलाते-डुलाते हुए भोजन न करे, एकदम भोजन पर टूट न पडे,दूसरो को पीडा पहुँचाने वाले एव सावद्य-पापयुक्त भोजनादि का सेवन न करे। साधारण अर्थात् सामूहिक

भोजन-पान आदि के प्राप्त हो जाने पर साधु को उनका इस प्रकार उपभोग करना चाहिए, जिससे सूक्ष्मरूप से जरा-सा भी अदत्तादानत्यागव्रत के नियम का भग न हो। इस प्रकार साधारण पिडपात या पिंड पात्र के लाभ के विषय मे पूर्वोक्त समिति-योग से—सम्यक्प्रवृत्ति के योग से सस्कारित बनी हुई साधु की अन्तरात्मा सदा दोषयुक्त अनुष्ठान के स्वय करने व दूसरो से कराने से उत्पन्न पापजनक कर्म से विरक्त होकर दत्तानुज्ञातवस्तु का ग्रहण ही पसद करती है।

पाचवी साधर्मिकविनयकारण भावना है, जो इस प्रकार है—साधर्मिक साधुओ के प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए। रोगादि अवस्था मे सेवा द्वारा साधु का उपकार करने मे तथा तपस्या के पारणे मे इच्छाकारादिरूप विनय करना चाहिए। सूत्रादि का पाठ पढने मे तथा पढे हुए पाठ की आवृत्ति करने मे वन्दनादिरूप विनय का आचरण करना चाहिए। भिक्षा मे प्राप्त भोजनादि का अन्य साधुओ को वितरण करने मे, दूसरे साधुओ द्वारा दिये गए पदार्थ को ग्रहण करने मे तथा विस्मृत सूत्रार्थ के बारे मे पूछने के समय वन्दनादि रूप विनय का प्रयोग करना चाहिए। अपने उपाश्रय से निकलते और प्रवेश करते समय भी आवश्यकीय एव नैषधिकी क्रिया द्वारा विनय करना चाहिए। ये और इसी तरह के बहुत से सैकडो दूसरे कारणो को लेकर यथायोग्य विनय व्यवहार साधर्मिक साधुओ के साथ करना चाहिए। क्योकि विनय भी तप है और तप भी धर्म है। इसलिए गुरुओ, साधुओ व तपस्वियो के प्रति विनय का प्रयोग करना हर्गिज नही भूलना चाहिए। इस प्रकार विनय के आचरण से सस्कारयुक्त बनी हुई साधु की अन्तरात्मा नित्य सावद्य आचरण स्वय करने और दूसरो से करवाने की पापक्रियाओ से निवृत्त हो कर दत्तानुज्ञात वस्तु को ही ग्रहण करना पसन्द करती है।

इस प्रकार यह दत्तानुज्ञात नामक तृतीय सवरद्वार मनवचनकाया द्वारा पाच भावना के चिंतन प्रयोग से सुरक्षित होकर साधु के दिल-दिमाग मे सस्काररूप से अच्छी तरह जम जाता है। तभी यह महाव्रत पूर्णतया आचरण मे आता है। इस प्रकार पूर्वोक्त सूत्र पाठ मे बताए अनुसार इन पाचो भावनाओ का चिन्तनप्रयोग जीवन के अन्त तक सदा करना चाहिए। यह भावनायोग समस्त जिनेन्द्रो द्वारा अनुज्ञात है, शुद्ध है, अनाश्रवरूप है, कालुष्यरहित अच्छिद्र, अपरिस्रावी एव असक्लिष्ट है।

इस प्रकार इस तीसरे सवरद्वार का कथन श्री भगवान् महावीर ने किया है, इस प्रकार निरूपण किया है, उपदेश दिया है, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणो से युक्त) यह सवरद्वार प्रशस्त है।

यह तीसरा सवरद्वार समाप्त हुआ, ऐसा मै (सुधर्मास्वामी) कहता हू।

व्याख्या

साधु के लिए तीसरा महाव्रत अदत्तादान विरमण सवर है। साधु जो भी महाव्रत ग्रहण करता है, वह मन, वचन और काया से, कृत, कारित और अनुमोदित रूप से निषेधात्मक तथा विधेयात्मक दोनो रूपो से करता है। इस दृष्टि से अदत्तादान विरमण का निषेधात्मक रूप होता है—मन-वचन-काया से परद्रव्य हरण न करना, न करवाना और न करने वाले का अनुमोदन करना। इसी प्रकार विधेयात्मक रूप होता है—अपने हिस्से की वस्तु का अपने सार्धमिको मे वितरण करना, स्वेच्छा से स्वनिश्चित वस्तु का त्याग करना, निःस्वार्थ भाव से सेवा करना, सर्वस्व समर्पण करके जो भी बचीखुची चीज मिल जाय उसी मे सतुष्ट रहना, अपने शरीर की भी कम से कम आवश्यकताएँ रखना, यहाँ तक कि अपनी मालिकी की वस्तु भी न रखना। विधेयात्मक रूप मे अचौर्य का भी मन, वचन, काया से और कृत, कारित, अनुमोदन रूप से पालन करना होता है।

अचौर्य महाव्रत पर जब हम इन दोनो रूपो की दृष्टि से विचार करते है तो स्पष्ट हो जाता है कि यह महाव्रत भी अहिंसा और सत्य से कम गहन नही है। अत उतनी ही कठिन है—इस व्रत की सुरक्षा भी। इसीलिए अचौर्य महाव्रत की सुरक्षा करने और सैद्धान्तिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता समझाकर साधक के दिल दिमाग मे इसका महत्त्व जमा देने के हेतु शास्त्रकार नपे-तुले शब्दो मे इसकी गुण गाथा और सैद्धान्तिक महिमा प्रगट करते हैं—"इम च परदव्वहरण वेरमण परिरक्खणट्ठयाए पावयण ·· सव्वदुक्ख पावाण विओवसमणं।" इसका अर्थ पहले स्पष्ट कर चुके है।

अचौर्यव्रत की पाच भावनाओ की उपयोगिता—यो देखा जाय तो अचौर्य महाव्रत ही अपने आप मे पूर्ण व्यावहारिक है। अचौर्य का लक्षण हम पहले बता आए हैं। उसमे यह बता दिया गया है कि अर्थहरण के समान ही किसी के अधिकारो का, उपकारो का एव वस्तु तथा शरीरादि के उपयोग का हरण कर लेना भी चोरी है। जब ये सब चोरी मे शुमार है तो साधु को यह सोचना पडेगा कि मैं अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किसी छोटे या बडे साधु के अधिकार पर तो छापा नही मार रहा हूँ? वृद्ध, रोगी या अशक्त साधु को स्वस्थ एव युवक साधु से सेवा लेने का अधिकार है। अगर वह नही करता है तो एक प्रकार से चोरी करता है। इसी प्रकार किसी के उपकारो को भूल जाना या कृतघ्न होकर उसकी निन्दा करना उपकार की चोरी है।

उपकारी का नाम छिपाना भी इसी के अन्तर्गत है। इसी प्रकार किसी वस्तु का आवश्यकता से अधिक उपयोग, ग्रहण या उपभोग करना, या जहाँ जरूरत हो, वहाँ उस वस्तु का उपयोग न करना, इसी प्रकार सशक्त, स्वस्थ शरीर होते हुए भी उससे शास्त्रीय अध्ययन, सेवा या उपकार आदि के कार्य न करना,अपनी शक्ति को छिपाना, समाज को अपनी उर्वरा बुद्धि से स्वस्थ चिन्तन न देना, यह भी एक प्रकार से उपकार की चोरी है।

इसी प्रकार आहारादि वस्तुओ का साधर्मिको मे ठीक ढग से वितरण न करना, अपने हिस्से मे ज्यादा ले लेना या अच्छी चीज ले लेना, वितरण मे पक्षपात करना, किसी को वास्तविक आवश्यकता के अनुसार न देकर अन्याय करना, उसके अधिकारो का हरण करना, ये सब विभाग चोरी के प्रकार अधिकारहरणरूप चोरी के अन्तर्गत आ जाते है। इन सव प्रकार की चोरियो से सर्वथा मुक्त होने पर ही अचौय महाव्रत की पूर्णतया आराधना या साधना हो सकती है। सवाल यह होता है, पूर्वोक्त चौर्य प्रकारो से बचने के लिए तथा इस महाव्रत की पूर्णतया सुरक्षा के लिए तथा साधक मे इस महाव्रत को प्राणप्रण से पालन करने की श्रद्धा, रुचि, उत्साह, तीव्रता और दृढता की लौ जीवन के अन्त तक सतत जलाए रखने के लिए कौन-सा उपाय है ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार इसी उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए पाच भावनाएँ हमारे सामने प्रस्तुत करते है—**'तस्स इमा पच भावणाओ ततियस्स होंति परदव्वहरण-वेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पचहिं कारणेहिं मण-वयण-कायपरिरक्खिएहिं णिच्चं आमरणत च एस जोगो णेयव्वो।'** इन पक्तियो का अर्थ पहले स्पष्ट किया जा चुका है। तात्पर्य यही है कि ये पाच भावनाएँ साधु मे ऐसी स्फूर्ति,प्रेरणा, उत्साह,रुचि, और तीव्रता के सस्कार भर देती है कि वह जीवन की अन्तिम घडी तक इस महाव्रत की रक्षा मे मन-वचन-काय से प्राणप्रण से जुटा रहता है। साधुजीवन की मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति का विशुद्ध और स्वावलम्वी उपाय भिक्षाचर्या बताया है, उसके बारे मे शास्त्रकार ने छठे अध्ययन मे उस भिक्षा-विधि के निर्दोष आचरण की विशद चर्चा की है। परन्तु इस पूर्ति के उपरान्त भी साधुजीवन मे कुछ और शरीर एव मन से सम्बन्धित आवश्यकताएँ है, जिनसे सर्वथा इन्कार नही किया जा सकता। नीचे हम उसका सक्षिप्त दिग्दर्शन करा रहे है—आहार वस्त्रादि के बाद साधु की आवश्यकता निवास-स्थान की है। प्राचीनकाल मे लोग साधुओ को गुप्तचर समझते थे या अपने सम्प्रदाय से भिन्न सम्प्रदाय का देखकर उससे घृणा, द्वेष, वैर-विरोध आदि करते थे। कई बार ठहरने के लिए स्थान नही देते थे। और दूसरी समस्या साधु के सामने यह भी रहती है कि उसे अपने रहने के लिए उसी स्थान की योजना होना है,जिसमे किसी प्रकार का आरम्भसमारम्भ अदर बाहर न होता हो, या

साधु के निमित्त से ही वह न बनाया गया हो साधु के निमित्त किसी स्थान को बनाने मे षड्जीव-निकायों में से किसी जीव की विराधना अनिवार्य है। स्थान के अतिरिक्त साधु को कई बार गृहस्थ ठहरने के लिए ऊबडखाबड अनेक जगह गड्ढे पडे हुए, टूटे फूटे या गंदे मकान बता देता है, उस समय साधु अपना आत्मध्यान छोड कर उसे दुरुस्त कराने, उसका परिकर्म-संस्कार कराने की चिन्ता करता है। साधु सोचने लगता है कि यहां किसी से मांगेंगे या मरम्मत कराने को कहेंगे तो उसे साधुओं के प्रति अश्रद्धा पैदा होगी, क्यों न जगल या बगीचे से घास फूस आदि ले आएँ या मगा लें। जगल तो किसी का नही है,वहा कौन मना करेगा या कौन-सा दोष लगेगा ? क्यो नही इन सार्वजनिक पेडो को काट लें या कटवा ले। गृहस्थ ने भी तो इसी तरह यह मकान बनाया है। शरीर से सम्बन्धित इन तीनो आवश्यकताओं के हेतु उठने वाले इन और ऐसे ही अन्य विकल्पजालो को रोककर साधुजीवन को सही दिशा मे मोडने वाली और अचौर्य महाव्रत के अनुरूप सही चिन्तन तथा तदनुसार प्रयोग करने की प्रेरणा देने वाली अचौर्यव्रत की क्रमश पहली, दूसरी और तीसरी भावना है।

इसके बाद साधुजीवन मे मुख्यतया न्याय और सम्मान की इच्छाएँ होती है। ये दोनो मन से सम्बन्धित हैं। जब साधु यह देखता है कि मैं साधुजीवन मे चारित्र एव मौलिक नियम मर्यादाओं का अच्छी तरह पालन कर रहा हूँ, फिर भी मेरे गुरु, बडे साधु, या अन्य कोई साधु आहारादि आवश्यक वस्तुओं का वितरण करने मे उसके साथ पक्षपात करते है, स्वय सरस और बढिया चीजे लेकर उसे रद्दीसद्दी या तुच्छ चीजें दे देते हैं अथवा अपना बडप्पन जताकर उससे जबरन सेवा लेने, या काम कराने का प्रयत्न करते हैं। रुग्ण,या वृद्ध साधुओ का सशक्त युवक साधुओ से सेवा लेने का अधिकार है, मगर जब सशक्त युवक साधु उनकी सेवा नही करते तो वह अपने को अन्यायपीडित समझकर मन मे व्यथित होता रहता है, अदर ही अदर घुटता रहता है। ऐसी अवस्था मे वह या तो छलकपट करता है या अपने प्रति अप्रीति उत्पन्न हो जाने पर साधु जीवन का त्याग कर देता है। साधर्मिक के साथ प्रीति का तथा पक्षपातवश अधिकार के हरण तथा समान वितरण न करने से वह साधु तृतीय महाव्रत से भ्रष्ट हो जाता है। इन सब विकल्पो को शान्त करके साधक को धैर्य बंधाकर तृतीयमहाव्रत की रक्षा के लिए प्रोत्साहित करने वाली चौथी साधारण-पिंडपात्रलाभ समिति भावना है।

मन से सम्बन्धित दूसरी आवश्यकता है—आदर सम्मान की। साधु भी प्रीति और सत्कार चाहता है, वृद्ध और बुजुर्ग साधु अपने से छोटे साधु का सिर झुका हुआ और हाथ जुडे हुए देखना चाहते हैं,उनका विनय पाने का अधिकार भी है। मगर छोटे से छोटा नवदीक्षित साधु भी परस्पर नम्र व्यवहार की अपेक्षा तो अपने से बडे से भी करता

है, और चाहता है अपने विकास और चारित्रपालन मे वडो का प्रेमपूर्वक सहयोग। मन की इस आवश्यकता—विनयव्यवहार की पारस्परिक पूर्ति जव नही होती तो साधु पराधिकारहरण करने के कारण अपने तृतीय महाव्रत से भ्रष्ट हो जाता है। अत इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु एव तृतीय महाव्रत की रक्षा करने हेतु पाचवी साधर्मिक विनयकरणभावना नियत की गई है।

निष्कर्ष यह है कि साधु जीवन की शरीर और मन से सम्वन्धित इन पूर्वोक्त पाचो प्रकार को मुख्य आवश्यकताओ की पूर्ति करके अचौर्य महाव्रत की सुरक्षा को प्रेरणा देने वाली एव सस्कारित करने वाली पाचो भावनाएँ है। यही इन भावनाओ की उपयोगिता और उपादेयता है। वे पाच भावनाएँ इस प्रकार है—(१) विविक्त-वासवसतिसमितिभावना (२) अनुज्ञातसस्तारकग्रहणरूप अवग्रह समिति भावना (३) शय्यापरिकर्मवर्जनारूप शय्यासमिति भावना (४) अनुज्ञात भक्तादिभोजनलक्षण माधारणपिडपात्रलाभ समिति भावना, और (५) साधर्मिक विनयकरण भावना।

यद्यपि इनके सम्वन्ध मे जितना मूलपाठ है, उसका अर्थ हम पहले स्पष्ट कर आए हे। फिर भी कुछ स्थलो पर विश्लेपण करना और शास्त्रकार का आशय खोलना वहुत जरूरी है, यह समझ कर सक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं—

विविक्तवासवसतिसमितिभावना का चिन्तन और प्रयोग—साधु के लिए अहिसा की दृष्टि से वह स्थान निवासयोग्य नही है, जो उसके निमित्त या उसकी प्ररणा से वना हो, जो उमके लिए खरीदा गया हो, जिसमे अन्दर-वाहर मकान को ठीक कराने के लिए किसी प्रकार का आरम्भ-समारम्भ होता हो, या जहाँ स्त्री, पशु, नपुसक रात्रि को उसी कक्ष मे निवास करते हो,जहाँ साधु रहता हो। इसके विपरीत जो गृहस्थ ने अपने लिए वनाया हो,त्रसस्थावरजीवो से असंसक्त हो,प्रासुक—जीवजन्तु रहित हो,विविक्त, एकान्त हो, वही स्थान साधु के योग्य है। शास्त्र द्वारा निपिद्ध उपाश्रय वही है जिसके लिए शास्त्रकारने मूलपाठ मे सकेत किया है—'**आहाकम्मबहुले सजयाण अट्ठा वज्जेयव्वो सुत्तपडिकुट्ठे**'। इसका अर्थ पहले स्पष्ट कर चुके है। इस भावना को रखने का तात्पर्य यह है कि अपने ठहरने के लिए स्थान की आवश्यकता की पूर्ति के लिए साधु को ऐसा चिन्तन करना चाहिए—"जव इतने सारे वने-वनाए मकान पडे हैं तो नये मकान वनवाने या स्वय वनाने और उसकी चिन्ता मे पडकर क्यो मैं अपना सयम खोऊ। और मकान वनाने मे छहो काया के जीवो की हिंसा होने की सभावना है। तव अहिसा महाव्रत की विराधना होगी। साथ ही अपनी प्रेरणा से कोई स्थान वन जाने पर उस स्थान मे उस साधु की ममता चिपक जाने की भी और दूसरे साधुओं को उसमे ठहराने के लिए आनाकानी की भी सभावना है। यह पराधिकारहरण-रूप चोरी होगी तथा ये दोनों वातें भगवदाज्ञा के विरुद्ध होने से चोरी मे शुमार है। इसलिए निवास के लिए स्थान की आवश्यकता की पूर्ति साधु को अपना तृतीय

महाव्रत उज्ज्वल रखते हुए ही करनी है। साधु को ठहरने के लिए देवमदिर आदि कई स्थान शास्त्रकार ने गिनाए हैं। अगर साधु अपने निमित्त से ठहरने के लिए स्थान बनवाएगा तो उसके टूटने-फूटने पर मरम्मत की चिन्ता करनी पडेगी, जो उस मकान मे रहेंगे, उनके साथ किसी बात पर झगडा भी होने की सभावना है। इस कारण शास्त्रकार ने अपरिग्रही साधु के लिए गृहस्थ के द्वारा बनाए गए मकान मे ठहरने का विधान है। तथा उस मकान से सम्बन्धित अन्य चिन्ताएँ साधु को नही करनी पडेंगी। वह ठीक तरह अपनी महाव्रत साधना कर सकेगा। साधु का अपना मकान न होने पर साधु को किसी जगह ठहरने के स्थान की दिक्कत पड सकती है, लोग मकान देने से कदाचित् आनाकानी कर सकते है,परन्तु गर्मियो मे साधु पेड के नीचे भी या बाग-बगीचे या जगल मे कही भी आसानी से ठहर सकता है, सर्दियो मे थोडा कष्ट पड सकता है, परन्तु अपने निमित्त से या अपना मकान बन जाने पर उसे जो रातदिन चिन्ता होगी, खटपट करनी पडेगी या मकान के खराब हो जाने पर मरम्मत वगैरह का प्रपञ्च करना पडेगा, ये सब कष्ट तो सर्दीगर्मी के कष्टो से भी भयकर होंगे। अत सब ओर से नापतौल करने के बाद साधु को मन मे दृढ निश्चय कर लेना चाहिए कि जैसे साप खुद बिल नही बनाता, वह चूहो आदि के द्वारा बनाए हुए बिल मे ही घुस जाता है, वैसे ही साधु अपने लिए खुद मकान नही बनवाकर गृहस्थो द्वारा अपने लिए बनाए हुए किसी प्रासुक स्थान मे ही ठहरेगा। इस प्रकार के चिन्तन,मनन और दृढ निश्चय मे मन को दृढ सस्कारी बनाकर साधु अचौर्यव्रत का पूर्ण पालन कर सकेगा।

अनुज्ञात सस्तारक भावना का चिन्तन और प्रयोग—साधु अपने बिछौने मे रुई तो भरता नही, वह घास-फूस आदि भरता है। परन्तु घासफूस का आज तो कुछ मूल्य है, लेकिन उस जमाने मे क्या मूल्य था ? कोई भी गृहस्थ कही से भी घास, फूस उठाकर इकट्ठा कर सकता था। अत साधु कही अपने तीसरे महाव्रत को मन से ओझल करके यह सोचने लगे कि घास फूस तो जगल आदि मे यो ही खडा रहता है, उसे कोई पूछता नही है। अत मैं इस सूखे घास को जगल आदि मे से बिछौने के लिए ले आऊ तो क्या हर्ज है ? किन्तु वह यहाँ भूल जाता है कि साधु के लिए 'सव्व से जाइय होइ' सभी चीजें याचना करके ही प्राप्त होती है, इस दृष्टि मे घास आदि भी किसी नागरिक की मालिकी का नहीं है, तो भी वह उस राजा या सरकार का है, जिसकी यह वनभूमि है। इसलिए जरूरत पडने पर अपने ग्रहण करने योग्य सूखी घास, सूखी दूब आदि उसके स्वामी से या सरकार या शासक से मागकर या उसकी अनुमति लेकर उस चीज का ग्रहण करे। जिस उपाश्रय (स्थान) मे साधु अभी रह रहा है वहाँ साधु को अपने योग्य पडी हुई किसी चीज की आवश्यकता हो तो प्रतिदिन या उसदिन उसके स्वामी से अनुमति लेकर उसे ले। इसी बात को

शास्त्रकार यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं—'आरामुज्जाण ज किंचि इक्कड वा ' सक्करादी गेण्हइ सेज्जोवहिस्स अट्ठा न कप्पए उग्गहे '' गिण्हियव्व ।'

यहाँ एक सवाल यह उठ सकता है कि जैन साधु कदमूल, फल, पत्ते, फूल आदि पदार्थ सचित्त होने के कारण कभी ग्रहण नही करते, फिर उन्हे आज्ञा विना लेने का निपेध क्यो किया गया ? इससे यह ध्वनित हो जाता है कि यदि उसका स्वामी आज्ञा दे दे, तो ये लिए जा सकते है ? इसका समाधान यह है कि वैसे तो जैन साधु तिनका, मिट्टी का ढेला आदि कोई भी चीज बिना आज्ञा के ग्रहण नही करता। दूसरे धर्म-सम्प्रदाय के गृहस्थ या साधु लोग जगल आदि मे पडे हुए कन्दमूल आदि लेने मे दोप नही समझते। मगर जैन साधु के लिए तो विना अनुमति या विना पूछे तिनका भी लेने का विधान नही है। इसलिए साधु को सावधान करने के लिए कहा है,किसी के स्वामित्व की चीज न होने पर भी कोई वस्तु साधु के लिए तब तक ग्राह्य नही होती, जब तक उसके स्वामी की अनुमति न मिले। सूखे अचित्त पदार्थों के लिए यही बात समझ लेनी चाहिए । यहा प्रसग शय्या सस्तारक का है। इसलिए कन्दमूल फल की क्या जरूरत थी ? इसका समाधान यो है कि साधु जिस स्थान मे ठहरा हो, वह ऊबडखाबड हो तो उसे समतल बनाने के लिए अगर साधु को अचित्त कदमूल आदि की जरूरत उन खड्डो या छिद्रो को बन्द करने के हेतु पड जाय तो अचित्त कदमूल आदि अनुमति प्राप्त करके लिए जा सकते हैं।

निष्कर्ष यह है कि साधु को मामूली से मामूली अल्पातिअल्प मूल्य की या विना मूल्य की चीज भी उसके स्वामी के द्वारा दिये जाने पर या उसके द्वारा अनुमति दिये जाने पर ग्रहण करनी है। अन्यथा अदत्तादान—चोरी का दोप लगेगा और व्रतभग होगा। इस प्रकार की भावना के चिन्तन के प्रकाश मे चल कर साधु अपने अचौर्य महाव्रत की रक्षा कर सकता है।

शय्यासस्तारकादि परिकर्म वर्जना भावना का चिन्तन—साधु कई दफा ऐसा सोच लेता है कि "दूसरो के स्थान मे ठहरने पर हमेशा उनकी इजाजत लेनी पडती है, अगर अपना खुद का स्थान बन जाय तो फिर किसी से किसी बात की इजाजत की झझट मे पडने की जरूरत ही नही रहेगी और न ही किसी वस्तु का अभाव खटकेगा। साधु होने पर भी दूसरो से इजाजत की यह परतत्रता क्यो ? अत स्वतन्त्रता इसी मे है कि अपना निजी स्थान बनवा लिया जाय। इसके लिए पेड अमुक भक्त दे ही रहा है तो मैं क्यो न काट लू या दूसरो से कटवा-छिलवा लू ।"

परन्तु यह निरी भ्रान्ति है कि इजाजत लेने मे परतन्त्रता है। वास्तव मे देखा जाय तो इजाजत ले कर किसी स्थान पर ठहर जाने से अपनी स्वतन्त्रतापूर्वक चाहे जब तक ठहर सकता है, चाहे जब चला जा सकता है, मगर अपने निजी मकान तो रोज ही रहना पडेगा। रहे चाहे न रहे, सफाई का प्रवन्ध तो करना ही होगा।

और वृक्षो के स्वय काटने—कटवाने पर आरम्भादि पापकर्म के अलावा वृक्षादि को काटने के लिए वृक्ष का जीव साधु को आज्ञा नही देता, अपने शरीर को काटने की। तव वृक्ष के जीव की आज्ञा न होने से विना आज्ञा के वृक्ष को काटना चोरी है। कही मकान या ठहरने का स्थान प्रतिकूल मिलने पर भले हो थोडा कष्ट सहन कर लेना पडे परन्तु उवड-खावड स्थान को स्वय समतल न करे और न हवा वगैरह के वन्द करने या आने के लिए वारी या कपाट की उत्सुकता प्रगट करे। मच्छर आदि को भगाने के लिए न अग्नि जलाए और न धूप आदि से धुआ करे। साधु अपने सवर, सयम, कपायविजय, इन्द्रियनिग्रह आदि उत्तम वातो मे समाधिस्थ हो जाय, अपने मन को आत्मध्यान मे एकाग्र कर ले, चाहे अकेला ही हो, धर्माचरण करे, किन्तु इन वाह्य प्रपचो मे न पडे। इस प्रकार की शय्यासमिति के चिन्तन के प्रकाश मे अपना जीवन सुवासित करे।

साधारण पिंडपात्र लाभ समिति भावना का चिन्तन—साधु यह चिन्तन करे कि मैं तो अपना जीवन अपने गुरु के चरणो में समपण कर चुका, तव मेरा अपना तो कुछ भी नही रहा। यह शरीर भी गुरु, सघ आदि की सेवा के लिए है। सभी सार्धमिको के साथ प्रीति तभी उत्पन्न हो सकती है जव साघाटिक भोजन की मर्यादाओ का पालन करूगा। अत मुझे जो भी आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि भिक्षा विधि से प्राप्त हुए हैं उनका उपभोक्ता मैं अकेला ही नही हू, न मुझे अपने-पराये का भेदभाव करके वितरण मे पक्षपात करना है और न ही अच्छा-अच्छा माल झटपट-गले उतारना ह, न कोई चीज अपने हिस्से मे अधिक ले कर अधिक खानी है, न भोजन आते ही विना भिक्षा विधि का चिन्तन किए एकदम भोजन पर टूट पडना है,न चचलतापूर्वक खडे-खडे या चलते-फिरते ही खाना है,दूसरो को पीडा देने वाला सावद्य भोजनादि वस्तु का भी उपभोग नही करना है। मुझे इस सामूहिक प्राप्त आहारादि मे से इस प्रकार ग्रहण करना या सेवन करना है, जिसमे मेरा अचौर्य महाव्रत भग न हो। मैं अकेला ज्यादा खाऊँगा, पक्षपात करूगा या अन्य दोप सेवन करूगा तो पराधिकारहरण होने से चोरी का भागी वनूँगा। इस प्रकार का चिन्तनसर्वस्व ही इस भावना का प्राण है, जिसके प्रकाश मे चल कर साधक धन्य हो उठता है।

सार्धमिक विनयकरण भावना का चिन्तन—साधर्मिक उसे कहते है, जो समान आचार या धर्म वाला साधु हो। सार्धमिक साधुओ मे परस्पर नैतिक व्यवहार विनय से ही हो सकता है। छोटा साधु वडे साधु के प्रति विनय करे और वडा साधु छोटो के प्रति नम्र और स्नेहिल रहे। अन्यथा विनय व्यवहार न होने से कोई भी अपने से वडे साधु की आज्ञा के विना ही किसी समय कोई अच्छी चीज गृहस्थ के यहाँ से लाकर अकेला ही खा जाएगा या अकेला ही वस्त्रादि का उपभोग कर लेगा।

यह चौर्यवृत्ति है । जो काम बडो से पूछे विना चुपके से होता है, वह प्रच्छन्नवृत्ति चोरी की वहिन है । इसके अलावा सेवा करने या पारणा ला देने का विनय भी सार्धमिको मे परस्पर सहयोग और प्रेम की भावना पैदा करता है । वडो को अपने लिए छोटो से विनय प्राप्त करने तथा सेवा लेने का अधिकार है । विनय न होने पर यह अधिकार का हरण हो जायगा, जिसे चोरी की कोटि मे ही गिना जाएगा। अत. शास्त्रपाठ लेना हो, पाठ दोहराना हो, कुछ देना हो, लेना हो, पूछना हो, उपाश्रय से बाहर जाना हो,अन्दर प्रवेश करना हो या और कोई भी कार्य हो,सर्वत्र परस्पर विनय-व्यवहार से इस महाव्रत मे चमक आएगी, स्वार्थ त्याग की मात्रा वढेगी । साधुओ मे परस्पर स्नेह-सौहार्द, वात्सल्यभाव, नम्रता, सहयोग आदि गुण वढेगे । इस प्रकार के चिन्तन की चादनी मे साधक अपनी साधना करेगा तो वह इस महाव्रत की भी सुरक्षा कर सकेगा, और अपना जीवन भी आनन्दित वना लेगा ।

पाचो भावनाओ के द्वारा प्राप्त होने वाला सुफल ये पाँचो भावनाएँ साधक के अचौर्य महाव्रत की रक्षा तभी कर सकेगी, जव वह साधक प्रतिदिन मन-वचन-काया से इन पाचो भावनाओ का आजीवन चिन्तन और प्रयोग करेगा । इससे प्राप्त होने वाले सुफल के वारे मे पाचो भावनाओ के अन्त मे शास्त्रकार स्वय कहते हैं ' **समितिजोगेण भावितो भवति अतरप्पा निच्च अहिकरण ओग्गहरुई ।'** तात्पय यह कि ये पाचो भावनाएँ चिन्तनमनन करने वाले की अन्तरात्मा को इतना सस्कारी वना देती है कि वह समस्त बुरे आचरणो के करने-कराने से होने वाले पाप-कर्मों से विरक्त होकर हमेशा दिया हुआ या अनुज्ञाप्राप्त पदार्थ ही ग्रहण करना पसद करता है ।

उपसहार—शास्त्रकार इस अध्ययन का उपसहार करते हुए कहते है कि तीसरा दत्तानुज्ञात नामक सवरद्वार भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित, प्रतिपादित एव उपदिष्ट है । कहाँ तक कहे । यह सवश्रेष्ठ और प्रशस्त-मगलमय है ।

इस प्रकार सुबोधिनी व्याख्या-सहित श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र के अदत्तादान-विरमण नामक तीसरे सवरद्वार के रूप मे आठवा अध्ययन समाप्त हुआ ।

नौवाँ अध्ययन : ब्रह्मचर्यसंवर

ब्रह्मचर्य का माहात्म्य और स्वरूप

आठवे अध्ययन मे तृतीय सवरद्वार—अचौर्यमहाव्रत का निरूपण करने के वाद अव शास्त्रकार नौवे अध्ययन चतुर्थ-सवरद्वार के रूप मे ब्रह्मचर्य का निरूपण करते है, वह इसलिए कि अचौर्य का परिपूर्ण रूप से पालन तभी हो सकता है, जव ब्रह्मचर्य का भली-भाति पालन हो। इसलिए ब्रह्मचर्य का निरूपण करना आवश्यक समझकर सर्वप्रथम निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा ब्रह्मचर्य का माहात्म्य और स्वरूप वताते हैं।

मूलपाठ

जवू ! एत्तो य वभचेर उत्तमतवनियमणाणदसण चरित्त-सम्मत्तविणयमूल, यमनियमगुणप्पहाणजुत्त, हिमवतमहंततेयमत, पसत्थगभीरथिमितमज्झ अज्जवसाहुजणाचरित, मोक्खमग्ग, विसुद्धसिद्धिगतिनिलय, सासयमव्वाबाहमपुणब्भव, पसत्थं, सोमं, सुभ, (ख), सिवमचलमक्खयकर, जतिवरसारक्खित, सुचरिय, सुसाहिय, नवरि मुणिवरेहि महापुरिसधीरसूरधम्मियधितिमताण य सया विसुद्ध, भव्व, सव्वभव्वजणाणुचिन्न, निस्सकिय, निब्भय, नित्तुसं, निरायास, निरुवलेव, निव्वुतिघर, नियमनिप्पकप, तव-संजममूलदलियणेम्म. पचमहव्वयसुरक्खिय, समितिगुत्तिगुत्त, झाणवरकवाडसुकय(रक्खण), अज्झप्पदिन्नफलिह, सनद्धोच्छइ-यदुग्गइपह, सुगतिपहदेसग च लोगुत्तमं च वयमिण पउमसर-तलागपालिभूय, महासगडअरगतुबभूय, महाविडिमरुक्खक्खधभूय, महानगरपागारकवाडफलिहभूय, रज्जुपिणिद्धो व इदकेतू विसुद्ध-णेगगुणसपिणद्ध, जमि य भग्गमि होइ सहसा सव्व सभग्गमद्दिय-

मत्थिय-चुन्निय-कुसल्लिय-पव्वयपडिय-खंडिय-परिसडिय-विणासि-य, विणयसीलतवनियमगुणसमूह त बभ भगवत गहगणनक्खत्त-तारगाणं वा जहा उडुपत्ती, मणिमुत्तसिलप्पवालरत्तरयणागराण च जहा समुद्दो, वेरुलिओ चेव जहा मणीण, जहा मउडो चेव भूसणाण, वत्थाण चेव खोमजुयलं, अरविद चेव पुप्फजेट्ठ, गोसीस चेव चंदणाण, हिमवंतो चेव ओसहीण, सीतोदा चेव निन्नगाण, उदहीसु जहा सयभुरमणो, रुयगवरे चेव मडलिक-पव्वयाण, पवरो एरावण इव कु जराण, सीहोव्व जहा मिगाणं, पवरे पवकाण चेव वेणुदेवे, धरणो जह पण्णगइदराया, कप्पाण चेव वभलोए, सभा‌सु य जहा भवे सोहम्मा ठितिसु लवसत्तमव्व पवरा, दाणाण चेव अभयदाण, किमिराओ(उ) चेव कबलाण, सघयणे चेव वज्जरिसभे, सठाणे चेव समचउरसे, झाणेसु य परमसुक्कज्झाण, णाणे सु य परमकेवल तु सिद्धं, लेसासु य परमसुक्कलेस्सा, तित्थकरे जहा चेव मुणीण, वासेसु जहा महा-विदेहे, गिरिराया चेव मदरवरे, वणेसु जह नदणवण पवर, दुमेसु जहा जबू सुदसणा वि(वी)-सुयजसा जीए नामेण य अय दीवो। तुरगवती, गयवती, रहवती, नरवती जह वीसुए चेव राया, रहिए चेव जहा महारहगते। एवमणेगा गुणा अहीणा भवति एक्कमि वभचेरे जमि य आराहियमि आराहिय वयमिण सव्व, सील तवो य, विणओ य, सजमो य, खती, गुत्ती, मुत्ती, तहेव इह-लोइयपारलोइयजसे य, कित्ती य, पच्चओ य। तम्हा निहुएण बभचेर चरियव्व, सव्वओ विसुद्ध जावज्जीवाए जाव सेयट्ठिसजउत्ति, एव भणिय वय भगवया। त च इम—

पचमहव्वयसुव्वयमूल,　　समणमणाइलसाहुसुचिन्न।
वेरविरामणपज्जवमाण,　　सव्वसमुद्दमहोदधितित्थ ॥१॥

तित्थकरेहि सुदेसियमग्ग, नरयतिरिच्छविवज्जियमग्ग ।
सव्वपवित्तसुनिम्मियसार, सिद्धिविमाणअवगुंदार ॥२॥
देवनरिंदनमंसियपूय, सव्वजगुत्तममंगलमग्ग ।
दुद्धरिस गुणनायकमेवक, मोक्खपहस्सवडिंसकभूय ॥३॥

जेण सुद्धचरिएण भवइ सुबंभणो सुसमणो सुसाहू सुइसी सुमुणी स सजए स एव भिक्खू जो सुद्धं चरति बभचेर ।

इमं च रतिरागदोसमोहपवड्ढणकर किमज्झ-पमाय-दोस पासत्थ-सीलकरण अब्भगणाणि य तेल्लमज्जणाणि य अभिक्खण कक्ख-सीस-कर-चरण-वदण - धोवण-सबाहण-गायकम्म-परिमद्द-णाणुलेवण- चुन्नवास- धूवण- सरीरपरिमंडण-वाउसिक, हसिय-भणिय-नट्ट-गोय-वाइय-नड-नट्टक-जल्ल-मल्ल-पेच्छण-वेलबका जाणि य सिंगारागाराणि य अन्नाणि य एवमादियाणि तवसजमबभचेर-घातोवघातियाइ अणुचरमाणेण बभचेरं वज्जेयव्वाइ सव्वकाल । भावेयव्वो भवइ य अतरप्पा इमेहिं तवनियमसीलजोगेहिं निच्चकाल ! किं ते ? अण्हाणक-अदतधावण-सेयमलजल्लधारण मूणवय-केसलोए य खम-दम-अचेलग-खुप्पिवास-लाघव-सितोसिण-कट्ठ-सेज्जा-भूमिनिसेज्जा-परघरपवेस-लद्धावलद्ध-माणावमाण- निंदण-दसमसग-फास-नियम-तव-गुण-विणयमादिएहिं जहा से थिरतरक होइ बभचेर ।

इम च अबंभचेरविरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयण भगवया सुकहियं, पेच्चाभाविक, आगमेसिभद्द, सुद्ध, नेयाउय, अकुडिल, अणुत्तर, सव्वदुक्खपावाण विउसवण ।

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! इतश्च ब्रह्मचर्यम् उत्तमतपोनियमज्ञानदर्शनचारित्र-स विनयमूलम्, यमनियमगुणप्रधानयु ्, हिमवन्महत्तेजस्वि, प्र ग

गुण हैं, उनसे युक्त है, (हिमवतमहततेयमथ) हिमवान् पर्वत से भी महातेजस्वी है, (पसत्थगभीरथिमितमज्झ) जिसके पालन करने से साधको का मध्य-अन्त करण प्रशस्त-उदार, गम्भीर और स्थिर होता है, (अज्जवसाहुजणाचरिय) सरलता से सम्पन्न साधुजनो द्वारा आचरित हे, (मोक्खमग्ग) मोक्ष का मार्ग है, (विसुद्धसिद्धिगतिनिलय) रागद्वेषकालुष्य से रहित-विशुद्ध सिद्धिरूपगति का स्थान है, (सासय) शाश्वत -नित्य है, (अव्वाबाह) क्षुधा आदि बाधा - पीडाओ से रहित है, (अपुणब्भव) इसके पालने से से पुन लौटना, जन्म लेना-- नहीं होता, (पसत्थ) वह प्रशस्त—मगलमय है, (सोम) सौम्यरूप हे, (सुभ) शुभ हे अथवा (सुख) सुखरूप हे, (सिव) उपद्रवरहित या कल्याण रूप हे, (अचल) स्थिर है, (अक्खयकर) पूर्णिमा के चन्द्र की तरह अक्षत हे, अतएव आह्लादकर है अथवा अक्षय-मोक्षपद का कारण है,(जतिवरसारक्खित) उत्तम साधुओ द्वारा इसकी सुरक्षा की गई हे, (सुचरिय) यह श्रेष्ठ आचरण है, (नवरि) केवल (मुणिवरेहि) प्रधान मुनिवरो द्वारा (सुसाहिय) इसकी अच्छी तरह साधना की गई है, (महापुरिसधीर-सूरधम्मियधितिमताण) उत्तम गुणो से युक्त महापुरुषो, धैर्यधारियो मे अत्यन्त महासत्वशाली पुरुषो, धार्मिको एव धृतिमान पुरुषो का (य) ही यह व्रत (सयाविसुद्ध) सदा विशुद्ध —दोषो से रहित होता है,यह (भव्व) कल्याण-रूप है, (सव्वभव्वजणाणुचिन्न) समस्त भव्यजनो द्वारा आचरित है। (निस्सकिय) यह शकारहित हे, इसमे शका को कोई स्थान नहीं, (निब्भय) इसमे भय को भी अवकाश नहीं, (नित्तुस) तुषरहित चावल के समान सारयुक्त है, (निरायास) इसके पालन मे कोई श्रम या खेद नहीं होता, (निरुवलेव) यह आसक्ति या मलिनता के लेप से रहित है, (निव्वुतिघर) यह चित्त की शान्ति का घर है, (नियमनिप्पकप) यह निश्चय से निष्कम्प अपवाद —अतिचाररहित है अथवा इसका नियम अटल होता है, अत अविचल है, (तपसजममूलदलियणेम्म) यह तप और सयम के मूलद्रव्य के समान है, (पचमहव्वयसुरक्खिय) पाच महाव्रतो मे इसका अच्छी तरह रक्षण-जतन अत्यन्त आवश्यक है, (समितिगुत्तिगुत्त) यह पाच समितियो तथा तीन गुप्तियो से सुरक्षित है, (झाणवरकवाडसुकय) उत्तम ध्यानरूपी कपाट से इसका भलीभाति जतन किया जाता है, (अज्झप्पदिन्नफलिह) ध्यानरूपी कपाट को सुदृढ करने के लिए दूसरी अध्यात्म की अनुभूतिरूपी अगला है। (सनद्धोच्छइयदुग्गइपह) जिसके द्वारा दुर्गति का पथ बाधा और रोका जाता है। (सुगतिपहदेसग) यह सुगति का पथ-प्रदर्शक है, (च) और (लोगुत्तम) लोक मे उत्तम, (इण वय) यह व्रत (पउमसरतलाग-पालिभूय) खिले हुए कमलो वाले पद्मसरोवर और तडागरूपी धर्म की रक्षा के लिए

यह पाल के समान है (महासगडअरगतुवभूय) वडे गाडे के आरो के लिए आधारभूत धुरी की तरह यह भी क्षमा आदि गुणो के लिए धुरी रूप है, (महाविडिमरुक्खक्खधभूय) आश्रितो के लिए परम उपकारी विशाल वृक्ष के स्कन्ध की तरह यह भी परमोपकारी धर्म रूप वृक्ष के स्कन्ध के समान है, (महानगरपागारकवाडफालिहभूय) विविध सुख के कारणभूत धर्मरूपी महानगर के परकोटे के कपाट की अर्गला के समान यह भी रक्षक है, (रज्जुपिनद्ध इव इदकेतू) रस्सी से वधी हुई इन्द्रकेतु-महोत्सव की ध्वजा के समान यह ब्रह्मचर्य है। (विसुद्धणेगगुणसपिणद्ध) धैर्य आदि अनेक विशुद्ध गुणो से यह अनुस्यूत है, (जमि य भग्गमि) जिस (ब्रह्मचर्य) के भग होने पर (सहसा) अचानक (सव्व) समस्त (विणयसीलतव-नियम गुण-समूह) विनय, शील, तप, नियम आदि गुणसमूह, (सभग्ग-मद्दिय - मत्थिय-चुन्निय-कुसल्लिय-पव्वयपडिय-खडिय-परिसडिय-विणासिय) घडे के समान फूट जाते हैं, दही की तरह मथ जाते हैं, चने की तरह पिस जाते हैं, वाण से वींधे हुए शरीर की तरह वींधे जाते हैं, पर्वत से गिरे हुए पाषाण की तरह चूर-चूर हो जाते हैं, महल के शिखर से गिरे हुए कलश आदि की तरह नीचे गिर जाते हैं, लकडी के डडे के समान टूट जाते हैं, कोढ आदि से सडे हुए शरीर के समान सड जाते हैं, अग्नि से भस्म हुई लकडी की राख के समान वे अपने अस्तित्व को खो वैठते हैं, (त) इस प्रकार का वह (भगवत) भगवान् (वभ) ब्रह्मचर्य (गहगणनक्खत्त-तारगाण) ग्रहगणो, नक्षत्रो और तारो के बीच मे (जहा उडुपती वा) जैसे चन्द्रमा शोभायमान होता है, वैसे ही दूसरे व्रतो, नियमो आदि मे ब्रह्मचर्य शोभायमान होता है। (मणिमुत्तसिलप्पवालरत्तरयणागराण च जहा समुद्दो) मणि, मोती, शिला, मूँगा, पद्मराज आदि लाल रत्नो की उत्पत्ति का स्थानभूत जैसे समुद्र है, वैसे ही ब्रह्मचर्य अनेक गुणरत्नो का समुद्र है। तथा (वेरुलियो चेव जहा मणीण) मणियो मे जैसे वैडूर्यमणि श्रेष्ठ होती है वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत है, (भूसणाण) आभूषणो मे (मउडो चेव) मुकुट की तरह यह है (वत्थाण चेव खेमजुयल) इसी प्रकार वस्त्रो मे वारीक चिकने रुई के वने वस्त्र उत्तम होते है वैसे ही ब्रह्मचर्य भी है, (अरविंद चेव पुप्फजेट्ठ) फूलो मे ज्येष्ठ जैसे अरविन्द फूल है, वैसे ही ब्रह्मचर्य भी सव मे ज्येष्ठव्रत है, (गोसीस चेव चदणाण) चन्दनो मे गोशीर्ष चन्दन की तरह प्रधान यह ब्रह्मचर्य है, (हिमवतो चेव ओसहीण) औषधियो के लिए हिमवान् पर्वत की तरह यह ब्रह्मचर्य है,

(सीतोदा चेव निन्नगाण) नदियो मे सीतोदा नदी की तरह प्रवर है ब्रह्मचर्य, (उदहीसु जहा सयभूरमणो) समुद्रो मे जैसे स्वयभूरमण समुद्र श्रेष्ठ है वैसे ही ब्रह्मचर्य सबमे श्रेष्ठ है। (रुयगवरे चेव मडलिकपव्वयाण माडलीक पर्वतोमे जैसे रुचकवर पर्वत श्रेष्ठ है वैसे ही ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, (पवरो एरावण इव कु जराण) हाथियो मे इन्द्र के श्रेष्ठ ऐरावत हाथी की तरह महान् ब्रह्मव्रत है। (सीहोव्व जहा मिगाण) सब पशुओ मे सिंह की तरह ब्रह्मचर्य सब मे प्रधान है, (पवरे पवकाणा चेव वेणुदेवे) श्रेष्ठ सुपर्णकुमार देवो मे वेणुदेव के समान (धरणो जह पण्णगइदराया) नागकुमार देवो मे श्रेष्ठ धरणेन्द्र के समान है, (कप्पाण बभलोए चेव) कल्प देवलोको मे उत्तम पाचवें ब्रह्मलोक के समान यह श्रेष्ठ है। (य) तथा (सभासु जहा सुहम्मा) सभाओ मे श्रेष्ठ जैसे सुधर्मा सभा है, वैसे ही ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है (ठितिसु लवसत्तमव्व) आयुष्य मे अनुत्तर-विमान वासी देवो की ७ लव आयु (पवरा) श्रेष्ठ है, (दाणाण) आहारादि - दान मे (अभयदाण चेव) अभय दान के समान है, (किमिराओ चेव कवलाण) कवलो मे कृमिराग नामक रत्न कवल श्रेष्ठ होता है, उसी तरह ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, (सघयणे चेव वज्जरिसभे) यथा सहननो मे वज्रऋषभ नाराच सहनन उत्तम होता है, तथैव ब्रह्मचर्य भी उत्तम है, (सठाणे चेव समचउरसे) सस्थानो मे समचतुरस्र सस्थान श्रेष्ठ है, वैसे ही ब्रह्मचर्य है, (झाणेसु य परमसुक्क ज्झाण) ध्यानो मे सर्वोत्तम परमशुक्लध्यान होता है, तथैव सभी व्रतो मे ब्रह्मचर्य प्रवर है (णाणेसु परमकेवल सुसिद्ध) ज्ञानो मे परम केवल ज्ञान के समान श्रेष्ठरूप मे प्रसिद्ध ब्रह्मचर्य है। (लेस्सासु परमसुक्कलेस्सा) षट् लेश्याओ मे सर्वोत्तम परमशुक्ललेश्या के समान ब्रह्मचर्य है, (मुणीण चेव तित्थयरे जहा) मुनियो मे तीर्थंकर के समान ब्रह्मचर्य उत्तम है। (वासेसु महा-विदेहे जहा) सात क्षेत्रो मे महाविदेह क्षेत्र के समान (गिरिराया मदरवरे चेव) पवतो मे मन्दराचल-सुमेरु पर्वत के समान, (वणेसु नदणवण जहा) वनो मे नन्दन वन के समान, (पवर) श्रेष्ठ है, (दुमेसु जबू जहा) वृक्षो मे जैसे जबू वृक्ष श्रेष्ठ है, तथैव व्रतो मे ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, (सुदसण वीसुयजसा) जबू वृक्ष का प्रख्यातयशवाला दूसरा नाम सुदर्शन है (य) और (जिए) जिसके, (नामेण) नाम से (अयदीवो) यह द्वीप जम्बू द्वीप कहलाता है। जहा जैसे (तुरगवती) अश्वपति, (गयवती) गजपति, (रहवती) रथपति (नरवती) नरपति (राया) राजा (वीसुए चेव) प्रख्यात होता है, से ही व्रतो मे यह विख्यात है। (जहा रहिए राया महारहगते चेव) महान् रथ पर

सवार होकर राजा जैसे अपने शत्रुओं को पराजित कर देता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य भी कर्मशत्रु की सेना को हरा देता है। (एव) इस प्रकार (एक्कमि) एक (बभचेरे) ब्रह्मचर्य के होने पर (अणेगा गुणा अहीना) अनेक गुण आत्मा के अधीन हो जाते है (य) तथा (जमि आराहियमि) जिसकी आराधना कर लेने पर (सव्वमिण वय आराहिय) इस सम्पूर्ण मुनिव्रत की आराधना हो जाती है (सील तवो विणओ य) तथा शील, तप, विनय (य) और (सजमो) सयम, (खती गुत्ती मुत्ती) क्षान्ति, गुप्ति, और मुक्ति-निर्लोभता, (तहेव इसी प्रकार (इहलोइय-पारलोइयजसे कित्ती य) इहलौकिक और पारलौकिक यश और कीर्ति, (य) और (पच्चाओ) प्रत्यय-यह सज्जनो मे अग्रणी है, ऐसी प्रतीति, इन सब गुणो की उपलब्धि ब्रह्मचर्य की आराधना से हो जाती है। (तम्हा इसलिए (सव्वाओ) मन-वचन-काया से (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (जाव सेवट्ठि सजउत्ति) जब तक सयमी साधक के सफेद हड्डियाँ रहे तब तक निहुएण सुद्ध बभचेर चरियव्व) साधक को निश्चल होकर शुद्ध ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करना चाहिए। (एव) आगे कहे अनुसार (भगवया) भगवान् महावीर ने (वय भणिय) ब्रह्मचर्यव्रत का स्वरूप बताया है (त च इम) वह ब्रह्मचर्यव्रत इस प्रकार है—(पचमहव्वयसुव्वयमूल) यह पाँच महाव्रतो और पाच अणुव्रतो का मूल है, अथवा पच महाव्रत रूप उत्तम व्रतो की जड है, या पच महाव्रतधारी श्रमणो के उत्तम नियमो का मूल है। (समणमणाइलसाहुसुचिन्न) निर्दोष श्रमणो ने इसका अच्छी तरह निष्ठापूर्वक आचरण किया है। (वेरविरामणपज्जवसाण) वैर की निवृत्ति करना ही इसका अन्तिम फल है। (सव्वसमुद्दमहोदधितित्थ) सब समुद्रो मे महान् समुद्र-स्वयभूरमण सागर के समान दुस्तर है, अतएव पवित्रता के कारण यह तीर्थ के तुल्य है। (तित्थकरेहि सुदेसियमग्ग) तीर्थंकरो ने इसके पालन का गुप्ति आदि मार्ग-उपाय बताया है। (नरयतिरिच्छ विवज्जियमग्ग) यह नरक और तिर्यंचगति के मार्ग का निवारण करता है। (सव्वपवित्त सुनिम्मियसार) समस्त पवित्र कार्यो को यह सारवान् बनाने वाला है (सिद्धि विमाण अवगुयदार) जिसने सिद्धि-मोक्ष और स्वर्ग के द्वारो को खोल दिया है, (देव नरिंदनमसिय पूय) यह देवेन्द्रो और नरेन्द्रो से नमस्कृत तथा गणधरादि से पूज्य है। (सव्वजगुत्तममगलमग्ग) सारे ससार के उत्तम मगलकार्यो का यहमार्ग रूप है। (दुद्धरिस) दूसरो से इसका पराभव नहीं हो सकता, (एक्क) यह अद्वितीय गुण है, (गुणनायक) गुणो का नेता है अथवा गुणो को प्राप्त कराने वाला है, (मोक्खपहस्स वडिसकभूय) सम्यग्दर्शन

आदि मोक्ष मार्गके शेखर के समान है। (जेण सुद्धचरिएण) जिसके शुद्ध रूप मे आचरण करने से मनुष्य (सुबंभणो) उत्तम ब्राह्मण, (सुसमणो) उत्तम श्रमण, (सुसाहू) अच्छा साधु (सुइसी) श्रेष्ठ ऋषि, (सुमुणी) उत्कृष्ट मुनि (भवति, हो जाता है। (स सजए) वही सयमी है, (स एव भिक्खू) वही भिक्षु है, (जो बभचेर सुद्ध चरति) जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करता है।

(इमच) तथा आगे कहे जाने वाले (रति राग दोस मोह-पवड्ढणकर) विषयराग, स्नेहराग, द्वेष और मोह की वृद्धि करने वाले (किमज्झ - पमाय-दोस पासत्थसीलकरण) नि सार कुत्सित मध्यमप्रमाद या प्रमाद ही मध्य है, उस प्रमाद दोष के कारण बने हुए पार्श्वस्थ-साध्वाभासो के शील-आचार का सर्वथा त्याग करे (य अब्भगणाणि) और घी, तेल आदि से मर्दन, (तेल्ल मज्जणाणि य) तथा तेल लगाकर स्नान करना, (अभिक्खण) बारबार (कक्ख-सीस कर चरण वदण-धोवण सवाहण-गायकम्म-परिमद्दणाणुलेवण-चुन्नवास-धूवण-सरीरपरिमडण - बाउसिक) काख, सिर, हाथ, पैर, मुह धोना, इनको दबवाना-दबाना, शरीर की पगचपी कराने के रूप मे गात्रपरिकर्म, सम्पूर्ण शरीर मलना, चदनादि का लेप करना, सुगन्धित चूर्ण-पाउडर लगाना, अगरबत्ती आदि से धूप देना, शरीर को सजाना, शृगार करना, नख, केश वस्त्रादि का सवारना आदि बाकुशिक कर्म, तथा (हसिय भणिय नट्टगीय-वाइय-नडनट्टकजल्लमल्लपेच्छणवेलबक) हसना, बिकारयुक्त बोलना, नृत्य देखना, गीत गाना, बाजे बजाना, नट, नर्तक-नाचने वाले, रस्सी पर खेल दिखाने वाले, तथा पहलवानो और भाडो के खेल तमाशे या कुश्ती आदि देखना (य) और (जाणि) जो (सिगारा-गाराणि) शृगार रस के एक तरह से घर हैं (अन्नाणि य एवमादियाणि) दूसरी भी इसी प्रकार की जो बातें हैं, (तवसजमबभचेरघातोवघातियाइ) जो तपस्या, सयम और ब्रह्मचर्य का थोडा घात या बारबार अधिक उपघात करने वाली हैं, (बभचेर अणुचर-माणेण सव्वकाल वज्जेयव्वाइ) ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले को ये सब बातें सदासर्वदा छोड देनी चाहिए, इन्हे वजनीय समझना चाहिए। (य) तथा (इमेहिं) आगे कहे जाने वाले (तव नियमसील जोगेहि)तप, नियम, और शील के व्यापारो-प्रवृत्तियो द्वारा(निच्चकाल) नित्य निरतर (अतरप्पा भावेयव्वो) अन्तरात्मा भावित-सस्कारित करना चाहिए। (किं ते ?) वे व्यापार या प्रवृत्तियाँ कौन-कौन-सी हैं ? (अण्हाणक-दतधावण-सेयमल-जल्लधारण मूणवय केसलोए य खमदमअचेलग-खुप्पिवास-लाघव-सीतोसिणकट्ठसेज्जा भूमिनिसेज्जा-परघरपवेस-लद्धावलद्ध-माणावमाण - निंदण-दसमसगफास-नियम-तव-गुण-विणय-मादिएहिं) स्नान न करना, दात साफ न करना, पसीना, मैल या शरीर

के मैल विशेष को धारण करना, मौनव्रत रखना, केशलोच करना, क्षमा, दम, अचेलकतता-वस्त्ररहिता या अल्पजीर्ण वस्त्र धारण करना,क्षुधा और पिपासा सहन करना, लघुता धारण करना, सर्दी-गर्मी सहना, काष्ठ की शय्या पर सोना, भूमि पर बैठना, भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर जाना, भिक्षा आदि के मिलने पर अभिमान तथा न मिलने पर या कम मिलने पर अपमान-दैन्य न दिखाना, निन्दा सहन करना, डास व मच्छर के स्पर्श सहना, नियम-उत्तर गुण, तपस्या, मूलगुणादि और विनय इत्यादि मे अन्तरात्मा को सम्यक् प्रकार से भावनायुक्त-सस्कारसम्पन्न बनाना चाहिए। (जहा) जिससे इन सब के योग से (य) उस ब्रह्मचारी का (बभचेर) ब्रह्मचर्य (थिरतरक होइ) अत्यन्त स्थिर हो जाता है।

(च) तथा (इम) यह (पावयण) ब्रह्मचयरूप सिद्धान्त प्रवचन (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने, (अवभचेर विरमण परिरक्खणट्ठयाए) अब्रह्मचर्य से विरति एव ब्रह्मचर्य सवर की परिरक्षा के लिए (सुकहिय) सुन्दर ढग से कहा है, जो (पेच्चाभाविय) जन्मान्तर मे सहायक (आगमेसिभद्द) भविष्य मे कल्याणकर (सुद्ध) निर्दोष, (नेआउय) न्यायसगत, (अकुडिल) कुटिलता से रहित (अणुत्तर) श्रेष्ठ और (सव्वदुक्खपावाण) सभी दुखो और पापो को (विउसवण) शान्त करने वाला है।

मूलार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रधान शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—हे जम्बू! अदत्तादान त्याग व्रत के अनन्तर ब्रह्मचर्यव्रत का वर्णन करता हूँ। यह ब्रह्मचर्यव्रत उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है, अहिंसा एव सत्यादि पचमहाव्रतरूप यम तथा अभिग्रहादिरूप नियम के प्रधान गुणो से युक्त है। यह हिमवान पर्वत से भी महा तेजस्वी है। इसका पालन करने वाले साधको का अन्त करण विशाल, उदार, गम्भीर और स्थिर हो जाता है। सरलस्वभावी साधुमहात्माओ ने इसका आचरण किया है, यह मोक्ष का मार्ग है, रागद्वेपादि से रहित विशुद्ध सिद्धिगति का आश्रय है। यह शाश्वत-नित्य, बाधारहित, पुन उत्पत्ति न होने का कारण है, यह श्रेष्ठ है, सौम्य है, शुभ या सुख का कारण है, कल्याणकर्ता है, स्थिरता का कारण है, अक्षय—मोक्ष का कारण है, उत्तम साधुजनो ने इसकी सुरक्षा की है, यह श्रेष्ठ आचरण है, केवली मुनिवरो ने इसका सरहस्य निरूपण किया है। जाति, कुल आदि गुणो से उत्तम महापुरुषो एव धैर्यधारियो मे महासत्व पराक्रमी पुरुषो, धर्मप्राण एव धैर्यवान् पुरुषो का ही यह व्रत सब अवस्थाओ मे विशुद्ध निर्मल रहता है। यह भव्य व्रत है, समस्त भव्यजन

आदि मोक्ष मार्गके शेखर के समान है। (जेण सुद्धचरिएण) जिसके शुद्ध रूप मे आचरण करने से मनुष्य (सुबभणो) उत्तम ब्राह्मण, (सुसमणो) उत्तम श्रमण, (सुसाहू) अच्छा साधु (सुइसी) श्रेष्ठ ऋषि, (सुमुणी) उत्कृष्ट मुनि (भवति, हो जाता है। (स सजए) वही सयमी है, (स एव भिक्खू) वही भिक्षु है, (जो बभचर सुद्ध चरति) जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करता है।

(इमच) तथा आगे कहे जाने वाले (रति राग दोस मोह-पवड्ढणकर) विषयराग, स्नेहराग, द्वेष और मोह की वृद्धि करने वाले (किमज्झ - पमाय-दोस पासत्थसीलकरण) नि सार-कुत्सित मध्यमप्रमाद या प्रमाद ही मध्य है, उस प्रमाद दोष के कारण बने हुए पार्श्वस्थ-साध्वाभासो के शील-आचार का सर्वथा त्याग करे (य अब्भगणाणि) और घी, तेल आदि से मर्दन, (तेल्ल मज्जणाणि य) तथा तेल लगाकर स्नान करना, (अभिक्खण) बारबार (कक्ख-सीस कर चरण वदण-धोवण सवाहण-गायकम्म-परिमद्दणाणुलेवण-चुन्नवास-धूवण-सरीरपरिमडण - बाउसिक) काख, सिर, हाथ, पैर, मुह धोना, इनको दबवाना-दबाना, शरीर की पगचपी कराने के रूप मे गात्रपरिकर्म, सम्पूर्ण शरीर मलना, चदनादि का लेप करना, सुगन्धित चूर्ण-पाउडर लगाना, अगरबत्ती आदि से धूप देना, शरीर को सजाना, शृगार करना, नख, केश वस्त्रादि का सवारना आदि बाकुशिक कर्म, तथा (हसिय भणिय नट्टगीय-वाइय-नडनट्टकजल्लमल्लपेच्छणवेलबक) हसना, बिकारयुक्त बोलना, नृत्य देखना, गीत गाना, बाजे बजाना, नट, नर्तक-नाचने वाले, रस्सी पर खेल दिखाने वाले, तथा पहलवानो और भाडो के खेल तमाशे या कुश्ती आदि देखना (य) और (जाणि) जो (सिगारा-गाराणि) शृगार रस के एक तरह से घर हैं (अन्नाणि य एवमादियाणि) दूसरी भी इसी प्रकार की जो बातें हैं, (तवसजमबभचेरघातोवघातियाइ) जो तपस्या, सयम और ब्रह्मचर्य का थोडा घात या बारबार अधिक उपघात करने वाली हैं, (बभचेर अणुचर-माणेण सव्वकाल वज्जेयव्वाइ) ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले को ये सब बातें सदासर्वदा छोड देनी चाहिए, इन्हे वर्जनीय समझना चाहिए।(य) तथा (इमेहिं) आगे कहे जाने वाले (तव नियमसील जोगेहिं)तप, नियम, और शील के व्यापारो-प्रवृत्तियो द्वारा(निच्चकाल) नित्य निरतर (अतरप्पा भावेयव्वो) अन्तरात्मा भावित-सस्कारित करना चाहिए। (किं ते ?) वे व्यापार या प्रवृत्तियां कौन-कौन-सी हैं ? (अण्हाणक-दतधावण-सेयमल-जल्लधारण मूणवय केसलोए य खमदमअचेलग-खुप्पिवास-लाघव-सीतोसिणकट्ठसेज्जा भूमिनिसेज्जा-परघरपवेस-लद्धावलद्ध-माणावमाण - निंदण-दसमसगफास-नियम-तव-गुण-विणय-मादिएहिं) स्नान न करना, दात साफ न करना, पसीना, मैल या शरीर

इसका आचरण करते है, यह शंका से रहित है, इसमे भय को कोई स्थान नही है, यह तुपरहित चावल के समान सारयुक्त वस्तु है, इसमे किसी प्रकार के खेद को अवकाश नही है, मालिन्य के लेप की गुंजाइश नही है, यह चित्त की परमशान्ति—निवृत्ति का घर है, इसका नियम अचल है, यानी अतिचार—अपवाद को इसमे स्थान नही है, तप और सयम का यही (ब्रह्मचर्य ही) मूल है, पाचो महाव्रत इससे सुरक्षित रहते है अथवा पचमहाव्रतो मे इसका रक्षण-जतन अत्यन्त आवश्यक है। यह पॉच समितियो और तीन गुप्तियो से सुरक्षित है, उत्तम ध्यान रूपी कपाट से इसकी भलीभाति रक्षा की जाती है और ध्यानरूपी कपाट को सुदृढ करने के लिए अध्यात्म-अनुभव ज्ञानरूप उपयोग की अर्गला लगाई जाती है। इसके जरिये दुर्गति का मार्ग बाधा और रोका जाता है, यह उत्तमगति का पथप्रदर्शक है, पद्मसरोवर एव तालाब के समान शुद्ध धर्म की रक्षा के लिए यह लोकोत्तम व्रत पाल है,बडी गाडी (महाशकट) के पहिय मे लगे हुए आरो का आधार जैसे उसकी धुरी (नाभि)होती है वैसे ही जीवन रूपी गाडी के गुण रूपी आरो के आधारभूत धुरी के समान ब्रह्मचर्य है। बडी शाखाओ वाले धर्म रूपी महावृक्ष का यह स्कन्ध (तना) है। धर्मरूपी महानगर के कोट के कपाटो के लिए यह लोहदड -आगल के समान विपत्ति से रक्षा करने वाला है, रस्सी से परिवेष्टित महोत्सवध्वज-इन्द्र ध्वज के समान सुशोभित है, यह धैर्य आदि अनेक निर्मल गुणो से परिवेष्टित है। इस व्रत का भग होने पर विनय, शील, तप आदि सब गुणसमूह मिट्टी के घड़े के समान एक दम नष्ट हो जाते है, दही के समान मथ जाते है -मर्दित हो जाते है, चने के समान पिस जाते है, बाण से बीधे हुए शरीर के समान विंध जाते है, महल के शिखर से गिरे हुए कलश के समान नीचे गिर जाते हैं लकडी के दण्ड के समान टूट जाते है, कोढ आदि से सडे हुए शरीर के समान सड जाते है और अग्नि मे जलकर भस्म हुई लकडी की राख के के समान अपना अस्तित्व खो बैठते है। इस प्रकार प्रशस्त लक्षणो से युक्त वह भगवान् ब्रह्मचर्य ग्रहगणो, नक्षत्रो और तारो के बीच मे चन्द्रमा के समान सब व्रतो के बीच मे सुशोभित है। जैसे समुद्र चन्द्रकान्त आदि मणि, मोती, शिला, मूंगा और पद्मरागादि रक्त रत्नो की खान है, वैसे ही ब्रह्मचर्य भी अनेक गुणरूप रत्नो की खान है। मणियो मे वैडूर्य मणि जैसे श्रेष्ठ है,

वैसे ही व्रतो मे ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है। आभूपणो मे जैसे मुकुट प्रधान आभूपण है, वैसे ही व्रतो मे ब्रह्मचर्य प्रधान है। सव वस्त्रो मे बारीक चिकने रूई के बने हुए वस्त्र उत्तम होते है, वैसे ही ब्रह्मचर्य सवमे उत्तम है। सब पुष्पो मे प्रधान कमल के समान व्रतो मे प्रधान ब्रह्मचर्य है, समस्त चन्दनो मे गोशीर्पचन्दन के समान श्लाघनीय है। सव औपधियो के जनक हिमवान् पर्वत की तरह यह भी सब व्रतो का जनक है, समस्त नदियो मे सीतोदा नदी के समान विशाल है। सब समुद्रो मे स्वयम्भूरमण समुद्र के समान महान् है, वलयाकार—गोल चक्राकार पर्वतो के बीच मे तेरहवें द्वीप मे स्थित रुचकवर पर्वत के समान यह सवसे श्रेष्ठ है। समस्त हाथियो मे ऐरावन हाथी के समान प्रशस्त है। सब पशुओ पर सिंह के आधिपत्य के समान यह समग्र व्रतो पर आधिपत्य रखने वाला है। सुपर्ण कुमार देवो मे वेणुदेव इन्द्र के समान ब्रह्मचर्य प्रधान है। असुरजाति के नागकुमार देवो मे धरणेन्द्र के समान प्रभुताशाली है, कल्पवासी देवलोको मे ब्रह्मलोक के ममान प्रशस्त है, समस्त सभाओ मे सुधर्मा सभा के समान आदरणीय है। सब स्थितियो मे अनुत्तर वैमानिक देवो की सात लव-रूप उत्कृष्ट स्थिति के समान यह सव व्रतो मे उत्कृष्ट है, आहारादि सब दानो मे अभय दान की तरह उत्तम व्रत है, समस्त कबलो मे किरमिची रग के विशेप कबल के समान यह सव व्रतो मे विशिष्ट है। छह सहननो मे वज्रऋपभनाराच सहनन के समान यह परमोत्कृष्ट है। छह सस्थानो मे समचतुरस्र सस्थान के समान यह व्रतो मे प्रधान है। मति, श्रुत आदि पाच ज्ञानो मे क्षायिक केवलज्ञान के समान यह श्रेष्ठ और सिद्ध-सम्पूर्ण है अथवा परमपूज्य व प्रसिद्ध है। छह लेश्याओ मे परमशुक्ल लेश्या के समान यह पवित्र व्रत है। इसी प्रकार मुनियो मे जैसे तीर्थंकर जगद्वद्यहै वैसे ही यह जगद्वद्य व्रत है। भरतादि क्षेत्रो मे महाविदेह के समान यह प्रशस्त है, सब पर्वतो मे गिरिराज मन्दराचल के समान यह सर्वोच्च है, सब वनो मे नदनवन के समान यह मनोहर है। सभी वृक्षो मे जम्बूवृक्ष के समान श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीप मे इस जम्बूवृक्ष का दूसरा नाम और यश सुदर्शन के नाम से भी प्रसिद्ध है, इसी वृक्ष के नाम पर इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पडा है। जैसे अश्वपति, गजपति, रथपति और नरपति राजा विख्यात होता है, वैसे ही यह ब्रह्मचर्य भी विख्यात है। रथ पर सवार होकर युद्ध करने वाला जैसे राजा महान् रथ पर सवार होकर शत्रुओ

को पराजित कर देता है वैसे ही इस व्रत का धारण करने वाला साधु कर्मशत्रुओ की सेना को पराजित कर देता है, अथवा उपद्रवो को परास्त कर देता है। इस प्रकार सिर्फ एक ब्रह्मचर्य व्रत के होने पर अनेक गुण आत्मा के अधीन हो जाते है। इस ब्रह्मचर्य की आराधना करने पर सम्पूर्ण मुनिव्रतो का आराधन हो जाता है, नथा शील, तप, विनय, सयम, क्षमा, गुप्ति मन-वचन-काया का नियत्रण), मुक्ति निर्लोभता, तथा इहलोक और परलोक सम्ब धी यश (एक देश व्यापी), कीर्ति (सर्व देशव्यापिनी) और प्रतीति का पालन इस एक व्रत से हो जाता है। इस लिए जीवन पर्यन्त जब तक सयमी साधु के शरीर मे सफेद हड्डियाँ शेष रहे तब नक स्थिरचित्त होकर मन, वचन, काया से सर्वतो विशुद्ध ब्रह्मचर्य का आचरण करना चाहिए। भगवान् महावीर प्रभु ने ब्रह्मचर्य व्रत का स्वरूप इस (आगे कहे जाने वाले) प्रकार से बताया है—

यह ब्रह्मचर्य महाव्रत पचमहाव्रत रूप जो उत्तमव्रत है, उनका मूल है, अथवा पाच महाव्रतो और पाच अणुव्रतो का मूल है। निर्दोष साधुओ ने भावपूर्वक सम्यक् प्रकार से इसका आचरण किया है, वैर को शात-निवृत्त करना ही इसका अन्तिमफल है। समस्त समुद्रा मे महान् स्वयम्भूरमण समुद्र के समान दुस्तर है, पवित्रता के कारणभूत तीर्थ के समान परमपवित्र है। अथवा स्वयम्भूरमण ममुद्र के समान विस्तीर्ण ससार सागर से पार करने वाला तीर्थ है ॥१॥

तीर्थकरो ने समिति, गुप्ति आदि से इसके पालन करने का उपाय बताया है। यह नरक और तिर्यग्गति के मार्ग का निवारण करने वाला है। यह सपूर्ण पवित्र कार्यों को सारवान् बनाने वाला है। इसने सिद्धि-मुक्ति तथा स्वर्ग विमानो का मार्ग खोल दिया है ॥२॥

यह देवेन्द्रो और नरेन्द्रो द्वारा नमस्कृत एव गणधरादि द्वारा पूजित है। यह सारे जगत् के मगलमय कार्यों का मार्ग हे। इसका कोई पराभव नही कर सकता, यह दुर्धर्प है। यह समस्त गुणो का एकमात्र नायक है, यह सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष मार्ग का शेखर (शिरोभूपण) है, प्रधान है ॥३॥

इमका शुद्ध रूप मे आचरण करने से ही मनुष्य उत्तम ब्राह्मण होता हे, सुश्रमण होता ह, स्वपर कल्याण को साधने वाला साधु होता हे, श्रेष्ठ ऋषि— परमार्थद्रष्टा होता है, जगत् के तत्त्वो पर मनन करने वाला सुमुनि होता है। वही सयमी है, वही भिक्षु है, जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करता है।

यह तो इन्द्रिय विषयों के प्रति रति-प्रीति, पिता आदि के प्रति आसक्ति (राग), द्वेष, मोह-मत्तता को बढ़ाने वाले तथा कुत्सित हृदय बना देने वाले प्रमाद दोष अथवा साधु के लिए आचरणीय हर प्रवृत्ति के लिए इस प्रकार कहना कि 'इसमें क्या रखा है ?' इस प्रकार के प्रमाददोषयुक्त ज्ञानाचारादि से बहिर्वर्ती पार्श्वस्थों—साध्वाभासों के आचरण जैसा आचरण बना लेना, घी, तैल आदि को मालिश करना, तेल लगा कर स्नान करना, निरन्तर काख, सिर, हाथ, पैर और मुंह धोना, हाथ पैर आदि को दबवाना, शरीर के अवयवों को सवारना, शरीर का अच्छी तरह मर्दन करना, चंदन आदि का लेप करना, सुगन्धित चूर्ण (पाउडर) से शरीर तथा वस्त्रादि को सुगन्धित करना, अगरबत्ती आदि से धूप देना, शरीर को सजाना तथा नख केश एवं वस्त्रादि को संवारना—ये सब बाकुशिक (बकुश-चितकबरे चारित्र वाले) कर्म करना तथा ठहाका मार कर हंसना, विकारसहित बोलना, नाच देखना, अश्लील गीत गाना या सुनना वाद्य बजाना या सुनना, नटों के खेल तमाशे, नर्तकों के नाच, रस्साबाजों की विविध कलाबाजियां और पहलवानों की कुश्तियां देखना तथा विदूषकों के तमाशे देखकर तदनुकूल हास्य चेष्टाएँ करना, तथा जो वस्तुएँ शृंगार रस की घर हैं, इस प्रकार की दूसरी बातें भी जो संयमी साधु के तप, संयम और ब्रह्मचर्य की घातक और उपघातक हैं, वे ब्रह्मचर्य का निरन्तर आचरण करने वाले के लिए सदा-सर्वदा वर्जनीय हैं, यानी ब्रह्मचर्य का साधक इन सब अब्रह्मचर्यवर्द्धक—कामोत्तेजक बातों से दूर रहे। इन आगे कहे जाने वाले तप, नियम और शील के प्रवृत्ति योगों से ब्रह्मचर्यसाधक अन्तरात्मा को नित्य-निरन्तर भावित करे, यानी इन संस्कारों से जीवन को सुदृढ़ करे वे कौन-कौन से प्रवृत्तियोग हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—स्नान न करना, दंत-धावन न करना, पसीने का मैल और शरीर के अन्य मैल विशेषों का धारण करना, मौनव्रत रखना, केशलोच करना, क्षमा, (कष्ट सहिष्णुता या तितिक्षा), इन्द्रियदमन आचेलक्य वस्त्राभाव या कमवस्त्र रखना, क्षुधा-पिपासा सहन करना, लघुता-द्रव्य से अल्प उपकरण रखना और भाव से नम्रता रखना, सर्दी-गर्मी सहना, श्रेष्ठ शय्या या भूमि पर बैठना, तमाम आवश्यक वस्तुओं की याचना के लिए दूसरे के घर में प्रवेश करना, अभीष्ट आहार आदि के मिलने पर मान और न मिलने पर दैन्य न करना, निन्दा सहन करना, डांस-मच्छर आदि का

स्पर्श सहना अथवा इन सबके उपस्थित होने पर अभिग्रह आदि नियम, अनशन आदि तप, मूलगुण-उत्तर गुणरूप गुण और विनय आदि योगो—मनवचन-काया के प्रवृत्तिप्रयोगो से अन्तरात्मा को ब्रह्मचर्य के सुसस्कारो से युक्त करले, जिससे ब्रह्मचर्य अत्यन्त स्थिर हो जाय।

ब्रह्मचर्य पर यह सैद्धान्तिक प्रवचन भगवान् महावीर ने अब्रह्मचर्य से विरति रूप ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए अच्छी तरह से कहा है, जो जन्मान्तर मे सहायक होता है, भविष्य मे कल्याण करने वाला है, निर्दोष है, न्यायसगत है, कुटिलता से रहित है, सर्वोत्कृष्ट है और समस्त दु खो एव पापो का उपशमन करने वाला है।

व्याख्या

शास्त्रकार ने इस ब्रह्मचर्य महाव्रत की सम्यक् आराधना करने वालो को सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य का माहात्म्य और स्वरूप समझाया है। ब्रह्मचर्यविघातक बाते, जो ब्रह्मचारी के लिए वर्जनीय है, उनका प्रतिपादन करके तत्पश्चात् ब्रह्मचर्य-साधक बातो का निर्देश किया है। अन्त मे, ब्रह्मचर्यप्रवचन का महत्त्व बताया है। ब्रह्मचर्य की महिमा पर शास्त्रकार ने सारगर्भित शब्दो मे निरूपण किया है। यह निरूपण काफी गभीर अर्थ ध्वनित करता है। इसलिए यहाँ खास-खास स्थलो पर व्याख्या करना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य की महिमा—ब्रह्मचर्य भारतीय महापुरुषो के मस्तिष्क की सर्वोत्तम उपज और ससार को सर्वोत्कृष्ट देन है। भारत का कोई भी धर्म ब्रह्मचर्य को छोड कर नही चलता। क्या वैदिक, क्या बौद्ध और क्या जैन, तीनो धर्मो की धाराओ मे ब्रह्मचर्य अस्खलितरूप से प्रवाहित हो रहा है। साधु और गृहस्थ दोनो के जीवन मे ब्रह्मचर्य आवश्यक है। भले ही गृहस्थ मर्यादितरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करता हो। ब्रह्मचर्य को केन्द्र मे रख कर ही तप, जप या नियम आदि की सभी साधनाएँ चलती हैं। इसलिए अपने अनुभव के आधार पर शास्त्रकार ने ब्रह्मचर्य की गुणगाथाएँ गाई है।

सवाल होता है ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत क्यो गाए? इससे साधक के जीवन को क्या लाभ है? तथा ब्रह्मचर्य की गुणगाथा शास्त्रकार न गाते तो क्या हानि थी? इसका समाधान यह है कि किसी भी वस्तु का महत्त्व और माहात्म्य जब तक कोई व्यक्ति नही समझेगा, जब तक वह उसमे रहे हुए गुणो को हृदयगम नही कर लेगा या उसमे होने वाले उत्तम लाभ को नही समझ लेगा, तब तक वह उसमे या उसके आचरण मे प्रवृत्त नही होगा। और यदि कदाचित् श्रद्धावश या अबोधतावश

उसमे प्रवृत्त हो भी जायगा तो आगे चल कर वह उस पर अन्त तक टिका नही रह सकेगा, सकट आते ही वह तुरन्त उसकी साधना से आखे फिरा लेगा। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि कोई भी समझदार आदमी तभी किसी साधना या कार्य मे प्रवृत्त होता है, जब उसके सामने उस वस्तु के लाभ और उस की महत्ता के पहलू स्पष्ट हो जाते है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने पहले ब्रह्मचर्य की महिमा बता कर बाद मे ही उसके स्वरूप तथा उसकी रक्षा के लिए अन्यान्य बाते छेडी है। यद्यपि माहात्म्य का वर्णन मूलार्थ तथा पदान्वयार्थ से स्पष्ट है, तथापि कुछ पर विश्लेषण करना जरूरी है।

उत्तमतवनियमनाणदसणचरित्तसम्मत्तविणयमूल इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य एक ऐसा शक्ति का स्रोत है, जो तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय सभी को शक्ति प्रदान करता है। क्या तप, क्या नियम और क्या आचार-विचार आदि सबके पीछे ब्रह्मचर्य का बल आवश्यक है। बिना ब्रह्मचर्य के ये सब भलीभाति सम्पन्न नही हो सकते।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि तप, नियम आदि सबके साथ 'उत्तम' विशेषण का प्रयोग किया है, वह इसलिए कि कई लोग सासारिक कामनाओ के वशीभूत हो कर या यश, प्रतिष्ठा, पद, सतान आदि इहलौकिक लाभो की दृष्टि से तप, नियम आदि को अपनाते है, परन्तु यहा वैसे तप आदि विवक्षित नही हैं, क्योकि वे निकृष्ट प्रयोजन के लिए किये गए है, इसलिए वे उत्तम नही कहे जा सकते। उत्तम तप आदि वे ही माने जाएँगे, जो किसी सासारिक प्रयोजन से नही किये जाते।

इस दृष्टि से उत्तम कोटि के तप, नियम आदि का मूल ब्रह्मचर्य है। क्योकि ब्रह्मचर्य की साधना किये बिना न तो शारीरिक शक्ति ही प्राप्त होती है और न मानसिक या आध्यात्मिक शक्ति ही। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्ति के अभाव मे तप कैसे हो सकता है? नियम कैसे पाला जा सकेगा? और ज्ञानादि का उपार्जन भी कैसे होगा? विनय का आचरण भी कैसे हो सकेगा? उदाहरण के तौर पर, कोई व्यक्ति[1] बाह्य या आभ्यन्तर किसी भी तपस्या के लिए शारीरिक शक्ति

---

१ 'अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्य तप'—अर्थात्—अनशन-(उपवासादि), ऊनोदरी, खाद्य आदि द्रव्यो की सख्या नियत करना, स्वादपरित्याग, एकान्तशय्यासन और कायक्लेश, ये ६ भेद बाह्य तप के है। 'प्रायश्चित्त विनयवैयावृत्य स्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्' अर्थात्—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, ये ६ आभ्यन्तर तप है।—तत्त्वार्थसूत्र

—सपादक

और मनोवल सर्वप्रथम आवश्यक है। विना मनोवल के वह क्या खाक तप करेगा और बिना शरीरवल के वह उसे कहाँ तक पार लगाएगा ? और जितनी भी शक्तियाँ हैं, वे सव ब्रह्मचय से प्राप्त होती है। इसलिए ब्रह्मचर्य को तप का मूल वताया है। सूत्रकृतागसूत्र मे वीरस्तुति करते हुए कहा है—

'तवेसु वा उत्तम वभचेर'।

अर्थात्—'तपस्याओ मे सवसे उत्तम तप ब्रह्मचर्य है।'

आभ्यन्तर तप के लिए भी मनोवल और आत्मवल दोनो की आवश्यकता है।

अव लीजिए नियम को। अमुक काल की मर्यादापूर्वक जो प्रतिज्ञा ली जाती है, उसे नियम कहते है। अभिग्रह, पिंड-विशुद्धि, पौरुपी आदि के प्रत्याख्यान या किसी भी वस्तु का त्याग करना, नियम कहलाता है। किसी भी नियम के पालन करने के लिए मनोवल और शरीरवल सवसे पहले आवश्यक है। अन्यथा, वह नियम टूट जायगा या नियम मे से छिटकने के लिए व्यक्ति कोई रास्ता ढूंढेगा।

इसी प्रकार ज्ञान (वस्तु का साकार प्रतिभास विशेप वोध) और दर्शन (निराकार प्रतिभास–सामान्य वोध) के उपार्जन के लिए भी स्मरणशक्ति की आवश्यकता है, वौद्धिक प्रतिभा की जरूरत है। ये दोनो उपलव्ध होती है–ब्रह्मचर्य से ही। इसलिए इन दोनो के मूल मे भी ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक हे।

चारित्र पालन के लिए मन-वचन-काया की विशुद्धि आवश्यक है। मन, वचन या काया मे जरा भी विकार भाव आ जाता है, तो चारित्र खत्म हो जाता है। अत चारित्र को टिकाए रखने मे मूल कारण ब्रह्मचय है। ब्रह्मचर्य से ही मन, वचन तथा काया की पवित्रता या शुद्धि रह सकती है।

सम्यग्दर्शन भी वास्तव मे आत्मिकवल पर निर्भर है, निरीक्षण-परीक्षणशक्ति पर ही टिका हुआ है। हेय और उपादेय का, सत्यासत्य का, कर्तव्याकतव्य का निर्णय सम्यग्दशन हुए विना नही हो सकता। सम्यग्दर्शन के अभाव मे व्यक्ति सासारिक पदार्थो तथा स्त्रीपुत्रादि सम्वन्धो के प्रति ज्यादा से ज्यादा गाढ आसक्ति रखता है, जिससे मिथ्यादशन हो जाता है, जिसके कारण आत्मा नरकतिर्यचगति मे गमन करता है। ब्रह्मचय से ही आत्मिक, वौद्धिक, हार्दिक, विवेकीय एव परीक्षण-निरीक्षणीय शक्तिया उपलव्ध होती है। इसलिए सम्यक्त्व का भी मूल ब्रह्मचर्य है।

अव रहा विनय। विनय का आचरण करने के लिए भी शरीरादि का वल अपेक्षित है, जो ब्रह्मचय के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए विनय का मूल भी ब्रह्मचय ही है।

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मचय के होने पर ही उत्तम तप, नियम आदि का अस्तित्व है, अन्यथा नहीं।

यमनियमगुणप्पहाणजुत्त— अहिंसा सत्य आदि पाँच महाव्रत या पाँच अणुव्रत यम कहलाते है। जिनकी प्रतिज्ञा जीवन भर के लिए ली जाय, उन्हे यम कहते है और जिनके लिए काल की अमुक अवधि नियत की जाय, उन्हे नियम कहते है। इसलिए ब्रह्मचर्य गुणो मे प्रधान यमनियमरूप गुणो से युक्त रहता है। मतलब यह है कि यम और नियम जहाँ होगे वहाँ ब्रह्मचर्य अवश्य ही रहेगा। अब्रह्मचारी यमनियम का पालन करने मे सर्वथा असमर्थ होगा, क्योकि अब्रह्मचर्य का सेवन करने वाले प्राय हिंसा झूठ चोरी आदि पापो का आश्रय लेते है। वे हिंसादि पापो से बच नही सकते और नियमादि का पालन करने मे सर्वथा उदासीन रहते है।

हिमवतमहततेयमत— यह ब्रह्मचर्य हिमवान् पर्वत से भी अधिक तेजस्वी है। हिमवान् पर्वत लबाई, चौडाई, ऊँचाई आदि मे तमाम पहाडो से बडा है। परन्तु ब्रह्मचर्य उससे भी बढकर है। ब्रह्मचारी की तेजस्विता और कान्ति के सामने हिमवान् की कान्ति और तेजस्विता फीकी लगती है। ब्रह्मचर्य की गरिमा बताते हुए एक आचार्य कहते है—

> व्रताना ब्रह्मचर्य हि, विशिष्ट गुरुक व्रतम्।
> तज्जन्यपुण्यसम्भारसयोगाद् गुरुरुच्यते ॥

अर्थात्—'ब्रह्मचर्य सभी व्रतो मे विशिष्ट और बडा माना गया है।

गुरु अर्थात् बडा या महान् तो इसे इसलिए माना जाता है कि इसके पालन से होने वाले पुण्यो का पुज इकट्ठा हो जाता है।'

अन्य मतावलम्बी भी ब्रह्मचर्य की महत्ता स्वीकार करते है—

> एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्य च एकत ।
> एकत सर्वपापानि मद्य मास च एकत ॥

तराजू के एक पलडे मे चारो वेद रखे जाय और दूसरे मे ब्रह्मचर्य रखा जाय, इसी तरह एक ओर सभी पाप रखे जाय और दूसरे मे मद्य-मास जन्य पाप को चढाया जाय, तो भी इनमे समानता नही प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि चारो वेदो से ब्रह्मचर्य का पलडा ही सबसे भारी रहता है। क्योकि पुण्य की राशि ब्रह्मचर्य के पास ही होती है, और पुण्यराशि वाला ही सदा महान् होता है।

पसत्थगभीरथिमितमज्झ—इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य के पालन करने से ही अन्त करण उदार, गम्भीर और स्थिर हो सकता है। जो कामी-भोगी व्यक्ति है, उसके हृदय मे एकाग्रता नही होगी ? उसका चित्त चचल रहेगा। ऐसे हृदय मे कहाँ गम्भीरता और स्थिरता होगी ? कामी पुरुषो का हृदय छिछला होने के कारण स्वार्थी ही होता है, उदार नही। ब्रह्मचर्य से व्यक्ति मे गम्भीरता, उदारता और स्थिरता आती है, यह बात निश्चित है।

अज्जवसाहुजणाचरित -जो वक्र या कुटिल साधक होते है, वे प्राय तर्क-वितर्क किया करते है, कि ब्रह्मचर्य के पालन मे क्या आनन्द आता है ? इसे भग कर दिया जाय तो क्या हानि है ? इसलिए ऐसे वक्र या कुटिल साधक ब्रह्मचर्य का पालन करते भी है, तो शर्माशर्मी से ही, मन से नही । इसीलिए शास्त्रकार कहते है कि जो सरलता से सम्पन्न साधुजन है, वे ही दृढता से इसका आचरण करते है ।

मोक्खमग्ग विसुद्धसिद्धिगतिनिलय—इन दोनो पदो मे अन्तरग ब्रह्मचर्य को ही सूचित किया गया है । ब्रह्म यानी आत्मा मे विचरण करना ही अन्तरग ब्रह्मचर्य है, जो प्रत्यक्ष मोक्षमार्ग है । वीर्यरक्षा या मैथुनत्याग तो बाह्य ब्रह्मचर्य है, जो परम्परा से मोक्ष का मार्ग है । चूकि धर्मध्यान और शुक्लध्यान से ही शुद्ध आत्मा मे रमण होता है । और ध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण है । इसलिए मोक्ष का साक्षात्मार्ग अन्तरग ब्रह्मचर्य है । आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे रमण करने से ही विशुद्ध सिद्धिगति मिल सकती है । आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे रमण करने का ही दूसरा नाम ब्रह्मचर्य है । इसलिए ब्रह्मचर्य को 'विशुद्ध सिद्धिगति का घर' कहा है ।

सासयमव्वाबाहमपुणब्भव पसत्थ सोम मक्खयकर—इन सबका अर्थ स्पष्ट है । ब्रह्मचर्य का फल कभी नष्ट नही होता, इसलिए यह शाश्वत है । इसके पालन मे कोई रोकटोक या अडचन नही होती, इसलिए यह अव्याबाध, प्रशस्त-मगलमय सौम्य, शुभ, शिव, अचल और अक्षय है । इसके पालन करने से किसी तरह का भी खटका नही और न कोई क्षति ही होती है ।

ब्रह्मचर्य के शुद्ध पालनकर्ता—ब्रह्मचर्य का पालन दुष्कर होते हुए भी ससार मे उसका निष्ठापूर्वक शुद्ध पालन करने वाले अतीत मे हुए है, भविष्य मे होगे और वर्तमान मे है । परन्तु मुख्यतया इसके शुद्ध पालनकर्ता कौन-कौन होते है ? इसके लिए शास्त्रकार कहते है—'**जतिवर सारक्खित सुचरिय सुसाहिय नवरि मुणिवरेहि महापुरिस सया विसुद्ध** 'इन पदो का शब्दार्थ तो स्पष्ट किया जा चुका है । इसका आशय बडा ही गभीर है । वह यह कि ब्रह्मचर्य-पालन करना बहुत ही कठिन है । बडे-बडे योगी तक ब्रह्मचर्य से डिग जाते है, महान् से महान् तपस्वी भी ब्रह्मचर्य से विचलित होते देखे-सुने गये है, औरो का तो कहना ही क्या ? इसी दृष्टि से शास्त्रकार कहते है कि सयमियो मे जो श्रेष्ठ होते है, वे ही ब्रह्मचर्य की सम्यक् प्रकार से सुरक्षा करते है । कैसा भी प्रसग क्यो न हो, वे ब्रह्मचर्य से जरा भी डिगते नही । साथ ही आत्मा और जड शरीर, कामसुख और मोक्षसुख, ब्रह्मचर्य और अब्रह्मचर्य का भलीभाति मनन करने वाले महामुनिवर ही ब्रह्मचर्य का सुचारुरूप से आचरण करते है, इसकी सम्यक् साधना करते है । वे काम विकार के कारण उपस्थित होने पर भी चट्टान की तरह अडोल रहते है ।

सुन्दर से सुन्दर नवयौवना भी आकर उन्हे प्रार्थना करे, तो भी वह चलायमान नही होते । साथ ही ब्रह्मचर्य उन्ही का दागरहित विशुद्ध रहता ह, या वे ही ब्रह्मचर्य का शुद्ध रूप से पालन करते ह, जो जाति कुल आदि गुणो से सम्पन्न महापुरुष होते हैं । कुलीन और उत्तम जाति के साधक मरना पसन्द कर लेगें, लेकिन ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट कदापि नही होगे । वे मन से भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने को सदा उद्यत रहेगे । नीच जाति और नीच कुल के व्यक्तियो मे प्राय उत्तम सस्कार न होने मे वे ब्रह्मचर्य भग को हेय एव घृणित नही समझते । उनको सतान भी परम्परा से ब्रह्मचर्य के सुसस्कारो से शून्य होती ह । उत्तम कुलीन महापुरुष शुद्ध ब्रह्मचर्य से सम्पन्न होते ह, जो धीरो मे भी महासत्वशाली हैं। वडे-वडे अवसरो पर भी उनकी धीरता अटल रहती है, उनकी ब्रह्मचय निष्ठा को स्वग की नृत्य करती हुई या कटाक्ष के द्वारा कामवाण फेकती हुई सुन्दर अप्सराएँ भी डिगाने मे असमर्थ है । तीसरे वे पुरुष ब्रह्मचर्य मे अविचल रहते ह, जिनके रोम-रोम मे धर्म रमा रहता है। जो धर्म के रहस्य को समझकर तदनुकूल आचरण करते हे, ब्रह्मचर्य धर्म जिनके रगरग मे भरा है, उनके धर्म सस्कार इतने परिपक्व होगे कि वह प्राण जान पर भी अब्रह्मचर्य सेवन नही करेगे । और चौथे धृतिमान् व्यक्ति भी ब्रह्मचर्य के आग्नेय पथ पर अविचल रहते हैं । उन्हे कोई भी शक्ति ब्रह्मचर्य के पथ से हटा नही सकती । समाज की कुलपरम्पराएँ या रूढिया भी उन्हे ब्रह्मचर्य से डिगाने मे असमर्थ रहती हैं। परन्तु जो व्यक्ति धृतिमान नही होता, वह समाज की परम्पराओ एव कुल की रीति रिवाजो के सामने झुक जाता हैं। प्राचीन काल मे एक रिवाज था कि पुत्रोत्पत्ति के विना वश परम्परा का उच्छेद हो जायगा, फलत स्वग नही मिलेगा, इसलिए वश परम्परा की सुरक्षा और स्वर्ग के लिए विवाह करना चाहिए और सतानोत्पत्ति करनी चाहिए । जैसा कि वे कहते थे —

"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च, नैव च ।
तस्मात्पुत्रमुख दृष्ट्वा, पश्चाद् धर्ममाचरेत् ॥"

अर्थात् 'पुत्रहीन की गति नही होती । फलत उसे स्वर्ग नही मिलता, कदापि नही मिलता । इसलिए पुत्र का मुख देखकर ही वाद मे चारित्र धर्म (मुनिधर्म) अगीकार करना चाहिए ।'

परन्तु धृतिमान और धर्मज्ञ पुरुष इस रीति को नही मानते । वे प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

"अनेकानि सहस्राणि, कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवगतानि विप्राणामकृत्वा कुलसततिम् ॥"

अर्थात्—'कहाँ जाए ?, कहाँ रहे ?, क्या कहे ?, क्या करे, इस प्रकार की उधेडबुन मे विपयो के रागी रात दिन चिन्तित रहते हे, लेकिन रागरहित ब्रह्मचारी सुखपूर्वक रहते है।' उन्हे दुनियाँ का राग नही सताता।

इसलिए ब्रह्मचर्य शका, भय, आयास, लिप्तता एव अशान्ति से दूर हे।

नियम निष्पकप— ब्रह्मचारी नियम मे हमेशा निश्चल रहता है। प्रतिकूल वातावरण मे भी ब्रह्मचारी निरतिचार रहता है। बाह्य कारण उस पर प्रभाव नही डाल सकते। इसका एक अर्थ यह भी है कि ब्रह्मचर्यव्रत निरपवाद होता है। बाकी के अहिंसा आदि व्रतो मे कदाचित् अपवादवश छूट भी दी जाती है, लेकिन ब्रह्मचर्य मे जरा-सी भी छूट नही मिलती। किसी भी हालत मे इसका खण्डन विहित नही हे। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—

'न वि किंचि अणुन्नाय, पडिसिद्ध वा जिणवरिंदेहिं।
मोत्तु मेहुणभाव, ण त विणा रागदोसेहिं॥'

अर्थात— जिनेन्द्रदेवो ने मैथुनभाव-अब्रह्मचर्य को छोड कर अन्य व्रतो का निरपवाद रूप से न तो एकात निपेध ही किया है और न आज्ञा दी है। सिर्फ मैथुनभाव का ही निरपवाद रूप से त्याग बताया है, क्योकि मैथुनभाव रागद्वेप के विना होता ही नही।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय—[1]ब्रह्मचर्य जितना महान् और मूल्यवान है, उतनी ही कठिन और साहसपूर्ण उसकी सुरक्षा हे। ससार मे रत्न जैसी कीमती चीजो की रक्षा और जतन के लिए लोग बहुत ही सावधानी रखते है और साहसपूण कदम उठाते है। यहाँ ब्रह्मचर्य की सुरक्षा एक अर्थ मे आत्मा की ही सुरक्षा है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ब्रह्मचर्य की महिमा के अन्तर्गत ही उसकी सुरक्षा का निर्देश करते है—'**तवसजम मूलदलियणेम्म पचमहव्वयसुरक्खिय झाणवर मज्झप्पदिन्नफलिह**'। इन पक्तियो का अर्थ तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका हे। इनका रहस्यार्थ यह ह कि तप और सयम दोनो मिलकर ब्रह्मचर्य की मूल पूंजी के समान हैं। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए तप-सयम की मूल पूंजी को सर्वप्रथम सुरक्षित रखना जरूरी है। बाह्य और आभ्यन्तर तप, ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हे। यह बात सुनिश्चित है कि जिसके जीवन मे ये दोनो प्रकार के तप होगे, वह ब्रह्मचर्य धन की लुभावने इन्द्रिय-विपयो, कठोर

---

१ ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के विस्तृत उपायो के बारे मे उत्तराध्ययन सूत्र का १६ वाँ अध्ययन पढे। —सपादक

कषाय आदि चोरो लुटेरो से रक्षा कर सकेगा। जब भी स्वादिष्ट तथा गरिष्ठ पदार्थों के स्वाद के चक्कर मे मन या इन्द्रियाँ भटकने लगेगी, वह तुरन्त उपवास आदि तप से उन्हे रोकेगा। या प्रतिसलीनता तप से इन्द्रियो का सगोपन करेगा। बढती हुई इच्छाओ के कारण अब्रह्म (आत्मबाह्य भाव) मे भटकती हुई आत्मा को वैयावृत्य, कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग तथा ध्यान आदि के द्वारा रोकेगा। इस प्रकार तप के द्वारा ब्रह्मचर्यरूपी धन की सुरक्षा हो सकेगी। फिर तप का दूसरा साथी सयम है, जो इन्द्रियो और मन को विषयो के बीहड मे भटकने से रोकेगा। साधक को ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त महाव्रतो से पहिले ब्रह्मचर्य का सुरक्षा पर ध्यान देना है। जहाँ एक ओर ब्रह्मचर्य ध्वस्त हो रहा हो, परन्तु दूसरी ओर अहिंसा, अस्तेय आदि की रक्षा हो रही हो, वहाँ सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य की सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक होगी। इसका मतलब यह नही कि शेष महाव्रतो के प्रति उपेक्षा की जाय, परन्तु शास्त्रकार का आशय यह है कि ब्रह्मचर्य निरपवाद होने के कारण उसकी रक्षा अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए पाच समितियो और तीन गुप्तियो का पालन अत्यावश्यक है। ईर्यासिमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदानभाडमात्रनिक्षेपणासमिति, उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघाणपरिष्ठानिकासमिति—ये पाँच समितियाँ है। ये साधक को अपने जीवन मे शुद्ध सम्यक् प्रवृत्ति करने के लिए सहायक है तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, ये तीन गुप्तियाँ है, जो मन, वचन, काया को सयम से विपरीत प्रवृत्ति करने से रोकने मे सहायक है। अथवा पाँच समितियाँ और विविक्त शय्यासन आदि ९ ब्रह्मचर्य गुप्तियाँ ब्रह्मचर्य की सुरक्षक होती हैं। ये ब्रह्मचर्य को सुरक्षा के लिए बहुत ही आवश्यक है। इसके अलावा उत्तम ध्यानरूपी कपाट भी ब्रह्मचर्य रत्न की रक्षा के लिए उत्तम उपाय है। इसका आशय यह है कि घर मे रखे गए द्रव्य की रक्षा के लिए जैसे उस पर कपाट लगाना आवश्यक होता है, वैसे ही आत्मा के गृह मे रहे हुए ब्रह्मचर्य धन की रक्षा के लिए श्रेष्ठ ध्यान-धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान की आवश्यकता है। जिस जगह चोरो का भय होता है, वहाँ सुदृढ किला बनाकर लोग उसमे रखे हुए रत्नादि की सुरक्षा करते है। किन्तु उस किले के दरवाजे पर किवाड न लगे हो तो चोर किसी भी समय अन्दर घुस कर चिरसचित धन का हरण कर लेगे। इसी प्रकार यहाँ भी आत्मा ने ब्रह्मचर्यरूपी रत्न का बहुत प्रयत्न से सचय किया है, उसके लिए मानव-जीवन रूपी दुर्ग बनाया है, परन्तु केवल दुर्ग बनाने से ही ब्रह्मचर्य रत्न की रक्षा नही हो जायगी। अन्दर मे रहे हुए ब्रह्मचर्य रत्न की सुरक्षा के लिए मनरूपी दरवाजे पर किवाड का होना अत्यावश्यक है, इसीलिए शास्त्रकार ने जीवनदुर्ग मे रखे हुए ब्रह्मचर्य रत्न की भली भाति रक्षा के हेतु मनरूप द्वार पर उत्तम ध्यानरूपी कपाट लगाने का निर्देश किया है। चूँकि कामरूपी चोर मनोद्वार से ही होकर आता है।

उन मनोद्वार पर सुध्यानरूपी सुदृढ कपाट लगा दिया जाय तो वह अन्दर नहीं घुस सकेगा। किन्तु इसके साथ ही एक वात और जरूरी है। वह यह है कि उस सुध्यान-रूपी कपाट के मजबूत अर्गला (आगल) लगानी चाहिए। अत उस कपाट पर अध्यात्म आत्मानुभव के उपयोग की अर्गला लगाये जाने का सकेत शास्त्रकार ने किया है। इस प्रकार यहाँ तक ब्रह्मचर्य वन की सुरक्षा के लिए सभी उपाय वताए गए हैं। अगर साधक सुरक्षा के इन उपायो को जीवन मे आजमाए तो ब्रह्मचर्य की सुरक्षा मे कोई सदेह नही रह जाता।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व ब्रह्मचर्य का मानव जीवन मे क्या स्थान है? इस वात को जान लेने पर भी साधु जीवन मे ब्रह्मचर्य कितना महत्त्वपूर्ण है? उसके विना साधु जीवन की कितनी हानि है? इस वात को आगे शास्त्रकार निम्नोक्त पक्तियो द्वारा व्यक्त करते है— **'सन्नद्धवद्धो विणयसीलतव नियम गुणसमूह। एवमणेगा गुणा अहीणा पच्चओ य।"** इन पक्तियो का अर्थ भी हम पहले स्पष्ट कर आए है। इनका रहस्यार्थ खोलना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य का एक महत्त्व यह है कि यह दुर्गति के मार्ग को अवरुद्ध अर्थात् रोक देने वाला है और प्रगति का मार्ग-दर्शक है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी की आत्म-परिणति प्राय शुभ या शुद्ध रहती है। इन परिणामो से दुर्गति (नरक या तिर्यचगति) का वन्ध कदापि नही होता, प्रत्युत सुगति (मनुष्यगति या देवगति) का वन्ध होता है, अथवा सिद्ध-गति की प्राप्ति होती है। इसलिए इसे दुगतिपथ का अवरोधक और सुगति पथ का प्रदर्शक वताया है। दूसरा महत्त्व यह है कि यह ब्रह्मचर्यव्रत 'लोकोत्तम' है। ससार मे सवसे उत्तम वस्तु होने के कारण ब्रह्मचर्य की सुरक्षा का ध्यान रखना आवश्यक है। क्योकि ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त दुष्कर है। कहा भी है—

> **देवदाणवगधव्वा जक्खरक्खसकिंनरा।**
> **वभयारिं नमसति दुक्कर जे करेंति त॥**

अर्थात्—देव दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी उस ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं, जो उस दुष्करव्रत का आचरण करता है।

तीसरा महत्त्व यह है कि ब्रह्मचर्य धर्मरूपी पद्मसरोवर या धर्मरूपी तालाव की सुरक्षा के लिए पाल के समान है। जैसे पाल के टूट जाने पर सुशोभित तालाव या पद्म सरोवर नष्टभ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मचर्यरूपी पाल के टूटते ही सत्यादि चारित्र-धर्म के अग भी नष्टभ्रष्ट हो जाते है। साथ ही यह ब्रह्मचर्य वडी गाडी के पहिए के आरो को टिकाए रखने वाली नाभि के समान है। नाभि पहिये के वीच मे लकडी की एक गोल चीज होती है, जिस पर पहिये के आरे टिके होते हैं। जिस प्रकार नाभि की रक्षा से आरो की रक्षा और नाभि के नाश से आरो का नाश

अवश्यम्भावी है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यरूपी नाभि की रक्षा से चारित्र धर्मरूपी आरो की रक्षा और ब्रह्मचय के नाश से चारित्र धर्म का नाश अवश्यम्भावी है। इसी तरह ब्रह्मचर्य धर्मरूपो वृक्ष को धारण करने मे स्कन्धरूप है। जैसे बडी बडी शाखाओ वाले वक्ष का आधार स्कन्ध होता है, स्कन्ध के नष्ट होते ही वृक्ष नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यरूपी स्कन्ध के नष्ट होते ही अनेक अगो (शाखाओ) वाले धमरूपी वृक्ष का टिकना भी असभव है। तथा ब्रह्मचर्य महा-नगररूपी धर्म की रक्षा के लिए उसके कोट और आगल के समान है। इन्द्रध्वज जैसे चारो ओर रस्सी से बधा होने पर ही मजबूत रहता हे, वैसे ही धर्मरूपी इन्द्रध्वज भी अनेक विशुद्ध गुणो से युक्त ब्रह्मचयरूपी रस्सी से बधा हुआ होने से ही मजवूत है। ब्रह्मचय के भग होने पर विनय, शील, तप, नियम आदि समस्त गुणसमूह उसी तरह चूर-चूर हो जाते है, जैसे मिट्टी का घडा ऊपर से गिरने पर चूर-चूर हो जाता है, उसी तरह मसल जाते है, जैसे मथने से दही मसला जाता है, उसी तरह पिस जाते है, जैसे चना पिस जाता है, उसी तरह विंध जाते है, जैसे अन्दर घुसे हुए वाण से शरीर विंध जाता है, पर्वत से गिरी हुई चट्टान की तरह वे चकनाचूर हो जाते हैं, महल से गिरे कलश के समान वे एक दम नीचे आ गिरते है, लकडी के डडे के समान तडातड टूट जाते है, कोढ आदि व्याधि से सडे हुए शरीर के समान वे गुण समूह सड जाते है, आग मे स्वाहा हुए लक्कड के समान वे गुण-गण अस्तित्वहीन हो जाते हैं।

अधिक क्या कहे ! एक ब्रह्मचर्यव्रत के होने पर सभी गुण उसके अधीन हो जाते है। इस ब्रह्मचर्यव्रत की आराधना करने पर निर्ग्रन्थ प्रव्रज्यारूप मुनिधर्म के सभी व्रतो की आराधना हो जाती है, क्या शील, क्या तप, क्या विनय, क्या सयम, यहाँ तक कि क्षमा, मुक्ति-निर्लोभता, गुप्ति, इहलौकिक तथा पारलौकिक यश, कीर्ति और जनविश्वास तक आराधित-अर्जित हो जाते है। इतना महत्त्व है, इस ब्रह्मचर्य महाव्रत का !

विविध उपमाओ से ब्रह्मचर्य की गरिमा--ब्रह्मचर्य की गरिमा वताने के लिए शास्त्रकार विविध उपमाएँ देते है 'त बभ भगवत गहगण महारहगते।' इन सवका आशय यह है कि—'वह ब्रह्मचर्य विभूतिशाली भगवान है। वह ग्रहो, नक्षत्रो और ताराओ के बीच मे चन्द्रमा के समान देदीप्यमान है। जैसे चन्द्रकान्तादि मणियो, मोतियो, मूगो और पद्म-रागादि लाल रत्नो की खान समुद्र है, वैसे ही समस्त गुण रत्नो की खान ब्रह्मचय है। जैसे सव मणियो मे वैडूयमणि उत्कृष्ट है, वैसे ही व्रतादि मे ब्रह्मचय उत्कृष्ट है। जैसे सव आभूषणो मे मुकुट प्रधान माना गया है, सब प्रकार के वस्त्रो मे वारीक और मुलायम कपास का वस्त्र उत्तम

माना जाता है, वैसे ही सब व्रतादि में ब्रह्मचर्य उत्तम माना गया है। कमलपुष्प जैसे सब पुष्पों में श्रेष्ठ होता है, वैसे ही यह व्रत में श्रेष्ठ है। समस्त चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन की तरह सब व्रतादि में यह श्लाघ्य है। हिमवान् पर्वत जैसे समस्त औषधियों का उत्पत्तिस्थान है, वैसे ही यह समस्त गुणों का उत्पत्तिस्थान है। जैसे सब नदियों में सीतोदा नदी बड़ी है, वैसे ही सब व्रतादि में यह बड़ा है। जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र सब समुद्रों में विशाल है, वैसे ही ब्रह्मचर्य सब में विशाल है। जैसे वलयाकार (गोल) माण्डलिक पर्वतों में रुचकवर पर्वत महान् है, वैसे ही सब व्रतादि में यह महान् है। यह हाथियों में ऐरावत हाथी के समान प्रशस्त, वन्यपशुओं में सिंह के समान तेजस्वी, सुपर्णकुमारों में वेणुदेव इन्द्र के समान सर्वोपरि, नागकुमार देवों में धरणेन्द्र देव के समान प्रभावशाली, देवलोक में ब्रह्मलोक के समान महत्त्वपूर्ण, भवनपति और वैमानिक देवों की सभाओं में सुधर्मा सभा की तरह उत्कृष्ट, स्थितियों में लवसप्तम नामक अनुत्तर विमानवासी देवों की स्थिति की तरह प्रवर, आहार, औषध, ज्ञान, धर्मोपकरण एवं अभयदान, इन पांचों प्रकार के दानों में अभयदान के समान प्रधान यह ब्रह्मचर्य महाव्रत है। कम्बलों में किरमची रंग के कम्बल की तरह व्रतों में ब्रह्मचर्य उत्तम है। वज्र-ऋषभनाराच आदि[1] संहननों में वज्र-ऋषभनाराच संहनन की तरह, सब व्रतों में ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट माना गया है। इसी प्रकार समचतुरस्र आदि [2]संस्थानों में जैसे समचतुरस्र संस्थान उत्तम

१—शरीर के अस्थि आदि के बन्धनविशेष को संहनन कहते हैं। वह ६ प्रकार का है—(१) वज्रऋषभनाराच, (२) ऋषभनाराच, (३) नाराच, (४) अर्धनाराच, (५) कीलिक और (६) असंप्राप्त सृपाटिका संहनन। जिसमें हड्डी और उसका वेष्टन वज्रमय होता है, वह वज्रऋषभनाराच है। जिसमें अस्थि ही वज्रमय हो, वेष्टन साधारण हो, वह वज्रनाराच है। जिसमें शरीर की सन्धियों में हड्डी की कील हो, वह नाराच है। जिसमें आधी हड्डी की कील हो, वह अर्धनाराच है। जिसमें संधि की हड्डियां नसों से ढँकी हुई हों, वह कीलिक है। और जिसमें सब हड्डियां अलग-अलग हों, नसों से बंधी हुई न हों, उसे असंप्राप्त सृपाटिका संहनन कहते हैं।

२—शरीर की आकृति का संस्थान कहते हैं। वे ६ हैं—(१) समचतुरस्र, (२) स्वाति, (३) न्यग्रोधपरिमंडल, (४) कुब्जक, (५) वामन और (६) हुंडक संस्थान। यथायोग्य सुन्दर समचोरस आकार को समचुतरस्र, ऊपर से पतले और नीचे से मोटे शरीराकार को स्वाति, बड के पेड के समान शरीर के ऊपर के अवयव मोटे, नीचे के पतले हों उसे न्यग्रोधपरिमंडल, कुबडे शरीर के आकार को कुब्जक, बौने कदके शरीर को वामन और शरीर के हाथ पैर आदि सब अवयव बेडौल बदसूरत हों उस संस्थान को हुंडक संस्थान कहते हैं।

होता है, वैसे ही सब व्रतादि मे ब्रह्मचर्य उत्तम है। आर्त, रौद्र आदि[1] ध्यानो मे परमशुक्ल ध्यान सर्वोत्कृष्ट ध्यान है, वैसे ही व्रतादि मे ब्रह्मचर्य सर्वोत्कृष्ट है। मतिश्रुत आदि पाच ज्ञानो[2] मे परम केवल ज्ञान की तरह सिद्ध श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत है। छह लेश्याओ मे परमशुक्ल लेश्या के समान ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है। मुनियो मे सर्वश्रेष्ठ मुनि तीर्थंकर माने जाते है, वैसे ही व्रतो मे सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचय है। क्षेत्रो मे महाविदेह क्षेत्र की तरह उत्तम, पर्वतो मे गिरिराज मेरुपर्वत की तरह सर्वोच्च, वनो मे नन्दनवन की तरह रमणीयतर, वृक्षो मे जम्बू वृक्ष की तरह श्रेष्ठ यह ब्रह्मचर्य व्रत है। सुदर्शन नाम से भी इसका यश प्रसिद्ध है, इसी जम्बू के नाम पर से ही इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पडा है। जैसे अश्वपति, गजपति, रथपति और नरपति, इस प्रकार चतुरगिणी सेना से युक्त राजा प्रसिद्ध है, वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत चारो कोनो मे प्रसिद्ध है। जैसे कोई रथिक साधारण रथ को छोडकर बडे रथ मे बैठकर युद्ध करे तो कोई उसे पराजित नही र सकता, वैसे ही ब्रह्मचर्य महाव्रत रूपी महारथ मे आरूढ होकर साधक कर्म शत्रुओ से जूझे तो वे उसे पराजित नही कर सक्ते।

ब्रह्मचर्य की महनीयता—शास्त्रकार आगे चलकर ब्रह्मचर्य की महनीयत तीन गाथाओ द्वारा प्रगट करते है—**पचमहव्वय वडिसकभूय।**' इनका आशय यह है कि पचमहाव्रत नामक उत्तम व्रतो का ब्रह्मचर्य मूल है, अथवा पाचमहाव्रतो और पाच अणुव्रतो का यह मूल है, या पचमहाव्रती साधुओ के उत्तम नियमो का

१—ध्यान चार है—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान। इष्ट के वियोग और अनिष्ट के सयोग से जहा आत्मा मे शोकादि रूप परिणामधारा होती है, उसे आर्त्तध्यान कहते है। इसके चार भेद है—इष्टवियोग जन्य, अनिष्ट सयोगजन्य, पीडाचिन्तन और निदान। हिंसादि क्रूर और निदनीय कार्यो का चितन करना **रौद्रध्यान** है। इसके भी ४ भेद हैं—हिसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द रौद्रध्यान। जीवो के कल्याण आदि के उपाय का या ऐसे दूसरे शुभ कार्यो का चिन्तन करना धर्मध्यान है। इसके चार भेद है—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और सस्थान विचय। केवल आत्मा और आत्मगुणो का ही चिन्तन करना शुक्लध्यान है। इसके भी चार भेद है—(१) पृथक्त्ववितर्क विचार (२) एकत्ववितर्क विचार (३, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती और (४ व्युपरत क्रियानिवर्ती।

२—ज्ञान ५ है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान।

३—ये तीनो गाथाएँ तोटकछद मे है।

—सम्पादक

यह मूल है। निष्कर्ष यह है कि व्रतो के मूल मे ब्रह्मचर्य न हो तो सारे व्रत वेकार है, मूल्यहीन है। इस ब्रह्मचर्य का पालन दोपरहित साधुओ ने भावसहित किया है, या करते हैं। इसके पीछे भी आशय यही है, कि मुनिदीक्षा लेने पर भी जब तक ब्रह्मचर्यपालन भावसहित नही करता, तव तक वह मुनि पद के योग्य नही होता। इसलिए साधुगण अपनी साधुता की रक्षा और सिद्धि के लिए ब्रह्मचर्य का भावसहित निर्दोप पालन करते है। ब्रह्मचर्य समस्त वैर विरोधो को शान्त करने वाला है। क्योकि **मेहुणप्पभव वेर वेरप्पभवा दुग्गई** — मैथुन सेवन से वैर की उत्पत्ति होती है, वैर की उत्पत्ति से दुगति होती है। इस उक्ति के अनुसार ब्रह्मचारी जब मैथुन-सेवन या वाह्य विपयो से विरत हो जाता है, तब वैर होने का कोई कारण ही नही रहना। जब वह स्वत ही वैर से विरक्त हो जाता है, तब उसके हृदय मे वैर की समाप्ति अवश्यम्भावी है। जैसे लवणसमुद्र आदि समग्र समुद्रो से वडा एव महादुस्तर स्वयभूरमणसमुद्र है, वैसे ही ब्रह्मचय सव व्रतो मे महादुस्तर है तथा ससार समुद्र से पार करने वाला तीर्थ भी है। इसका तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह अत्यन्त दुस्तर ससार समुद्र को अनायास ही पार कर लेता है। तीर्थंकरो ने नौ गुप्ति आदि के द्वारा इसके पालन करने का उपाय बताया है। मतलब यह है कि ब्रह्मचर्य रक्षा के साधन गुप्ति, भावना आदि है। तीर्थंकरनिर्दिष्ट उन उपायो का आलम्बन नही लिए जाने पर ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त दुष्कर है। ब्रह्मचय नरक और तिर्यंचगति के वन्ध के मार्ग को रोकने वाला है, क्योकि ब्रह्मचारी के सदा पवित्र लेश्याएँ रहती हैं, इसलिए मनुष्यगति या देवगति (उत्तमगति) का ही वह वन्ध करता है, नरकगति और तिर्यंचगति (दुर्गति) का नही। ब्रह्मचर्य समस्त सारभूत पवित्र कार्यों का निर्माण करने वाला है। ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मा मे अपूर्व शक्ति प्रगट होती है, जिसके जरिए आत्मा आश्चयजनक सारभूत कार्यों को कर लेता है। अनेक प्रकार की ऋद्धिया, विद्याएँ या मत्र आदि ब्रह्मचारी के सिद्ध होते हैं, इसलिए ब्रह्मचर्य ही प्रधानकार्यो का साधक होता है। ब्रह्मचर्य सिद्धि (मोक्ष) तथा स्वर्ग-विमानो के द्वार खोलने वाला है। इसका आशय यह है कि जैन सिद्धान्त की दृष्टि से अन्तरग ब्रह्मचर्य (आत्मध्यान) साक्षात् सिद्धि (मोक्ष) का कारण है और वाह्य ब्रह्मचर्य साक्षात् स्वर्ग का कारण और परम्परा से मोक्ष का कारण होता है। यदि मिथ्या दृष्टि भी ब्रह्मचय का पालन करता है, तो वह स्वर्गलोक मे जन्म लेता है, और वहा उसे अनुपम इन्द्रियसुख प्राप्त होते है। फिर सम्यग्दर्शनपूर्वक पालन किए गए ब्रह्मचय का तो कहना ही क्या ? वह तो स्वर्ग मे अवश्य ही उच्चदेवत्व का कारण होता है और परम्परा से मोक्ष का जनक। इसीलिए कहा है— **'सीलव्वयधरो न दुग्गइगमणसीलो'**। ब्रह्मचर्य देवेन्द्रो और नरेन्द्रो के द्वारा नमस्करणीय गणधरो से भी पूजनीय है। साधारण लोग इन्द्र आदि की सेवा-पूजा करते है,

देवेन्द्र आदि लोकपूज्य व्यक्ति तीर्थंकर एव गणधर आदि पूजा करते है, और गणधर आदि महापुरुप ब्रह्मचर्य की अर्चना करते है, भक्तिपूर्वक वे आराधना-साधना करते है। अत ब्रह्मचर्य पूज्यो का भी पूज्य है। ब्रह्मचर्य ससार के समस्त उत्तम मगलो का मार्ग-उपाय हे। इसका आशय यह है कि मगल का अर्थ होता है—म-पाप को, गल—गालने वाला, अथवा मग-सुख को ल—देने वाला। ससार मे अर्हद्‌भक्ति आदि जितने भी मगलमय कार्य है, उन सवका मार्ग ब्रह्मचर्य है। क्योकि ब्रह्मचर्य पालन करने से आत्मा विपयराग आदि से निवृत्त होकर अर्हद्‌भक्ति एव व्रतधारण आदि मागलिक कार्यों मे प्रवृत्त होती है। अत ससार के समस्त उत्तम मगलभूत कार्यों का उपाय ब्रह्मचर्य को माना गया है। फिर यह ब्रह्मचर्य दुर्धर्प, अजेय अपराभवनीय है। अत यह अकेला ही ऐसा गुण है, जो सव गुणो का नेतृत्व करता है। मतलव यह है कि ब्रह्मचारी का कोई तिरस्कार नही कर सकता। कदाचित् कर भी दे तो वह शीघ्र ही उससे प्रभावित होकर उसके चरणो मे नतमस्तक हो जाता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से सर्प हार के समान, विप अमृत के समान और शत्रु मित्र के समान हो जाता है। इसमे ऐसी अद्‌भुत शक्ति है। क्षमा आदि सभी लोकोत्तरगुण इसकी ओर स्वत खिचे चले आते हे। इस एक गुण के प्राप्त होने पर अन्य सव गुण स्वत प्राप्त हो जाते है, धीरता, क्षमा, गभीरता, तितिक्षा, सरलता, आदि गुण ब्रह्मचर्य के अनुचर वन जाते है। ब्रह्मचर्य मोक्षमार्ग का अलकार है। इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कर्मो का सर्वथा आत्मा से पृथक् होना मोक्ष है। उसका मार्ग (उपाय) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र है। इनको भूपित करने वाला ब्रह्मचर्य है। क्योकि ब्रह्मचर्य के विना ये सम्यग्दर्शनादि अपने कार्य मे सफल नही हो सकते। ब्रह्मचर्य की सहायता से ही ये कृतकार्य होते हें। इसलिए इसे मोक्षमार्ग को अलकृत करने वाला माना गया है। ब्रह्मचर्य उत्तम रसायन है, जिसका शुद्ध रूप से सेवन करने पर जीवन मे नई चमक दमक आ जाती है। शास्त्रकार कहते है कि इसका शुद्ध आचरण करने पर मामूली ब्राह्मण भी उत्तम ब्राह्मण वन जाता है, साधारण श्रमण भी सुश्रमण या सामान्य तपस्वी भी सुतपस्वी वन जाता है सामान्य साधु भी स्वपरकल्याण-साधक उत्तम साधु वन जाता है, अप्रसिद्ध ऋपि भी पटकायरक्षक सुऋपि वन जाता है, मुनि भी सुमुनि वन जाता है। वही वास्तव मे सयमी है, वही वास्तव मे भिक्षु है, जो ब्रह्मचय का शुद्ध आचरण करता है। सचमुच, ब्रह्मचर्य के शुद्ध पालन से रहित ब्राह्मण, श्रमण आदि केवल नामधारी ही ब्राह्मण, श्रमण आदि है। अब्रह्मचर्य-सेवी श्रमण, साधु आदि केवल वेपधारी है। कहा भी है—

"सकलकलाकलापकलितोऽपि कविरपि पण्डितोऽपि हि।
प्रकटितसर्वशास्त्रतत्त्वज्ञोऽपि हि वेदविशारदोऽपि हि॥

स्वनिश्चित वृहत्ध्येय मे जुट जाना, वाह्य ब्रह्मचर्य का विधेयात्मक रूप है। विद्याध्ययन, शास्त्राध्ययन या योगसाधना आदि भी उसी के सहायक अग है। इसी प्रकार मैथुन सेवन न करना, किसी स्त्री या अन्य मे कामासक्ति न रखना, मैथुन के [1]आठ अगो से दूर रहना, कामोत्तेजक खान पान, रहन सहन, वेशभूपा आदि तथा अश्लील दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, खाद्य, पाठ्य, लेख्य आदि तमाम वातो से दूर रहना, निपेधात्मक रूप से वाह्य ब्रह्मचय है। फिर साधु जीवन मे इन दोनो रूपो का मन, वचन, काया से तथा कृत कारित और अनुमोदित रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना ही ब्रह्मचर्य का पूर्ण शुद्ध रूप है।

ब्रह्मचर्य विघातक बातो से सावधानी—शास्त्रकार ने ब्रह्मचर्य के निपेधात्मक रूप को लेकर कुछ ऐसी वातो से बचते रहने का सकेत किया है, जो ब्रह्मचय-नाशक हैं—"**इम च रतिरागदोसमोहपवड्ढणकर तव - सजम - बभचेरघातोवघातियाइ अणुचरमाणेण बभचेर वज्जेयव्वाइ सव्वकाल।**" सूत्रपाठ की इन सव पक्तियो का अर्थ मूलार्थ एव पदान्वयार्थ से काफी स्पष्ट हो जाता है। इसका आशय यही है कि ब्रह्मचर्य का लक्षण आत्मसेवा, आत्मरमणता, वीर्यरक्षा आदि है, तो आत्मा से भिन्न जो शरोर, इन्द्रिय या विपय-कपायादि पर पदार्थ है, उनमे रमण करना, उसी मे आसक्ति रखकर शरीर या इन्द्रियो को ही पालना-पोसना, मन को विविध कामोत्तेजक वातो मे भटकाना, शरीर या इन्द्रियो की ही सेवा शुश्रूपा मे लग जाना तथा आसक्ति, राग, द्वेप और मोह को वढाने वाली, आत्मा के प्रति लापरवाही या प्रमाद के कारण कामोत्तेजक दोपो की ओर झुकने वाली प्रवृत्तियो मे लग जाना अब्रह्मचर्य है। और ऐसे अब्रह्मचर्य से शरीर, मन, इन्द्रिय आदि को बचाना ही वास्तव मे ब्रह्मचर्य है। अत ब्रह्मचर्यघातक एव शरीरेन्द्रियपोपक तमाम प्रवृत्तियो से पूर्ण ब्रह्मचारी साधक को सदा दूर रहना चाहिए।

ब्रह्मचर्य पोषक वातो का निर्देश ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए या ब्रह्मचर्य म स्थिर होने के लिए साधु के सामने अपना ध्येय स्पष्ट होना चाहिए। जब साधक आत्मा मे या आत्मगुणसाधक प्रवृत्तियो मे सतत रमण करेगा, तव स्वत ही शरीरशुश्रूपा को, इन्द्रियपोपण की एव आसक्ति, मोह तथा काम को वढाने की वातो से वह दूर रहेगा। अपने सामने वृहत्ध्येय को रख कर जव वह प्रवृत्ति करेगा तो शरीर या इन्द्रियो पर आसक्ति या मोह रख कर नहीं चलेगा। सहज भाव से वह शरीर

---

१ मैथुन के ८ अग—**स्मरण कीर्तन केलि प्रेक्षण गुह्यभाषणम्।**
सकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाग प्रवदन्ति मनीषिण।

— सपादक

को आहार पानी देगा, शरीर शुद्ध भी करेगा, इन्द्रियो से अलग-अलग काम भी लेगा, लेकिन इन सब प्रवृत्तियो को अनासक्त भाव से करने के कारण ये सब प्रवृत्तियां ब्रह्मचर्यपोषक ही होगी, ब्रह्मचय विघातक नही। जब उसका जीवन सहजभाव से आत्मरमणता या आत्मोपासना की ओर झुक जायगा, तब उसे कहाँ फुरसत मिलेगी, शरीर-शुश्रूषा के बारे मे इतस्तत सोचने की ? तब उसे कहा समय मिलेगा शरीर के परिमडन करने का या अन्य कामोत्तेजक बाते सोचने का ? जब वह षट्काय (प्राणिमात्र) का माता-पिता बनकर विश्व की समस्त आत्माओ की सेवा मे, उनका जीवन निर्माण करने-कराने मे अपनी आत्मसाधना करते हुए अहर्निश लगा रहेगा, तब कहा उसके मन को विषयवासनाओ की ओर दौडने का अवकाश मिलेगा ? ब्रह्मचय पालन मे स्थिर होने के लिए इसी दृष्टि से शास्त्रकार ब्रह्मचय का निर्देश करते ह 'भावेयव्वो भवइ य अतरप्पा इमेहिं तवनियमसीलजोगेहिं निच्च-काल अण्हाणक जहा से थिरतरक होइ बभचेर ।' सूत्रपाठ की इन सब पंक्तियो का अर्थ भी पहले स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ ब्रह्मचयपोषक जिन बातो की ओर शास्त्रकार ने निर्देश किया है, उनमे की कुछ बाते मानसिक ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित है कुछ मे आत्मा की उपासना को छोड कर शरीरशुश्रूषा के निषेध का सकेत है। जैसे—मान-अपमान या लाभालाभ, सुखदुःख आदि मन से उत्पन्न होने वाली बाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा को मान-अपमान, लाभ-अलाभ आदि कुछ भी नही होता। यह तो शरीर का धम है। परन्तु यह गलत है। राग या आसक्ति के वशीभूत होकर ही किसी दूसरे के शरीर या अवयव पर कामकुदृष्टि या कामचिन्तना होती है। जब साधक आत्मा के निजी गुणो, परमात्मा (सिद्ध और अहन्त, के गुणो का चिन्तन करेगा, शरीर के प्रति आसक्ति, मोह, वासना आदि की दृष्टि छोड कर शरीर को सिर्फ सयम पालन मे सहायक कारण समझेगा, तब इन सब बातो की ओर न तो उसका मन जायेगा, न इन्द्रिया और शरीर जायेगे और न ही वचनादि अन्य साधन ही जाएँगे। किन्तु साधक के सस्कार मे यह सब तभी रमेगा, जब वह तपस्या, नियम, शील और मन-वचन-काया की प्रवृत्तियो के औचित्य पर ब्रह्मचर्य को केन्द्र मे रख कर चिन्तन-मनन करेगा, इन पवित्रभावो मे ओतप्रोत हो जायगा। तभी उसका ब्रह्मचर्य अत्यन्त स्थिर होगा, उसके सस्कार सुदृढ हो जाएँगे।

—ब्रह्मचर्य रक्षा के लिए ५ भावनाएँ

पूर्वोक्त सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने ब्रह्मचर्य के माहात्म्य, गौरव, स्वरूप, तथा ब्रह्मचर्य पालन के बारे मे सावधाना एव सुरक्षा के बारे मे विशद निरूपण किया है। अब इस सूत्रपाठ मे ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए दूसरे पहलू से पाँच भावनाओ का निरूपण शास्त्रकार करते हैं।

मूलपाठ

तस्स इमा पंच भावणाओ चउत्थयस्स होंति अबंभचेर-वेरमणपरिरक्खणट्ठयाए, (१) पढमं सयणासण-घर-दुवार-अंगण-आगास-गवक्ख-साल-अभिलोयण-पच्छवत्थुक-पसाहणक - ण्हाणि-कावकासा, अवकासा जे य वेसियाणं अच्छंति य जत्थ इत्थिकाओ अभिक्खणं मोहदोसरतिरागवड्ढणीओ कहिंति य कहाओ बहुविहाओ, तेऽवि हु वज्जणिज्जा, इत्थि-संसत्तसंकिलिट्ठा अन्नेऽवि एवमादी अवकासा ते हु वज्जणिज्जा जत्थ मणोवि-ब्भमो वा, भंगो वा, भंसणा वा, अट्टं रुद्दं च हुज्ज झाणं, तं तं वज्जेज्जऽवज्जभीरू अणायतणं अंतपंतवासी। एवमसंसत्त-वासवसहीसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा, आरतमण-विरयगामधम्मे जितेंदिए बंभचेरगुत्ते (२) बितियं नारीजणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा विचित्ता विब्बोयविलाससंपउत्ता हास-सिंगारलोइयकहव्व मोहजणणी न आवाह-विवाह-वर-कहा विव इत्थीणं वा सुभग-दुभगकहा चउसट्ठी च महिलागुणा न वन्न-देस-जाति-कुल-रूव-नाम-नेवत्थ-परिजणकहा वि इत्थि-याणं अन्नावि य एवमादियाओ कहाओ सिंगारकलुणाओ तवसंजमबंभचेरघातोवघातियाओ अणुचरमाणेणं बंभचेरं न कहेयव्वा, न सुणेयव्वा, न चिंतेयव्वा। एवं इत्थीकहविरति-समितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा आरतमणविरय-गामधम्मे जितिंदिए बंभचेरगुत्ते। (३) ततीयं नारीणं हसित-भणितं चेट्ठिय-विप्पेक्खित-गइ-विलास-कीलियं विब्बोइ(ति) य-नट्ट - गीत-वादिय सरीरसंठाण-वन्न-कर-चरण-नयण-लावन्न - रूव-जोव्वण पयोहराधर-वत्थालंकारभूसणाणि य गुज्झो-वकासियाइं अन्नाणि य एवमादियाइं तवसंजमबंभचेर-घातोवघातियाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं न चक्खुसा, न

मणसा, न वयसा पत्थेयव्वाइ पावकम्माइ । एव इत्थीरूव-विरतिसमितिजोगेणं भावितो भवति अन्तरप्पा आरतमण-विरयगामधम्मे जिइदिए बंभचेरगुत्ते । (४) पुव्वरय-पुव्व कीलिय-पुव्वसगथगथसथुया जे ते आवाह - विवाह - चोल्लकेसु य तिथिसु जन्नेसु उस्सवेसु य सिंगारागारचारुवेसाहिं हाव-भाव पललिय-विक्खेव-विलाससालिणीहिं अणुकूल-पेम्मिकाहिं सद्धिं अणुभूया सयणसपओगा उदुसुहवरकुसुम-सुरभिचदणसुगन्धिवरवास - धूव-सुहफरिसवत्थ - भूसणगुणो - ववेया रमणिज्जाउज्जगेयपउरनडनट्टकजल्लमल्लमुट्ठिक-वेलवग-कहग - पवग-लासग - आइक्खग-लख-मख-तूणइल्ल-तुबवीणिय-तालायर-पकरणाणि य बहूणि महुरसर-गीतसुस्सराइ अन्नाणि य एवमादियाणि तवसजमबभचेरघातोवघातियाइ अणुचर-माणेण बभचेर न ताइ समणेण लब्भा दट्ठु, न कहेउ, न वि सुमरिउ जे । एव पुव्वरय-पुव्वकीलियविरतिसमितिजोगेण भावितो भवति अतरप्पा आरयमणविरतगामधम्मे जिइदिए बभचेरगुत्ते । (५) पचम आहार - पणीय-निद्धभोयणविवज्जए सजए सुसाहू ववगयखीर-दहि-सप्पि-नवनीय-तेल्ल-गुल-खड-मच्छडिक-महु-मज्ज-मस-खज्जक-विगतिपरिचत्तकयाहारे ण दप्पण, न बहुसो, न नितिक, न सायसूपाहिक, न खद्ध, तहा भोतव्व जह से जायामाताए (य) भवति, न य भवति विब्भमो, न भंसणा य धम्मस्स, एव पणीयाहारविरतिसमितिजोगेण भावितो भवति अतरप्पा आरयमणविरतगामधम्मे जिइदिए बभचेरगुत्ते ।

एवमिण सवरस्स दार सम्म सवरियं होइ सुपणिहित इमेहिं पंचहिवि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं णिच्च

आमरणत च एओ जोगो णेयव्वो धितिमया मतिमया अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असकिलिट्ठो सव्वजिणमणुन्नातो। एव चउत्थ सवरदार फासिय पालित तीरित किट्टित आणाए अणुपालित भवति। एवं नाय भगवया पन्नविय परूविय पसिद्ध सिद्धवरसासणमिण उ सुदेसित पसत्थ। (सू० २७) चउत्थ सवरदार तिबेमि ॥ ४ ॥

सस्कृतच्छाया

तस्येमा. पच भावनाश्चतुर्थकस्य भवन्ति अब्रह्मचर्यविरमणपरिरक्ष (रक्षणा थताय),(१) प्रथम शयनासनगृहद्वाराङ्गणाकाशगवाक्षशालाभि॰ पश्चाद्वास्तुकप्रसाधनकस्नातिकावकाशा, अवकाशा ये च वेश्याना च यत्र स्त्रियोऽभीक्ष्ण मोहदोषरतिरागवर्द्धना कथयन्ति च बहुविधास्तेऽपि खलु वर्जनीया, स्त्रीसत्तक्तसक्लिष्टा अन्येऽपि चैवमाद काशास्ते खलु वर्जनीया यत्र मनोविभ्रमो वा भगो वा भ्र शना वाऽऽर्त्त च भवेद् ध्यान तत्तद् वजयेदवद्य (वर्ज्य-वज्र) भीरुरनायतनमन्तप्रान्तवा एवमससक्तवासवसतिसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा आरतमनोवि ग्रामधर्मो जितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यगुप्त।

(२) द्वितीय नारीजनस्य मध्ये न कथनीया कथा विचित्रा विब्बं विलाससम्प्रयुक्ता हासशृ गारलौकिककथा वा मोहजननी न आवाहविव वरकथा इव स्त्रीणा वा सुभगदुर्भगकथा चतु षष्टिश्च महिलागुणा वर्ण-देश-जाति - कुल - रूप - नाम - नेपथ्यपरिजनकथा स्त्रीणामन्याऽ चैवमादिका कथा शृ गारकरुणा तप सयम - ब्रह्मचर्यघातोपघातिव अनुचरता ब्रह्मचर्य न कथयितव्या, न श्रोतव्या, न चिन्तयितव्या। ए॰ स्त्रीकथाविरतिसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्माऽऽरतमनोविरतग्रामधम जितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यगुप्त। (३) तृतीय नारीणा हसितभणित चेष्टितविप्रेक्षित-गतिविलासक्रीडित विब्बोकितनाट्यगीतवादित शरीरसस्थानवर्ण करचरण-नयनलावण्यरूपयौवनपयोधराधरवस्त्रालकार भूषणानि च गुह्यावकाशिकानि अन्यानि चैवमादिकानि तप सयमब्रह्मचर्यघातोपघातिकानि अनुचरता ब्रह्मचय

न चक्षुषा, न मनसा, न वचसा प्रार्थयितव्यानि पापकर्माणि । एव स्त्रीरूपविरतिसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा आरतमनो.वरतग्रामधर्मो जितेन्द्रियो ब्रह्मचयगुप्त. । (४) चतुर्थ पूर्वरत-पूर्वक्रीडितपूर्वसग्र थग्र थसस्तुता ये ते आवाहविवाहचोलकेषु च तिथिपु यज्ञेपु उत्सवेषु च शृ गारागारचारुवेपाभिर्हावभावप्रललितविक्षेपविलासशालिनीभिरनुकूल - प्रेमिकाभि साद्धं मनुभूता शयनसम्प्रयोगा ऋतुसुख (शुभ) वरकुसुमसुरभिचन्दनसुगन्धिवरवासधूपसुख - (शुभ) - स्पर्शवस्त्रभूपणगुणापपेता रमणीया ऽऽतोद्यगेयप्रचुरनटनर्त्तकजल्ल - मल्लमौष्टिकविडम्वककथकप्लवकलासकाख्यायकलखमखतूणवत्तुम्ववीणिकतालाचरप्रकरणानि च वहूनि मधुरस्वरगीतसुस्वराणि अन्यानि चैवमादिकानि तप सयमब्रह्म चर्यघातोपघातिकानि अनुचरता ब्रह्मचर्यं न तानि श्रमणेन लभ्यानि द्रष्टु, न कथयितु, नाऽपि च स्मर्तुम् । एव पूर्वरतपूर्वक्रीडितविरतिसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा आरतमनोविरतग्रामधर्मो जितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यगुप्त · (५) पचमक आहारप्रणीतस्निग्धभोजनविवर्ज्जक सयत सुसाधुर्व्यपगतक्षीरदधिसर्पिर्नवनीततैलगुडखडमत्स्यडिकामधुमद्यमासखाद्यकविकृतिपरित्यक्तकृताहारो न दर्पण, न वहुशो, न नैत्यिक, न शाकसूपाधिक, न प्रभूत तथा भोक्तव्य यथा तस्य यात्रामात्राय भवति, न च भवति विभ्रमो, न भ्र शना च धर्मस्य, एव प्रणीताहारविरतिसमितियोगेन भावितो भवति अन्तरात्मा आरतमनोविरतग्रामधर्मो जितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यगुप्त ।

एवमिद सवरस्य द्वार सम्यक् सवृत भवति सुप्रणिहित एभि पचभिः कारणैर्मनोवचनकायपरिरक्षितैर्नित्यमामरणान्त चैष योगो नेतव्यो धृतिमता मतिमताऽनास्रवोऽकलुषोऽच्छिद्रोऽपरिस्रावी असक्लिष्ट शुद्ध सर्वजिनानुज्ञात । एव चतुर्थ सवरद्वार स्पृष्ट पालित शोधित (शोभित) तीरित कीर्तितमाज्ञयाऽनुपालित भवति । एव ज्ञातमुनिना भगवता प्रज्ञप्त प्ररूपित प्रसिद्ध सिद्धवरशासनमिदमाख्यात सुदेशित प्रशस्तम् । (सू० २७) चतुर्थं सवरद्वार समाप्तमिति ब्रवीमि ॥४॥

पदान्वयार्थ—(तस्स चउत्थयस्स) उस चतुर्थसवर द्वार ब्रह्मचर्यव्रत की (इमा पच भावणाओ) ये आगे कही जाने वाली पाच भावनाएँ, (अवभचेरवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए) अब्रह्मचर्य से विरतिरूप ब्रह्मचर्य की चारो ओर से सुरक्षा के लिए (होंति) हैं। (पढम) पहली अससक्तवासवसतिसमिति भावना इस प्रकार है—(सयणासण-

घर - दुवार-अगण-आगास-गवक्ख-साल अभिलोयण पच्छवत्थुक-पसाहणक-ण्हाणिकाव-कासा) शय्या, आसन, घर, द्वार, आगन, खुला स्थान-अनाच्छादित स्थान, खिडकी-झरोखा, सामग्री रखने का स्थान, बहुत ऊँचा स्थान, जहाँ से सब दिखाई देता है, घर का पिछला भाग, स्नान और शृगार करने का स्थान (य) तथा (वेसियाण) वेश्याओ के (अवकासा) स्थान (य) और (जत्थ) जहाँ पर (इत्थिकाओ) स्त्रियाँ (अभिक्खण) वारवार (अच्छति) आकर बैठती है (य) एव (मोहदोसरतिराग-वड्ढणीओ बहुविहाओ कहाओ) मोह, द्वेप, कामराग एव स्नेहराग आसक्ति को बढाने वाली अनेक प्रकार की कथाएँ (कहिंति) कहा करती हैं, (तेवि इत्थिससत्त-सकिलिट्ठा) वे स्त्रियो के ससर्ग से चित्त मे कामविकार पैदा करने वाले स्थान भी (हु) निश्चय ही (वज्जणिज्जा) त्यागने योग्य हैं। (य) तथा (अन्नेवि) और भी (एवमादी) इसी प्रकार के कामविकारवर्द्धक स्थान हो तो (ते) उन्हे भी (हु) अवश्य (वज्जणिज्जा) वर्जनीय समझें, अधिक क्या कहे (जत्थ) जहाँ जहाँ (मणो-विब्भमो वा) चित्तवृत्ति मे व्यग्रता या कामविह्वलता या 'ब्रह्मचर्य का पालन करूँ या नही ?' इस प्रकार की चित्त मे भ्रान्ति, (भगो वा) या ब्रह्मचर्य का सर्वथा भग (भसणा वा) अथवा ब्रह्मचर्य का आशिक भग (अट्ट) आर्तध्यान (च, तथा (रुद्द झाण) रौद्रध्यान (हुज्ज) पैदा हो, (अवज्जभीरू) पाप से डरने वाला (अतपतवासी) इन्द्रियो के प्रतिकूल, किन्तु साधुओ के अनुरूप विविक्त स्थान मे निवास करने वाला साधु (त त) उस उस (अणायतण) साधुओ के निवास के अयोग्य स्थान का (वज्जेज्ज) त्याग करे। (एव) इस प्रकार (अससत्तवासवसही-समितिजोगेण) स्त्री-सम्पर्क से रहित वसति - स्थान मे निवास के विषय मे सम्यक् प्रवृत्ति-समिति-प्रयोग से (अतरप्पा) साधु की अन्तरात्मा (भावितो) ब्रह्मचर्य के सुसस्कारो से सस्कृत (भवति) हो जाती है, (आरतमणविरयगामधम्मे) उसका मन ब्रह्मचर्य मे तल्लीन हो जाता है, और इन्द्रियाँ आसक्तिपूर्वक विषय-ग्रहण करने के स्वभाव से निवृत्त हो जाती है (जितेंदिए) इन्द्रिय-विजेता वह साधु (बभचेरगुत्ते) ब्रह्मचर्य की सुरक्षा कर लेता है। (वितिय) दूसरी स्त्रीकथाविरतिरूपसमिति भावना इस प्रकार है— (नारीजणस्स) केवल स्त्रियो की ही सभा के (मज्झे) बीच मे (विचित्ता) ज्ञान, चारित्रादि की वृद्धि को रोकने वाली कोरी वाणीविलासरूप विचित्र (विब्बोय-विलास सपउत्ता) स्त्रियो की अभिमानजन्य अनादरपूर्ण चेष्टाओ तथा भौंह, नेत्र आदि के विकाररूप विलास से सयुक्त (कहा) कथा (न) नहीं (कहेयव्वा) कहनी

चाहिए (व) अथवा (हासंसिंगारलोइयकहा) हास्यरस और शृंगाररस प्रधान लौकिक कथा (व) तथा (मोहजणणी) मोह पैदा करने वाली (आवाह-विवाहकहा) नव-विवाहित वर-वधू को बुलाने की या विवाह की कथा (अवि) भी (न) नहीं कहनी चाहिए (वा) अथवा (इत्थीण) स्त्रियों की (सुभग - दुभगकहा) सुन्दरता और कुरूपता से सम्बन्धित कथा अथवा सुहागिन होगी या विधवा ? इस प्रकार की या भाग्य-शालिनी होगी या अभागिनी ? इससे सम्बन्धित बात भी (च) और (चउसट्ठी महिलागुणा न) महिलाओं के आलिंगन आदि ८ कर्मों के प्रत्येक के ८-८ भेद होने से कुल ६४ गुणों का, अथवा गीत, नृत्य औचित्य आदि महिलाओं के ६४ गुणों का, या वात्स्यायनकामशास्त्र आदि में प्रसिद्ध आसनादि ६४ भेदों का वर्णन भी नहीं करना चाहिए। (व) अथवा (इत्थियाण) स्त्रियों से सम्बन्धित (वन्न-देस-जाति-कुल-रूव-नाम-नेवत्थपरिजणकहा वि) वर्ण, देश, जाति, कुल, रूप, नाम, नेपथ्य-पोशाक और परिवार की कथा भी (न) नहीं करनी चाहिए। (य) तथा (एवमादियाओ) इसी प्रकार की (अन्नाधि) और भी (सिंगारकलुणाओ) शृंगाररस द्वारा करुणा पैदा करने वाली (तवसंजम-बंभचेरघातोवघातियाओ) तप, संयम, और ब्रह्मचर्य का आंशिक रूप से तथा पूर्णरूप से घात करने वाली (कहाओ) कथाएँ (बंभचेर) ब्रह्मचर्य का (अणुचरमाणेण) आचरण करने वाले साधु को (न कहेयव्वा) नहीं कहनी चाहिए तथा (न सुणेयव्वा) न दूसरे से सुननी चाहिए और (न चिंतेयव्वा) न ही मन में उनका चिन्तन करना चाहिए। (एव) इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से (इत्थीकहविरति-समितिजोगेण) स्त्री कथा से विरक्तिरूप समिति का प्रयोग-आचरण करने से (अंत-रप्पा) साधु का अन्तरात्मा (भावितो) ब्रह्मचर्य के संस्कार से सुवासित (भवति) हो जाता है, (आरतमणविरयगामधम्मे) उसका हृदय ब्रह्मचर्य में मग्न हो जाता है और उसकी इन्द्रियाँ विषयों से पराङ्मुख हो जाती हैं, (जितेंदिए) ऐसा इन्द्रियविजेता साधु ही (बंभचेरगुत्ते) ब्रह्मचर्य का पूर्ण रक्षक बन जाता है। (ततीय) तीसरी स्त्रीरूपविरतिसमिति भावना है, वह इस प्रकार है—(नारीण) स्त्रियों के (हसित-भणित) मधुर हास्य तथा विकारयुक्त कथन, (चेट्ठिय-विपेक्खित-गइ-विलास-कीलिय) हाथ आदि की चेष्टाएँ लटके, कटाक्ष आदि या भौंहों की चेष्टा करके निरीक्षण, गति-चालढाल, हावभावादि रूप विलास और कामोत्तेजक क्रीड़ा, (य) तथा (बिब्बो-इय-नट्ट-गीत-वाइय-सरीरसंठाण वन्न-कर-चरण-नयण-लावन्न-रूव-जोव्वण-पयोहराहर-वत्थालंकारभूसणाणि) कामोत्पादक संभाषण, नाट्य, नृत्य, गीत, वीणादिवादन तथा मोटी,

दुबली, ठिगनी आदि के रूप मे शरीर का ढाचा डीलडौल, रगरूप, हाथ, पैर और आँखो की रमणीयता, लावण्य आकृति, यौवन, स्तन, नीचे का ओठ, कपडे, हार आदि अलकार, वेषविन्यास या साज सज्जा या शृ गारप्रसाधन (य) तथा (गुज्झोवकासियाइ) गुप्तागो के स्थान (य) और (एवमादियाइ अन्नाणि) इसी प्रकार के अन्य (तवसजमबभचेरघातोवघातियाइ) तप, सयम और ब्रह्मचर्य का अल्प या पूर्ण रूप से घात करने वाले (पावकम्माइ) पाप-कर्मों को (बभचेर) ब्रह्मचर्य का (अणुचरमाणेण) पालन करने वाला साधु (न चक्खुसा) न आँखो से देखने की, (न मणसा) न मन से चिन्तन करने की (न वयसा) और न वचन से कहने की (पत्थेयव्वा) इच्छा करे। (एव) इस प्रकार (इत्थीरूवविरति-समितिजोगेण) स्त्रीरूप निरीक्षण से निवृत्तिरूप समिति के मन वचन काया के योग-प्रयोग से (भावितो) सस्कृत (भवति) हो जाता है। (आरतमणविरतगामधम्मे) ऐसे साधु का मन ब्रह्मचर्य मे सलग्न हो जाता है और उसकी इन्द्रियाँ विषयो से विरक्त हो जाती है। वही (जिइदिए) जितेन्द्रिय साधु (बभचेरगुत्ते) ब्रह्मचर्य का पूर्ण सुरक्षक होता है। (चउत्थ) चौथी पूर्वरत पूर्वक्रीडितविरतिसमिति भावना है, जो इस प्रकार है—(पुव्वरय-पुव्वकीलिय-पुव्वसगथगथसथुया) पूर्व-गृहस्थाश्रम मे अनुभव की हुई कामरति तथा गृहस्थावस्था मे की हुई द्यूतादिक्रीडा तथा पूर्वकालिक श्वसुरकुल के साले, साली, साले की पत्नी, पुत्री आदि सम्बन्ध के कारण परिचित, (जे ते) जो जो हो, उन्हे कामोदय दृष्टि से देखना, कहना और स्मरण करना योग्य नहीं है। (य) तथा (आवाह विवाह चोल्लकेसु) वधू के साथ वर को घर मे लाने के समय, विवाह के समय तथा बालक के चूडाकर्म-चोटी रखने के—सस्कार के अवसर पर (तिथिसु) वसतपचमी आदि तिथियो पर, (जन्नेसु) यज्ञो-पूजाओ मे (य) तथा (उस्सवेसु) उत्सवो मे (सिंगारागार चारुवेसाहिं) शृ गार रस की गृहस्वरूप सुन्दर वेशभूषा वाली स्त्रियो के, (हाव-भाव-पललिय-विक्खेव-विलास-सालिणीहिं) हाव-मुखविकार, भाव-मानसिक विकार, हाथ-पैर आदि अगो का कोमल न्यास-सचालन, चित्त की व्यग्रता के कारण लापरवाही से किया हुआ शृ गार विपर्यास तथा विलासयुक्त चाल से शोभायमान (अणुकूल पेम्मिकाहिं) अनुकूल प्रेम रखने वाली प्रेमिकाओ के (सद्धि) साथ (उदुसुह-वरकुसुम-सुरभिचदण-सुगधिवर-वासधूव-सुहफरिस-वत्थभूसण-गुणोववेया) ऋतु के अनुकूल सुख देने वाले सुन्दर फूल, श्रेष्ठ सुगन्धित चन्दन, सुगन्धित उत्तम चूर्ण वास-पाउडर, धूप, शुभस्पर्श, वस्त्र, आभूषण आदि भोगो को बढावा देने वाले पदार्थों के गुणो से युक्त (सयणसपओगा) शयन-सहवास का (अणुभूया) अनुभव पूर्वकाल

मे किया हे, उन्हे (य) तथा (रमणिज्जाउज्ज गेयपउर-नड-नट्टक-जल्ल-मल्ल-मुट्ठि कवेलवग-कहग-पवगलासग - आइक्खग - लख-मख - तूणइल्ल - तुवीणिय - तालायर-पकरणाणि) रमणीय बाजो और गायनो से सपन्न नट, नाचने वाले, रस्सी पर चढकर खेल दिखानेवाले, पहलवान, मुष्टियुद्ध करनेवाले मुक्केबाज, विदूषक या भाड, कथक्कड, ऊपर से नदी आदि मे कूदने वाले या ऊँचे उछलने वाले, रासलीला करने वाले, शुभाशुभ फल बताने वाले, लबे बासो पर खेल करने वाले, चित्रपट हाथ मे लेकर भीख मागने वाले डाकौत, तूण नाम का बाजा बजाने वाले, वीणा बजाने वाले, और बाजीगर या ताल बजाने वाले, इन सबकी क्रियाएँ (य) एव (बहूणि) बहुत से (महुरसर गीत सुस्सराइ) मधुरस्वर मे गाने वालो के गीतो की सुरीली आवाजें (य) तथा (एवमादियाणि) इसी प्रकार के, (अन्नाणि) अन्यान्य जो (बभचेर घातोव-घातियाइ) ब्रह्मचर्य का आशिक रूप से या पूर्णरूप से घात करने वाले हैं, (ताइ) वे (बभचेर) ब्रह्मचर्य (अणुचरमाणेण) पालन करने वाले साधु के द्वारा (न दट्टु) न देखने, (न कहेउ) न कहने (न वि सुमरिउ) और न स्मरण करने (लब्भा जे) योग्य हैं। (एव) इस प्रकार (पुव्वरय-पुव्वकीलिय-विरतिसमितिजोगेण) पूर्वगृहस्थावस्था की कामरति, द्यूतादि क्रीडा के कामोदय दृष्टि से प्रेक्षण-कथन-स्मरण के त्यागरूप समिति के चिन्तन एव प्रयोग से (अतरप्पा) साधु का अन्तरात्मा, (भावितो) ब्रह्मचर्य के सस्कार से युक्त (भवति) हो जाता हे, (आरयमण-विरतगामधम्मे) उसका मन ब्रह्मचर्य मे ओतप्रोत हो जाता है, और उसकी इन्द्रियाँ विषयो से विरक्त हो जाती हैं। और तब वह (जिइ दिए) इन्द्रियविजेता साधु (बभचेरगुत्ते) ब्रह्मचर्य की पूर्णरूपेण सुरक्षा कर लेता है। (पचमग) पाचवीं प्रणीताहारविरति-समिति भावना हे, जो इस प्रकार है—(आहारपणीयनिद्धभोयण-विवज्जते) स्वादिष्ट और गरिष्ठ एव स्निग्ध भोजन का त्याग करने वाला, (ववगयखीरदहिसप्पि-नवनीय-तेल्लगुलमच्छडिय-महुमज्जमस-खज्जक विगतिपरिचत्त कयाहारे) दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड, शक्कर, मिश्री, मधु-शहद, मद्य, मास आदि विकृतिजनक-विकृतिक खाद्य पदार्थों का, आहार के रूप मे त्याग किया हुआ (सजते सुसाहू) सयमी सुसाधु (ण दप्पण) इन्द्रिय दर्पकारक पदार्थ का सेवन न करे, (न बहुसो) न दिन मे कई बार खाए, (न नितिक) न प्रतिदिन खाए, (न सायसूपाहिक) साग-दाल अधिक न खाए, (न खद्ध) न ज्यादा खाए। (तहा) वैसा हित, मित और पथ्यकर (भोत्तव्व) भोजन करे, (जह) जिससे (से) उस ब्रह्म-चारी का वह भोजन (जायामाताए) सयम-यात्रा के निर्वाह-भर के लिए (भवति) हो (य) और जिससे (न विब्भमो) धर्म के प्रति मन की अस्थिरता न हो, (य) और

(न धम्मस्स भसणा) न ब्रह्मचर्य धर्म से पतन ही हो, (एव) पूर्वोक्त प्रकार से (पणीयाहारविरति समितिजोगेण) स्वादिष्ट एव गरिष्ठ आहार से विरक्तिरूप समिति को चिन्तनपूर्वक प्रवृत्ति से (अन्तरप्पा भावितो भवति) ब्रह्मचारी की आत्मा ब्रह्मचर्य के दृढ़ सस्कारो से युक्त हो जाती है, (आरय-मण-विरतगामधम्मे) उसका मन ब्रह्मचर्य मे तल्लीन हो जाता है और उसकी इन्द्रियां विषयो से विरक्त हो जाती हैं। फिर वह (जिइ दिए) जितेन्द्रिय होकर (बभचेरगुत्ते) ब्रह्मचर्य का पूर्णतया सुरक्षक बन जाता है।

(एव) इस प्रकार (इण) इस (सवरस्स दार) चतुर्थ सवर ब्रह्मचर्य सवर का द्वार (मणवयणकायपरिरक्खिएहि) मन, वचन और काया से सुरक्षित (इमेहिं पचहि वि कारणेहिं) इन-पूर्वोक्त पांचकारणो–पचभावनायोगो के द्वारा (सम्म) सम्यक् रूप से (सवरिय) सुरक्षित (होई) हो जाता है और (सुप्पणिहिय) अच्छी तरह दिलदिमाग और सस्कारो मे जम जाता है। (धितिमया मतिमया) धृतिमान् और बुद्धिमान् साधक को (एसो जोगो) यह पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य सुरक्षा के लिए पाच भावनाओ का चिन्तनसहित प्रयोग (निच्च आमरणत) जीवन के अत तक प्रतिदिन, (णेयव्वो) करना चाहिए, जो कि (अणासवो) आश्रवरहित है, (अकलुसो) निर्मल है, (अच्छिद्दो) कर्म प्रवेश के लिए छिद्र से रहित (अपरिस्सावी) कर्मबन्धन रहित और (असकिलिट्ठो) सक्लिष्ट परिणामो से रहित है। (सुद्धो) यह पवित्र है, और (सव्व-जिणमणुन्नातो) समस्त जिनवरो से अनुज्ञात है। (एव) इस प्रकार (चउत्थ) चौथा (सवरदार) ब्रह्मचर्य नामक सवरद्वार (फासिय) उचित काल मे अगीकार किया हुआ, (पालिय) पालन किया गया, (सोहित) अतिचाररहित आचरण किया हुआ, (तीरित) पूर्णरूप से अन्त तक पालन किया गया, (किट्टित) दूसरो के लिए कथन किया गया (आणाए अणुपालिय) भगवान् की आज्ञापूर्वक निरन्तर पालन किया गया (भवति) होता है।

(एव) उक्त प्रकार से (नायमुणिणा) ज्ञातवश मे उत्पन्न मुनि अर्थात् भगवान् महावीर स्वामीद्वारा (इण, यह (सिद्धवरसासण) सिद्धो का श्रेष्ठ शासन (पन्नविय) सामान्य रूप से निरूपित है, (परूविय) विशेष रूप से विवेचन किया गया है, (पसिद्ध) प्रमाणों और नयो द्वारा सिद्ध किया गया है, (आघविय) भलीभांति हृदय मे जमा दिया गया है, (सुदेसिय) भव्यजीवो के लिए समुपदिष्ट और (पसत्थ) मगलस्वरूप (चउत्थ सवरदार) चौथा ब्रह्मचर्य सवरद्वार (समत्त) समाप्त हुआ। (इति) इस प्रकार (बेमि) मै (सुधर्मा स्वामी) कहता हूँ।

मूलार्थ—अब्रह्मचर्य से विरतिरूप ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए ये आगे कही जाने वाली पाच भावनाएँ है। पहली **असंसक्तवास-वसति समिति भावना** इस प्रकार है—शय्या, आसन, गृह, द्वार, घर का आगन, खुला स्थान, खिडकी-झरोखा, घर का सामान रखने का स्थान, जहाँ से वाहर का दृश्य दिखाई देता है—ऐसा वहुत ऊँचा स्थान, घर का पिछला भाग, शृङ्गार और स्नान करने का स्थान, वेश्याओ के स्थान, जहा वार-वार औरतें वैठती या ठहरती है और मोह, कामराग व स्नेहराग-आसक्ति वढाने वाली अनेक प्रकार की कथाएँ करती है, ऐसे स्त्री सम्पर्क से चित्त मे विकार उत्पन्न करने वाले सभी स्थान निश्चय ही ब्रह्मचारी साधु के लिए त्याज्य ह। इसी प्रकार के अन्य स्थान भी वर्जनीय समझने चाहिए, जहा चित्तवृत्ति मे कामविकलता होती हो, ब्रह्मचर्य का सर्वथा भग होता हो या आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान पैदा होता हो। पापभीरू तथा इन्द्रियो के प्रतिकूल विविक्त स्थान मे निवास करने वाले साधु के लिए उचित है कि वह साधु के निवास करने के लिए अयोग्य उन-उन स्थानो का परित्याग करे। इस प्रकार असंसक्तवास वसतिसमिति के चिन्तनयुक्त प्रयोग से साधु की अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के सस्कारो से पुष्ट हो जाती है, उसका मन ब्रह्मचर्य मे लीन हो जाता है और उसकी इन्द्रियाँ विपयो से निवृत्त हो जाती है। वह इन्द्रियविजेता साधु ब्रह्म-चर्य की पूर्णतया सुरक्षा कर लेता है।

दूसरी स्त्रीकथाविरति समिति भावना इस प्रकार है—एकात स्त्रियो की-ही परिषद् मे वैठ कर ज्ञानचारित्र भाव वर्द्धक वातो से रहित वाणी की प्रपञ्च-रचना से युक्त विचित्र एव स्त्रियो की अभिमानजन्य अनादरपूर्ण चेष्टा तथा नेत्रादि विलास से युक्त कथा न करे। अथवा हास्यरस एव शृगाररस-प्रधान लौकिक कथा न करे। मोह उत्पन्न करने वाली नवविवाहित वर-वधू को वुलाने की तथा विवाहशादी की कथाएँ भी न करे। इसी प्रकार स्त्रियो के सौभाग्यदुर्भाग्य के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी न करे अथवा महिलाओ की सुरूपता-कुरूपता के सम्बन्ध मे भी चर्चा न करे, तथा महिलाओ के आलिंगन आदि ६४ गुणो अथवा नृत्य, गीत, औचित्यादि ६४ महिला गुणो, या वात्स्यायन सूत्र आदि मे प्रसिद्ध ६४ महिलागुणो की चर्चा भी नही करनी चाहिए। और न ही स्त्रियो से सम्वन्धित देश, जाति, कुल रूप, नाम, पोशाक और परिवार की कथाएँ करनी चाहिए। इसी प्रकार की और भी शृगार-

रस द्वारा करुणा पैदा करने वाली तप, सयम और ब्रह्मचर्य का आशिक या पूर्णरूप से घात करने वाली कथाएँ ब्रह्मचारी न करे, न सुने और न ही चिन्तन करे। इस प्रकार स्त्री कथा से विरक्तिरूप सम्यक् प्रवृत्ति-समिति का प्रयोग करने से ब्रह्मचारी की आत्मा ब्रह्मचर्य से सुसस्कृत हो जाती है। उसका मन ब्रह्मचर्य मे एकाग्र हो जाता है और इन्द्रिया विपयसेवन की ओर नही दौडती। अत वह इन्द्रियविजेता साधु ब्रह्मचर्य की पूर्ण सुरक्षा कर लेता है।

स्त्रीरूप दर्शन विरतिसमिति नामक तीसरी भावना इस प्रकार है—स्त्रियो का मधुर हास्य, विकारयुक्त कथन, हाथ पैर आदि अगो की चेष्टाएँ, कटाक्षआदि से या भ्रूचेष्टापूर्वक निरीक्षण, गति-चालढाल, विलास—नेत्रादि विकार, अभीष्टवस्तु की प्राप्ति से अभिमानजन्य अनादरपूर्ण चेष्टा, नृत्य, गीत, वीणावादन शरीर की लम्बाई-चौडाई आदि के रूप मे डीलडौल या ढाचा, रगरूप, हाथ पैर और नेत्र का लावण्य-सौन्दर्य, इन सबके प्रसाधन-प्रकार तथा शरीर के गुप्त (ढकने योग्य लज्जाजनक) अग तथा ये और दूसरे भी इसी प्रकार के तप, सयम और ब्रह्मचर्य का पूर्ण या आशिक रूप से घात करने वाले इन पापकर्मों को ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाला साधु न आँखो से देखने की, न मन से चिन्तन करने की और न वाणी से कहने की इच्छा करे। इस प्रकार स्त्रीरूपविरतिसमिति के प्रयोग से ब्रह्मचारी की अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के सस्कारो से युक्त हो जाती है। उसका मन ब्रह्मचर्य मे तल्लीन हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ विपयो से विमुख हो जाती है। वही जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचर्य की भलीभाति रक्षा कर लेता है। चौथी पूर्वरत-पूर्वक्रीडित विरतिसमिति भावना है। वह इस प्रकार है—पहले गृहस्थ अवस्था मे अनुभव की गई कामक्रीडा या पूर्वअनुभूत द्यूतादि क्रीडा, श्वसुर-कुल के साले साली या साले के स्त्रीपुत्रादि परिवार के पूर्वपरिचित व्यक्तियो को देखने, उनके सम्बन्ध मे कहने और स्मरण करने का त्याग करे। नवविवाहित वर वधू के घर मे प्रवेश के समय, विवाह के समय, चूडाकर्म-सस्कार के अवसर पर तथा वसत पचमी आदि तिथियो पर, यज्ञ-पूजाओ तथा उत्सवो के मौके पर शृङ्गाररस के गृहरूप सुन्दर वेशभूपा से सुसज्जित

परिधान, विलासपूर्वक मस्तानी चाल से सुशोभित, अनुकूल प्रेमवाली प्रेमिकाओ के साथ ऋतु के अनुकूल सुखद सुन्दर फूल, महकते उत्तम चन्दन, महकते हुए उत्तम चूर्ण (पाउडर), इत्र आदि की मस्त सुगन्ध, धूप, सुखस्पर्श, मुलायम कपडे, इन सब कामभोग-वर्द्धक गुणो से युक्त जिन शयनसम्पर्कों का सुखानुभव गृहस्थावस्था मे किया था, उन्हे न देखे, न उनका वर्णन करे, और न ही मन मे उनका चिन्तन करे। तथा रमणीय बाजो और गायनो के सहित नट का तमाशा करने वालो, नृत्य करने वालो, रस्सी पर चढ कर खेल करने वालो, कुश्ती करने वाले पहलवानो, मुष्टि-युद्ध करने वाले मल्लो, कथा करने वाले कथको, ऊपर से पानी मे कूदने वालो, रासलीला करने वाला, शुभाशुभ फल बताने वालो, लबे बास पर चढ कर तमाशा दिखाने वालो, चित्रपट हाथ मे लेकर भिक्षा मागने वालो (डाकौत आदि), तूण नामक बाजा बजाने वालो तथा बाजीगरो की विशेष क्रिया तथा मधुर स्वर से गाने वालो के सुरीले स्वर तथा इसी प्रकार की अन्य विविध क्रियाएँ, जिनसे तप, सयम और ब्रह्मचर्य का सर्वथा या आशिक रूप से नाश होता है, इन सबको ब्रह्मचारी साधु न आखो से देखे, न वचन से उनके बारे मे चर्चा करे, और न ही मन से उन पर चिन्तन करे। इस प्रकार पहले आश्रम (गृहस्थ अवस्था) की कामक्रीडा या द्यूतादि-क्रीडा का दर्शन, उच्चारण व स्मरण के त्याग मे सम्यक् प्रवृत्ति करने से ब्रह्म-चारी की अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के सस्कारो से ओतप्रोत हो जाती है। उसका मन ब्रह्मचर्य में ही निमग्न हो जाता है,उस की इन्द्रियाँ विषयो से विमुख हो जाती है। वह जितेन्द्रिय साधु ही ब्रह्मचर्य का पूर्ण सुरक्षक बनता है।

पाचवी प्रणीत-आहारत्याग समिति भावना इस प्रकार है गरिष्ठ, स्वादिष्ट और स्निग्ध आहार को छोडने वाला तथा दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड, शक्कर, मिश्री, मधु-शहद, मद्य, माम आदि खाद्य-विकृतियो से रहित आहार करने वाला मयमी सुसाधू इन्द्रियदर्प-कारक पदार्थ न खाए, न दिन मे कई बार खाए, न प्रतिदिन भोजन करे, न ही दाल-साग अधिक खाए, न बहुत ठूस-ठूसकर ही खाए। उतना ही और वैसा ही हितकर और परिमित भोजन करे, जिससे वह भोजन उस ब्रह्मचारी साधू की सयम यात्रा के लिए पर्याप्त निर्वाहक हो। उस आहार से मन मे उद्विग्नता न पैदा हो, न ब्रह्मचर्य का सर्वथा भग हो और न ही धर्म से भ्रष्ट हो। इस प्रकार

गरिष्ठ स्वादिष्ट रसीले आहार का त्याग करने मे सम्यक् प्रवृत्ति (समिति) करने से ब्रह्मचारी का अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के सुसस्कारो से वासित हो जाता है। उसका अन्त करण ब्रह्मचर्य मे रम जाता है, उसकी इन्द्रियाँ विपयो मे आसक्तिपूर्वक प्रवृत्त नही होती। वह जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचर्य को पूर्णतया सुरक्षित कर लेता है।

इस प्रकार इन पाचो ही कारणो–ब्रह्मचर्य रक्षण के उपायो से मन, वचन और काया चारो ओर से सुरक्षित हो जाने से ब्रह्मचर्य सवर का यह द्वार भलीभाति रक्षित हो जाता है, दिल-दिमाग मे अच्छी तरह स्थापित हो जाता है। धृतिमान और बुद्धिमान साधू को यह चिन्तनयुक्त प्रयोग जीवन के अन्त तक प्रतिदिन करना चाहिए जो आश्रवरहित है, दोपरहित है, कर्मं बन्ध के स्रोत से रहित है, सक्लिष्ट परिणामो से रहित है, शुद्ध है, सर्वतीर्थ-करो ने इसकी अनुज्ञा दी है। इस प्रकार चौथा सवर द्वार उचितकाल पर स्वीकार किया हुआ, पालन किया गया, अतिचाररहित आचरण किया गया, पूर्ण रूप से पालन किया गया, अन्य भव्यजीवो के लिए उपदिष्ट है, और भगवान् की आज्ञानुसार आराधित है।

इस प्रकार ज्ञातवश मे उत्पन्न मुनि अर्थात् भगवान् महावीर ने इस चतुर्थ सवरद्वार का सामान्य रूप से प्रतिपादन किया है, विशेष रूप से इस का निरूपण किया है, प्रमाणो से सिद्ध किया है, प्रतिष्ठापित किया है, भव्य जीवो को इसका उपदेश दिया है, ऐसा मगलरूप एव सिद्धो का उत्तम-शासन रूप यह चतुर्थ ब्रह्मचर्य सवर द्वार समाप्त हुआ। ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

व्याख्या

पूर्व सूत्रपाठ मे जिस ब्रह्मचर्य की इतनी गौरव गाथाएँ शास्त्रकार ने गाई थी, उस महामूल्यवान, अनेक तपस्याओ से प्राप्त ब्रह्मचर्यरत्न की सुरक्षा के लिए साधारणरूप से उपाय भी वताए थे, किन्तु ये उपाय तव तक ही कृतकार्य होते है, जव तक साधक के सामने प्रतिकूल वातावरण न हो। वातावरण भी तभी वनता है जव ब्रह्मचर्य के सुसस्कार इतने मजवूत हो कि रोम-रोम मे वे रम जाय, रग-रग मे प्रविष्ट हो जाय, साधक के जीवन का कण-कण ब्रह्मचर्य के सस्कारो से ओतप्रोत हो जाय। इसी उद्देश्य से शास्त्रकार ने अब्रह्मचर्य के विविध स्थानो से साधक की आत्मा को वचाने तथा ब्रह्मचयपालन के सस्कारो को वद्धमूल करने हेतु

निम्नोक्त पाच भावनाएँ बताई है—(१) स्त्रीससक्त निवासस्थान - त्याग समिति भावना, (२) स्त्रीकथाविरतिसमिति भावना, (३) स्त्रीरूपविरतिसमिति भावना, (४) पूर्वरतपूर्वक्रीडित दर्शन-उच्चारण-स्मरण-त्यागसमिति भावना और (५) कामोत्पादक-आहारत्याग समिति भावना। यद्यपि इन पाचो भावनाओ के सम्बन्ध मे बताए मूलपाठ का अर्थ हम काफी स्पष्ट कर चुके हैं, तथापि इन पर विशेष विवेचन करना आवश्यक है। अत हम क्रमश इन पर विवेचन करेंगे।

पाच भावनाओ की उपयोगिता— पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा साधु के लिए अनिवार्य है। और व्रतो मे अपवाद और रियायत है, लेकिन ब्रह्मचर्य मे कोई अपवाद और रियायत नही। बल्कि शास्त्र मे यहा तक कहा गया है कि प्राणत्याग स्वीकार कर ले, यानी आत्महत्या करले, लेकिन ब्रह्मचर्य व्रत खडित न करे। इसलिए ब्रह्मचर्य की सुरक्षा जब प्राणप्रण से करना अनिवार्य है तो साधक को यह देखना पडेगा कि अब्रह्मचर्य के अड्डे कहा-कहा है? अथवा विघातक तत्त्वो के मोर्चे कहा कहा है? काम का चक्रव्यूह कहा-कहा और किस-किस प्रकार से साधक को फँसा लेता है और परास्त कर देता है? उनसे कैसे बचना चाहिए?

इन्ही प्रश्नो के उत्तर मे ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए विहित ये पाच भावनाए साधक के सामने प्रस्तुत है। ये पाच भावनाएँ साधक को अब्रह्मचर्य के अड्डो या ब्रह्मचर्य विघातक मोर्चों की जानकारी देकर उनसे बचने का आत्म-रक्षा [illegible] करने का सकेत देती है।

साधुजीवन खो बैठेगा। साधुजीवन का सर्वस्व-ब्रह्मचर्य गँवा देगा। अब्रह्मचर्य के चगुल मे फसकर अपनी की-कराई साधना की कमाई को मिट्टी मे मिला देगा। एक बार अनमोल ब्रह्मचर्यरत्न को खो देने पर फिर वह हाथ आना अत्यन्त दुष्कर है। इस लिए ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए स्थानत्यागसमिति भावना बताई गई है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए साधु को ऐसे स्थानो मे नही रहना चाहिए, जहाँ स्त्रियाँ सोती हो, बैठती हो, घर के द्वार से बार-बार उनका आवागमन होता हो, घर के आगन मे जहा उनका पडाव हो, ऐसा झरोखा-जहा से स्त्रियो पर बार-बार दृष्टि पडती हो, या ऐसा ऊँचा स्थान, जहा से बहुत दूर तक गृहस्थ के घर की चीजें तथा सासारिक प्रवृत्तिया दिखाई देती हो, घर का पिछला हिस्सा, जहा पर स्त्रियो पर दृष्टि पडती हो, या स्नानघर, शृङ्गारघर आदि स्त्रियो के आवागमन के स्थान, तथा वेश्याओ का स्थान हो अथवा आसपास वेश्याओ का मोहल्ला हो, या जहा स्त्रिया बार-बार बैठ कर मोह, द्वेष एव रतिराग बढाने वाली अनेक प्रकार की गप्पें लडाती हो, ऐसे स्थान साधु के निवास के लिए वर्जनीय है। इसके अलावा स्त्रीससर्ग से युक्त ऐसे अन्य स्थान, जहा रहने से स्त्रियो का स्वच्छन्द विलास आदि देखकर चित्त मे भ्रान्ति पैदा हो जाय कि मैं ब्रह्मचर्य का पालन करूँ या न करूँ? अथवा जहाँ ब्रह्मचय का सर्वथा भग मन-वचन-काया से होना सभव हो, अथवा जहा ब्रह्मचर्य से मानसिक या वाचिकरूप से भ्रष्टता का होना सभव हो या जहा का वातावरण शृङ्गार-रसपूर्ण देखकर साधक को ब्रह्मचर्य के बारे मे पश्चात्ताप हो, मैथुन-प्रवृत्ति के लिए तीव्रचिन्तन रूप आर्तध्यान या रौद्रध्यान हो, ऐसे स्थानो पर भी साधु का निवास करना योग्य नही है। चाहे साधु को थोडा कष्ट भी होता हो, रद्दी और जीर्णशीर्ण प्रतिकूल स्थान ही मिलता हो, लेकिन ब्रह्मचर्य रत्न की सुरक्षा के लिए वहा रहना अभीष्ट हो तो पाप भीरु एव जैसे-तैसे स्थान मे रहने के अभ्यासी साधु को वैसे स्थान मे रहने के लिए अपने मन को तैयार कर लेना चाहिए, मगर स्त्रीससर्गयुक्त अयोग्य, किन्तु बढिया स्थान मे साधु को हर्गिज नही ठहरना चाहिए। यही इस भावना का प्रयोग है।

इस प्रकार के चिन्तन के प्रकाश मे जो साधु अपनी अन्तरात्मा को स्त्री-ससक्त स्थान याग समिति की भावना से सुसस्कृत कर लेता है, उसका मन अभ्यास से ब्रह्मचय मे लीन हो जाता है, फिर उसकी इन्द्रिया विषयो के बीहडवन मे नही भटकती। वह जितन्द्रिय और गुप्तब्रह्मचारी हो जाता है।

स्त्री कथाविरतिसमिति भावना का प्रयोग—ब्रह्मचर्य विघातक तत्त्वो का दूसरा मोर्चा लगता है—स्त्रियो के सम्बन्ध मे विविध प्रकार की कामोत्तेजक कथा का। साधु के पास शास्त्रीय ज्ञान और अनुभवज्ञान होता है, वही उसके दर्शन और

चारित्र की वृद्धि मे या इनके ह्रास को रोकने मे सहायक बनता है। किन्तु अगर उस ज्ञान का प्रयोग दूसरो के कल्याण का कारण न होकर अपने चारित्र का ही विनाश करने वाला हो जाय तो वहा साधु को जरा रुक कर आत्मचिन्तन और निरीक्षण-परीक्षण करना चाहिए। साधु का उपदेश सबके लिए है, किन्तु साधु काम या मोह से प्रेरित होकर अपना उपदेश एकान्त मे—केवल स्त्रियो के बीच बैठ कर न करने लगे और वैराग्य के उपदेश के बदले कामवर्द्धक विचित्र बाते न सुनाने लगे या स्त्रियो के हाव, भाव, बिब्बोक[1] या [2]विलास से युक्त कहानिया ही न छेड बैठे अथवा स्त्रियो के मधुर हास्यरस या शृङ्गाररस के लौकिक किस्से न कहने लगे या मोहजनक बाते न बताने लगे अथवा नवविवाहित वर वधू के चरित्र एव विवाह की चर्चा न छेड बैठे, या स्त्रियो के सौभाग्य-दुर्भाग्य की भविष्यवाणी न करे अथवा स्त्रियो के आलिगन चुबन आदि ६४ गुणो या उनके नृत्यगीत आदि ६४ गुणो का वर्णन न करने लगे, या फिर विभिन्न देश[3] की, [4]जाति की व कुल[5] की स्त्रियो की चर्चा न छेडे, या फिर स्त्रियो के रूप और वेशभूषा का वर्णन न करे या उनके [6]नाम ले लेकर भी वर्णन न करे या स्त्रियो के परिवार वालो की राम कहानी न छेड बैठे। कहा तक कहे ? ये और इस प्रकार की दूसरी जो भी स्त्रियो के शृङ्गारादि से सम्बन्धित कामवर्द्धक एव तप-सयम-ब्रह्मचर्य विघातक कथाएँ हो, उन्हे ब्रह्मचर्य के आराधक साधु को न तो कहनी चाहिए, न ऐसी बाते सुननी चाहिए। अन्यथा ज्ञान के बदले अज्ञान, मोह और कुशील बढेगा। ब्रह्मचर्य भ्रष्ट साधु का मन फिर अस्त व्यस्त ही रहेगा, वह धर्म से सर्वथा पतित हो जायगा। यही इस भावना का प्रयोग है, जो साधक को ब्रह्मचर्यनिष्ठ एव इन्द्रियविजेता बना देता है। निष्कर्ष यह है कि मोह

---

१ **इष्टानामर्थाना प्राप्तावभिमानगर्वसम्भूत ।**
स्त्रीणामनादरकृतो बिब्बोको नाम विज्ञेय. ॥

अर्थ—इच्छानुकूल पदार्थों के मिल जाने पर अत्यन्त गर्व से उत्पन्न हुआ स्त्रियो का अनादरपूर्ण व्यवहार बिब्बोक कहलाता है।

२ **स्थानासनगमनाना हस्तभ्रूनेत्रकर्मणा चैव ।**
उत्पद्यते विशेषो य श्लिष्ट स तु विलास स्यात् ॥

अर्थ—स्त्रियो के ठहरने, बैठने चलने के तथा हाथ, भौह और नेत्र के स्नेहयुक्त क्रियाविशेष को विलास कहते हैं।

३ देशकथा—लाटी कोमल वचना व रतिनिपुणा होती है इत्यादि। ४ जातिकथा—ब्राह्मणिया विधवा होने पर मृतवत् है। ५ कुलकथा—पति मरने के बाद चौलुक्यपुत्रियाँ आग मे कूद पडती हैं। ६ नामकथा—सुन्दरी वास्तव मे अत्यन्त सुन्दरी ही है।

एव कामराग बढाने वाली जितनी भी बाते है, उनका भी न उच्चारण करे, न दूसरे से सुने और न मन मे चिन्तन करे। तभी ब्रह्मचर्य के बारे मे साधु अडोल रह सकता है।

स्त्रीरूपनिरीक्षणत्यागसमिति भावना का प्रयोग—इसके बाद ब्रह्मचर्य-घातक तत्त्वो का मोर्चा है—नारी के रूप से सम्बन्धित दर्शन, चिन्तन और कथन। ब्रह्मचारी साधक अपनी ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा, विद्वत्ता या स्त्रीससक्त स्थानत्याग की मर्यादा-पालन के भ्रम मे रहता है कि मै मर्यादा मे चल रहा हूँ, विद्वान् हूँ और मर्यादा का पालन करता हूँ, फिर ब्रह्मचर्य-भ्रष्ट कैसे हो सकूगा ? पर कामवासना का उद्भव तो मन से होता है और मन की प्रेरणा से साधक नारी के रूप-सौन्दर्य, लावण्य-वेशभूषा, यौवन, चालढाल, डीलडौल, शृगार, आकृति, अगप्रत्यगो, अलकारो, गुप्तागो तथा अगचेष्टाओ को कामविकार की दृष्टि देखने मे लग जाता है, फिर विकृत मन से उन पर चिन्तन करता है और विकारी वाणी से उनका वर्णन करता है। अत ब्रह्मचर्य घातक तत्त्व साधक को ऐसा पछाड देते हैं कि फिर ब्रह्मचर्य की भूमिका पर उसका उठना कठिन हो जाता है, वह एकदम निम्न भूमिका पर गिर जाता है। अत अब्रह्मचर्य के इस प्रहार से बचने के लिए स्त्रियो की मधुर मुस्कराहट, विकारयुक्त वचन, हाथ-पैर आदि की चेष्टाएँ, भ्रूचेष्टा—कटाक्षादि पूर्वक निरीक्षण, मस्तानी चाल, आँखो का विलास[1] और क्रीडा तथा नारियो के कामोत्तेजक सभाषण, नृत्य, गीत, वीणादि वाद्यवादन, शरीर की लबाई, मोटाई आदि सस्थान, रग, हाथ-पैर व नेत्र का लावण्य, रूप, यौवन, स्तन, अधर, वस्त्र, अलकार, शृगार प्रसाधन और गुप्ताग आदि ये और इसी प्रकार के अन्य स्त्री सम्बन्धी कामोत्तेजक एव पाप-कर्मवर्द्धक बाते, जो कि तप, सयम और ब्रह्मचर्य का नाश और पतन करने वाली हो, उन्हे ब्रह्मचर्य का पूर्ण आराधक साधु आँखो से न तो देखने की इच्छा करे, न मन से उनका चिन्तन करने की अभिलाषा करे और न ही वाणी से उनका वर्णन करने की कामना करे। मतलब यह है कि कामविकार पैदा करने वाली जितनी भी चीजे है, उनके दर्शन, चिन्तन और वर्णन से ब्रह्मचारी साधक सर्वथा बचे। इस प्रकार की भावना के चिन्तन और प्रयोग से साधक की अन्तरात्मा मे ब्रह्मचर्य के सुदृढ सस्कार जम जायेगे और उसका मन ब्रह्मचर्य मे सलग्न हो जायगा और तब वह ब्रह्मचर्य का पूर्ण सुरक्षक बनेगा।

१— 'हावो मुखविकार स्यात, भावश् चित्तसमुद्भव ।
विलासो नेत्रजो ज्ञेयो, विभ्रमो भ्रूयुगान्तयो' ॥

अर्थ—'हाव मुखविकार होता है भाव चित्त से उत्पन्न होता है, विलास नेत्र-जन्य विकार है और विभ्रम दोनो भौहो से होता है।'

—सपादक

पूर्वरतपूर्वक्रीड़ितविरति समिति भावना का प्रयोग—कई वार साधक के सामने न तो स्त्री होती है और न ही कोई कामोत्तेजक पदार्थ। वह मन मे यो सोचता रहता है कि मैं ब्रह्मचर्य की बाह्य मर्यादाएँ पाल रहा हू, कायिक रूप से ब्रह्मचर्य का खण्डन नही कर रहा हूँ, किन्तु उस अवस्था मे भ्रान्तिवश या मोहवश वह स्त्री या कामोत्तेजक पदार्थों के विद्यमान न होते हुए भी अपनी पूर्व (गृहस्थ) अवस्था की कामक्रीडाओ एव कामसेवन की वातो का स्मरण करके मन को विकारी बना लेता है, कभी-कभी खेल तमाशे या नटो, भाडो, तमाश बीनो, गानेबजाने वालो, चित्रकारो, खेल तमाशे दिखाने वालो आदि के अश्लील दृश्य देखकर, अश्लील श्रव्य वस्तुओ का श्रवण करके तथा पूर्व दृष्ट या अनुभूत वस्तुओ का स्मरण करके मन को वहलाता है। परन्तु वह अश्लील मनोरजन साधु के लिए बहुत महगा पडता है। उसकी वर्षों की की-कराई ब्रह्मचर्य साधना को वह गदा मनोरजन कुछ ही क्षणो मे मटियामेट कर देता है, उसकी ब्रह्मचर्यनिष्ठा को उखाड फेकता है, उसकी ब्रह्मचर्य-साधना के सुफल को भी चौपट कर देता है। इसी उद्देश्य से शास्त्रकार इस भावना के चिन्तनयुक्त प्रयोग की ओर दिशानिर्देश करते हैं—"पहले गृहस्थावस्था मे अनुभूत कामक्रीडा, द्यूत आदि क्रीडा तथा श्वसुरकुल के साले-सालो आदि से हुए परिचय तथा हास-परिहास आदि साधु को देखना, कहना या स्मरण करना हर्गिज उचित नही। इसी प्रकार पूर्वजीवन मे नवविवाहित मिलन के समय, विवाह के समय, वसतपचमी आदि तिथियो, यज्ञो और उत्सवो के अवसर पर शृगाररस की गृहस्वरूप सुन्दर वेशभूषा से सुसज्जित, हाव, भाव, अगो के ललित न्यास और विलासपूर्ण गति से सुशोभित, अनुकूल प्रेमवाली प्रेमिकाओ के साथ जो शयन-सहवास अनुभव किया था, तथा ऋतु के अनुकूल सुख देने वाले सुगन्धित श्रेष्ठ फूल, सुगन्धित उत्तमचन्दन, खुशबूदार श्रेष्ठ चूर्ण, वास, धूप, सुखस्पर्श, कोमल वस्त्र, आभूषण आदि पूर्वानुभूत एव भोग मे वृद्धि करने वाले गुणो से युक्त स्त्रियो का तथा रमणीय वाजो और श्रुति-मधुर गानो से भरपूर नट, नर्तक, पहलवान, विदूपक, तैराक, रास लीला करने वाले, खेलतमाशा दिखाने वाले, शुभाशुभ वताने वाले, लवे वास पर खेल दिखाने वाले, सुरीले राग से गाने वाले गवैया, वादक, कथक्कड वाजीगर, मधुर स्वर के गीतो की आवाज—ये और ऐसी ही अश्लील मनोरजक सामग्री प्रस्तुत करने वाले लोगो की क्रियाएँ, जो तप, सयम और ब्रह्मचर्य का आशिक एव पूर्णरूप से भग करने वाली हो, उन्हे पूर्ण ब्रह्मचर्य-साधक श्रमण को देखना, कहना और याद करना कथमपि उचित नही है।

इस प्रकार की चिन्तन प्रक्रिया से युक्त भावना के प्रकाश मे साधक का अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के सस्कारो से सुसस्कृत वनेगी और तव उसका मन ब्रह्मचर्यनिष्ठा मे ओत-

शास्त्रकार अपने अनुभव के आधार पर कुछ विकृतिकारक चीजो के नाम गिनाकर उनके प्रतिदिन अतिमात्रा मे तथा अपथ्य रूप मे सेवन करने से वचने का निर्देश किया है। दूध, दही, घी, नवनीत, तेल, गुड शक्कर, मिश्री, शहद, मास, मद्य, या गरिष्ठ खाद्य पदार्थो को विकृति जनक समझकर जो दर्पकारक या मदकारक तामसिक खानपान है, उन्हे सेवन न करे, न प्रतिदिन ही सेवन करे, न दिन मे अनेक वार सेवन करे, न अतिमात्रा मे सेवन करे, न साग-दाल स्वादिष्ट हो तो अधिक मात्रा मे सेवन करे। साधु का आहार सयमयात्रा के निर्वाह के लिए होना चाहिए, केवल भोजन-भट्ट वनकर अटसट खाने के लिए नही। सयमी जीवन जीने के लिए ही साधु को आहार करना है, न कि खाने के लिए ही जीना है। वह ऐसा तामसी या राजसी खानपान न करे, जिस से ब्रह्मचय पालन मे भ्रान्ति हो जाए कि मै अब ब्रह्मचर्य पालन करू या नही ? अथवा ब्रह्मचय के प्रति उपेक्षा हो जाए कि क्या रखा है ब्रह्मचर्य मे ? रूखे-सूखे, नीरस, एकाकी जीवन मे क्या आनन्द हे ? स्त्री-वच्चो-सहित जीवन रसमय और आनन्दमय होता है, उसी मे चहल-पहल होती हे । इस प्रकार कामोन्मादवश साधक उलटे चिन्तन के चक्कर मे पडकर अपने ब्रह्मचर्य धन को लुटा देता है। कई बार वह तामसिक एव मादक भोजन के कारण कामोद्रेकवश किसी सुन्दरी के पीछे पागल बना फिरता है अथवा ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट होने के साथ-साथ वह साधु धर्म के प्रति भी अश्रद्धालु वन कर धर्मभ्रष्ट हो जाता है। अत साधु को ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि साधु को आहार तो केवल सयम के भार का निर्वाह करने के लिए करना है ? गाडी की धुरी मे तेल देने के समान या घाव पर मरहम लगाने के समान परिमित मात्रा मे ही करना है।[1]

इस प्रकार के चिन्तन से युक्त भावना के प्रकाश मे सम्यक् प्रवृत्ति करने पर साधक का अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के सस्कारो से जगमगा उठता है। उसका अन्त करण ब्रह्मचर्य रूप चन्द्र के प्रकाश मे चकोर की तरह लीन हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ ब्रह्मचर्य-विघातक विपयो की ओर नही दौडती। इस प्रकार पाचो इन्द्रियो को तदनुकूल विपय-भोजन न मिलने पर जितेन्द्रिय वना हुआ साधु ब्रह्मचर्य मे समाधिस्थ हो जाता है।

कुछ शका-कुछ समाधान—यहाँ शका होती है कि मूलपाठ म 'ववगय मज्जमस 'इन दो पदो को भी लिया है, जिनका सेवन साधुओ के लिए सर्वथा वर्जित

१ इसी विपय की गाथा यह है, जिसका अर्थ ऊपर आ चुका है—

'एवमब्भगणलेवो सगडक्खणाण जत्तिओ होइ।
इअ सजमभरवहणट्ठयाए साहूणमाहारो ॥' —सपादक

है। अत मालूम होता है "दूध-दही आदि की तरह मद्य-मास का सेवन साधुओ के लिए सर्वथा त्याज्य नही है।" इसका समाधान यह है कि मद्य-मास वैसे तो साधुओ के लिए सर्वथा वर्जनीय है। साधुओ के लिए शास्त्र मे अमज्जमसासिणो' (मद्यमास का सेवन न करने वाले) विशेषण प्रयुक्त किया गया है। अत साधु के लिए मद्य-मास-सेवन का तो सवाल ही नही उठता। किन्तु कदाचित् साधु को पता न हो और किसी दवा मे मास, रक्त या मद्यसार मिला हो, उसे साधु सेवन कर ले, अथवा कोई व्यक्ति गाढ रागवश साधु को मद्यमासादि-मिश्रित आहार देने लगे और वह भूल से ग्रहण करले या सेवन कर ले। इस बात को स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर मद्य-मास का निषेध किया है।

दूसरा समाधान वृत्तिकार देते है कि विग्गइय (विकृतिक-विकृति-जनक) पदार्थों का नाम गिनाया है। इसलिए शास्त्रकार ने प्रसगवश विकृतिको के साथ-साथ मद्य-मास को भी विकृतिक रूप से बताने के लिए, इन दोनो पदों का ग्रहण किया है।

अथवा इसका समाधान यो भी किया जा सकता है, कोई साधु अपनी गृहस्थावस्था मे कदाचित् मद्य-मास का सेवन करता रहा हो, फलत दोनो को या दोनो मे से एक को देखकर उसे पूर्वकालसेवित मद्य-मास की याद आ जाय और वह किसी गाढ-भक्त के यहाँ से ले आवे। इसी के निषेध के लिए शास्त्रकार मद्यमास दोनो का किसी भी हालत मे सेवन करने का सर्वथा निषेध करते है। मदिरा निषेध के लिए निम्नोक्त शास्त्रीय प्रमाण देखिए—

> **'सुर वा मेरग वावि, अन्न वा मज्जग रस।**
> **न पिबे भिक्खू, जस सारक्खमप्पणो ॥'**

अर्थात्—'भिक्षु जौ के आटे आदि से बनी हुई सुरा (शराब), अगूर आदि से बनी हुई प्रसन्ना नाम की मदिरा और महुडा आदि से बने हुए मद्य-विशेष का कदापि पान न करे। भगवान् केवली द्वारा मद्य का सदा सर्वथा निषेध है, अथवा मैंने सदा के लिए मद्य का सर्वथा त्याग केवली की साक्षी से किया है, यह विचारकर मद्य-पान कदापि न करे। आत्मा की रक्षा करने मे ही साधु की यशकीर्ति-प्रतिष्ठा की सुरक्षा है।'

इसलिए भिक्षा के ४२ दोषो से रहित शुद्ध आहार के रूप मे प्राप्त होने पर भी भिक्षु मद्य-मास का सेवन कतई न करे। क्योकि ये दोनो त्रसजीवो को अत्यन्त पीडित एव वध करके निष्पन्न होते हैं, और बाद मे भी इसमे कई सम्मूर्च्छिम रसज जीव पैदा होते है। इस दृष्टि से इन दोनो को बिलकुल त्याज्य समझना चाहिए।

उपसहार—इन पाचो भावनाओ से मन-वचन-काया को परिरक्षित करने पर यह चतुर्थ सवरद्वार-ब्रह्मचर्य सम्यक् प्रकार से सुरक्षित हो जाता है और साधक के दिल दिमाग मे ब्रह्मचर्यनिष्ठा जम जाती है। परन्तु इस पचभावना प्रयोग को सिर्फ एक ही दिन करके न रह जाना चाहिए, अपितु धैर्य सम्पन्न बुद्धिशाली साधु इसे जिन्दगी भर प्रतिदिन करे। शेप सारे पाठ की व्याख्या पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए।

इस प्रकार सुबोधिनी व्याख्या सहित नौवें अध्ययन के रूप मे चतुर्थ ब्रह्मचर्य सवरद्वार सम्पूर्ण हुआ।

दसवाँ अध्ययन : पंचम अपरिग्रह संवरद्वार

अन्तरंगपरिग्रह से विरति

शास्त्रकार ने चतुर्थ सवरद्वार अब्रह्मचर्यविरमण रूप बताया था, किन्तु सर्वथा अब्रह्मचर्य विरमणरूप ब्रह्मचर्य का पालन परिग्रह-विरमण के होने पर ही हो सकता है। अत अव क्रमप्राप्त परिग्रह-विरतिरूप अपरिग्रह नामक पचमसवर का निरूपण शास्त्रकार करते है। इस सम्बन्ध मे अन्तरग परिग्रह से निवृत्ति के लिए एक बोल से लेकर ३३ बोल तक प्रतिपादित विपय को अन्तरगपरिग्रह मानकर उसी को मूलपाठ द्वारा सूचित करते हैं—

मूल

जबू ! अपरिग्गहसंवुडे य समणे आरभ-परिग्गहातो विरते, विरते कोह-माण-माया-लोभा—१-एगे असजमे, २-दो चेव रागदोसा, (३) तिन्नि य दंड-गारवा य गुत्तीओ तिन्नि, तिन्नि य विराहणाओ, (४) चत्तारि कसाया झाण-सन्ना-विकहा तहा य हुति चउरो, (५) पच य किरियाओ समिति-इदिय-महव्वयाइ च, (६) छज्जीवनिकाया छच्च लेसाओ, (७) सत्त भया, (८) अट्ठ य मया, (९) नव चेव य बभचेरवयगुत्ती, (१०) दसप्पकारे य समणधम्मे, (११) एक्कारस य उवासकाण, (१२) बारस य भिक्खुपडिमा, (१३) किरियाठाणा य, (१४) भूयगामा, (१५) परमाधम्मिया, (१६) गाहासोलसया, (१७) असजम - (१८) अवभ - (१९) णाय - (२०) असमाहिठाणा, (२१) सबला, (२२) परिसहा, (२३) सुयगडज्झयण- (२४) देव- (२५) भावण- (२६) उद्देस- (२७) गुण - (२८) पकप्प - (२९) पावसुत - (३०) मोहणिज्जे, (३१) सिद्धातिगुणा य, (३२) जोगसगहे, (३३) तित्तीसा आसा-

तणा सुरिंदा आदि एक्कादिय करेत्ता एक्कुत्तरियाए वड्ढिए तीसातो जाव उ भवे, तिगाहिका विरतिपणिहीसु, अविरतीसु य एवमादिसु वहुसु ठाणेसु जिणपसाहिएसु अवितहेसु सासयभावेसु अवट्ठिएसु सकं कख निराकरेत्ता सद्दहते सासण भगवतो अणियाणे, अगारवे, अलुद्धे, अमूढमणवयणकायगुत्ते। (सू २८)

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! अपरिग्रहसवृतश्च श्रमण आरम्भपरिग्रहाद् विरतो, विरतः क्रोध-मान-माया-लोभात्—(१) एक असयम., (२) द्वौ चैव रागद्वेषौ, (२) त्रीणि च दण्ड-गौरवाणि च गुप्तयस्तिस्रस्तिस्रश्च विराधना, (४) चत्वारः कषाया ध्यान-सज्ञा-कथास्तथा च भवन्ति चतस्र., (५) पच च क्रिया., समितीन्द्रियमहाव्रतानि च, (६) षड्जीवनिकायाः षट् लेश्याः, (.) सप्त भयानि, (८) अष्टच मदाः, (९) नव चैव ब्रह्मचर्यव्रतगुप्तय, (१०) दशप्रकाराश्च श्रमणधर्मा ,(११) एकादश चोपासकानाम्, (१२) द्वादश च भिक्षुप्रतिमाः, (१३) क्रियास्थानानि च, (१४) भूतग्रामा, (१५) परमाधार्मिका, (१६) गाथाषोडशकानि, (१७) असयम—(१८) अब्रह्म—(१९) ज्ञाता-(२०) ऽसमाधिस्थानानि, (२१) शबला', (२२) परिषहा, (२३) सूत्रकृताध्ययन,—(२४) देव—(२५) भावना—(२६) उद्देश—(२७) गुण—(२८) प्रकल्प—(२९) पापश्रुत—(३०) मोहनीयानि, (३१) सिद्धाति (दि) गुणाश्च, (३२) योगसग्रहा (३३) त्रयस्त्रिशदाशातना. सुरेन्द्रा आदिमेकादिक कृत्वा एकोत्तरिकया वृद्ध्या त्रिशद् यावत् तु भवेत् त्रिकाधिका विरतिप्रणिधिषु अविरतिषु चैवमादिषु बहुषु स्थानेषु जिनप्रसाधितेषु अवितथेषु शाश्वतभावेषु अवस्थितेषु शका काक्षां निराकृत्य श्रद्धत्ते शासन भगवतोऽनिदानोऽगौरवोऽलुब्धोऽमूढमनवचनकायगुप्त। (सू० २८)

पदान्वयार्थ—(जम्बू) हे जम्बू ! (आरभपरिग्गहातो) जो आरम्भ और परिग्रह से (विरते) निवृत्त है (य) और (कोहमाणमायालोभा) क्रोध, मान, माया और लोभ से (विरते) निवृत्त तथा (अपरिग्गहसवुडे) परिग्रह से रहित और इन्द्रिय तथा कषाय के सवरसहित है, वह (समणो) श्रमण-साधु होता है। (एगे) परिग्रह का एक भेद (असजमे) असयम है, (दोच्चेव) दो प्रकार (रागदोसा) रागद्वेष नामक हैं, (य)

और (तिन्नि) तीन (दडगारवा) दण्ड और गौरव, (य) तथा (तिन्नि गुत्तीओ) तीन गुप्तिया (य) और (तिन्नि) तीन (विराहणाओ) विराधनाएँ हैं, (चत्तारि) चार (कसाया) कषाय, (तहाय) तथा (चउरो झाण-सन्ना-विगहा) चार ध्यान, चार सज्ञाएँ और क्रमश चार विकथाएँ (हुति) होती हैं। (य) तथा (पंच) पाच (समिति इ दिय महव्वयाइ) समितिया, पाच इन्द्रिया और पाच महाव्रत होते हैं, (य) तथा (छज्जीवनिकाया) षट् जीवनिकाय और (छच्च लेसाओ) छह लेश्याएँ होती हैं। (सत्तभया) सात प्रकार के भय, (अट्ठ मया) आठ प्रकार के मद (य) और (नव चेव वभचेर-वयगुत्तीओ) व्रह्मचर्यव्रत की रक्षा के लिए नौ गुप्तियां हैं, (य) (दसप्पकारे) दस प्रकार का (समणधम्मे) श्रमणधर्म (य) और (एकादस य उवास-काण) श्रावको की ११ प्रतिमाएँ हैं, (वारस य भिक्खुपडिमा) वारह प्रकार की भिक्षुप्रतिमाए हैं, (य) तथा तेरह (किरियाठाणा) क्रिया के खास स्थान है, (भूय-गामा) चौदह जीवसमूह हैं, (परमाधम्मिया) पन्द्रह परमाधार्मिक असुरकुमार देवो के भेद हैं, (गाहासोलसया) जिसमे गाथा नाम का १६ वा अध्ययन है, सूत्र कृताग का प्रथम श्रुतस्कन्ध (असजय अवभ-णाय-असमाहिठाणा) सत्रह प्रकार का असयम, अठारह प्रकार का अव्रह्मचर्य, ज्ञातासूत्र के १९ अध्ययन और वीस असमाधिस्थान हैं, (सवला) इक्कीस शवल, चारित्र को मलिन करने वाले कर्म, (परिसहा) वाईस परिषह (सुयगडज्झयण-देव-भावण-उद्देश-गुण-पकप्प-पावसुत-मोहणिज्जे) सूत्रकृतागसूत्र के २३ अध्ययन, चौवीस प्रकार के देव, पाच-महाव्रत की २५ भावनाएँ, २६ प्रकार के उद्देशनकाल, २७ प्रकार के अनगारगुण, २८ प्रकार का आचारप्रकल्प हैं, २९ प्रकार के पापश्रुत, ३० प्रकार के मोहनीयकर्म के स्थान हैं, (य) तथा (सिद्धातिगुणा) सिद्धो के ३१ अतिगुण अर्थात् प्रधान गुण हैं, अथवा आदि से होने वाले गुण हैं (जोगसगह) ३२ योगसग्रह (सुरिंदा आदि) ३२ देवेन्द्र हैं, तथा (तित्तीसा आसातणा) ३३ प्रकार की आशातना है, (आदि) इनमे से प्रारम्भ की (एकादिय) एक आदि सख्या कही हे, उस पर (एकुत्तरियाए) एक-एक आगे (वड्ढियाए) वढाने पर (तिकाहिका तीसातो) तीन अधिक तीस यानी तैंतीस सख्या (जाव उ भवे) तक हो जाती है। उन स्थानो मे (विरतिपणिहीसु) हिंसा आदि से निवृत्ति तथा विशिष्ट एकाग्रता मे (य) तथा (अविरतीसु) अविरतियो मे (एवमादिसु वहूसु) इन को आदि करके वहुत से (जिणपसाहिएसु) जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित (सासय-भावेसु) नित्यरूप, अतएव (अवट्ठिएसु) अवस्थित (अवितहेसु) सत्यभूतपदार्थों मे (सक) शका-सदेह, और (कंख) आकाक्षा का (निराकरेत्ता) निराकरण करके

(अणियाणे) जो देवेन्द्र आदि के सुख एवं ऐश्वर्य आदि का निदान न करने वाला, (अगारवे) ऋद्धि आदि के गौरव से रहित है, (अलुद्धे) लम्पटतारहित है, (अमूढ-मणवयणकायगुत्ते) मूढतारहित मन-वचन-काया से अपनी आत्मा को सुरक्षित रखता हुआ (भगवतो सासण) भगवान के शासन—आज्ञा पर (सद्दहते) श्रद्धा करता है, वह साधु होता है।

मूलार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी को सम्बोधित करते हुए कहते है—हे जम्बू ! जो आरम्भ और परिग्रह से निवृत्त होता है तथा क्रोध, मान, माया और लोभ से विरत होता है, तथा परिग्रह से रहित और इन्द्रियो तथा कपायो का सवर सयम करने वाला है, वही साधु कहलाता है। अन्तरग परिग्रह का एक भेद असयम है। दो भेद राग और द्वेष है, पापजनक मन-वचन-काया के भेद से तीन दण्ड हे, तथा ऋद्धि, रस और साता गौरव के भेद से तीन गौरव है। तीन गुप्तिया है—मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायागुप्ति। तीन विराधनाए है ज्ञान की, दर्शन की और चारित्र की। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय है। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल-ये चार ध्यान है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार सज्ञाएँ है। स्त्री, भक्त, राज तथा देश के भेद से ४ विकथाएँ है। ईर्यासमिति, भाषा-समिति, एषणासमिति, आदानभाडमात्रनिक्षेपणासमिति और उच्चार-प्रस्रवण-खेलजलसिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, ये ५ समितियाँ है। स्पर्शनादि ५ इन्द्रियाँ है। अहिंसा आदि ५ महाव्रत है। पृथ्वीकायादि ५ स्थावरकाय और एक त्रसकाय मिलकर ६ जीवनिकाय है। कृष्णादि ६ लेश्याएँ है। इहलोक भय आदि ७ भय है। जातिमद आदि ८ मद है। ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियाँ है। उत्तम क्षमा आदि दस श्रमण धर्म है। श्रावक की ११ प्रतिमाएँ है। भिक्षु की १२ प्रतिमाएँ हे। क्रियास्थान तेरह है। चौदह जीवसमूह (जीवसमास) है। १५ प्रकार के परमाधार्मिक असुरजाति के देव है। जिसमे गाथा नाम का १६ वा अध्ययन है, ऐसे सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन है। सत्तरह प्रकार के असयमस्थान है। १८ प्रकार का अब्रह्मचर्य है। ज्ञातासूत्र के १६ अध्ययन है। बीस प्रकार के असमाधि स्थान है। चारित्र को मलिन करने वाले २१ शबल दोप है। २२ प्रकार के परिपह है। सूत्रकृतागसूत्र के २३ अध्ययन हे। २४ प्रकार के

देव है। पाच महाव्रतो की २५ भावनाएँ है। २६ उद्देशनकाल है। अनगारो के २७ गुण हैं। २८ प्रकार का आचार प्रकल्प है। २९ प्रकार के पापश्रुत है। महामोहनीय कर्म के ३० स्थान—कारण है। सिद्धो के प्रधान अथवा आदि से ही ३१ गुण है। ३२ योग सग्रह है। और बत्तीस देवेन्द्र है। तेतीस प्रकार की आशातनाएँ है। इनमे से प्रारम्भ की जो एक आदि सख्या बढाते जाने से तीन अधिक तीस यानी ३३ सख्या पर्यंत के स्थानो मे, हिंसा आदि महा पापो से निवृत्ति तथा विशिष्ट एकाग्रता मे, अविरतियो मे तथा ऐसे ही और भी वहुत-से जिनेन्द्रदेवो द्वारा उपदिष्ट नित्यस्वरूप, अतएव अवस्थित और सत्यभूत पदार्थों मे शका और काक्षा न करके जो देवेन्द्रो आदि के भोगो या ऐश्वर्य सुखो का निदान—वाछा नही करता, ऋद्धि आदि के गौरव (गर्व) से रहित है, लम्पटता से मुक्त है, मूढता से रहित है तथा मन-वचन-काया को वश मे रखता हुआ भगवान् महावीर के शासन (आज्ञा या आगम) पर श्रद्धा करता है, वही साधु परिग्रत्यागी होता है।

व्याख्या

नौवे अध्ययन मे ब्रह्मचर्य का सागोपाग निरूपण करने के वाद अव दसवे अध्ययन मे परिग्रह विरमणरूप अपरिग्रह सवर के सम्वन्ध मे शास्त्रकार निरूपण करते है।

अन्तरग परिग्रह का ही सर्वप्रथम वर्णन क्यो ?

पहले वताया जा चुका है, किपरिग्रह केवल सोना-चादी, मकान, वस्त्र, पात्र आदि वाह्यरूप ही नही है, अपितु परिग्रह का एक अतरग रूप भी है, जो वाह्य परिग्रह से कई गुना भयकर है। वस्तुत परिग्रह का जन्म ही अन्तर्मन से होता है। इसलिए वाह्य परिग्रह तो अन्तरग परिग्रह का निमित्त कारण होने से ही परिग्रह कहा गया है। साधु जव मुनिदीक्षा लेते समय अपरिग्रह महाव्रत धारण करता है तव घरवार, कुटुम्व-कवीला और जमीनजायदाद को तो छोड ही देता है। वाह्यपरिग्रह तो उसके पास नाम मात्र का भी नही रहता, सयमयात्रा के लिए जो धर्मोपकरण, शास्त्र आदि होते हैं, वह भी केवल उसके निश्राय की वस्तुएँ हैं, जिनका वह मूर्च्छारहित होकर उपयोग करता है। शास्त्रविहित धर्मोपकरण यदि अममत्वभाव से रखे जाएँ, नो वे परिग्रह की कोटि मे नही आते। अत वाह्यरूप से अपरिग्रही वना हुआ साधु यह सोचता है कि मेरे पास परिग्रह तो कुछ भी है नही, मैं तो हलका फुलका हू और त्यागी हू, लेकिन ज्ञानी महापुरुपो की आखो मे वह अन्दर ही अन्दर अन्तरगपरिग्रह के कारण वोझिल वना रहता है। उसके जीवन मे क्रोध की ज्वाला जलती रहती है, अहकार का साप उसके अतर्मानस मे

बैठा फुफकारता रहता है, माया रूपी राक्षसी उसके अन्तःकरण के रगमच पर ताडव नृत्य करती रहती है, लोभरूपी पिशाच उसके चित्तरूपी मैदान मे खुलकर खेलता रहता है, मोहरूपी अजगर उसके सम्यक्त्व और चारित्ररूपी दो फेफडो को निगलता रहता है, राग और द्वेषरूपी असुर उसके आत्मगुणरूपी रक्त को पीते रहते हैं, आसक्ति और मूर्च्छारूपी व्याघ्री जीभ लपलपाती उसकी अपरिग्रह-वृत्ति रूपी देह को खाने के लिए तैयार बैठी रहती है, मिथ्यात्वरूपी शत्रु उसके सम्यक्त्व पर हमला करने को उद्यत रहता है और हेय, ज्ञेय एव उपादेय का भान भुला देता है, हास्यरूपी कुत्ता उसके वचनसयमरूपी अग पर झपटने को तैयार रहता है, भयरूपी बाज उसकी निर्भयतारूपी बुद्धि पर झपट्टा मारता रहता है, रति-अरतिरूपी दो चुहिया उसकी मेधाशक्ति को काटने के लिए प्रयत्नशील रहती है, शोकरूपी बिडाल उसके अन्तर मे हाहाकार मचाता रहता है, त्रिवेदरूपी तीन काम दानव साधक के मनवचनकायारूप त्रियोगो पर धावा बोलते रहते हैं। विषयरूपी धीमा विष उसकी जीवनीशक्ति का ह्रास करता रहता है। मतलब यह है कि साधु बाहर से अपरिग्रही दिखता हुआ भी अगर असावधान रहता है तो वह अन्दर मे १४ प्रकार के अतरग परिग्रहो से घिरा रहता है। कई बार उसे पता भी नही होता कि ये अतरगपरिग्रह किस प्रकार उसके सयमधन का हरण करते रहते हैं। इसलिए साधक को इस बात से भली भाति सावधान करने के लिए शास्त्रकार विस्तार से एक बोल से लेकर तेतीस बोल तक के अदर निहित तत्त्वो को स्पष्ट करते है, जिसे वे अन्तरगपरिग्रह का ही विस्तृतरूप मानते हैं। और इन तेतीस बोलो मे से हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक करके साधक को ज्ञपरिज्ञा से आभ्यन्तरपरिग्रह को जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उसका त्याग करना चाहिए और अपने अपरिग्रहीरूप को बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार से परिपूर्ण बनाना चाहिए। इसीलिए सर्वप्रथम शास्त्रकार अपरिग्रही साधु का लक्षण सक्षेप मे प्रस्तुत करते हैं—'**अपरिग्गहसवुडे य समणे आरभपरिग्गहातो विरते, विरते कोहमाणमायालोभा।**' इसका आशय यह है कि आरम्भ और बाह्यपरिग्रह से सर्वथा मुक्त होने पर भी जब भिक्षु क्रोध, मान, माया और लोभरूपी आन्तरिक परिग्रह को मन से त्याग देता है, इन्द्रियविषयो और कषायो को रोक देता है, तभी वह पूर्णरूप से अपरिग्रहनिष्ठ साधु कहलाता है।

वैसे देखा जाय तो साधुओ के लिए बाह्यपरिग्रह के साथ-साथ आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना भी अनिवार्य बताया है। परिवार-गृह-धनत्यागी साधु ज्ञान-दर्शनचारित्ररूप धर्म के पालन के लिए शास्त्र मे बताए हुए धर्मोपकरणो के सिवाय शेष दस प्रकार के बाह्यपरिग्रह का तो सर्वथा त्याग करते है, मगर पूर्वोक्त १४ अतरग-परिग्रहो मे से मिथ्यात्व आदि कुछ का तो सर्वथा ही त्याग करते हैं, किन्तु मोहोदय-

वश कुछ का सर्वांशत त्याग न होने पर भी वे उसके मुनिपद मे वाधक नही वनते। शास्त्रीय दृष्टि से अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय तथा प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधादि कपाय का मुनिजीवन मे सर्वथा अभाव होने पर भी सज्वलनक्रोधादि का उदय रहता है। यानी सज्वलन क्रोध, मान और माया अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान तक रहते है तथा सज्वलनलोभ दसवे गुणस्थान तक रहता है।

दूसरी दृष्टि से विचार करें तो अन्तरग परिग्रह के ५ भेद भी है—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, ३) प्रमाद, (४) कपाय और (५) अशुभयोग—मनवचन-काया की दुष्प्रवृत्ति। इन्हे आभ्यन्तर परिग्रह इसलिए माना गया कि ये पाचो कर्मवन्ध के कारण है, और कर्म भी एक प्रकार से परिग्रह है। इसलिए ये पाचो अन्तरग-परिग्रहरूप हे। तत्त्वार्थ सूत्र मे कर्मग्रहण करने को परिग्रह और वध वताया है—

'सकपायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते, स वन्ध ।'

अर्थात्—'कपायसहित होने से जीव परिणामो के अनुसार तद्योग्य कर्म-पुद्गलो को ग्रहण करता है और वही वन्ध है।'

दोनो प्रकार के परिग्रहो का विश्लेपण करने वाली निम्नोक्त गाथा भी प्रमाणरूप मे प्रस्तुत है—

'पुढवाइसु आरभो परिग्गहो धम्मसाहण मोत्तु ।
मुच्छा य तत्थ वज्झो इयरो मिच्छत्तमाइयो ॥'

अर्थात्—पृथ्वीकायादि जीवो का आरम्भ (हिंसा) करना परिग्रह है। धर्म के साधनभूत (ज्ञानोपकरण और सयमोपकरण) पदार्थो के अतिरिक्त अन्य पदार्थों को मूर्च्छा-ममतावश रखना वाह्यपरिग्रह है, जवकि मिथ्यात्व आदि अन्तरग परिग्रह है।

चूकि साधु वाह्यपरिग्रह तो त्याग चुका है, इसलिए उसके सामने अन्तरग परिग्रह का त्याग करने की ही वात मुख्यतया रहती है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने सर्वप्रथम आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग की चर्चा छेडी है। और आभ्यन्तर परिग्रह के लिए असयम नामक प्रथम वोल से लेकर ३३ तक के वोलो का विवेक करना साधु के लिए अतीव आवश्यक वताया है। उसी आभ्यन्तर परिग्रह को शास्त्रकार विस्तृत रूप मे प्रस्तुत करते हैं—'एगे असजमे तित्तीसा आसातणा सुरिंदा आदि।' नीचे हम इन सव वोलो का क्रमश विश्लेपण प्रस्तुत करेंगे।

एगे असजमे—इसका आशय यह है कि सयम आत्मा का स्वभाव है। वह पाचो इन्द्रियो एव मन को वश मे करने पर तथा पट्काय के जीवो की हिंसा का त्याग करने पर होता है। इन्द्रिय सयम और प्राणिसयम इन दोनो प्रकार के सयम के अभाव रूप असयम मे आत्मा प्रतिसमय कर्मपरिग्रह का ग्रहण करता रहता है।

इसलिए शास्त्रकार ने असयम को अन्तरग परिग्रह कहा है। अथवा दू देखे तो आत्मा का अपने शुद्धस्वरूप मे लीन रहना सयम है और अपने शु पृथक् होकर बाह्य पदार्थों मे प्रवृत्ति करना असयम है। इस प्रकार असयम करने से समस्त अन्तरग परिग्रहो का समावेश असयम मे हो जाता है। अ की अपेक्षा से परिग्रह एक प्रकार का सिद्ध होता है।

दो चेव रागदोसा—इसका तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वादि जितने भी परिग्रह के भेद बताये गये है, वे सब राग और द्वेष के ही परिवार है। रा क्षय हो जाने पर उन सबका क्षय हो जाता है। और रागद्वेष के होने पर उत्पत्ति होती है। इस प्रकार रागद्वेष कारण है और मिथ्यात्व आदि सब परिग्रह उसके कार्य हे। इसी वात को ध्वनित करने के लिए राग और द्वेष मे परिग्रह के दो भेद बताये है।

तिन्नि य दडगारवा य गुत्तीओ तिन्नि तिन्नि य विराहणाओ—तीन है—मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड। जिन (मन वचनकाया) की दुष्प्रवृ कारण आत्मा दण्डित होती हो, उसे दण्ड कहते हैं। तीनो दड भी परिग्रहरूप इ है कि मन-वचन-काया की दुष्प्रवृत्ति का ग्रहण परिग्रह के कारण होता है, इसलिए भी अन्तरग परिग्रह का कार्य है। इसी प्रकार गौरव अर्थात् गर्व भी तीन है—ऋद्धि रसगर्व और सातागर्व। इन्द्रियो के अनुकूल भोजनपान तथा अन्य सुख वैभव-सा मिलने पर आत्मा में वडप्पन का भान होना गौरव या गर्व कहलाता है। इस प्र का गव भी अन्तरग परिग्रह के कारण होता है, इसलिए गर्व भी अन्तरग परिग्रह मनवचनकाया को पापजनक क्रियाओ से बचाना-रोककर रखना गुप्ति है, जो प्रकार की है। अगुप्ति अन्तरग परिग्रह है और गुप्ति उससे बचने का साधन है। प्रकार तीन विराधनाएँ है ज्ञानविराधना, दर्शन विराधना और चारित्र विराधन ये तीनो विराधनाएँ भी मिथ्यात्व आदि अन्तरग परिग्रह के कारण होती है, इसलि ये भी अन्तरग परिग्रह के रूप है।

चत्तारि कसाया झाण सन्ना-विकहा तहा य हुति चउरो—चार कषाय हैं-क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारो कषाय तो अन्तरग परिग्रह मे हैं ही, पहले स्पष्ट किया जा चुका है। चार प्रकार के ध्यान है—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, ध ध्यान और शुक्ल ध्यान। इन चार ध्यानो मे से आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान, ये दो ध्या अन्तरग परिग्रह रूप और हेय (त्याज्य) है, तथा धर्म ध्यान और शुक्लध्यान ये दो आत्मा को अन्तरग परिग्रह के चिन्तन से हटाकर निजस्वरूप या आत्मगुणचिन्तन अपरिग्रह वृत्ति मे स्थिर करने वाले हैं। इसलिए उपादेय हैं। आहारसज्ञा, भयसज्ञ मैथुनसज्ञा और परिग्रहसज्ञा, ये चार सज्ञाएँ—वासनाएँ है, जो प्रमाद, कषाय, नोक

पाय और अशुभयोग से पैदा होती हैं। इसलिए ये चारो अन्तरग परिग्रह के कारण होने से एक प्रकार से अन्तरग परिग्रह रूप ही हैं। इसी प्रकार स्त्रीविकथा, भक्त-विकथा, राजविकथा और देशविकथा, ये चारो विकथाएँ वेदादिरूप नोकपाय के उदय से होती हैं, इसलिए अन्तरग परिग्रह के ही अन्तर्गत है।

पच य किरियाओ समितिइदियमहव्वयाइ च – पाच क्रियाएँ है—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेपिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी। जीव की प्रवृत्ति-विशेप को क्रिया कहते है। क्रिया से कर्मो का ग्रहण होता है और कर्मो का ग्रहण अन्तरग परिग्रह है। इसलिए क्रियाएँ भी अन्तरग परिग्रह की कार्यरूप है। सम्यक् प्रकार से निरवद्य प्रवृत्ति करना समिति है। वह भी पाच प्रकार की है ईर्यासमिति, भापासमिति, एपणासमिति आदान निक्षेपसमिति और पारिष्ठापनिका समिति। ये पाचो समितियाँ अविरति या प्रमादरूप अन्तरग परिग्रह को मिटाने तथा अपरिग्रहत्व भाव मे प्रवृत्त करने की कारण होने से उपादेय हैं। पाच इन्द्रियाँ है—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इन पाचो का निग्रह न करना अन्तरग परिग्रह है। इसी प्रकार पाच महाव्रत है—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये पाचो अव्रतरूप अन्तरग परिग्रह को रोकने मे मूलभूत कारण हैं, इसलिए ये अपरिग्रहत्व के लिए उपादेय ह। महाव्रतो का अभाव या दोप परिग्रह है।

छज्जीवनिकाया छच्च लेसाओ छह जीवनिकाय हैं—पृथ्वी काय आदि। ये अपने आप मे ज्ञेय हैं। इनका असयम करना अन्तरग परिग्रह है तथा इन पर सयम करना आन्तरिक परिग्रह का निरोध-अपरिग्रह है। इसी प्रकार ६ लेश्याएँ है – कृष्ण-लेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। कपा-योदयसहित जो मन-वचन-काया की प्रवृत्ति होती है, उसे लेश्या कहते हैं। इनमे से प्रथम की तीन लेश्याएँ अप्रशस्त हैं और वाद की तीन लेश्या प्रशस्त है। लेश्याएँ कपाय रूप अन्तरग परिग्रह के कारण होने से अन्तरग परिग्रह मे ही शुमार हैं।

सत्त भया सात भय है – इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्माद्भय, आजीविकाभय, मरणभय और अपयशभय। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है। भय नोकपाय मोहनीय के उदय से होता है, जो कि अन्तरग परिग्रह का ही एक अग है।

अट्ठ य मया—[1]मद आठ हैं—जाति का मद, कुल का मद, वल का मद, रूप का मद, तप का मद, ऐश्वर्य (प्रभुता) का मद, ज्ञान का मद और लाभ का मद। मानकपाय के अन्तर्गत होने से अन्तरग परिग्रह के ही अग है।

१—मद के विपय मे यह गाथा प्रस्तुत है—

'जाईकुल वलरूवे, तवईसरिए सुए लाभे।' —सपादक

नवचेव य बभचेरवयगुत्ती—खेत की बाड के समान ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाली ये नौ गुप्तियाँ है। एक गाथा के द्वारा इन्हे प्रस्तुत करते है—

'वसहि-कह-निसिज्जिदिय कुड्डतर पुव्वकीलिए।
पणीए अइमायाहार विभूसणा य णव बभगुत्तीओ ॥'

अर्थात्—१—स्त्री-पशु-नपुसक के ससर्ग से रहित एकान्त स्थान मे निवास करना, २—स्त्री आदि की कथावार्ता न करना, ३—एकान्त मे स्त्री के साथ न उठना-बैठना, ४—इन्द्रिय निग्रह करना, ५—दीवार की ओट मे रहकर ब्रह्मचर्य घातक कामक्रीडा आदि क्रियाओ का न देखना, न सुनना ६—गृहस्थ (पूर्व) अवस्था मे अनुभूत कामक्रीडा आदि का स्मरण न करना ७—इन्द्रिय दर्पकारक स्वादिष्ट गरिष्ठ पदार्थो का सेवन न करना, ८—अतिमात्रा मे आहार न करना, ९—शरीर को विभूषित न करना। ये ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाली गुप्तियाँ (वाडें) हैं। वेदोदय से समुद्भूत अब्रह्मचर्य रूप अन्तरग परिग्रह को रोकने मे ये नौ गुप्तियाँ सहायक हैं, इसलिए अपरिग्रहवृत्ति के लिए उपादेय हैं।

दसप्पकारे य समणधम्मे—दस प्रकार का श्रमणधर्म है। निम्नोक्त गाथा इसके लिए प्रस्तुत है—

'खती मद्दव अज्जव मुत्ति तव-सजमे य बोधव्वे।
सच्च सोय आकिचण च बभ च जइधम्मो ॥'

उत्तम क्षमा उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम मुक्ति (त्याग-निर्लोभता), उत्तम तप, उत्तम सयम, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम आकिञ्चन्य(लाघव)और उत्तम ब्रह्मचर्य। इन दस धर्मो के साथ लगाया गया उत्तम शब्द यह सूचित करता है कि जो क्षमा आदि सम्यग्दर्शनसहित है और उत्कृष्ट है, वे ही श्रमणधर्मस्वरूप हैं और वे ही परम्परा से मोक्ष के साधक होते है।

एक्कारस य उवासकाण—श्रमणोपासको की ११ प्रतिमाएँ हैं। निम्नोक्त शास्त्रीय पाठ इसके लिए प्रस्तुत है—

'एक्कारस उवासगपडिमाओ पन्नत्ताओ, तजहा १ दसण सावए, २ कयव्वयकम्मे, (३) सामाइयकडे, (४) पोसहोववासनिरए, (५) दियाबभयारी रत्तिपरिमाणकडे, (६) दिया वि राओ वि बभयारी असिणाइ, (अनिसाइ) वियडभोई मोलिकडे (७) सचित्तपरिण्णाए, (८) आरभपरिण्णाए, (९) पेसपरिण्णाए, (१०) उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाए (११) समणभूए यावि भवइ।'

दर्शन प्रतिमा—सम्यग्दर्शन का निरतिचार पालन करना। यह प्रतिमा एक माम की होती है। व्रतप्रतिमा—सम्यक्त्वसहित अणुव्रतो का ग्रहण करके तदनुसार

आचरण करना। इस प्रतिमा की अवधि दो मास की है। **सामायिकप्रतिमा**-एक देश से सावद्ययोग का त्याग करके दोनो सन्ध्याकाल मे समत्वसाधना करना सामायिक प्रतिमा है। इस प्रतिमा की अवधि तीन मास की है। **पौषधोपवासनिरतप्रतिमा**-अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथियो या पर्वो पर पौपधसहित उपवास करना। इस प्रतिमा की अवधि चार मास की है। **दिन मे ब्रह्मचर्य तथा रात्रि मे अब्रह्मचर्य के परिमाण की प्रतिमा**—दिन मे ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना तथा रात्रि मे भी मैथुन-सेवन का परिमाण करना। इस प्रतिमा की अवधि ५ मास की है। **दिन मे और रात्रि मे पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन, अस्नान या रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा**—दिन और रात्रि मे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना, स्नान का त्याग करना अथवा रात्रिभोजन का सर्वथा त्याग करना। इस प्रतिमा का धारक ब्रह्मचारी की तरह खुल्ली लाग की धोती पहनता है, दिन मे भी प्रकाशयुक्त स्थान मे आहार करता है। इस प्रतिमा की अवधि ६ मास की है। **सचित्ताहारपरिज्ञात-त्याग प्रतिमा**-सचित्त (अप्रासुक) आहार का त्याग करना। इस प्रतिमा की अवधि ७ मास की है। **आरम्भत्यागप्रतिमा**-सब प्रकार के आरम्भो का त्याग करना चाहिए। इस प्रतिमा की अवधि ८ मास की है। **प्रेष्यत्याग-प्रतिमा**-आरम्भजनक कार्यो को दूसरो (नौकरो आदि) से भी करवाने का त्याग करना। इस प्रतिमा के पालन की अवधि नौ मास है। **उद्दिष्टत्याग प्रतिमा**-अपने उद्देश्य से बने हुए आहारादि का भी त्याग करना। इस प्रतिमा का धारक श्रमणोपासक अपने निमित्त से बने हुए आहारादि को भी ग्रहण नही करता। उस्तरे से सिरमुण्डन करता है या चोटी रखता है। इस प्रतिमा का कालमान १० मास है। **श्रमणभूत-प्रतिमा**-इस प्रतिमा का साधक श्रावक श्रमण की तरह रहता है, साधु की तरह सभी क्रियाएँ करता है, चोलपट्टा बाधता है, चादर रखता हे, सिरमु डन करता है या लोच करता है। इस प्रतिमा का कालपरिमाण जघन्य एक, दो या तीन दिन का है, तथा उत्कृष्ट ११ मास है।

इन ग्यारह श्रावकप्रतिमाओ को उत्तरोत्तर धारण करने वाले श्रमणोपासक को पूर्व-पूर्व प्रतिमाओ मे गृहीत नियमो एव क्रियाओ का सर्वथा पालन करना अनिवार्य है।

बारस य भिक्खुपडिमा—भिक्षुओ की बारह प्रतिमाएँ है, जिनका वर्णन हम अहिंसा सवरद्वार मे कर आए है। ११ उपासक प्रतिमाएँ और १२ भिक्षु प्रतिमाएँ अन्तरगपरिग्रह के त्याग मे सहायक होने से उपादेय हैं।

किरियाठाणा य—तेरह क्रिया स्थान है। कर्मबन्धन की कारणभूत चेष्टा क्रिया कहलाती है। क्रियाओ के स्थान यानी भेदो को क्रियास्थान कहते है। निम्नलिखित गाथा इस सम्बन्ध मे प्रस्तुत है—

'अट्ठाऽ णट्ठा हिंसाऽ कम्हा दिट्ठी य मोसऽ दिन्नेय।
अज्झप्पमाणऽमित्ते मायालोभेरियावहिया ॥'

अर्थात्—'१ अर्थक्रिया, २ अनर्थक्रिया, ३ हिंसाक्रिया, ४ अकस्मात्क्रिया, ५ दृष्टि विपर्यासा क्रिया, ६ मृपावादक्रिया, ७ अदत्तादानक्रिया, ८ अध्यात्मक्रिया, ९ मानक्रिया, १० अमित्रक्रिया, ११ मायाक्रिया, १२ लोभक्रिया और १३ ईर्यापथिको क्रिया।'

अव हम क्रमश इनका लक्षण स्पष्ट करते हैं—

अर्थ दण्ड क्रिया—अपने शरीर, स्वजन, स्वजाति या राज्याभियोग आदि के लिए त्रस-स्थावर प्राणियो मे से किसी को प्रयोजनवश हिंसारूप दण्ड देना अर्थदण्ड क्रिया है। **अनर्थ दण्ड क्रिया** –विना ही प्रयोजन के अज्ञान, मोह या द्वेपवश विच्छू, चूहे, आदि किसी भी त्रस या स्थावर प्राणी को हिंसारूप दण्ड देना अनर्थ दण्ड क्रिया है। **हिंसा दण्ड क्रिया**—यह साप आदि दुष्ट है या यह व्यक्ति दुष्ट या वैरी है, इसने मुझे या मेरे अमुक सम्बन्धी को मारा था, मारता है या भविष्य मे मारेगा-इस इरादे से हिंसा रूप मे दण्ड देना हिंसादण्ड है। **अकस्माद् दण्ड क्रिया**—मृग, पक्षी या साप आदि किसी दूसरे प्राणी को मारने के इरादे से लाठी, डडा, वाण या पत्थर फेंका, लेकिन वह वीच मे ही किसी दूसरे के लग गया और उसकी मृत्यु हो गई या उसे चोट पहुची, तो वहा अकस्माद् दण्ड क्रिया होती है। **दृष्टि विपर्यासा क्रिया**—किसी मित्र, स्नेही या निर्दोप को शत्रु, द्वेपी या दोपी समझ कर मार डालना दृष्टिविपर्यासा क्रिया है। **मृषा दण्ड क्रिया**—अपने लिए, दूसरो के लिए या दोनो के लिए जहा असत्य वोलने से हिंसा होती है, वहा मृपा दण्ड क्रिया होती है। **अदत्तादान दण्ड क्रिया** स्व, पर या उभय के लिए की गई चोरी के निमित्त से हिंसा होती है, वहा अदत्तादान दण्ड क्रिया होती है। **अध्यात्म क्रिया**—किसी भी वाह्य निमित्त के विना अकारण ही मन मे किसी के प्रति क्रोध, द्वेष, घृणा, अहकार, माया या शोक आदि भाव उत्पन्न होने से जो भावहिंसा होती है, उसे अध्यात्म दण्ड क्रिया कहते हैं। **मान प्रत्यय क्रिया**—जाति, कुल, वल, रूप, ज्ञान, तप, ऐश्वर्य और लाभ आदि के मद-अहकार से मत्त होकर दूसरो की निन्दा करना, झिडकना, लोगो के सामने नीचा दिखाना, ऐसी क्रिया मान प्रत्यय क्रिया कहलाती है। **मित्र द्वेष प्रत्यय क्रिया**—अपने माता-पिता, भाई, मित्र आदि स्वजनो के जरा से अपराध पर वहुत वडा तीव्र दण्ड

देना मित्र द्वेष प्रत्यय क्रिया है। **मायाप्रत्यय क्रिया**—मन मे कुछ और रखे, वचन से कुछ और वोले और शरीर से चेष्टा या आचरण कुछ और करे या दूसरो से छिपाकर क्रिया करे, वहाँ मायाप्रत्यय क्रिया होती है। **लोभ प्रत्यय क्रिया**—लोभ के वशीभूत होकर अनापसनाप सावद्य आरम्भ करे, परिग्रह मे गाढ आसक्ति रखे, स्त्रियो व काम भोगो मे अत्यन्त आसक्त रहे तथा अपने शरीर को वहुत जतन से रखते हुए दूसरे प्राणियो को काम लेने के लिए मारे, पीटे, भूखा रखे, वहा लोभ प्रत्यय क्रिया होती है। **ईर्यापथिकी क्रिया**—ग्यारवें उपशान्त मोह गुण स्थान से लेकर तेरहवे सयोगी केवली गुण स्थान तक के साधुओ को समिति-गुप्तियुक्त गमनागमन करते समय केवल त्रियोग के निमित्त से जो मात्र एक सामयिकी सातावन्धलक्षणा क्रिया लगती है उसे ईर्यापथिकी क्रिया कहते है।

ये १३ क्रियाएँ अन्तरग परिग्रह से सम्वन्धित हैं।

भयगामा—जीवो के चौदह समास-समूह हैं—(१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, (३-४) वादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक (५-६) द्वीन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, (७-८) त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, (९-१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, (११-१२) पचेन्द्रिय असज्ञी पर्याप्तक, अपर्याप्तक, (१३-१४) पचेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक, अपर्याप्तक। इस प्रकार कुल १४ जीवसमूह होते हैं। ये ज्ञेय है। इनके प्रति हिंसादि के भाव से अन्तरग परिग्रह होता है उससे वचना चाहिए।

परमाधम्मिया—नारकी जीवो को नरक की तीसरी पृथ्वी तक जाकर दु ख देने वाले असुर कुमारविशेप परमाधार्मिक कहलाते है। ये १५ प्रकार के है—(१) अम्व, (२) अम्वरीप, (३) श्याम, (४) शवल, (५) रौद्र (६) उपरौद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनु (११) कुम्भ, (१२) वालुक, (१३) वैतरणिक, (१४) खरस्वर और (१५) महाघोप। इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार हैं—**अम्व**—जो परमाधार्मिक नारकियो को आकाश मे ऊपर ले जाकर मारता है, उछालता है, गिराता है, या नि शक छोड देता है, उसे अम्व कहते है। **अम्बरीष**—जो नारको को मारकर कैंची से भाड मे भूनने योग्य छोटे-छोटे टुकडे करता है, उसे अम्वरीप कहते है। **श्याम**—जो काला कलूटा परमाधार्मिक रस्सी, हाथ आदि के प्रहार से नारको को मारता है, उसे श्याम कहते हैं। **शबल**—जो नारको की आतें, चर्बी, कलेजा आदि को नोचता और निकालता है, उस चितकवरे रग वाले असुर को शवल कहते है। **रौद्र**—जो रुद्रपरिणामी असुर भाले, त्रिशूल (शक्ति) आदि मे नारको को पिरोकर काटता है, उसे रौद्र कहते हैं। **उपरौद्र**—जो अत्यन्त रौद्रपरिणामी असुर

नारको के अगोपाग मुद्‌गर से भग करता है, उसे उपरौद्र कहते है। काल—जो मृत्यु के समान भयकर एव काला असुर नारको को कडाही, चूल्हे आदि मे पकाता है, उसे काल कहते है। महाकाल—जो नारको के तीक्ष्ण मास के टुकडे-टुकडे करके स्वय खाता है या उन्हे जबरन खिलाता है, उसे महाकाल कहते है। असिपत्र—जो असुर असि यानी तलवार के आकार के पत्तो वाला वन वैक्रियशक्ति से बनाकर वहाँ छाया के हेतु उन वृक्षो के नीचे आये नारको पर वे खड्ग के समान तेज धार वाले पत्ते गिरा कर उनके तिल-तिल टुकडे कर डालते हैं, वे असिपत्र कहलाते हैं। धनुष्—जो देव धनुष् से छोडे गए अर्धचन्द्र आदि बाणो से नारकीयो के नाक, कान आदि छिन्नभिन्न करता है, उसे धनुष् कहते हे। कुम्भ—जो असुर नारको को घडे आदि मे पकाता है, वह कुम्भ है। वालुक—जो असुर कदम्बपुष्पाकार वाली वज्र की तरह कठोर तपतपाती बालू (रेत) की विक्रिया करके उस पर चने की तरह नारकीय जीवो को भूनता है, उसे वालुक कहते हैं। वैतरणिक—जो परमाधार्मिक तपाने से पिघले हुए सीसा, तावा आदि धातुओ के खौलते हुए गर्मागर्म रस से भरी हुई वैतरणी नदी विक्रिया से बनाता है और उसमे नारकीयो को जबरन डालता है, उसे वैतरणिक कहते हे। खरस्वर—जो असुर वज्र के समान तीर के काटे वाले सेमर के पेड पर नारकी को चढाकर कर्कश आवाज करता हुआ उसे उलटा खीचता है, उसे खरस्वर कहते हैं। महाघोष—जो असुर डर के मारे कापते हुए लाचार नारको को पशुओ की तरह जबरन बाडो मे भर कर जोर-जोर से चिल्लाता हुआ बद कर देता है, वह महाघोष है। ये १५ परमाधार्मिक असुर यहाँ ज्ञेय हैं और इस पाठ का यहाँ देने का उद्देश्य भी पूर्वोक्त अन्तरग परिग्रह से बचने के लिए दिया गया है।

गाहा सोलसया जिसमे गाथा नामक १६ वाँ अध्ययन है, ऐसे सूत्रकृताग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे १६ अध्ययन हैं, जिन्हे जानना तथा उनमे से हेय, ज्ञेय, उपादेय का विवेक करना साधु के लिए जरूरी है। इन सोलह अध्ययनो के नाम इस प्रकार है—१ समय, २ वैतालीय, ३ उपसर्ग परिज्ञा, ४ स्त्रीपरिज्ञा, ५ निरय विभक्ति, ६ महावीरस्तुति, ७ कुशील परिभाषित, ८ वीर्य ९ धर्म, १० समाधि, ११ मार्ग, १२ समवसरण, १३ यथातथिक, १४ ग्रन्थ, १५ यमकीय और १६ गाथा।

असजम—असयम के १७ भेद हैं। वे इस प्रकार है -(१) पृथ्वीकाय-असयम, (२) अप्काय-असयम, (३) तेजस्काय-असयम, (४) वायुकाय-असयम, (५) वनस्पति काय-असयम, (६) द्वीन्द्रिय-असयम (७) त्रीन्द्रिय-असयम, (८) चतुरिन्द्रिय-असयम, (९) पचेन्द्रिय-असयम, (१०) अजीव-असयम, (११) प्रेक्षा-असयम, (१२) उपेक्षा-असयम, (१३) अपहृत्य (प्रतिष्ठापन) असयम, (१४) अप्रमार्जन-असयम, (१५) मन-असयम, (१६) वचन-असयम और (१७) काय-असयम।

(१ से ९) पृथ्वीकायादि पाच स्थावर जीवो तथा द्वीन्द्रियादि चार त्रस-जीवो की हिंसा या आरम्भ करना **पृथ्वीकायादि-असयम** है। **अजीवकाय-असयम** वह है, जहाँ बहुमूल्य वस्त्र, पात्र, पुस्तकादि का ग्रहण किया जाता है। **प्रेक्षा-असयम**—धर्मस्थान, उपकरण आदि की प्रतिलेखन न करना या अविधिपूवक प्रतिलेखन करना प्रेक्षा-असयम है। **उपेक्षा-असयम** - सयमयुक्त कार्यों मे प्रवृत्ति न करना, असयम-युक्त कार्यो मे प्रवृत्ति करना उपेक्षा असयम है। **अपहृत्य-असयम (प्रतिष्ठापन असयम)**—विधिपूर्वक मलमूत्रादि त्याग न करने से यह असयम होता है। **अप्रमार्जन असयम**—वस्त्रपात्रादि का प्रमार्जन न करने से या अविधिपूर्वक प्रमार्जन से यह असयम होता है। मन, वचन और काया को पापजनक कार्यो मे प्रवृत्त करना क्रमश **मन असयम, वचन-असयम और काय-असयम** है। दूसरो तरह से भी असयम के १७ भेद होते हैं—पाच आश्रवो से विरत न होना, पाच इन्द्रियो का निग्रह न करना, तथा चार कपायो का त्याग न करना, तीन दण्ड से अविरति—इस प्रकार १७ प्रकार के असयम हैं, जिन्हे अन्तरग परिग्रह जानकर उनसे वचना जरूरी है।

अवभ—१८ प्रकार का अब्रह्मचर्य होता है। निम्नोक्त गाथा प्रस्तुत है इसके लिए—

'ओरालिय च दिव्व मणवयकायाण करणजोगेहिं।
अणुमोयण—कारावण—करणेणऽट्ठारसाऽवभ ति ॥'

औदारिक कामभोगो को मन, वचन, काया से भोगना, भुगवाना और भोगते हुए का अनुमोदन करना, ये ९ औदारिक काम भोग हैं। इसी प्रकार दिव्य कामभोगो को मन, वचन, काया से भोगना, भुगवाना और भोगते हुए का अनुमोदन करना, ये ९ दिव्य कामभोग है। औदारिक और दिव्य दोनो मिलाकर १८ भेद अब्रह्मचर्य के हुए। इन्हे अतरग परिग्रह समझ कर साधु को इनसे वचना चाहिए।

णाय—ज्ञातासूत्र के १९ अध्ययन है। वे इस प्रकार है—

१—**उत्क्षिप्त**—मेघकुमारवर्णन, २—**सघाट**-धन्यसार्थवाह और विजय चोर का दृष्टान्त, ३ **अड**—मोर के अडो का दृष्टान्त, ४ **कूर्म**—कछुए का दृष्टान्त, ५ **शैलक**—राजर्पिशैलक का दृष्टान्त, ६ **तुम्व**—तुम्वे का दृष्टान्त, ७ **रोहिणी**—रोहिणी आदि का वर्णन, ८ **मल्ली**—भगवती मल्लिनाथ तीर्थंकरी का दृष्टान्त, ९ **माकदी**—जिनरक्षित और जिनपाल का दृष्टान्त, १० **चन्द्रिका**—चादनी का वर्णन, ११ **दावदव**—दावदव वृक्ष का दृष्टान्त, १२ **उदक** १३ **मडूक** - नन्दन मणिहार का दृष्टान्त, १४ **तैतली**—तैतलीपुत्र कुमार का दृष्टान्त, १५ **नदिफल**,

१६ अपरकका—द्रौपदी के हरण का वर्णन, १७ आकीर्ण—आकीर्णक अश्व का दृष्टान्त, १८ सुपमा—चिलातीपुत्र चोर का दृष्टान्त, १६ पुण्डरीक—पुण्डरीक कु डरीक का दृष्टान्त। इन अध्ययनो से हेय, ज्ञेय, उपादेय का विवेक प्राप्त करके यथा-योग्य करना चाहिए।

असमाहिठाणा—२० असमाधि स्थान है—(१) **द्रुतचारित्व**—सयम की परवाह न करके जल्दी-जल्दी चलना। (२) **अप्रमार्जित-चारित्व**—भूमि आदि का प्रमार्जन किये विना चलना, उठना, बैठना आदि। (३) **दुष्प्रमार्जितचारित्व**—विधि पूर्वक भूमि आदि का प्रमार्जन न करने से होने वाली असमाधि। (४) **अति-रिक्त शय्यासनिकत्व**—मर्यादा से अधिक आसन तथा शय्या—स्थान रखना। (५) **रात्निक (आचार्यादि) परिभाषित्व**—अपने से बडे या आचार्य आदि के सामने बोलना, उनका अविनय करना। (६) **स्थविरोपघातित्व**—आचार्यादि वृद्ध पुरुपो का आचारदोप, शीलदोप या अवज्ञा आदि से पीडा पहुचाना। (७) **भूतोपघातित्व**—एकेन्द्रिय आदि जीवो का घात करना, (८) **सज्वलनत्व**—प्रतिक्षण रोप करने या मन मे डाह आदि से जलते रहना। (९) **क्रोधनत्व**—अत्यन्त क्रोध करते रहना। (१०) **पृष्ठिमासकत्व**—अपने विरोधी या किसी की भी पीठ पीछे निन्दा करना। (११) **अभीक्ष्णमवधारकत्व या अपहारकत्व**—सदेह युक्त वात को भी नि सदेह वताना। अथवा दूसरे के गुणो का अपलाप करना भी अभीक्ष्ण अपहारकत्व है। (१२) **नये-नये (अनुत्पन्न) अधिकरणोका उत्पादन**—पहले उत्पन्न न हुये नये-नये कलह खडे करना अथवा यत्रादि नये-नये उत्पन्न करना। (१३) **पुरातनाधिकरण की उदीरणा**—पुराने शान्त हुए झगडो को हवा दे कर ताजे करना या वढाना। (१४) **सरजस्कपाणिपादत्व**—सजित्त रज से भरे हुए हाथ-पैर वाले दाता से आहार ग्रहण करना। (१५) **अकाल स्वाध्यायकरण**—निषिद्ध काल मे स्वाध्याय करना। (१६) **कलहकरत्व**—कलह के कारणभूत कार्यो का करना या उनमे भाग लेना। (१७) **शब्दकरत्व**—रात्रि मे जोर-जोर से स्वाध्याय आदि करना (१८) **झझाकरत्व**—गण या सघ मे फूट पैदा करने या सघ के मन मे पीडा पैदा करने वाले वचन वोलना, (१९) **सूरप्रमाणभोजित्व**—सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक भोजन करते ही रहना। (२०) **एपणा मे असमितत्व**—एपणासमिति पूर्वक आहार की गवेपणा न करना, दोप वताने पर झगडा करना आदि।

ये सव दोप अन्तरग परिग्रह से सम्वन्धित होने के कारण इन्हे त्याज्य ही समझना चाहिए।

सवला—चारित्र की मलिनता के कारणो को शवल कहते हैं, वे २१ हैं—(१) हस्तकम करना, (२) अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार से मैथुन सेवन करना,

परिसहा — धर्म और मोक्ष के पथ से भ्रष्ट न होते हुए कर्मों की निर्जरा (क्षय) के लिए जिन्हें समभाव पूर्वक सहा जाय, उन्हें परिषह कहते हैं। वे २२ हैं— (१) क्षुधापरिषह, (२) पिपासा परिषह, (३) शीत परिषह, (४) उष्ण परिषह, (५) दंशमशक परिषह, (६) अचेल परिषह, (७) अरति परिषह, (८) स्त्री परिषह, (९) चर्या परिषह, (१०) निषद्या परिषह, (११) शय्या परिषह, (१२) आक्रोश परिषह, (१३) वध परिषह, (१४) याचना परिषह, (१५) अलाभ परिषह, (१६) रोग परिषह, (१७) तृणस्पर्श परिषह, (१८) जल्ल (मल) परिषह, (१९) सत्कार-पुरस्कार परिषह, (२०) प्रज्ञा परिषह (२१) अज्ञान परिषह और (२२) अदर्शन परिषह। इनका अर्थ इनके नाम से ही स्पष्ट है। ये बाईस परिषह कर्मरूप अन्तरंग परिग्रह की निर्जरा के लिए होने से उपादेय हैं।

सूयगडज्झयण — सूत्रकृतांग सूत्र में कुल २३ अध्ययन हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं, जिनके नामों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ७ अध्ययन हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—१—पुण्डरीक, २—क्रियास्थान ३—आहार परिज्ञा, ४—प्रत्याख्यान क्रिया, ५—अनगारश्रुत ६—आर्द्रककुमार और ७—नालंद।

देवा — देवों के मुख्यतया २४ भेद होते हैं — १० भवनवासी, ८ वाणव्यन्तर, ५ ज्योतिष्क और १ वैमानिक। परिग्रह त्याग रूप साधना की प्रेरणा देने वाले होने

से ये ज्ञेय है। कई आचार्य इसके बदले २४ देवाधि देव तीर्थंकर मानते है। कहा भी है—**चउवीस देवा केइ पुण बिति अरिहंता।** अपरिग्रह साधना के लिए अत्यन्त प्रेरणा दायक होने से अरिहन्त देव ज्ञेय और उपादेय है।

भावणा—पाच महाव्रतो की पच्चीस भावनाएँ होती है। वे इस प्रकार हैं—५ अहिंसा महाव्रत की, ५ सत्य महाव्रत की, ५ अचौर्य महाव्रत की, ५ ब्रह्मचर्य महाव्रत की और ५ अपरिग्रह महाव्रत की। इन पच्चीस भावनाओ का उल्लेख इसी शास्त्र मे प्रसग वश किया गया है, इसलिए विशिष्ट स्पष्टी करण करने की आवश्यकता नही। ये पच्चीसो भावनाएँ अन्तरग और बाह्य दोनो प्रकार के परिग्रहो से साधक की रक्षा करने म उपयोगी होने से उपादेय है।

उद्देसा—दशा कल्प और व्यवहार के कुल मिलाकर २६ उद्देश या उद्देशन काल है। अर्थात् १० उद्देश दशाश्रुत स्कन्ध के है, ६ उद्देश बृहत्कल्प के हे और १० उद्देश व्यवहार सूत्र के है। इन तीनो के उद्देश कुल मिलाकर २६ होते है। ये अन्तरग परिग्रह की निवृत्ति मे सहायक है। इसके प्रमाण के लिए निम्नोक्त गाथा प्रस्तुत है—

'दस उद्देसणकाला दसाण, छच्चेव होंति कप्पस्स।
दस चेव य ववहारस्स, हुंति सव्वेवि छव्वीस॥

गुणा—अनगार (साधु) के २७ गुण होते हैं—५ महाव्रत, ५ इन्द्रियो का निग्रह, ४ कषायो का त्याग, भावसत्य, करण सत्य, योग सत्य (मन-वचन-काया की एकरूपता सत्यता), क्षमा, वैराग्य (आसक्ति का अभाव), मनवचन काया का निरोध, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्पन्नता, वेदनादि का सहन करना और मारणान्तिक कष्ट (उपसर्ग) समभाव से सहना। ये २७ गुण अन्तरग परिग्रह से साधुजीवन की रक्षा के लिए उपयोगी होने से उपादेय है।

पकप्पा—आचार प्रकल्प २८ प्रकार का होता है। यहाँ आचार और प्रकल्प दो शब्द हैं। आचार से आचाराग सूत्र के दोनो श्रुत स्कन्धो के २५ अध्ययन तथा प्रकल्प से निशीथकल्प के ३ अध्ययन ग्रहण किये गए है। आचाराग सूत्र के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के ९ अध्ययन इस प्रकार है—(१) शस्त्रपरिज्ञा, (२) लोक विजय, (३) शीतोष्णीय, (४) सम्यक्त्व, (५) आवति (६) धूव, (७) विमोह, (८) उपधान श्रुत और (९) महापरिज्ञा। द्वितीय श्रुत स्कन्ध के १६ अध्ययन इस प्रकार है—(१) पिंडैषणा, (२) शय्या, (३) ईर्या, (४) भाषा, (५) वस्त्रैषणा (६) पात्रैषणा, (७) अवग्रह प्रतिमा (८ से १४) सात सप्तिकाएँ, (१५) भावना और (१६) विमुक्ति। निशीथकल्प के तीन अध्ययन है—(१) उद्घातिक, (२) अनुद्घातिक और

आरोपणा। जिसमे लघुमासादि प्रायश्चित का वर्णन है, वह उद्घातिक निशीथ है जिसमे गुरु मासादि का वर्णन है, वह अनुद्घातिक निशीथ, और जहाँ किसी एक प्रायश्चित्त मे अन्य प्रायश्चित्त का आरोपण करने का वर्णन है, वह आरोपणानिशीथ है। इस प्रकार कुल मिलाकर २८ भेद आचार प्रकल्प के होते है। ये आचार प्रकल्प साधु के जीवन मे अन्तरग-बाह्य-परिग्रह का दोप लग जाने पर उसकी शुद्धि तथा अपरिग्रह वृत्ति की प्रेरणा के लिए उपयोगी होने से उपादेय है।

पावसुत्त—२९ प्रकार के पापश्रुत[1] है। वे इस प्रकार है—(१) भौम (२) उत्पात, (३) स्वप्न, (४) अन्तरिक्ष, (५) अग, (६) स्वर, (७) लक्षण और (८) व्यञ्जन। इन आठ निमित्त शास्त्रो के सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से २४ भेद हो जाते है। विकथानुयोग, विद्यानुयोग, मत्रानुयोग, योगानुयोग और अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग—ये ५ पूर्वोक्त २४ भेदो के साथ मिलाने से २९ भेद पापश्रुत के होते है। सक्षेप मे इनके लक्षण इस प्रकार है (१) **भौमशास्त्र**—जिसमे भूगर्भ एव भूविकार-भूकम्प आदि का वर्णन है। (२) **उत्पात शास्त्र**—रुधिरवृष्टि आदि उत्पात के फलो का निरूपण करने वाला शास्त्र। (३) **स्वप्न शास्त्र**—जिसमे स्वप्नफलो का वर्णन है। (४) **अन्तरिक्ष शास्त्र**—आकाश मे होने वाले ग्रहण आदि के फल का वर्णन करने वाल शास्त्र। (५) **अग शास्त्र**—शरीर के अवयवप्रमाण तथा अगस्फुरण (फडकना) आदि के फल का जिसमे विवेचन है। (६) **स्वरशास्त्र** जीव-अजीव के द्वारा होने वाली आवाज पर से फल का निरूपण करने वाला शास्त्र। (७) **लक्षण शास्त्र**—शरीर के लाछनो लक्षणो (चिह्नो) को देखकर फल का निरूपण करने वाला शास्त्र। (८) **व्यजन शास्त्र**—तिल, मस आदि व्यजनो के फल का कथन करने वाला शास्त्र। इन ८ निमित्त शास्त्रो के सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से २४ भेद हो जाते है। (२५) **विकथानुयोग**—अर्थ और काम-पुरुषार्थ के प्रतिपादक कामन्दक और वात्स्यायन आदि शास्त्रो को विकथानुयोग कहते हैं। (२६) **विद्यानुयोग** – रोहिणी आदि विद्याओ के साधने का विधान करने वाला शास्त्र विद्यानुयोग है। (२७) मत्रानुयोग—चेटक,

१— कही कही २९ पापश्रुतो के सम्बन्ध मे निम्नोक्त गाथा मिलती है—

"अट्ठगनिमित्ताइ दिव्वु१ प्पाय२ तलिक्ख३ भोम४ च।
सुमिण५ सर६ वजण७ लक्खणे,८ एक्किक्क पुण तिविह२४॥
गधव्व२५ नट्ट२६ वत्थु २७ तिगिच्छ२८ धणुवेयसजुत्त २९।"

पूर्वोक्त २४ के अतिरिक्त गान्धर्व, नाट्य, वास्तु, चिकित्सा और धनुर्वेद, ये ५ और हैं।

—सम्पादक

सर्पमन्त्र आदि के साधने के उपाय वताने वाला शास्त्र मन्त्रानुयोग है। (२८) योगानुयोग वशीकरण, मोहन, मारण, उच्चाटन आदि योगो का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र योगानुयोग है। (२९) अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग—कपिलादि अन्यतीर्थिको द्वारा प्रवृत्त किया हुआ स्वसिद्धान्तानुरूप आचार-विचार का प्रकट करने वाला शास्त्र अन्यतीर्थिक-प्रवृत्तानुयोग है।

मोहणिज्जे—महामोहनीय कर्मवन्धन के ३० स्थान (कारण) हैं। वे इस प्रकार है—(१) जल मे डुवोकर त्रसजीवो को मारना। (२) हाथ आदि के द्वारा प्राणियो के मुह आदि को ढक कर (श्वास रोक कर) मारना। (३) चमडे की गीली रस्सी कस कर सिर पर वाध कर प्राणी को मारना (४) मस्तक पर मुद्गर आदि से प्रहार करके प्राणी को मारना (५) ससार समुद्र मे डूवते हुए प्राणियो के उद्धार के लिए द्वीप के समान श्रेष्ठ मनुष्य को मारना। (६) शक्ति होते हुए भी दुष्ट परिणामवश रोगी की सेवा शुश्रूपा न करना। (७) तपस्वी को वलात् धर्म-भ्रष्ट करना। (८) दूसरो के सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग के शुद्ध परिणामो को विपरीत परिणत करके अपकार करना। (९) जिनेन्द्र देवो की निन्दा करना। (१०) आचार्य उपाध्याय आदि का अवर्णवाद (निन्दा) करना। (११) ज्ञानदान आदि से उपकारी आचार्य आदि के उपकार को न मानना तथा उनका सम्मान आदि न करना। (१२) राजा के प्रयाण करने के दिन आदि का पुन-पुन कथन करना। (१३) वशीकरण आदि का प्रयोग करना (१४) त्याग किये हुए भोग आदि की अभिलापा करना (१५) वहुश्रुत न होने पर भी अपने को वहुश्रुत कहना। (१६) तपस्वी न होने पर भी खुद को तपस्वी नाम से प्रसिद्ध करना, (१७) वहुत से प्राणियो को वाडे आदि मे वद करके आग जलाकर धुए से दम घोटकर मार डालना। (१८) अपने द्वारा किये गए दुष्कृत्य को दूसरे के सिर पर मढना, (१९) विविध प्रकार से मायाजाल रचकर लोगो को ठगना। (२०) अशुभ परिणामवश सत्य वात को भी सभा मे झूठी वताना। (२१) वार-वार लडाई छेडते रहना। (२२) विश्वास मे लेकर दूसरे का धन हडप जाना। (२३) विश्वास पैदा करके दूसरे की स्त्री को वहकाना। (२४) कुआरा (अविवाहित) न होने पर भी खुद को कुआरा कहना। (२५) ब्रह्मचारी न होने पर भी स्वय को ब्रह्मचारी कहना। (२६) जिस व्यक्ति के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त किया है, उसी के माल पर हाथ साफ करने का मनोरथ करना। (२७) जिस व्यक्ति के द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त की, उसी के काम मे रोडे अटकाना। (२८) राजा, सेनापति तथा राष्ट्रहितैपी आदि वहुजनमान्य नेता की हत्या करना। (२९) देव आदि को प्रत्यक्ष न देखने पर भी मायापूर्वक कहना कि 'मुझे तो अमुक देव दिखाई देते है।' (३०) देवो के प्रति अवज्ञा करते हुए कहना कि 'मै ही देव हू'। ये तीस मोहनीय

कर्म-वन्धन के कारण है। ये सव अन्तरग परिग्रह के ही रूप हे, इसलिए हेय समझ कर इनका त्याग करना चाहिए।

सिद्धातिगुणा—सिद्धो के प्रथम समय मे ही उत्पन्न होने वाले या आत्यन्तिक ३१ गुण होते हैं -(१) मतिज्ञानावरणीय का क्षय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय का क्षय, (३) अवधिज्ञानावरणीय का क्षय, (४) मन पर्यायज्ञानावरणीय का क्षय, (५) केवलज्ञानावरणीय का क्षय, (६) चक्षुदर्शनावरण का क्षय, (७) अचक्षु दर्शनावरण का क्षय (८) अवधिदर्शनावरण का क्षय (९) केवलदर्शनावरण का क्षय (१० से १४) निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि—इन पाचो निद्राओ का क्षय, (१५) सातावेदनीय का क्षय, (१६) असातावेदनीय का क्षय, (१७) दर्शन मोहनीय का क्षय, (१८) चारित्रमोहनीय का क्षय, (१९ से -२) नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु का क्षय, (२३-२४) उच्चगोत्र और नीचगोत्र का क्षय, (२५-२६) शुभनाम और अशुभनाम का क्षय, (२७-से ३१) दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय का क्षय। इस प्रकार ८ कर्मो की मुख्य ३१ प्रकृतियों के क्षय रूप गुण सिद्धो को प्रथम समय मे ही उपलब्ध हो जाते है। अथवा सिद्धो के ३१ गुण इस प्रकार भी होते है—५ सस्थान (परिमडल, वृत्त, त्र्यस, चतुरस्र और आयत, ५ वर्ण, ५ रस, २ गन्ध, ८ स्पर्श, ३ वेद, इन २८ वातो से रहित तथा अकाय, असग और अरूप ये तीन मिलाकर कुल ३१ गुण हुए। ये गुण भी अशरीरी होते ही सिद्धो मे प्रगट हो जाते है। परिग्रहमुक्ति के लिए ये गुण प्रेरणादायक होने से उपादेय हैं।

जोगसगहे- योग का अर्थ है—मन, वचन और काया के व्यापारो का सग्रह, यानी प्रशस्त मन वचन और काया की प्रवृत्तियो का सग्रह योगसग्रह कहलाता है। मोक्ष साधक साधुओ के लिए ३२ प्रकार की शुभ प्रवृत्तियो की शिक्षाओ का यहाँ सग्रह है। वह इस प्रकार है—१ **आलोचना** मोक्ष साधक योग के लिए शिष्य को आचार्य के सामने अपने दोपो को भलीभाति यथातथ्य रूप मे प्रगट करना चाहिए, २ **निरपलाप**—आचार्य को भी मोक्ष-साधनायोग के लिए शिष्य द्वारा कृत आलोचना दूसरा सुने नही, इस प्रकार से सुननी चाहिए और दूसरो को कहनी नही चाहिए। ३—आपत्ति आने पर स्वय धर्म पर दृढ रहना और दूसरो को धर्म मे दृढ करना, ४—दूसरो का सहारा लिये विना ही उपधान आदि तप करना। (५) आचार्य आदि द्वारा दी गई सूत्रार्थ ग्रहण रूप तथा प्रत्युपेक्षाद्यासेवना रूप शिक्षा ग्रहण करना। (६) शरीर का शृ गारादि की दृष्टि से सस्कार न करना। (७) अपनी तपस्या या क्रिया का ढिंढोरा नही पीटना, प्रगट न करना। (८) निर्लोभी रहना।

(६) तितिक्षा-कष्ट सहिष्णुता का होना, परिपह जीतना (१०) धर्म पालन मे सरलता रखना, (११) शुचिना-सत्यता या पवित्रता का आचरण करना, (१२) सम्यग्दर्शन शुद्ध रखना, (१३) चित्त को स्वस्थ समाधि से युक्त रखना, (१४) ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार, इन पाच आचारो का किसी के सामने अपनी प्रसिद्धि किये विना मौनपूर्वक पालन करना। (१५) विनय का आचरण करना, किसी भी प्रकार का अभिमान न करना, (१६) धैर्यवान् वनना, धर्म के पालने मे दैन्य न दिखाना। (१७) सवेगयुक्त वनना, अर्थात् मुमुक्षु वनकर सासारिक वातो से डरना—दूर रहना। (१८) प्रणिधि—माया न करना। (१९) अपना आचरण उत्तम और शुद्ध रखना, (२०) सवर का प्रयोग करना, आते हुए कर्मो—आश्रवो को रोकना। (२१) अपने अन्दर आते हुए दोपो को रोकना। (२२) समस्त कामो—विपयो से विरक्त रहना। (२३) मूल गुणो से सम्बन्धित प्रत्याख्यान (त्याग) ग्रहण करना। (२४) उत्तर गुण सम्बन्धी प्रत्याख्यान—त्याग, नियम लेना। (२५) शरीर, उपधि साधन तथा कपाय आदि का द्रव्यभाव रूप से व्युत्सर्ग करना। (२६) प्रमाद का त्याग करना। (२७) प्रतिक्षण समाचारी के अनुसार कार्य करना—निकम्मा न रहना। (२८) ध्यान रूप सवर की साधना करना। (२९) मारणान्तिक वेदना होने पर भी क्षोभ न करना। (३०) विपयो की आसक्ति का स्वरूप ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसे छोडना, (३१) गृहीत प्रायश्चित्त का पालन करना अथवा प्रायश्चित्त लेना, (३२) जीवन की अन्तिम घडियो के समय सलेखना करके आराधक वनना।

तित्तिसा आसातणा—आय यानी ज्ञानादि का लाभ, उसकी शातना अर्थात् खडना आशातना कहलाती है। इसके तेतीस भेद है– (१) गुरु या वडो के पास-पास शिष्य का सट कर चलना। (२) गुरु या वडो के आगे-आगे अविनयपूर्वक चलना। (३) गुरु या वडो के पीछे शिष्य का अविनयपूर्वक चलना। (४-५-६) शिष्य का गुरु या वडे साधुओ के आगे, पीछे या वरावर मे सटकर खडे रहना। (७-८-९) गुरु या वडे साधुओ के आगे, पीछे या वरावर मे सटकर शिष्य का वैठना। (१०) वडे साधुओ के साथ स्थडिल भूमि (शौचक्रियार्थ) जाने पर शुचि करके उनसे पहले आ जाना। (११) वडे साधुओ के साथ स्थडिलभूमि (शौचक्रिया) जाने पर उनसे पहले वहा से लौट कर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण कर लेना। (१२) मिलने या दर्शन के लिए आए हुये किसी व्यक्ति को वडे साधुओ द्वारा वुलाने से पहले ही शिष्य द्वारा वुला लेना। (१३) रात को वडे साधुजन आवाज दे कि कौन जागता है, कौन सो रहा है ?, तव जागते हुए भी उनके वचनो को सुने-अनसुने करके चुप रहना। (१४) भिक्षा मे लाया हुआ आहार पहले दूसरे शिष्यादि को वता कर

फिर गुरु आदि को बताना। (१५) भिक्षा में लाया हुआ आहार का कथन पहले दूसरे शिष्यादि के आगे करके बाद में गुरुजनों के आगे करना। (१६) लाये हुये आहार के लिए पहले शिष्यादि को आमंत्रित करना, तत्पश्चात् बड़े साधुओं या गुरु को आमंत्रित करना। (१७) भिक्षा में प्राप्त आहार लाकर पहले बड़े या वृद्ध साधुओं को पूछे बिना अपने प्रियपात्र साधुओं को दे देना। (१८) बड़ों के साथ में भोजन करते हुए खुद जल्दी-जल्दी बढ़िया चीजों पर हाथ साफ कर देना। (१९) किसी प्रयोजनवश बड़ों के बुलाने पर उसका जवाब न देना। (२०) बड़ों के बुलाने पर आसन पर बैठे बैठे ही उत्तर देना—हां, बोलिए क्या कहते हैं? अथवा कार्य करने के आलस्य से बड़ों के पास ही न फटकना। (२१) बड़ों के द्वारा कोई बात पूछने पर उनके सामने अविनयपूर्वक बोलना या उटपटांग बड़बड़ाना। (२२) गुरुजन या बड़े साधु शिष्य या छोटे साधु से कहें—वत्स! यह काम करो, तुम्हें लाभ होगा। तब अविनय-पूर्वक जवाब देना—आप ही इसे कर लीजिए, आपको लाभ हो जायगा। अथवा बड़े साधु कहें कि आप! रुग्ण साधु की सेवा नहीं करते? तब उत्तर देना कि रुग्ण की सेवा आप ही क्यों नहीं कर लेते? (२३) बड़ों के प्रति कठोर भाषा का प्रयोग करना। (२४) बड़े जिन-जिन शब्दों का प्रयोग करें उनके सामने उन्हीं शब्दों को दोहरा कर प्रत्युत्तर देना, अथवा गुरु द्वारा धर्मशिक्षा देने पर अन्यमनस्क होकर बैठ जाना, उनकी बातों का समर्थन न करना। (२५) गुरुजनों के व्याख्यान में अविनयपूर्वक प्रश्न करना और गुरु द्वारा उसका जवाब देने पर कहना कि—"आपको याद ही नहीं है।" (२६) बड़ों के व्याख्यान में उनकी भूल प्रगट करके सभा-भंग करना या धर्मकथा की प्रवचनधारा को तोड देना। (२७) बड़े व्याख्यान दे रहे हों उस समय अपने लिए हितकर बात को अहितकर समझ कर अरुचि दिखाना। (२८) बड़ों के द्वारा व्याख्यान करते समय बीच में ही सभा में विक्षेप डाल देना कि अब तो भिक्षा का समय हो गया है! कब तक कहे जाओगे? इस प्रकार बोलकर सभा को क्षुब्ध कर देना। (२९) गुरुजनों का व्याख्यान पूरा हुआ नहीं, उससे पहले ही अपनी दक्षता बताने के लिए स्वयं व्याख्यान शुरू कर देना। (३०) गुरु की शय्या पर बैठ जाना। (३१) उनकी शय्या पर पैर लगाना या ठोकर मारना, (३२) बड़ों के आसन से ऊँचे आसन पर बैठना, खड़ा रहना या सोना। (३३) गुरुदेव के आसन के बराबर आसन पर खड़ होना, बैठना या सोना। इस प्रकार कुल ३३ आशातनाएं हैं, जो अभिमानरूप अन्तरंग परिग्रह से जनित होती हैं, इसलिए इन्हें हेय समझ कर छोड़ना चाहिए।

सुरिंदा—देवों में ३३ इन्द्र हैं। वे इस प्रकार हैं—भवनपति देवों के २० इन्द्र। ज्योतिष्क देवों के २ इन्द्र, वैमानिक देवों के १० इन्द्र, राजा नृदेव (मनुष्यों

अपरिग्रहसंवर का माहात्म्य और स्वरूप

पूर्व सूत्रपाठ मे मिथ्यात्व आदि अन्तरंगपरिग्रह के रूप मे साधु जीवन मे सहसा घुस जाने वाले महापाप से साधु को सावधान करने हेतु एक बोल से लेकर ३३ बोलो का शास्त्रकार ने विशद निरूपण किया है। अब शास्त्रकार अपरिग्रह संवरद्वार का माहात्म्य, तथा स्वरूप निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा बताते है—

मूलपाठ

जो सो वीरवरवयण-विरतिपवित्थर-बहुविहप्पकारो, सम्मत्तविसुद्धमूलो, धितिकंदो, विणयवेति (इ) ओ (तो),

निग्गततिलोक्क-विपुलजसनिविडपीणपवरसुजातखधो, पच-महव्वयविसालसालो, भावणतयतज्झाणसुभजोगनाणपल्लववर-कुरधरो, बहुगुणकुसुमसमिद्धो, सीलसुगधो, अणण्हवफलो, पुणो य मोक्खवरबीजसारो, मदरगिरिसिहरचूलिका इव इमस्स मोक्खवरमुत्तिमग्गस्स सिहरभूओ, सवरवरपादपा चरिम सवरदार।

जत्थ न कप्पइ गामागर नगर-खेड-कब्बड-मडव-दोणमुह-पट्टणा-ऽऽसमगय च किचि अप्प व बहु व अणु व थूल व तस-थावरकायदव्वजाय मणसावि परिघेत्तु, ण हिरन्नसुवन्नखेत्तवत्थु, न दासीदासभयकपेसहयगयगवेलगं च, न जाणजुग्गसयणाइ, ण छत्तक न कु डिया, न उवाणहा, न पेहुणवीयणतालियटका, ण यावि अय-तउय-तब-सीसक-कस-रयत-जातरूव-मणि-मुत्ताधार-पुडक-संख-दंत-मणि-सिंग-सेल-काय-वरचेल-चम्म-पत्ताइ-महरिहाइ परस्स अज्झोववायलोभजणणाइ परियड्ढेउ गुणवओ, न यावि पुप्फफलकदमूलादियाइं, सणसत्तरसाइ सव्वधन्नाइ तिहि वि जोगेहिं परिघेत्तु ओसहभेसज्जभोयणट्ठयाए सजएण।

कीयकडपाहुड च दाणट्ठ-पुन्नपगड, समणवणीमगट्ठयाए वा कय, पच्छाकम्मं, पुरेकम्मं, नितिकम्मं, मक्खिय, अतिरित्त, मोहर चेव सयग्गहमाहड, मट्टिउवलित्त, अच्छेज्ज चेव अणिसट्ठ ज त तिहीसु जन्नेसु ऊसवेसु य अतो व वहिं व होज्ज समणट्ठयाए ठविय, हिंसासावज्जसपउत्त न कप्पती त पि य परिघेत्तु ।

अह केरिसय पुणाइ कप्पइ ? ज त एक्कारसपिडवायसुद्ध, किणण-हणण-पयण-कयकारियाणुमोयण-णवकोडीहि सुपरिसुद्धं, दसहि य दोसेहिं विप्पमुक्क, उग्गम-उप्पायणेसणाए सुद्ध, ववगय-चुय-चविय-चत्तदेह च फासुय ववगयसजोगमणिगाल विगयधूमं छट्ठाणनिमित्त छक्कायपरिरक्खणट्ठा हणि हणि फासुकेण भिक्खेण वट्टियव्व । ज पि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायके बहुप्पकारमि समुप्पन्ने वाताहिकपित्तसिभअइरित्तकुविय तह सन्निवातजाते व उदयपत्ते उज्जलबलविउलकक्खड-पगाढदुक्खे असुह-कडुयफरुसे, चडफलविवागे महब्भए जोवियत-करणे, सव्वसरीरपरितावणकरे न कप्पइ तारिसे वि तह अप्पणो परस्स वा ओसहभेसज्ज भत्तपाण च तपि सन्निहिकय, जपि य समणस्स सुविहियस्स तु पडिग्गहधारिस्स भवति भायण-भडोवहि-उवगरण पडिग्गहो पादबधण पादकेसरिया पादठवण च पडलाइ तिन्नेव रयत्ताण च गोच्छओ तिन्नेव य पच्छादा रयोहरण-चोलपट्टक-मुहणतकमादीय एय पि य सजमस्स उवबूहणट्ठयाए वायायवदसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहिय परिहरियव्व सजएण णिच्च पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सतत निक्खिक्यिव्व च गिण्हियव्व च भायणभडोवहिउवगरण ।

संस्कृतच्छाया

य स वीरवरवचनविरतिप्रविस्तरबहुविधप्रकार, सम्यक्त्वविशुद्ध-मूलो, धृतिकदो, विनयवेदिकस्त्रैलोक्य-निर्गतविपुलयशोनिबिडपीनप्रवर-सुजातस्कन्ध, पञ्चमहाव्रतविशालशालो, भावनात्वगन्तर्-ध्यानशुभयोगज्ञान-पल्लववराकुरधरो, बहुगुण सुमसमृद्ध, शीलसुगन्धोऽनाश्रवफल पुनश्च मोक्षवरबीजसारो, मन्दरगिरिशिखरचूलिकेवाऽस्य मोक्षवरमुक्तिमार्गस्य शिखरभूत सवरवरपादपश्चरम सवरद्वारम् ।

यत्र न कल्पते ग्रामाकर-नगर-खेट-कर्बट-मडम्ब-द्रोणमुख-पत्तनाश्रम-गत च किंचिदल्प वा बहु वा अणु वा स्थूल वा त्रसस्थावरकायद्रव्यजात मनसाऽपि परिगृहीतु, न हिरण्यसुवर्णक्षेत्रवास्तु, न दासोदासभृतकप्रेष्यहय-गजगवेलक च, न यानयुग्यशयनानि, न छत्रक, न कुडिका, न उपानहौ, न पेहुण (मयूर पिच्छ) व्यजन (वोजन) तालवृन्तकानि, न चापि अ पुक-ताम्र-सीसक-कास्य-रजत-जातरूप-मणि-मुक्ताधार पुटक शखदन्तमणि शृ ग-शैलकाचवरचेलचर्मपात्राणि महार्हाणि परस्याऽध्युपपातलोभजननानि परि-कर्षयितु (परिवर्द्धयितु) गुणवतो, न चापि पुष्पफलकन्दमूलादिकानि सन-सप्तदशकानि सर्वधान्यानि त्रिभिरपि योगै. परिगृहीतु औषधभैषज्य-भोजनार्थाय सयतेन । कि कारणम् ? अपरिमितज्ञानदर्शनधर. शीलगुणविनय-तप सयमनायकैस्तीर्थङ्करै सर्वजगज्जीववत्सलैस्त्रिलोकमहितैर्जिनवरे-न्द्रैरेषा योनि जङ्गमाना दृष्टा, न कल्पते योनिसमुच्छेद इति तेन वर्जयन्ति श्रमणसिंहा, यदपि च ओदन-कुल्माष गज-तर्पण-मथु-भ्रष्ट (धान)-पलल-सूप - शष्कुलीवेष्टिमवरसरकचूर्णकोशर्कापिर्डाशखरिणीवर्तक - (घनतीमन) मोदकक्षीरदधिसर्पिर्नवनीततैलगुडखण्डमत्स्यडिकामधुमद्यमासखाद्यव्यजन-विध्यादिक प्रणीत उपाश्रये परगृहे वाऽरण्ये न कल्पते तदपि सन्निधीकर्तु सुविहितानाम्, यदपि चोद्दिष्टस्थापितरचितपर्यवजात प्रकीर्णप्रादुष्करणाप-मित्यक मिश्रकजात क्रीतकृतप्राभृत दानार्थपुण्यप्रकृत, श्रमणवनीपकार्थतया वा कृत पश्चात्कर्म पुर.कर्म नैत्यिक म्रक्षितमतिरिक्त मौखर चैव स्वयग्राह आहृत मृत्तिकोपलिप्तमाच्छेद्य चैवानिसृष्ट यत्तत् तिथिषु यज्ञेषु उत्सवेषु चान्तर्बहिर्वा भवेत् श्रमणार्थं स्थापित हिंसासावद्यसम्प्रयुक्त न कल्पते तदपि न परिगृहीतुम् ।

चित्त मे ग्रहण करने की आतुरता तथा लोभ पैदा करने वाली हो, उन्हे (परियड्ढेउ) खींचना अपनी ओर झपटना, वढाना या जतन से रखना (गुणवओ) मूलगुणादि से युक्त भिक्षु के लिए (न) उचित नहीं है। (न यावि) और न ही (सजएण) सयमी साधु को (ओसहभेसज्जभोयणट्ठाए) औपध, अनेक वस्तुओ से वनी हुई दवा-भैषज तथा भोजन के लिए (पुप्फफलकदमूलादियाइ) फूल, फल, कद और मूल, आदि को तथा (सणसत्तरसाइ सव्वधन्नाइ) जिनमें १७ वा धान्य सन है, ऐसे १७ प्रकार के सभी धान्यो -अनाजो का (तिहिवि जोगेहि) तीन योगो —मन वचन काया से (परिघेत्तु) ग्रहण करना। (न) ठीक नहीं ह। (कि कारण ?) इसमे क्या कारण है ? (अपरिमियणाणदसणधरेहि) अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शन के धारण करने वाले, (सीलगुण-विणय तवसजमनायकेहि) शील -समाधि, मूलगुण आदि, विनय, तप और सयम के नायक—मार्गदर्शक (सव्वजगज्जीव वच्छलेहि) सारे जगत् के जीवो के प्रति वात्सल्य से ओतप्रोत, (तिलोयमहिएहि) तीनो लोको के पूजनीय (जिणवरिन्देहि) वीतरागो मे श्रेष्ठ केवल ज्ञानियो के इन्द्र यानी तीर्थकरो ने (एस) फूल, फल, धान्य आदि को (जगमाण) त्रस जीवो की (जोणी) योनि—उत्पत्ति स्थान के रूप मे (दिट्ठा) जाना—देखा है, (न कप्पइ जोणिसमुच्छेदोत्ति) अत योनि का नाश करना उचित नहीं ह, (तेण) इसी कारण से (समणसीहा) मुनिपु गव (वज्जति) पूर्वोक्त पुष्प आदि का ग्रहण करने का त्याग करते हैं। (य) और (ओदणकुम्मास-गज- तप्पण-मथु-भुज्जिय-पलल-सूप - सक्कुलिवेढिम-वरसरक-पिंड-सिह-रिणि-वट्ट-मोयग-खीर-दहि-सप्पि-नवनीत-तेल्ल-गुल-खड-मच्छडिय-मधु-मज्ज-मस-खज्जक--वजण-विधिमादिक) भात—पके हुये चावल, उडद अथवा लोभिया-चवला, गज नामक भोज्य पदार्थ, सत्तू, वेर आदि की कुट्टी, भुने हुये या सेके हुये चने आदि अनाज, तिल की पिट्ठी अथवा तिलपपड़ी, मू ग आदि की दालें, पूडी अथवा तिल साकली, वेढमी—एक प्रकार की मोटी चोकोर वनाई हुई रोटी, शक्कर के रस से भरे हुये गुलावजामुन रसगुल्ला आदि, कचौरी, समोसा आदि जिनमे दाल की पिट्ठी आदि भरी जाती है, गुड आदि का पिंड या शक्करमिला हुआ दही - श्रीखड, दाल के वड़े, लड्डू, दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड, खाड, मिश्री, मधु, मद्य, मास, खाजा, अनेक प्रकार के साग, चटनी, अचार, रायता आदि व्यजन तथा पाकविधि से वने हुये सव भोज्य पदार्थ तथा (पणीय) रसीले पौष्टिक भोज्य (जपि) यद्यपि कुछ ग्रहण करने योग्य हैं, (तपि) तथापि (उवस्सए) उपाश्रय—स्थानक मे (परघरे व) या दूसरे घर मे, (रन्नेव) अथवा जगल में (सुविहियाण) परिग्रहत्यागी

करने वाला है। (बहुगुण-कुसुम समिद्धो) निर्लोभता आदि शुभफलप्रद अनेक गुणो रूपी फूलो से यह अपरिग्रहवृक्ष समृद्ध है। (सीलसुगन्धो) शील—इहलौकिक फल निरपेक्ष सदाचार या सत्प्रवृत्ति ही उसकी सुगन्ध है। (अणण्हवफलो) अनाश्रव नये कर्मो का ग्रहण न करना—या आते हुए नव कर्मों का निरोधरूप संवर ही उसका फल है अथवा भगवद्वचन मे स्थिति होना—आज्ञा पालन करना ही उसका फल है। (पुणो य) और फिर (मोक्खवरबीजसारो) उस अपरिग्रह वृक्ष का बीज मोक्ष के बीज—बोधिबीज रूप है, वही उसका मिंजारूप सार है, (मदरगिरिसिहरचूलिका इव इमस्स मोक्खवरमुत्तिमग्गस्स सिहरभूओ) मेरुपर्वत के शिखर की चोटी के समान उत्तम संपूर्णकर्मक्षयरूप भावमोक्ष पर जाने के लिए जो यह निर्लोभता (मुक्ति) रूप श्रेष्ठ मार्ग है, उसका शेखर भूत है।

(जत्थ) परिग्रह त्यागरूप अन्तिम सवरद्वार मे (गामागर-नगर-खेड-कब्बड-मडब-दोणमुह-पट्टणासमगय) गाव, खान, नगर, धूल के कोट वाली बस्ती, कस्बा, मडम्ब—जिसके चारो ओर ढाई-ढाई योजन तक बस्ती न हो, बदरगाह, महानगर या आश्रम मे रखा हुआ (किंचि) कोई भी पदार्थ (अप्प व) अल्पमूल्य अथवा (बहुव) बहुमूल्य (अणु व थूलव) थोडा हो या ज्यादा, अथवा छोटा हो या बडा (तसथावरकाय दव्वजाय) शखादि त्रसकायरूप तथा रत्नादि स्थावररूप सचेतन या अचेतन द्रव्यसमूह (मणसावि परिघेत्तु) शरीर से तो दूर रहा, मन से भी ग्रहण करना (न कप्पई) उचित नहीं है। (हिरन्नसुवन्नखेत्तवत्थु) चादी-सोना, क्षेत्र-खुली जमीन और मकान (ण) ग्रहण करना योग्य नहीं, (च) तथा (दासीदास भयकपेसहय-गय-गवेलग) दासी-दास, नौकर-चाकर, घोडा, हाथी, लेना-रखना भी (न) योग्य नहीं (च) और (जाणजुग्गसयणाइ) गाडी, रथ आदि सवारिया, अथवा गोल्लदेश प्रसिद्ध जपान विशेष तथा शयनीय पदार्थ लेना (न) योग्य नहीं है, (छत्तक) छाता भी (न) लेना ठीक नहीं, (न कुडिया) कमडलु भी लेना उचित नहीं, (न पेहुणवीयण-तालियटका) न मोरपिच्छ एव बास आदि का बना पखा या ताड का पखा लेना ठीक है। (ण यावि अय-तउय-तब-सीसक-कस रयत-जातरूव-मणि-मुत्ताधार-पुडक-सख-दत-मणि-सिग-सेल-कायवरचेलचम्मपत्ताइ) और न ही लोहा, बग, तावा, सीसा, कासा, चादी, सोना, चन्द्रकान्तादि मणि, मोतियो का आधार पुटक—सीप, शख,

चित्त मे ग्रहण करने की आतुरता तथा लोभ पैदा करने वाली हो, उन्हे (परियड्ढेउ) खींचना अपनी और झपटना, वढाना या जतन से रखना (गुणवओ) मूलगुणादि से युक्त भिक्षु के लिए (न) उचित नहीं है। (न यावि) और न ही (सजएण) सयमी साधु को (ओसहभेसज्जभोयणट्ठाए) औषध, अनेक वस्तुओ से वनी हुई दवा-भेषज तथा भोजन के लिए (पुप्फफलकदमूलादियाइ) फूल, फल, कद और मूल, आदि को तथा (सणसत्तरसाइ सव्वधन्नाइ) जिनमें १७ वा धान्य सन है, ऐसे १७ प्रकार के सभी धान्यो -अनाजो का (तिहिवि जोगेहिं) तीन योगो —मन वचन काया से (परिघेत्तु) ग्रहण करना। (न) ठीक नहीं है। (किं कारण ?) इसमे क्या कारण है ? (अपरिमियणाणदसणधरेहिं) अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शन के धारण करने वाले, (सीलगुण-विणय तवसजमनायकेहिं) शील -समाधि, मूलगुण आदि, विनय, तप और सयम के नायक—मार्गदर्शक (सव्वजगज्जीव वच्छलेहिं) सारे जगत् के जीवो के प्रति वात्सल्य से ओतप्रोत, (तिलोयमहिएहिं) तीनो लोको के पूजनीय (जिणवरिन्देहिं) वीतरागो मे श्रेष्ठ केवल ज्ञानियो के इन्द्र यानी तीर्थंकरो ने (एस) फूल, फल, धान्य आदि को (जगमाण) त्रस जीवो की (जोणी) योनि—उत्पत्ति स्थान के रूप मे (दिट्ठा) जाना—देखा है, (न कप्पइ जोणिसमुच्छेदोत्ति) अत. योनि का नाश करना उचित नहीं है, (तेण) इसी कारण से (समणसीहा) मुनिपुगव (वज्जति) पूर्वोक्त पुष्प आदि का ग्रहण करने का त्याग करते हैं। (य) और (ओदणकुम्मास-गज- तप्पण-मथु-भुज्जिय-पलल-सूप - सक्कुलिवेढिम-वरसरक-पिड-सिहरिणि-वट्ट-मोयग-खीर-दहि-सप्पि-नवनीत-तेल्ल-गुल-खड-मच्छडिय-मधु-मज्ज-मस-खज्जक--वजण-विधिमादिक) भात—पके हुये चावल, उड़द अथवा लोभिया-चवला, गज नामक भोज्य पदार्थ, सत्तू, वेर आदि की कुट्टी, भुने हुये या सेके हुये चने आदि अनाज, तिल की पिट्ठी अथवा तिलपपडी, मूग आदि की दालें, पूडी अथवा तिल साकली, वेढमी—एक प्रकार की मोटी चोकोर वनाई हुई रोटी, शक्कर के रस से भरे हुये गुलावजामुन रसगुल्ला आदि, कचौरी, समोसा आदि जिनमे दाल की पिट्ठी आदि भरी जाती है, गुड आदि का पिंड या शक्करमिला हुआ दही -श्रीखड, दाल के वडे, लड्डू, दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड, खाड, मिश्री, मधु, मद्य, मास, खाजा, अनेक प्रकार के साग, चटनी, अचार, रायता आदि व्यजन तथा पाकविधि से वने हुये सब भोज्य पदार्थ तथा (पणीय, रसीले पौष्टिक भोज्य (जपि) यद्यपि कुछ ग्रहण करने योग्य हैं, (तपि) तथापि (उवस्सए) उपाश्रय—स्थानक मे (परघरे व) या दूसरे घर मे, (रन्नेव) अथवा जगल में (सुविहियाण) परिग्रहत्यागी

करने वाला है। (बहुगुण-कुसुम समिद्धो) निर्लोभता आदि शुभफलप्रद अनेक गुणो रूपी फूलो से यह अपरिग्रहवृक्ष समृद्ध है। (सीलसुगन्धो) शील—इहलौकिक फल निरपेक्ष सदाचार या सत्प्रवृत्ति ही उसकी सुगन्ध है। (अणण्हवफलो) अनाश्रव नये कर्मो का ग्रहण न करना—या आते हुए नव कर्मो का निरोधरूप सवर ही उसका फल है अथवा भगवद्वचन मे स्थिति होना—आज्ञा पालन करना ही उसका फल है। (पुणो य) और फिर (मोक्खवरबीजसारो) उस अपरिग्रह वृक्ष का बीज मोक्ष के बीज—बोधिबीज रूप है, वही उसका मिजारूप सार है, (मदरगिरिसिहरचूलिका इव इमस्स मोक्खवरमुत्तिमग्गस्स सिहरभूओ) मेरुपर्वत के शिखर की चोटी के समान उत्तम सपूर्णकर्मक्षयरूप भावमोक्ष पर जाने के लिए जो यह निर्लोभता (मुक्ति) रूप श्रेष्ठ मार्ग है, उसका शेखर भूत है।

(जत्थ, परिग्रह त्यागरूप अन्तिम सवरद्वार मे (गामागर-नगर-खेड-कब्बड-मडब-दोणमुह-पट्टणासमगय) गाव, खान, नगर, धूल के कोट वाली बस्ती, कस्बा, मडम्ब—जिसके चारो ओर ढाई-ढाई योजन तक बस्ती न हो, बदरगाह, महानगर या आश्रम मे रखा हुआ (किंचि) कोई भी पदार्थ (अप्प व) अल्पमूल्य अथवा (बहुव) बहुमूल्य (अणुव थूलव) थोडा हो या ज्यादा, अथवा छोटा हो या बडा (तसथावरकाय दव्वजाय) शखादि त्रसकायरूप तथा रत्नादि स्थावररूप सचेतन या अचेतन द्रव्यसमूह (मणसावि परिघेत्तु) शरीर से तो दूर रहा, मन से भी ग्रहण करना (न कप्पई) उचित नहीं है। (हिरन्नसुवन्नखेत्तवत्थु) चादी-सोना, क्षेत्र-खुली जमीन और मकान (ण) ग्रहण करना योग्य नहीं, (च) तथा (दासीदास भयकपेसहयगय-गवेलग) दासी-दास, नौकर-चाकर, घोडा, हाथी, लेना-रखना भी (न) योग्य नहीं (च) और (जाणजुग्गसयणाइ) गाडी, रथ आदि सवारिया, अथवा गोल्लदेश प्रसिद्ध जपान विशेष तथा शयनीय पदार्थ लेना (न) योग्य नहीं है, (छत्तक) छाता भी (न) लेना ठीक नहीं, (न कुडिया) कमडलु भी लेना उचित नहीं, (न पेहुणवीयणतालियटका) न मोरपिच्छ एव बास आदि का बना पखा या ताड का पखा लेना ठीक है। (ण यावि अय-तउय-तब-सीसक-कस-रयत-जातरूव-मणि-मुत्ताधार-पुडक-सखदत-मणि-सिंग-सेल-कायवरचेलचम्मपत्ताइ) और न ही लोहा, बग, तावा, सीसा, कासा, चादी, सोना, चन्द्रकान्तादि मणि, मोतियो का आधार पुटक—सीप, शख, हाथीदात, या हाथीदात की बनी हुई मणि, सींग, पाषाण, उत्तम काच-शीशा, कपडा और चमडा तथा इनके बने हुए पात्र—बर्तन ग्रहण करना ठीक है। तथा (महारिहाइ) बहुमूल्य वस्तुएँ, जो (परस्स) दूसरे के (अज्झोववायलोभजणणाइ)

द्वितीय श्रुत स्कन्ध के पिंडैषणा नामक प्रथम अध्ययन के ग्यारह उद्देशों में वर्णित दोषों से रहित-शुद्ध हो, (किणण-हणण-पयण-कय-कारियाणुमोयणनवकोडीहिं सुपरिसुद्ध) मूल्यादि से खरीदना, शस्त्रादि से छेदन द्वारा प्राणिहिंसा से उत्पन्न करना, अग्नि से पकाना, इन तीनों कार्यों का करना, कराना और अनुमोदन करना, इस प्रकार ६ कोटियों से रहित-विशुद्ध हो, (य) तथा (दसहि दोसेहि विप्पमुक्क) शंकित आदि दस दोषों से रहित हो, (उग्गमउप्पायणेसणाए सुद्ध) आधाकर्म आदि १६ उद्गम के, धात्री आदि १६ उत्पादना के दोषों से, आहारादि की गवेषणा से शुद्ध हो (च) तथा (ववगयचयचाविय-चत्तदेहं) चेतनपर्याय से अचेतनत्व को प्राप्त आयुक्षय होने के कारण जीवनादि क्रिया से रहित किया गया, स्वयं जीवों के द्वारा छोड दिया गया, (फासुय) प्रासुक आहार तथा (ववगयसंजोग, विगयधूम) संयोजना के दोष से रहित, धूम दोष से रहित आहार (छट्ठाणनिमित्त) क्षुधावेदनानिवृत्ति व वैयावृत्य आदि के छह निमित्त से (छक्कायपरिरक्खणट्ठा) छह काय के जीवों की रक्षा के लिए साधु को (हणिहणि) प्रतिदिन (फासुकेण भिक्खेण वट्टियव्वं) प्रासुक भिक्षान्न पर निर्वाह करना चाहिए। (जं पिय) और जो (सुविहियस्स समणस्स) शास्त्रविहित आचरण करने वाले साधु के, (बहुप्पकारम्मि रोगायंके) बहुत प्रकार के अत्यन्त कष्टप्रद रोग के उत्पन्न होने पर (वाताहिकपित्तसिंभअतिरित्तकुविय,तहसन्निपातजाते) वायु की अधिकता से, पित्त तथा कफ के अत्यन्त कुपित हो जाने से तथा वात-पित्त-कफ तीनों के संयोग से उत्पन्न सन्निपातजन्य रोग के (समुप्पन्ने) उत्पन्न हो जाने पर (व) अथवा (असुभकडुयफरुसे चंडफलविवागे) अशुभ, कटुक और कठोर प्रचंड-भयंकर फलभोगरूप विपाक वाले (उज्जल-बल-विउल-कक्खड-पगाढ-दुक्खे) सुख के लेश से रहित, प्रबल, चिरकाल तक वेदन किये जाने वाले, अतएव कर्कश द्रव्य की तरह चुभने वाले प्रगाढ दुःख के (उदय पत्ते) उदय में आने पर (जीवियंतकरणे) जीवन का अन्त करने वाले (सव्वसरीर-परितावणकरे) सारे शरीर में सन्ताप उत्पन्न करने वाले (तारिसे महब्भए अवि) ऐसे महान् भय के उपस्थित होने पर भी (तह) तथा (अप्पणो परस्स वा) अपने या दूसरे के लिए (ओसहभेसज्ज) औषध और भैषज (च) और (भत्तपाण) भोजनपान (तंपि) वह भी साधु को (सन्निहि-कयं) अपने पास संग्रह करके रखना (न कप्पइ) योग्य नहीं है। (जंपिय) और जो कि (सुविहियस्स पडिग्गहधारिस्स समणस्स) शास्त्रविहित आचरण करने वाले पात्रधारी श्रमण के (भायणभंडोवहिउवकरण) काठ के पात्र, मिट्टी के पात्र—बर्तन, रजोहरण आदि उपकरण जैसे कि—(पडिग्गहो) पात्र, (पादबंधन) पात्र बांधने की झोली, (पादकेसरिया) पात्रकेसरी - पात्र प्रमा-

पोत्तिका, (पादठवण) जिस कवल के टुकडे मे पात्र रखे जाते हैं, वह पात्रस्थापन, (च) और (पडलाइ) भिक्षा के समय पात्रो को ढकने के वस्त्रखण्ड—पल्ले, (तिन्नेव) कम-से-कम तीन तो होते ही है, (च) और (रयत्ताण) पात्रो की धूल से रक्षा करने के लिए पात्रो पर लपेटने का रजस्त्राण नामक वस्त्रखण्ड, (गोच्छओ) पात्र और वस्त्र प्रमार्जन करने का गोच्छक नाम का कवलखड (च) तथा (तिन्नेव) तीन ही (पच्छादा) शरीर पर ओढने के वस्त्र-चादरें, दो सूती एक ऊनी, (रयोहरण-चोल-पट्टक-मुहणतकमादीय) रजोहरण, चोलपट्टा एव मुखवस्त्रिका इत्यादि (उवगरण) उपकरण हैं। (एयपि) ये सभी (सजमस्स उववूहणट्ठयाए सयम की वृद्धि-रक्षा के लिए (वायायवदेस-मसग-सीय-परिरक्खणट्ठयाए) हवा, धूप, डास, मच्छर और ठड से शरीर की रक्षा करने के लिए (सजएण) साधु को (णिच्च) प्रतिदिन (रागदोस-रहिय) राग-द्वेष से रहित होकर (परिहरियव्व) धारण करने चाहिए। (च) तथा उनके (पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणाए) प्रतिलेखन करने, झटकने एव प्रमार्जन करने मे (अहो य राओ य) दिन और रात (अप्पमत्तेण) प्रमाद से रहित होकर साधु को (भायण-भडोवहि - उवगरण) काष्ठ पात्र, मिट्टी आदि के वर्तन तथा अन्य उपकरण (सतत) निरन्तर (निक्खियव्व) रखना, (च) और (गिण्हियव्व) ग्रहण करना (भवति) होता है।

मूलार्थ—जो यह आगे कहा जाएगा, वह अन्तिम-परिग्रहनिवृत्ति-अपरिग्रहवृत्तिरूप सवरद्वार—सवर श्रेष्ठ वृक्ष है। श्री भगवान् महावीर के श्रेष्ठ वचनो से कही हुई अनेक प्रकार से परिग्रहनिवृत्ति ही उस अपरिग्रह वृक्ष का विस्तार-फैलाव है। सम्यक्त्व ही उस वृक्ष का मूल है, धृति ही उसका कन्द यानी स्कन्ध से नीचे का भाग है, विनय ही उसकी वेदिका है। तीनो लोको मे व्याप्त विस्तीर्ण यश ही उसका घना, स्थूल महान् और सुनिष्पन्न स्कन्ध-तना है। पाच महाव्रत ही उसकी विशाल शाखाएँ हे, अनित्यत्व आदि भावनाएँ ही उस अपरिग्रह वृक्ष की त्वचा-छाल है। वह अपरिग्रह वृक्ष धर्मादि शुभध्यान, प्रशस्त योगत्रय और ज्ञानरूप पत्तो एव अकुरो को धारण करने वाला है। शील ही उसकी शोभा है। आश्रव का अभाव अर्थात् सवरण ही उसका फल है, मोक्ष का वीज वोधि ही उस वृक्ष का वीजसार है—वीज के अन्दर की मीगी है। मेरुपर्वत के शिखर की चोटी के समान यह मोक्ष के निर्लोभतारूपी श्रेष्ठ मार्ग का शिखर है।

जिस परिग्रहत्यागरूप अन्तिम सवर द्वार मे गाव, खान, नगर, खेट (धूल के कोट) वाली बस्ती, कस्वा, मडम्ब, बन्दरगाह, विशाल नगर या आश्रम मे प्राप्त हुए किसी भी अल्पमूल्य या बहुमूल्य, छोटे या बडे, सचेतन या अचेतन, शख आदि त्रस काय के तथा रत्नादि स्थावर काय के सामान्य द्रव्यसमूह तथा सोना, चादी, खेत और मकान ग्रहण करना योग्य नही है। दासी, दास, नौकर चाकर, घोडा, हाथी, बकरा तथा रथादि वाहन अथवा गोल्लदेश प्रसिद्ध जम्पान (पालकीविशेष) तथा शय्या का ग्रहण करना भी ठीक नही है। न छाता ग्रहण करना चाहिए, न कमडलु। न जूते खडाऊ आदि ग्रहण करने चाहिएँ और न ही मोरपिच्छ, बास आदि का पखा तथा ताड का पखा ही ग्रहण करना उचित है। तथा न ही लोहा, वग, ताबा, सीसा, कासा, चादी, सोना, मणि, मोती या मोती का आधार-पुटक-सीप, शख, हाथीदात, हाथीदात का बना हुआ मणि, सीग, पाषाण, उत्तम काच, कपडा, चमडा अथवा इन सबके बने हुए पात्र तथा दूसरो के चित्त मे लेने की उत्कण्ठा और लोभ पैदा करने वाली इसी तरह की अन्य बहुमूल्य वस्तुओ का ग्रहण करना, झपट लेना अथवा उसकी वृद्धि या रक्षा करना मूल गुण आदि से विभूषित अपरिग्रही साधु के लिए उचित नही है। सयमी साधु को औषध, भैषज्य (अनेक वस्तुओ के सयोग से बनी हुई दवा) तथा भोजन के लिए फूल, फल, कद, मूल आदि तथा जिनमे सन नामक धान्य सतरहवाँ है, ऐसे सभी प्रकार के अनाजो का मन-वचन-कायरूप तीनो योगो से ग्रहण करना ठीक नही है।

प्रश्न होता है कि ऐसा न करने का क्या कारण है ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है—अनन्तज्ञान और अनन्त-दर्शन के धारक, शील (सदाचार या समाधि), मूल गुणादि, विनय, तप और सयम के नायक—मार्गदर्शक, सारे जगत् के प्रति वात्सल्य रखने वाले, त्रिलोकपूज्य, केवल ज्ञानियो के इन्द्र तीर्थंकरो ने उक्त फूल, फल, धान्य आदि को त्रसजीवो की योनि के रूप मे देखा है, योनि का नाश करना उचित नही है, इसी कारण श्रमणसिंह उन फल-फूल आदि का त्याग करते है। और जो भात, उडद या लोभिया (चवला), अथवा खिले हुए मूग आदि, गज नामक भोज्यविशेष, सत्तू, बेर आदि की कुटटी चूर्ण, भुने हुए या सेके हुए चने आदि अनाज, तिल की कुटटी-

पोत्तिका, (पादठवण) जिस कबल के टुकडे मे पात्र रखे जाते हैं, वह पात्रस्थापन, (च) और (पडलाइ) भिक्षा के समय पात्रो को ढकने के वस्त्रखण्ड—पल्ले, (तिन्नेव) कम-से-कम तीन तो होते ही हैं, (च) और (रयत्ताण) पात्रो की धूल से रक्षा करने के लिए पात्रो पर लपेटने का रजस्त्राण नामक वस्त्रखण्ड, (गोच्छओ) पात्र और वस्त्र प्रमार्जन करने का गोच्छक नाम का कबलखड (च) तथा (तिन्नेव) तीन ही (पच्छादा) शरीर पर ओढने के वस्त्र-चादरें, दो सूती एक ऊनी, (रयोहरण-चोल-पट्टक-मुहणतकमादीय) रजोहरण, चोलपट्टा एव मुखवस्त्रिका इत्यादि (उवगरण) उपकरण हैं। (एयपि) ये सभी (सजमस्स उवबूहणट्ठयाए सयम की वृद्धि-रक्षा के लिए (वायायवदेस-मसग-सीय-परिरक्खणट्ठयाए) हवा, धूप, डास, मच्छर और ठड से शरीर की रक्षा करने के लिए (सजएण) साधु को (णिच्च) प्रतिदिन (रागदोस-रहिय) राग-द्वेष से रहित होकर (परिहरियव्व) धारण करने चाहिए। (च) तथा उनके (पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणाए) प्रतिलेखन करने, झटकने एव प्रमार्जन करने मे (अहो य राओ य) दिन और रात (अप्पमत्तेण) प्रमाद से रहित होकर साधु को (भायण-भडोवहि - उवगरण) काष्ठ पात्र, मिट्टी आदि के बर्तन तथा अन्य उपकरण (सतत) निरन्तर (निक्खियव्व) रखना, (च) और (गिण्हियव्व) ग्रहण करना (भवति) होता है।

मूलार्थ—जो यह आगे कहा जाएगा, वह अन्तिम-परिग्रहनिवृत्ति-अपरिग्रहवृत्तिरूप सवरद्वार—सवर श्रेष्ठ वृक्ष है। श्री भगवान् महावीर के श्रेष्ठ वचनो से कही हुई अनेक प्रकार से परिग्रहनिवृत्ति ही उस अपरिग्रह वृक्ष का विस्तार-फैलाव है। सम्यक्त्व ही उस वृक्ष का मूल है, धृति ही उसका कन्द यानी स्कन्ध से नीचे का भाग है, विनय ही उसकी वेदिका है। तीनो लोको मे व्याप्त विस्तीर्ण यश ही उसका घना, स्थूल महान् और सुनिष्पन्न स्कन्ध-तना है। पाच महाव्रत ही उसकी विशाल शाखाएँ है, अनित्यत्व आदि भावनाएँ ही उस अपरिग्रह वृक्ष की त्वचा-छाल है। वह अपरिग्रह वृक्ष धर्मादि शुभध्यान, प्रशस्त योगत्रय और ज्ञानरूप पत्तो एव अकुरो को धारण करने वाला है। शील ही उसकी शोभा है। आश्रव का अभाव अर्थात् सवरण ही उसका फल है, मोक्ष का बीज बोधि ही उस वृक्ष का बीजसार है—बीज के अन्दर की मीगी है। मेरुपर्वत के शिखर की चोटी के समान यह मोक्ष के निर्लोभतारूपी श्रेष्ठ मार्ग का शिखर है।

जिस परिग्रहत्यागरूप अन्तिम सवर द्वार मे गाव, खान, नगर, खेट (धूल के कोट) वाली बस्ती, कस्बा, मडम्ब, बन्दरगाह, विशाल नगर या आश्रम मे प्राप्त हुए किसी भी अल्पमूल्य या बहुमूल्य, छोटे या बडे, सचेतन या अचेतन, शख आदि त्रस काय के तथा रत्नादि स्थावर काय के सामान्य द्रव्यसमूह तथा सोना, चादी, खेत और मकान ग्रहण करना योग्य नही है। दासी, दास, नौकर चाकर, घोडा, हाथी, बकरा तथा इत्यादि वाहन अथवा गोल्लदेश प्रसिद्ध जम्पान (पालकीविशेष) तथा शय्या का ग्रहण करना भी ठीक नही है। न छाता ग्रहण करना चाहिए, न कमडलु। न जूते खडाऊ आदि ग्रहण करने चाहिएँ और न ही मोरपिच्छ, बास आदि का पखा तथा ताड का पखा ही ग्रहण करना उचित है। तथा न ही लोहा, बग, ताबा, सीसा, कासा, चादी, सोना, मणि, मोती या मोती का आधार-पुटक-सीप, शख, हाथीदात, हाथीदात का बना हुआ मणि, सीग, पाषाण, उत्तम काच, कपडा, चमडा अथवा इन सबके बने हुए पात्र तथा दूसरो के चित्त मे लेने की उत्कण्ठा और लोभ पैदा करने वाली इसी तरह की अन्य बहुमूल्य वस्तुओ का ग्रहण करना, झपट लेना अथवा उसकी वृद्धि या रक्षा करना मूल गुण आदि से विभूषित अपरिग्रही साधु के लिए उचित नही है। सयमी साधु को औषध, भैषज्य (अनेक वस्तुओ के सयोग से बनी हुई दवा) तथा भोजन के लिए फूल, फल, कद, मूल आदि तथा जिनमे सन नामक धान्य सतरहवाँ है, ऐसे सभी प्रकार के अनाजो का मन-वचन-कायरूप तीनो योगो से ग्रहण करना ठीक नही है।

प्रश्न होता है कि ऐसा न करने का क्या कारण है? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है—अनन्तज्ञान और अनन्त-दर्शन के धारक, शील (सदाचार या समाधि), मूल गुणादि, विनय, तप और सयम के नायक—मार्गदर्शक, सारे जगत् के प्रति वात्सल्य रखने वाले, त्रिलोकपूज्य, केवल ज्ञानियो के इन्द्र तीर्थंकरो ने उक्त फूल, फल, धान्य आदि को त्रसजीवो की योनि के रूप मे देखा है, योनि का नाश करना उचित नही है, इसी कारण श्रमणसिंह उन फल-फूल आदि का त्याग करते है। और जो भात, उडद या लोभिया (चवला), अथवा खिले हुए मूग आदि, गज नामक भोज्यविशेष, सत्तू, बेर आदि की कुटटी चूर्ण, भुने हुए या सेके हुए चने आदि अनाज, तिल की कुट्टी-

पिट्ठी, मूग आदि की दाल, पूडी या तिल पपडी, बेढमी नामक चोकोर रोटी या मिस्सी रोटी, शक्कर के रस से भरे हुए गुलाब-जामुन, रसगुल्ला आदि, जिनके अन्दर बेसन आदि भरा जाता है, ऐसे कचौरी, समोसे आदि पदार्थ, गुड आदि का पिंड, शक्कर मिला हुआ दही—श्रीखड, दाल के वडे, लड्डू, खीर, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड, खाड, मिश्री, शहद, मद्य, मास, खाजे, अनेक प्रकार के साग, चटनी, रायता, अचार आदि व्यजन तथा स्वादिष्ट पौष्टिक पदार्थ, विधिपूर्वक बढिया तरीके से बनाए हुए कुछ भोज्य पदार्थ उचित होने से ग्राह्य है, तथापि उपाश्रय-स्थानक मे या दूसरे मकान मे अथवा जगल मे शास्त्रविहित आचरण करने वाले साधुओ को इन्हे अपने पास सग्रह करके रखना उचित नही है। इसके अतिरिक्त जो आहार साधु को उद्देश्य करके बनाया गया है, साधु के लिए ही अलग से रखा गया है, मोदक के चूरे से लड्डू बाधकर साधु के लिए तैयार किया गया है, उद्दिष्ट भोजन या भात आदि एक चीज को दही आदि दूसरी चीज के साथ मिलाकर रूपान्तर किया हुआ, भूमि पर बिखरता हुआ, दीपक जलाकर दिया जाने वाला, उधार लेकर तैयार किया गया, साधु और गृहस्थ दोनो के लिए सयुक्त रूप मे तैयार किया गया, साधु के निमित्त खरीदा गया, साधु को भेंट के रूप मे दिया जाने वाला अथवा दान के लिए, पुण्य के लिए बनाया गया, अथवा बौद्ध आदि श्रमणो तथा याचको के लिए बनाया गया भोजन तथा जिस आहार के देने के बाद सचित्त पानी से हाथ या बर्तन धोने पडे, या दान देने के पूर्व हाथ आदि सचित्त पानी से धोने पडे, जो आहार नित्य एक ही घर से लिया जाता हो, सचित्त पानी आदि के ससर्ग से युक्त भोजन, मात्रा से अधिक भोजन, आहार लेने के पूर्व या पश्चात् दाता की प्रससा करके या बहुत कहासुनी करके प्राप्त किया गया आहार, मिट्टी तथा गोबर आदि से लिप्त हाथो से दिया गया आहार, तथा नौकर आदि दुर्बल से छीनकर दिया गया आहार, एक व्यक्ति द्वारा अनेक व्यक्तियो के अधिकार का दिया जाने वाला आहार, तथा मदनत्रयोदशी आदि तिथियो मे, यज्ञो मे, उत्सवो मे—खुशियो के मौको पर या यात्राओ मे—मेलो ठेलो मे उपाश्रय के अदर या कही बाहर साधु के लिए रखा गया हिंसा तथा सावद्य कर्मो से युक्त आहारादि हो, उसे भी ग्रहण करना साधु के लिए वर्जनीय है।

प्रश्न होता है, तो फिर कौन-सा आहारादि पदार्थ साधु को लेना

उचित है ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है—जो आहारादि पदार्थ आचाराग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पिण्डैपणा नामक प्रथम अध्ययन के ग्यारह उद्देशो मे वर्णित दोपो से रहित होने से शुद्ध हो, वह साधु के लिए ग्राह्य है, तथा खरीद कर लाना, प्राणि हिंसा से तैयार करना, अग्नि मे पकाना, इन तीनो कार्यों को स्वय करना, दूसरो से करवाना और करते हुए की अनुमोदना करना, इस प्रकार नौ कोटि के दोपो से रहित जो शुद्ध आहार हो, तथा शकित आदि दस दोपो से मुक्त एव आधा कर्म आदि सोलह उद्‌गम के तथा धात्री आदि सोलह उत्पादन के दोपो से रहित आहार की गवेषणा से प्राप्त विशुद्ध भोजन ही साधु के लिए ग्राह्य है। तथा जो आहार सचित्त से अचित्त हो चुका है, जीवन के ससर्ग से रहित है, आयुक्षय होने से जीवो के द्वारा च्युत है या छुडाया हुआ है, या जीवो ने जिसे स्वय छोड दिया है, ऐसा प्रासुक आहार साधु के ग्रहण करने योग्य है। जो आहार सयोजनादोष से रहित हो, अगार दोष से निर्मुक्त हो, धूमदोप से रहित हो, वह भी साधु के लिए ग्राह्य होता है। क्षुधावेदना की निवृत्ति तथा वैयावृत्य आदि छह कारणो के योग से छह काय के जीवो की रक्षा के लिए साधु को प्रति-दिन प्रासुक भिक्षान्न पर ही निर्वाह करना चाहिए।

शास्त्रोक्तविधिपूर्वक आचरण करने वाले श्रमण के शरीर मे अनेक प्रकार का ज्वर आदि भयानक कष्टप्रद रोग उत्पन्न हो जाने पर, वात की अधिकता से, पित्त और कफ के अत्यन्त कुपित हो जाने पर तथा वात-पित्त-कफ तीनो के सयोग से सन्निपातजन्य व्याधि के उत्पन्न होने पर, तथा सुख के लेश से शून्य, प्रबल- कष्ट से भोगने योग्य, चिरकाल तक अनुभव किये जाने वाले, अत एव कर्कश द्रव्य के समान अनिष्ट गाढ दुःख के उदय होने पर अशुभ, कटु और कठोर भयकर दारुण फल को भुगाने वाले, जीवन का अन्त करने वाले तथा सारे शरीर मे असह्य सताप पैदा करने वाले महान् भय के उपस्थित होने पर भी अचित्त बना हुआ औषध, भैपज्य, आहार-पानी हो, तो भी अपने या दूसरे के लिए सचित करके पास मे रखना शास्त्रीय विधि से युक्त नही है। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार चलने वाले पात्रधारी साधु के लिए जो काष्ठ पात्र, मिट्टी के बर्तन या रजोहरण, वस्त्र आदि उपकरण विहित है, जैसे कि—

पात्र, पात्र बाधने की झोली, पात्र केसरिका—पात्रप्रमार्जनी पोत्तिका, पात्र रखने का कम्बल का टुकडा, भिक्षा के अवसर पर पात्रो के ढकने के तीन वस्त्र खण्ड—पल्ले, पात्रो को धूल से बचाने के लिए उनके चारो ओर लपेटा जाने वाला वस्त्र, पात्र प्रमार्जन करने का कम्बलखण्ड, दो सूती और एक ऊनी—यो तीन चादरें शरीर पर ओढने के लिए, रजोहरण, चोल पट्टा और मुखवस्त्र इत्यादि उपकरण है। ये सब उपकरण भी सयम की वृद्धि या पुष्टि के लिए तथा हवा, धूप, डास, मच्छर और ठड से अपनी रक्षा के लिए है। सयमी साधु को इन्हे रागद्वेष से रहित होकर धारण करना चाहिए। साधु को प्रतिदिन इनका प्रतिलेखन, प्रस्फोटन—(झटकना) तथा प्रमार्जन करते हुए इन पात्र, भाण्ड तथा उपकरणो को रातदिन सतत अप्रमत्त (सावधान) होकर रखना और लेना—उठाना चाहिए।

व्याख्या

पूर्वोक्त सूत्रपाठ मे खासतौर से अन्तरग परिग्रह से निवृत्ति के लिए एक बोल से लेकर तेतीस बोल तक के शिक्षावचनो का प्रतिपादन शास्त्रकार ने किया था। अब इस सूत्रपाठ मे अपरिग्रहवृत्ति का माहात्म्य एव उसकी साधना के लिए सहायक गुणो का निरूपण करते हुए अपरिग्रह वृत्ति की साधना के लिए किन-किन कल्पनीय वस्तुओ को ग्रहण करना योग्य है तथा किन-किन कल्पनीय वस्तुओ को भी किस हालत मे ग्रहण करना उचित नही है और किस हालत मे उचित है ? इस प्रकार बाह्यपरिग्रह भाव से मुक्त या निर्लिप्त रहने का स्पष्ट विवेक बताया है।

जब तक साधक के दिल-दिमाग मे यह बात भली भाँति जम न जाय कि अपरिग्रह वृत्ति से साधुजीवन कितना शान्त, निश्चिन्त, भाररहित, स्वपरकल्याण-साधना मे उपयोगी, आत्मिकसुख सम्पन्न, निरपेक्ष, नि स्पृह आकाक्षारहित एव निर्द्वन्द्व बन जाता है, तब तक वह सहसा अपरिग्रहसवर के उपाय मे प्रवृत्त नही होगा। यदि श्रद्धावश प्रवृत्त हो भी गया तो आगे चल कर ससार के विविध लुभावने प्रलोभनो, आकर्षणो या इन्द्रियविषयो के मायाजाल मे फस कर बाहर से अपरिग्रही वेष रखकर भी अन्दर ही अन्दर परिग्रही बना रहेगा, दम्भ करके स्वपरवचना करता रहेगा। इसी हेतु से शास्त्रकार ने सर्वप्रथम अपरिग्रहसवरद्वार के पाँचो प्रकार के सवरो मे श्रेष्ठ वृक्ष की सागोपाग उपमा दी है।

अपरिग्रहसवर श्रेष्ठ सवरवृक्ष—ससार मे वृक्ष ही एक ऐसा पदार्थ है, जो जीवो की जीवनशक्ति का पोषण करता हुआ, समस्त इन्द्रियविषयो की पूर्ति

करता है। साथ ही स्वय सर्दी, गर्मी, वर्षा और आफते सहकर पथिको को छाया देने वाला, पक्षियो को वसेरा देने वाला, अपने फल, फूल, पत्तो आदि से तथा अपने जीवनरस से अनेको प्राणियो को जीवनदान देने वाला उपकारी वृक्ष ही होता है। वह मान-अपमान मे भी सहिष्णु वना रहता है। इसी कारण शास्त्रकार ने अपरिग्रह-सवर को भी सवर के महावृक्ष की उपमा दी है।

अपरिग्रहसवर रूपी श्रेष्ठ वृक्ष के अगोपाग तथा उसका क्रियाकलाप इस प्रकार है —

जिस वृक्ष का जितना अधिक विस्तार—फैलाव होता है, वह उतना ही अधिक छायादार एव शान्तिदायक वनता है—इस दृष्टि से अपरिग्रहसवरवृक्ष के फैलाव का कथन किया है। भगवान् महावीर के प्रवचनो से उत्पन्न होने वाले विविध क्षयोपशम आदि अनेक भावो से मन मे परिग्रह से विरक्ति हो जाती है तो साधक के मन मे अनेक प्रकार के त्याग, नियम, प्रत्याख्यान और तप के शुभ विचार उठते है। यही अपरिग्रहवृक्ष का फैलाव है। अपरिग्रहवृक्ष की जड है—सम्यग्दर्शन। क्योकि वीतराग अपरिग्रही देव, मार्गदर्शक गुरु और धर्म इन तीनो के प्रति दृढ श्रद्धा हुए विना अपरिग्रहवृक्ष टिक नही सकता। अत सम्यक्त्व पर ही अपरिग्रहवृक्ष अपनी जड जमाए हुए है। धैर्य—चित्त की स्वस्थता ही इसका कन्द है, स्कन्ध का अधोभाग है। चित्त की स्वस्थता के विना अपरिग्रहवृत्ति स्थायी रूप से पनप नही सकती। वृक्ष के चारो ओर वेदिका-थला वना देने से उसकी सुरक्षा वढ जाती है। यहाँ अपरिग्रहवृक्ष की वेदिका विनय है। विनय के विना अर्थात् अपरिग्रहवृत्ति रूप आचार के प्रति घृणा और अनादर-वुद्धि या उपेक्षा पैदा होगी, तो उस वृक्ष की सुरक्षा नही हो सकेगी। इसलिए अपरिग्रहवृक्ष की सुरक्षा के लिए विनयवेदिका अनिवार्य है। अपरिग्रहसवर दिलोजान से अपनी साधना करने वाले साधक को सर्वत्र प्रसिद्ध कर देता है, उसके नाम और कार्यो का डका भूमडल मे वज जाता है। इसलिए तीनो लोको मे व्याप्त विस्तीर्ण यश ही अपरिग्रहवृक्ष का विशाल, घना, स्थूल और सुन्दर स्कन्ध है। पाचो महाव्रत इसकी विशाल शाखाएँ है। वास्तव मे अपरिग्रहवृत्ति आ जाने पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य सहजरूप से जीवन मे आ जाते है। इसलिए ये शाखाएँ वन कर अपरिग्रहवृक्ष को मजवूत वनाते है। अनित्यत्व आदि १२ भावनाएँ इस अपरि-ग्रहवृक्ष की छाल है। जैसे छाल वृक्ष के शरीर की रक्षा करती है, सर्दी गर्मी आदि से वचाव करती है, वैसे ही अनित्यादि भावनाएँ साधक के अपरिग्रही-जीवन मे उत्साह, स्फूर्ति, श्रद्धा, रुचि और तीव्रता भरकर कठिन कष्टकर प्रसगो के

समय मे भी अपरिग्रहवृत्ति मे स्थिर रखती है और लोभ, अभिमान, मोह, काम आदि बाधाओ से साधक के अपरिग्रही जीवन को बचाती है। ये बार-बार साधक को प्रेरणा देती है कि "जिन वस्तुओ को ग्रहण करने या पाने के लिए तुम आतुर हो रहे हो, वे सब अनित्य है, नाशवान है, तुम्हे शरण देने वाली नही है। तुम्हारे साथ जाने वाली नही हैं, तुम्हारी आत्मा से भिन्न है, शरीर मे जाकर वे गदगी बढाती हैं अथवा लडाई-झगडे आदि की गदगी बढाती है, कर्मबन्धन की कारण है, तुम पर आधिपत्य जमा कर तुम्हे गुलाम बनाकर तुम्हारी स्वतत्रता का हरण करने वाली हैं, धर्म-विमुख करने वाली है।" इसके अलावा धर्म आदि शुभ ध्यान, शुभयोग और ज्ञान-विशेष इस वृक्ष के अकुर और श्रेष्ठ पत्ते है। मूलगुण, उत्तरगुण आदि या धैर्य, समता, सहिष्णुता, अनासक्ति आदि बहुत-से गुण ही इस अपरिग्रहवृक्ष के फूल हैं, जो इसके वैभव को बढाते है। इहलौकिक फल की निरपेक्षतारूप समाधि या नि स्पृह प्रवृत्तिरूप सदाचार ही इस महावृक्ष की सुगन्ध है। अनाश्रव -कर्मों के आगमन का निरोध ही इसके फल है। वास्तव मे अपरिग्रहवृत्ति परिपक्व हो जाने पर कर्मों का आगमन प्राय कम हो जाता है। मोक्ष के लिए जो बोधिबीज है, वही इसका बीजसार है—बीज का सारभूत तत्त्व मिंजा है। मेरुपर्वत के शिखर के समान समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष का मार्गभूत निर्लोभत्व इसका शिखर है। अपरिग्रह-वृत्ति मे निर्लोभता ही परले सिरे पर रहती है। वही जीवन की हर प्रवृत्ति मे ऊपर-ऊपर थिरकती रहती है। साधनापथ मे निर्लोभतारूप सर्वोच्च शिखर के नजर पडते ही, साधक परिग्रहवृत्ति स सावधान हो जाता है। इस प्रकार अन्तिम सवरद्वार एक श्रेष्ठ सवरवृक्ष है, जो अपरिग्रही के जीवन के लिए आधार है।

अपरिग्रही के लिए क्या ग्राह्य है, क्या अग्राह्य ?—चूकि अपरिग्रहशब्द मे कुछ भी ग्रहण न करने का भाव आ जाता है, इसलिए सामान्य साधक चक्कर मे पड जाता है कि जब सभी चीजें सर्वथा ग्रहण करने का निषेध अपरिग्रह-सवर मे आ जाता है तो फिर साधक का जीवन कैसे चलेगा ? शरीर के लिए कुछ चीजे अनिवार्य होती ह, कुछ चीजे सयम पालन के लिए भी आवश्यक होती है। उन्हे ग्रहण किये बिना साधक का शरीर नही टिक सकता और शरीर नही टिक सकता तो उसकी धर्म-साधना कैसे होगी ? इस गुत्थी को सुलझाने के लिए शास्त्रकार मध्यममार्ग बताते है, जिससे साधक के जीवन मे सयम का भी पालन हो जाय और शरीर भी टिका रह सके, परिग्रह से होने वाले दोष भी न लगे और अपरिग्रहवृत्ति का भी पालन हो जाय।

अपरिग्रही साधक के लिए सग्रह करके रखना परिग्रहवृत्ति है—यद्यपि परिग्रह के लक्षणो के अवसर पर हम पूर्णतया स्पष्ट कर चुके है कि वस्तुओ के केवल

ग्रहण करने भर से परिग्रह नही हो जाता और वाहर से वस्तुओ को विना सोचे-समझे अज्ञानवश छोड देने से या न रखने से कोई अपरिग्रही भी नही वन जाता।

इसीलिए शास्त्रकार ने अपरिग्रही साधु के लिए साफ-साफ कहा है 'न कप्पई अप्प व वहु व अणु व थूल व मणसावि परिघेत्तु परस्स अज्झोववायलोभ-जणणाइ परियड्ढेउ तिहिवि जोगेहिं परिघेत्तु ।'

साधु कई दफा यह सोच लेता है कि कोई चीज जगल मे पडी है, वह किसी की मालिकी की नही है, और न वह किसी के अधीन हे, प्रकृति का भडार खुला है, पानी, फल, वनस्पति, अनाज आदि यो ही पडे हे, साधु उसमे से जरूरत के अनुसार ले ले और उपयोग करले तो क्या हर्ज है? मगर अपरिग्रही साधु के लिए शास्त्रकार उपर्युक्त पक्तियो मे साफ-साफ निपेध कर रहे हे कि ऐसी कोई भी चीज चाहे वह फालतू ही पडी हो, या कम कीमत की हो, परन्तु सावु के लिए लेना उचित नहीं है। इसके पीछे दो कारण हैं। एक तो यह है कि सोना, चादी, खेत, मकान, दासी-दास, नौकरचाकर, हाथी-घोडा, रथ, पालकी, सवारी, छाता, जूता, पखा, तावा, लोहा, रागा, जस्ता, कासा, मणि, मोती, सीप, शख, हाथीदात, काच, सीग, पत्थर, चमडा या कीमती रेशमी कपडा या अन्यान्य कीमती रग विरगी व फैशनेवल वस्तुएँ, जिनको देखकर दूसरो का जी लेने के लिए ललचाए या जिनके लिए हत्या आदि करे, ऐसी वेशकीमती चीज साधु के सयमपालन के लिए कतई उपयोगी नही है। इन्हे ममत्वपूर्वक रखने से अन्य अनेक दोपो के वढने की सम्भावना है। क्योकि जमीनजायदाद, धन दौलत और मकान आदि के लिए दुनिया मे सगे भाइयो, पिता-पुत्र एव ससुरदामाद आदि मे भी परस्पर भयकर झगडे, युद्ध मुकद्दमे-वाजी हत्या, मारपीट, दगाफिसाद आदि हुए है। साधु इन चीजो मे से किसी भी चीज को लेकर व्यर्थ ही एक नई आफत मोल ले लेगा। फिर इन चीजो को लेकर साधर्मी साधुओ मे भी परस्पर कलह और मनोमालिन्य वढेगे, आत्मशान्ति स्वाहा हो जायगी, जीवन की उत्तम साधना खटाई मे पड जाएगी।

इनके निपेध करने का दूसरा कारण यह है कि साधु यदि इन चीजो को रखने लगेगा तो उसे मन ही मन इन चीजो को अपने भक्तो से लेने की चाह वढेगी, उसके लिए वह यत्र, मत्र, चमत्कार, ज्योतिप आदि के प्रयोग लोगो को वताएगा। आखिर उसे धनाढ्यो या सत्ताधीशो की गुलामी, खुशामद या जीहजूरी करनी पडेगी। उसकी स्वाधीनता लुट जाएगी, वह धनवानो के हाथो मे विक जाएगा और उन्ही की हा मे हा मिलाएगा। उनके गलत कारनामो का भी समर्थन करता रहेगा। उनके गलत कामो को भी आशीर्वाद देने लगेगा। कदाचित् कोई साधु गुलामो न करे तो भी उसकी आत्मा तो इस अनावश्यक परिग्रह के वोझ से दव ही जायगी,

उसकी तेजस्विता और सत्यवादिता खत्म हो जायगी। इन चीजो के ग्रहण करने के पीछे निषेध का तीसरा कारण यह है कि एक वार साधु को इन चीजो के रखने की आदत पड जायगी तो फिर उसे उन चीजो को बढाने की धुन सवार होगी। इस प्रकार करने पर उसकी साधना मिट्टी मे मिल जाएगी।

इनके ग्रहण करने के निषेध के पीछे चौथा कारण यह है कि साधु की अपरिग्रहवृत्ति फिर खत्म हो जाएगी। उसमे वह दृढता नही रहेगी, वह त्याग नही रहेगा, जिसे देखकर नरेन्द्र और देवेन्द्र तक भी उसके चरणो मे झुकते हैं। स्वपर-कल्याण की साधना भला इस झझट मे पड जाने पर कैसे हो सकेगी?

इसलिए शास्त्रकार ने उपर्युक्त सूत्रपाठ मे स्पष्ट कर दिया है कि चीज चाहे थोडी हो या ज्यादा हो, कम कीमती हो, या बेशकीमती हो, प्रत्यक्ष मे किसी की मालिकी की हो या न हो, जगल मे पडी हो, खेत मे पडी हो, घर मे रखी हो या किसी गाव, नगर, खान आदि मे रखी हो, अथवा उस वस्तु का मालिक खुशी से साधु को भेंट दे रहा हो, अथवा प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करने की अनुमति दे रहा हो, किन्तु साधु को उसे हाथ से छूना तो दूर रहा, मन से भी ग्रहण करने का विचार नही करना चाहिए। क्योकि साधु ने मोह का त्याग किया है। अत मोह की वृद्धि करने वाले इन पदार्थों से उसे मन, वचन और काया से सदा दूर रहना चाहिए। अन्यथा उनके उपार्जन मे अनेक हिंसादि पापकर्म करने पडेगे, उनकी रक्षा के लिए 'वावाजी की लगोटी' वाली कहावत को तरह सतत चिन्तित रहना पडेगा और उनके वियोग हो जाने पर हृदय मे अत्यन्त दु ख होगा। मोही जीव ही इन पदार्थो के अर्जन, रक्षण और और वर्द्धन मे सदा दत्तचित्त रहता है। साधु को ऐसे प्रपच मे पडने की क्या जरूरत है?

फिर साधु तो स्वावलम्बन पर आरूढ हुआ है। अपनी तमाम क्रियाएँ प्राय. वह स्वय अपने हाथ से ही कर लेता है। इसी कारण वह साधु जीवन अगीकार करने से पूव ही दासी, नौकर-चाकर आदि सेवक, हाथी-घोडे, रथ, पालकी आदि सवारियो का त्याग कर चुका है। तव से ही वह आत्मावलम्बी हो कर विचरण कर रहा है। उसे अव इन परावलम्बी वनाने वाले साधनो की क्या जरूरत है? क्योकि पराव-लम्बी व्यक्ति सदा सक्लेश पाता है। निर्वल आत्मा ही सदा दूसरो का सहारा ढूढा करता है। फिर परावलम्बी हो जाने पर राग द्वेषादि बन्धन बार-बार आते है। इसी कारण मोक्षपद का अभिलाषी साधु इन सब पराश्रयो का त्याग कर अपने सब काम प्राय अपने हाथ मे ही करके सुखी रहता है। शास्त्रकार ने इसीलिए दास दासी, नौकर चाकर तथा समस्त प्रकार के वाहनो के निषेध के उपरान्त छाता,

जूता, पखा, आदि पराश्रित वनाने वाले साधनो को ग्रहण करने का भी निषेध किया है। निर्ग्रन्थ श्रमण न तो छाता रखता है, न पखा ही रखता है, और न जूते पहनता है। जबकि अन्य धर्मसम्प्रदायो के साधु उक्त सब चीजे रखते है और इनका यथासमय उपयोग भी करते है। जैनश्रमण मोहादि कर्म शत्रुओ से लडने के लिए उद्यत रहता है। वह मोहजनक या राजसी ठाठबाठ के दिखावे की चीजो से दूर रहता है। इसी प्रकार वह अन्तरग मे मोहोत्पादक एव वाह्यरूप मे हिंसादि पापो के जनक लोहा, तावा, सीसा, रागा, कासा, चादी, सोना, मणि, सीप, मोती, शख, हाथीदात, सीग, उत्तम काच, रेशमी वस्त्र और चमडा तथा इनमे से किसी चीजके वने हुए वहुमूल्य वर्तन आदि का ग्रहण और सग्रह करना तो दूर रहा, मन से भी उन्हे अपने निश्राय (अधीन) मे रखने का नही सोच सकता। इसीलिए ये सब उसके लिए निषिद्ध वताए है।

अव ही ऐसी चीजे जो जगल, वगीचे या खेत मे पैदा होती हैं, जिनका कोई मूल्य नही है, जिनका जगल मे कोई मालिक भी नही होता, प्रकृति के भडार मे यो ही पडी रहती हैं, जैसे कि—फूल, फल, कद, मूल, (जडी-वूटी, औषधि) तथा १७ प्रकार के अनाजो मे से कोई अनाज आदि। पूर्वोक्त निषेधवचन से तथा वैसे भी सचित्त वस्तु ग्रहण करने का साधु के लिए निषेध होने से साधु को इन चीजो के ग्रहण करने की कतई मनाही है। किन्तु उसके सामने एक विकल्प तो यह वना ही रहता है कि मानलो, कभी रोग, वीमारी या भोजन न मिलने का सकट उपस्थित हो गया तो वह क्या करे? क्या वह इन प्रकृतिदत्त चीजो को ले ले या सग्रह करके अपने पास रखले? न रखे तो ऐसे समय मे शारीरिक सकट को दूर करने का क्या उपाय है? इन सब विकल्पो का योग्य समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते है कि ये फल, फूल, अनाज आदि सचित्त हैं, तथापि यदि ये सूख कर अचित्त हो जाय, इनमे से वीज आदि निकल कर अलग हो जाय अथवा वीज मे उगने की शक्ति नष्ट हो जाय, तब भी इन्हे ग्रहण करना उचित नही है। इसका समाधान वे यो करते है कि विश्ववत्सल, विश्ववन्धु, अनन्तज्ञानदर्शन के धारक, शील गुण विनय तप सयमादि के मार्गदर्शक तीर्थंकरो ने अपने ज्ञान से जान-देखकर इन्हे (कन्द आदि तथा व्रीहि आदि धान्यों को) त्रसजीवों की योनि (उत्पत्ति स्थान) वनाया है। यानी कदमूलादि तथा व्रीहि आदि धान्य हरित अवस्था मे स्थावर एकेन्द्रिय वनस्पति कायिक जीवों के आश्रयभूत है, लेकिन सूख जाने के वाद उनके केवल शरीर मात्र रह जाते हैं। वनस्पतिकाय के जीव उनमे से च्युत हो जाते है। किन्तु वायुविशेष तथा अन्य निमित्तो के मिलने पर उन सूखे कन्दादि या धान्य आदि मे त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी कारण त्रसजीव निकाय के रक्षक साधुओ के लिए हिंसा दोष के भय से उनका ग्रहण करना वर्जित वताया है।

रोग, बीमारी, आतक या आकस्मिक भोजन का अभाव आदि के सकट की समस्या के समाधान के लिए सीधा मार्ग भिक्षावृत्ति का महापुरुषो ने बताया ही है। ऐसे समय मे तो कोई न कोई श्रद्धालु श्रावक औषध या पथ्ययुक्त आहार के दान से साधु की सेवा करके अपने को धन्य मानता है। फिर भी कोई आकस्मिक सकट आजाए तो साधु को धीरता पूर्वक उसका सामना तपोबल से करना चाहिए। परिषह सहन करने मे ही उसकी वीरता है। विधि पूर्वक भिक्षा के द्वारा जो भी वस्तु प्राप्त हो जाय, उसी मे सतुष्ट रहने मे ही साधु जीवन की शोभा है।

अब रही ऐसी चीज, जो गृहस्थ ने अपने लिए बनाई है, अचित्त है, साधु के लिए आहार के रूप मे ग्राह्य है और उन्हे कोई श्रद्धालु गृहस्थ साधु के उपाश्रय (धर्म स्थान) मे या धर्मस्थान के सिवाय किसी दूसरे मकान मे या कही जगल मे साधु के लिए रखना चाहता है या रखने के लिए देना चाहता है, जैसे कि भात, दाल, सत्तू, तिलपिट्ठो, बेर आदि का आटा, सेके या भुने हुए चने आदि अनाज, पूडी, दहीबडे, श्रीखड, खीर, दूध, दही, घी, तेल, गुड, खाड, मिश्री, शहद आदि चीजें। क्या साधु इन चीजो को ले ले या अपने पास सग्रह करके रख ले ? इसका स्पष्ट निषेध करते हुए शास्त्रकार कहते है—'**न कप्पति तपि सन्निहि काउ सुविहियाण**' यानी ये अचित्त और कल्पनीय चीजे भी सुविहित साधुओ को सग्रह करके अपने पास रखनी या रखानी कल्पनीय—उचित नही हैं। इस निषेध के पीछे एक कारण तो यह है कि साधु रात्रि को खाने-पीने की कोई भी चीज अपने पास नही रख सकता है और न कही अपने लिए रखवा सकता है। इसलिए सग्रह करके रखने पर उसे परिग्रह दोष लगेगा। दूसरा कारण यह है कि साधु परिव्राजक है, उसे कही एक जगह जम कर रहना भी नही है, इसलिए वहाँ से अन्यत्र विहार करने पर उन सगृहीत चीजो की चिन्ता उसे करनी पडेगी। या मान लो, कोई अत्यन्त वृद्ध या अशक्त होने से एक जगह स्थिरवास हो जाय तो भी उसे उन सगृहीत चीजो की बार-बार चिन्ता और देखभाल करनी होगी तथा उनमे कोई जीवजन्तु पड जाय तो उनकी विराधना भी होगी। फिर सग्रह करने की वृत्ति होने पर साधु उसी जगह मोहवश कोई न कोई बहाना बना कर रहने लगेगा। उसकी सयमशील वृत्ति मे यह भयकर बाधा पहुचाएगा। तीसरा कारण यह भी है कि फिर वह आलस्यवश भिक्षा के लिए नही जाएगा और रात्रिभोजन का त्याग होते हुए भी मोहवश उन चीजो मे से कदाचित् कुछ सेवन भी करलेगा। यह भी उसके लिए व्रतभग का दोष होगा। चौथा कारण यह भी है कि फिर साधु अपने किसी श्रद्धालु भक्त को उसमे से देने भी लग जाय या विक्रय करने की वृत्ति आजाय। यह भी बहुत बडा खतरा है, उसके साधु जीवन के लिए। एक कारण यह भी है कि साधु के जीवन मे फिर अपरिग्रह वृ

आकाशवृत्ति—निसर्ग निर्भरता नही रहेगी । वह वात-वात मे सग्रह करने को लालायित हो जायगा। उसे यह विश्वास नही रहेगा कि कल मुझे आहार मिलेगा या नही ? इस प्रकार अपरिग्रहवृत्ति पर उसका विश्वास डगमगा जाएगा ।

इन सव कारणो को लेकर साधु को कल्पनीय अचित्त वस्तुओ का भी दूसरे दिन के लिए सग्रह करने का निपध किया हे। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र मे अपरिग्रही साधु के लिए ऐसा स्पप्ट विधान है—

विडमुव्भेइम लोण तिल्ल सप्पि च फाणिय ।
ण ते सन्निहिमिच्छति नायपुत्तवओरया ॥'

अर्थात्—जो ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के वचनो के श्रद्धालु अपरिग्रही साधु हैं, वे दोनो प्रकार के नमक, तिल, घी, तिलपपडी आदि अचित्त वस्तुएँ भी सग्रह करना नही चाहते ।

उद्दिष्ट, स्थापित आदि दोपयुक्त आहार भी श्रमण के लिए वर्जित—अव सवाल यह होता है कि जव साधु को आपत्काल के लिए भी अचित्त भोज्य पदार्थो के सग्रह करने से इन्कार कर दिया है, तव वह ऐसे मौके पर जवकि आहार सुलभ न हो, तव श्रद्धालु भक्त द्वारा साधु के लिए वनाया हुआ, उसी के निमित्त रखा हुआ, खरीदा हुआ या पहले या पीछे दाता की प्रशसा करने से प्राप्त होने वाला या अपनी विशेपताओ की अधिक डीगें हाकने से प्राप्त होने वाला अथवा किसी से जवर्दस्ती छीनकर दिया गया, या दूसरे के अधिकार का उसकी अनुमति के विना किसी दूसरे से दिया गया, या सामने लाकर दिया गया, अथवा उधार लेकर दिया जाने वाला, दीपक जलाकर दिया गया, भेट के रूप मे दिया गया, वौद्धभिक्षुओ या याचको के लिए वनाए गए आहार मे से दिया जाने वाला, या दान-पुण्य की दृष्टि से वनाया गया आहार, अथवा एक ही श्रद्धालु दाता के घर से रोजाना लिया जाने वाला आहार या गृहस्थ के यहाँ रखे हुए आहार मे से स्वयमेव ग्रहण किया हुआ आहार अथवा तिथियो, यज्ञो, उत्सवो, पर्वो पर उपाश्रय के अन्दर या वाहर साधु के लिए खास तौर से रखा गया आहार ले या नही ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार स्पष्ट इन्कार करते है—'जपिय उद्दिट्ठ-ठविय-रचिय ठविय हिंसासावज्जसपउत्त न कप्पति त पि य परिघेत्तु ।' सक्षप मे आशय यह है कि पूर्वोक्त दोपो से युक्त दिया गया आहार भी हिंसा और सावद्यकर्मो से लिप्त होने के कारण अपरिग्रही श्रमण को लेना उचित नही है । इसके आगे सग्रह करने का पुन स्पष्ट निपेध शास्त्रकार करते है—'जपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायके सव्वसरीरपरितावणकरे

हाँ, यदि बीमारी आदि मे किसी दवा आदि की जरूरत पड जाय तो वह दिन मे गृहस्थ के घर से ला कर दिन-दिन रख सकता हे, रात्रि को नही ।

कुछ शका-समाधान—यहाँ 'जपिय ओदण विधिमादिक पणीय'—इस सूत्रपाठ मे 'मज्ज-मस' शब्द आया हे, साधु तो मद्य-मास-सेवन के पूर्ण त्यागी होते ह, वे सेवन करना तो दूर रहा, इन्हे ग्रहण भी नही करते । फिर यहाँ इस निपेधात्मक सूत्रपाठ मे मद्य-मास के सग्रह का-निपेध करने की क्या आवश्यकता हे ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि साधु मद्यमास का त्यागी होता हे, लेकिन भिक्षाटन करते-करते कदाचित् ऐसे गृहस्थ के यहाँ अजाने पहुँच जायँ, जो मासादि अभक्ष्य पदार्थ सेवन करता हो, वह गृहस्थ भक्तिवश अन्य भक्ष्य पदार्थ की भाति उक्त पदार्थ को भी साधु के पात्र मे डाल दे, तब साधु अन्य पदार्थ की भाति उनका उपाश्रय आदि मे सग्रह न करे अपि तु तत्काल दाता गृहस्थ को लौटा दे, यदि वह न ले तो परिष्ठापन कर दे । इसे स्पप्ट करने के लिए यहाँ मद्यमास का उल्लेख किया है ।

वैसे साधु के लिए तो क्या, प्रत्येक मनुष्य के लिए खासतौर से आर्य पुरुपो के लिए जैनशास्त्र मे मद्य और मास के सेवन का सर्वथा निपेध है । नीचे हम कुछ शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

ज्ञातासूत्र के १६ वें अध्याय मे समस्त प्राणियो का आहार ७ प्रकार का बताया है—'विउल असण पाण साइम खाइम सुर च मज्ज च मस च ।' उनमे से मनुष्यो का आहार सिर्फ चार प्रकार का बताया है—

'मणुस्साण चउव्विहे आहारे पण्णत्ते, त० असणे जाव खातिमे ।

(—ठाणाग सूत्र ठा ४ उ-४)

अर्थात्—'मनुष्यो का आहार चार प्रकार का बताया है—अशन, पान, स्वादिम और खादिम ।'

इससे स्पष्ट है कि आगम मे मद्यमास को मनुष्यो का आहार नही बताया है । मनुष्य मात्र के लिए उनके सेवन का निपेध है । फिर मासभक्षण करने से नरकायु का वध होना स्थानाग सूत्र के चौथे स्थान मे बताया है—

'चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरतियत्ताए कम्म पकरेंति, त जहा—'महारभताते, महापरिग्गहत्ताए, पंचिदिय-वहेण, कुणिमाहारेण।'

अर्थात्—चार कारणो से मनुष्य नारक बनने के लिए आयुष्यकर्म का वन्ध करता

है—महारम्भ करने से, महापरिग्रह रखने से, पचेन्द्रिय जीवो का वध करने से और मासाहार से।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र शतक ८ उ० ९ मे तथा औपपातिक सूत्र वीरदेशना मे भी 'कुणिम' शब्द का मास अर्थ ही किया गया है। जैसे—'कुणिमाहारेण इति—मास-भोजनेनेति' 'कुणिम मासमिति।'

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति मे मनुष्यो द्वारा सभ्यमर्यादा की प्रतिज्ञा के समय सर्वप्रथम मासाहार आदि अशुभ पदार्थ का सेवन करने वाले की छाया भी शरीर पर नही पडने देने का यानी एक पक्ति मे बैठ कर मासाहारी के साथ भोजन न करने का स्पष्ट उल्लेख है। देखिये वह पाठ—

'अम्ह केइ अज्जपभिई असुभ कुणिम आहार आहारिस्सइ, से ण अणेगाहि छायाहि वज्जणिज्जेत्ति कट्टु सठिइ ठवेस्सति।'

उपासकदशागसूत्र के प्रथम अध्ययन मे आनन्द श्रमणोपासक के सातवें उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत के ग्रहण करने के समय उपभोग्य और परिभोग्य वस्तुओ मे मद्य और मास का जरा भी उल्लेख नही है। अगर श्रमणोपासक के लिए ये दोनो चीजे सेवनीय होती तो यहाँ आहार वगैरह की मर्यादा के समय इन दोनो का भी नामोल्लेख जरूर होता। परन्तु यहाँ नामोल्लेख न होने से स्पष्ट है कि गृहस्थ श्रावक की मर्यादा मे भी ये दोनो चीजे वर्जित हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र के ७ वें अध्ययन मे मद्य-मास-सेवनकर्ता को नरकायु का बन्ध बताया है। वह पाठ यह है—

"इत्थी - विसयगिद्धे य महारभ - परिग्गहे।
भु जमाणे सुर मस परिवूढे परदमे ॥६॥
अयकक्करभोई य तुडिल्ले चियलोहिए।
आउय नरए कखे जहाएस व एलए ॥७॥

इन सब प्रमाणो के अतिरिक्त समवायागसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र अ० ३१, स्थानागसूत्र स्थान ९, श्रमणसूत्र आदि अनेक सूत्रो मे मास-मद्यसेवन के निषेधक अनेक प्रमाण मिलते है। इन सबसे स्पष्ट हो जाता है कि साधु के लिए ही क्या, श्रमणोपासक एव आर्य, सभ्य गृहस्थ तक के लिए मासमद्य सर्वथा निषिद्ध है।

साधु के लिए ग्राह्य धर्मोपकरण अब सवाल यह होता है कि जब साधु अपरिग्रही होने के नाते अपने पास सग्रह करके भोजन, औषध, भैषज्य आदि नही रख सकता, तब क्या अपने सयमी जीवन के लिए उपयोगी एव अनिवार्य वस्त्र-पात्र भी नही रख सकता? इसके उत्तर मे शास्त्रकार स्वय समाधान करते हैं—'जपि सम-

णस्स सुविहियस्स तु पडिग्गहधारिस्स भवति भायण - भडोवहिउवगरण ..... परिहरियव्व'— इन सव सूत्र पक्तियो का अर्थ तो मूलार्थ एव पदान्वयार्थ मे स्पष्ट किया जा चुका है, सिर्फ इनके पीछे शास्त्रकार का आशय स्पष्ट करना शेप है।

यद्यपि यहाँ जो भी उपकरण विहित वताये गए है, वे स्थूलदृष्टि से देखने वाले को परिग्रह ही लगेंगे, किन्तु शास्त्रकार की दृष्टि परिग्रह के वास्तविक अर्थ की ओर है। इसलिए वे इन सव उपकरणो के साथ परिग्रहदोप एव हिंमादोप को टालने एव इन्हे अपरिग्रही के लिए ग्राह्य और रखने योग्य मानने पर ही जोर देते हैं। इसके लिए दशवैकालिकसूत्र का प्रमाण हम परिग्रह-आश्रव के प्रकरण मे प्रस्तुत कर चुके है। वहाँ **'सजमलज्जट्ठा धारति परिहरति य'** (सयमपालन और लज्जा-निवारण के लिए धारण करते है, और पहनते है) कह कर उन सव वस्त्रपात्रादि धर्मोपकरणो को **'न सो परिग्गहो वुत्तो'** कह कर परिग्रह मानने से सर्वथा इन्कार किया है। यहाँ भी इनको परिग्रहत्वदोप से रहित वताने के लिए वे कहते है— **'एय पि य सजमस्स उववूहणट्ठयाए वायायव-दसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए उवग-रण रागदोसरहिय परिहरियव्व।'**

अर्थात्—ये सव परिगणित उपकरण भी सयम की वृद्धि या सहायता के लिए, हवा, धूप, डास, मच्छर और सर्दी से रक्षा के लिए हैं, इन्हे राग-द्वेपरहित हो कर रखना चाहिए। और साथ ही इनके पास मे रखने से, उनके उठाने-रखने मे या देखभाल न होने की स्थिति मे जीवो की हिंसा होने की सभावना है, अत उक्त हिंसादोप से वचने के लिए शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ के साथ ही स्पष्ट कर दिया है—**'सजएण णिच्च पडिलेहणपप्फोडण - पमज्जणाए अप्पमत्तेण सतत निक्खियव्व च गिण्हियव्व च '** इसका आशय यह है कि सयमी साधु को इन उपकरणो के रखने के साथ-साथ सदा अप्रमत्त हो कर इनकी देखभाल (प्रतिलेखनादि द्वारा) रखना जरूरी है, इन्हें उठाते-रखते समय भी यतना रखना आवश्यक है। कहा भी है—

'अज्झत्थविसोहिए उवगरण वाहिर परिहरतो।
अपरिग्गहो त्ति भणिओ जिणेहिं तिलुक्कदसीहिं॥'

अर्थात्—"अध्यात्म-विशुद्धिपूर्वक वाह्य उपकरण रखने वाले साधु को त्रैलोक्य-दर्शी तीर्थंकरो ने अपरिग्रही ही कहा है।" वास्तव मे शास्त्रकार ने इस पाठ के द्वारा सयमी साधु के सयम एव जीवन दोनो की रक्षा की समस्या सुन्दर ढग से हल कर दी है।

अपरिग्रही की पहिचान

पूर्व सूत्रपाठ मे बाह्य परिग्रह की दृष्टि से कहाँ परिग्रह है, कहाँ अपरिग्रह है ? कौन सी वस्तु किस रूप मे ग्राह्य है, कौन-सी वस्तु सर्वथा अग्राह्य है या अमुक रूप मे अग्राह्य है ? इसका सुन्दर विश्लेपण किया है। अब उस अपरिग्रही साधु को किन-किन लक्षणो से पहिचाना जा सकता है, इस पर शास्त्रकार सूत्रपाठ द्वारा निरूपण करते है—

मूलपाठ

एव से सजते, विमुत्ते, निस्सगे, निप्परिग्गहरुई, निम्ममे, निन्नेहबधणे, सव्वपावविरते, वासीचदणसमाणकप्पे, समतिण-मणिमुत्तालेट्ठुकंचणे, समे य माणावमाणणाए, समियरते, समित-रागदोसे, समिए समितीसु, सम्मदिट्ठी, समे य जे सव्वपाणभूतेसु, से हु समणे, सुयधारए, उज्जुते, संजते, सुसाहू, सरणं सव्व-भूयाण, सव्वजगवच्छले सच्चभासके य ससारतट्ठिते, य ससार-समुच्छिन्ने, सतत मरणाण पारए (ते), पारगे य सव्वेसि संसयाणं, पवयणमायाहि अट्ठहि अट्ठकम्म-गठीविमोयके, अट्ठ-मयमहणे, ससमयकुसले य भवति सुहदुक्खनिव्विसेसे, अब्भितर-बाहिरमि सया तवोवहाणमि य सुट्ठुज्जुत्ते, खते, दते य, हियनिरते, ईरियासमिते, भासासमिते, एसणासमिते, आयाणभडमत्त-निक्खेवणासमिते, उच्चारपासवण-खेलसिंघाणजल्लपरिट्ठावणिया-समिते, मणगुत्ते, वयगुत्ते, कायगुत्ते, गुत्तिदिए, गुत्तबभयारी, चाई, लज्जू, धन्ने, तवस्सी, खतिखमे, जिंतिदिए, सोहिए, अणियाणे, अबहिल्लेसे, अममे, अकिंचणे, छिन्नगथे, निरुवलेवे, सुविमलवरकसभायण व मुक्कतोए, सखेविव निरजणे, विगय-रागदोसमोहे, कुम्मो इव इदिएसु गुत्ते, जच्चकचणग व जायरूवे, पोक्खरपत्त व निरुवलेवे, चदो इव सोमभावयाए, सूरोव्व दित्ततेए, अचले जह मदरे गिरिवरे, अक्खोभे सागरोव्व थिमिए,

पुढवी व सव्वफास-विसहे, तवसा वि य भासरासिछन्निव्व जाततेए, जलिय-हुयासणो विव तेयसा जलंते, गोसीसचदण पि व् सीयले, सुगधे य, हरयो विव समियभावे, उग्घोसियसुनिम्मल व, आयंसमडलतल व पागडभावेण सुद्धभावे, सोडीरे कुजरो व्व, वसभेव्व जायथामे, सीहे वा जहा मिगाहिवे होति दुप्पधरिसे, सारयसलिल व सुद्धहियए, भारडे चेव अप्पमत्ते, खग्गिविसाण व एगजाते, खाणु चेव उड्ढकाए, सुन्नागारेव्व अप्पडिकम्मे, सुन्नागारावणस्सतो निवाय-सरणप्पदीपज्झाणमिव निप्पकंपे, जहा खुरो चेव एगधारे, जहा अही चेव एगदिट्ठी, आगास चेव निरालबे, विहगे विव सव्वओ विप्पमुक्के कयपरनिलए जहा चेव उरए, अप्पडिबद्धे अनिलोव्व, जीवोव्व अप्पडिहयगती, गामे गामे एकरायं, नगरे नगरे य पचराय दुइज्जते य जितिदिए जितपरीसहे निब्भओ विऊ (विसुद्धो) सचित्ताचित्तमीसकेहिं दव्वेहिं विरायं गते, संचयातो विरए, मुत्ते, लहुके, निरवकखे, जीवियमरणासविप्पमुक्के, निस्सध निव्वण चरित्ते धीरे काएण फासयंते, अज्झप्पज्झाणजुत्ते, निहुए, एगे चरेज्ज धम्मं ।

इमं च परिग्गहवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय, अत्तहिय, पेच्चाभाविक, आगमेसिभद्द, सुद्ध, नेयाउयं अकुडिलं, अणुत्तर, सव्वदुक्खपावाण विओसमण ।

संस्कतच्छाया

एव स सयतो, विमुक्तो, नि सगो, निष्परिग्रहरुचिर्, निर्ममो, नि स्नेहबन्धनः, सर्वपापविरतो, वासीचन्दनसमानकल्प, समतृणमणिमुक्तालेष्टुन., समश्च मानापमानतायां, शमितरज (रत अथवा रय), शमितरागद्वेष., समित समितिषु, सम्यग्दृष्टि., समश्च य सर्वप्राणभूतेषु, स खलु श्रमण· श्रुतधारक·, ऋजुक, (उद्युक्त उद्यतोवा) सयत, सुसाधु·, शरण सर्वभूताना, सर्वजगद्वत्सलः सत्यभाषकश्च, ससारान्तस्थितश्च, समुच्छिन्न-

ससार, सतत मरणाना पारग, पारगश्च सर्वेषां सशयाना, प्रवचनमातृभि-रष्टाभिरष्टकर्मग्रन्थिविमोचक, अष्टमदमथनः, स्वसमयकुशलश्च भवति सुखदु खनिर्विशेषः, आभ्यन्तरबाह्ये सदा तपउपधाने च सुष्ठूद्यु क्तः, क्षान्तो, दान्तश्च, हितनिरत, ईर्यासमितो, भाषासमित, एषणासमित, आदानभाण्डा-मत्रनिक्षेपणासमित, उच्चारप्रसवणखेलसिंघानजल्लपरिष्ठापनिकासमितो, मनोगुप्तो, वचोगुप्त, कायगुप्तो, गुप्तेन्द्रियो, गुप्तब्रह्मचारी, त्यागी, लज्जुः (लज्जालु रज्जुर्वा), धन्यः, तपस्वी, क्षान्तिक्षमो, जितेन्द्रियः शोभितः (शोधित शोधिदो वा) अनिदान, अबहिर्लेश्य., अमम, अकिंचनः, छिन्न-ग्रन्थो, निरुपलेप, सुविमलवरकास्यभाजनमिव मुक्तलोय., शख इव निरजनो, विगतरागद्वेषमोह, कुर्म्म इवेन्द्रियेषु गुप्तो, जात्यकाचनकमिव जातरूप, पुष्करपत्रमिव निरुपलेप, चन्द्र इव सौम्यभावतया, सूर इव दीप्ततेजा, अचलो यथा मन्दरो गिरिवरोऽक्षोभ सागर इव स्तिमित, पृथ्वीव सर्वस्पर्शसह, तपसाऽपि च भस्मराशिच्छन्न इव जाततेजाः ज्वलितहुताशन इव तेजसा ज्वलन्, गोशीर्षचन्दनमिव शीतलः सुगन्धश्च; ह्लदक (ह्रद) इव समिकभाव, उद्घृष्ट-(उद्घर्षित) सुनिर्मल वा आदर्शमड-लतल वा प्रकटभावेन शुद्धभाव, शौण्डीर कुजर इव, वृषभ इव जातस्थामा, सिंहो वा यथा मृगाधिपो भवति दुष्प्रधर्ष्यः, शारदसलिलमिव शुद्धहृदय, भारड इवाप्रमत्त., खड्गिविषाणमिव एकजात, स्थाणुरिवो-र्द्ध्वकाय, शून्यागारमिवाप्रतिकर्मा, शून्यागारापणस्यान्तर्- निर्वातशरण-प्रदीपध्यानमिव निष्प्रकम्प, यथा क्षुरश्चेव एकधारो, यथाऽहिश्चेव एक दृष्टि, आकाश चेव निरालम्ब विहग इव सर्वतो विप्रमुक्त, कृतपरनिलयो-यथा चेवोरग, अप्रतिबद्ध अनिल इव, जीव इवाप्रतिहतगतिः, ग्रामे ग्रामे एकरात्र, नगरे नगरे च पचरात्र द्रवन् (विचरन्) च जितेन्द्रियो जितपरिषहो निर्भयो विद्वान् (विशुद्धो अथवा अद्विक) सचित्ताचित्तमिश्रकेषु द्रव्येषु वैराग्य गत, सचयाद् विरतो मुक्तो लघुको निरवकाक्षो जीवित-मरणाशाविप्रमुक्तो नि गन्ध निर्व्रण चारित्र धीर कायेन स्पृशन् सततम-ध्यात्मध्यानयुक्तो निभृत एकश्चरेद् धर्मम् ।

इद च परिग्रहविरमणपरिरक्षणार्थं प्रवचन भगवता सुकथितमात्महित प्रेत्यभाविकम् आगमिष्यद्भद्र शुद्ध, नैयायिकम्, अकुटिलमनुत्तर, सर्वदु ख-पापाना व्युपशमनम् ।

पदान्वयार्थ—(एव) इस प्रकार (से) पूर्वोक्त अपरिग्रहव्रती (संजते) संयमी साधु (विमुत्ते) धनादि से मुक्त (निस्संगे, आसक्तिरहित, (निप्परिग्गहरुई) जिसकी परिग्रह मे कोई रुचि नहीं रही है, (निम्ममे) धर्मोपकरणो पर भी जो ममत्वरहित है, (निन्नेहवधणे) स्नेह-बन्धन से भी जो मुक्त है, (सव्वपावविरते) ऐसा सर्वपापो से विरत साधु (वासीचदणसमाणकप्पे) वसूले से काटकर अपकार करने वाले तथा चदन के समान उपकार करने वाले दोनो पर समान कल्पना-बुद्धि वाला, (समतिण-मणिमुत्तालेट्ठुकचणे) जिसकी दृष्टि मे तिनका और मणि-मोती तथा ढेला और सोना दोनो समान हैं, (समे य माणावमाणणाए) जो सम्मान और अपमान दोनो अवस्थाओ मे सम है, (समियरते) जिसने पापकर्मरूप रज या विषयो मे रय-उत्सुकता को शान्त कर दिया है, (समितरागदोसे) जो राग-द्वेष का शमन करने वाला है, (समितीसु समिए) पांचो समितियो—सम्यक् प्रवृत्तियो मे समित-युक्त है, (सम्मदिट्ठी) जो सम्यग्दृष्टि है (य) तथा (जे) जो (सव्वपाणभूतेसु समे) समस्त त्रास और स्थावर जीवो पर समभावी है, (से हु समणे) वही श्रमण तपस्वी है, सम मन वाला है अथवा शमन-शान्तकषाय है, (सुयधारए) वही श्रुत-शास्त्र का धारक-जानकार है, (उज्जुते) वह सयम मे उद्यत या उद्यमशील है अथवा ऋजु-सरल है। (स साहू) वही सच्चा साधु है (सव्वभूयाण सरण) वह समस्त प्राणियो को शरण देने वाला—रक्षक है; (सव्व-जगवच्छले) समस्त विश्व के प्रति वात्सल्यभाव से ओतप्रोत विश्ववत्सल है, नि.स्वार्थ हितैषी है, (सच्चभासके) सत्यभाषी है, (य) तथा (ससारतट्ठिते) वह ससार के अन्त-किनारे पर स्थित है, (य) तथा (ससारसमुच्छिन्ने) उसने ससार-परिभ्रमण को छिन्न-नष्ट कर दिया है, ( ) निरन्तर होने वाले (मरणाण) बाल-अज्ञानी जीवो के भावमरणो से (पारए) पार पहुच गया है, (सव्वेसि ससयाण च पारगे) और वह समस्त सशयो से अतीत यानी परे हो गया है, (अट्ठहिं पयवणमायाहिं) पाच समिति और तीन गुप्तिरूप ८ प्रवचनमाताओ के द्वारा (अट्ठकम्मगठीविमोयके) आठ कर्मो रूपी गाठ को खोलने वाला हो गया है, (अट्ठमयमहणे) जाति, कुल आदि के आठ मदो-अहकारो का मथन-नाश करने वाला है, (य) और (ससमयकुसले) स्वकीय सिद्धान्त या आचार अथवा प्रतिज्ञा मे कुशल (भवति) है। (सुहदुक्खनिव्विसेसे) वह सुख और दुःख मे एक-सा रहता है, (य) और (सया) सदा (अब्भितरबाहिरमि तवोवहाणमि) आभ्यन्तर और बाह्य तपरूप गुण के उपधान—निकट पहुचने मे (सुट्ठुज्जुते) अत्यन्त उद्यमशील-पुरुषार्थी है, (खते) क्षमावान या कष्टसहिष्णु है, (दते) इन्द्रियो का दमन करने वाला है (य) तथा

(हियनिरते) स्वपरहित मे निरत-सलग्न रहता है, (ईरियासमिते) द्रव्य और भाव रूप से ईर्या-गति करने मे सम्यक्प्रवृत्तिरूपसमिति से युक्त है, (भासासमिते) भाषा मे यतनावान् है, (एसणासमिते) आहार - पानी आदि की एषणा करने मे—गोचरी मे यतनाशील है, (आयाणभडमत्तनिक्खेवणासमिते) भाजन, पात्र आदि उपकरणो को सम्यक् प्रकार से लेने-उठाने और रखने की समिति-सम्यक् प्रवृत्ति से युक्त है, (उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्लपारिट्ठावणियासमिते) मल, मूत्र, कफ, लींट-नाक का मैल, पसीना आदि शरीर का मैल आदि मलो को जीव-जन्तु की बाधा से रहित सुस्थल मे परिष्ठापन करने-डालने की समिति का आचरण करने वाला है; (मणगुत्ते) मनोगुप्ति सहित है, (वयगुत्ते) वचनगुप्ति से युक्त है, (कायगुत्ते) काय-गुप्ति का पालक है, (गुत्तिदिए) इन्द्रियो को विषयो मे भटकने से गुप्ति-रक्षा करने वाला है (गुत्तबभयारी) ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करने वाला है; (चाई) समस्त परिग्रह का त्याग करने वाला है, (लज्जू) अतिशय लज्जावान है—पापो से शर्माने वाला है, अथवा रज्जू-रस्सी के समान सरल है। (धन्ने) धन्य है, (तवस्सी) तपस्या करने वाला है, (खतिखमे) कष्ट सहिष्णुता-तितिक्षा मे क्षम-समर्थ है, (जितिदिए) जितेन्द्रिय है, (सोहिए) गुणो से सुशोभित है, अथवा आत्मशोधक है, या सर्वप्राणियो का सुहृद् मित्र है, (अणियाणे) निदान-आगामी भोगो की वाछा से रहित है, (अवहिल्लेसे) जिसकी लेश्याएँ, अन्त करण की विचार-तरगें सयम से बाहर नहीं जातीं, (अममे) जो 'मैं' और 'मेरा' के अभिमानसूचक शब्दो से रहित है, (अकिंचणे) जिसके अपने स्वामित्व का कुछ भी नहीं है, (छिन्नगथे) बाह्य और आभ्यन्तर गाठें जिसने तोड दी हैं, (निरुवलेवे) जो कर्म के या आसक्ति के लेप से रहित है, (सुविमलवरकसभायण व मुक्कतोए) अतिनिर्मल उत्तम कासे का बर्तन जैसे पानी के सम्पर्क से मुक्त रहता है, वैसे ही आसक्तिपूर्ण सम्बन्ध से मुक्त है (सखेविव निरजणे) शख के समान रागादि के अजन-कालिमा से रहित है, (विगयरागदोसमोहे) जो राग, द्वेष और मोह से रहित है, (कुम्मो इव इ दिएसु गुत्ते) कछुए की तरह जो इन्द्रियो को सगोपन करके रखता है, (जच्चकचणग व जायरूवे) उत्तम शुद्ध सोना जैसे छविमान होता है, वैसे ही साधु भी आत्मा के शुद्ध स्वरूप की छवि प्राप्त कर लेता है, (पोक्खरपत्त व निरुवलेवे) कमल के पत्ते की तरह निर्लेप है, (सोमभावयाए) अपने सौम्य स्वभाव के कारण (चदो इव) चन्द्रमा की तरह है (सूरोव्व दित्ततेए) सूर्य की तरह सयम के तेज से देदीप्यमान है (अचले जह मदरे गिरिवरे) पर्वतो मे प्रधान मेरुपर्वत की तरह सिद्धान्त पर जो अटल है, (अक्खोभे सागरोव्व थिमिए) समुद्र के समान क्षोभरहित एव स्थिर है, (पुढवी व

सव्वफाससहे) पृथ्वी की तरह सब प्रकार के शुभ-अशुभ स्पर्शो को सहने वाला है, (वि य भासरासि-छन्निव्व जाततेए) तपस्या से अन्तरग मे ऐसा देदीप्यमान लगता है, मानो भस्मराशि से ढकी हुई आग हो, (जलियहुयासणो विव तेयसा जलते) जलती हुई आग के समान तेज से जाज्वल्यमान है, (गोसीसचदणमिव सीयले) गोशीर्ष चन्दन के तुल्य शीतल (य) और (सुगध य) अपने शील से सुगन्धित है, (हरयोविव समियभावो) ह्रद-बडे तालाव के समान शान्त स्वभावी है, (उग्घोसियसुनिम्मल व आयंसमडलतल) अच्छी तरह घिस कर चमकाए हुए निर्मल दर्पणमडल के तल के समान (पागडभावेण) सहज स्वभाव से मायारहित होने के कारण अत्यन्त प्रमार्जित व निर्मल जीवन वाला है, (सुद्धभावे) शुद्ध परिणाम वाला है, (कु जरोव्व सोडीरे) कर्म-शत्रुओं की सेना को पराजित करने मे हाथी की तरह शूरवीर है, (वसभोव्व जायथामे) वृषभ की तरह अगीकृत व्रतो का भार धारण करने मे समर्थ है, (सीहे वा जहा मिगाहिवे होति दुप्पधरिसे) जैसे मृगाधिपति सिंह अकेला ही अजेय होता है, वैसा ही अजय, (सारयसलिल व सुद्धहियए) शरदृतु के पानी की तरह स्वच्छ हृदय वाला, (भारडे चेव अप्पमत्ते) भारड पक्षी की तरह अप्रमत्त, (खग्गिविसाण व एगजाते) गेंडे के सींग की तरह अकेला, अन्य सहायक से रहित (खाणु चेव उड्ढकाए) ठूठ की तरह ऊर्ध्वकाय—कायोत्सर्गस्थित रहने वाला, (सुन्नागारेव्व अप्पडिकम्मे) सूने घर के समान शरीरसस्कारो से रहित (सुन्नागारावणस्सतो) सूने घर तथा सूनी दूकान के अदर-(निवायसरणप्पदीपज्झाणमिव निप्पकपे) वायुरहित स्थान मे रखे हुए दीपक के समान तथा शुभध्यान के समान दिव्यादि उपसर्ग के समय भी कम्पनरहित, (जहा खुरो चेव एगधारे) छुरे या उस्तरे की जैसे एक सरीखी धार होती है, वैसे ही मुनि भी उत्सर्गमार्ग मे एक धारा-अखड प्रवृत्ति वाला (जहा अही चेव एगदिट्ठी) जैसे साप की दृष्टि एक लक्ष्य की ओर होती है, वैसे ही मोक्षमार्ग की साधना पर एकमात्र दृष्टिवाला साधु, (आगास चेव निरालबे) आकाश की तरह आलम्बनरहित, (विहगेविव सव्वओ विप्पमुक्के) पक्षी की तरह सब तरह से परिग्रहमुक्त (कयपरनिलए जहा चेव उरगे) सर्प के समान दूसरे के बनाए स्थान मे निवास करने वाला, (अनिलोव्व अपडिबद्धे) वायु की तरह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबन्ध से रहित, (जीवोव्व अप्पडिहयगती) देहरहित जीव की तरह स्वतत्र अप्रतिहत-बेरोकटोक गतिवाला—निरतर विहार करने वाला मुनि (गामे गामे एगराय) प्रत्येक गाव मे एक रात (य, तथा (नगरे नगर पचराय) प्रत्येक नगर मे पाच रात (दुइज्जतो) विचरण करता हुआ (य) और (जितिदिए) इन्द्रियविजयी, (जितपरिसहे) परिषह-

विजेता (निब्भओ) निर्भय, (विऊ) विद्वान्-गीतार्थ (सचित्ताचित्तमीसकेहिं) सचित्त हो, अचित्त हो या मिश्र हो, (दव्वेहिं) सभी द्रव्यो मे (विराय गते) वैराग्ययुक्त, (सचयातो विरते) वस्तु का सचय करने से विरत, (मुत्ते) लोभरहित (लहुके) तीनो प्रकार के गर्व के भार से रहित अथवा परिग्रह के बोझ से हलका, (निरवकखे) आकाक्षारहित, (जीवियमरणासविप्पमुक्के) जीने और मरने की आशा से विमुक्त, (निस्सध) चारित्र-परिणाम के विच्छेद से रहित, (निव्वण) निरतिचार (चरित्त) चारित्र का (धीरे) क्षोभरहित धीर या स्थितप्रज्ञ साधु (कायेण फासयते) शारीरिक क्रिया द्वारा पालन करता हुआ (सतत) निरन्तर (अज्झप्पज्झाणजुत्ते) अध्यात्मध्यान मे सलग्न (निहुए) उपशान्त साधु (एगे) रागादि की सहायता से अथवा सहायक से रहित एकाकी (धम्म चरेज्ज) चारित्र धर्म का आचरण करे।

मूलार्थ—इस प्रकार वह अपरिग्रही सयमी साधु धनादि के लोभ से मुक्त होता है, जमीनजायदाद, धनसम्पत्ति का त्यागी होता है। आसक्ति-रहित होता है। परिग्रह मे उसकी जरा भी रुचि नहीं होती। धर्मोपकरणो पर भी ममत्व से रहित होता है। वह स्नेहबन्धन से रहित, सर्वपापो से विरक्त है। वसूले से काट कर अपकार करने वाले और चन्दन के समान उपकार करने वाले दोनो पर समबुद्धि रखता है। उसकी दृष्टि मे तिनका और मणि या मोती तथा ढेला और सोना दोनो समान है। वह सम्मान और अपमान दोनो अवस्थाओ मे सम रहता है। उसने पापकर्मरूपी रज या विषयो मे रय-उत्सुकता को शान्त कर दिया है। वह रागद्वेष का शमन करने वाला है। जो पाचसमितियो से समित-युक्त, सम्यग्दृष्टि तथा समस्त त्रस-स्थावर जीवो पर समभावी होता है, वह श्रमण-तपस्वी है या सम मन वाला है अथवा शमन-शान्तकषाय है, वही श्रुतधर-शास्त्रज्ञ है, सयम मे उद्यत या उद्यमी है, वही स्वपर-कल्याण का साधक है, समस्त प्राणियो का आश्रयरूप है, वह समस्त विश्व के प्राणियो के प्रति वात्सल्य से ओतप्रोत है, सत्यभाषी है, तथा ससार के अन्त-किनारे पर स्थित है। उसने ससार परिभ्रमण को नष्ट कर दिया है। वह अज्ञानी जीवो को सतत होने वाले भावमरणो से पार पहुँच गया है, समस्त सशयो से परे हो गया है। वह पाच समिति-तीन गुप्ति रूपी आठ प्रवचनमाताओ के द्वारा आठ कर्मों की गाठें खोलता है, आठ मदो-अहकारो का उसने मर्दन कर दिया है, वह अपने सिद्धात, आचार या प्रतिज्ञा के पालन मे कुशल होता है। सुख और दु ख उसके

लिए समान है, और वह सदा अभ्यन्तर और वाह्य तपस्या के उपधान मे अत्यन्त पुरुषार्थ करता रहता है। वह क्षमाशील या कष्टसहिष्णु, इन्द्रियो का दमन करने वाला तथा स्वपरहित मे रत रहता है। वह ईर्यासमिति से युक्त, भापासमिति से युक्त, एपणासमिति का पालक, आदानभाडामत्र-निक्षेप्रणासमिति से युक्त, उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघाणजल्लपरिष्ठापनिका-समिति से सम्पन्न, मनोगुप्तिसहित, वचनगुप्तियुक्त तथा कायगुप्ति का पालक है। वह इन्द्रियो को विपयो मे भटकने से वचाता है, ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करता है, समस्त परिग्रह का त्यागी, पापाचरण मे लज्जाशील या रस्सी के समान सरल धन्य, तपस्वी, कष्ट-सहिष्णुता मे समर्थ और जितेन्द्रिय होता है। वह गुणो से सुशोभित या आत्मशोधक अथवा समस्त प्राणियो का मित्र, आगामी सुखभोगो की निदान—कामना से रहित है। उसकी लेश्याएँ यानी चित्त की तरंगे सयम से वाहर नही जाती, वह 'मैं' और 'मेरा' के अभिमानसूचक शब्दो से रहित है। जिसके पास अपना कहने को कुछ नही है, जिसने वाह्य और आभ्यन्तर गाठें तोड दी है, वह कर्म या आसक्ति के लेप से रहित है, अति निर्मल उत्तम कासे का वर्तन जैसे पानी के सपर्क से मुक्त रहता है, वैसे ही आसक्तिपूर्ण सम्वन्ध से मुक्त, शख की तरह रागादि के अजन कालिमा से रहित, तथा राग, द्वेप और मोह से विरक्त है। कछुए के समान इन्द्रियो का गोपन करने वाला, शुद्ध सोने के समान शुद्ध आत्म-स्वरूप का द्रष्टा, कमल के पत्ते की तरह निर्लेप है। अपने सौम्य स्वभाव के कारण चन्द्रमा की तरह सौम्य, सूर्य के समान सयम के तेज से देदीप्यमान, पर्वतो मे प्रधान मेरुपर्वत की तरह सिद्धान्त पर अविचल, समुद्र के समान क्षोभरहित एव स्थिर, पृथ्वी की तरह शुभाशुभ सभी प्रकार के स्पर्शों को सहने वाला है, तपस्या से वह अन्तरग मे ऐसा देदीप्यमान लगता है, मानो भस्मराशि से ढकी हुई आग हो। तेज से जलती हुई आग के समान जाज्वल्यमान है। गोशीर्पचन्दन के तुल्य शीतल और शील से सुगन्धित तथा वडे ह्रद के समान शान्तस्वभावी है। अच्छी तरह घिस कर चमकाये गए निर्मल दर्पणमडल के तल के समान सहजस्वभाव से मायारहित होने के कारण अत्यन्त प्रमार्जित व निर्मल जीवन वाला है, शुद्ध परिणाम वाला हे, कर्मशत्रुओ की सेना को पराजित करने मे हाथी की तरह शूर-वीर है, वृपभ की तरह उठाए हुए भार को धारण करने मे समर्थ हे,

मृगाधिपति सिंह की तरह अकेला ही अपराजेय, शरदऋतु के पानी के समान स्वच्छ हृदय वाला, भारडपक्षी की तरह अप्रमत्त, गेंडे के सीग की तरह अकेला अन्य सहायक से रहित, ठूंठ की तरह ऊर्ध्वकाय—कायोत्सर्ग मे स्थिर रहने वाला, सूने घर के समान शरीर सस्कारो से दूर है। वह सूने घर व सूनी दुकान के अन्दर निर्वातस्थान मे रखे हुए दीपक के समान तथा शुभध्यान के समान दिव्यादि उपसर्ग के समय भी निष्कम्प है। छुरे या उस्तरे की एक सरीखी धार के समान उत्सर्गमार्ग मे एक धारा-अखड प्रवृत्ति वाला, साप की तरह एकमात्र मोक्षमार्ग-रूप लक्ष्य की ओर दृष्टि रखने वाला, आकाश की तरह आलम्बनरहित, पक्षी की तरह सब प्रकार से परिग्रह-मुक्त, सर्प के समान दूसरे के बनाए हुए स्थान मे निवास करने वाला, वायु की तरह द्रव्यक्षेत्रकालभाव के प्रतिबन्ध से रहित, देहमुक्त चेतन की तरह स्वतंत्र अप्रतिहत—बेरोकटोक गति अर्थात् विहार करने वाला मुनि हर एक गाव मे एक रात्रि तथा हर एक नगर मे पाच रात्रि विचरण करता हुआ इन्द्रिय-विजेता, परिषहजयी, निर्भय, विद्वान्—गीतार्थ, सचित्त, अचित्त और मिश्र सभी द्रव्यो मे वैराग्ययुक्त, सग्रहवृत्ति से दूर, निर्लोभी, तीनो प्रकार के गर्व के भार से रहित अथवा परिग्रह के बोझ से हलका, आकाक्षारहित, जीवन और मरण की आशा से विमुक्त, चारित्रपरिणामो को खडित करने से विरक्त होता है। ऐसा धीर स्थितप्रज्ञ साधु निरतिचार चारित्र का शारीरिक क्रिया अर्थात् जीवन से स्पर्श करता हुआ निरन्तर अध्यात्मध्यान मे सलग्न उपशान्त साधु रागादि की सहायता से अथवा किसी सहायक से रहित एकाकी चारित्र-धर्म का आचरण करे।

व्याख्या

इस लम्बे सूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने अपरिग्रही साधु की ही विस्तृतरूप से परिभाषा दी है, ताकि आम आदमी अपरिग्रही साधक को पहिचान सकें। कई व्यक्ति घरबार, जमीन जायदाद, कुटुम्ब-कबीला आदि सब छोड कर एकात जगल मे जा बैठते है, परन्तु वहा भी उनके मन मे विविध सासारिक वस्तुओ को ग्रहण करने और उनका उपभोग करने की प्रबल लालसा उठती रहती है। वे मन ही मन उन मनोज्ञ वस्तुओ को पाने के लिए अनेक प्रकार की उधेडबुन करते रहते है मन मे विविध कामनायें सजोते रहते हैं, अनेक देवी-देवो की स्तुति, जाप, मनौती आदि करते रहते हैं। स्थूलदृष्टि से देखने वाले को वे बिलकुल अपरिग्रहमूर्तिसे लगेगे, एक लगोटी भी

मुश्किल से उनके पास होगी, मगर उनके अन्तर मे परिग्रह की जो धमाचौकडी मचती रहती है, उसे देखते हुए वे कदापि अपरिग्रही नही माने जा सकते। इसी कारण दशवैकालिक सूत्र के द्वितीय अध्ययन मे इस विषय मे स्पष्ट निर्देश किया गया है—

'वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ ॥'

अर्थात्—वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, स्त्रियाँ, शयनीय पदार्थ आदि जिसके अधीन नही है, न वह किसी तरह उन्हे उपभोग के लिए अधिकार मे कर ही पाता है, किन्तु मन ही मन उनके पाने के लिए लालायित रहता है तो उसे परिग्रह-त्यागी नही कहा जा सकता।

यह तो एक प्रकार का दम्भाचार-सा है कि बाहर से लोगो को दिखाने के लिए पास मे कुछ नही है, लेकिन अन्दर ही अन्दर प्रकारान्तर से उन त्यक्त पदार्थो को पुन प्राप्त करने की, पद, प्रतिष्ठा और सम्मान पाने की साधक मे धुन सवार है। भगवद्गीता मे ऐसे साधको को मिथ्याचारी कहा है। दखिये वह श्लोक—

'कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार. स उच्यते ॥'

जो बाहर से इन्द्रियो को रोक कर निश्चेष्ट बैठ जाता है, लेकिन वह मूढात्मा मन ही मन इन्द्रियो के विविध विषयो का या विषयसाधनो का चिन्तन करता रहता है तो वास्तव मे वह मिथ्याचारी—ढोगी कहलाता है।

दूसरी ओर कई प्रसिद्ध साधक अपने को बहुत पहुचे हुए समझ कर जनक-विदेही या सम्राट् भरत की दुहाई दे कर खुद को उनके समान अनासक्त बतलाते हैं और 'मूर्च्छा परिग्रह' मूर्च्छा-आसक्ति ही परिग्रह है, इस परिग्रह की परिभाषा की आड मे बढिया से बढिया पदार्थो का सग्रह करते जाते हैं या अपने भक्तो के पास सग्रह करवाते जाते हैं। पूछने पर यो ही कहते है—'अजी ! यह हमारा थोडे ही है, हमारी इन पर आसक्ति या ममता थोडे ही है।' अथवा वह गृहस्थ, जिसके पास किसी मन्दिर या भगवान के नाम से धन या विविध पदार्थ इकट्ठे किए गये है, पूछने पर तपाक से कहेगा—"अजी ! ये तो मन्दिरजी के है, यह तो भगवान् का मुकुट है, छत्र है या अमुक पदार्थ है, हमारा तो इसमे कुछ भी नहीं है।" इस प्रकार जो अपने-आप को भरतचक्रवर्ती या जनक विदेही के समान निर्लेप और अनासक्त बता कर या अनासक्ति की भ्रान्ति मे पड कर प्रकारान्तर से बहुत सग्रह

करते जाते है, वे लोग प्राय उस परिग्रह के कारण चरित्रभ्रष्ट और पतित होते देखे-सुने गये है। इसलिए साधारण साधक परिग्रह-अपरिग्रह की इस उलझन मे पड कर यह स्पष्ट नही समझ पाता कि अपरिग्रही किसे कहा जाय ? उसकी क्या पहिचान है ? वह कैसे बोलता है, कैसे चलता है, कैसा व्यवहार करता है ? क्या और कैसे खाता-पीता है ? कैसे और कहाँ रहता है ? कहा और किस प्रकार विचरण करता है ? क्या और किस ढग से सोचता है ? जगत के विषयो व पदार्थों को किस दृष्टि से देखता है ? उसकी किस विषय मे रुचि या अरुचि होती है ? सकटो, कष्टो और परिषहो उपसर्गो के समय वह क्या रुख अपनाता है ? रागादिवर्धक या द्वेषादिवर्धक बाह्य पदार्थों का उसके मन पर क्या असर होता है ? अन्तरग परिग्रहो के प्रति उसका दृष्टिकोण कैसा और क्या रहता है ? अनिवार्य उपकरणो को अप-नाने के बारे मे उसकी भावना क्या रहती है ? इन सब बातो से ही अपरिग्रही का पूरा परिचय हो सकता है। आभ्यन्तर-परिग्रह-त्याग की प्रतिज्ञा ले लेने और बाह्यपरिग्रह का त्याग कर देने मात्र से किसी भी साधक के अन्तर की गहराई का पता नही लग सकता। अन्तर की वृत्तिया इतनी सूक्ष्म हैं कि उनमे काम, क्रोध, अहकार (मद) मोह, लोभ आदि चीजे बहुत ही सूक्ष्म-रूप मे पडी रहती हैं। इसलिए व्यवहारो से ही प्राय उसके जीवन का पता लग सकता है। बहुधा अन्तर की वृत्तियाँ या सूक्ष्म वासनाएँ ही बाहर के व्यवहार मे, बोल-चाल मे, चेष्टाओ मे, प्रवृत्तियो मे उभर कर आती है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने अपरिग्रही के व्यक्तित्व के पूर्ण परिचय के बारे मे उठाए गए उपर्युक्त प्रश्नो का उत्तर इस विस्तृत सूत्रपाठ मे दे दिया है। इसमे अपरिग्रही का सागोपाग परिचय आ जाता है। अब हम क्रमश प्रत्येक पद का सक्षेप मे विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे—

सजते—अपरिग्रही साधु मनवचनकाया की अपनी प्रवृत्तियो पर सयम रखता है। वह कोई ऐसी प्रवृत्ति नही करता, जो सयम से विपरीत हो, उच्छृखल हो।

विमुत्ते—वह जमीन-जायदाद, धन-सम्पत्ति आदि से मुक्त होता है। जिन वस्तुओ को उसने छोड दिया है, उन्हे अब वह अपनाना वमन किये हुए को चाटने के समान समझता है।

निस्सगे—वह परिग्रह मे बिलकुल आसक्ति नही रखता। वह यही समझता है कि किसी वस्तु के पीछे मोहवश चिपटना ही दु ख-वृद्धि का कारण है।

निप्परिग्गहरुई—उस की रुचि परिग्रह के बारे मे बिलकुल नही होती। उसे सदा परिग्रह से अरुचि रहती है। वह धर्मोपकरण के सिवाय किसी भी चीज को लेना या सग्रह करके रखना पसन्द नही करता।

निम्ममे—धर्मोपकरण के रूप मे रखी हुई चीजो पर भी उसकी ममता नही होती। वह उन्हे भी आवश्यकतावश ही रखता है।

निन्नेहवधने—अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियो या साधु जीवन मे परिचय मे आने वाले भक्त-भक्ताओ या शिष्य-शिष्याओ के साथ भी उसका स्नेहवन्धन—मोहवन्धन नही होता। सिर्फ धर्मस्नेह का प्रशस्त वन्धन होता हे या कर्त्तव्यवन्धन होता है।

सव्वपावविरते—हिंसा आदि समस्त पापो से वह विरक्त रहता है। वह किसी भी पापकर्म मे प्रवृत्त होने से हिचकिचाता हे।

वासीचदणसमाणकप्पे कुल्हाडी चलाने वाले अपकारी और चदन लगाने वाले उपकारी दोनो के प्रति मन, वचन, काया से उसका समान विकल्प रहता है। यह स्थिति वडी कठिन है। परन्तु अपरिग्रही के जीवन मे यह वखूवी देखी जा सकती है। शत्रु और मित्र दोनो के प्रति वह समदर्शी रहता है।

समतिणमणिमुत्तालेट्ठुकचणे—तिनका हो, चाहे मणि हो या मोती, ढेला हो या सोना हो, दोनो के प्रति अपरिग्रही सम रहता है। उसे प्रिय वस्तु मे हर्ष और अप्रिय वस्तु मे विपाद नही होता।

समे य माणावमाणणाए—सम्मान मिले, चाहे अपमान मिले, स्तुति-प्रशसा हो, चाहे निन्दा—आलोचना, दोनो अवस्थाओ मे उसके मन मे प्रीति-अप्रीति नही पैदा होती। और न ही वह सम्मान प्रतिष्ठा-पाने के लिए दौडधूप करता है और न अपमान या निन्दा के निवारण के लिए वह खास प्रयत्न करता है।

समियरते—पापकर्मरूपी रज को या विपयो मे रय-उत्सुकता को उसने समाप्त कर दिया है। पाचो इन्द्रियो के विपयो के सेवन मे उसका उत्साह नही होता, वल्कि वह उनसे कम से कम परिचय करना चाहता है।

समिए समितीसु पाचो समितियो को वह अपरिग्रहवृत्ति मे सहायक मानता है और इसी कारण वह पाचो समितियो के पालन मे दत्तचित्त रहता है।

सम्मदिट्ठी—अपरिग्रही साधक के लिए सम्यग्दृष्टि होना तो मुख्य और मूल वात है। ज्ञानादि किसी भी साधना मे वह सम्यग्दर्शन को मुख्य केन्द्र मान कर चलता है। इसी कारण वह अपरिग्रह-परिग्रहत्याग को भी केवल भौतिक दृष्टि से नही, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से अपनाता है।

समे य सव्वपाणभूतेसु—अपरिग्रही किसी भी प्राणी के जीवन का मूल्य कम नही आकता। प्राणी चाहे छोटा हो या वडा, वह ऊपर के चोले को न देख कर उसके अन्दर विराजमान शुद्ध आत्मा की दृष्टि से उसे देखता है। वाह्य आवरणो को चीर

चाई, लज्जू, धन्ने, तवस्सी वह परिग्रह का सर्वथा त्यागी होता है। पाप कर्म करते हुए शर्माता है, वह अपने जीवन मे सयम का धनी या धन्य है, तपस्वी भी है।

खतिखमे, जिइदिए, सोहिए, अणियाणे, अवहिल्लेसे, अममे, अकिचणे, छिन्नगथे, निरुवलेवे—ये अपरिग्रही की वाह्य पहिचान के चिह्न हैं। वह क्षमा करने या कष्ट सहने मे समर्थ होगा, इन्द्रियजेता होगा, गुणो से शोभित, निदान से रहित, सयम से वाहर विचरण करने वाली लेश्याओ से रहित, मैं और मेरा के भेदमूलक व्यवहारो से पृथक्, अकिंचन, आसक्ति की गाठे तोडने वाला और निर्लेप होता है।

सुविमलवरकसभायण व मुक्कतोए जीवोव्व अप्पडिहयगती—इन सव पक्तियो मे अपरिग्रही साधु को विभिन्न उपमाएँ दे कर उसकी विशेपता वताई है। वह कासी के वर्तन के समान जलससर्ग से रहित, शख की तरह निरजन, रागद्वेप व मोह से विरक्त, कछुए के समान इन्द्रियगोप्ता, शुद्ध सोने के समान शुद्ध आत्मस्वरूपपरायण, कमलपत्र की तरह निर्लेप, चन्द्रमा की तरह सौम्यस्वभावी, सूर्य की तरह तेजस्वी, सुमेरु की तरह अटल, समुद्र की तरह अक्षोभ्य एव स्थिर, पृथ्वी की तरह सर्वस्पर्शसहिष्णु, राख से ढकी अग्नि के समान तपरूप अन्तस्तेज से देदीप्यमान, तेज से जलती हुई आग के समान, गोशोर्ष चन्दन के समान शीतल, शील की सुगन्ध से पूर्ण, सरोवर की तरह शान्त, दर्पणतल की तरह निर्मल, सहज स्वभाव से शुद्धस्वभावी, हाथी के समान शूरवीर, वृपभ के समान लिये हुए सयम भार को उठाने मे समर्थ, सिंह की तरह अपराजेय, शरद्ऋतु के जल के समान स्वच्छहृदय, भारडपक्षीवत् अप्रमादी, गेंडे के सीग के तुल्य एकाकी, ठूठ की तरह कायोत्सग मे स्थिर, शून्यगृह के समान शरीर की विभूपा से दूर, सूने घर मे या निर्वात स्थान मे रखे हुए दीपक की तरह ध्यान मे निष्कम्प, छुरे की तरह एक धारा रूप प्रवृत्ति वाला, साप की तरह एकमात्र लक्ष्य की ओर दृष्टि रखने वाला, आकाश की तरह निरालम्व, पक्षी की तरह से निरपेक्ष, साप की तरह दूसरे के द्वारा वनाए हुए घर मे निवास करने वाला, हवा की तरह अप्रतिवद्धविहारी, देह छोड हुए चेतन प्राणी की तरह निरावाध स्वतत्रगतिशील होता है। ये सारे विशेपण अपरिग्रही के जीवन की विशेपताओ को प्रगट करते हैं।

गामे गामे एगराय, नगरे नगरे य पचराय दुइज्जते—अपरिग्रही किसी गॉव या नगर मे भी वध कर, जम कर या आसक्त वन कर नही रहता। जहाँ अच्छी-अच्छी स्वादिष्ट वस्तुएँ खाने-पीने को मिलती हो, लोगो की भावभक्ति हो, प्रतिष्ठा भी मिलती हो, वहाँ कच्चे साधक का मन अधिक दिन रहने को ललचाता है और अप्रिय, अनिष्ट ग्राम-नगर मिलने पर वहाँ से जल्दी भागने का जी करता है, पर अपरिग्रह

की दीक्षा मे पारगत साधु उपर्युक्त[1] नियम के अनुसार हर गाँव मे एक रात और हर नगर मे पाच रात रहेगा। जिससे जनता का ममत्त्व न बढे, आहारादि मे भी आसक्ति न बढे।

जिंतिदिए जितपरिसहे निब्भओ विऊ—ये चारो विशेषण अपरिग्रही के जीवन की पराकाष्ठा के है। वह जितेन्द्रिय होगा, परिषहविजेता भी होगा, निर्भय होगा, वह सच बात कहने मे घबराएगा नही, निर्भयतापूर्वक अपनी बात जनता के सामने रखेगा। गीतार्थ—विद्वान् होगा।

सच्चित्ताचित्तमीसकेहिं दव्वेहिं विराय गते, सचयाओ विरते, मुत्ते, लहुके, निरवकखे—ये सब विशेषण अपरिग्रही के जीवन मे बाह्य परिग्रहो से विरक्ति के मापदड हैं। इन गुणो के द्वारा बाह्यरूप से अपरिग्रही का जीवन नापा जा सकता है। उसके जीवन के सस्कारो मे वैराग्य तो जन्मघुट्टी की तरह रहता हे। द्रव्य चाहे सचित्त हो, अचित्त हो या मिश्र, कम हो या ज्यादा, छोटा हो या बडा, कीमती हो अथवा अल्पमूल्य, वह इतना विरक्त होगा कि उसकी तरफ झाकेगा भी नही, उठाना तो दूर रहा, छुएगा भी नही। किसी भी चीज के सचय से तो वह दूर ही रहेगा। वह निर्लोभी, अल्पोपकरण के कारण हलका अथवा गर्वभार से हीन एव निष्काक्ष होगा।

जीवियमरणासविप्पमुक्के—जीने और मरने की आशा से वह मुक्त होता है। प्रशसा मिलने पर वह अधिक दिन जीने की इच्छा नही करता और कष्ट या रोग से घबरा कर जल्दी मर जाने की भी कामना नही करता। मृत्यु किसी भी समय आ जाए वह हसते-हसते उसका स्वागत करेगा, असयमी जीवन मे वह एक दिन भी जीना नही चाहेगा।

निस्सध निव्वण चरित्त धीरे काएण फासयते—चारित्र के परिणाम से युक्त वह धीर निरतिचार चारित्र को काया से स्पर्श करता हुआ चलेगा। मतलब यह है कि उसका चारित्र पालन केवल मन के लड्डू नही, परन्तु मुह मे डाली हुई मिश्री के समान प्रत्यक्ष अनुभूतिरूप होगा। वह भी निर्दोष होगा, अखड परिणामो की धारा से युक्त होगा।

अज्झप्पज्झाणजुत्ते निहुए—इन दोनो विशेषणो द्वारा अपरिग्रही की अन्तरग विधेयात्मक प्रवृत्ति सूचित की है। वह निरन्तर अध्ययन वगैरह से आत्मध्यान मे

१—यह नियम भिक्षुप्रतिमा स्वीकृत साधु की दृष्टि से लिखा गया है।

—सपादक

लीन रहेगा, उपशान्त या निश्चित रहेगा। उसके जीवन मे किसी भौतिक वस्तु की तमन्ना नही होगी।

एगे चरेज्ज धम्म—ऐसा अपरिग्रही साधु अपरिग्रह की दृष्टि से अगर दूसरे किसी की सहायता न लेकर एकाकी रहता है तो उसमे दोष नही, गुण ही है। कई बार निपुण, गुणी या समविचार का सहायक नही मिलता, तब व्यर्थ ही कर्म-बन्धन, मानसिक क्लेश, वैमनस्य और आलोचना-प्रत्यालोचना के भाव पैदा होते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र मे तो स्पष्ट ही कहा है—

'न वा लभेज्जा निउण सहाय, गुणाहिय वा गुणओ सम वा।
एकोवि पावाइ विवज्जयतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥'

अर्थात्—"गुण मे अधिक या गुणो मे सम निपुण सहायक न मिले तो कामभोगो मे अनासक्त रहते हुये पापो का निवारण करता हुआ अकेला ही विचरण करे।" चूँकि दो होने से ममत्व का भी परिग्रह बढ सकता है और कषाय का परिग्रह भी। इसलिए अन्तरग परिग्रह की कमी के लिए योग्य, सशक्त और गुणवान साधक अकेला ही चारित्रधर्म का पालन करे, यही आशय यहाँ प्रतीत होता है।

अपरिग्रहसिद्धान्त पर प्रवचन किसने और क्यो दिया ?—यह अपरिग्रहसिद्धान्त केवल काल्पनिक चीज नही है या किसी अयोग्य गुरु द्वारा चेले के कान मे फूँकने वाला मत्र नही है। अपरिग्रह का यह प्रवचनमत्र भगवान् महावीर द्वारा अपरिग्रह-व्रत की रक्षा के लिए बहुत स्पष्टरूप से स्वय अनुभव करने के पश्चात् कहा गया है। यह आत्महितकर तो है ही, परलोक मे भी परमभाव से युक्त है, भविष्य के लिए कल्याणकारी है, शुद्ध है, न्यायसगत है, सरल है, श्रेष्ठ है और समस्त दुःखो और पापो को शान्त करने वाला है।

अपरिग्रहव्रत की पाच भावनाएँ

अपरिग्रही की पहिचान के लिए पूर्व सूत्रपाठ मे विशद रूप से कह कर शास्त्रकार अब परिग्रह से विरतिरूप अपरिग्रहमहाव्रत की सुरक्षा के लिए पाच भावनाओ का निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा निरूपण करते है—

मूलपाठ

तस्स इमा पंच भावणाओ चरिमस्स वयस्स होंति परिग्गह-वेरमणरक्खणट्ठयाए—पढम सोइदिएण सोच्चा सद्दाइं मणुन्नभददगाइ, किंते ? वरमुरय-मुइ ग-पणव-दद्दुर-कच्छभि-

वीणा-विपची-वल्लयि-वद्धीसक-सुघोस-नदि-सूसर - परिवादिणि-वस-तूणक-पव्वक-तती-तल-ताल-तुडिय - निग्घोस-गीयवाइयाइ, नडनट्टक-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिक-वेलवक-कहक-पवक-लासग-आइक्खग-लंख-मख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-तालायर-पकरणाणि य बहूणि महुरसरगीतसुस्सराइ, कची-मेहला-कलाव-पत्तरक-पहेरक-पायजालग - घंटिय - खिखिणी - रयणोरुजालिय-छुद्दि(ड्डि)य-नेउर-चलणमालिय-कणगनियल-जालभूसणसद्दाणि, लीलाचकम्ममाणाणूदीरियाइ तरुणीजणहसिय-भणिय-कलरिभित-मजुलाइं गुणवयणाणि य बहूणि महुर-जणभासियाइ अन्नेसु य एवमादिएसु सद्देसु मणुन्नभददएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्व, न रज्जियव्व, न गिज्झियव्व, न हसियव्व, न मुज्झियव्व, न विनिग्घायं आवज्जियव्व, न लुभियव्व, न तुसियव्वं, न सइ च मइ च तत्थ कुज्जा। पुणरवि सोइदिएण सोच्चा सद्दाइं अमणुन्नपावकाइं, किं ते? अक्कोस-फरुस-खिसण-अवमाणण-तज्जण-निब्भछण-दित्तवयण-तासण-उक्कूजिय-रुन्न-रडिय-कदिय - निग्घुट्ठ - रसिय-कलुणविलवियाइ, अन्नेसु य एवमादिएसु सद्देसु अमणुण्ण-पावएसु न तेसु समणेण रूसियव्व, न हीलियव्व, न निंदियव्व, न खिसियव्व, न छिंदियव्व, न भिंदियव्व, न वहेयव्वं, न दुगुछावत्तियाए लब्भा उप्पाएउ, एव सोतिंदियभावणा-भावितो भवति अतरप्पा मणुन्नामणुन्नसुब्भिदुब्भिरागदोस-प्पणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते सवुडे पणिहितिदिए चरेज्ज धम्म ॥ १ ॥

बितिय चक्खिदिएण पासिय रूवाणि मणुन्नाइ भद्दाइं सचित्ताचित्तमीसकाइ कट्ठे, पोत्ते य, चित्तकम्मे, लेप्पकम्मे, सेले य, दतकम्मे य, पचहिं वण्णेहिं अणेगसठाणसठियाइ

गठिमवेढिमपूरिमसंघातिमाणि य मल्लाइ बहुविहाणि य अहियं नयणमणसुहकराइ, वणसडे पव्वते य गामागर-नगराणि य खुद्दिय-पुक्खरिणि-वावी-दीहिय-गु जालिय-सरसरपतिय - सागर-बिलपंतिय-खादिय-नदी-सर-तलाग - वप्पिणोफुल्लुप्पलपउमपरिमं-डियाभिरामे, अरोगसउणगण-मिहुणविचरिए, वरमडव-विविह-भवण-तोरण-चेतिय-देवकुल-सभ-प्पवा-वसह-सुकयसयणासण-सीय-रह-सयड-जाण-जुग्ग-सदण-नरनारिगरो य, सोमपडिरूवदरिस-णिज्जे, अलकितविभूसिते, पुव्वकयतवप्पभावसोहग्ग-संपउत्ते, नड-नत्तग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-बेलबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लख-मख-तूणइल्ल-तु बवीणिय-तालायरपकरणाणि य बहूणि सुकरणाणि, अन्नेसु य एवमादिएसु रूवेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्व, न रजियव्व जाव न सइ च मइ च तत्थ कुज्जा। पुणरवि चक्खिदिएण पासिय रूवाइ अमणुन्नपाव-काइ, किं ते ? गडि-कोढिक-कुणि-उदरि - कच्छुल्ल-पइल्ल-कुज्ज-पगुल-वामण-अधिल्लग-एगचक्खु-विणिहय-सप्पि-सल्लग-वाहिरोग-पीलिय, विगयाणि य मयककलेवराणि, सकिमिणकुहिय च दव्व-रासिं, अन्नेसु य एवमादिएसु अमणुन्नपावकेसु न तेसु समणेण रूसियव्वं जाव न दुगु छावत्तियावि लब्भा उप्पातेउ, एव चक्खि-दियभावणाभावितो भवति अतरप्पा जाव चरेज्ज धम्म ॥ २ ॥

ततिय घाणिदिएण अग्घाइय गधाति मणुन्नभद्दगाइ, किं ते ? जलय-थलय-सरस-पुप्फ-फल-पाण-भोयण-कुट्ठ-तगर-पत्त-चोय-दमणक-मरुय-एलारस-पक्कमसि - गोसीस-सरसचदण-कप्पूर-लवग-अगर-कु कुम-कक्कोल-उसीर-सेयचदण-सुगन्ध-सारग-जुत्तिवर- धूव-वासे उउयपिंडिम-णिहारिमगधिएसु अन्नेसु य एवमादिएसु गधेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्व जाव न सतिं च मइ

च तत्थ कुज्जा। पुणरवि घाणिंदिएण अग्घातिय गधाणि अमणुन्नपावकाइ, किं ते ? अहिमड-अस्समड-हत्थिमड-गोमड-विग-सुणग-सियाल-मणुय-मज्जार-सीह-दीविय-मयकुहिय- विणट्ठकिविण-वहुदुरभिगंधेसु अन्नेसु य एवमादिएसु गधेसु अमणुन्नपावएसु न तेसु समणेण रूसियव्व, न हीलियव्व जाव [1]पणिहियपचेंदिए चरेज्ज धम्म ॥ ३ ॥

चउत्थ जिब्भिदिएण साइय रसाणि उ मणुन्नभद्दकाइ, किं ते ? उग्गाहिम - विविहपाण-भोयण-गुलकय-खडकय-तेल्ल-घयकय-भक्खेसु वहुविहेसु लवणरससजुत्तेसु महुमसवहुप्पगारमज्जिय-निट्ठाणग-दालियव-सेहव-दुद्ध-दहि-सरय-मज्ज-वरवारुणी-सीहु-कावि-सायण-सायट्ठारसवहुप्पगारेसु भोयणेसु य मणुन्न-वन्नगधरसफास-वहुदव्वसभितेसु अन्नेसु य एवमादिएसु रसेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्व जाव न सइ च मतिं च तत्थ कुज्जा। पुणरवि जिब्भिदिएण सायिय रसाति अमणुन्नपावगाइ, किं ते ? अरस-विरस-[illegible]िय-लुक्ख-णिज्जप्पपाणभोयणाइ दोसीणवावन्न-कुहिय-पूइय-अमणुन्न-विणट्ठ-पसूय-वहुदुब्भिगधियाइ तित्तकडुयकसाय-अविलरस लिंडनीरसाइ, अन्नेसु य एवमातिएसु रसेसु अमणुन्नपावएसु न तेसु समणेण रूसियव्वं जाव चरेज्ज धम ॥ ४ ॥

पचमग पुण फासिदिएण फासिय फासाइ मणुन्न-भद्दकाइं किं ते ? दग-मंडव-हीर-सेयचदण सीयलविमलजल विविहकुसुम-सत्थर-ओसीर-मुत्तिय - मुणाल - दोसिणा - पेहुण - उक्खेवग-तालियट-वीयणगजणिय-सुहसीयले य पवणे गिम्हकाले सुहफासाणि य वहूणि सयणाणि आसणाणि य पाउरणगुणे य सिसिर-

[1] इसके वदले कही कही 'पिहियघाणिंदिय' पा० मिलता है।

—सपादक

काले अगार-पतावणा य आयवनिद्धमउय-सीय-उसिणलहुया य जे उउसुहफासा अगसुहनिव्वुइकरा ते, अन्नेसु य एवमादिएसु फासेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं, न रज्जियव्व, न गिज्झियव्व, न मुज्झियव्व, न विणिग्घाय आवज्जियव्व, न लुभियव्व, न अज्झोववज्जियव्वं, न तूसियव्व, न हसियव्व, न सतिं च मतिं च तत्थ कुज्जा। पुणरवि फासिदिएण फासिय फासातिं अमणुन्न-पावकाइं, किं ते? अणेगवध-बध-तालणकण-अतिभारारोवण-अंगभजण-सूतीनखप्पवेस - गायपच्छणण-लक्खारस-खारतेल्लकल-कलत-तउअ-सीसक-काललोहसिंचण-हडि-बधण-रज्जुनिगल-सकल-हत्थडुय-कुंभिपाकदहण-सीहपुच्छण-उब्बधण-सूलभेय-गय-चलण मल-ण-करचरणकन्ननासोट्ठसीसछेयण-जिब्भच्छेयण-वसणनयणहिययदत-भजण-जोत्तलयकसप्पहार-पादपण्हि-जाणुपत्थरनिवायपीलण- कवि-कच्छु-अगणि-विच्छुयडक्क-वायातवदसमसकनिवाते दुट्ठणिसज्ज-दुन्निसीहिया-दुब्भि-कक्खड गुरुसीयउसिणलुक्खेसु बहुविहेसु अन्नेसु य एवमाइएसु फासेसु अमणुन्नपावकेसु न तेसु समणेण रूसियव्व, न हीलियव्व, न निंदियव्व, न गरहियव्व, न खिसियव्व, न छिंदियव्व, न भिंदियव्व, न वहेयव्व, न दुगुछा-वत्तिया य लब्भा उप्पाएउ, एव फासिदियभावणाभावितो भवति अतरप्पा मणुन्नामणुन्नसुब्भिदुब्भिराग-दोसपणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते सवुडेण पणिहितिदिए चरेज्ज धम्म ॥ ५ ॥

एवमिण सवरस्स दार सम्म सवरिय होइ सुप्पणिहिय इमेहिं पचहिं वि कारणेहिं, मणवयकायपरिरक्खिएहिं निच्च आमरणत च एस जोगो नेयव्वो धितिमया मतिमया अणासवो, अकलुसो, अच्छिद्दो, अपरिस्सावी, असकिलिट्ठो, सुद्धो, सव्व-

जिणमणुन्नातो। एव पचम सवरदार फासिय पालिय सोहिय तीरिय किट्टिय अणुपालिय आणाए आराहिय भवनि। एव नायमुणिणा भगवया पन्नवियं, परुविय पसिद्ध सिद्ध सिद्धवर-सासणमिण आघविय, सुदेसिय पसत्थ पचम सवरदार समत्त ति वेमि।

[1]एयाइ वयाइ पचवि सुव्वयमहव्वयाइ हेउसयविचित्त-पुक्खलाइ कहियाइ अरहतसासणे पंच समासेण सवरा वित्थरेण उ पणवीसति समियसहियसवुडे सया जयण-घडण-सुविसुद्धदसणे एए अणुचरिय सजते चरमसरीरधरे भविस्सतीति॥ (सू० २९)

सस्कृतच्छाया

तस्येमा पचभावनाश्चरमस्य व्रतस्य भवन्ति परिग्रहविरमणपरि-रक्षणार्थं, प्रथम श्रोत्रेन्द्रियेण श्रुत्वा शब्दान् मनोज्ञभद्रकान्, के ते? वरमुरज-मृदग-पणव-दर्दु रक-कच्छभी-वीणा-विपची-वल्लकी-वद्धीसक - सुघोषा-नन्दी सूसर (सुस्वर) परिवादिनी-वश-तूणक-पर्वक-तन्त्री-तल-तालतूर्यनिर्घोष-गीत-वादितानि नट-नर्त्तक-जल्ल-मल्ल-मौष्टिक-विडम्बक कथक-प्लवक-लासकाख्यायक-लंख-मंख तूणइल्ल-तुम्बवीणिक-तालाचरप्रकरणानि च बहूनि मधुरस्वर-गीतसुस्वराणि वा काची-मेखला-कलाप-प्रतरक-प्रहेरक-पादजालक-घटिका-किंकिणी-रत्नोरुजालिका-क्षुद्रिका- नूपुर-चालनमालिका-कनकनिगलजालभूषणशब्दान्, लीलाचक्रम्यमाणोदीरितान् तरुणीजनहसित-भणित कलरिभितमजुलानि गुणवचनानि च बहूनि मधुर-जनभाषितानि

१ दूसरी वाचना मे इस प्रकार का पाठ मिलता है—

'एयाणि पचावि सुव्वयमहव्वयाणि, लोकधिइकराणि, सुयसागर-देसियाणि, सजमसीलव्वयसच्चज्जवमयाणि नरयतिरियदेवमणुय-गइविवज्जियाणि सव्वजिण-सासणाणि, कम्मरयवियारकाणि, भवसयविमोयगाणि, दुक्खसयविणासकाणि, सुक्ख-सयपवत्तयाणि, कापुरिसदुरुत्तराणि सप्पुरिसजणतीरियाणि निव्वाणगमणजाणाणि कहियाणि सग्गपवायकाणि पचावि महव्वयाणि कहियाणि।, —सम्पादक

अन्येषु चैवमादिकेषु शब्देषु मनोज्ञ-भद्रकेषु न तेषु श्रमणेन सक्तव्य, न रक्तव्य, न गर्द्धितव्य, न हसितव्य, न मोहितव्य, न विनिघातमापत्तव्य, न लोब्धव्य, न तोष्टव्य, न स्मृति च मति च तत्र कुर्यात्। पुनरपि श्रोत्रेन्द्रियेण श्रुत्वा शब्दान् अमनोज्ञपापकान्, के ते ? आक्रोश-परुष-खिसनाऽवमानन-तर्जन-निर्भर्त्सन-दीप्तवचन-त्रासनोत्कूजित - रुदित - रटित-क्रन्दित - निर्घुष्ट-रसित - करुण-विलपितानि अन्येषु चैवमादिकेषु शब्देषु अमनोज्ञपापकेषु न तेषु श्रमणेन रोषितव्य, न हीलितव्य, न निन्दितव्य, न खिसितव्य, न छेत्तव्य, न भेत्तव्य, न हन्तव्य, न जुगुप्सावृत्तिका लभ्योत्पादयितुम्। एव श्रोत्रेन्द्रिय-भावनाभावितो भवत्यन्तरात्मा मनोज्ञामनोज्ञ-शुभाशुभ-रागद्वेष - प्रणिहितात्मा साधुर्मनो-वचनकायगुप्त' सवृत. प्रणिहितेन्द्रियश्चरेद् धर्मम् ॥ १ ॥

द्वितीय चक्षुरिन्द्रियेण दृष्ट्वा रूपाणि मनोज्ञानि, भद्रकाणि सचित्ता-चित्तमिश्रकाणि काष्ठे च पुस्ते च चित्रकर्मणि लेप्य-कर्मणि शैले च दन्त-कर्मणि च पचभिर्वर्णैरनेकसस्थान-सस्थितानि ग्रन्थिमवेष्टिमपूरिमसघाति-मानि च माल्यानि बहुविधानि चाधिक नयनमन सुखकराणि वनषण्डान् पर्वता-श्च ग्रामाकरनगराणि च क्षुद्रिका-पुष्करिणी-वापी-दीर्घिका-गु जालिका-सर - सर पक्तिका-सागरबिलपक्तिका खातिका-नदी-सरस्तडागवप्रान् फुल्लोत्पल-पद्मपरिमडिताभिरामान् अनेकशकुनिगणमिथुनविरचितान् वरमडप विविधभवन-तोरण-चैत्य-देवकुल-सभा-प्रपाऽवसथ-सुकृतशयनासन-शिबिका - रथ-शकट-यान-युग्य-स्यन्दन - नरनारीगणान् च सौम्यप्रतिरूपदर्शनीयान् अलकृत-विभूषितान् पूर्वकृततपःप्रभावसौभाग्यसप्रयुक्तान् नट-नर्तक-जल्ल-मल्ल-मौष्टिक - बिडम्बक-कथक - प्लवक - लासकाख्यायकलखमखतूणइल्ल-तुम्ववीणिकतालाचरप्रकरणानि च बहूनि सुकरणानि अन्येषु चैवमादिकेषु रूपेषु मनोज्ञभद्रकेषु न तेषु श्रमणेन सक्तव्य, न रक्तव्य यावत् न स्मृति च मति च तत्र कुर्यात्। पुनरपि चक्षुरिन्द्रियेण दृष्ट्वा रूपाणि अमनोज्ञपापकानि, कानि तानि ? गण्डि-कुष्ठिक-कुणि-उदरि-कण्डूतिमत्-पदवत्-कुब्ज-पगुल-वामना-न्धैकचक्षुर्विनिहतसपिशाचक (सर्पिशल्यक) व्याधिरोगपोडित, विकृतानि च मृतककलेवराणि सकृमिकुथित च द्रव्यराशिम्, अन्येषु चैवमादिकेषु न तेषु श्रमणेन रोषितव्य यावन्न जुगुप्सावृत्तिकाऽपि लभ्योत्पादयितुम्, एव चक्षुरिन्द्रिय भावनाभावितो भवत्यन्तरात्मा यावच्चरेद् धर्मम् ॥ २ ॥

तृतीय घ्राणेन्द्रियेणाऽऽघ्राय गन्धान् मनोज्ञ-भद्रकान्, के ते ? जलज-स्थलज - सरस-पुष्प-फल- पानभोजन-कुष्ठ-तगर-पत्र-त्वग्दमनक-मरुदेलारस-पक्वमासी - गोशोर्षसरसचन्दनकर्पूरलवगागुरुकुकुमकक्कोलोशीरश्वेत-चन्दन-सुगन्धसारगयुक्तिवरधूपवासान् ऋतुजपिडिम-निर्हारिमगन्धेषु अन्येषु चैवमादिकेषु गन्धेषु मनोज्ञभद्रकेषु न तेषु श्रमणेन सक्तव्य यावत् न स्मृति च मति च तत्र कुर्यात्। पुनरपि घ्राणेन्द्रियेणाऽऽघ्राय गन्धान् अमनोज्ञ-पापकान्।के ते ?मृताहि-मृताश्व-मृतहस्ति-मृतगोवृकशुनकशृगालमनुजमार्जार-सिह-द्वीपिक मृत-कुथित-विनष्टकृमिवद् बहुदुरभिगन्धेषु अन्येष चैवमादिकेषु गन्धेषु अमनोज्ञपापकेषु न तेषु श्रमणेन रोषितव्य, न हीलितव्य यावत् प्रणिहितपचेन्द्रियश्चरेद धर्मम् ।। ३ ।।

चतुर्थं जिह्वेन्द्रियेणास्वाद्य रसास्तु मनोज्ञभद्रकान्, के ते ? अवगा-हिमविविधपान-भोजनगुडकृत-खडकृत-तैलघृतकृतभक्ष्येषु बहुविधेषु लवण-रससंयुक्तेषु मधुमासबहुप्रकारमज्जिका - निष्ठानक-दालिकाम्ल - सैन्धाम्ल-दुग्धदधिसरकमद्यवरवारुणीसीधुकापिशायनशाकाष्टदशप्रवहुकारेषु भोजनेषु च मनोज्ञवर्णगन्धरसस्पर्शबहुद्रव्यसभृतेषु रसेषु अन्येषु चैवमादिकेषु रसेषु मनोज्ञभद्रकेषु न तेषु श्रमणेन सक्तव्य यावत् न स्मृति च मति च तत्र कुर्यात् । पुनरपि जिह्वेन्द्रियेणास्वाद्य रसान् अमनोज्ञपापकान्, के ते ? अरसविरस-शीतरुक्षनिर्याप्यपानभोजनानि दोषान्न-व्यापन्न-कुथित-पूतिकाऽ-मनोज्ञविनष्टप्रसूतबहुदुरभिगन्धिकानि तिक्तकटुककषायाम्लरसलिन्द्र-नीरसानि, अन्येषु चैवमादिकेषु रसेष्वमनोज्ञपापकेषु न तेषु श्रमणेन रोषितव्यं यावत् चरेद् धर्मम् ।। ४ ।।

पचम स्पर्शेन्द्रियेण स्पृष्ट्वा मनोज्ञभद्रकान्, के ते ? दक-मडप-हीर-श्वेतचन्दन - शीतलविमलजलविविधकुसुमस्रस्तरोशीर - मौक्तिक - मृणाल-चन्द्रिका-पेहुण (मयूराग) उत्क्षेपकतालवृन्तवीजनकजनितसुखशीतलाश्च पवनान् ग्रीष्मकाले सुखस्पृशानि च बहूनि शयनान्यासनानि च प्रावरण-गुणाश्च, शिशिरकाले अगारप्रतापनाश्चातपस्निग्धमृदुशीतोष्णलघुकाश्च ऋतुसुखस्पर्शा अगसुखनिर्वृतिकरास्तेऽन्येषु चैवमादिकेषु स्पर्शेषु मनोज्ञ-भद्रकेषु न तेषु श्रमणेन सक्तव्य, न रक्तव्य, न गर्द्धितव्य, न मोहितव्य, न विनिर्घात आपत्तव्य, न लोब्धव्य - नाध्यात्मोपपत्तव्य, न तोष्टव्य, न

हसितव्य, न स्मृतिं च मतिं च तत्र कुर्यात् । पुनरपि स्पर्शनेन्द्रियेण स्पृष्ट्वा स्पर्शान् अमनोज्ञपापकान्, के ते ? अनेकवधबन्धताडनाऽङ्कनाऽतिभारारोपणाऽङ्गभजननखसूचीप्रवेश - गात्रप्रक्षरण - लाक्षारस- क्षार-तैल-कलकल-त्रपुषसीसक-काललोह - सेचन - हडीबधन - रज्जुनिगडश्रृङ्खला(संकलना) - हस्ताडुक - कुम्भीपाकदहन - सिंहपुच्छनोद्बन्धन - शूलभेद- गजचरणमलन-करचरणकर्णनासोष्ठशीर्षच्छेदन-जिह्वाकर्षण-वृषणनयन-हृदयान्त्रदन्तभजन - यौक्त्रलताकषप्रहारपादपार्ष्णिजानुप्रस्तरनिपातपीडनकपिकच्छ्वग्नि - वृश्चिकदशवातातप-दशमशकनिपातान् दुष्टनिषद्या-दुर्निषीधिका - कर्कश-गुरुशीतोष्णरुक्षेषु बहुविधेष्वन्येषु चैवमादिकेषु स्पर्शेषु अमनोज्ञपापकेषु न तेषु श्रमणेन रोषितव्य, न हीलितव्य, न निन्दितव्य, न गर्हितव्य, न खिसितव्य, न छेत्तव्य, न भेत्तव्य,न हन्तव्य, न जुगुप्सावृत्तिका च लभ्योत्पादयितुम् ।

एव स्पर्शनेन्द्रियभावनाभावितो भवत्यन्तरात्मा मनोज्ञामनोज्ञ-शुभाशुभ-रागद्वेषप्रणिहितात्मा साधुर्मनोवचनकायगुप्त सवृतः प्रणिहिते-न्द्रियश्चरेद् धर्मम् ॥ ५ ॥

एवमिद सवरस्य द्वार सम्यक् सवृत भवति सुप्रणिहितमेभिः पच-भिरपि कारणैर्मनोवच· कायपरिरक्षितैर्नित्यमामरणान्त चैष योगो नेतव्यो धृतिमता मतिमताऽनाश्रवोऽकलुषोऽच्छिद्रोऽपरिस्रावी असक्लिष्ट शुद्धः सर्वजिनानुज्ञात· ।

एव पचम सवरद्वार स्पृष्ट पालित शोधित तीरित कीर्तितमनुपालि-तमाज्ञयाऽऽराधित भवति। एव ज्ञातमुनिना भगवता प्रज्ञापित, प्ररूपितं, प्रसिद्ध सिद्ध सिद्धवरशासनमिदमाख्यात सुदेशित प्रशस्त पचम सवरद्वार समाप्त-मिति ब्रवीमि ।

एतानि व्रतानि पचापि सुव्रत - महाव्रतानि हेतुशत - विविक्त-पुष्कलानि कथितानि अर्हच्छासने पच समासेन सवरा विस्तरेण तु पचविं-शति समितसहितसवृत सदा यतनघटनसुविशुद्धदर्शनः एताननुचर्य सयत-श्चरमशरीरधरो भविष्यतीति ॥ (सू० २९)

पदान्वयार्थ—(तस्स) उस पूर्वोक्त (चरिमस्स वयस्स) अन्तिम परिग्रहत्याग-रूप व्रत-अपरिग्रहसवरद्वार की (पच भावणाओ) पाच भावनाएँ (परिग्गहवेरमण-परिरक्खणट्ठयाए) परिग्रहत्यागरूप अपरिग्रहमहाव्रत की सुरक्षा के लिए (होंति) हैं। (पढम) प्रथम भावनावस्तु इस प्रकार है—(सोइदिएण) कर्णेन्द्रिय से (मणुन्नभद्दगाइ)

मनोज्ञ और अच्छे कर्णप्रिय (सद्दाइ) शब्द (सोच्चा) सुन कर उनमे रागादि नहीं करना चाहिये । (किं ते ?) वे शब्द कौन-से हैं ? (वरमुरय-मुइ ग-पणव दद्दुर-कच्छभि-वीणा-विपची-वल्लयि-वद्धीसक-सुघोस-नदि-सूसर-परवादिणि-वस-तूणक-पव्वक-तती-तल-ताल-तुडिय-निग्घोस-गीयवाइयाइ) वडा मृदग, छोटा मृदग-पखावज, छोटा ढोलक, चमडे से मढे हुए मुख वाला कलश, वद्धीसक नामक वाजा, वीणा विपची और वल्लकी नाम की वीणा, सुघोषा नामक घटा, वारह वाजो का निनाद, वीणा-विशेष, करताल, कासे का ताल, इन सव वाजो की ध्वनि तथा गीत और सामान्य वाजे सुनकर (य) तथा (नड-नट्टक-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिक-वेलवक-कहक-पवक-लासक-आइक्खग-लख-मख-तूणइल्ल-तालायरपकरणाणि य वहूणि महुरसरगीतसुस्सराइ) नट, नर्त्तक-नाचने वाले, वाजा वजाने वाले, पहलवान, मुक्केवाज-मुष्टि युद्ध करने वाले, भाड-विदूषक, कथाकार, तैराक, रासलीला करने वाले, शुभाशुभ फल वतानेवाले, वास पर चढ कर खेल दिखाने वाले, चित्रपट दिखाने वाले, तूण (तुनतुनी) वजाने वाले, तु वी की वीणा वजाने वाले, ताल-मजीरे वजानेवाले, व्यक्तियो की विविध क्रियाओ तथा अनेक मधुर स्वर मे गायन गाने वालो के गीतो के मनोज्ञ स्वर तथा (कची-मेहला-कलाव-पत्तरक-पहेरक-पायजालग-घटिय-खिखिणि-रयणोरुजालिय - छुद्दिय-नेउर-चलण-मालिय-कणगनियल-जालभूसणसद्दाणि) काची-करधनी और मेखला-कटिआभषण, गले का आभूपण-ग्रैवेयक या हसली, प्रतरक तथा पहेरक नामक गहने, झाझर-पैरो का आभूषण, घु घरू, छोटी घु घरियाँ, जाघो मे पहनने का रत्नो का आभूषण, लघु किकणी, नेउर, चरणमालिका, सोने के लगर, जाल नामक आभूपणविशेष, इन सभी आभूषणो के शब्द, (लीलाचकम्ममाणाण) लीलापूर्वक मस्त चाल से चलती हुई कामिनियो के (उदीरियाइ) मुंह से निकली हुई ध्वनि(तरुणीजण-हसिय-भणिय-कल-रीभित-मजुलाइ) युवतियो की परस्पर हसीमजाक, आपस मे वार्तालाप की मधुर गु जित ध्वनि, तथा रतिक्रीडा की आवाज (य) और (गुणवयणाणि) स्तुतिभरे वचन (व) अथवा (वहूणि महुरजणभासियाइ) बहुत-से मधुर लोगो द्वारा निकाले गए इष्ट उद्गार (य) और (अन्नेसु एवमादिएसु मणुन्नभद्दएसु तेसु सद्देसु) और भी इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ एव प्रिय उन-उन शब्दो मे (सजएण न सज्जियव्व) सयमी को आसक्ति नहीं करनी चाहिए (न रज्जियव्व) राग नहीं करना चाहिए, (न गिज्झियव्व) गृद्धि नहीं करनी चाहिए, (न मुज्झियव्व) मोह नहीं करना चाहिए, (न विनिग्घाय आवज्जियव्व) और न ही उन पर फिदा होकर उनके लिए अपने को या दूसरे को न्योछावर करना चाहिए (न लुभियव्व) न उनके पाने के लिए ललचाना चाहिए, (न तुसियव्व) न उनके प्राप्त होने पर प्रसन्नता व्यक्त करनी चाहिए, न खुशी के मारे उछलना चाहिए, (न हसियव्व) न विस्मयपूर्वक हसना ही चाहिए (य) तथा (न सइ च मइ च

तत्थ कुज्जा) न उन मनोज्ञ शब्दो का स्मरण करना चाहिए और न उनमे बुद्धि ही लगानी चाहिए। (पुणरवि) प्रकारान्तर से और भी कहते हैं—(सोइंदिएण) श्रोत्रेन्द्रिय से (अमणुन्नपावकाइ सद्दाइ सोच्चा) अमनोज्ञ एव पापजनक-अशुभ शब्दो को सुन कर भी रोषादि नहीं करना चाहिये। (किं ते ? वे शब्द कौन-कौन-से हैं ? (अक्कोस फरुस-खिसण-अवमाणण-तज्जण-निब्भछण-दित्तवयण - तासण-उक्कूजिय-रुन्न-रडिय-कदिय - निग्घुट्ठ - रसिय - कलुण - विलवियाइ) आक्रोशवचन, कठोरवचन, निन्दाकारी वचन, अपमानभरे शब्द, डाट-फटकार, धिक्कार, कोपवचन, त्रासजनक बोल, अव्यक्त चिल्लपो की कर्कश आवाज, रोने, चिल्लाने, बडबडाने या सियार आदि के बोलने की आवाज, करुणस्वर, आर्त्तस्वर और विलाप करने का शब्द, (य) तथा (अन्नेसु एवमादिएसु अमणुण्णपावएसु तेसु सद्देसु) ये और इस प्रकार के अमनोज्ञ एव अशुभ उन-उन शब्दो पर (समणेण) साधु को (न रूसियव्व) रोष नहीं करना चाहिए, (न हीलियव्व) कहने वाले की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए, (न निंदियव्व) न लोगो मे उसकी निन्दा ही करनी चाहिए, (न खिसियव्व) न उस पर खीजना चाहिए, न जनता के सामने उसे 'नालायक' आदि अपशब्द कहने चाहिए, (न छिंदियव्व) न उस वस्तु या व्यक्ति को तोडना-फोडना चाहिए, न वृत्तिच्छेद ही कराना चाहिए (न भिंदियव्व) न तो ऐसे भयावने या धमकी भरे वचनो से डरना चाहिए और न उसको डराना चाहिए, न हड्डी या मुंह तोडना चाहिए, (न वहेयव्व) न उसे मारना-पीटना चाहिए, (न दुगुछावत्तिया उप्पाएउ लब्भा) ऐसे वचन बोलने वाले के प्रति लोगो मे इशारे आदि करके जुगप्सा-घृणावृत्ति-नफरत पैदा करना भी ठीक नहीं है। (एव) उक्त प्रकार से (सोतिंदियभावणाभावितो अतरप्पा) श्रोत्रेन्द्रियभावना से साधु का अन्तरात्मा सस्कारित-वासित (भवति) हो जाता है और तब (मणुन्नामणुन्नसुब्भिदुब्भिरागदोसप्पणिहियप्पा) मनोज्ञ और अमनोज्ञ, शुभ और अशुभ शब्दो मे क्रमश राग और द्वेष के सवरण को प्राप्त (साहू) साधु (मणवयणकायगुत्ते) मन, वचन और काया का गोपन करने वाला (सवुडे) सवरयुक्त और (पणिहितेंदिए) सयम के विषय मे इन्द्रियो को निश्चल रखता हुआ अथवा (पिहितेंदिए) इन्द्रियो को विषयो मे दौडने से रोक कर रखता हुआ (धम्म चरेज्ज) सवरधर्म का आचरण करता है।

(वितिय) द्वितीय भावनावस्तु इस प्रकार है—(चक्खिदिएण) नेत्रेन्द्रिय द्वारा (कट्ठे) काष्ठ सम्बन्धी पुतली आदि (य) (पोत्थे) पुस्तकसम्बन्धी या वस्त्रसम्बन्धी,

को देख कर (य) और (एवमादिएसु अन्नेसु मणुन्नभद्दएसु तेसु रू॰ प्रकार के अन्य चक्षुग्राह्य, मनपसन्द एव सुहावने सलौने उन-उन प्र दृश्यमान वस्तुओ मे, (समणेण) सयमी साधु को (न सज्जियव्व, होना चाहिए, (न रज्जियव्व) राग नहीं करना चाहिए (जाव) १ तरह गृद्धि, मोह, लोभ, हास्य, न्योछावर या प्रसन्नता आदि नही (तत्थ य) और उनको (न सइ च मइ च कुज्जा) न तो याद ही कर॰ न उनमे बुद्धि लगानी चाहिए। (पुणरवि) और दूसरी तरह से (चक्खि इन्द्रिय से (अमणुन्नपावकाइ रूवाइ) अमनोज्ञ एव पापजन्य अशुभ- को (पासिय) देख कर द्वेषादि नहीं करना चाहिए। (किं ते ?) वे रूप हैं ? (गडि-कोढिक--कुणि-उदरि-कच्छुल्ल-पइल्ल-कुज्ज-पगुल--वामण-अधिल्ल विणिहय-सप्पिसल्लग-वाहिरोगपीलिय) गडमाला के रोगी, कोढी, लू जलोदर के रोगी, खुजली के रोगी, हाथीपगा या कठिन पैर वाले, कुब॰ अपाहिज, बौने, अन्धे, काने, जन्मान्ध, भूत या पिशाच से ग्रस्त, अथवा चलने वाले अथवा कमर झुका कर लाठी लिये चलने वाले, विशेष पी॰ स्थायी बीमारी से अथवा तत्काल मिट जाने वाले रोग से पीडित (य) तथा मयककलेवराणि) भोडे भद्दे विकृत—बिगडे हुये मुर्दो की लाशो को (सकिमिणकुहिय) कीडो से भरे हुए, सडे हुये (दव्वरासिं) पदार्थों के ढेर व (य) तथा (एवमादिएसु अन्नेसु तेसु अमणुन्नपावकेसु) इसी प्रकार के अन्य प्रसिद्ध अमनोज्ञ, पापकर्मजनित अशोभनीय बुरे रूपो मे (समणेण) अपरि को (न रूसियव्व) रोष नहीं करना चाहिये। (जाव) यावत् अवहेलना, निन्दा, फटकार, धिक्कार, मारपीट, उस वस्तु को तोडना फोडना आदि चाहिये। (दुगुछावत्तिया वि) उनके प्रति घृणा या जुगुप्सा का बर्ताव भी उत्पन्न करना (न लब्भा) उचित नहीं है। (एव) इस प्रकार (चक्खिदि भावितो) चक्षुरिन्द्रियभावना से सस्कारित (अतरप्पा) अन्तरात्मा साधु होता है, (जाव) यावत् वह स्वपरकल्याणसाधक साधु मनोज्ञ-अमनोज्ञ वस्तुओ या दृश्यो को देख कर राग और द्वेष को आने से रोक लेता है मन, वचन एव शरीर को उन-उन दृश्यो से होने वाले रागद्वेषादि से बचा है, वही सुस्थितेन्द्रिय अपरिग्रही साधक (चरिज्ज धम्म) धर्म का यथ आचरण करता है।

(ततिय) तीसरी भावनावस्तु इस प्रकार है—(घाणिदिएण) घ्राणेन्द्रिय-नाक से (मणुन्नभद्दगाइ) सू घने योग्य मनोज्ञ और घ्राणप्रिय (गधाइ) गन्धों को (अग्घाइय) सू घ कर रागादि न करे। (कि ते) वे गन्ध कौन-कौन-से है ? (जलय-थलय-सरस-पुप्फ-फल-पाण-भोयण-कुट्ठ-तगर-पत्त चोय-दमणक-मरुय-एलारस-पक्क मसि-गोसीस-सरसचदण-कप्पूर-लवग - अगर-कु कुम-कक्कोल - उसीर-सेयचदण-सुगध-सारग-जुत्ति वरधूववासे, जलजन्य, स्थलजन्य सरस फूल, फल, पान-पेयद्रव्य, भोजन, सुगन्धित कमलकुष्ठ नामक पदार्थ, तगर, तमालपत्र या अन्य कोई सर्वसुगन्धित द्रव्यविशेष, सुगन्धित छाल, दमनक नामक फूल, मरुए का फूल, इलायची का रस, जटामाँसी गोशीष नामक सरस चन्दन, कपूर, लौंग, अगर, केसर, कक्कोल नामक खुशबूदार फल, खसखस, सफेद चन्दन, सुगन्धित कमल आदि पदार्थों के सयोग से बनी हुई श्रेष्ठ धूप की सुवास को सू घ कर (तेसु) उनमे (य) तथा (उउय-पिंडिम-णिहारिमगधिएसु) विभिन्न ऋतुओ मे उत्पन्न होने वाले कालोचित, बहुत-सी इकट्ठी सुगन्ध वाले एव बहुत दूर तक फैलने वाली घनी सुगन्ध से युक्त द्रव्यो (य) तथा (अन्नेसु एवमादिएसु मणुन्नभद्दएसु तेसु गधेसु) इसी प्रकार की मनोहर नासिकाप्रिय उन-उन सुगन्धो के विषय मे (समणेण) अपरिग्रही श्रमण को (न सज्जियव्वा) आसक्ति नहीं करनी चाहिए, (जाव) यावत् उनके बारे मे राग, मोह, लोभ, गृद्धि, हास्य, प्रसन्नता, न्यौछावर आदि करना योग्य नहीं है। (न सइ च मइ च तत्थ कुज्जा) न उनके सम्बन्ध मे बार-बार स्मरण करना चाहिए और न ही उनमे बुद्धि लगानी चाहिए। (पुणरवि) और तरह से भी (घाणिदिएण) घ्राणेन्द्रिय-नासिका से (अमणुन्नपावकाइ) अमनोज्ञ-मन के प्रतिकूल एव पापजनित अशुभ-बुरे (गधाणि) गन्धो को (अग्घातिय) सू घ कर रोष आदि न करे। (किंते) ? वे दुर्गन्ध कौन-कौन-से हैं ? (अहिमड-अस्समड-हत्थिमड-गोमड-विग - सुणग - मणुय-मज्जार-सीयाल - दीविय-मयकुहियविणट्ठकिविणबहुदुरभिगधेसु) मरे हुए साप, मृत घोडे, मृत हाथी, मृत गाय, तथा भेडिया, कुत्ता, मनुष्य, बिल्ली, सियार, सिंह एव चीता आदि के मरे हुए सडे-गले शवो की, कीडो से कुलबुलाते हुए बहुत दूर-दूर तक बदबू फैलाने वाले दुर्गन्धो मे (य) तथा (एवमादिएसु अन्नेसु अमणुन्नपावएसु तेसु गधेसु) इस प्रकार के और भी अमनोज्ञ एव पापजनित अशुभ उन-उन दुर्गन्धो के विषय मे (समणेण) अपरिग्रही साधु को (न रूसियव्व) रोष नहीं करना चाहिए (न हीलियव्व) न नाक-भौं सिकोडना या बन्द करना चाहिए, (जाव) यावत् उपेक्षा, निन्दा, तिरस्कार, तोड-फोड, मारपीट, घृणा-

नफरत आदि नही करना चाहिए। इस प्रकार की घ्राणेन्द्रियभावना से भावित अन्तरात्मा साधु मन के अनुकूल या प्रतिकूल शुभ या अशुभ गध के मिलने पर राग और द्वेष को तुरन्त रोक लेता है, अपने मन, वचन और शरीर को उनके जाल में फसने बचाता है। इस प्रकार सवरयुक्त साधु (पणिहितिंदिए) अपनी इन्द्रियो को सुस्थित करके (धम्म चरेज्ज) धर्म का शुद्ध आचरण करता है।

(चउत्थ) चौथी भावनावस्तु इस प्रकार है (जिब्भिदिएण) रसनेन्द्रिय के द्वारा (मणुन्नभद्दकाइ) मनोहर एव जिह्वा को प्रिय (रसाणि उ) रसो को (साइय) स्वाद ले कर–चख कर उनमे आसक्ति आदि नहीं करना चाहिये। (किं ते?) वे रस कौन-कौन से है? (उग्गाहिम-विविहपाण-भोयण-गुलकय-खडकय-तेल्लघयकय-भक्खेसु) रसपूण पक्वान्न, विविध पेय पदार्थ, भोजन तथा गुड, शक्कर, तेल और घी से बनाए हुए भोज्य पदार्थ (य) तथा (बहुविहेसु) अनेक प्रकार के (लवणरस-सजुत्तेसु) लवण-रसो—मिर्चमसालो से सस्कारित (महुमस-बहुप्पगार-मज्जिय-निट्ठाणग-दालियव-सेहव-दुद्ध-दहि-सरय-मज्ज-वरवारुणी-सीहु-काविसायण-सायट्ठारस-बहुप्पगारेसु) मधु, मास, अनेक प्रकार की मज्जिका, बहुत मूल्य से बनाया हुआ भोजन द्रव्य, खटाई, मिर्च, जीरे आदि से छोकी हुई स्वादिष्ट दाल, सेंधानमक, खटाई आदि डाल कर बनाया अचार-अथाणा, दूध, दही, गुड तथा धातकीपुष्प आदि से बना हुआ सरक नामक पेयपदार्थ, जौ आदि के आटे से बना हुआ मद्य, गुड तथा महुए आदि से बनी हुई वारुणी मदिरा, सीधु और कापिशायन नामक मद्यविशेष, तथा १८ प्रकार के साग तथा अनेक प्रकार के (मणुन्नवन्नगधरस-फास बहुदव्वसभितेसु तेसु भोयणेसु) मनोज्ञ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से निष्पन्न एव बहुत से द्रव्यो से उपस्कृत उन-उन भोज्य पदार्थो मे (य) और (एवमादिएसु अन्नेसु मणुन्नभद्दएसु रसेसु) इस प्रकार के मनोज्ञ और रसनेन्द्रिय प्रिय रसो—स्वादिष्ट पदार्थो मे (समणेण) अपरिग्रही श्रमण को (न सज्जियव्व) आसक्त नहीं होना चाहिए, (जाव) यावत् उनमे राग, मोह, लोभ, गृद्धि, लोलुपता एव उनपर फिदा होकर अपने को न्योछावर न करना चाहिए, न प्रसन्नता प्रगट करनी चाहिए। (न सइ च मइ च तत्थ कुज्जा) और न उनकी याद करनी चाहिए, न उनमे बुद्धि लगानी चाहिए। (पुणरवि) फिर दूसरी तरह से भी (जिब्भिदिएण) जिह्वेन्द्रिय के द्वारा (अमणुन्नपावगाइ) अमनोज्ञ एव पापजनित अशुभ (रसाइ) रसो को (साियि) चख कर रोष आदि नहीं करना चाहिए। (किं ते?) वे विपरीत रस कौन-कौन से है?

(अरस-विरस-सीय-लुक्खणिज्जप्पपाणभोयणाइं) रसहीन, चलित रस वाले या विकृत,ठडे,रूखे,बासी,सत्त्वहीन(अपोषक)पेय पदार्थ ओर भोजन (दोसीणवावन्नकुहिय-पूइय अमणुन्नविणट्ठ-पसूयवहुदुब्भिगधाइ) रातबासी, रग बदला हुआ, सडी हुई बदबू वाला, दुर्गन्धयुक्त, अमनोज्ञ, विनष्ट, काई तथा फूलन से युक्त, अतएव अत्यन्त बदबूदार (तित्तकडुयकसायअविलरसलिडनीरसाइ) तीखे, कडवे, कसैले, खट्टे, शैवाल अर्थात्—काई के सहित गन्दे जल के समान सडे हुए जो दुर्गन्धमय एव नीरस पदार्थ हैं, (तेसु) उनमे तथा (एवमादिएसु अन्नेसु अमणुन्नपावकेसु रसेसु) इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ एव पापजन्य अशुभ रसो के सम्बन्ध मे (समणेण) अपरिग्रही श्रमण को (न रूसियव्व) रोष नहीं करना चाहिए, (जाव) यावत् उनमे द्वेष, निन्दा, घृणा, उपेक्षा, मारपीट, डाट-फटकार, तोडफोड या नफरत नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार जिह्वेन्द्रियभावना से सस्कारित साधु की अन्तरात्मा मनोज्ञ-अमनोज्ञ तथा शुभाशुभ रसो मे राग और द्वेष को रोक लेती है तथा वह अपरिग्रहयुक्त साधु मनवचनकाया का सगोपन करके सवृत और सुस्थितेन्द्रिय बन कर (धम्म चरेज्ज) चारित्रधर्म का आच-रण करता हे।

(पचमग पुण) इसके बाद पाचवीं भावनावस्तु इस प्रकार है—(फासि-दिएण) स्पर्शनेन्द्रिय से (मणुन्नभद्दकाइ) मनोज्ञ और स्पर्शनेन्द्रियप्रिय, सुहावने (फासाइ) स्पर्शो को (फासिय) स्पर्श करके रागादि नहीं करना चाहिए। (किं ते ?) वे स्पर्श कौन-कौन से हैं ? (दगमडवहीरसेयचदणसीयलविमलजलविविह - कुसुमसत्थर-ओसीर-मुत्तिय - मुणाल-दोसिणा - पेहुण-उक्खेवग - तालियटवीयणगजणियसुहसीयले) जिनमे जल के फव्वारे चलते रहते हैं, ऐसे मडप, झरने, हीरकहार, श्वेतचदन, ठडा स्वच्छ जल, विविध प्रकार के फूलो की शय्याएँ, खसखस, मोती, कमल की डडी, रात को छिटकने वाली चादनी तथा मोर की पाखो के चन्द्रक के पखो एव ताड के बनाये हुए पखो से उत्पन्न सुखद शीतल (पवणे) हवा (य) तथा (गिम्हकाले सुहफासाणि वहूणि सयणाणि) ग्रीष्मकाल मे सुखस्पर्श वाली बहुत-सी शय्याएँ (य) तथा (सिसिरकाले) शीतकाल मे (पाउरणगुणे) ठड मिटाने वाले गुणकारी ओढने के कपडे (य) तथा (अगार-पतावणा) अगारो से तापना—हाथ वगैरह सेकना, (य) तथा (आयवनिद्ध-मउय-सीयउसिणलहुया) सूरज की धूप, चिकने कोमल शीतल, गर्म और हलके (अगसुह-निव्वुइकरा) अगो को सुख और मन को शान्ति स्वस्थता देने वाले (य) तथा (जे उउसुहफासा) जो हेमन्त आदि ऋतु काल के अनुसार सुखद स्पर्श हैं (य)

और (एवमादिएसु अन्नेसु मणुन्नभद्दएसु तेसु फासेसु) ये तथा इसी प्रकार के दूसरे मनोहर एव स्पर्शनेन्द्रियप्रिय स्पर्शों मे (समणेण) परिग्रहत्यागी श्रमण को (न सज्जियव्व) आसक्ति नहीं करनी चाहिए, (न रज्जियव्व) अनुरक्त नहीं होना चाहिए, (न गिज्झियव्व) गृद्धि—मनोज्ञ के पाने की सतत लालसा भी नहीं करनी चाहिए, (न मुज्झियव्व) न मोह करना चाहिए, (न विणिग्घाय आवज्जियव्व) उन पर फिदा हो कर अपने आप को न्योछावर नहीं करना चाहिए या पतगे की तरह उस पर टूट नहीं पडना चाहिए, (न लुभियव्व) न ही लोभ करना चाहिए, (न अज्झोववज्जियव्व) बार-बार आकाक्षा करके आत्मा मे उसी बात को घोलते नहीं रहना चाहिए, (न तूसियव्व) न मनोज्ञवस्तु प्राप्त होने पर मन मे प्रसन्न होना चाहिए, (न हसियव्व) न ही हसना चाहिए। न तत्थ सति च मति च कुज्जा) न उनका बार-बार स्मरण तथा मनन करना चाहिए। (पुणरवि) पुनश्च (फासिदिएण) स्पर्शनेन्द्रिय से (अमणुन्न पावकाइ) अमनोज्ञ—अरुचिकर एव पापजनित अशुभ (फासाइ) स्पर्शों को (फासिय) स्पर्श करके क्रोधादि नहीं करना चाहिए। (किं ते ?) वे अमनोज्ञ स्पर्श कौन-कौन-से हैं ? (अणेगवधबधतालणकण-अतिभारारोपण-अगभजण-सुईनखप्पवेस-गायपच्छणण-लक्खारस-खारतेल्ल - कलकलत—तउसीसककाललोहसिंचण-हडिबधण-रज्जुनिगल-सकल-हत्थडुय-कु भीपाक-दहण-सीहपुच्छण-उब्बधण-सूलभेय- गयचलणमलण-करचरणकन्ननासोट्ठसीसछेयण-जिब्भछेयण-वसण-नयण हियय-दतभजण-जोत्तलयकसप्पहार पादपण्हि-जाणु-पत्थरनिवाय-पीलण-कविकच्छु अगणि- विच्छुयडक्क-वायातवदसमसकनिवाते) अनेक प्रकार के रस्सी आदि के बन्धन, वध-लाठी आदि से मारपीट, थप्पड, या मुक्के आदि मारना, तपी हुई गर्मागर्म लोहे की सलाई से शरीर पर डाभ देना—अकित कर देना, अत्यन्त बोझ लाद देना, अगभग करना, या अगो को मोडना, नखो मे सूइयाँ घुसेडना, शरीर मे छेद करना, गर्म लाख का रस, खार, तेल, तपे हुए सीसे व काले लोहे का सिंचन-सेक करना, खोडे मे डाल देना, रस्सी की बेडी से बाध देना, लोहे की जजीर तथा हथकडिया डालना, कडाही मे डाल कर पकाना, आग मे जलाना, सिंह की पूछ से बाध कर घसीटना, पेड आदि से उलटा बाध देना, शूली मे पिरो देना, हाथी के पैर के नीचे कुचलवा देना, हाथ, पैर, कान, नाक, ओठ और सिर का छेदन करना, जीभ खींच लेना, अडकोश, नेत्र, हृदय और दातो को तोडफोड कर निकलवाना, बेंत और चाबुक से पीटना, पैरो के पिछले भाग और घुटनो पर पत्थर गिराना, कोल्हू मे पीलना, कौंच की फली, अग्नि, बिच्छू का डक, हवा, गर्मी, डास

और मच्छरो के उपद्रव,इन सव दु खद स्पर्श एव(दुट्ठणिसज्ज-दुन्निसीहिया-दुब्भिकक्खड-गुरुसीयउसिणलुक्खेसु) वैठने की खराब जगह, कष्टकर स्वाध्यायभूमि-निषीधिका का स्पर्श तथा अत्यन्त कठोर, अत्यन्त वजनदार, अत्यन्त ठडा, वहुत ही गर्म, एकदम रूखा, (य) तथा (एवमादिएसु अन्नेसु अमणुन्नपावकेसु वहुविहेसु) इसी प्रकार के अनेक किस्म के अन्यान्य अमनोज्ञ तथा पापकर्मजन्य अशुभ उन-उन स्पर्शों के प्राप्त होने पर (समणेण) सयमी श्रमण को, (न रूसियव्व) उन पर या उनके किसी निमित्त पर क्रोध नहीं करना चाहिए, (न हीलियव्व) न तिरस्कार करना चाहिए, (न निंदियव्व) न वस्तु या उसके निमित्त रूप वने व्यक्ति की निन्दा ही करनी चाहिए, (न गरहियव्व) न लोगो के सामने उसके दोषो का भडा फोडना चाहिए, (न खिसियव्व) न खीजना-चिढना चाहिए, (न छिंदियव्व) उस वस्तु या तन्निमित्त व्यक्ति को तोडना-फोडना न चाहिए, (न भिंदियव्व) न उस वस्तु या व्यक्ति का भेदन करना चाहिए, (न वहेयव्व) न वध-मारपीट करना चाहिए, (च) और (न दुगुछावत्तिया उप्पाएउ लब्भा) उस वस्तु या व्यक्ति के प्रति घृणा, नफरत या जुगुप्सा की भावना पैदा करना भी उचित नहीं है। (एव) इस प्रकार (फासिंदियभावणाभावितो) स्पर्शेन्द्रिय भावना से (अतरप्पा) साधक की अन्तरात्मा सुसस्कृत (भवति) होती है। (मणुन्नामणुन्नसुब्भिदुब्भिरागदोसपणिहियप्पा) मनोज्ञ या अमनोज्ञ, शुभ या अशुभ स्पर्शो के प्राप्त होने पर राग और द्वेष को रोक कर आत्मा मे सुस्थित हो कर (साहू) स्वपरकल्याणसाधक साधु (मणवयकायगुत्ते) मन, वचन और काया को सगोपन करता हुआ, (सवुडे) सवरभावना से युक्त होकर (पणिहितेंदिए) इन्द्रियो को समाधिस्थ करके यानी विषयो से हटा कर निश्चल करके (धम्म चरेज्ज) शुद्धधर्म का आचरण करता है।

(एव) इस प्रकार (इण सवरस्स दार) यह अपरिग्रह नामक सवर का द्वार (इमेहिं पचहिं वि कारणेहिं) इन पाचो भावनारूप कारणो से (मणवयकाय-परिरक्खिएहिं) मन, वचन और काया को विविध परिग्रहो से वचा कर सुरक्षित रखने से (सम्म सुप्पणिहिय) साधक के सस्कारो मे अच्छी तरह जम जाता, निष्ठित हो जाता (होइ) है, (सवरिय) सवर से ओतप्रोत हो जाता है। (धितिमया) धैर्यवान् एव (मतिमया) वुद्धिमान साधक को (आमरणत) जीवन के अन्त तक (निच्च) प्रतिदिन (एस जोगो नेयव्वो) पाच भावनाओ के चिन्तनरूप यह प्रयोग करना चाहिए; जो (अणासवो) आश्रवरहित है, (अकलुसो) निर्मल है, (अच्छिद्दो) किसी दोष को घुसने के अवकाश से रहित, (अपरिस्सावी) पापस्रोतो से रहित, सकल गुणधारी होने से

(असकिलिट्ठो) सक्लेशकर परिणामो से रहित, (सुद्धो) शुद्ध, (सव्वजिणमणुन्नातो) समस्त तीर्थकरो द्वारा अनुज्ञात है माग्य है ।

(एव) पूर्वोक्त प्रकार से (पचम) पाचवा (सवरदार) परिग्रहविरमण-अपरिग्रह-रूप सवरद्वार (फासिय) शरीर से क्रियान्वित किया हुआ—अमल मे लाया हुआ, (पालिय) पालन किया हुआ, (सोहिय) अतिचार दूर करके शोधन किया गया, (तीरिय) अन्त तक पार लगाया हुआ, (किट्टिय) दूसरो को आदरपूर्वक बताया हुआ ही (आणाए आराहिय) भगवदाज्ञा या शास्त्राज्ञानुसार आराधित (भवति) होता है । एव) इस तरह से (नायमुणिणा भगवया) ज्ञातवश मे उत्पन्न श्री भगवान् महावीर द्वारा (पन्नविय) हितोपदेशरूप मे बताया गया, (परूविय) भव्यजनो के सामने अर्थत प्ररूपण किया गया (पसिद्ध) जगत मे प्रसिद्ध किया हुआ, (सिद्ध) नयो और प्रमाणो से सिद्ध (सिद्धवरसासण) सिद्धो की श्रेष्ठ आज्ञारूप है, (आघविय) मर्यादाओ की रक्षा के लिए कहा गया है, (सुदेसिय) भलीभाति उपदिष्ट है, (पसत्थ) प्रशस्त-मगलमय, (इण पचम सवरदार समत्त) यह पाचवा सवरद्वार समाप्त हुआ । (ति बेमि) इस प्रकार मै (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ ।

[1](सुव्वय !) हे सुव्रत ! (एयाइ) ये (पचवि) पाचो ही (महव्वयाइ) महाव्रत (हेउसयविवित्तपुक्खलाइ) सैकडो निर्दोष हेतुओ से विस्तीर्ण, (अरिहतसासणे) अरिहतप्रभु के शासन मे (समासेण) सक्षेप मे (कहियाइ) कहे गये हैं । (वित्थ-रेण उ) विस्तार से तो (पणवीसई) पच्चीस (सवरा) सवर बताए गए हैं । (समिय-

---

१—पाठान्तर का पदान्वयार्थ—(सुव्वय) हे सुव्रत ! (एयाणि पचावि महव्वयाणि) ये पाचो ही महाव्रत (लोकधिइकराणि) लोक को धारण करने वाले या जगत् को धैर्य बधाने वाले, (सुयसागरदेसियाणि आगमसागर मे उपदिष्ट है, (सजममीलवयसच्चज्जवमयाणि) सयम, शील, व्रत, सत्य और सरलता आदि गुणमय है, (नरयतिरियदेवमणुयगइविवज्जियाणि) शुद्धरूप से पालन करने पर नरक, तिर्यच, देव और मनुष्यगति से छुडाने वाले है, सव्वजिणसासणाणि) समस्त तीर्थकरो की आज्ञारूप है, (कम्मरयवियारकाणि) कर्मरज को मिटाने वाले है, (भवसयविमोयकाणि) सैकडो भवो से छुटकारा दिलाते है, (दुक्खविणासकाणि) सैकडो दुखो का नाश करने वाले है, (सुखसयवत्तयाणि) सैकडो सुखो के प्रवर्तक है, (कापुरिसदुरुत्तराणि) कायरो के लिए दुस्तर है, (सप्पुरिसजणतीरियाणि) सत्पुरुषो द्वारा पार लगाए हुए है । (निव्वाणगमणजाणाणि) निर्वाणगमन के लिए यानरूप है, (सग्गपयाणयकाणि) स्वर्ग मे पहुचाने वाले (कहियाणि) कहे है । सम्पादक

सहियसवुडे) ईर्या आदि समितियो से युक्त, ज्ञानदर्शनसहित और सवर से सम्पन्न (सया जयणघडणसुविसुद्धदसणे) प्राप्त सयमयोग की रक्षा तथा अप्राप्त सयमयोग की प्राप्ति के लिए सदा यतना-पूर्वक चेष्टा-प्रवृत्ति करने से निर्मल दर्शन-सम्यग्दृष्टि वाला (सजते) सयमी साधु (एए) उक्त सवरो का (अणुचरिय) पालन करके (चरमसरीरधरे) चरमशरीरी-इसी अन्तिम शरीर को धारण करने वाला (भविस्स-तीति) होगा। वाचनान्तर के अनुसार 'कार्मागशरीर का ग्रहण फिर नही करेगा' ऐसा अर्थ होता हे।

मूलार्थ—इस पूर्वोक्त परिग्रहत्यागरूप अन्तिम अपरिग्रह व्रत की पाच भावनाएँ होती ह, जो परिग्रह से विरति अथवा अपरिग्रहनिष्ठा की सर्वथा सुरक्षा के लिए होती है। प्रथम भावनावस्तु इस प्रकार हे—श्रोत्रेन्द्रिय से मनोज्ञ और कर्णप्रिय शब्दो को सुन कर उनमे रागादि नही करना चाहिए। वे मनोज्ञ शब्द कौन-कौन-से है? इसके उत्तर मे कहते ह बडा मृदग, छोटा मृदग-पखावज, छोटी ढोलक, चमडे से मढे हुए मुँह वाला कलश नामक वाजा, कच्छभी नामक वाजा, वीणा, विपची और वल्लकी (वीणा विशेप), वद्धीसक वाद्य, सुघोपा घटा, भेरी आदि १२ वाजो की ध्वनि, वीणाविशेप, वासुरी, तुनतुनी, पर्वक वाद्य, तत्री, करताल, कास्यताल, इन सब वाजो के शब्द, गीत तथा सामान्य बाजो को सुन कर तथा नट, नर्त्तक, वाजा बजाने वाले, पहल-वान, मुक्केबाज, भाड, कथाकार, तैराक, रास करने वाले, शुभाशुभ फल वताने वाले, वास पर चढ कर खेल दिखाने वाले, चित्रपट दिखाने वाले, तूण—(तुनतुनी) नामक बाजा वजाने वाले, तुम्बी की वीणा बजाने वाले, करताल, कास्यताल, मजीरे वजाने वाले व्यक्तियो के विविध करतबो, अनेक सुरीले स्वर मे गायको के गीतो के मधुर स्वर, काची और मेखला दोनो स्त्रियो के कमर के आभूपण, गले का आभूपण, प्रतरक व पहेरक नाम के गहने, झाझर या पायल, घुँघरू, घुँघरिया, जाघो पर पहनने का जालीदार रत्नजटित आभूपण, मुद्रिका, नेउर, चरणमालिका, सोने के लगर, इन सब आभूपणो की सामूहिक आवाज लीलापूर्वक(मस्तानी चाल से चलती हुई ललनाओ के उद्गार, तरुणियो मे परस्पर होने वाला हसी मजाक, मधुर स्वर मे वातचीत, मधुर कठ मे रतिस्वर घोल देने वाली मञ्जुल बोली तथा बहुत से प्रशसात्मक गुण-वचन, मधुर लोगो द्वारा किया गया कथन, इन तथा

दूसरे इसी प्रकार के मनोज्ञ और भद्रशब्दो को सुन कर उनमे श्रमण को आसक्त नही होना चाहिए, न उनमे अनुरक्त-रागयुक्त होना चाहिए, न गृद्धि करनी चाहिए, न मोह ही करना चाहिए, न हसना चाहिए, न उसके लिए अपनी आत्मा को न्योछावर करना चाहिए, न लोभ करना चाहिए, न मन मे प्रसन्न होना चाहिए और न ही उनका स्मरण तथा मनन करना उचित है। फिर दूसरी तरह से भी श्रोत्रेन्द्रिय से अमनोज्ञ तथा पापजन्य अशुभ शब्दो को सुन कर रोप-द्वेपादि नही करना चाहिए। वे कौन-कौन से अशुभ शब्द हे ? इसके उत्तर मे कहते हे आक्रोशवचन, कठोरवचन, निन्दात्मकवचन, अपमानवचन, डाटफटकार के वचन, धिक्कार के वचन, रूठने के वचन, भयजनक त्रासोत्पादक वचन, अस्पष्टरूप से बहुत बडा शोर, रोने-चिल्लाने की आवाज, इष्ट के वियोगादि से जन्य शोकवचन, गभीर नाद तथा करुणाजनक विलाप सुन कर तथा इसी प्रकार के अमनोज्ञ व पापजनित अशुभ शब्द कान मे पडने पर अपरिग्रही श्रमण को उन पर या उनके कहने वालो पर रोप नही करना चाहिए, न अवज्ञा ही करनी चाहिए, न निन्दा करनी चाहिए, न दूसरे लोगो के सामने उनकी बुराई करनी चाहिए, न बुरी आवाज करने वाले उन पदार्थों या व्यक्तियो के तोडफोड या छेदन-भेदन मे प्रवृत्त होना चाहिए, न मारपीट ही करनी चाहिए और न किसी के प्रति घृणा, नफरत या जुगुप्सा पैदा करना ही उचित है। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रियभावना से भावित साधु का अन्तरात्मा मनोज्ञ-अमनोज्ञ या शुभाशुभ शब्दो पर राग और द्वेप को सर्वथा रोक लेता है, वह मनवचन-काया का गोप्ता साधु ही सवर भाव से युक्त होकर इन्द्रियो पर नियत्रण करता हुआ चारित्रधर्म का पालन करता है।

दूसरी भावनावस्तु इस प्रकार है—नेत्रेन्द्रिय से काष्ठसम्बन्धी, पुस्तकसम्बन्धी या वस्त्रसम्बन्धी, चित्रसम्बन्धी, मिट्टीआदि के लेप कर्म से सम्बन्धित पुतली आदि, पत्थर से वनी हुई मूर्तिआदि सम्बन्धी, हाथीदात आदि से वनी हुई वस्तुसम्बन्धी, पाच रगो से युक्त रग-बिरगे, मनपसद एव आँखो को प्रिय सचित्त, अचित्त या मिश्र दृश्यमान वस्तु के रूप को देखकर तथा विभिन्न आकार वाले गूथ कर वनाए हुए, वेढ कर कसीदा निकाले हुए, पिरो कर तैयार कि हुए, जोड कर इकट्ठे किए हुए, नेत्र और मन को अत्यन्त सुख देने वाले वहुत से माल्य-मालाओ तथा वनखडो, पर्वतो, गावो, खानो नगरो, विकसित नीलकमलो तथा श्वेतकमलो से परिमडित, मनोहर तथा

जिसमे हस, सारस आदि अनेक प्रकार के पक्षियो के जोडे विचरण कर रहे हैं, ऐसे छोटे जलाशयो, कमल से सुशोभित गोल वावडियो, चोकोर वावडियो, लबी वावडियो, टेढीमेढी नहरो, एक सरोवर के वाद दूसरी सरोवर पक्ति, समुद्र, सोना, चादी आदि धातु को खानो के मार्गों, खाइयो, नदियो, प्राकृतिक झीलो, कृत्रिम तालावो तथा क्यारियो से सुशोभित वाग-वगीचो तथा सौम्य, सुन्दर एव दर्शनीय मुकुट आदि अलकारो तथा वस्त्रादि से विभूषित, पूर्वजन्मकृत तपस्या के प्रभाव से प्राप्त एव सौभाग्य से युक्त उत्तम मडप, विविध भवन, तोरण, चैत्य, देवालय, सभा, प्याऊ, मठ, सुरचित शय्या और आसन, रथ, गाडी, यान - टमटम, वाहनविशेष, स्यदन-रथविशेष तथा नरनारियो के झुड को देख कर तथा नट, नर्तक, वादक, पहलवान, मुक्केवाज, भाड-विदूषक, कथक, तैराक, रास करने वाले, शुभाशुभ फल वताने वाले, वास पर चढ कर तमाशा दिखाने वाले, चित्रपट दिखाने वाले, तूण नामक वाजा (तुनतुनिया) वजाने वाले, तुंवी की वीणा वजाने वाले, करताल-कास्यताल-मजीरे वजाने वाले व्यक्तियो के करतवो और उनकी कलावाजियो को देखकर तथा इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ एव सुहावन प्रसिद्ध रूप या सुन्दर वस्तुओ मे अपरिग्रही श्रमण को न राग करना चाहिए और न आसक्ति, लोभ, मोह या गृद्धि आदि करना चाहिए, यावत् उनका स्मरण और मनन भी नही करना चाहिए। प्रकारान्तर से फिर चक्षुरिन्द्रिय के अमनोज्ञ एव पापजनित अशुभ रूपो को देख कर रोपद्वेपादि न करना चाहिए। वे अशुभरूप कौन-कौन-से हैं ? इसके उत्तर मे कहते हैं—गडमाला के रोगी, कोढी, लूले, जलोदर रोग वाले, खुजली के रोग से पीडित, कठोर पैर या हाथीपगा के रोग वाले, कुवडे, लगडे-अपाहिज, पैरो से हीन, वौने, अधे, काने, जन्मान्ध, भूतपिशाच-ग्रस्त, अथवा पीठ झुका कर हाथ मे लकडी लेकर चलने वाले, अनेक चिरस्थायी व्याधियो तथा अल्पसमयसाध्य रोगो से पीडितो तथा मनुष्यो के विगडे हुए भौडे भद्दे चेहरो को तथा मुर्दों के विकृत कलेवरो व कीडो से भरे सडे हुए पदार्थों के ढेर को देख कर तथा इसी प्रकार के अन्यान्य प्रसिद्ध अमनोज्ञ एव पापज य अशुभ रूपो के दृष्टिगोचर होने पर साधु को न तो रोप करना चाहिए और न द्वेप, घृणा, निन्दा, अवज्ञा, तिरस्कार, छेदन-भेदन, मारपीट या जुगुप्सा करना ही योग्य है। इस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय-भावनाओ से युक्त साधु पहले बताए हुए की तरह इन्द्रियो एव मनवचन

चौथी भावनावस्तु इस प्रकार है—जिह्वेन्द्रिय (जीभ) से मनोज्ञ तथा जिह्वा को प्रिय रसों को चख कर उनमें आसक्ति आदि नहीं करना चाहिए। वे शुभरस कौन-कौन से हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि घी और चासनी में डुबो कर बनाए हुए विविध पानान्न, विविध पेय पदार्थ, भोज्य पदार्थ तथा गुड़, खांड, तेल और घी से बनाए हुए भोज्य पदार्थ एवं अनेक प्रकार के मिर्च मसाला लवणरसों से युक्त, तथा मधु, मांस, कई तरह की मज्जिका, बहुत कीमत से बना हुआ भोज्य पदार्थ, खटाई, मिर्च, जीरा आदि का छौंक दे कर बनाई हुई स्वादिष्ट दाल तथा खटाई, सैंधानमक आदि डाल कर बनाया हुआ अचार,—अवाणा, दूध, दही, गुड़ व धातकी पुष्प आदि से बना हुआ सरक नामक मद्य पदार्थ, जौ आदि के आटे से बना हुआ श्रेष्ठ मद्य, वारुणी, सीधु एवं कापिशायन नामक मदिराविशेष, अठारह प्रकार का शाक, अनेक प्रकार के मनोज्ञ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले बहुत-से द्रव्यों के मिश्रण से उपस्कृत-छौंक आदि दे कर संस्कारित करके बनाए हुए भोजनों में तथा ऐसे ही अन्य मनोज्ञ स्वादिष्ट रसों में साधु आसक्ति न करे। उनमें राग, मोह, गृद्धि, लोभ, खुशी तथा अपनी आत्मा को उन पर न्योछावर करना साधु के लिए उचित नहीं है। यावत् उनके बारे में स्मरण तथा मनन भी न करना चाहिए। फिर दूसरे पहलू को देखें—जिह्वेन्द्रिय (जीभ) से अमनोज्ञ और पापजन्य अशुभ रसों को चख कर रोष द्वेषादि न करे। अशुभ रस कौन कौन से हैं? इसके उत्तर में कहते हैं—रसहीन, चलितरस या बिगड़े रस से युक्त ठंडा, रूखा, निःसत्त्व पेय पदार्थ एवं भोज्यपदार्थ तथा रातबासी, विनष्ट वर्ण वाले, सड़े बदबूदार, मनके प्रतिकूल, कीड़ों की उत्पत्ति से युक्त, नीलन (काई) तथा फूलन से युक्त, विकृत-अवस्था-प्राप्त, अतएव बहुत ही दुर्गन्ध से भरे हुए, अत्यन्त तीखे, कड़वे, कसैले, खट्टे रस वाले एवं कई दिनों तक पड़े हुए शैवालयुक्त जल के समान दुर्गन्धमय तथा नीरस पदार्थों में तथा इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ एवं पापजन्य अशुभ रसों के विषय में निष्परिग्रही साधु को कोप, द्वेष आदि नहीं करना चाहिए। यावत् उन अमनोज्ञ रस वाले पदार्थों या पदार्थ लाने वालों पर अवज्ञा, द्वेष, निन्दा, तिरस्कार, धिक्कार, डांटफटकार, जुगुप्सा—घृणा या नफरत नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार जिह्वेन्द्रियभावना से ओतप्रोत साधु की

काया पर पूर्ण सयम रखने वाला सुस्थितेन्द्रिय हो कर चारित्र-धर्म का भली-भाति आचरण करता है।

तीसरी घ्राणेन्द्रियभावना इस प्रकार है—घ्राणेन्द्रिय से मनोज्ञ और घ्राणप्रिय गन्धो को सघ कर साधक रागादि न करे। वे मनोज्ञ गन्ध कौन-कौन से है ? इसके उत्तर मे कहते है—जल मे उत्पन्न हुए तथा स्थल मे उत्पन्न हुए सरस पुष्प, फल, पेयपदार्थ तथा भोजन, कमलकुष्ठ, तगर, सुगन्धित तमालपत्र, सुगन्धित छाल-दालचीनी आदि, दमनक नामक फूल, मरुए का फूल, इलायची का रस, जटामासी, गोशीर्प नामक सरस चन्दन, कपूर, लौंग, अगर, केसर, कक्कोल नामक सुगन्धित फल, खसखस,सफेद चन्दन, खुशबूदार पत्तो व अन्य सुगन्धित द्रव्यो के सयोग से बनी हुई धूप की सौरभ मे तथा अपनी-अपनी ऋतु मे पैदा हुए कालोचित अत्यन्त घनीभूत सुगन्ध से युक्त द्रव्यो तथा दूर-दूर तक खुशबू फैलाने वाले सुगन्धित पदार्थ से युक्त द्रव्यो मे तथा इसी प्रकार की मनोज्ञ एव घ्राणप्रिय अन्यान्य सुगन्धो के विपय मे अपरिग्रही साधु को आसक्ति नही करनी चाहिए, न उनके बारे मे राग, मोह, लोभ, गृद्धि, तथा अपने आपको न्योछावर ही करना उचित है। यावत् उनके बारे मे स्मरण और मनन भी न करे। पुनरपि इस प्रकार की भावना करे—घ्राणेन्द्रिय से अमनोज्ञ तथा पापजन्य अशुभ गन्धो को सूघ कर रोष-द्वेषादि नही करना चाहिए। वे अशुभ गन्ध कौन कौन-से है ? इसके उत्तर मे कहते है— मरे हुए साप, मृत घोडे, मरे हुए हाथी, मरे हुए गाय-बैल, भेडिये, कुत्ते, सियार, मनुष्य, विलाव, सिंह और चीते के सडेगले कृमि से भरे बहुत ही बदबूदार कलेवरो मे, पूर्वोक्त दुर्गन्धमय पदार्थों मे तथा इसी प्रकार के अमनोज्ञ एव पापजन्य अशुभ अन्यान्य दुर्गन्धो के विपय मे निष्परिग्रही श्रमण को क्रोध-द्वेपादि नही करना चाहिए। उन वस्तुओ के या दुर्गन्ध फैलाने वालो के प्रति अवज्ञा, घृणा, तिरस्कार, धिक्कार, डाटफटकार तथा जुगुप्सा-नफरत करना उचित नही है। इस प्रकार घ्राणेन्द्रियभावना से भावित साधु की अन्तरात्मा चिन्तनयुक्त प्रयोग से मनोज्ञ और अमनोज्ञ मे तथा शुभ और अशुभ मे राग-द्वेप को रोक लेती है, मन, वचन, काया को समेट कर सवरित कर लेती है और यावत् अपनी इन्द्रियो को अन्त मे सुस्थित करके वह चारित्रधर्म का आचरण करता है।

चौथी भावनावस्तु इस प्रकार है—जिह्वेन्द्रिय (जीभ) से मनोज्ञ तथा जिह्वा को प्रिय रसो को चख कर उनमे आसक्ति आदि नही करना चाहिए। वे शुभरस कौन-कौन-से हैं? इसके उत्तर मे कहते है कि घी और चासनी मे डुबो कर बनाए हुए विविध पक्वान्न, विविध पेय पदार्थ, भोज्य पदार्थ तथा गुड, खाड, तेल और घी से बनाए हुए भोज्य पदार्थ एव अनेकप्रकार के मिर्च-मसालो-लवणरसो से युक्त, तथा मधु, मास, कई तरह की मज्जिका, बहुत कीमत से बना हुआ भोज्य पदार्थ, खटाई, मिर्च, जीरा आदि का छौक दे कर बनाई हुई स्वादिष्ट दाल तथा खटाई, सैंधानमक आदि डाल कर बनाया हुआ अचार,—अथाणा, दूध, दही, गुड व धातकी पुष्प आदि से बना हुआ सरक नामक पेय पदार्थ, जौ आदि के आटे से बना हुआ श्रेष्ठ मद्य, वारुणी, सीधु एव कापिशायन नामक मदिराविशेष, अठारह प्रकार का शाक, अनेक प्रकार के मनोज्ञ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले बहुत-से द्रव्यो के मिश्रण से उपस्कृत-छौक आदि दे कर सस्कारित करके बनाए हुए भोजनो मे तथा ऐसे ही अन्य मनोज्ञ स्वादिष्ट रसो मे साधु आसक्ति न करे। उनमे राग, मोह, गृद्धि, लोभ, खुशी तथा अपनी आत्मा को उन पर न्योछावर करना साधु के लिए उचित नही है। यावत् उनके बारे मे स्मरण तथा मनन भी न करना चाहिए। फिर दूसरे पहलू को देखें—जिह्वेन्द्रिय (जीभ) से अमनोज्ञ और पापजन्य अशुभ रसो को चख कर रोप द्वेपादि न करे। अशुभ रस कौन-कौन से है? इसके उत्तर मे कहते हैं—रसहीन, चलितरस या बिगडे रस से युक्त ठडा, रूखा, नि सत्त्व पेय पदार्थ एव भोज्यपदार्थ तथा रातबासी, विनष्ट वर्ण वाले, सडे बदबूदार, मनके प्रतिकूल, कीडो की उत्पत्ति से युक्त, नीलन (काई) तथा फूलन से युक्त, विकृत-अवस्था-प्राप्त, अतएव बहुत ही दुर्गन्ध से भरे हुए, अत्यन्त तीखे, कडवे, कसैले, खट्टे रस वाले एव कई दिनो तक पडे हुए शैवालयुक्त जल के समान दुर्गन्धमय तथा नीरस पदार्थों मे तथा इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ एव पापजन्य अशुभ रसो के विपय मे निष्परिग्रही साधु को कोप, द्वेप आदि नही करना चाहिए। यावत् उन अमनोज्ञ रस वाले पदार्थों या पदार्थ लाने वालो पर अवज्ञा, द्वेष, निन्दा, तिरस्कार, धिक्कार, डाटफटकार, जुगुप्सा—घृणा या नफरत नही करना चाहिए। इसी प्रकार जिह्वेन्द्रियभावना से ओतप्रोत साधु की

अन्तरात्मा वस्तुस्वभाव मे स्थिर रहे । इस प्रकार मनोज्ञ-अमनोज्ञ या शुभाशुभ रस वाले पदार्थों पर राग और द्वेष से रहित साधु अपने मन-वचन काया को इन अनिष्टभावो से बचा कर पचेन्द्रियो का सवर करके चारित्रधर्म का आचरण करे ।

पाचवी भावनावस्तु इस प्रकार है स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा मनोज्ञ और स्पर्शनेन्द्रियप्रिय सुखद स्पर्शो को छू कर आसक्ति-रागादि नही करना चाहिए । वे शुभ स्पर्श कौन-कौन-से हे ? इसके उत्तर मे कहते हे—जिनमे पानी के फव्वारे चलते रहते है, ऐसे जलमडप, झरने, श्वेतचन्दन, टडा स्वच्छ पानी, अनेक प्रकार के फूलो की शय्याएँ, खस-खस, मोती, कमल की डडी, रात्रि को छिटकने वाली चन्द्रमा की चादनी, मयूरपिच्छ के चन्द्रको से बने हुए पखो तथा ताड के पखो से उत्पन्न सुखकर शीतल हवा तथा ग्रीष्मकाल मे सुखद शीतस्पर्श वाली बहुत-सी शय्याएँ, आसन तथा शीतकाल मे ठड मिटाने वाले गुणकारी ओढने के वस्त्र, अगारो से तापना – हाथ आदि सेकना एव सूर्य की किरणो की धूप, इसी प्रकार स्निग्ध-चिकने, कोमल, ठडे-गर्म और हलके हेमन्त आदि ऋतुओ के सुखकर स्पर्श तथा अगो को सुख और मन को शान्ति-स्वस्थता देने वाले जो स्पर्श है, उनमे तथा स्पर्शनेन्द्रिय को अच्छे लगने वाले सुखद स्पर्शो मे निष्परिग्रही श्रमण को न तो आसक्ति करनी चाहिए न राग करना चाहिए, न गृद्धि करनी चाहिए, न मोह करना चाहिए, न उनके लिए अपनी आत्मा का पतन करना चाहिए, यानी अपने आपको न्योछावर या कुर्बान न करना चाहिए, न ही लोभ करना चाहिए, न आत्मा मे उसी बात की बार बार रट लगाना चाहिए, न प्रसन्नता व्यक्त करनी चाहिए, न हँसना चाहिए और न ही उनके बारे मे स्मरण और मनन करना चाहिए । फिर इसका दूसरा पहलू यह है स्पनेर्शन्द्रिय द्वारा अमनोज्ञ एव पापजन्य अशुभ दु खद स्पर्शों को पा कर रोष-द्वेष आदि नही करना चाहिए । अमनोज्ञ स्पर्श कौन-कौन से हे ? इसके उत्तर मे कहते है—अनेक प्रकार के रस्सी आदि के वन्धन, लाठी आदि से वध, थप्पड आदि से मारपीट, तपी हुई लोहे की सलाइयो से दाग देना, बूते से वाहर बोझ लाद देना, शरीर के अगो को मरोड देना, नखो मे सूइया घुसेड देना, शरीर मे सूइया चुभो कर छेद डालना, लाख का गर्मागर्म रस चमडी पर डाल कर चमडी उधेड

डालना, खार, कलकल करता हुआ अत्यन्त तपा हुआ तेल डालना, खोलते हुए सीसे व काले लोहे का सेक करना, खोडे मे पैर डालना, रस्सी या वेड़िया से पैर वाधना, हाथो मे हथकडिया डाल देना, कडाही मे पकाना, आग से जलाना, सिह की पूँछ के साथ बाध कर घसीटवाना अथवा पीठ तोड देना, वृक्ष आदि के साथ उलटे बाध कर लटका देना, शूली मे पिरो देना, हाथी के पैरो तले रौदवा डालना, हाथ-पैर, कान, नाक, ओठ और सिर कटवा देना, जीभ खीच लेना, अडकोश, आख हृदय और दात तोडना, वैलो की तरह खूँटे से वाध देना, वेत और चाबुक से प्रहार करना, पैरो के पिछले भाग और घुटनो पर पत्थर पटकना, कोल्हू मे पीलना, अत्यन्त खाज चलाने वाली कौच की फली अग्नि, विच्छू का डक, सनसनाती तेज हवा, तवे की तरह तपतपाती धूप, या लू, डास और मच्छरो के उपद्रव, दु खद और खराव आसन या वैठने की जगह एव दु खप्रद स्वाध्यायभूमि की प्राप्ति—इन सभी पदार्थों के कारण जो भी कठोर, भारी, ठडे, गर्म और रूखे दु खद स्पर्श होते है, उनमे तथा इसी प्रकार के अन्यान्य अमनोज्ञ एव पापजन्य अशुभ स्पर्शों के मिलने पर या वैसी वस्तुओ या वस्तुओ के देने वालो पर अनासक्त श्रमण को न रोप करना चाहिए, न उनकी अवज्ञा करना उन्हे ठुकरा चाहिए, न निंदा और गर्हा करनी चाहिए, न खीजना या चिढना ही चाहिए, न उन वस्तुओ को फैक कर तोडना-फोडना चाहिए, या उन वस्तुओ के लाने वाले का अगभग न करना चाहिए, न मारपीट करनी चाहिए और न ही उन पर जुगुप्सा, घृणा या नफरत करनी चाहिए।

इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रियभावना से जव साधु की अन्तरात्मा ओतप्रोत हो जाती है, तव वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ, शुभ या अशुभ स्पर्श पर न तो राग करता है, न द्वेप ही। वह अपनी आत्मा मे आते हुए राग-द्वेप आदि अशुभ विचारो को रोक लेता है, वह स्वपरहितसाधक मन-वचन-काया को भी उनसे वचा कर सुरक्षित कर लेता है, और अपनी आत्मा को सवर से सवृत और इन्द्रियो को वश मे करता हुआ चारित्रधर्म का आचरण करता है।

इस प्रकार साधक के मन, वचन और काया को पूर्ण सुरक्षित रखने वाले, इन (पूर्वोक्त भावनारूप) पाच कारणो से यह पाचवे अपरिग्रहसवर का द्वार सम्यक्रूप से सवृत हो जाता है और साधक के दिलदिमाग मे

भलीभाति यह सवर परिनिष्ठित हो जाता है—जम जाता है। धैर्यशाली बुद्धिमान् अपरिग्रही साधक को जीवन के अन्त तक नित्य इस भावना-योग का चिन्तन और प्रयोग करना चाहिए, जो आश्रवरहित है, निर्दोष है, पाप-छिद्र को जिसमे प्रवेश का अवकाश नही है, पापो के स्रोत से विहीन हे, सक्लिष्ट परिणामो से शून्य है, शुद्ध हे, समस्त तीर्थंकरो द्वारा अनुमत हे।

इस तरह यह पाचवा परिग्रहविरमणरूप सवरद्वार उचित समय पर काया से स्पर्श किया हुआ—अमल मे लाया हुआ, पालन किया हुआ, अतिचारो को दूर करके शोधन किया हुआ, अन्त तक पार लगाया हुआ, दूसरो को आदरपूर्वक बताया हुआ या गुणानुवादपूर्वक उपदिष्ट, लगातार पालन किया हुआ ही भगवान् की या शास्त्र की आज्ञानुसार आराधित होता है।

इस प्रकार ज्ञातकुलोत्पन्न श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर प्रभु के द्वारा हितोपदेशक के रूप मे बताया गया, भव्यो के सामने अर्थरूप से प्ररूपित, लोक मे प्रसिद्ध किया गया, समस्त नयो और प्रमाणो से सिद्ध, उत्तम सिद्धो की आज्ञारूप, मर्यादाओ की सुरक्षा के लिए बतलाया हुआ, भलीभाति उपदिष्ट, मगलमय यह पाचवा सवरद्वार समाप्त हुआ, ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूं।

हे सुव्रत! ये पाचो सवरद्वार (महाव्रत) सैकडो निर्दोष-शुद्ध हेतुओ के कारण विस्तीर्ण होते हुए भी अरिहत भगवान् के शासन मे सक्षेप मे पाँच ही बताए है, विस्तार से तो ये पच्चीस होते है, पाच समितियो से युक्त, पाच महाव्रतो की पूर्वोक्त २५ भावनाओ के सहित तथा ज्ञान और दर्शन के द्वारा मन-वचन-काया से सुसवृत तथा सदा प्रयत्न से प्राप्त सयमयोग की रक्षा एव अप्राप्त सयमयोग की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने से सुविशुद्धदृष्टिवाला सयमी, स्वपरकल्याणसाधक साधु इन पाचो सवरद्वारा की लगातार आराधना करके भविष्य मे चरमशरीरी होता है, अथवा पाठान्तर की दृष्टि से अर्थ होता है—भविष्य मे वह कार्माणशरीर का ग्रहण नही करता।

व्याख्या

पूर्वसूत्रपाठ मे अपरिग्रही के लक्षण के सम्बन्ध मे विस्तृत निरूपण करने के बाद उस अपरिग्रही की आवश्यकतानुसार पाचो इन्द्रियो के विविध विषयो को ग्रहण करते समय क्या दृष्टि, क्या भावना और कैसी साधना होनी चाहिए, जिससे वह अपरिग्रहव्रत का भलीभाति निर्वाह एव सरक्षण कर सके ? इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ मे अपरिग्रहव्रत की सर्वथा सुरक्षा के लिए पाच भावनाओ का विशद निरूपण किया है।

पाच भावनाओ की उपयोगिता—पूर्व सूत्रपाठ मे साधुजीवन मे अन्तरग परिग्रह के त्याग के लिए एक वोल से ले कर तेतीस वोल तक की शिक्षात्मक सूची दी गई थी। वास्तव मे साधुजीवन मे अन्तरग परिग्रह पर विचार करने के लिए और उससे मुक्त होने के लिए एव उनमे से हेय, ज्ञेय और उपादेय का विचार करके परिग्रह-मुक्ति के यथायोग्य मार्ग पर चलने के लिए साधक को प्रेरणा मिलती है, परन्तु उस प्रेरणा के वावजूद भी साधक कई वार ग्रहण और अग्रहण के चक्कर मे पड कर एक के वदले दूसरे को उचित पथ मान वैठता है। वाह्यपरिग्रह का त्याग करके परिग्रहत्याग के लिए साधुजीवन के जो नियम है, त्यागप्रत्याख्यान है, मर्यादाए है या समाचारी है, अथवा वाह्यक्रियाएँ हैं, उनके शाब्दिक भवरजाल मे फस कर अपने को वहुत वडा परिग्रहत्यागी मान वैठता है। परन्तु अन्तरग जीवननद मे अहकार, क्रोध, विषयो के प्रति आसक्ति, वासना-कामना, प्रतिष्ठा की भूख, अथवा प्रतिकूल विषय मिलने पर अशान्ति, असन्तोष, द्वेष, घृणा, विरोध एव सघर्ष की भावना आदि हिलोरे लेते रहते है। और उक्त अहकारादि सव एक या दूसरे रूप मे अन्तरग परिग्रह के ही रूप है। इसलिए जिस चीज का मुख्यरूप से त्याग-अग्रहण करना था, उसे ग्रहण करता रहता है और शान्ति, समता, वत्सलता, क्षमा, निर्लोभता, सरलता मृदुता, सत्यता आदि जिन चीजो का ग्रहण करना था, उन्हे छोडता जाता है। ऐसी आपाधापी मे अपरिग्रह की रक्षा के लिए ये पाच भावनाएँ ससारसमुद्र मे अन्तरग परिग्रहरूपी तूफान के कारण डगमगाती हुई उसकी जीवननैया के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम करती है। साधक फिर सही रास्ता पकड लेता है। इसलिए इन पाचो भावनाओ का वहुत वडा स्थान है, अपरिग्रही साधक के जीवन मे।

विषयो का ग्रहण कव परिग्रह है, कव अपरिग्रह ?—परिग्रह का अर्थ मोटेतौर पर ग्रहण करना ही होता है। परन्तु जव तक शरीर है तव तक पाचो इन्द्रियो और मन के विषयो को ग्रहण किये विना साधक का काम नहीं चल सकता। इन्द्रियो को कदाचित् वह निश्चेष्ट करके वैठ जाएगा, लेकिन मन की गठरी वाध कर कहाँ डालेगा ? वह तो एक क्षण भी मनन-चिन्तन किए विना रह नहीं सकता। मन अपने

कार्यकाल मे किसी न किसी इन्द्रिय के विषय का ही चिन्तन-मनन करेगा। तब सवाल यह उठता है कि इधर इन्द्रियो या मन के जरिये साधक के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले विविध विषय परिग्रह कहलाएँगे और उधर अपरिग्रह के प्रति कृतप्रतिज्ञ साधु को परिग्रह का त्याग करना अनिवार्य है। तब यह गुत्थी कैसे सुलझे ? इसके लिए भगवान महावीर ने एक सुलभ और सीधा रास्ता बताया है कि साधक को अपने जीवन मे अनिवाय विषयो का ग्रहण तो करना ही होगा, लेकिन उस समय दो तरह का विवेक उसे करना होगा—

पहला यह कि जो विषय या विषय के अनुरूप साधन साधुजीवन के लिए अनिवार्य आवश्यक नही हे, उन्हे चला कर ग्रहण न करना। दूसरा विवेक यह करना होगा कि न चाहते हुए भी साधु के सामने जब मनोज्ञ विषय या विषय के अनुकूल मनोज्ञ पदार्थ अनायास ही सामने आ जाय या प्राप्त हो जाय तो वह उनके प्रति राग, मोह लालसा, गृद्धि, कामना, स्मरण, मनन, या आकाक्षा न करे। और जब अमनोज्ञ विषय या विषयानुरूप अमनोज्ञ बुरे पदार्थ अनायास ही सामने आ जाय या प्राप्त हो जाय तो उस समय रोष, द्वेष, विरोध, डाट-फटकार, तिरस्कार, अवज्ञा, घृणा, जुगुप्सा आदि दुर्भाव मन मे न लाए। बस, यही विषयो को ग्रहण करते हुए भी अपरिग्रही रहने की कुजी है। उत्तराध्ययन सूत्र के ३२ वें अध्ययन मे इस विषय मे बहुत ही सुन्दररूप से मार्गदर्शन मिलता है। देखिये, एक गाथा मे उसका निचोड—

'जे सद्द-रूव-रस-गधमागए, फासे य सपप्प मणुण्णपावए।
गेही पओस न करेज्ज पडिए, स होति दते विरए अकिचणे ॥'

अर्थात्—जो साधु अनायासप्राप्त मनोज्ञ शब्द रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को पा कर गृद्धि (आसक्ति) नही करता, और अमनोज्ञ पापजन्य अशुभ शब्दादि को पा कर प्रद्वेष नही करता, वही वास्तव मे विरत है, पण्डित है, दान्त है और अकिंचन (अपरिग्रही) है। यह है, अपरिग्रह और परिग्रह के विवेक की कुजी। यदि साधक परिग्रहरूप विषयो को मन से ग्रहण करता है तो वह अन्तरग परिग्रही बन जाता है, और यदि वह ग्रहण नही करता है तो उसका जीवन चल नही सकता। ऐसी दशा मे शास्त्रकार कहते है कि विषय अपने-आप मे अच्छे या बुरे नही है। साधक की दृष्टि मे ही जब राग और द्वेष का जहर होता है तो वे विषय अनुकूल हो या प्रतिकूल, साधक के लिए आवश्यक हो या अनावश्यक, उसके लिए अन्तरग परिग्रह बन जाते है। इसलिए विषयो को छोडना उतना महत्त्वपूर्ण नही, जितना विषयो के साथ लगे हुए राग और द्वेष को छोडना जरूरी है, महत्त्वपूर्ण है। भगवद्गीता मे भी इसी बात की पुष्टि की है—

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥'

अर्थात् 'प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थ के साथ राग और द्वेष जुडे हुए है। साधक उन राग और द्वेप के वशीभूत न हो। ये दोनो ही साधक के अनासक्त-अपरिग्रही जीवन के शत्रु है।'

साथ ही यह भी समझ लेना जरूरी है कि साधु अनायासप्राप्त इन्द्रियविपय को टाल नही सकता। जैसे, एक साधु भिक्षा के लिए जा रहा है, बाजार मे अत्तार की दूकान मे सजी हुई इत्र की शीशियो से भीनी-भीनी मधुर महक आ रही है, किसी दूकान पर रखे हुए रेडियो से कर्णप्रिय सुरीले गायन की ध्वनि आ रही है, सामने से एक सुन्दर युवती सोलह शृगार से सजी-धजी आ रही है, हलवाई की दूकान पर स्वादिष्ट सुगन्धित मिष्टान्न सजे हुए है, इसी प्रकार किसी गृहस्थ ने अपनी कोमल करागुली से उसके चरणो को छू लिया, अब क्या वह इन पाचो इन्द्रियो के विपयो को टालने के लिए क्रमश नाक, कान, ऑख, जीभ या स्पर्शन-इन्द्रिय वद कर लेगा या निश्चेष्ट कर लेगा? नही, ऐसा करना कदापि सम्भव नही है। अत विपयो का पाचो इन्द्रियो से ग्रहण तो होता है, लेकिन विवेकी धीर साधक उन अनायासप्राप्त विपयो से न घवडा कर अथवा उक्त पाचो से विपरीत अमनोज्ञ विपयो के अनायास प्राप्त होने पर न झुझला या झल्ला कर अपने मन पर राग और द्वेप के भाव अकित नही होने देगा। अर्थात् वह मन से पाचो इन्द्रियो के अनुकूल प्राप्त विपयो या विपयानुरूप साधनो पर राग नही करेगा और पाचो इन्द्रियो के प्रतिकूल प्राप्त विपयो या विपयानुरूप साधनो पर द्वेप नही करेगा।

राग और द्वेप न करने का कोई साधक इतना ही अर्थ न लगा ले कि राग तो करना नही है, मोह, लालसा, लोभ, गृद्धि आसक्ति, कामना, वासना, स्मरण, मनन करने मे हर्ज ही क्या है? इसी प्रकार द्वेप न करने का इतना ही अर्थ न लगा बैठे कि द्वेप तो करना नही है, रोप, घृणा, विद्रोह, मारपीट, ताडनतर्जन, डाट-फटकार, धिक्कार, अपमान, नफरत आदि करने मे क्या हर्ज है? ऐसा करना गलत होगा। उससे अन्तरग परिग्रह सर्वथा रुकेगा नही। एक जहर के वदले दूसरा जहर ले लिया जाय तो उससे जहर का असर कम नही होता। राग और द्वेप ये दोनो प्रधान विप है, ये दोनो अन्तरग परिग्रह के नायक हैं, सेनापति है। इनकी फौज वहुत बडी है, इनका परिवार वहुत ही लम्वा-चौडा है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने 'न रज्जियव्व' के साथ-साथ 'न सज्जियव्व' आदि राग के अन्य साथियो या परिवार

वालो के भी नाम गिना कर उनका निषेध किया है, इसी प्रकार 'न रूसियव्व' के साथ-साथ 'न हीलियव्व' आदि द्वेष के साथियो या परिवार वालो को अपनाने से भी इन्कार किया है। हाँ, तो निष्कर्ष यह हुआ कि पाचो इन्द्रियो के विषयो के आगमन के समय साधक को परिवारसहित रागद्वेषरूपी इन शत्रुओ से सावधान रहना चाहिए, इन्ही का ग्रहण करना अन्तरग परिग्रह है और इन्ही को छोडना अपरिग्रह है। केवल विषयो का ग्रहण करना अपने आप मे परिग्रह नही है। इसके लिए अपरिग्रही साधक को प्रतिक्षण अप्रमत्त हो कर रहना है, अन्यथा साधक पर कव ये हमला कर वैठेगे, कोई पता नही है। साधक की जरा-सी असावधानी से राग और द्वेष अपने आक्रमण को सफल कर वैठेगे। उसकी जरा-सी गफलत से साधक वाह्य परिग्रह का त्याग होने के बावजूद भी अपरिग्रही के वदले अन्तरग परिग्रही वन वैठेगा। इन दोनो शत्रुओ मे से एक लुभावना है, दूसरा डरावना है। हैं दोनो ही खतरनाक! अगर साधक इनके वहकावे मे आ जाता है तो ये वहुत शीघ्र ही प्रसन्नचन्द्र राजर्षि सरीखे उच्चभूमिकारूढ वडे-से-वडे साधक को भी पछाडते देर नही लगाते। यही कारण है कि अपरिग्रहसवर के प्रसग मे उक्त अन्तरग परिग्रह से साधक की रक्षा के हेतु शास्त्रकार पाच भावनाओ को चिन्तनात्मक प्रयोग के रूप मे वताते है, जिनका मनन-चिन्तन करके साधु अपनी अन्तरात्मा को पवित्र और निर्दोष बना लेता है। इन भावनाओ का जिन्दगी-भर तक सतत अप्रमत्त हो कर प्रयोग करने पर ही ये फलदायिनी एव दृढ सस्कारामृत-पायिनी होती है। और तभी वह अन्तरग परिग्रह का सर्वथा त्यागी और जितेन्द्रिय वन सकेगा। इसी वात को शास्त्रकार प्रत्येक भावना के अन्त मे कहते हैं '.. **भावणाभावितो भवति अतरप्पा मणुन्नामणुन्न-सुब्भिदुब्भि-रागदोस-पणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते सवुडे पणिहितिदिए चरेज्ज धम्म।**' इसका अर्थ मूलार्थ एव पदान्वयार्थ मे स्पष्ट किया जा चुका है। अब हम क्रमश प्रत्येक भावनावस्तु का सक्षेप मे विश्लेषण प्रस्तुत करेगे।

श्रोत्रेन्द्रियसवररूप शब्दनिस्पृहभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—परिग्रह का अन्तरग और वहिरगरूप से परमत्यागी साधु जव अपनी कोई भी प्रवृत्ति करता है तो उसके कानो मे कई प्रकार के शब्द आ कर टकराते हैं। उनमे से कई कर्णप्रिय होते हैं, कई कर्णकटु भी। कई शब्द ऐसे सुहावने लगते है कि साधक का मन वहाँ ठिठक कर सुनने को हो जाता है, वह मन ही मन चाहता है कि ये मधुर गीत होते ही रहे। इसके उपरान्त जव वह उस सगीतस्थल से आगे चल देता है, तव भी कान मे वार-वार उस सुने हुए मनोमोहक सगीत की स्मृति ताजा हो उठती है, उसी को पुन पुन सुनने के लिए मन लालायित हो उठता है। ये सारे ही राग के प्रकार है, जो साधक के जीवन को अन्तरग परिग्रह के गर्त मे डाल देते है। इसीलिए शास्त्रकार

ने कुछ खास-खास मनोज्ञ शब्दो के नाम गिना कर अन्त मे उन्ही प्रकार के शब्दो के कर्णगोचर होने पर उनके प्रति राग, आसक्ति, गृद्धि, लोभ, मोह, न्योछावर, तुष्टि, स्मरण, और मनन मे इस श्रोत्रेन्द्रियसवरभावना के प्रकाश मे शीघ्र वचने का निर्देश किया है—"पढम सोइ दिएण सोच्चा सद्दाइ मणुन्नभद्दाइ वरमुरय सद्दाइ गुणवयणाणि महुरजणभासियाइ न तेसु रज्जियव्व न सइ च मइ च तत्थ कुज्जा।" इन सब सूत्रपक्तियो का अर्थ हम मूलार्थ एव पदान्वयार्थ मे स्पष्ट कर चुके है। इसी प्रकार इस तरह के मनोज्ञ और कर्णप्रिय शब्दो से ठीक विपरीत शब्द अमनोज्ञ, कर्कश, कर्णकटु, कठोर, असह्य और मर्मच्छेदी नगते है कि यदि साधक उन्हे सुन कर झल्ला उठता है, झु झला कर उन शब्दो को या सुनाने वाले को गाली देने लगता है, भला-बुरा कहने लगता है, उसे डाटता-फटकारता है या वहाँ से उसे हटाने के लिए पत्थर या ढेले मारता है, अथवा उसके थप्पड या मुक्का जमा देता है, या उन अप्रिय शब्दो की या कहने वाले की निन्दा या भर्त्सना करने लगता है, अथवा प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरह मन ही मन घमासान युद्ध छेड बैठता है, अथवा मु ह से, शाप, आक्रोश, या अपशब्द निकालता है, द्वेपवश हो कर लोगो मे उसे नीचा दिखाने का उपक्रम करता है, लोगो मे उन शब्दो या उन शब्दो के कहने वाले के के प्रति नफरत पैदा करता है तो वही साधक की हार हो जाती है। वही साधक अन्तरग परिग्रह की पकड मे आ जाता है और द्वेपनामक शत्रु से पराजित हो जाता है। ये सारे ही द्वेप के प्रकार है, जो साधक के जीवन को अन्तरग परिग्रह की खाई मे धकेल देते है। इसीलिए शास्त्रकार ने कुछ खास-खास अमनोज्ञ शब्दो के नाम गिना कर अन्त मे उन्ही की तरह के कर्णकटु शब्दो के कर्णगोचर होने पर उनके प्रति रोप, अवज्ञा, निन्दा, खीज या चिढ, छेदन, भेदन, ताडन-तर्जन, वध, द्वेप, घृणा आदि से श्रोत्रेन्द्रियसवरभावना के प्रकाश मे झटपट वचने का निर्देश किया है। शास्त्रकार ने अमनोज्ञ कर्णकटु शब्दो के कान मे पडते ही इस भावना को प्रयोग करने का इन सूत्रपक्तियो द्वारा सकेत किया है—'सोइ दिएण सोच्चा सद्दाइ अमणुन्नपावकाइ ...अक्कोस-फरुस समणेण न रूसियव्व न हेयव्व, न दुगु छावत्तियाए लब्भा उप्पाएउ।' इन सूत्रपक्तियो का अर्थ मूलार्थ एव पदान्वयार्थ मे हम स्पष्ट कर चुके हैं।

निष्कर्ष यह है कि साधु को अपने मन को इस भावना की ऐसी तालीम देनी चाहिए, ताकि कर्णप्रिय शब्द कान मे पडते ही वह वहक न जाय और कर्णकटु शब्द कान मे पडते ही वह वौखला न उठे। यानी उसे मनोज्ञ या अमनोज्ञ, कर्णप्रिय या कर्णकटु, शुभ या अशुभ शब्दो को भाषावर्गणा के पुद्गल मान कर उनके श्रवण का अपने मन पर जरा भी असर नही होने देना है। अगर साधक कर्णकटु अमनोज्ञ शब्दो

को सुन कर जरा-सा भी द्वेषभाव के चक्कर मे आ गया तो उसको अन्तरग परिग्रह के त्याग की साधना चौपट हो जायगी। इसलिए उस समय इस भावना के प्रकाश मे यही विचार करना है कि ये अमगलकर शब्द तेरा क्या बिगाडेंगे ? अगर इन भाषावर्गणा के पुद्गलो का प्रभाव तू अपनी आत्मा पर पडने देगा, तो इससे तेरी आत्मा की हार ही होगी, जीत नही। अत जीत इसी मे है कि इन शुभ या अशुभ शब्दो को कानो से सुन कर भी मन पर असर न होने दे, वचन से भी उन शब्दो की प्रतिक्रिया प्रगट न करे तथा शरीर की चेष्टा से भी उन शब्दो का प्रभाव व्यक्त न होने पाए। अर्थात्—किसी भी प्रिय और अप्रिय शब्द को सुन कर मन को निश्चेष्ट बना दे, वाणी को उसकी प्रतिक्रिया प्रगट करने से मूक बना दे, और काया की चेष्टाओ को उसके प्रभाव से शून्य बना दे। तभी अपरिग्रही साधु समभाव मे स्थिर हो कर जितेन्द्रिय और सयतेन्द्रिय बनेगा। और अन्तरग परिग्रह से सर्वथा दूर रह कर अपनी आत्मा मे स्थित हो सकेगा।

वीतरागतापोषक शब्दश्रवण मे अभिरुचि परिग्रह नहीं—पूर्वोक्त सूत्रपाठ से यह ध्वनित हो जाता है कि जो शब्द राग, आसक्ति या मोहादि बढाने वाले है, अथवा इसके विपरीत जो शब्द द्वेष आदि के पोषक है, उन दोनो को राग और द्वेष से अभिभूत हुए मन से ग्रहण करना ही अन्तरग परिग्रह है। परन्तु जो शब्द वीतरागता की पुष्टि करने वाले हैं, किसी के सुरीले स्वर मे वीतरागतापोषक भजनादि के श्रुति-मधुर शब्द कानो मे पड रहे हैं तो वहाँ सुनने, अभिरुचि दिखाने और उनके बारे मे बार-बार स्मरण-मनन करने का निषेध नही किया गया है। जो शब्द राग-मोह-कामादिवर्द्धक हैं, उन्ही से सावधान रहने का निर्देश है। वीतरागतावर्द्धक शब्दो से तो परिग्रह मे अभिरुचि के बदले परिग्रह से विरक्ति ही पैदा होती है।

'अक्कोसफरुसखिसणअवमाणणतज्जणनिब्भछणदित्तवयण'—इत्यादि शब्दो शब्दो का स्पष्टीकरण—'चुल्लूभर पानी मे डूब मर' इस प्रकार के असुहावने वचन **आक्रोशवचन** हैं, 'अरे मुड !' इस प्रकार के वचन **परुषवचन** है, 'तू कुशील है, दुराचारी है' इत्यादि वचन **खिसन**– (निन्दा) वचन है, 'रे तू' आदि अनादरसूचक शब्द **अपमानवचन** हैं, 'तुझे देख लूगा' इत्यादि फटकार के वचन **तर्जनावचन** कहलाते है, 'मुझे अपना मुह मत दिखा', 'हट जा मेरे सामने से' इत्यादि **निर्भत्सनवचन** हैं, रोष मे झल्ला कर बोलना **दीप्तवचन** है, दूसरे को डराने, धमकाने, उद्विग्न करने के वचन **त्रासनवचन** है, गाडी, मोटर, जहाज, विमान, बम फटने, गोली छूटने तथा मशीनो आदि के चलने की अव्यक्त कर्कश ध्वनि **'उत्कूजित** कहलाती है, आसू गिराते हुए बोलना **रुदित** है, लगातार एक ही शब्द की रट लगाना **रटित** है,

इष्टवियोगादि होने पर रोना-पीटना आक्रन्दन है, सूअर आदि के समान चीखी, चिल्लाना आदि आवाज को 'रसित' कहते हैं, दयनीय वचनों को करुणवचन कहते हैं, आर्त्तस्वर को विलपित कहते हैं। ये सब अमनोज्ञ शब्द हैं, इन्हें सुन कर मन में द्वेषादि नहीं करना चाहिए।

चक्षुरिन्द्रियसंवररूप रूपनिःस्पृहभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—अपरिग्रहव्रती साधु जब अपनी दैनिक दिनचर्या में प्रवृत्त होता है तो कई रूप आंखों के सामने आते हैं, उनमें कुछ सचेतन प्राणी के भी होते हैं कुछ अचेतन पदार्थों के भी। जैसे मनोज्ञ और नयनप्रिय सुहावने रूपों में सुन्दरी युवती, सुन्दर बच्चे, कुत्ते आदि के सलौने बच्चे, मृगशिशु, मोर, इसी प्रकार रंगबिरंगे चित्र, सुन्दर सफेद या अन्यरंग की खाने-पीने की चीजें, बढ़िया वस्त्र या पात्र अथवा और कोई भी चेतन या जड सुन्दर एवं आंखों को रुचिकर तथा मनोमोहक पदार्थ सामने आए, तो उस समय यदि साधु उस सुन्दररूप या चेहरे आदि को देख कर मन में रागभाव या मोह लाता है उस सुन्दर रूप को टकटकी लगा कर देखने के लिए ललचाता है, बार-बार उसे देखने का लोभ करता है, उस रूप को आसक्तिपूर्वक देखने के लिए ठिठक जाता है, अथवा वहाँ से आगे चलने पर भी मन में बार बार उसी रूप का स्मरण और मनन करता है, या पुनः पुनः उस रूप को देखने के लिए लालायित होता है, तो यही साधक की हार है। ये सारे ही रागभाव के प्रकार हैं, जो साधक को अन्तरंग परिग्रह के जाल में फंसा देते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने कुछ खास-खास मनोज्ञ रूपों के नाम गिना कर अन्त में उसी प्रकार के अन्यान्य रूपों के दृष्टिगोचर होने पर उन पर आसक्ति अनुराग, गृद्धि, लोभ, मोह, न्योछावर, तुष्टि, स्मरण और मनन में शीघ्र बचने का चक्षुरिन्द्रिय-संवरभावना के प्रकाश में निर्देश किया है—'**बितिय चक्खिदिएण पासिय रूवाणि मणुन्नाइ भद्दकाइ रूवेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्व न सइ च मइ च तत्थ कुज्जा।**' इन सूत्रपंक्तियों का अर्थ पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

इसी प्रकार इनके ठीक विपरीत अमनोज्ञ, आंखों को खटकने वाले, अप्रिय, पापकर्म के उदय से अशुभ कालेकलूटे, भौंडे, भद्दे, घिनौने, बीमार आदि के दयनीय रूपों को देख कर यदि साधक एकदम रुष्ट हो जाता है क्रोध से झल्ला उठता है, उन कद्रूप व्यक्तियों या जड पदार्थों पर टूट पडता है, उन्हे तोडफोड देता है, डाटता-फटकारता है, उनकी निन्दा करता है, लोगो के सामने उन्हे धिक्कारता है, उनका अपमान करता है, उन्हे दुरदुराता है, ठुकराता है, उनके प्रति नफरत फैलाता है, उन्हे हिकारतभरी दृष्टि से देखता है या धक्का दे कर, मारपीट कर उन्हे निकाल देता है या वहाँ से भगा देता है तो यही साधक की पराजय है। यही वह अन्तरंग परिग्रह

की चपेट मे आ कर द्वेषरूपी शत्रु से दब जाता है। उसके मन पर द्वेषरूपी रिपु अधिकार जमा लेता है। ये सारे द्वेषभाव के ही परिवार हैं, जो साधक मे बौखलाहट पैदा करके उसे अन्तरग परिग्रह के गड्ढे मे गिरा देते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने कुछ खास-खास अमनोज्ञ रूपो के नाम गिना कर अन्त मे, उसी प्रकार के अन्यान्य अमनोज्ञ रूपो के दृष्टिगोचर होने पर उनके या उनसे सम्बन्धित व्यक्तियो या वस्तुओ के प्रति रोप, अवज्ञा द्वेप, घृणा, निन्दा, खीज या चिढ, छेदन-भेदन (तोडफोड), ताडन तर्जन, वध आदि से झटपट बचने का चक्षुरिन्द्रियसवरभावना के प्रकाश मे निर्देश किया है— **चक्खिदिएण पासिय रूवाइ अमणुन्नपावकाइं ... एवमादिएसु अमणुन्नपादकेसु न तेसु समणेण रूसियव्व लब्भा उप्पातेउ।**' इन सूत्रपक्तियो का अर्थ भी मूलार्थ तथा पदान्वयार्थ से स्पष्ट है। कुछ खास स्थलो पर प्रकाश डालना उचित समझ कर नीचे कुछ स्थलो पर प्रकाश डालते हैं—

गडि-कोढिक-कुणि-उदरि-कच्छुल्ल सप्पिसल्लग-वाहि-रोगपीलिय—जिसके गले मे गडमाला हो, उसे **गडी** कहते है। यह चार प्रकार का होता है - वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज। जिसके शरीर मे १८ प्रकार के कुष्ट रोगो मे से कोई-सा भी कुष्टरोग हो, उसे **कोढी** कहते है। वे १८ प्रकार ये हैं - (१) अरुण, (२) दुवर, (३) स्पर्शजिह्व, (४) करकपाल, (५) काकन, (६) पौडरीक, (७) दद्रु, (८) स्थूल मारुक्क, (९) महाकुष्ठ, (१०) एककुष्ठ, (११) चर्मदल, (१२) विसर्प, (१३) परिसर्प, (१४) विचर्चिका, (१५) सिध्म, (१६) किट्टिभि, (१७) पामा (१८) शतारुक्। गर्भाधान के दोप से अथवा अन्य किसी कारण सेएक पैर छोटा हो, अथवा एक हाथ छोटा हो, उसे **कुणी**— टोटा या लूला कहते है। जिसके भयकर उदरव्याधि हो, उसे **जलोदरी** कहते हैं। जलोदर रोग ८ प्रकार का होता है—(१) पृथक्, (२) समस्त, (३) अनिलौघ, (४) प्लीहोदर, (५) बद्धगुद, (६) आगन्तुक, (७) वेसर, (८) जलोदर। **श्लीपदी**—जिसके पैर कठोर हो गए हो, जकड गए हो, उसे श्लीपदी कहते हैं। इस रोगी के पैर धीरे-धीरे हाथी के पैर की तरह सूज जाते है। इसे हाथीपगा भी कहते है।

इन सब व्याधियो या रोगो से विकृत अग वाले लोगो को देख कर मन मे उनके प्रति घृणा, द्वेप, अरुचि, अप्रीति या द्वेप न लाना चाहिए। ऐसे विकृताग या विकलाग व्यक्तियो को देख कर साधु को सोचना चाहिए— 'अहो! कर्मों की कितनी विचित्रता है! ये बेचारे अपने अशुभकर्मो के उदय से फल भोग रहे है। मुझे इन्हे चिढा कर, व्यथित करके या घृणा रोप करके व्यर्थ ही और नये कर्म क्यो बाधने चाहिए? यही साधक की समभाव की परीक्षा होती है। वह मनोज्ञ या अमनोज्ञ

दोनो मे मध्यस्थ—सम रहे। न तो मन को मनोज्ञ रूपो मे ललचाए और न अमनोज्ञ रूपो मे विगाडे।

निष्कर्ष यह है कि अपरिग्रहव्रती साधु को अपने मन को इस भावना की ऐसी तालीम देनी होगी, जिससे वह मनोमोहक एव नेत्रप्रिय रूप आँखो के सामने आते ही उनके प्रवाह मे न वह जाय, और अभद्र, असुहावने, अमनोज्ञ अशुभ रूप आँखो के सामने आते ही बौखला न उठे। शुभ या अशुभ रूपो को पुद्गल के खेल समझे। आखिर तो ये रग या रूप वगैरह सभी नश्वर है, मिट्टी मे मिल जाने वाले है। फिर इन सुरूपो पर मोह या आसक्ति करके और कुरूपो पर घृणा या द्वेष करके अपने सयम को क्यो धूल मे मिलाया जाय! अशुभ रूप साधक की आत्मा का क्या विगाडेगे? रूप अपने आप मे न अच्छा है, न बुरा। उसका निर्णय तो अपनी प्रकृति के अनुसार व्यक्ति के विचार ही करते है न! अत सुरूप या कुरूप का प्रभाव मन पर न पडने देना ही साधक की जीत है। अन्यथा, साधक की आत्मा की हार है। अत: विजय इसी मे है कि इन शुभ या अशुभ रूपो को आँखो से देख कर भी मन पर असर न होने दे, वचन से भी उस रूपदर्शन की अच्छी या बुरी प्रतिक्रिया प्रगट न करे तथा शरीरचेष्टा से भी उन रूपो का प्रभाव व्यक्त न करे। अर्थात्—किसी भी प्रिय या अप्रिय रूप को देख कर मन को बिलकुल निश्चेष्ट बना दे, वचन को उसकी प्रतिक्रिया प्रगट करने से मूक बना ले तथा काया की चेष्टाओ को भी उसके प्रभाव से शून्य बना दे। यही अपरिग्रही साधु के द्वारा अन्तरग-परिग्रह से सर्वथा मुक्त रहने की साधना है। इस प्रकार की भावना के चिन्तन व प्रयोग से साधक समभावी, जितेन्द्रिय एव स्थितप्रज्ञ बन सकता है।

घ्राणेन्द्रियसवरभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—अपरिग्रही साधक जब अपने नित्यकृत्य मे प्रवृत्त होता है तो कई मनोज्ञ भोज्य पदार्थों या कई अन्य सुगध-पूर्ण पदार्थों की सुगन्ध उसके नाक से आ कर टकराती है, उस समय उन भीनी-भीनी मधुर मनोमोहक सुगन्धो को पा कर यदि वह असावधान हो कर उन पर रागभाव लाता है, उन्हे सू घने के लिए ललचाता है, उस सुगन्ध मे आसक्त बनता है, उन्हे सू घने के लिए ठिठक जाता है या वहाँ से दूर चले जाने पर भी मन मे उनका पुन पुन स्मरण या चिन्तन करता है तो यही साधक फिसलता है। ये सारे ही रागभाव के विकार उसे घेर लेते हैं और अन्तरग परिग्रह के जाल मे फसा देते है। इसीलिए शास्त्रकार ने कुछ खास-खास मनोज्ञ गधो के नाम गिना कर अन्त मे उन्ही की किस्म के विभिन्न सुगन्धो के घ्राणगोचर होने पर उन पर आसक्ति, राग, मोह, लोभ गृद्धि, न्योछावर, तुष्टि, स्मरण और मनन से उसे घ्राणेन्द्रियसवरभावना के प्रकाश मे शीघ्रातिशीघ्र

बचने का निर्देश सूत्रपक्तियो द्वारा किया है—"घाणिदिएण अग्घाइय गधाइ मणुन्नभद्दगाइ जलयथलयसरस गधेसु मणुन्नभद्दएसु समणेण न रज्जियव्व न सइ मइ च तत्थ कुज्जा" इन सूत्रपक्तियो का अर्थ पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। वैसे ही यदि इन सुगन्धो से ठीक विपरीत मन को बुरे लगने वाले अमनोज्ञ दुर्गन्धो का नाक से स्पर्श होने पर क्रोध से तिलमिला उठता है, ठुकरा देता है, तोडता-फोडता है और उन्हे डाट-फटकार वताता है, उनकी निन्दा करता है, भर्त्सना करता है, या घृणा फैलाता है, दुरदुराता है, लोगो के सामने उन्हे धिक्कारता है या उन दुर्गन्धभरे व्यक्तियो को मारता पीटता है, धमकाता है, या लडाई ठान बैठता है तो यही साधक की हार हो जाती है। यही वह अन्तरग परिग्रह की चपेट मे आकर द्वेपरूपी दुश्मन से दव जाता है। उसके मन पर द्वेपरूपी शत्रु कव्जा कर लेता है। ये सारे द्वेपभाव के ही परिवार है, जो साधक के मन मे वौखलाहट पैदा करके उसे मनचाहा नचाते है और अन्तरग परिग्रह के गर्त मे धकेल देते है। इसीलिए शास्त्रकार अमनोज्ञ गन्धो के कुछ नामनिर्देश करके अन्त मे, उसी प्रकार के विभिन्न अमनोज्ञ गन्धो के या उनसे सम्बन्धित व्यक्तियो या साधनो के घ्राणगोचर होने पर उनके प्रति रोप, अवज्ञा, द्वेष, घृणा, निन्दा, खीज या चिढ, छेदन-भेदन, ताडनतर्जन या वध आदि के प्रयोग से बचने का घ्राणेन्द्रियसवरभावना के चिन्तन के प्रकाश मे निर्देश करते है—'घाणिदिएण गधाइ अमणुन्नपावकाइ एवमादिएसु अमणुन्नपावकेसु न तेसु समणेण रूसियव्व लब्भा उप्पातेउ।' इन सूत्र पक्तियो का अर्थ हम पहले स्पष्ट कर चुके है। तात्पर्य यह है कि उन अमनोज्ञ दुर्गन्धो से सम्पर्क होने पर साधक यह सोचे कि ससार मे विभिन्न वस्तुओ का स्वभाव ही ऐसा है, इसमे हमे क्यो द्वेपभाव लाना चाहिए ? ये सुगन्ध या दुर्गन्ध सभी एक दिन नष्ट होने वाले हैं। साधक को अपना मन इतना प्रशिक्षित कर लेना चाहिए कि घ्राणप्रिय मनोमोहक सुगन्ध के स्पर्श से वह वहक न उठे और अमनोज्ञ दुर्गन्ध के सम्पर्क से वह तिलमिलाए नही। इन्हे पुद्गलो का खेल समझे। इन नश्वर सुगन्धो या दुर्गन्धो के विपय मे मन को राग-द्वेप के वीहड मे भटका कर क्यो आत्मा को विगाडा जाय ? अत साधक की जीत इसी मे है कि वह इन शुभ या अशुभ गन्धो से नाक का सस्पर्श होने पर भी मन पर उनका असर न होने दे, वचन से भी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त न करे और न शरीर की चेष्टा को हो उनसे प्रभावित होने दे। अर्थात् किसी भी सुगन्धित या दुर्गन्धित पदार्थ या उसकी शुभाशुभ गन्ध को पा कर मन को विलकुल स्थिर रखे, वचन को उसकी प्रतिक्रिया व्यक्त करने से मूक वना दे और काया की चेप्टा को उसके प्रभाव से शून्य वना दे। यही अपरिग्रही साधु की अन्तरग परिग्रह से सर्वथा मुक्त होने की कुजी है। इस प्रकार की भावना के चिन्तन और

प्रयोग से साधक स्वय स्वस्थ, शान्त, समभावी, जितेन्द्रिय और स्थितप्रज्ञ वन जाएगा।

रसनेन्द्रियसवरभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—परिग्रह से सर्वथा मुक्त होने वाला साधक जव अपनी दिनचर्या मे, खासकर भिक्षाचर्या मे प्रवृत्त होता है तो उसकी जीभ के सामने कई स्वादिष्ट मनोज्ञ रसीली चीजे या रस आते है अथवा उसे भिक्षा मे भी कई मनोज्ञ चीजे प्राप्त होती है, वह उनका आस्वादन करने मे प्रवृत्त होता है, यदि उस समय वह मनोज्ञ स्वादिष्ट रसयुक्त पदार्थो को देख कर मन मे आसक्ति लाता है, रागभाव से खाता है, उन्हे पाने के लिए लालायित होता है, उन पर मुग्ध हो कर टूट पडता है, रातदिन उन्ही का स्मरण और चिन्तन-मनन करता हे तो यही वह अपने संयम को खो देता है। वह विविध मनोज्ञ रसो के मोहक जाल मे फँसकर अपनी आत्मा को पतन के गहरे गड्ढे मे गिरा देता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कुछ खास-खास मनोज्ञ रसो या रसयुक्त पदार्थो के नाम गिना कर अन्त मे उन्ही की किस्म के विभिन्न रसो या पदार्थो के रसनेन्द्रियगोचर होने पर उन पर आसक्ति, राग, मोह, गृद्धि, लोभ, न्योछावर, तुष्टि,स्मरण और मनन से दूर रहने का तथा रसनेन्द्रिय-सवरभावना के चिन्तन के प्रकाश मे अपने अपरिग्रहव्रत को सुरक्षित रखने का सकेत करते हैं—**'जिब्भिदिएण साइय रसाणि उ मणुन्नभद्दकाइ उग्गाहिमविविह पाण-भोयण' "भोयणेसु रसेसु न समणेण सज्जियव्व न सइ च मइ च तत्थ कुज्जा।'** इन सूत्रपक्तियो का अर्थ मूलार्थ एव पदान्वयार्थ से स्पष्ट है।

इन शुभ मनोज्ञ रसो के ठीक विपरीत, जो अमनोज्ञ अशुभ रस हैं, उनका जीभ से स्पर्श होने पर यदि साधक रोप से तिलमिला उठता है, उन्हे ठुकरा देता है, तोड-फोड देता है, फैंक देता है, ठडे, वासी, रूखे, सूखे, नीरस, सत्वहीन, सडे, गले पदार्थों को देख कर हाथ-पैर पछाडता है, देने के लिए उद्यत दाता से लड पडता है, उसकी निन्दा, अपमान, अवज्ञा या मारपीट करता है, उसके प्रति लोगो मे घृणा फैलाता है, लोगो के सामने उस पदार्थ की या पदार्थ के देने वाले की निन्दा करता है, धिक्कारता है या डाटता-फटकारता है, तो समझ लो, वह साधक अन्तरग परिग्रह की चपेट मे आ कर द्वेपभाव से पराजित हो गया। साधक के निर्वल मन पर द्वेपभावरूपी शत्रु ने अधिकार जमा लिया। इसीलिए शास्त्रकार साधक को सूचित करते हैं कि वह अमनोज्ञ रसो या रसयुक्त पदार्थों से जिह्वेन्द्रिय का स्पर्श होने पर क्रोध से तमतमाए नहीं, आवेश मे आ कर पात्र को न तोड-फोड दे, हाथ-पैर न पछाडे, मुह न मचकोडे, लडाई-झगडा न कर बैठे, दाता के यहाँ जा कर उसे भलावुरा न कहे, न उस पर खीजे, न उसे डाटे-फटकारे, और न ही उसे मारे-पीटे, न उसके प्रति लोगो मे घृणा

फैलाए। यानी शास्त्रकार अशुभ पदार्थों के प्रति रोप करने, द्वेप करने, चिढने या घृणा करने, ठुकराने या छेदन-भेदन करने आदि से आत्मा को बचाने का निर्देश करते है—
'जिब्भिदिएण सायिय रसाइ अमणुन्नपावकाइ बहुदुब्भिगधाइ तित्तकडुयकसाय-अबिलरससलिडनीरसाइ अमणुन्नपावकेसु न तेसु समणेण रूसियव्व ।"
इन सूत्रपक्तियो का अर्थ पहले मूलार्थ एव पदार्थान्वय मे हम स्पष्ट कर आए हैं। यहाँ तो केवल उनका सक्षिप्त विश्लेपण ही पर्याप्त है, सो ऊपर किया जा चुका है।

निष्कर्प यह है कि अपरिग्रही साधक जिह्वेन्द्रिय के साथ नीरस, रुक्ष, अमनोज्ञ पदार्थो का सम्पर्क होने पर यही सोचे कि ये सब वस्तुएँ या रस नाशवान है, पुद्गल के खेल हैं, इनके मिलने पर असतोप या रोप व्यक्त करना ठीक नही। ये स्वादिष्ट पदार्थ भी पेट मे जा कर तो विकृत बन जाते है। फिर इन विकृत पदार्थों से मुझे क्यो घबराना चाहिए!

मतलब यह है कि साधु को अपना मन इतना साध लेना होगा कि मनोज्ञ-सरस, स्वादिष्ट रस जीभ पर पडते ही वह बहक न जाय और अमनोज्ञ एव नीरस पदार्थ के मिलते ही वह बौखला न उठे। विविध वस्तुओ का यथार्थ स्वरूप जान कर उनकी सरसता या नीरसता का अपने मन पर अधिकार न होने दे, अपने मन को जरा भी उनसे प्रभावित न होने दे। इसी मे उसकी जीत है। अन्यथा, साधक सरस स्वादिष्ट भोजन या पेय पदार्थ पा कर अपने मन पर रागभाव का असर होने देगा तो उसकी सयम-साधना चौपट हो जायगी। इसी प्रकार अमनोज्ञ नीरस भोज्य या पेय पदार्थ पा कर यदि वह मन को द्वेपभाव से लिप्त कर देगा तो भी उसका अन्तरगपरिग्रहमुक्ति का अब तक का प्रयत्न नष्ट हो जाएगा। उसकी आत्मा की पुद्गलो से जबर्दस्त हार होगी। अत जीत इसी मे है कि शुभ या अशुभ रसो को जिह्वेन्द्रियगोचर होते ही या होने से पहले ही मन पर उनका असर न होने दे, वचन से उनकी प्रतिक्रिया व्यक्त न होने दे तथा शरीरचेष्टा से भी उन रसो का प्रभाव व्यक्त न होने दे। अर्थात् किसी भी प्रिय-या अप्रिय रस को पा कर मन को निश्चेष्ट बना दे, वाणी को उसकी प्रतिक्रिया प्रगट करने मे मूक बना दे और काया को भी उसके प्रभाव से शून्य बना दे। तभी अपरिग्रही साधक की विजय होगी। वह शुभ या अशुभ रसो के मिलने पर समभाव मे स्थित होकर जितेन्द्रिय और स्थितप्रज्ञ बन जायगा। और अपनी आत्मा को अन्तरगपरिग्रह से मुक्त रख कर आत्मा मे स्थित हो जायगा।

स्पर्शनेन्द्रियसवरभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—अपनी दिनचर्या मे प्रवृत्त होते समय प्रतिदिन साधक की त्वचा से ठडे, गर्म, हलके भारी, खुर्दरे, कोमल

रुक्ष और स्निग्ध अनेक पदार्थों का स्पर्श होता है। उसे सर्दियो मे गर्म, गर्मियो मे ठडा, तथा चिकना, मुलायम, हलका, स्निग्ध पदार्थ रुचिकर लगता है। किन्तु उन रुचिकर मनोज्ञ पदार्थो का स्पर्श पा कर यदि साधु आसक्ति करता है, मोह करता है, उस स्पर्श को पाने के लिए लालायित हो उठता है, उसे पाने की ही धुन मे रहता है, उसे पाने के लिए वेचैन हो उठता है, अपने आपको गुलाम वनाने के लिए भी तैयार हो जाता है, उसी शुभ स्पर्श का स्मरण, मनन और रटन करता है, तो समझना चाहिए कि साधक अभी साधना मे कच्चा है। वह अभी पुद्गलासक्त वन कर अपनी सयमसाधना को मिट्टी मे मिलाने पर उतारू हो रहा है। वह उन विविध अनुकूल स्पर्शो के मोहक जाल मे फस कर अपने आपको पतन की खाई मे धकेल देता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कुछ खास खास स्पर्शों का उल्लेख करके अन्त मे उन्ही के जैसे विभिन्न मनोमोहक स्पर्शो या स्पर्शयोग्य पदार्थों के स्पर्शनेन्द्रियगोचर होने पर उनके सम्वन्ध मे आसक्ति, राग, मोह, गृद्धि, लोभ, न्योछावर, तुष्टि, स्मरण और मनन से दूर रहने तथा स्पर्शनेन्द्रिय-सवरभावना के द्वारा अपने अपरिग्रहव्रत को सुरक्षित रखने का सकेत करते है **"फासिविएण फासिय फासाइ मणुन्नभद्दकाइ दगमडव उउसुहफासा अगसुहनिव्वुइकरा फासेसु मणुन्नभद्दएसु न .... समणेण सज्जियव्व तत्थ कुज्जा।"** इन सूत्रपक्तियो का अर्थ हम पहले मूलार्थ एव पदान्वयार्थ मे स्पष्ट कर आए है। साथ ही, इन शुभ स्पर्शों के ठीक विरोधी अशुभ अमनोज्ञ स्पर्शों के शरीर से स्पर्श होने पर जो साधक रोप से झल्ला उठता है, आवेश मे आ कर अवज्ञा कर वैठता है, या उक्त स्पर्शजन्य पदार्थों को तोड फैकता है, उसके लिए लडता-झगडता है, दाता को भी भला-बुरा कहता है, उस वस्तु या व्यक्ति की निन्दा, अपमान, तिरस्कार, घृणा, उपेक्षा करता है, लोगो के सामने उसे धिक्कारता, डाटता फटकारता और कोसता है, उसके प्रति नफरत की भावना फैलाता है, तो समझ लो, वह साधक अभी तक अन्तरगपरिग्रह से मुक्ति की साधना का क-ख ग भी सीख नही पाया है। उसके निर्वल मन पर द्वेपरूपी शत्रु ने घेरा डाल दिया है। द्वेपभाव के सामने उसके मन ने घुटने टेक दिये है। इसीलिए शास्त्रकार साधक को हिदायत देते है— अमनोज्ञ स्पर्शो या स्पर्शयुक्त पदार्था का सयोग मिलने पर क्रोध से आगबवूला न हो, आवेश मे आ कर उन पदार्थो को फैके या तोडफोडे नही, अनिष्ट स्पर्शो का सयोग होने पर वह हाथपैर न पछाडे, छटपटाए नही, किसी को भला-बुरा न कहे, न कोसे, न किसी को डाटे-फटकारे, न मारे-पीटे और न ही किसी के प्रति लोगो मे घृणा फैलाए। यानी वह उन अशुभ स्पर्शो या स्पर्शयुक्त पदार्थों के प्रति मन मे रोप, द्वेप, अवज्ञा खीज, छेदन-भेदन, वध और घृणा आदि कतई न लाए। इसी बात को शास्त्रकार निम्नोक्त सूत्रपक्तियो के द्वारा स्पष्ट

करते है—"**फासिदिएण फासिय फासाइ अमणुन्नपावकाइ अणेगवधबधनतालण-कण दुब्भिकक्खड - गुरु-सीयउसिणलुक्खेसु फासेसु अमणुन्नपावकेसु न समणेण रूसियव्व लब्भा उप्पाएउ ।**" इन सूत्रपक्तियो का अर्थ भी पहले स्पष्ट किया जा चुका है ।

साराश यह है कि अपरिग्रही साधक ठडा, गर्म, हलका, भारी, रूखा, खुर्दरा आदि अमनोज्ञ अनिष्ट स्पर्शो का सयोग मिलने पर यह सोचे कि ये सब स्पर्श भी तो पुदगलो को ही ले कर है । पुद्गलो का तो यह स्वभाव है । इनमे कोई क्या कर सकता है ? मुझे इन बुरे स्पर्शो के मिलने पर असतोप प्रगट करना ठीक नही । मैं तो विराट आत्मा हूँ, मुझे इन स्पर्शो का गुलाम बन कर या इनसे आत्मा को प्रभावित करके जीना ठीक नही । इन बुरे स्पर्शो से अनन्त शक्तिमान आत्मा को घबराना ही क्यो चाहिए ?

मतलब यह है कि साधु अपने मन को इतनी शिक्षा दे द कि जब मनोज्ञ स्पर्श या स्पर्शयुक्त पदार्थो का सयोग मिले, तब वह बहके नही और अमनोज्ञ स्पर्शो या पदार्थो का सयोग मिले तब बौखलाए नही । जीवन को समभाव की पगडडी पर चलाए । दोनो ही अवस्थाओ मे समभाव न खोए । विविध वस्तुओ के स्वभाव का यथार्थ चिन्तन करके मन को उनके प्रति होने वाले रागद्वेप से बचाए । अपने मन को इनसे बिलकुल प्रभावित न होने दे । अपनी आत्मा को सिर्फ ज्ञाता-द्रष्टा बना कर रखे । इसी मे उसकी विजय है । अन्यथा, यदि साधक सुखद मनोज्ञ स्पर्शो या स्पर्श-युक्त पदार्थो को पा कर अपने मन पर रागद्वेप का असर होने देगा तो उसकी जबदस्त हार होगी । इसी प्रकार अमनोज्ञ दु खद स्पर्शो या तत्सम्बद्ध पदार्थों को पा कर वह अपने मन को उनसे प्रभावित होने देगा, तो भी वह अपनी साधना को चौपट करके इन स्पर्शों से हार खाएगा । आखिरकार वे स्पर्श यो तो पिंड छोडेगे नही । शर्दियो मे शर्दी का, गर्मियो मे गर्मी का, वर्षा मे दोनो प्रकार का, इसी प्रकार खुर्दरा, हलका, भारी आदि बुरा स्पर्श तो रहेगा ही, उसे टाला नही जा सकेगा । तब फिर केवल बौखलाने से या उन दु स्पर्शो से घबरा कर भागने से काम कैसे चलेगा ? वीर बन कर सयमी-साधना के लिए कटिबद्ध होकर इन रागद्वेपरूप शत्रुओ से जूझना होगा । साधक की जीत निश्चित ही है । परन्तु वह तभी होगी, जब साधक शुभाशुभ स्पर्शो का सयोग होते ही मन पर उनका कोई असर नही होने देगा, वचन पर तो उसकी प्रतिक्रिया बिलकुल नही होने देगा और काया की चेष्टा से भी वह उन स्पर्शों का प्रभाव व्यक्त नही होने देगा । अर्थात्—प्रिय-अप्रिय स्पर्श का सयोग होते ही मन पर वह सयम का ताला लगा देगा, वचन को वह प्रतिक्रिया व्यक्त करने मे मूक बना देगा और शरीरचेष्टा को भी उनके प्रभाव मे मुक्त रखेगा । तभी अपरिग्रही

साधक की अन्तरात्मा इन रागद्वेषरूपी अन्तरग परिग्रहो पर विजयी बनेगी, शुभाशुभ स्पर्शो के सयोग मे वह समभाव मे स्थिर हो कर जितेन्द्रिय और स्थितप्रज्ञ बन जाएगी और वह साधक भो आत्मस्थ बन जाएगा।

पचम सवरद्वार का महत्त्व- एक दृष्टि से देखा जाय तो अन्य सवरो की अपेक्षा अपरिग्रहसवर का दायरा बहुत विस्तृत है। क्योकि परिग्रह मे एक ओर सारा विश्व आ जाता है तो दूसरी ओर व्यक्ति का तमाम मनोलोक आ जाता है। विश्व की जड या चेतन, छोटी या बडी तमाम वस्तुएँ परिग्रह मे आती है, तथा रागद्वेषजनक तमाम भाव भी परिग्रह मे ही आते हैं। इसीलिए शास्त्रकार पहले की तरह इस परिग्रहविरमणरूप अपरिग्रह-सवरद्वार का माहात्म्य निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा उपसहार मे व्यक्त करते है—"**एव पचम सवरदार फासिय आराहिय भवति एव नायमुणिणा भगवया महावीरेण पन्नविय "पचम सवरदार समत्त**।" इन सब पक्तियो का अर्थ पहले अनेकस्थलो पर स्पष्ट किया जा चुका है।

पाचो सवरो का माहात्म्य और फल—अब शास्त्रकार पाचो ही सवरो का माहात्म्य और उनकी आराधना करने का सुफल निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा बताते हे—"**एयाइ वयाइ पचवि अणुचरिय सजते चरमसरीरधरे भविस्सतीति**।" इसका अर्थ तो हम मूलार्थ तथा पदान्वयार्थ मे स्पष्ट कर आए है, किन्तु कुछ आशय स्पष्ट करना जरूरी है। ये पाचो महाव्रतरूप पाच सवर आस्तिक जगत् मे प्रसिद्ध है। पातजल योगदर्शन मे इनके लिए कहा है—

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।'

अर्थात्—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये ५ यम है। ये किसी खास देश, काल आदि से सम्बन्धित नही हो कर जब सार्वदेशिक और सार्वकालिक है तो सार्वभौम महाव्रत हो जाते है।' ससार मे जो नियम या व्रत किसी एक देश या अमुक काल तक ही सीमित रहता है, वह उसके बाद अपना अस्तित्त्व खो बैठता है, नि सत्त्व बन जाता है। परन्तु ये पच महाव्रत तो प्राय सभी धर्मों और दर्शनो ने यम या व्रत के रूप मे माने हैं। और सभी देश और सभी काल मे ये पालनीय है। इनकी आराधना कही भी किसी भी स्थान या काल मे की जा सकती है, ये सब जगह सुख देने वाले है। किसी भी धर्म, जाति, देश, वेप या काल का कोई भी पुरुप, स्त्री, बालक, वृद्ध, नपु सक, इनकी भलीभाति आराधना-साधना करके सिद्धि-मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसीलिए शास्त्रकार ने स्वय कहा है कि इन पाच महाव्रतो रूप सवरो का ५ समितियो से युक्त, २५ भावनाओ सहित, ज्ञानदर्शन से मन वचन काया

से सुसवृत तथा प्राप्त सयमयोग की वृद्धि और अप्राप्त सयमयोग की प्राप्ति के लिए अहर्निश प्रयत्नशील होने से सुविशुद्ध दृष्टि वाला सयमी इन पाचो महाव्रतो का लगातार पालन करके भविष्य मे चरमशरीरी हो जायगा।

यही इन पाचो सवरो की आराधना का उत्तम फल है।

वैसे तो सैकडो निर्दोष युक्तियो से इसका विस्तृत वर्णन मिलता है और शास्त्रो मे विस्तार से भावनास्वरूप २५ सवरो का उल्लेख मिलता है, लेकिन आबाल-वृद्ध ससार मे सर्वत्र यम, व्रत, महाव्रत आदि के नाम से प्रसिद्ध ये ५ ही सवर है। इसलिए इस शास्त्र मे पाच ही सवरद्वारो का ग्रहण किया गया है।

श्री सुबोधिनीव्याख्यासहित प्रश्नव्याकरणसूत्र का दसवाँ अध्ययन अपरिग्रहरूप पचमसवरद्वार समाप्त हुआ।

● ●

उपसंहार

अब शास्त्रकार शास्त्र की पूर्णाहुति पर इस शास्त्र का निम्नोक्त परिचयात्मक सूत्रपाठ द्वारा उपसहार करते है—

मूलपाठ

पण्हावागरणे ण एगो सुयक्खधो, दस अज्झयणा, एक्कसरगा, दससु चेव दिवसेसु उद्दिसिज्जति । एगतरेसु आयबिलेसु निरुद्धेसु आउत्तभत्तपाणएण अग जहा आयारस्स ।। (सू० ३०)

सस्कृतच्छाया

प्रश्नव्याकरणे एक श्रुतस्कन्धो दशाध्ययनानि एकस्वरकानि, दशसु चैव दिवसेसु उद्दिश्यन्ते एकान्तरेषु आचाम्लेषु आयुक्तभक्तपानकेन अग यथाऽऽचारस्य ।। (सू० ३०)

पदान्वयार्थ—(पण्हावागरणे) इस प्रश्नव्याकरणसूत्र मे (एगो) एक (सुयक्खधो) श्रुतस्कन्ध है। (दस अज्झयणा) दस अध्ययन हैं, जो (एक्कसरगा) समान शैली के हैं। (आउत्त भत्तपाणएण) उपयोग युक्त आहार पानी वाले साधु द्वारा (जहा आयारस्स अग) जैसे आचाराग का वाचन किया जाता है, वैसे ही (एगतरेसु) एकान्तर (निरुद्धेसु आयबिलेसु) लगातार बीच मे रुकावट डाले बिना, आयबिल तप से युक्त (दससु चेव दिवसेसु) दस ही दिनो मे ये (उद्दिसिज्जति) वाचन किये जाते हैं।

मूलार्थ- इस प्रश्नव्याकरणसूत्र मे एक श्रुतस्कन्ध है, दस अध्ययन है, एक जैसे हे, आचाराग सूत्र के व्याख्यान के समान उपयोगपूर्वक आहार पानी वाले साधु द्वारा लगातार (बीच मे रोके बिना) एकान्तर आयबिल (आचाम्ल) तप का आचरण करके दस ही दिनो मे इनका वाचन किया जाता है।

व्याख्या

जैसी कि शास्त्रकार ने प्रतिज्ञा की थी, उसी प्रकार से उन्होने प्रश्नव्याकरण सूत्र का दस अध्ययनो मे निरूपण पूर्ण किया है। वास्तव मे प्रश्नव्याकरण सूत्र का

जैसा नाम है, वैसे ही जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नो की व्याख्या इसमे की गई है। सभी युगो मे दुख और सुख से सम्बन्धित प्रश्न ही जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्न रहे है। सभी धर्मगुरुओ ने इन्ही मूलभूत प्रश्नो को ले कर अपने-अपने धर्म का निरूपण किया है। परन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र मे कुछ ऐसी निराली खूबी है कि इसमे दुख और सुख इन दोनो से सम्बन्धित प्रश्नो की ही व्याख्या की गई है। यद्यपि शास्त्रकार के कथनानुसार इनमे एक ही श्रुतस्कन्ध माना गया है। तथापि आश्रवद्वार और सवर-द्वार नामक दो खड अवश्य है। आश्रवद्वार के बदले अधर्मद्वार नाम भी प्रयुक्त हुआ है। यानी प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचय (मैथुन) और परिग्रह इन पाच आश्रवो के क्रमश पाच अध्ययन प्रथम खड—आश्रवद्वार मे हैं। इसके पश्चात् द्वितीय खड—सवरद्वार मे भी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाच अध्ययन छठे अध्ययन से ले कर दसवे अध्ययन तक है। ये पाचो सवरद्वार पचमहाव्रतो के रूप मे वर्णित है।

उत्तरोत्तर उत्कृष्ट—ये दसो अध्ययन एक ही शैली मे है, फिर भी एक से एक बढकर हे। वैसे तो शास्त्र रत्नाकर है। इसमे बहुत रत्न भरे पडे हैं। कोई तुलना नही की जा सकती कि कौन-सा अध्ययन किस अध्ययन से बढकर है। परन्तु इन की वर्णनीय वस्तु को देखते हुए सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि इनका वर्णन बहुत ही विशद है।

व्याख्यानरीति—प्रश्नव्याकरणसूत्र या किसी भी आगम की वाचना या व्याख्यान बिना तप के निखर नही सकता। तपस्या के साथ वाचना हो तो वाचना मे निखार भी आ जाता है, और ज्ञान के साथ दर्शन, चारित्र और तप की भी आरा-धना हो जाती है। धर्म तो आचारप्रधान ही होता है। शास्त्रज्ञान भी श्रुतधर्म है। उसका आचरण भी ज्ञान के अतिरिक्त दर्शन (देवगुरुधर्म पर श्रद्धा) चारित्र (श्रद्धा-पूवक धर्माचरण) और तप (चारित्रशुद्धि के हेतुतप) से ही परिपूर्ण होता है। इसीलिए यहाँ शास्त्रकार ने प्रश्नव्याकरण सूत्र की वाचना की अवधि १० दिन की बताई है, और उसके साथ लगातार एकान्तर (एक दिन बीच मे पारणा करते हुए) आयविल के साथ करने का भी निर्देश किया है।

इस प्रकार श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र सुबोधिनीव्याख्यासहित सम्पूर्ण हुआ।

शुभ भूयात्

ॐ अर्हम्

प रि शि ष्ट

१

परिशिष्ट

सुभाषित

१ पाणवहो नाम एस निच्च जिणेहिं भणिओ—पावो चडो रुद्दो—
खुद्दो साहसिओ अणारिओ णिग्घिणो णिस्ससो महब्भओ   अ १ पृ० २२

२ मदबुद्धी सवसा हणति, अवसा हणति "
अत्था धम्मा कामा हणति   ,, १ ,, ४५

३ पावस्स फलविवाग अयाणमाणा वड्ढति महब्भय—
अविस्सामवेयण, दीहकालबहुदुक्खसकडं नरयतिरिक्खजोणि   ,, १ ,, ६८

४ एसो सो पाणवहस्स फलविवागो—
इहलोइयो पारलोइयो अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भयो   ,, १ ,, १०७

५ अलियवयण लहुसग-लहुचवल भणिय भयकर दुहकर
अयसकर वेरकारग   अपच्चयकारक   ,, २ ,, १३१

६ बहवे धम्मकरणालसा परूवेंति धम्मविमसएण मोस   ,, २ ,, १५८

७ अलियवयणदच्छा परदोसुप्पायणपसत्ता वेढेंति—
अक्खतियबीएण अप्पाण कम्मबधणेण   ,, २ ,, १५९

८ मुहरी असमिक्खियप्पलावी   ,, २ ,, १५९

९ असच्चा अत्थालिय च कन्नालिय च भोमालिय च
तह गवालिय च गरुय भणति अहरगतिगमण   ,, २ ,, १५९

१० अलियसपउत्ता वयण सावज्जमकुसल साहुगरहणिज्ज—
अधम्मजणण भणति अणभिगयपुन्नपावा   ,, २ ,, १५९

११ न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो   ,, २ ,, २११

४९ न भाइयव्व, भीत खु भया अइ ति वहुय,
भीतो अवितिज्जओ मणूसो,
भीतो भूतेहिं घिप्पइ,
भीतो अन्नं पि हु भेसेज्जा,
भीतो तवसजममपि हु मुएज्जा,
भीतो य भर न नित्थरेज्जा,
सप्पुरिसनिसेविय च मग्ग भीतो न समत्थो अणुचरिउ ,, ७ ,, ६३७

५० न भाइयव्व भयस्स वा, वाहिस्स वा, रोगस्स वा जराए वा
मच्चुस्स वा ,, ७ ,, ६३७

५१ हास न सेवियव्व ,, ७ ,, ६३७

५२ अलियाइ असतकाइ जपति हासइत्ता ,, ७ ,, ६३७

५३ परपरिभवकारण परपरिवायप्पियं परपीलाकारग
भेदविमुत्तिकारक अन्नोन्नजणिय च होज्ज हास ,, ७ ,, ६३७

५४ मोणेण भाविओ भवइ अतरप्पा सजयकरचरणवदणो
सूरो सच्चज्जवसपन्नो। ,, ७ ,, ६३७

५५ ततिय महव्वय गुणव्वत परदव्वहरणपडिविरइकरणजुत्त
सुसजमियमण-हत्थ-पायनिहुय ' णेट्ठिक परमसाहुधम्मचरण
,, ८ ,, ६६३

५६ उग्गह अणुन्नवि य गेण्हियव्व ,, ८ ,, ६६३

५७ वज्जेयव्वो सव्वकाल अचियत्तघरपवेसो
अचियत्तभत्तपाण अचियत्त उवगरण ,, ८ ,, ६६४

५८ परपरिवाओ, परस्स दोसो, परववएसेण ज च गेण्हइ,
परस्स नासेइ ज च सुकय ,, ८ ,, ६६४

५९ असविभागी, असगहरुई अप्पमाणभोई
से तारिसए आराहए वयमिण। ,, ८ ,, ६६४

६० सविभागसीले, सगहोवग्गहकुसले
से तारिसए आराहेति वयमिण। ,, ८ ,, ६६४

६१ सजमबहुले सवरबहुले सवुडबहुले समाहिबहुले
धीरे काएण फासयतो सतत अज्झप्पज्झाणजुत्ते
समिए एगे चरेज्ज धम्मं । ,, ८ ,, ६८१

६२ विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो,
तम्हा विणओ पउ जियव्वो गुरुसु साहूसु तवस्सीसु य ,, ८ ,, ६८१

६३ बभचेर उत्तम तवनियमणाणदसणचरित्तसम्मत्तविणयमूल
यमनियमगुणप्पहाणजुत्त' पचमहव्वयसुरक्खिय ,, ९ ,, ६९९

६४ जमि य भग्गमि होइ सहसा सव्व सभग्ग
जमि य आराहियमि आराहिय वयमिण सव्व ,, ९ ,, ७००

६५ अणेगा गुणा अहीणा भवति एक्कमि बभचेरे ,, ९ ,, ७००

६६ जेण सुद्धचरिएण भवइ सुबभणो सुसमणो सुसाहू सुइसी
सुमुणी स सजए स एव भिक्खू जो सुद्ध चरति बभचेर ,, ९ ,, ७०१

६७ तवसजम-बभचेर-घातोवघातियाइ अणुचरमाणेण बभचेर
वज्जेयव्वाइ सव्वकाल ,, ९ ,, ७०१

६८ विणयसीलतवनियमगुणसमूह त बभं भगवत ,, ९ ,, ७००

६९ दाणाण चेव अभयदाण ,, ९ ,, ७००

७० तहा भोतव्व जह से जायामायाए भवति,
न य भवति विब्भमो, न भसणा य धम्मस्स ,, ७ ,, ७३३

७१ इमस्स मोक्खवरमुत्तिमग्गस्स सिहरभूओ
सवरवरपादपो चरिम सवरदार ,, १० ,, ७८०

७२ सजमस्स उवबूहणट्ठयाए वायायवदसमसगसीय—
परिरक्खणट्ठयाए उवगरण रागदोसरहिय परिहरियव्व
सजएण ,, १० ,, ७८१

७३ णिच्च अहो य राओ य अपमत्तेण होइ
सतत निक्खियव्व च गिण्हियव्व च भायणभडोवहिउवगरण ,, १०,, ७८१

७४ समे य जे सव्वपाणभूतेसु से हु समणे,
सुयधारए सव्वजगवच्छल सच्चभासके य
ससारतट्ठिते ,, १० ,, ८०४

७५ पोक्खरपत्तं व निरुवलेवे
आगास चेव निरालबे

७६ जीवियमरणासविप्पमुक्के निस्सध निव्वणं
चरित्ते धीरे काएण फासयते अज्झप्पज्झाणजुत्ते
निहुए एगे चरेज्ज धम्म।

७७ मणुन्नभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं,
न रज्जियव्व, न गिज्झियव्व, न हसियव्व, न
मुज्झियव्व, न विनिग्घाय आवज्जियव्व, न
लुभियव्व, न तुसियव्व

७८ अमणुन्नपावएसु ण तेसु समणेण रूसियव्व,
न हीलियव्व, न निंदियव्व, न खिंसियव्व, न
छिंदियव्व, न भिंदियव्व, न वहेयव्व।

● ●

२

परिशिष्ट

विशेष शब्द सूची

१

२

८
वैमानिकदेव

९
विविध दार्शनिक

१०
शिल्पिक

११
वाणिज्यपरायण

१२
हिंसक

१६

नगर, वन, गृह आदि

१७

नगर के मार्ग

१८

भवन आदि